महर्षिणा सुश्रुतेन प्रणीता

सुश्रुतसंहिता

'सुश्रुतविमर्शिनी'-हिन्दीव्याख्यया विमर्शादिभिश्च समन्विता



व्याख्याकार

डॉ. अनन्तराम शर्मा



प्राक्कथन-लेखक

आचार्य प्रियव्रत शर्मा



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

७१

महर्षिणा सुश्रुतेन प्रणीता

सुश्रुतसंहिता

'सुश्रुतविमर्शिनी'-हिन्दीव्याख्यया विमर्शादिभिश्च समन्विता

द्वितीयो भागः

(शारीर-चिकित्सा-कल्पस्थानात्मकः)

व्याख्याकार

डॉ० अनन्तराम शर्मा

भूतपूर्व प्राध्यापक : शल्यशास्त्र

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष : कायचिकित्सा

पूर्व प्राचार्य एवं प्रधान चिकित्सक

ऋषिकुल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज

एंव चिकित्सालय, हरिद्वार

प्राक्कथन-लेखक

आचार्य प्रियव्रत शर्मा



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

सुश्रुत संहिता-अनन्तरामशर्मा

प्रकाशक :
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के 37/117 गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129
वाराणसी 221001
दूरभाष : (0542) 2335263
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

संस्करण : 2018
₹ 2000 (1-3 भाग सम्पूर्ण)

वितरक :
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2 ग्राउण्ड फ्लोर, गली न. 21-ए
अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली 110002
दूरभाष : (011) 32996391, टेलीफैक्स : 23286537
e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

*

अन्य प्राप्तिस्थान :
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर
पोस्ट बॉक्स न. 2113
दिल्ली 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पोस्ट बॉक्स न. 1069
वाराणसी 221001

मुद्रक :
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली,

THE
CHAUKHAMBA AYURVIJNAN GRANTHAMALA
71

SUŚRUTA SAṂHITĀ

OF

MAHARṢI SUŚRUTA

Volume II
(ŚĀRĪRA-CIKITSĀ-KALPA STHĀNA)

Edited with
'Suśrutavimarśinī' Hindi Commentary
Alongwith Special Deliberation etc.

By

Dr. Anant Ram Sharma
Ex-Professor : Shalyashastra
Professor & Head of Deptt. : Kayachikitsa
Ex. Principal and Chief Physician
Rishikul Govt. Ayurvedic College
& Hospital, Haridwar

Foreword by
Acharya Priya Vrat Sharma



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

Published by :
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Publishers or Distributors*)
K 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001 (India)
Tel. : +91-542-2335263
e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

Distributor :
CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Daryaganj
New Delhi 110002
Tel : +91-11-32996391, +91-11-23286537
e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

*

Also can be had from :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bunglow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

*

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

Printed by :
Delux Offset Printers
Delhi

प्रस्तावना

आयुर्वेदीय शल्यशास्त्र का इतिहास वेदों जितना ही प्राचीन है। वेदों में अनेक शल्यकर्मों का उल्लेख मिलता है। उस काल के देवभिषक् अश्विनीकुमार प्रमुख शल्यहर्त्ता थे। आयुर्वेद के आठ अंगों में शल्यशास्त्र ही प्रधान एवं सर्वप्रथम प्रादुर्भूत अंग है। महर्षि सुश्रुत ने इसकी श्रेष्ठता के तीन प्रमुख हेतु बतलाये हैं; यथा—१. आशुक्रियाकरणात् अर्थात् रोगनिवारण क्रिया शीघ्र सम्पन्न होने से, २. चिकित्सा में यन्त्र-शस्त्र, क्षार एवं अग्नि का प्रयोग होने से तथा ३. सर्वतन्त्रसामान्यात् अर्थात् शालाक्य आदि तन्त्रों की विशेषताएँ भी इसमें होने से। शल्यशास्त्र धान्वन्तर सम्प्रदाय का तथा कायचिकित्सा आत्रेय सम्प्रदाय का चिकित्सांग माना जाता है। शल्यशास्त्र का एकमात्र संहिता ग्रन्थ सुश्रुतसंहिता है, जिसमें भगवान् धन्वन्तरि के उपदेशों को महर्षि सुश्रुत ने संग्रहीत किया है। किन्तु अनेक कारणों से आज उपलब्ध सुश्रुतसंहिता अपने मूल स्वरूप से भिन्न है।

सुश्रुतसंहिता शल्यशास्त्र की एकमात्र अतिविशिष्ट रचना है। इसमें शल्यशास्त्र की मुख्य रूप से चर्चा होना स्वाभाविक है, फिर भी शल्येतर अंगों का पर्याप्त विवेचन इसमें उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसमें जीवन के महान् उच्च आदर्शों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। इसी कारण आयुर्वेद को न केवल चिकित्सा का ही शास्त्र कहा गया है अपितु इसकी 'आत्मा का शास्त्र' के रूप में भी पहिचान है।

सुश्रुतसंहिता के संस्कृत टीकाकारों में डल्हण की 'निबन्धसंग्रह' नामक व्याख्या सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। यह सम्पूर्ण उपलब्ध है। इसमें औषधद्रव्यों का अतिविशिष्ट विवेचन उपलब्ध है। डल्हण बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने सर्वत्र भ्रमण कर जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया उसका 'निबन्धसंग्रह' में भरपूर उपयोग किया है।

मैंने इस 'सुश्रुतविमर्शिनी' व्याख्या में डल्हण के विचारों को यथासम्भव समाविष्ट करने का प्रयास किया है जिससे पाठकों को इसमें अधिकाधिक शास्त्रीय सामग्री उपलब्ध हो सके। इसके साथ ही शल्यशास्त्र के अनेकों प्राच्य-पाश्चात्य ग्रन्थों, इस विषय के विद्वानों के लेखों तथा उनसे विचार-विमर्श से अनेक दुरूह स्थलों को स्पष्ट करने में मेरा मार्ग प्रशस्त हुआ है। उन सभी विद्वानों के प्रति मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है, जिसमें प्रथम खण्ड में सूत्र एवं निदानस्थान; द्वितीय खण्ड में शारीर, चिकित्सा एवं कल्पस्थान तथा तृतीय खण्ड में उत्तरतन्त्र का समावेश है।

प्रस्तुत द्वितीय खण्ड में समाविष्ट **शारीरस्थान** अन्य स्थानों की भाँति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सृष्टि की रचना से लेकर गर्भाधान-प्रक्रिया, गर्भिणी-परिचर्या तथा नवजात की देखभाल तक का विवेचन इसमें है। इसमें सन्तान के प्रति माता-पिता का उत्तरदायित्त्व सन्तान के स्वावलम्बी (युवा) होने तक बतलाया गया है। **चिकित्सास्थान** में शल्यकर्मसाध्य व्याधियों—अर्श, भगन्दर, अश्मरी, भग्न आदि का मुख्य रूप से वर्णन है। व्रण के षष्ट्युपक्रमों का विशद उल्लेख भी इसमें संग्रहीत है। मुख, दन्त एवं गल रोग चिकित्सा तथा पञ्चकर्म के विषय भी सन्निहित है। **कल्पस्थान** में विषतन्त्र वर्णित है। स्थावर एवं जंगम विष, गरविष, दूषीविष आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। विषों से राजा की सुरक्षा में विष वैद्य का महत्त्व भी प्रतिपादित है। स्थावरविषाधिष्ठान, जंगमविषाधिष्ठान, सर्पविष के सात वेग, सर्पों के वैकरञ्जादि भेद एवं उनकी चिकित्सा के साथ ही मूषककल्पोपक्रम, कीटकल्पोपक्रम, अलर्क विष आदि के दष्ट लक्षण एवं उनकी चिकित्सा का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत है।

कई दशक तक शल्यशास्त्र के अध्यापन काल में सुश्रुतसंहिता में अनेक ऐसे दुरूह स्थल आये जिनका स्पष्टार्थ किसी भी टीका ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। इन स्थलों के वास्तविक अर्थ को समझने में प्राचीनतम संस्कृत टीकाएँ भी सहायक सिद्ध नहीं हुई। उदाहरणार्थ जैसे 'बालाश्मभिर्वा' (सु.नि. ७।१७) में बद्धोदर उत्पन्न करने वाले अश्म (पत्थर) का आँतों तक पहुँचने का मार्ग; मूत्रवृद्धि-अन्त्रवृद्धि में किसी प्रकार की वृद्धि न होने पर भी वृद्धि शब्द का अभिप्राय; 'अनार्तवाऽपीत्येके भाषन्ते' का अर्थ; श्रोणिसन्धिमुक्त में चक्रयोग का स्वरूप; अस्थिप्रविष्ट शल्य को पेड़ की टहनी या अश्वकटक से बाँधकर निकालना इत्यादि। किन्तु आयुर्वेद के इन तथा इसी प्रकार के अन्य सारगर्भित सूक्ष्म सूत्रों का रहस्य जब पाश्चात्य वैद्यक की शल्यशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों में उपलब्ध व्याख्यास्वरूप विवरण को पढ़कर उद्घाटित हुआ तो विषय का स्वरूप स्पष्ट एवं सुगम हो गया। इस प्रकार यह विचार बार-बार मन में आता रहा कि सुश्रुतसंहिता की ऐसी हिन्दी टीका होनी चाहिए जो इस तरह के सौश्रुत सूत्रों के वैज्ञानिक अर्थों को प्रकाश में लाये। संयोगवश इसी बीच वाराणसी के आयुर्वेद-सेवी ख्यातनामा चौखम्बा सुरभारती के प्रबन्धक गुप्त-बन्धुओं की ओर से सुश्रुतसंहिता पर हिन्दी टीका के लेखन का सुझाव आया जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। लगभग पाँच वर्षों के अथक प्रयास के फलस्वरूप यह 'सुश्रुतविमर्शिनी' व्याख्या पाठकों के समक्ष मूर्तरूप में देखकर मेरे मन को परम प्रसन्नता हो रही है।

प्रस्तुत टीका की भाषा सरल एवं बोधगम्य है। मूल पाठ में पठित जटिल शब्दों के अर्थ को सुबोध बनाने के लिए विमर्श में विशेष व्यवस्था की गयी है। आंग्लभाषा के शब्दों का पर्याय के रूप में प्रचुर प्रयोग होने से अर्थबोध में अधिक सुगमता आयी है। साथ ही यत्र-तत्र चित्रों के माध्यम से विषय को मुखरित करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थान्त में अकारादि क्रम से प्रस्तुत विषयों की सूची का समावेश होने से पाठकों के लिए इच्छित विषयों एवं शब्दों को ढूँढना सहज हो गया है। इतना सब कुछ होते हुए भी इतने विशाल सागर को काष्ठखण्ड के सहारे पार करने के प्रयास में कुछ त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है, एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके अमूल्य ग्रन्थों, लेखों, उपदेशों एवं आशीर्वादों के सहारे इस दुरूह यात्रा को सम्पन्न कर सका हूँ। देववाणी के संरक्षक चौखम्बा सुरभारती, वाराणसी के व्यवस्थापक गुप्त-बन्धुओं का भी मैं आभारी हूँ, जिनसे मुझे इस कार्य को सम्पन्न करने में सभी तरह का सच्चा सहयोग सदा मिलता रहा है।

विदुषामनुचरः
अनन्तराम शर्मा

रानी गली, भूपतवाला
हरिद्वार

विषयानुक्रमणिका

शारीरस्थान

(१) सर्वभूतचिन्ताशारीराध्याय

सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का हेतु १
अव्यक्त से २४ तत्त्वों की उत्पत्ति ३
इन्द्रियों के विषय ४
प्रकृतियाँ और विकार ४
तत्त्व और उनके देवता ४
आत्मा पच्चीसवाँ तत्त्व ५
प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य ५
कारणानुरूप कार्य ६
वैद्यकानुसार सृष्टि के कारण ७
सांख्यादि से अन्य आयुर्वेदीय मतभेद ९
मन के संयोग से उत्पन्न गुण १०
सत्त्वादि युक्त मन के गुण १०
प्राणियों में पञ्चमहाभूतों के गुण ११
आकाशादि भूतों की सत्त्वादि गुणमयता ११

(२) शुक्रशोणितशुद्धिशारीराध्याय

शुक्रदोष १३
दूषित शुक्रधातु में वातादि वेदनाएँ १३
आर्तवदोषों का वर्णन १४
असाध्य आर्तव दोष १४
शुक्र-आर्तव दोषों की चिकित्सा १४
शुक्रधातु के गुण १५
आर्तवदोष चिकित्सा १५
आर्तव के गुण १६
असृग्दर के लक्षण एवं उपचार १६
अनार्तव के लक्षण १७
अल्पार्तव की चिकित्सा १७
ऋतु में पुत्रीय आचार १८
मासिकधर्म में मैथुन हानिकर २०
पुत्र-सन्तान प्राप्ति के उपाय २०
गर्भधारण के लिए आवश्यक २१
विधिपूर्वक हुए गर्भाधान का फल २१
गर्भ के विभिन्न वर्णों के हेतु २१
सम्भोगकाल में आर्तव-विसर्जन २२
गर्भद्वयोत्पत्ति के सिद्धान्त २२
आसेक्य का हेतु एवं लक्षण २३
सौगन्धिक नपुंसक २४
कुम्भीक या षण्डक नपुंसक २४
ईर्ष्यक नपुंसक २४
षण्डक नपुंसक २४
नरचेष्टिता कन्या २४
क्लीबों में ध्वजोच्छ्राय का हेतु २५
सन्तान में काय, वाक्, मन के भेदों का हेतु २५
अनस्थि भ्रूण का हेतु २५
कलल की उत्पत्ति २६
कुरूप गर्भ २६
विकृत गर्भ का हेतु २६
गर्भ में मलादि का त्याग न करने में हेतु २६
गर्भस्थ शिशु के न रोने में हेतु २७
गर्भस्थ शिशु का साँस आदि लेना २७
हस्ततलादि में बाल न आने में हेतु २७
जातिस्मर का लक्षण २८
पुनर्जन्म के लिए कर्मों का फल २८

(३) गर्भावक्रान्तिशारीराध्याय

शुक्र-शोणित संयोग पञ्चभूतात्मक है २९
गर्भावतरण-प्रक्रिया २९
गर्भ के पुरुष, स्त्री या नपुंसक होने में हेतु ३
गर्भधारण काल ३
अदृष्टार्तवा ऋतुमती के लक्षण ३
गर्भाधान का सम्भावनारहित काल ३
मासिकधर्म की प्रक्रिया ३
मासिक आर्तव के आरम्भ और अन्त का समय ३
बालक या बालिका होने में हेतु ३
गर्भधारण के तत्काल बाद होने वाले लक्षण ३

गर्भिणी के प्रारम्भिक लक्षण ३३
गर्भावस्था में क्या नहीं करना चाहिए ३४
भ्रूण के कष्ट ३४
भ्रूण का मासानुमासिक विकास ३५
दौहृदविमानन से हानि ३७
भिन्न-भिन्न प्रकार के दौहृद ३७
दौहृद का पूर्वजन्म के कर्मों से सम्बन्ध ३८
गर्भ की पञ्चम मास से होने वाली वृद्धि ३८
आहाररस के बिना और आहार रस से गर्भ का पोषण ४०
भ्रूण के सर्वप्रथम होने वाले अवयव के सम्बन्ध में मतभिन्नता ४३
पितृजादि शरीर लक्षण ४३
भ्रूण के लिंग (Sex) की पूर्व जानकारी ४४
गुणवती सन्तान का हेतु ४४
स्वभाव और पूर्वजन्म कृत कर्म ४४
(४) गर्भव्याकरणशारीराध्याय
अग्नि आदि की प्राण संज्ञा ४६
त्वचा के सात भेद ४७
सप्तविध कला ४८
कला-वर्णन ४८
मांसधरा कला ४८
शरीर में सिरा-धमनी का प्रसार ४८
रक्तधरा कला ४९
रक्तस्रवण ४९
मेदोधरा कला ४९
मज्जा और वसा ४९
श्लेष्मधरा कला और कार्य ४९
पुरीषधरा कला और कार्य ५०
पुरीषधरा कला का विसर्जन कार्य ५०
पित्तधरा कला का कार्य ५०
पित्तकर्म ५०
शुक्रधरा कला ५१
शुक्रधातु का शरीर में प्रसार ५१
शुक्रक्षरण ५२
शुक्रक्षरण-प्रक्रिया ५२
अपरा और स्तन्य का निर्माण ५२
यकृत् आदि की उत्पत्ति ५३
अन्त्रादि की उत्पत्ति ५४
वृक्कों की उत्पत्ति ५४
हृदय और कार्य ५५
निद्रा का विवेचन ५६
तम-आच्छादित हृदय से निद्रा का आगमन ५७
स्वप्न कैसे आते हैं ? ५७
निर्विकार आत्मा सुप्त जैसा क्यों ? ५८
दिवास्वप्न से हानियाँ ५८
निद्रा का उपयुक्त समय ५८
सात्म्य होने पर दिवास्वप्न हानिकर नहीं ५८
निद्रानाश के हेतु ५८
निद्रानाश के उपाय ५९
निद्रानाश में आहार ५९
अतिनिद्रा का उपाय ५९
कफादि में रात्रिजागरण हितकर ५९
दिवास्वप्न हितकर ५९
तन्द्रा का लक्षण ५९
जृम्भा का लक्षण ५९
क्लम का लक्षण ६०
आलस्य का लक्षण ६०
उत्क्लेश का लक्षण ६०
ग्लानि का लक्षण ६०
गौरव का लक्षण ६०
मूर्च्छादि में दोषों की प्रधानता ६०
गर्भ की वृद्धि रस और वायु से ६१
गर्भ की वृद्धि में वायु और अग्नि ६१
दृष्टि और रोमकूपों की वृद्धि नहीं ६२
शिर के बाल और नाखून बढ़ते रहते हैं ६२
सात प्रकार की प्रकृतियाँ ६२
प्रकृति का निर्माण ६२
वातिक प्रकृति के लक्षण ६२
पैत्तिक प्रकृति के लक्षण ६३
श्लैष्मिक प्रकृति के लक्षण ६४
संसर्गज प्रकृतियों के लक्षण ६४
प्रकृतियों में परिवर्तन ६४
प्रकृतिदोष से हानि क्यों नहीं ? ६४
ब्राह्मकाय के लक्षण ६५
माहेन्द्रकाय के लक्षण ६५
वारुणकाय के लक्षण ६५
कौबेरकाय के लक्षण ६५
गान्धर्वकाय के लक्षण ६५
याम्यकाय के लक्षण ६५
ऋषिकाय के लक्षण ६५
आसुरसत्त्व के लक्षण ६६

सर्पसत्त्व के लक्षण	६६
शाकुनसत्त्व के लक्षण	६६
राक्षसकाय के लक्षण	६६
पैशाचकाय के लक्षण	६६
प्रेतसत्त्व के लक्षण	६६
पाशवगुण के लक्षण	६७
मत्स्यसत्त्व के लक्षण	६७
वानस्पत्यसत्त्व के लक्षण	६७
(५) शरीरसंख्याव्याकरणशारीराध्याय	
गर्भ की परिभाषा	६९
गर्भ की वृद्धि	६९
'शरीर' शब्द से ग्राह्य अंग	६९
प्रत्यंगों की गणना	७०
अवयवों की गणना	७०
त्वचा आदि की गणना	७१
त्वचा आदि का विस्तृत वर्णन	७१
आशयों की संख्या	७१
आँतों की लम्बाई	७१
नौ स्रोत	७१
कण्डराएँ	७२
जाल विवरण	७२
कूर्च	७२
रज्जु	७३
सात सेवनियाँ	७३
अस्थियों के संघात	७३
चौदह सीमन्त	७४
अस्थियों की संख्या	७४
शाखाओं की अस्थि-संख्या	७४
अस्थियों के प्रकार	७७
कपालादि अस्थियों के स्थान	७७
अस्थियों की उपयोगिता	७८
सन्धियों के भेद	७८
सन्धियों की संख्या और स्थान	७९
प्रकारान्तर से सन्धियों के आठ भेद	७९
इन सन्धियों के शरीर में स्थान	७९
स्नायु वर्णन	७९
शाखागत स्नायु	८०
मध्य शरीर एवं ग्रीवा के स्नायु	८०
स्नायु के भेद एवं कार्य	८१
स्नायु का महत्त्व	८१
स्नायु-ज्ञान की उपयोगिता	८१
मांसपेशियों की संख्या	८२
शाखागत मांसपेशियाँ	८२
मध्यकाय की मांसपेशियाँ	८२
ऊर्ध्वजत्रुग मांसपेशियाँ	८२
स्त्रियों में अधिक पेशियाँ	८३
पेशियों के विविध रूप	८३
स्त्री-प्रजननांगों का स्वरूप	८४
गर्भाशय में भ्रूण की स्थिति	८४
शवच्छेदन विधि	८५
चर्मचक्षुओं से आत्मा को देखना सम्भव नहीं	८५
शवच्छेदन का लाभ	८६
(६) प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीराध्याय	
मर्मों की संख्या और नाम	८७
मांसादि के मर्मों की संख्या	८७
अंग-प्रत्यंग के मर्मों की संख्या	८८
अधःशाखा के मर्मों की संख्या और नाम	८८
मांसादि मर्मों के नाम	८८
मर्मों का प्रकारान्तर से वर्गीकरण	८९
सद्यः प्राणहर मर्म	८९
कालान्तर प्राणहर मर्म	८९
विशल्यघ्न मर्म	८९
वैकल्यकर मर्म	८९
रुजाकर मर्म	९०
मर्म स्वरूप और अभिघात	९०
मर्मों से सम्बन्धित वैकल्पिक विवरण	९२
चतुर्विध सिराओं द्वारा शरीर का पोषण	९३
मर्माभिघात में तीव्र वेदना का हेतु	९३
मर्म वेधन के भिन्न-भिन्न परिणाम	९३
मर्माभिघात से मृत्यु की अवधि	९३
बिद्ध मर्मों के स्थान एवं लक्षण	९४
गुद, बस्ति आदि मर्म	९५
पीठ के मर्म	९६
ऊर्ध्वजत्रुग मर्म	९७
मर्मों का माप	९८
मर्म ज्ञान की उपयोगिता	९८
जीवन के लिए रुधिर का महत्त्व	९९
अधिक रक्तस्राव से मृत्यु तथा उपचार	९९
मर्म ज्ञान का महत्त्व	९९
मर्म सुरक्षित हैं तो जीवन को संकट नहीं	९९
मर्माभिघात प्राणहर क्यों ?	९९
भिन्न-भिन्न मर्माभिघातों के परिणाम	९९

मर्म के समीप का अभिघात भी हानिकर १००
मर्माभिघात से मृत्यु या वैकल्य निश्चित १००
मर्माभिघात कृच्छ्रसाध्य १००

(७) सिरावर्णविभक्तिशारीराध्याय

सिराओं की संख्या एवं कार्य १०१
सिराओं का नाभि से सम्बन्ध १०२
सात सौ सिराएँ और प्रधान सिराएँ १०२
वातवह सिराओं का शरीर में स्थान १०३
पित्तवह सिराओं का विभाग १०३
वातवह सिराओं के प्राकृत कार्य १०३
पित्तवह सिराओं के प्राकृत कार्य १०३
श्लेष्मवह सिराओं के प्राकृत कार्य १०४
रक्तवह सिराओं के प्राकृत कार्य १०४
सिराएँ सर्ववहा हैं १०४
कुपित दोषों का सर्वगामी होना १०४
भिन्न-भिन्न सिराओं की पहचान १०४
वेधन के अयोग्य सिराएँ १०५
अध:शाखा की अव्यध्य सिराएँ १०५
मध्यदेह की अव्यध्य सिराएँ १०५
जत्रूर्ध्व की अव्यध्य सिराएँ १०६
सिराएँ सर्वशरीरव्यापी हैं १०६

(८) सिराव्यधविधिशारीराध्याय

सिरावेध का निषेध १०८
सिरावेधन में सावधानी १०८
अव्यध्य सिराओं के वेधन का विधान १०९
सिराव्यध में पूर्वकर्म और प्रधानकर्म १०९
सिरावेध के लिए अनुपयुक्त काल ११०
उत्तमांग की सिराओं का उत्थान ११०
पादादि सिरावेध विधि ११०
शस्त्रप्रणिधान प्रमाण और शस्त्र-विशेष १११
सिरावेध काल १११
सुविद्धा सिरा का लक्षण १११
अशुद्ध रक्त का पहले आना ११२
वेधन पर रक्त न आने का हेतु ११२
क्षीण आदि रोगियों में सिरावेध काल ११२
अधिक रक्तस्राव न होने दें ११२
स्रावित रुधिर की मात्रा ११२
रोगानुसार सिरावेध के स्थान ११३
दुष्टव्यध सिराएँ ११४
दुष्टव्यध सिराओं का वर्णन ११४
सिराव्यध एक कठिन कार्य ११५
अज्ञ द्वारा सिरावेध का निषेध ११५
सिरावेध का महत्त्व ११५
सिरावेध एक सम्पूर्ण चिकित्सा ११५
सिरावेध के पश्चात् त्याज्य ११६
प्रच्छान आदि का उपयोग ११६
अवगाढ आदि रक्त के निकालने के उपाय ११६

(९) धमनीव्याकरणशारीराध्याय

धमनी और स्रोत सिराओं से भिन्न हैं ११८
नाभिप्रभव धमनियों का विभाजन ११९
ऊर्ध्वग धमनियों के विशिष्ट कर्म ११९
अधोग धमनियों के कर्म १२०
तिर्यग्गत धमनियों के कर्म १२१
धमनियों की सुषिरता का हेतु १२१
धमनियों का शरीर और आत्मा से सम्बन्ध १२१
स्रोत तथा उनके विद्ध होने का लक्षण १२२
स्रोत का लक्षण १२४

(१०) गर्भिणीव्याकरणशारीराध्याय

गर्भिणी के लिए नियम १२६
गर्भिणी का मासानुमासिक भोजन क्रम १२७
सूतिकागार वर्णन १२८
प्रजायिनी का लक्षण १२९
आसन्नप्रसवा के लक्षण १२९
प्रसव की प्रथमावस्था १३०
प्रसवकाल में प्रवाहण में सावधानी १३०
गर्भ के प्रतिलोम होने पर उपाय १३१
गर्भसंग का उपचार १३१
सद्योजात की परिचर्या १३२
शिशु को स्तन्यपान १३३
सद्य:प्रसूता की परिचर्या १३३
बलवती और निर्बल प्रसूता की परिचर्या १३४
प्रसूता के लिए त्याज्य १३४
प्रसूता की चिकित्सा में सावधानी १३४
अपरापतन न होने का उपचार १३५
मक्कल्ल शूल के लक्षण १३६
मक्कल्ल शूल की चिकित्सा १३६
शिशु की सुरक्षा १३७
शिशु का नामकरण संस्कार १३७
धात्री के गुण १३७
धात्री के स्तनदोष एवं स्तनपान विधि १३८
नाना स्तन्यों के पान से हानियाँ १३८
दूध पिलाने में सावधानियाँ १३९

स्तन्यनाश का कारण	१३९
स्तन्यवृद्धि के उपाय	१३९
स्तन्य-परीक्षण	१३९
निषिद्ध स्तन्य	१३९
दूषित स्तन्य	१४०
स्तन्यदूषण के हेतु	१४०
बालकों के रोगों का विज्ञानोपाय	१४०
रुग्ण शिशु के लक्षण	१४०
शिशु की उदरव्याधियों का विज्ञानोपाय	१४०
शिशुव्याधि उपचार	१४०
शिशु औषध मात्रा	१४०
क्षीराद शिशु में औषध-प्रयोग विधि	१४१
ज्वर में घृतपान का निषेध	१४१
शिशु में विरेकादि का निषेध	१४१
मस्तुलुंगक्षय की चिकित्सा	१४१
तुण्डनाभि और उपचार	१४१
आयु के अनुसार घृत-प्रयोग	१४२
शिशु की सुरक्षा	१४२
मातृ स्तन्य के अभाव में गाय या बकरी का दूध	१४२
अन्नप्राशन की आयु	१४३
शिशु की ग्रह एवं उपसर्ग से रक्षा	१४३
ग्रह के प्रभाव से ग्रस्त शिशु के सामान्य लक्षण	१४३
विद्याग्रहण की आयु	१४४
विवाह के योग्य आयु	१४४
गर्भाधान की उपयुक्त आयु	१४४
गर्भाधान के अयोग्य स्त्रियाँ	१४४
सम्भावित गर्भपात की चिकित्सा	१४५
गर्भपात की चिकित्सा	१४६
लीनगर्भ, शुष्कगर्भ, नैगमेषापहृतगर्भ और नागोदरगर्भ की चिकित्सा	१४६
गर्भस्राव की मासानुमासिक चिकित्सा	१४८
पुनर्गर्भाधान काल	१४९
गर्भिणी चिकित्सा	१४९
शिशु के लिए मेधादि वर्धन योग	१५०



चिकित्सास्थान

(१) द्विव्रणीयचिकित्साध्याय
व्रण के भेद १५१
आगन्तुज व्रण की आशु चिकित्सा १५२
दोषज व्रण के भेद १५२
दोषज व्रण के लक्षण १५२
व्रण के दोषानुसार लक्षण १५३
व्रण के साठ उपक्रम १५४
साठ उपक्रमों के कार्य १५५
शोथनाशक उपक्रम १५६
१. अपतर्पण : प्रधानतम उपक्रम १५६
अपतर्पण के लाभ और अवधि १५६
अपतर्पण का निषेध विषय १५६
२. आलेपन विषय १५६
आलेपन फल १५६
आलेपन के अन्य लाभ १५७
३. परिषेक : वेदनाहर उपाय १५७
४. अभ्यंग १५७
अभ्यंग का समय १५७
५. स्वेदन १५७
६. विम्लापन १५८
७. उपनाह १५८
८. पाचन १५८
९. विस्रावण विषय १५८
रक्तविस्रावण के अन्य विषय १५९
१०. स्नेहपान के विषय १५९
११. वमन विषय १५९
१२. विरेचन विषय १५९
१३. छेदन विषय १५९
१४. भेदन विषय १५९
१५. दारण विषय १६०
१६. लेखन विषय १६०
लेखन-प्रकार १६०
शस्त्र के अभाव में १६०
१७. एषण विषय १६१
१८. आहरण विषय १६१
१९-२०. व्यधन और स्रावण विषय १६१
२१-२२. सीवन और सन्धान विषय १६१
२३. पीडन विषय १६२
२४. शोणितस्थापन विषय १६२
२५. निर्वापण विषय १६२
२६. उत्कारिका विषय १६२
२७. कषाय-व्रणशोधन विषय १६३
२८. वर्ति विषय १६३
२९. शोधन कल्क विषय १६३
३०. शोधन घृत विषय १६३
३१. शोधन तैल विषय १६३
३२. रसक्रिया विषय १६३
गम्भीरधातु स्थित दुष्टव्रण का उपचार १६४
३३. रोपण विषय १६४
रोपण वर्तियाँ १६४
रोपण कल्क १६४
तिल कल्क का दोषानुसार प्रभाव १६४
तिलवत् यवकल्क का प्रभाव १६५
रोपण घृत १६५
रोपण तैल १६५
रोपण रसक्रिया १६५
चूर्ण विषय १६५
सर्वदोष सामान्य उपाय १६५
अमीमांस्य विधि १६५
कषायादि का विवेक से प्रयोग १६६
दोषघ्नगण दशमूलादि १६६
३४. धूपन विषय १६६
३५. उत्सादन विषय १६६
आभ्यन्तर उत्सादन विषय १६६

३६. अवसादन	१६७	कोष्ठभेदन के लक्षण	१७६
३७. मृदुकर्म विषय	१६७	कोष्ठ में रुधिर-संचय के लक्षण	१७७
३८. दारुण कर्म विषय	१६७	विद्ध का लक्षण	१७७
३९. क्षारकर्म विषय	१६७	क्षत का लक्षण	१७७
४०. अग्निकर्म विषय	१६७	पिच्चित का लक्षण	१७७
४१. रूढव्रण का वर्ण्य विषय : कृष्णकर्म	१६८	घृष्ट का लक्षण	१७७
४२. पाण्डुकर्म	१६८	छिन्नादि व्रणों की चिकित्सा	१७८
४३. प्रतिसारण विषय	१६९	पिच्चित और विघृष्ट की चिकित्सा	१७८
४४. रोमसञ्जनन विषय	१६९	अवयव छिन्न की चिकित्सा	१७९
४५. रोमापहरण	१६९	कर्णपालि एवं कृकाटिका छिन्न के लक्षण	१७९
४६. बस्ति विषय	१६९	सीवन (विस्तृत व्रण का) कर्म	१७९
४७. उत्तरबस्ति विषय	१७०	बन्धविशेष (शाखाछिन्न में)	१८०
४८. बन्ध हेतु	१७०	रोगी को अधोमुख या ऊर्ध्वमुख लिटाना	१८०
४९. पत्रदान विषय	१७०	शाखाछिन्न में दहन	१८०
दोषानुसार पत्रदान	१७०	व्रणरोपण तैल	१८०
उत्कृष्ट पत्र	१७०	सिंचनार्थ चन्दनादि तैल	१८०
पत्र का प्रयोज्य स्थल	१७०	भिन्ननेत्र की चिकित्सा	१८०
५०. कृमिघ्न विषय	१७१	आजघृत का नेत्राभिघात में प्रयोग	१८१
५१. बृंहण विषय	१७१	मेदोवर्ति के बाहर आने पर चिकित्सा	१८१
५२. विषघ्न विषय	१७१	मेदोवर्ति को काटना	१८१
५३. शिरोविरेचन विषय	१७१	अन्तःस्थित शल्य से हानि	१८२
५४. नस्य विषय	१७१	आभ्यन्तर रक्तस्राव की असाध्यावस्था	१८२
५५. कवलग्रह विषय	१७१	साध्य आभ्यन्तर रक्तस्राव की चिकित्सा	१८२
५६. धूम विषय	१७१	भिन्नकोष्ठ की साध्यता	१८२
५७. मधुसर्पिः उपक्रम	१७२	बाहर निकल आयी अन्त्र की चिकित्सा	१८३
५८. यन्त्र विषय	१७२	व्रण को बड़ा करना	१८३
५९. आहार विषय	१७२	एरण्ड स्नेह का प्रयोग	१८३
६०. रक्षाविधान	१७२	व्रणरोपणार्थ अश्वकर्णादि तैल	१८३
व्रण एवं व्रण चिकित्सा का संक्षेप	१७२	निरस्त मुष्क (मुष्कभेद) की चिकित्सा	१८४
अन्य औषधियों को सम्मिलित करना	१७३	शिरोऽभिघात के बिद्ध व्रण की चिकित्सा	१८४
औषधियों का यथालाभ प्रयोग	१७३	व्रण का सामान्य उपचार	१८४
गण की हानिकर औषध का परित्याग	१७३	सूक्ष्ममुख व्रण में चक्रतैल	१८५
व्रण और व्रणित के उपद्रव	१७३	व्रणरोपण मंजिष्ठादि तैल	१८५
(२) सद्योव्रणचिकित्साध्याय		सद्यो व्रणरोपण तालीशादि तैल	१८५
व्रण की आकृतियाँ	१७५	क्षत-पिच्चित का चिकित्सासूत्र	१८५
व्रणाकृतियों को जानने की आवश्यकता	१७५	व्रणवेदनाहर योग	१८५
आगन्तुज व्रणों का वर्गीकरण	१७६	तैलद्रोणी का गुमचोट में प्रयोग	१८५
आगन्तुज व्रणों के भेद	१७६	ऋतुविचार (परिषेकादि के प्रयोग में)	१८६
छिन्न व्रण के लक्षण	१७६	सद्योव्रण में घृत-प्रयोग	१८६
भिन्न व्रण के लक्षण	१७६	दोष-ऋतु के अनुसार घृत-तैल का प्रयोग	१८६
कोष्ठ का लक्षण	१७६	अदुष्ट व्रणों में समंगादि तैल	१८६

सद्योव्रण की चिकित्सा-विधि १८६
दुष्टव्रण-चिकित्साविधि १८७
व्रणप्रक्षालनार्थ द्रव्य १८७
शोधनार्थ तैल १८७
दुष्टव्रणों के उपचारार्थ तैल-घृत-कल्क योग १८७
कल्क द्रव्यों का दोषानुसार प्रयोग १८७

(३) भग्नचिकित्साध्याय

भग्न के विलम्बित रोहण के कारक १८९
भग्न में पथ्यापथ्य १८९
कुशाओं का वर्णन १८९
मंजिष्ठादि आलेपन १८९
भग्न में बन्धन की अवधि १९०
भग्नबन्धन के गुण-दोष १९०
दोष-ऋतु के अनुसार परिषेक १९०
वात-कफ प्रकृति में चक्रतैल का परिषेक १९०
ऋतु के अनुसार उष्ण-शीत परिषेक १९१
लाक्षाचूर्ण और दुग्ध का आभ्यन्तर प्रयोग १९१
स्रवण भग्न का उपचार १९१
आयु के अनुसार भग्नरोहण १९१
भग्नरोहण की अवधि १९१
भग्न भागों को यथास्थान लाने की विधि १९२
भग्नस्थापनोपायों का संक्षेप में उल्लेख १९३
उत्पिष्टादि भग्नों में शीतल परिषेक १९३
भग्न-स्थापना के बाद उपचार १९३
प्रत्यंग भग्न की चिकित्सा १९३
अवनख रक्तसंचयार्बुद १९३
अंगुलि भग्न की चिकित्सा १९३
पदास्थि भग्न की चिकित्सा १९३
जंघा-ऊरु भग्न की चिकित्सा १९३
श्रोणि-सन्धिच्युति १९४
कटिभग्न-चिकित्सा १९५
पर्शुकाभग्न-चिकित्सा १९५
स्कन्धसन्धिमुक्त-चिकित्सा १९५
कूर्पर, जानु, गुल्फ और मणिबन्ध की सन्धिमुक्त चिकित्सा १९६
तलभग्न की चिकित्सा १९६
अक्षक भग्न को ठीक करने की विधि १९६
बाहुभग्न-चिकित्सा १९७
ग्रीवा के भग्न : सन्धिमुक्त की चिकित्सा १९७
हनुसन्धिच्युति की चिकित्सा १९८
दन्ताभिघात की चिकित्सा १९८
नासाभग्न की चिकित्सा १९८
कर्णभग्न की चिकित्सा १९९
शिरोभग्न की चिकित्सा १९९
पतनादि में शीतल लेपादि १९९
भग्न में कपाटशयन १९९
श्रोणिभग्नादि का उपचार २००
चिरविमुक्त सन्धि की चिकित्सा २०१
कुसंयोजन की चिकित्सा २०१
बाहर आयी अस्थि का उपचार २०१
भग्न में तैलादि का उपयोग २०१
रोहण तैल का योग २०१
गन्ध तैल २०१
त्रपुसादि तैल २०२
भग्न में संक्रमण का खतरा २०२
भग्न का आदर्श रोहण २०३

(४) वातव्याधिचिकित्साध्याय

आमाशयगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०४
षड्धरण योग २०४
पक्वाशयगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०४
बस्तिगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०४
श्रोत्रादिगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०४
धातूपधातुगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०५
स्नायु-आदिगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०५
अस्थिगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०५
शुक्रगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०५
सर्वाङ्गगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०५
वातादि के कुपित होने की चिकित्सा २०६
सुप्तवात-चिकित्सा २०६
वातविकारों में पथ्य २०६
उपनाह (शाल्वण) स्वेद २०६
अनग्नि स्वेद २०६
स्कन्धादि के कुपित वात की चिकित्सा २०७
शिरोगत कुपित वात की चिकित्सा २०७
बस्ति उत्तम वातहर २०७
वातप्रकोप को दूर करने के सामान्य उपाय २०७
तिल्वक घृत २०८
अणु तैल २०९
सहस्रपाक तैल २०९
पत्रलवण २१०
काण्डलवण २१०
कल्याणक लवण २१०

लवण फल २११

(५) महावातव्याधिचिकित्साध्याय

वातरक्त का एक ही प्रकार २१२
वातरक्त की सम्प्राप्तिपूर्वक निरुक्ति २१२
वातरक्त के पूर्वरूप २१२
वातरक्त के हेतु २१३
वातरक्त का चिकित्सासूत्र २१३
वायु की प्रधानता वाले वातरक्त की चिकित्सा २१३
पित्त की प्रधानता वाले वातरक्त की चिकित्सा २१५
रक्त की प्रधानता वाले वातरक्त की चिकित्सा २१५
श्लेष्मा की प्रधानता वाले वातरक्त की चिकित्सा २१५
द्वन्द्वज या सन्निपात की चिकित्सा २१६
पिप्पलीवर्धमान योग २१६
पटोलादि कषाय २१६
वातरक्त में विहार २१७
निषिद्ध आहाराचार २१७
अपतानक-चिकित्सा २१७
तीव्र प्रकोप का उपचार २१८
परिषेकार्थ स्नेह २१८
बस्ति-प्रयोग २१८
पक्षाघात की चिकित्सा २१९
मन्यास्तम्भ की चिकित्सा २१९
अपतन्त्रक की चिकित्सा २१९
अर्दित की चिकित्सा २१९
वातिक रोगों में सिराव्यध २२०
कर्णशूल चिकित्सा २२०
तूनी-प्रतितूनी चिकित्सा २२०
आध्मान चिकित्सा २२१
अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला २२१
हिंग्वादि गुटिका २२१
संसृष्ट दोषों तथा आवृत दोषों की चिकित्सा २२२
मेदोयुत वात के लक्षण एवं चिकित्सा २२२
ऊरुस्तम्भ या आढ्यवात के लक्षण २२२
ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा २२२
ऊरुस्तम्भ की बहिराश्रय चिकित्सा २२२
ऊरुस्तम्भ में भोजन २२३
ऊरुस्तम्भ में गुग्गुलुकल्प २२३

(६) अर्शश्चिकित्साध्याय

चतुर्विध उपाय २२५
अर्श की चिकित्सा २२६
यन्त्र द्वारा अर्शोऽङ्कुर-परीक्षा २२६
क्षार-प्रयोग का निषेध २२६
क्षार का पुनः प्रयोग २२६
अर्श में क्षार-प्रयोग २२६
सम्यक् दग्ध के लक्षण २२७
अतिदग्ध के लक्षण २२७
हीनदग्ध के लक्षण २२७
उपद्रुत अर्श की चिकित्सा २२७
अधिक रक्त आने पर चिकित्सा २२७
क्षार-प्रयोग और भोजन-व्यवस्था २२७
पश्चात्कर्म व्यवस्था २२८
शस्त्रादि के प्रयोग में सावधानी २२८
अर्शोयन्त्र २२९
छिद्रों का प्रमाण २२९
अर्शोघ्न आलेप २२९
अदृश्य अर्श की औषध चिकित्सा २३०
द्विपञ्चमूली योग २३०
पिप्पल्यादि योग २३१
अर्श की दोषानुसार चिकित्सा २३१
भल्लातक-विधान २३१
भल्लातक तैल २३२
भल्लातक तैल का गुण २३२
अर्शोहर अन्य द्रव्य २३२
अर्श में क्षार और अग्नि का प्रयोग २३३
घृतादि प्रयोग में दोषादि पर विचार २३३
अर्शोरोग में वर्ज्य २३३

(७) अश्मरीचिकित्साध्याय

अश्मरी की साध्यता २३४
पूर्वरूप में स्नेहादि कर्म २३४
वातिक अश्मरीहर घृत २३४
वातज अश्मरी में क्षारादि का प्रयोग २३४
पैत्तिक अश्मरीहर योग २३५
कफज अश्मरीहर योग २३५
शर्कराहर योग २३५
अश्मरीभेदन योग २३५
अश्मरीहर क्षार २३६
अन्य अश्मरीहर क्षार २३६
गोक्षुरयोग २३६
शोभाञ्जनादि योग २३६
अश्मरीहर क्षीरपाक २३६
पुनर्नवामूलसिद्ध दुग्ध २३६
वीरतरादि गण की औषधियों के योग २३६

शल्यकर्म का प्रयोग २३६
शल्यकर्म को जघन्य कर्म कहने में हेतु २३६
शल्यकर्म के लिए राजा से आज्ञा २३७
पूर्वकर्म का वर्णन २३७
त्याज्य रोगी २३७
प्रधान कर्म २३८
स्त्रियों में शस्त्र-प्रयोग में सावधानी २३८
मूत्राशय का एक ही स्थान पर भेदन करें २३८
पश्चात्कर्म २३८
अश्मरी-चूर्ण को निकालने की विधि २३९
आहारादि की व्यवस्था २३९
अश्मरी के शल्यकर्म में विशेष सावधानी २४०
मर्माष्टिक की सुरक्षा २४०

(८) भगन्दरचिकित्साध्याय

भगन्दर के भेद और साध्यासाध्यता २४२
पक्वापक्व भगन्दर की चिकित्सा २४२
शतपोनक में नाड़ीभेदन क्रम २४३
शतपोनक की नाड़ियों का अलग-अलग भेदन २४३
शतपोनक के शल्यकर्म में व्रण को विवृत न करें २४३
शतपोनक के विविध शल्यकर्म २४३
शतपोनक में पश्चात्कर्म २४४
स्वेदन द्रव्य २४४
पानीय द्रव्य २४४
पश्चात्कर्म का लाभ २४४
ऊष्ट्रग्रीव भगन्दर की चिकित्सा २४५
परिस्रावी भगन्दर की चिकित्सा २४५
परिस्रावी भगन्दर में शल्यकर्म २४५
बालकों के भगन्दर का क्रियासूत्र २४५
व्रणशोधन वर्ति २४६
आगन्तुज (उन्मार्गी) भगन्दर की चिकित्सा २४६
भगन्दर की साध्यासाध्यता २४६
भगन्दरों की वेदना की शान्ति के लिए सर्वसामान्य उपाय २४६
बाष्प स्वेदन एवं अवगाहन २४६
उपनाह स्वेदन २४६
वेदनाहर शुण्ठयादि चूर्ण २४७
भगन्दर-क्षत के लिए शोधन २४७
त्रिवृत आदि लेप २४७
शोधन योग २४७
भगन्दरनाशन तैल २४७
भगन्दरहर त्रिवृदादि तैल २४८
स्यन्दन तैल २४८
भगन्दर और अर्शोयन्त्रों में भेद २४८
भगन्दर में सावधानियाँ २४८

(९) कुष्ठचिकित्साध्याय

त्वक् दोषों के हेतु २५०
निषिद्ध आहार और विहार २५०
सेवनीय आहार-विहार २५०
पूर्वरूपावस्था में उपचार २५१
कुष्ठ की वातादि के अनुसार चिकित्सा २५१
महातिक्तक घृत २५२
तिक्तक घृत २५२
सिरावेधादि का उपयोग २५२
कुष्ठ में विविध लेप २५२
दद्रुहर लेप २५३
सिन्धूद्भूतादि लेप २५३
हेमक्षीर्यादि लेप २५३
भद्रासंज्ञादि सिद्ध जल २५३
द्वैपत्वगादि सिद्ध तैल २५४
पूतिकीटादि लेप २५४
कृष्णसर्प भस्म लेप २५४
कृष्णसर्प भस्मसिद्ध लेप २५४
श्वित्रहर कुक्कुटपुरीष लेप २५४
श्वित्रहर गुटिका २५४
किलासहर लेप २५५
श्वित्रहर लेप द्रव्य २५५
तुत्थादि और तिल्वकादि लेप २५५
नीलघृत २५५
महानीलघृत २५६
श्वित्रहर गोमूत्रादि लेप २५६
श्वित्रहर पूतीकादि लेप २५६
दोषनिर्हरणोपाय २५६
दोषनिर्हरण की आवश्यकता २५६
शोधन-शोणितावसेचन क्रम २५७
पथ्यादि योग २५७
हरिद्रादि का गोमूत्र के साथ प्रयोग २५७
कुष्ठहर अन्य योग २५७
स्नानार्थ योग २५७
मांसक्षरण पर मुद्गनिम्ब योग २५८
कृमिभक्षित अंग पर लेप २५८
कुष्ठहर तैल २५८
वज्रक तैल २५८

महावज्रक तैल २५९
कुष्ठहर लाक्षादि तैल २५९
स्नानार्थ खदिर क्वाथ २५९
प्रदेह और घर्षणार्थ द्रव्य २५९
कुष्ठहर योग २५९
स्नान-पानार्थ खदिर का प्रयोग २६०
कुष्ठ को नष्ट करने के उपाय २६०

(१०) महाकुष्ठचिकित्साध्याय

मन्थयोग २६१
अरिष्ट वर्णन २६२
आसव वर्णन २६२
सुरा वर्णन २६३
अवलेह वर्णन २६३
चूर्णक्रिया २६३
अयस्कृति वर्णन २६३
औषधायस्कृति २६४
महौषधायस्कृति २६४
खदिर-विधान २६५
कृष्णतिलपाक २६५

(११) प्रमेहचिकित्साध्याय

प्रमेह वर्णन २६७
प्रमेह में अपथ्य २६७
उपयुक्त आहार २६८
प्रमेह में वमनादि प्रयोग २६८
प्रमेहहर पाँच योग २६९
प्रमेहहर विशिष्ट योग २६९
यापनार्थ योग २६९
प्रमेहहर सामान्य योग २७०
धनी आदि के लिए प्रमेहहर योग २७०
स्थूल प्रमेही के लिए व्यायाम २७१
निर्धन प्रमेही के लिए व्यायाम २७१
वैद्य में आस्था २७१

(१२) प्रमेहपिडकाचिकित्साध्याय

साध्य प्रमेहपिडकाएँ २७३
पूर्वरूपावस्था में उपचार २७३
धान्वन्तर घृत २७४
मधुमेही दुर्विरेच्य है २७४
मधुमेही अस्वेद्य है २७४
पिडकाओं का शरीर के अधोभाग में होने में कारण २७४
पिडकोपचार २७५
शालसारादि अवलेह २७५
नवायस लोह २७५
लोहारिष्ट २७६
प्रमेहमुक्ति के लक्षण २७६

(१३) मधुमेहचिकित्साध्याय

परित्यक्त मधुमेही का उपचार २७८
शिलाजतु और उसका उत्पत्ति-स्थान २७८
शिलाजतु के भेद २७८
'शिलाजतु' नामकरण का हेतु २७८
शिलाजतु की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता २७८
शिलाजतु के सामान्य गुण २७९
प्रधान शिलाजतु २७९
शिलाजतु-प्रयोग विधि २७९
माक्षिकधातु का प्रयोग २८०
इस योग का कुष्ठ में प्रयोग २८०
तुवरक रसायन कल्प २८१
तुवरक तैलपान २८१
पथ्य सेवन २८२
तुवरक तैल और अनुपान २८२
तुवरक तैल का नस्य २८२
तुवरक तैलपान के लाभ २८२
तुवरक तैल का नेत्ररोगों में प्रयोग २८३

(१४) उदरचिकित्साध्याय

उदररोगों की साध्यासाध्यता २८४
उदरी का पथ्यापथ्य २८४
वातोदर चिकित्सा २८४
पित्तोदर चिकित्सा २८५
श्लेष्मोदर चिकित्सा २८५
दूष्योदर चिकित्सा २८५
उदररोगों में वातानुलोमन का महत्त्व २८६
उदररोगहर सामान्य योग २८६
आनाहवर्ति २८७
मदनफलवर्ति २८८
प्लीहोदर चिकित्सा २८८
षट्पलक घृत २८८
यकृद्दाली चिकित्सा २८८
प्लीहोदर में अग्निकर्म २८८
बद्धोदर और परिस्रावी उदर की चिकित्सा में शल्यकर्म २८९
परिस्रावी उदर का शल्यकर्म २८९
शल्यकर्म द्वारा जलोदर की चिकित्सा २९०

उदररोग में पथ्य	२९०
(१५) मूढगर्भचिकित्साध्याय	
गर्भिणी के शल्योद्धरण में सावधानी	२९२
प्रसव में तीन संग (रुकावटें)	२९२
सुखप्रसव के लिए मन्त्र	२९२
मूढगर्भ चिकित्सा	२९३
जीवित गर्भ के दारण का निषेध	२९३
मूढगर्भ में शल्यकर्म	२९४
अवरोधक अंग का छेदन	२९४
मूढगर्भ की चिकित्सा में सावधानी	२९४
मूढगर्भ की उपेक्षा हानिकर	२९४
गर्भिणी के शल्यकर्म में वृद्धिपत्र के प्रयोग का निषेध	२९४
अपरा के बाहर न आने की चिकित्सा	२९५
दोषनिर्हरण और वेदनाहर योग	२९५
बलातैल	२९६
शतपाक बलातैल	२९६
शतावरी शतपाक तैल	२९७
(१६) विद्रधिचिकित्साध्याय	
विद्रधि की असाध्यता एवं चिकित्सा	२९८
वातिक विद्रधि की चिकित्सा	२९८
विद्रधि का भेदन एवं शोधन	२९८
शोधन कषाय	२९८
रोपण योग	२९८
पैत्तिक विद्रधि की चिकित्सा	२९९
सिंचनार्थ शीत कषाय	२९९
जलौकापातन एवं पाटन कर्म	२९९
व्रणप्रक्षालन एवं रोपण योग	२९९
व्रणरोपण घृत	२९९
करंजादि घृत	२९९
कफज विद्रधि चिकित्सा	३००
रक्तज और आगन्तुज विद्रधि का चिकित्सासूत्र	३००
आभ्यन्तर विद्रधि की चिकित्सा	३००
बस्ति प्रयोग	३००
मधुशिग्रु योग	३००
शिलाजतु-प्रयोग	३००
विद्रधि में सिरावेध	३०१
पक्व आभ्यन्तर विद्रधि की चिकित्सा	३०१
आभ्यन्तर विद्रधि को पकने न देना	३०१
मज्जविद्रधि की चिकित्सा	३०१
शोधनार्थ तिक्तकषाय	३०१
शोधन कषाओं का प्रयोग	३०२
रोपणार्थ प्रियंग्वादि तैल	३०२
(१७) विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्साध्याय	
विसर्प की साध्यासाध्यता	३०३
वातिक विसर्प की चिकित्सा	३०३
पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा	३०३
ह्रीबेरादि लेप	३०४
प्रपौण्डरीकादि लेप	३०४
परिषेचन	३०४
गौर्यादि घृत	३०४
कफज विसर्प की चिकित्सा	३०५
वरुणादि गण की चिकित्सा	३०५
नाडीव्रण की साध्यासाध्यता	३०५
वातिक नाडीव्रण की चिकित्सा	३०५
प्रक्षालनार्थ द्रव्य	३०५
पैत्तिक नाडीव्रण की चिकित्सा	३०५
तर्पणार्थ श्यामादि घृत	३०६
उपनाहन एवं शस्त्रपातन	३०६
नाडीव्रणहर तैल	३०६
शल्योत्पन्न नाडी का भेदन-शोधन	३०६
रोपणार्थ कुम्भीकादि तैल	३०६
क्षारसूत्र द्वारा नाडीच्छेदन	३०७
क्षारसूत्र-प्रयोगविधि	३०७
क्षारसूत्र का अन्य प्रयोग	३०७
वर्ति प्रयोग	३०८
घोण्टाफलादि वर्ति	३०८
बिभीतकादि वर्ति	३०८
धुत्तूरादि वर्ति	३०८
अन्य वर्तियाँ	३०८
नाडीव्रणहर तैल	३०८
पिण्डीतकादि तैल	३०८
भल्लातकादि तैल	३०८
स्तन्यविकार में वमन	३०८
स्तन्यशोधन कषाय	३०९
स्तन्यशोधन की दोषानुसार व्यवस्था	३०९
स्तनविद्रधि की विद्रधिवत् चिकित्सा	३०९
पच्यमान स्तनविद्रधि में उपनाहन का निषेध	३०९
स्तनविद्रधि के शस्त्रकर्म में सावधानी तथा दुग्ध-निर्हरण का आदेश	३०९
(१८) ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्साध्याय	
चिकित्सा में रोगी के बल का महत्त्व	३११

ग्रन्थि में स्नेहनार्थ चतुःस्नेह ३११
वातज ग्रन्थि चिकित्सा ३११
पित्तज ग्रन्थि चिकित्सा ३१२
पक्व पित्तज ग्रन्थि की चिकित्सा ३१२
कफज ग्रन्थि की चिकित्सा ३१२
अपक्व ग्रन्थि को विदीर्ण करने का आदेश ३१२
कठोर ग्रन्थि का शस्त्रकर्म ३१३
शोधन-रोपण द्रव्य ३१३
मेदोज ग्रन्थि में शस्त्र, दहन आदि का प्रयोग ३१३
शोधन द्रव्य ३१३
अपची की चिकित्सा ३१३
वामक योग ३१४
नस्यार्थ कैटर्यादि तैल ३१४
शाखोटक तैल ३१४
मर्मस्थ ग्रन्थि में शस्त्रकर्म और दहन ३१४
मत्स्याण्डजाल को निकालना ३१४
शस्त्रकर्म के सम्बन्ध में मतभेद ३१४
अपची में मणिबन्ध में त्रिरेखा दहन ३१४
प्रचलाक (मोर) आदि की भस्म का प्रयोग ३१५
वातज अर्बुद की चिकित्सा ३१५
पैत्तिक अर्बुद की चिकित्सा ३१५
कफज अर्बुद की चिकित्सा ३१५
कफार्बुदहर लेप ३१६
कृमिजनक मांस-दधि लेप ३१६
अल्पमूल अर्बुद की शस्त्र चिकित्सा ३१६
व्रण का रोपण ३१६
मेदोज अर्बुद की चिकित्सा ३१६
शेष दोष अर्बुद का पुनः हो जाना ३१७
वातज गलगण्ड की चिकित्सा एवं पश्चात्कर्म ३१७
पानार्थ अमृतादि तैल ३१७
कफज गलगण्ड की चिकित्सा ३१७
पक्व गलगण्ड का उपचार ३१७
आहार द्रव्य ३१८
मेदोज गलगण्ड की चिकित्सा ३१८
औषधोपयोग और शस्त्रकर्म ३१८
मेद आदि स्नेह द्रव्यों से दहन ३१८
व्रणोपचार ३१८

(१९) वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्साध्याय

वृद्धि में त्याज्य ३२०
वातिक वृद्धि की चिकित्सा ३२०
पैत्तिक वृद्धि की चिकित्सा ३२१
रक्तज वृद्धि की चिकित्सा ३२१
कफज वृद्धि की चिकित्सा ३२१
मेदोज वृद्धि की चिकित्सा ३२१
मेदोहर शस्त्रकर्म ३२१
मूत्रज वृद्धि में तरल-निर्हरण ३२१
अन्त्रवृद्धि में दहन ३२३
अन्त्रवृद्धि में सिरावेध ३२३
उपदंश में सिरावेध ३२३
दोषनिर्हरणोपाय ३२४
निरूहण द्वारा दोषनिर्हरण ३२४
वातिक उपदंश की चिकित्सा ३२४
पैत्तिक उपदंश की चिकित्सा ३२४
श्लैष्मिक उपदंश की चिकित्सा ३२४
पाक रोकने के उपाय एवं पाक से होने वाली हानियाँ ३२५
प्रक्षालनार्थ क्वाथ ३२५
सौराष्ट्री आदि लेप ३२५
अन्य प्रक्षालन क्वाथ ३२५
सर्जिकादि चूर्ण ३२५
दोषों के बलाबल का विचार ३२६
दहनकर्म ३२६
पश्चात्कर्म ३२६
सिराव्यध ३२६
पैत्तिक श्लीपद चिकित्सा ३२६
श्लैष्मिक श्लीपद चिकित्सा ३२६
गोमूत्र-सेवन ३२७
विडंगादि तैलपान ३२७
श्लीपदहर लेप ३२७
पानीय क्षार का प्रयोग ३२७
सिद्ध तैल का नस्य ३२७
द्रवन्त्यादि क्षार ३२८

(२०) क्षुद्ररोगचिकित्साध्याय

अजगल्लिका चिकित्सा ३२९
अन्धालजी आदि की चिकित्सा ३२९
विवृतादि की चिकित्सा ३२९
चिप्प की चिकित्सा ३२९
विदारिका की चिकित्सा ३३०
अपक्व विदारिका की चिकित्सा ३३०
शर्करार्बुदादि की चिकित्सा ३३०
पाददारी में सिरावेध एवं लेप ३३०
अलसहर लेप ३३१

कासीसादि प्रतिसारण	३३१
कदर में स्नेहन-दहन	३३१
इन्द्रलुप्त में सिरावेधादि	३३१
अरूंषिका चिकित्सा	३३१
दारुणक में माथे की सिरा का वेध एवं नस्य	३३२
मसूरिका चिकित्सा	३३२
जतुमणि चिकित्सा	३३२
न्यच्छ चिकित्सा	३३२
क्षीरवृक्षत्वक् लेप	३३२
युवानपिडका चिकित्सा	३३३
पद्मिनीकण्टक की चिकित्सा	३३३
परिवर्तिका और अवपाटिका की चिकित्सा	३३३
निरुद्धमणि की शस्त्र चिकित्सा	३३३
सन्निरुद्ध गुद की चिकित्सा	३३४
वल्मीक की चिकित्सा	३३४
वल्मीक में रोपण तैल	३३४
अहिपूतना चिकित्सा	३३५
कासीसादि लेप	३३५
मुष्ककच्छू चिकित्सा	३३५
गुदभ्रंश चिकित्सा	३३५
मूषकादि तैल	३३५
(२१) शूकदोषचिकित्साध्याय	
सर्षपिका चिकित्सा	३३७
अष्ठीलिका चिकित्सा	३३७
ग्रथित चिकित्सा	३३७
कुम्भीका चिकित्सा	३३७
अलजी चिकित्सा	३३७
मृदित चिकित्सा	३३८
सम्मूढपिडका चिकित्सा	३३८
अवमन्थ चिकित्सा	३३८
पुष्करिका चिकित्सा	३३८
स्पर्शहानि चिकित्सा	३३८
उत्तमा चिकित्सा	३३८
शतपोनक चिकित्सा	३३८
शोणितार्बुद चिकित्सा	३३९
(२२) मुखरोगचिकित्साध्याय	
वातिक ओष्ठरोगों की चिकित्सा	३४०
जलौकापातन	३४०
रक्तविस्रावण और प्रतिसारण	३४०
त्र्यूषणादि प्रतिसारण	३४०
मेदोज ओष्ठरोगों में अग्निकर्म	३४०
शीताद में रक्तविस्रावण और गण्डूष	३४१
दन्तपुप्पुट-चिकित्सा	३४१
दन्तवेष्ट-चिकित्सा	३४१
शौषिर-चिकित्सा	३४१
परिदर-चिकित्सा	३४१
उपकुश-चिकित्सा	३४१
दन्तवैदर्भ-चिकित्सा	३४२
अधिदन्त-चिकित्सा	३४२
अधिमांस-चिकित्सा	३४२
दन्तनाडी-चिकित्सा	३४२
ऊपर का दाँत निकालने में सावधानी	३४२
प्रक्षालनार्थ क्वाथ	३४३
दन्तहर्ष की चिकित्सा	३४३
दन्तहर्ष में अन्य उपाय	३४३
दन्तशर्करा-चिकित्सा	३४३
कपालिका-चिकित्सा	३४३
कृमिदन्त-चिकित्सा	३४३
चलदन्त-चिकित्सा	३४४
हनुमोक्ष-चिकित्सा	३४४
दन्तरोगों में त्याज्य	३४४
जिह्वा के रोगों की चिकित्सा	३४४
उपजिह्विका की चिकित्सा	३४४
गलशुण्डिका की चिकित्सा	३४५
छेदन कर्म में सावधानी	३४५
प्रतिसारण द्रव्य	३४५
कवलधारण द्रव्य	३४५
पञ्चाङ्गी-वर्ति द्वारा कफहर धूम	३४५
तुण्डीकेरी आदि की चिकित्सा	३४५
तालुपाकादि का उपचार	३४५
रोहिणी की चिकित्सा	३४६
कण्ठशालूक-चिकित्सा	३४६
एकवृन्द-चिकित्सा	३४६
गिलायु-चिकित्सा	३४६
सर्वसर-चिकित्सा	३४६
स्नैहिक धूम	३४७
पैत्तिक सर्वसर चिकित्सा	३४७
कफज सर्वसर चिकित्सा	३४७
सभी प्रकार के कफज (सर्वसर) रोगों को दूर करने वाला योग	३४७
कवलधारण	३४७
वर्ज्य व्याधियाँ	३४७

दन्तादि के असाध्य रोग ३४७
प्रत्याख्याय कर चिकित्सा-विधान ३४८
(२३) शोफचिकित्साध्याय
सर्वसर शोफ के भेद ३४९
शोफ के हेतु ३४९
वातिक शोफ के लक्षण ३५०
पैत्तिक शोफ के लक्षण ३५०
श्लैष्मिक शोफ के लक्षण ३५०
सान्निपातिक शोफ के लक्षण ३५०
विष के कारण होने वाला सर्वांग शोफ ३५०
शोफ की सम्प्राप्ति ३५०
शोफ की साध्यासाध्यता ३५१
शोफी के लिए त्याज्य ३५१
वातिकादि शोफ-चिकित्सा ३५१
सामान्य चिकित्सा ३५१
शोफी के लिए त्याज्य ३५२
(२४) अनागतबाधाप्रतिषेधाध्याय
उत्कृष्ट दन्तधावन ३५४
रस की दृष्टि से दातुन का चयन ३५४
दातुन करने की विधि ३५४
दातुन का निषेध ३५५
जिह्वानिर्लेखन और गण्डूषधारण ३५५
स्नेहगण्डूष के लाभ ३५५
मुखमण्डल का प्रक्षालन ३५५
प्रक्षालन का लाभ ३५६
नेत्राञ्जन का प्रयोग ३५६
अञ्जन का निषेध ३५६
ताम्बूल भक्षण ३५६
ताम्बूल भक्षण के गुण ३५६
ताम्बूल भक्षण का निषेध ३५६
शिरोऽभ्यङ्ग ३५७
शिरोऽभ्यङ्ग के लिए तैल ३५७
कंघी करने के गुण ३५७
तैल से कर्णपूरण ३५७
अभ्यङ्ग के गुण ३५७
सर्वांग परिषेक के लाभ ३५७
स्नेहन का लाभ ३५८
स्नेहावगाहन ३५८
परिषेक आदि के लिए ऋतु आदि का विचार ३५८
स्नेहन क्रिया का निषेध ३५८
व्यायाम की परिभाषा ३५८
व्यायाम के गुण ३५८
व्यायाम का स्थौल्य में लाभ ३५९
व्यायाम से व्याधियाँ दूर रहती हैं ३५९
व्यायाम के लाभ ३५९
ऋतु के अनुसार व्यायाम ३५९
बलार्ध का लक्षण ३५९
व्यायाम करने में सावधानी ३५९
अतिव्यायाम से हानियाँ ३६०
शारीर व्यायाम का निषेध ३६०
उद्वर्तन के लाभ ३६०
उद्घर्षण के लाभ ३६०
उत्सादन के लाभ ३६०
फेनकोद्वर्तन के लाभ ३६०
इष्टिकोद्घर्षण के लाभ ३६०
स्नान के गुण ३६१
उष्णोदक का निषेध ३६१
उष्ण जल से शिर:स्नान ३६१
अति शीतल जल-स्नान से हानि ३६१
स्नान का निषेध ३६१
अनुलेपन के गुण ३६१
पुष्प, वस्त्र और रत्नधारण के गुण ३६१
मुख-आलेपन के लाभ ३६१
अञ्जन के गुण ३६२
देवादि में श्रद्धा से लाभ ३६२
आहार के गुण ३६२
पाद-प्रक्षालन के लाभ ३६२
पैरों का अभ्यङ्ग ३६२
पादत्र धारण ३६२
रोमापमार्जन के लाभ ३६२
बाणवार के लाभ ३६३
पगड़ी के लाभ ३६३
छत्र-धारण का लाभ ३६३
दण्डधारण का लाभ ३६३
निरन्तर बैठे रहना हानिकर ३६३
अधिक चलने से हानि ३६३
चंक्रमण के लाभ ३६४
शय्यासन के लाभ ३६४
बालव्यजन के लाभ ३६४
संवाहन का प्रभाव ३६४
प्रवात का प्रभाव ३६४
धूप (आतप) का प्रभाव ३६४

आग तापने के लाभ ३६४
समुचित निद्रा का लाभ ३६४
सामान्य सद्‌वृत्त ३६५
राजद्वेष आदि से बचना ३६५
वृक्षारोहणादि का निषेध ३६५
अग्नि, गौ आदि के सम्बन्ध में उपदेश ३६६
वेगधारण आदि का निषेध ३६६
भूमिविलेखनादि का निषेध ३६६
बाल, कान आदि के कुरेदने का निषेध ३६६
प्रतिवातातपादि का निषेध ३६६
इनके अतिसेवन का निषेध ३६७
सहसा ग्रहण और त्याग हानिकारक ३६७
अवाक्‌शिर:शयनादि का निषेध ३६७
भोजन के नियम ३६७
अन्य पदार्थों के सेवन का निषेध ३६८
जल में अपनी परछाईं आदि देखने का निषेध ३६८
द्यूतादि का निषेध ३६८
रसों का ऋतु के अनुसार सेवन ३६८
ऋतुओं के अनुसार जल की मात्रा ३६८
ऋतु के अनुसार शीत एवं उष्ण जल का सेवन ३६८
शृतशीत जल का विधान ३६८
रुग्ण व्यक्ति के लिए नियम ३६९
स्नेह द्रव्यों का ऋतुओं के अनुसार प्रयोग ३६९
व्यायाम की उपयोगिता ३६९
उत्सर्गादि में दत्तचित्तता ३६९
अति स्त्री-प्रसंग का निषेध ३६९
स्त्री-प्रसंग में संयम बरतने के लाभ ३६९
स्त्रीगमन के नियम ३६९
त्याज्य स्त्रियाँ ३७०
मैथुन के लिए त्याज्य विषय ३७०
मैथुन में सावधानी ३७०
अगम्यागमन पाप है ३७०
मैथुन की दृष्टि से त्याज्य स्त्रियाँ ३७१
मल-मूत्रादि वेग काल में मैथुन का निषेध ३७१
मैथुन सम्बन्धी नियमों का पालन ३७१
सहवास के योग्य नारी ३७१
मैथुन के बाद सेवनीय ३७२

(२५) मिश्रकचिकित्साध्याय

विस्राव्य व्याधियाँ ३७३
परिपोट के लक्षण ३७३
उत्पात के लक्षण ३७३
उन्मन्थ के लक्षण ३७३
दु:खवर्धन के लक्षण ३७३
परिलेही के लक्षण ३७४
कर्णपाली के नष्ट होने में हेतु ३७४
इनकी सामान्य चिकित्सा ३७४
परिपोटक की चिकित्सा ३७४
उत्पात की चिकित्सा ३७४
उन्मन्थ-चिकित्सा ३७४
परिलेही की चिकित्सा ३७५
अभ्यंग का उपयोग ३७५
लोपाकादि तैल ३७५
नीलीदलादि पलितहर तैल ३७५
पलित-खलितनाशन (केशकृष्णीकरण) तैल ३७६
लाक्षादि घृत ३७७
अङ्गराग ३७७

(२६) क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्साध्याय

वाजीकरण के योग्य व्यक्ति ३७८
वाजीकरण की परिभाषा ३७८
वाजीकरण करने वाले कारक ३७९
नपुंसकता के हेतु एवं वर्गीकरण ३७९
साध्यासाध्यता ३८०
वाजीकर उत्कारिका ३८०
बस्ताण्ड योग ३८०
बस्ताण्डक्षीर योग ३८०
वृष्यपूपलिका ३८१
विदारीकन्द योग ३८१
आमलकी चूर्ण योग ३८१
बस्ताण्डवाजीकर योग ३८१
अन्य वृष्य अण्ड योग ३८१
शुक्रपान ३८१
अश्वत्थादि योग ३८१
विदारीमूलकल्क योग ३८१
माषयोग ३८२
क्रौंच योग ३८२
क्रौंच-इक्षुरक योग ३८२
उच्चटा और शतावरी चूर्ण योग ३८२
गुप्ताफलादि योग ३८२
माषादि योग ३८२
गृष्टिक्षीरादि योग ३८२
वाजीकर गण ३८३
वाजीकरण का उद्देश्य ३८३

(२७) सर्वोपघातशमनीयरसायनाध्याय
रसायन शब्द की व्याख्या ३८४
रसायन-सेवन की आयु ३८४
दोषवारण रसायनों का वर्णन ३८५
वयःस्थापक रसायन ३८५
विडंग-तण्डुलादि पाँच रसायन योग ३८५
विडंग-तण्डुलों का दूसरा रसायन योग ३८५
काश्मर्य रसायन ३८६
बलामूल रसायन ३८६
वाराहीकन्द रसायन ३८६
बीजकसारादि रसायन ३८७
शणफल रसायन ३८७
(२८) मेधायुष्कामीयरसायनचिकित्साध्याय
श्वेतावल्गुजादि रसायन ३८८
कृष्णावल्गुजादि रसायन ३८८
चित्रकमूलरजन्यादि रसायन ३८८
मण्डूकपर्ण्यादि रसायन ३८९
ब्राह्मीस्वरस रसायन ३८९
द्वितीय ब्राह्मीस्वरस रसायन ३९०
श्वेतवचा रसायन ३९०
वचाशतपाक घृत रसायन ३९०
विल्वचूर्ण रसायन ३९१
बिस रसायन ३९१
स्वर्णभस्मादि योग ३९१
नीलकमल कषाय ३९१
गोदुग्ध योग ३९१
वचादि योग ३९१
वासातैल रसायन ३९१
यवादि रसायन ३९१
मधुत्रय रसायन ३९२
शतावरीघृत और स्वर्णभस्म ३९२
गोचन्दनादि योग ३९२
पद्मनी घृत ३९२
त्रिपदा गायत्री मन्त्र का उपयोग ३९२
इन औषधियों के गुण ३९२
सतताध्ययनादि रसायन ३९२
आयुर्वर्धक जीर्ण भोजनादि ३९३
(२९) स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयरसायनाध्याय
जरा-मृत्यु को नष्ट करने वाले सोम की उत्पत्ति ३९४
सोम के भेद ३९४
सोम के वेदोक्त नाम ३९४
सोम की सेवन विधि ३९५
सोमपान के पश्चात् सोने का निषेध ३९५
सोमपान के बाद दैनिक चर्या ३९६
सोना-चाँदी के बर्तनों का उपयोग ३९७
सोमपान का लाभ ३९७
सोमपान से अप्रतिहत गति ३९८
सोमसेवन से दिव्य काया ३९८
सोमलता की पहचान ३९८
सोम की चार पहचान ३९८
सोम का उत्पत्ति स्थान ३९८
सोम का देखना कठिन ३९९
(३०) निवृत्तसन्तापीयरसायनाध्याय
औषध-सेवन की उपयोगिता ४००
रसायन-सेवन के अयोग्य व्यक्ति ४००
रसायन महौषधियाँ ४००
रसायन औषधियों के सेवन से लाभ ४०१
उत्कृष्ट गति का लाभ ४०१
रसायन औषधियों की पहचान ४०२
औषध उखाड़ने का मन्त्र ४०३
अमृतयुक्त औषध ४०३
इनका उत्पत्तिस्थान ४०४
(३१) स्नेहोपयौगिकचिकित्साध्याय
स्नेह की उपयोगिता ४०५
स्नेह की योनियाँ ४०५
स्थावर स्नेहों का वर्णन ४०६
कषायपाक विधि ४०७
स्नेहपाक विधि ४०७
पलादि परिमाण का वर्णन ४०७
क्वाथ और स्नेहपाक विधि ४०८
स्नेहपाक कल्पविधि ४०८
पाकादि के सम्बन्ध में सामान्य नियम ४०८
मृदु, मध्य और खर पाक ४०८
इनके प्रयोज्य विषय ४०९
सम्यक् तैल-घृतपाक की पहचान ४०९
स्नेहपान क्रम ४०९
घृतपान के योग्य ४०९
तैलपान के योग्य ४०९
वसापान के योग्य ४१०
मज्जपान के योग्य ४१०
दोषानुसार घृत-प्रयोग ४१०
अच्छ स्नेहपान ४१०

स्नेहपान काल ४१०
अकालपीत स्नेह से हानि ४११
पिपासा में उष्ण जल ४११
स्नेहमात्रा ४११
स्नेहपान की प्रशस्त मात्रा ४११
स्नेह के जीर्ण न होने का उपचार ४१२
उष्ण जल का लाभ ४१२
स्नेहपान की अवधि ४१२
स्नेहपान में सावधानी ४१२
सद्यः स्नेहन योग ४१३
स्नेहपान के अयोग्य व्यक्ति ४१३
अयोग्यों में स्नेहपान से हानि ४१३
प्रसव के पश्चात् स्नेहपान ४१४
स्नेहपान के लिए उपयुक्त व्यक्ति ४१४
सुस्निग्ध के लक्षण ४१४
अतिस्नेहन के लक्षण ४१४
अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष की चिकित्सा ४१४
स्वस्थावस्था में स्नेहपान के लाभ ४१४
रुग्णावस्था में स्नेहपान का लाभ ४१५

(३२) स्वेदावचारणीयचिकित्साध्याय

स्वेद के भेद ४१६
तापस्वेद ४१७
ऊष्मस्वेद ४१७
नाडीस्वेद ४१७
नाडीस्वेद : विधि और लाभ ४१७
नाडी की लम्बाई आदि ४१७
भूस्वेद ४१८
कुटीस्वेद ४१८
प्रस्तरस्वेद ४१८
उपनाहस्वेद ४१८
द्रवस्वेद ४१८
स्वेदन का दोषों पर प्रभाव ४१९
स्थानिक या सार्वदैहिक स्वेदन ४१९
पूर्व स्वेद्य ४१९
पश्चात् स्वेद्य ४१९
उभय स्वेद्य ४१९
स्वेदन से पूर्व अभ्यंग और स्नेहन आवश्यक ४२०
स्वेदन के गुण ४२०
शोधनांगभूत स्वेद ४२०
सम्यक्, मिथ्या और अतिस्वेद के लक्षण ४२०
अस्वेद्य रोगी ४२१
स्वेदन के सामान्य नियम ४२१
स्वेदन के लिए स्थान आदि ४२१
हृत् स्वेदन के नियम ४२१
सम्यक् स्वेदित की देखभाल ४२१

(३३) वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्साध्याय

दोषप्रकोप के शमन के सामान्य नियम ४२३
वमन और विरेचन का प्राधान्य ४२३
वमनपूर्व स्नेहन और स्वेदन ४२३
वमन से पूर्व उत्क्लेशक आहार ४२३
वमन कराने की विधि ४२३
वमन का असम्यक् प्रयोग ४२४
सुवान्त के लक्षण ४२४
सम्यक् वान्त के पश्चात्कर्म ४२५
वमन के लाभ ४२५
उपरोक्त कथन की पुष्टि में दृष्टान्त ४२५
अवाम्य (वमन के अयोग्य) ४२५
अवाम्यों में वमन से हानि ४२६
वाम्य अर्थात् वमन के योग्य ४२६
विरेचनार्थ पूर्वकर्म ४२६
विरेचन-पूर्वकर्म ४२७
विरेचक द्रव्यों की मात्रा ४२७
विरेचक द्रव्य पीने के बाद त्याज्य ४२७
विरेचक द्रव्यों की कार्यप्रणाली ४२७
दुर्विरेच्य के लक्षण ४२७
अयोग और अतियोग (विरिक्त) के लक्षण ४२८
सम्यक् विरिक्त के लक्षण ४२८
विरेचन का पश्चात्कर्म ४२८
विरेचन के गुण ४२८
विरेचन का लाभ ४२८
विरेचन के अयोग्य ४२९
विरेचन के योग्य ४२९
वमन द्रव्यों की क्रिया ऊपर की ओर क्यों ? ४२९
वमन और विरेचन द्रव्यों की क्रिया ४३०
विरेचन चिकित्सा के सामान्य नियम ४३०
श्रेष्ठ रेचक का लक्षण ४३०
दुर्बल व्यक्ति की चिकित्सा ४३०
दोषनिर्हरण ४३०
दीपनादि के बाद विरेचन ४३१
स्नेहन-स्वेदन की उपयोगिता ४३१
स्नेहपीत में स्निग्ध विरेचन नहीं ४३१
विशोध्य व्यक्ति ४३१

स्नेहसात्म्य में पहले निरूहण ४३१
अविज्ञात कोष्ठ के लिए मृदुरेचन ४३१
राजार्ह रेचक औषध के गुण ४३१
बिना स्नेहन-स्वेदन के रेचन नहीं ४३१
दोषनिर्हरण में आसानी ४३२

(३४) वमनविरेचनव्यापच्चिकित्साध्याय

वमन-विरेचन व्यापत्संख्या ४३३
वमन का अधोग व्यापत् ४३३
विरेचन का ऊर्ध्वगति व्यापत् ४३४
सावशेष औषध व्यापत् ४३४
जीर्णौषध व्यापत् ४३५
अल्पदोषहृत व्यापत् ४३५
वातशूल व्यापत् ४३५
अयोग व्यापत् ४३६
अतियोग व्यापत् ४३७
जीवदान व्यापत् ४३७
विरेचनातियोग के लक्षण एवं चिकित्सा ४३८
जीवशोणित की पहचान ४३८
आध्मान व्यापत् ४३८
परिकर्तिका ४३९
परिस्राव व्यापत् ४३९
प्रवाहिका व्यापत् ४३९
हृदयोपसरण व्यापत् ४३९
विबन्ध व्यापत् ४३९
दोषहरण में व्यापत् ४४०

(३५) नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्साध्याय

बस्तिचिकित्सा का महत्त्व ४४२
बस्ति के गुण ४४२
बस्तिसाध्य रोग ४४२
वातादि दोषों में बस्ति का महत्त्व ४४३
नेत्रप्रमाण और आस्थापन द्रव्यप्रमाण का वर्णन ४४३
बस्तिनेत्र का परिणाहादि ४४४
बाल-वृद्धों में मृदु बस्ति ४४४
व्रणनेत्र की लम्बाई और स्रोत ४४४
बस्तिनेत्र के द्रव्य और आकार ४४४
बस्तिद्रव्य ४४४
ग्राह्य बस्ति, परिकर्म, बन्धन विधि ४४५
कार्य की दृष्टि से बस्ति भेद ४४५
अनुवासन बस्ति ४४५
बस्तियों की कार्य-विधि ४४६
बस्ति-चिकित्सा का निषेध ४४६
अनुवासन बस्तियों का निषेध ४४६
निषिद्धाचरण से हानि ४४७
सम्यक् प्रयुक्त बस्ति का प्रभाव ४४७
बस्ति का शरीर पर प्रभाव ४४७
बस्ति के गुणों का शरीर में फैलना ४४७
बस्ति द्वारा दोषहरण ४४७
बस्ति द्वारा दोषों को बाहर निकालना ४४७
वात वेगों को बस्ति ही रोकती है ४४७
सम्यक् प्रयुक्त बस्ति के लाभ ४४७
बस्ति चिकित्सा के व्यापत् ४४८

(३६) नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्साध्याय

बस्ति नेत्र के कारण होने वाले उपद्रव ४५०
वेदना का उपचार ४५०
बस्तिनेत्र को सीधा कर प्रविष्ट करना ४५०
बस्तिनेत्र दोषाभिधान एवं कर्णिकादोष ४५०
बस्तिदोष ४५१
पीडनदोष चिकित्सा ४५१
बस्ति को युक्तिपूर्वक दबाना ४५१
बस्ति का बार-बार पीड़न हानिकर ४५१
बस्ति का पुनः प्रयोग ४५२
बस्ति में प्रयुक्त द्रव्यदोष और उनकी चिकित्सा ४५२
अतिरूक्ष-अतिस्निग्ध बस्तियों से हानि ४५२
शय्यादि दोष चिकित्सा ४५२
अधोमुख या उत्तान रोगी को दी गयी बस्ति हानिकर ४५३
टांगें मोड़कर या खड़े हुए रोगी को बस्ति देना हानिकर ४५३
दाहिने पार्श्व के सहारे लेटे रोगी को बस्ति न दें ४५३
अयोगादि व्यापत् चिकित्सा ४५३
बस्ति का अयोग ४५३
आध्मान : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा ४५४
परिकर्तिका : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा ४५४
परिस्राव : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा ४५४
प्रवाहिका : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा ४५४
अतितीक्ष्ण बस्ति का निषेध ४५४
दुःशायित को बस्ति न दें ४५५
बस्ति का अतियोग ४५५
वमन-विरेचनादि की अन्तरवधि ४५५

(३७) अनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्साध्याय

अनुवासन काल ४५७
अनुवासन मात्रा ४५७

स्नेहबस्ति प्रयोग का समुचित समय	४५७	स्नेहबस्ति व्यापत् और चिकित्सा	४६५
शुद्ध शरीर और बस्ति	४५७	स्नेहबस्ति अत्यशन व्यापत्	४६५
अनुवासन के लिए विविध तैल	४५७	अशुद्ध में निरूह व्यापत्	४६५
१. शटचादि तैल	४५८	शुद्ध में स्नेह व्यापत्	४६५
२. वचादि तैल	४५८	अस्विन्न में स्नेह व्यापत्	४६६
३. चित्रकादि तैल	४५८	अल्पगुण स्नेह व्यापत्	४६६
४. भूतिकादि तैल	४५८	अनिवृत्ति व्यापत्	४६६
५. जीवन्त्यादि तैल	४५९	उपद्रवरहित अनिःसृत बस्ति	४६६
६. मधुकादि तैल	४५९	स्नेह के न लौटने पर	४६६
७. मृणालादि तैल	४५९	निरूह बस्ति का प्रयोग	४६६
८. त्रिफलादि तैल	४५९	नेत्र की लम्बाई आदि का वर्णन	४६६
९. पाठादि तैल	४६०	स्नेहमान	४६७
१०. विडंगादि तैल	४६०	उत्तरबस्तिनेत्र का प्रमाण	४६७
आत्ययिकावस्था में बस्ति	४६०	मार्ग-भेद से प्रणिधान	४६७
स्नेहोपरान्त निरूहण	४६०	स्त्रियों में उत्तरबस्ति-स्नेह का मान	४६७
स्नेहबहुल निरूहण बस्ति	४६०	बस्ति के निर्माणार्थ द्रव्य	४६८
बिल्वादि अनुवासन बस्ति	४६०	पुरुषों में उत्तरबस्ति-प्रणिधान	४६८
रात्रि में बस्तिदान का निषेध	४६१	स्त्रियों में उत्तरबस्ति-प्रणिधान	४६८
दिन में बस्ति देने का लाभ	४६१	स्नेह की दुगुनी मात्रा	४६८
परिस्थितिवश रात्रि में भी बस्तिदान	४६१	निरूहणोत्तर बस्ति का प्रमाण	४६९
प्रदोषकाल में बस्ति	४६१	बस्ति द्वारा दिये गये स्नेह के लौटकर न आने पर	४६९
ऋतुओं के अनुसार दिन या रात में बस्ति	४६१	वर्तिका-प्रयोग	४६९
आपत्काल में बस्ति कभी भी दी जा सकती है	४६१	दाहशान्ति के लिए	४६९
खाली पेट बस्ति का निषेध	४६१	उत्तरबस्ति के विषय	४७०
भोजन के तुरन्त बाद बस्ति देने का विधान	४६१	**(३८) निरूहक्रमचिकित्साध्याय**	
स्निग्ध भोजन के बाद स्नेहन बस्ति का निषेध	४६२	निरूह-प्रणयन	४७१
रूक्ष भोजन के बाद निरूहण बस्ति का निषेध	४६२	तरल को अन्तःप्रविष्ट करने के उपरान्त	४७२
यूषादि के उपरान्त अनुवासन	४६२	बस्तियों का अतियोग हानिकर	४७२
अनुवासन विधि	४६२	दुर्निरूढ के लक्षण	४७३
प्रणिहित स्नेह का पश्चात्कर्म	४६२	अतिनिरूढ के लक्षण	४७३
बस्ति के उपरान्त कर्तव्य	४६२	सम्यक् निरूढ के लक्षण	४७३
सैन्धव-शताह्व बस्ति	४६३	सुनिरूढ का पश्चात्कर्म	४७३
स्नेहबस्ति की अननुकूल दशाएँ	४६३	सम्यक् आस्थापित और स्निग्ध के लक्षण	४७३
अनुवासन बस्ति के दोष	४६३	निरूहण में मांसरस भोजन का हेतु	४७३
सम्यक् अनुवासित के लक्षण	४६३	निरूहण के उपरान्त स्नेहबस्ति की उपयोगिता	४७४
प्रथम-द्वितीयादि बस्तियों के कार्य	४६३	निरूह के न लौटने का उपचार	४७४
बस्तियों से रसायन-लाभ	४६४	बस्ति के टिके रहने से हानियाँ	४७४
एक ही तरह की बस्तियाँ न दें	४६४	आस्थापन का निषेध	४७४
बारी-बारी से बस्तियाँ दें	४६४	निराहार व्यक्ति में आस्थापन का प्रयोग	४७४
स्नेह बस्ति का दोषानुसार प्रयोग	४६४	भुक्तवान् व्यक्ति में निरूहण	४७४
अभ्यास से बस्तियों का निरापद प्रयोग	४६४	बस्ति द्रव्य	४७५

निरूह में क्वाथ मात्रा ४७५
निरूह बस्तियों की कल्पना ४७५
बस्ति द्रव्यों का योजनक्रम ४७५
बारह प्रसृत प्रमाण वाली बस्ति ४७६
दोषानुसार बस्ति-प्रयोग ४७६
वातघ्न आस्थापन बस्ति ४७६
गुडूची-त्रिफलादि बस्ति ४७७
पित्तप्रकोप में बस्ति ४७७
लोध्रचन्दनादि आस्थापन बस्ति ४७७
कफप्रकोप में बस्ति ४७८
कफज विकारहर बस्ति ४७८
सान्निपातिक रोगों में बस्ति ४७८
रास्नादि आस्थापन बस्ति ४७९
वातादि दोषप्रकोप में प्रयुक्त बस्ति ४७९
रक्तज व्याधियों में हितकर बस्ति ४७९
शोधन बस्तियाँ ४७९
लेखन बस्तियाँ ४७९
बृंहण बस्तियाँ ४७९
वाजीकर बस्तियाँ ४८०
पिच्छिल बस्तियाँ ४८०
ग्राही बस्तियाँ ४८०
स्नेह बस्तियों के सम्बन्ध में ४८०
बन्ध्यत्वहर बस्तियाँ ४८०
सत्त्वादि भेद से बस्ति भेद ४८०
बस्ति-प्रयोग में कालादि का निर्णय ४८०
बस्तिक्रम ४८०
त्रिविध बस्ति ४८०
माधुतैलिक बस्ति ४८०
माधुतैलिक संज्ञा ४८१
युक्तरथ नामक बस्ति ४८१
दोषहर नामक बस्ति ४८१
पाञ्चमूलिक माधुतैलिक बस्ति ४८२
सिद्ध माधुतैलिक बस्ति ४८२
मुस्तादि बस्ति ४८२
बस्ति-कल्पना के सामान्य नियम ४८२
बस्ति प्रयोग में सावधानी ४८२
माधुतैलिक आदि नामकरण में हेतु ४८३
माधुतैलिक की श्रेष्ठता ४८३

(३९) आतुरोपद्रवचिकित्साध्याय

मन्दाग्नि का हेतु ४८४
अपथ्य सेवन से हानि ४८४
मन्दाग्नि में आहार ४८४
आहारादि का निर्णय ४८४
दोषनिर्हरण के प्रमाण ४८४
दोषनिर्हरण मात्रा के अनुसार आहार ४८५
दोषनिर्हरण क्रम और आहार ४८५
मद्यप व्यक्तियों में तर्पण ४८६
वेदनादि में विरेचन और उपचार ४८६
सम्यक् विरेचन की पहचान ४८६
भोजन का क्रम ४८६
रसों का सेवन क्रम ४८७
स्नेहन-वमन में आहार ४८७
कृत सिराव्यध और विरिक्त का परिहारकाल ४८७
बस्ति के लिए विशिष्ट नियम ४८८
मिट्टी के अपक्व पात्र का दृष्टान्त ४८८
अपथ्य सेवन से हानियाँ ४८८
चिकित्सक को सलाह ४८८
शोधनानन्तर पथ्य ४८८

(४०) धूमनस्यकवलग्रहचिकित्साध्याय

धूम के भेद ४९१
धूमवर्ति का निर्माण ४९१
धूमनेत्र द्रव्य ४९२
धूमनेत्र का माप ४९२
धूम प्रयोग के लिए धूमनेत्र की लम्बाई ४९२
धूमपान विधान ४९२
धूमपान की विशेष विधि ४९३
धूमपान के अयोग्य ४९३
अकालपीत धूम के उपद्रव ४९३
धूमपान के काल ४९३
धूमपान का प्रभाव ४९३
धूमपान के लाभ ४९३
धूमपान का योग, अयोग और अतियोग ४९४
धूमपान-मर्यादा ४९४
व्रणधूपन विधि ४९५
नस्य-विधि ४९५
नस्य का प्रयोग ४९५
शिरोविरेचन का विचार ४९६
कालावधारण ४९६
शिरोविरेचन-विधान ४९६
नस्योत्तर कर्म ४९७
नस्य की मात्रा ४९७
नस्य को निगलने का निषेध ४९७

पश्चात्कर्म	४९७	प्रतिमर्श चिकित्सा	५००
नस्य के योगादि के सम्बन्ध में	४९८	प्रतिमर्श नस्य के लाभ	५००
शिरोविरेचन की मात्रा	४९८	प्रतिमर्श का प्रमाण	५०१
सम्यक् शुद्धि के लक्षण	४९८	सामान्य नस्य फल	५०१
हीनशुद्धि के लक्षण	४९८	स्नेहों का दोषानुसार प्रयोग	५०१
अतिशुद्धि के लक्षण	४९८	कवलग्रहण विधि	५०१
नस्यों में समय का अन्तर	४९९	त्रिकटुकादि कवल	५०२
अवपीड नस्य	४९९	कवल और गण्डूष में भेद	५०२
कृशादि में नस्य	४९९	कवलधारण काल	५०२
प्रधमन नस्य	४९९	कवल के द्रव्य	५०२
नस्यानर्ह	४९९	कवल के हीनादि लक्षण	५०२
नस्य-व्यापत्	५००	शोधनीय कवल के लक्षण	५०२
नस्य-शिरोविरेचन व्यापत्तियाँ	५००	दाहहर गण्डूष	५०३
व्यापत् चिकित्सासूत्र	५००	प्रतिसारण-विधान	५०३



कल्पस्थान

(१) अन्नपानरक्षाकल्पाध्याय

भृत्य आदि विष देकर राजा को मार डालते हैं ५०५
स्त्रियों द्वारा विष-प्रयोग ५०५
विषकन्या द्वारा राजा की मृत्यु और चिकित्सक का कर्त्तव्य ५०६
राजा किसी का विश्वास न करे ५०६
वैद्य के गुण और महानस ५०६
महानस कैसा होना चाहिए ? ५०७
परिकर्मियों के गुण ५०७
महानस में वैद्य की सावधानता ५०७
महानस में वैद्य की प्रधानता ५०८
विष देने वाले की पहचान ५०८
प्रश्न पूछने में सावधानी ५०८
विषाधिष्ठान ५०८
विषयुक्त अन्नादि की पहचान ५०९
विषाक्त अन्न का प्रभाव ५०९
विष का हाथों पर प्रभाव ५०९
विषाक्त अन्न के सेवन से होनेवाला प्रभाव ५१०
आमाशयगत विष के लक्षण एवं उपचार ५१०
पक्वाशयगत विषाक्त अन्न के लक्षण और प्रभाव ५१०
तरल पदार्थों में विष की उपस्थिति और पहचान ५१०
शाकादि के विषाक्त होने के लक्षण ५१०
दातुन के विषाक्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा ५१०
अभ्यंग के विषाक्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा ५११
कंघी के विषाक्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा ५११
शिरस्त्राणादि के विषाक्तता का उपचार ५१२
विष से मुख आलिप्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा ५१२
हाथी आदि पर विष का प्रभाव और उपचार ५१२
सविष नस्य और सविष धूम के लक्षण ५१२
विषाक्त पुष्प सूँघने के लक्षण एवं चिकित्सा ५१३
कर्णगत विषाक्त तैल के लक्षण एवं चिकित्सा ५१३
विषाक्त अंजन के लक्षण एवं चिकित्सा ५१३
पादुकाओं के विषाक्त होने के लक्षणादि ५१३
भूषणों की विषाक्तता और लक्षण ५१३
विषाक्तता की अवस्थानुसार चिकित्सा ५१४
विषाक्त हृदवस्था का उपचार ५१४
गोधादि के मांस का संस्कार ५१४
विषभक्षण का उपचार ५१५

(२) स्थावरविषविज्ञानीयाध्याय

विष की परिभाषा ५१७
विष के भेद ५१७
स्थावर विषों के अधिष्ठान ५१८
मूलादि ५५ स्थावर विषों के नाम ५१८
कन्दविषों के अवान्तर भेद ५१८
स्थावर विषों के दस मूलाधिष्ठानों के अनुसार सामान्य लक्षण ५१९
कन्दविषों के लक्षण ५२०
कन्दज विषों की उग्रता ५२१
विषों के दस गुण और उनके कार्य ५२१
सद्य:प्राणहर विष ५२२
दूषीविष का लक्षण ५२३
दूषीविष का शरीर पर प्रभाव ५२३
दूषीविष का प्रकोप ५२३
दूषीविष के लक्षण ५२४
दूषीविष की परिभाषा ५२४
स्थावर विषों के सात वेगों के लक्षण ५२४
उपरोक्त सात वेगों की यथाक्रम चिकित्सा ५२४
वेगों के मध्य की व्यवस्था ५२५
अजेय घृत ५२५
दूषीविषादि अगद ५२६
दूषीविष-उपद्रव चिकित्सा ५२६
साध्य, असाध्य, प्रत्याख्येय का वर्णन ५२६

(३) जङ्गमविषविज्ञानीयाध्याय

जङ्गम विषों के अधिष्ठान ५२९
दृष्टि आदि विषाधिष्ठान ५२९
राजा की सुरक्षा हेतु सावधानी ५३१
दूषित जल तथा उनके प्रयोग से होने वाले लक्षण ५३१
दुष्टजलशोधक औषध ५३१
विष-दूषित भूमि का दुष्प्रभाव और उपचार ५३२
तृण-भोजनादि के दूषित किये जाने पर लक्षण एवं चिकित्सा ५३२
विषघ्न वाद्यलेप ५३२
विषयुक्त धूम और वायु के लक्षण तथा चिकित्सा ५३३
विष-उत्पत्ति का पौराणिक विवरण ५३३
विषस्थ नाना वीर्यों का हेतु ५३३
विष का सर्वदोषप्रकोपक गुण ५३४
सर्पदंश में विषमोचन क्रिया ५३४
विष-चिकित्सा ५३५
विष का प्रसार ५३५
विषपीत व्यक्ति के लक्षण ५३५
त्याज्य विषाक्त व्यक्ति ५३६
अवस्थाविशेष में सर्पविष की असाध्यता ५३६
विष के असाध्य लक्षण ५३७

(४) सर्पदष्टविषविज्ञानीयाध्याय

सर्पों का वर्गीकरण ५३८
भौम सर्पों के भेद ५३८
सर्पदंश के हेतु ५३९
दंशभेद ५३९
सर्पित दंश का लक्षण ५३९
रदित दंश का लक्षण ५४०
निर्विष दंश का लक्षण ५४०
सर्पाङ्गाभिहत के लक्षण ५४०
अल्पविष ५४०
अल्पविष के अन्य हेतु ५४०
दर्वीकरादि सर्पों की पहचान ५४०
सर्पों की ब्राह्मणादि जातियों की पहचान ५४१
सर्पविष का दोषों पर प्रभाव ५४१
सर्पों के विचरण का समय ५४१
सर्पों में अवस्थानुसार उग्रता ५४१
अल्पविष सर्प ५४१
दर्वीकर सर्पों के भेद ५४२
मण्डली सर्पों के भेद ५४२
राजिमान् सर्पों के भेद ५४२
निर्विष सर्पों के भेद ५४२
वैकरञ्ज सर्पों के भेद ५४२
वैकरञ्जों से उत्पन्न सर्पों का विष-वर्णन ५४३
सर्पों के पुरुषादि लक्षण ५४३
सर्पदंश के सामान्य लक्षण ५४३
दर्वीकरादि सर्पभेदों के दंश के विशिष्ट लक्षण ५४३
मण्डली सर्पों के दंश के विशिष्ट लक्षण ५४४
राजिमान् सर्पों के दंश के विशिष्ट लक्षण ५४४
पुरुषसर्प आदि के द्वारा दष्ट के लक्षण ५४५
विषगति (वेग) का विवरण ५४५
सात वेग होने में हेतु ५४६
वेगान्तर ५४८
पशु-पक्षियों में विषवेग प्रसंग ५४८

(५) सर्पदष्टविषचिकित्साध्याय

सर्पदंश में प्राथमिक उपचार ५५०
दंशस्थल का दहन ५५०
सर्पविष आचूषण विधि ५५१
दंश में दाह का निषेध ५५१
मन्त्र और बन्धन दोनों का उपयोग ५५१
मन्त्र असफल नहीं होते हैं ५५१
मन्त्रग्रहण-विधान ५५२
मन्त्रसिद्धि के अभाव में ५५२
रक्तापकर्षण ५५२
अगद या वल्मीकमृत्तिका पान ५५२
विषनिर्हरण के लिए वमन-प्रयोग ५५२
दर्वीकरादि के वेगों की विशेष चिकित्सा ५५३
मण्डली सर्पों के विष की विशेष चिकित्सा ५५३
राजिमान् श्रेणी के सर्पों के विषवेगों की विशिष्ट चिकित्सा ५५३
विषपीड़ित पशु आदि में मात्रा-विचार ५५३
विषग्रस्त पक्षियों की चिकित्सा ५५४
अंजनादि की मात्रा ५५४
विषचिकित्सा में देशादि का विचार ५५४
स्थावर-जंगम विष की अवस्थानुसार चिकित्सा ५५४
वातविषातुर में त्वरित रक्तमोक्षण ५५४
पित्तविषातुर में शीतसंवाहनादि का उपयोग ५५५
कफविषातुर-चिकित्सा ५५५
पित्तविषातुर में विरेचन ५५५
अंजन और शिरोविरेचन का विषाक्त में प्रयोग ५५५
प्रधमन और विरेचन द्रव्यों का प्रयोग ५५५
दंशस्थान का प्रच्छान ५५६

विषनिर्हरणोपरान्त वातादि की चिकित्सा ५५६
गिरने आदि से नष्टसंज्ञ की चिकित्सा ५५६
दिग्धविद्ध के लक्षण ५५७
दिग्धविद्ध व्रणों की चिकित्सा ५५८
अस्थिकृत व्रणचिकित्सा ५५८
त्रिवृदादि महागद ५५८
अजित नामक महागद ५५८
तार्क्ष्य नामक महागद ५५९
ऋषभ नामक महागद ५५९
संजीवन नामक महागद ५५९
श्लेष्मातकादि चूर्ण ५६०
मण्डलविषहरण द्राक्षादि महागद ५६०
सर्वकार्मिक अगद ५६०
पञ्चशिरीष नामक अगद ५६०
एकरससंज्ञक अगद ५६१

(६) दुन्दुभिस्वनीयकल्पाध्याय

सर्वसर्प विषघ्न क्षारागद ५६२
क्षारागद का प्रयोग ५६३
विषघ्न कल्याणक घृत ५६३
अमृत नामक विषघ्न घृत ५६३
महासुगन्धि नामक अगद ५६४
विषपीड़ितों में स्वेदन का निषेध ५६४
विषाक्तावस्था में पथ्यापथ्य ५६४
अविष का लक्षण ५६५

(७) मूषिककल्पाध्याय

मूषकों के भेद तथा नाम आदि ५६६
विषप्रसार-प्रक्रिया ५६६
मूषकदष्ट के सामान्य लक्षण ५६६
मूषकदंश के विशिष्ट लक्षण और चिकित्सा ५६७
मूषकदंश के सामान्य लक्षण और चिकित्सा ५६९
दहन एवं प्रच्छान ५७०
वमनार्थ द्रव्य ५७०
अन्य वमनयोग ५७०
मदनफलादि योग ५७०
विरेचक, शिरोविरेचक योग ५७०
संशोधन योग ५७०
मूषकविषहरण की आवश्यकता ५७१
कर्णिका-चिकित्सा ५७१
शृगालादि प्राणियों के विष-लक्षण एवं चिकित्सा ५७२
उन्मत्त शृगालादि के दंश के लक्षण ५७२
असाध्य लक्षण ५७२
अन्य अरिष्ट लक्षण ५७२
जलसंत्रास का लक्षण ५७२
अदष्ट का जलसंत्रास अरिष्ट है ५७२
उन्मत्त पशुदष्ट की चिकित्सा ५७४
अलर्कविषहर योग ५७४
अलर्कविष की मन्त्र-चिकित्सा ५७५
उन्मत्त पशुदष्ट की असाध्यता ५७५
नखदन्तक्षत चिकित्सा ५७५

(८) कीटकल्पाध्याय

कीटों के लक्षणादि का वर्णन ५७७
वातप्रकोपक कीट ५७७
पित्तप्रकोपक कीट ५७८
कफप्रकोपक कीट ५७८
सर्वदोषप्रकोपक कीट ५७८
तीक्ष्ण विष वाले कीटों के दंश लक्षण ५७८
मन्दविष कीटों के दंश लक्षण ५७९
विषैले कीटों के चूर्ण ५७९
कणभ जाति के भेद ५७९
गोधेरक भेद और दंश-लक्षण ५८०
गलगोलिका जाति और दंश-लक्षण ५८०
शतपदी जाति और इनके दंश-लक्षण ५८०
मण्डूक जाति और इनके दंश-लक्षण ५८०
विश्वम्भरादंश के लक्षण ५८०
अहितुण्डिकादि के दंश के लक्षण ५८१
पिपीलिका के भेद और दंश-लक्षण ५८१
मक्षिका भेद और दंश-लक्षण ५८१
मशक भेद और दंश-लक्षण ५८१
नखजन्य व्रण ५८१
कीटदंशों की असाध्यता ५८१
कण्डू-दाहादि की चिकित्सा ५८२
दिग्धविद्ध की चिकित्सा ५८३
कीटदंश की कृच्छ्रसाध्यता ५८३
उग्र विष वाले कीट से दष्ट व्यक्ति की चिकित्सा ५८३
दष्ट पुरुष की सामान्य चिकित्सा ५८३
विषहर स्वेदन ५८३
स्वेदन-निषेध ५८३
एकजातीय कीटों की चिकित्सा ५८३
गलगोलिक-दष्ट की चिकित्सा ५८४
शतपद् दष्ट की चिकित्सा ५८४
मण्डूकविषहर अगद ५८४
विश्वम्भरादि का विषहर अगद ५८४

अहिण्डुकाओं के दंशविष की चिकित्सा। ५८४
कण्डूमकाओं के दंशविष की चिकित्सा ५८४
शूकवृन्त के विष का उपचार ५८४
चींटियों के दंश की चिकित्सा ५८४
वृश्चिकों के भेद ५८५
मन्द विष वाले वृश्चिकों के लक्षण ५८५
मध्यम विष वाले वृश्चिकों के लक्षण ५८६
तीक्ष्ण विष वाले वृश्चिकों के लक्षण ५८६
वृश्चिकदंश-चिकित्सा ५८६
मन्दविष वाले वृश्चिकदंश की चिकित्सा ५८७
लूताविष के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा ५८७
अगद-प्रयोग में सावधानी ५८८
लूतादि विष की दुर्विज्ञेयता ५८८
लूताविष का प्रसार ५८८
लूताविष की कालावधि ५८८
अधिष्ठान-भेद से विष-लक्षण ५८९
लूतोत्पत्ति ५८९
लूताप्रभाव ५८९
लूताविष की साध्यासाध्यता ५९०
लूताओं के विशिष्ट लक्षण एवं चिकित्सा ५९१
लूताओं के असाध्य दंश के लक्षण ५९२
उक्त सभी कृच्छ्र तथा असाध्य लूताओं की सामान्य चिकित्सा ५९२
असाध्य लूताओं के दंश लक्षण ५९३
असाध्य लूतादंश की चिकित्सा ५९३
साध्य लूतादंश में छेदन और दहन ५९३
उत्कर्तन और पश्चात्कर्म ५९३
लूतादंश-चिकित्सा में दशविध उपक्रम ५९४
दुष्टव्रणवत् चिकित्सा ५९४
विषोत्पन्न कर्णिका की चिकित्सा ५९५
कफ-वातोत्थ कर्णिका की चिकित्सा ५९५
उपसंहार ५९५
ग्रन्थ में वर्णित अध्यायों की संख्या ५९५
चिकित्सित की उपादेयता ५९६



॥ श्रीः ॥

महर्षिणा सुश्रुतेन प्रणीता

सुश्रुतसंहिता

'सुश्रुतविमर्शिनी'-हिन्दीव्याख्यया विमर्शादिभिश्च समन्विता



शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'सर्वभूतचिन्ताशारीर' (Considerations of Physical and Metaphysical Aspects of All Living Beings) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—निदानस्थान में रोगों के हेतु-लक्षणादि के प्रतिपादन से निदानादि का ज्ञान हो जाने के उपरान्त चिकित्सा के लिए अधिष्ठान-विशेष (शारीर) का ज्ञान अनिवार्य होता है। अतः 'शारीरस्थान' का वर्णन किया जा रहा है। इसमें भी सर्वशरीरकर भूतादि की जानकारी आवश्यक है। इसी हेतु सर्वप्रथम 'सर्वभूतचिन्ताशारीरम्' का वर्णन किया गया है ('सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमानि, महाभूतानि पृथिव्यादीनि वा तेषां चिन्ता हेतुस्वलक्षणकार्यैश्चिन्तनम्, सैव यस्मिन्नध्यायेऽस्तीति; सर्वभूतचिन्ता च तच्छारीरं चेति सर्वभूत-चिन्ताशारीरम्')। सम्पूर्ण आयुर्वेद को समझने के लिए शरीर-ज्ञान का महत्त्व चरक के शब्दों में इस प्रकार है—'शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्। आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्' ॥ (शा. ६।१९)

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का हेतु—जो सब भूतों का कारण है, जो स्वयं कारण रहित है; सत्त्व, रज और तमोरूप है, जो आठ रूपों वाला है तथा जो सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का हेतु है, उसका नाम 'अव्यक्त' (मूल प्रकृति) है। वह एक होते हुए भी अनेकों क्षेत्रज्ञों (कर्मपुरुषों) का अधिष्ठान (आश्रय) है; जैसे—समुद्र जल में होने वाले सम्पूर्ण चराचर का आश्रय है ॥ ३ ॥

विमर्श—वैदिक वाङ्मय से ज्ञात होता है कि इस विराट् ब्रह्माण्ड में इससे भी बड़ी सर्वव्यापिनी महाशक्ति की सत्ता है जो प्रजापति, अक्षर, ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से जानी जाती है। इसके अतिरिक्त जीव और प्रकृति की सत्ता भी स्वीकार है। 'प्रकृति और जीव के सहयोग से परमात्मा ने सृष्टि की रचना की'—यह वर्णन भी वेदों में है।

पुराकालीन भारतीय दार्शनिकों ने भी सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में विचार-मन्थन किया है। इस सम्बन्ध में सांख्यमत जो आयुर्वेद से साम्य रखता है, यह मानता है कि जगत् 'सत्' है अर्थात् सत्तावान् (वास्तविक) है। इसी पर आधारित सांख्य का 'सत्कार्यवाद' एक प्रख्यात सिद्धान्त है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सत्' से ही कार्य की उत्पत्ति सम्भव है अर्थात् सत् या भावरूप (सत्तावान्) कारण से ही कार्य की उत्पत्ति है; असत् या अभाव से नहीं। यह 'सत्कार्यवाद' है।

सांख्य में इसी कारण भूत तत्त्व को 'प्रकृति' कहा है। प्रकृति, मूल प्रकृति, अव्यक्त और प्रधान समानार्थक हैं। यह विविध वस्तुमय जगत् प्रकृति से बना है। प्रकृति इसका उपादान कारण (रचना-सामग्री) है और निमित्तकारण पुरुष अर्थात् आत्मा है। सांख्य में ईश्वर को जगत्कर्ता के रूप में नहीं अपितु 'साक्षी' के रूप में स्वीकार किया गया है।

जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का पारस्परिक सहयोग इस प्रकार हुआ है जैसा कि पंगु और अन्धे व्यक्ति का होता है ('पङ्ग्वन्धवत् उभयोरपि संयोगः'–सा.का.)। चेतन (पुरुष) के सान्निध्य से जड़ (प्रकृति) में चेष्टा या प्रवृत्ति किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसके स्पष्टीकरण के लिए बछड़े को देखकर गोदुग्ध (जड़) में गति होने का उदाहरण दिया जाता है ('वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य तथा प्रवृत्तिरज्ञस्य'–सां.का.)।

सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्—('सत्त्वरजस्तमःस्वरूपम्') संसार के सभी पदार्थ सुख-दुःखजनक हैं। अतः उनके उत्पादक तत्त्व में भी ये ही गुण होने चाहिए। ये गुण तीन हैं—१. सत्त्व, २. रज और ३. तम। ये तीनों गुण (रस्सी की तरह) चराचर को, जीव को भी अपने बन्धन में बाँधे रखते हैं, अतः गुण कहलाते हैं। इन तीनों के कारण ही प्रकृति त्रिगुणात्मिका कहलाती है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार जगत् के मूल तत्त्व हैं—प्रोटीन (सत्त्व), इलेक्ट्रोन (रजस्) और न्यूट्रोन (तमस्)।

अष्टरूपम्—('प्रकृतिभावेनाव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टौ रूपाणि यस्य तत्तथा') महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा ये सात तथा अव्यक्त मिलकर अष्ट रूप बनता है ('शिलापुत्रकन्यायेन रूपत्वं रूपित्वं चाव्यक्तस्य')।

अव्यक्त—('न व्यज्यते इत्यव्यक्तम्'); इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण प्रकृति को अव्यक्त कहा है। प्रकृति दिखायी नहीं देती है, केवल उसके कार्यों से ही उसे जाना जाता है। चरक में पुरुष को भी अव्यक्त कहा है।

क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानम्—('कर्मपुरुषाणाम्, शरीरभावाय विषयः; आश्रय/Seat of numerous souls) जिस प्रकार समुद्र अनेक प्रकार के प्राणियों ('चराचरा मत्स्यपद्मादयः') का आश्रयस्थल है ('अथवा उदकभवाः औदकाः नदीनदसरस्तडागादयः') उसी प्रकार यह अव्यक्त (Unmanifest) एक होते हुए भी अनेक प्राणियों का अधिष्ठान है।

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव; तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति; तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति; तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः; भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति; तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः; तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः; एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता॥४॥

अव्यक्त से २४ तत्त्वों की उत्पत्ति—(एक अव्यक्त से अनेक भूतों की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? इसका उत्तर इस सूत्र में है—) उस अव्यक्त (क्षेत्रज्ञाधिष्ठानात्) से उसी की तरह का (सत्त्वरजस्तमःस्वभाव एव) महान् (बुद्धितत्त्व) की उत्पत्ति होती है। इस बुद्धितत्त्व से सत्त्व-रजः-तम स्वभाव वाला अहङ्कार तत्त्व उत्पन्न होता है (तल्लक्षणः—'एवेति सत्त्वरजस्तमःस्वभाव एवेत्यर्थः)। यह अहङ्कार तत्त्व तीन प्रकार का है— १. वैकारिक (सात्त्विक), २. तैजस (राजस) और ३. भूतादि (तामस)।

उस तैजस (राजस) अहङ्कार के सहयोग द्वारा वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्कार से तद्रूप ही एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; यथा— १. श्रोत्र (Ear), २. त्वक् (Skin), ३. चक्षु (Eye), ४. जिह्वा (Tongue), ५. घ्राण (Nose), ६. वाक् (Speech/Organs of senses), ७. हस्त (Hand), ८. उपस्थ (Sex organs), ९. पायु (गुद/Rectum), १०. पाद (Feet) और मन (Mind)। इनमें पहली पाँच बुद्धीन्द्रियाँ (Organs of perception) हैं और अन्य पाँच कर्मेन्द्रियाँ (Effector organs) हैं, शेष ग्यारहवाँ मन उभयात्मक (Mind is common to both/कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों) है।

तैजस (राजस) अहंकार की सहायता द्वारा भूतादि (तामस) अहंकार से तद्रूप ही पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है ('सा मात्रा यस्मिन्निति तन्मात्रा'); यथा— १. शब्दतन्मात्रा, २. स्पर्शतन्मात्रा, ३. रूपतन्मात्रा, ४. रसतन्मात्रा और ५. गन्धतन्मात्रा। उन तन्मात्राओं के विशेष गुण इस प्रकार हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। उन तन्मात्राओं से— १. आकाश, २. वायु, ३. तेज, ४. जल और ५. पृथ्वी नामक पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस तरह चौबीस प्रकार के तत्त्वों का वर्णन किया गया॥ ४॥

विमर्श—महान्—पुरुष चैतन्य है और उससे प्रभावित सत्त्व-रज-तम भी चेतनवत् प्रतीत होने लगते हैं और इनमें जो परिवर्तन आता है उसके फलस्वरूप महान् या महत् तत्त्व अथवा बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है ('महानिति बुद्धितत्त्वम्'–ड.)। यह बुद्धितत्त्व या महान् स्वभावतः सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। बुद्धि को 'अध्यवसाय' भी कहा है। पर यह प्रयोग 'क्रिया' और 'क्रियावान्' को अभिन्न मान कर हुआ है ('अध्यवसायो बुद्धिः'–सां.का.; 'क्रिया क्रियावतोः अभेदविवक्षया····सोऽध्यवसायो बुद्धेः व्यापारः, तद् अभेदाबुद्धिः'–वाचस्पति मिश्र)।

बुद्धि में असाधारण विशेषता पुरुष के चैतन्य से आती है। इससे बुद्धि कर्तव्य-अकर्तव्य-का निर्णय कर पाती है। बुद्धितत्त्व अचर-चर जगत् में व्याप्त है।

अहङ्कार—महत् तत्त्व से अहङ्कार का प्रादुर्भाव होता है। यह भी चराचर में व्याप्त है। अहं अर्थात् अभिमान से मनुष्य में अपनी सत्ता का अनुभव होता है। संसार के अनगिनत प्राणियों में अपनी-अपनी सत्ता को बनाये रखने की भावना अहंकार से आती है। इसी अहंकार के कारण वस्तु-वस्तु की पृथक् सत्ता का अस्तित्व है। अहंकार के जो सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद बताये हैं उनमें सात्त्विक और तामस अहंकार उत्पादक हैं। राजस अहंकार प्रेरक है, चल है और अन्यों में गति उत्पन्न करता है।

पञ्चतन्मात्राणि—राजस अहंकार की प्रेरणा पाकर तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। ये तन्मात्राएँ अति सूक्ष्म हैं, इस कारण इनका ग्रहण मानवादि प्राणियों की इन्द्रियाँ नहीं कर पातीं, अपितु देवयोनि की दिव्य शक्तियों से युक्त इन्द्रियाँ ही कर सकती हैं। सांख्य दार्शनिक इन्हें 'अविशेष' कहते हैं।

चतुर्विंशतिः—ये चौबीस तत्त्व इस प्रकार हैं— १. अव्यक्त, २. महत्तत्त्व, ३. अहङ्कार, ४. श्रोत्र, ५. त्वचा, ६. चक्षु, ७. जिह्वा, ८. घ्राणेन्द्रिय, ९. वाणी, १०. हस्त, ११. उपस्थ, १२. गुदा, १३. पाद, १४. मन, १५. शब्द-तन्मात्र, १६. स्पर्श-तन्मात्र, १७. रूप-तन्मात्र, १८. रस-तन्मात्र, १९. गन्ध-तन्मात्र, २०. आकाश, २१. वायु, २२. अग्नि, २३. जल और २४. पृथ्वी। सुश्रुत वर्णित ये २४ तत्त्व सांख्यमतानुसार हैं। चरक में पञ्चतन्मात्राओं के स्थान पर पञ्च इन्द्रियार्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का स्थान है।

तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः; कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि॥ ५॥

इन्द्रियों के विषय (Objects of sensory and effector organs); यथा— १. श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द (Sound), २. त्वगिन्द्रिय का विषय स्पर्श (Touch), ३. चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप (Vision), ४. जिह्वेन्द्रिय का विषय रस (Taste) तथा ५. घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध (Odour) है। ये बुद्धीन्द्रिय के विषय हैं। कर्मेन्द्रियों के विषय (Functions of the effector organs) इस प्रकार हैं— १. वचन (Speech) वाणी का विषय है। २. आदान (Grasping) हाथ का विषय है। ३. आनन्द (Pleasure/Sex) उपस्थेन्द्रिय का विषय है। ४. विसर्ग (Excretion) गुदेन्द्रिय का विषय है तथा ५. विहार (Motion) पाद (पैर) का विषय है॥ ५॥

विमर्श—उपस्थ—'उप समीपं तिष्ठतीति उपस्थम्, भगं शिश्नश्च'। 'उपस्थं रतिसम्पाद्य सुखसाधनम्' (याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका)। 'उपस्थं स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम्' (श्रीविजयरक्षितः)। मन उभयात्मक है। उसके कर्म—'चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं सर्वं तत् ह्यर्थसंज्ञकम्' (च.शा. १)।

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः; शेषाः षोडश विकाराः॥ ६॥

प्रकृतियाँ और विकार—इन उपरोक्त चौबीस तत्त्वों में— १. अव्यक्त, २. महान्, ३. अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ इस प्रकार ये आठ प्रकृतियाँ कहलाती हैं और शेष सोलह तत्त्व विकार अर्थात् विकृतियाँ हैं॥ ६॥

विमर्श—'प्रकृति' शब्द के दो अर्थ हैं— १. 'प्रकरोतीति प्रकृतिः'—जो अन्य तत्त्वों को पैदा करती है वह प्रकृति है (तत्त्वान्तरोत्पादकत्वं प्रकृतित्वम्)। २. 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'—सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है। ऊपर जिन आठ तत्त्वों को प्रकृति कहा है वह 'प्रकरोतीति' के अनुसार है, क्योंकि अव्यक्त महान् को एवं महान् अहंकार को उत्पन्न करता है। जो प्रकृति दूसरे तत्त्वों को पैदा करती है पर स्वयं पैदा नहीं होती है वह 'अव्यक्त' है। अन्य महदादि प्रकृति भी हैं और विकृति भी। जैसे अव्यक्त की विकृति महान् है पर महान् की प्रकृति अव्यक्त है। अतः ये महत् आदि सात 'प्रकृति-विकृति' कहलाते हैं ('महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त'–सां.का.)।

अव्यक्त (प्रकृति) और प्रकृति-विकृति मिलाकर आठ प्रकृतियाँ मानी गयी हैं। इनका सम्मिलित रूप 'अष्टरूपा प्रकृति' है। इसे 'भूतप्रकृति' ('खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा' –च.शा. १) एवं 'अष्टधातु की प्रकृति' ('प्रकृतिश्चाष्टधातुकी'-च.शा. १।१७) भी कहा गया है।

प्रकृति का अपना लक्षण है—'सत्त्वरजस्तमोलक्षणं····अव्यक्तं नाम' अर्थात् सत्त्वरजस्तमोमयी होना और इन तीनों की साम्यावस्था ही 'प्रकृति' एवं 'अव्यक्त' है।

संक्षेप में—अव्यक्तादि आठ प्रकृतियाँ कारण हैं और शेष सोलह कार्य हैं (कारणों से कार्यों की उत्पत्ति)। सांख्यकारिका के अनुसार भी—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। शेषाः षोडश विकाराः' (सां.का. ८)।

स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं; स्वयमध्यात्मम्; अधिदैवतमथ—बुद्धेर्ब्रह्मा, अहङ्कारस्येश्वरः, मनसश्चन्द्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वचसोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति॥ ७॥

तत्त्व और उनके देवता—महदादि के अपने विषय आधिभौतिक अर्थात् भूतों के अधीन है। ये स्वयं आध्यात्मिक हैं। इनके देवता (आधिदैवत) इस प्रकार हैं—बुद्धि का देवता ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशाएँ, त्वचा का वायु, चक्षुओं का सूर्य, जिह्वा का जल, घ्राण का पृथ्वी, वाणी का देवता अग्नि, हाथों का देवता इन्द्र, पैरों का विष्णु, पायु (गुदा) का मित्र और उपस्थ का देवता प्रजापति है॥ ७॥

विमर्श—बुद्धि आदि के विषय एवं देवताओं के सम्बन्ध में डल्हण के विचार—'अयं च अधिभूतादिभावः वेदान्तेऽपि वर्णितः। यथा—बुद्धिरध्यात्मं, बोद्धव्यमधिभूतं, ब्रह्माधिदैवतम्; अहङ्कारः अध्यात्मम्, अहंकर्तव्यमधिभूतं, रुद्रोऽधिदैवतम्; मनोऽध्यात्मं, मन्तव्यमधिभूतं, चन्द्रोऽधिदैवतम्; श्रोत्रमध्यात्मं, श्रोतव्यमधि-

भूतं, दिशोऽधिदैवतम्; त्वगध्यात्मं, स्पर्शनीयमधिभूतं, वायुरधिदैवतम्; चक्षुरध्यात्मं, दृश्यमधिभूतं, सूर्योऽधिदैवतम्; रसनाऽध्यात्मं, रसनीयमधिभूतं, वरुणोऽधिदैवतम्; घ्राणमध्यात्मं, घ्रातव्यमधिभूतं, भूमिरधिदैवतम्; वागध्यात्मं, वक्तव्यमधिभूतम्, अग्निरधिदैवतम्; हस्तावध्यात्मम्, आदातव्यमधिभूतम्, इन्द्रोऽधिदैवतम्; पादावध्यात्मं, गतव्यमधिभूतं, विष्णुरधिदैवतम्; पायुरध्यात्मं, विसर्जनीयमधिभूतं, मित्रोऽधिदैवतम्; उपस्थोऽध्यात्मम्, आनन्दनीयमधिभूतं, प्रजापतिरधिदैवतम् इत्यादि'।

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति॥ ८॥

आत्मा पच्चीसवाँ तत्त्व—ये सम्पूर्ण चौबीस तत्त्व अचेतन (जड़/Inanimate) हैं। केवल पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष (जीवात्मा) कार्य (महदादिविकारगणेन) एवं कारण (मूलप्रकृत्या) से युक्त और चेतयिता ज्ञानवान् या चेतना देने वाला है। प्रकृति (अव्यक्त) अचेतन है तथापि उसकी प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष (कैवल्य) के लिए होती है ('तस्य कैवल्यार्थां मोक्षार्थां, प्रधानस्य मूलप्रकृतेः, प्रवृत्तिमुपदिशन्त्याचार्याः'–ड.)। इस प्रवृत्ति का कारण क्षीरादि हेतु बताया जाता है। (देखें सूत्र ३ का विमर्श)॥८॥

विमर्श—अचेतन—('सर्व एवैष वर्गोऽव्यक्तादिकोऽचेतनः; कारणस्याव्यक्तस्याचेतनत्वेन तत्कार्यस्य महदादेरचेतनत्वात्'–ड.) जब कारण (प्रकृति) अचेतन है तो उससे उत्पन्न कार्य भी (महदादि) अचेतन हैं।

पुरुषः पञ्चविंशतितमः—सुश्रुत ने अव्यक्त और पुरुष को अलग-अलग माना है। इससे तत्त्वों की संख्या २५ होती हैं। किन्तु चरक पुरुष को पृथक् न गिनकर अव्यक्त में ही समाविष्ट करते हैं। इस प्रकार उनके मत से तत्त्वों की संख्या चौबीस है ('चतुर्विंशतिकः स्मृतः'–च.शा. १)।

कैवल्य—('मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्। मोक्षोऽपवर्गः'–अ.को.)। केवल से कैवल्य बना है ('केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः'–अ.को.)। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति कैवल्य या मोक्ष है। 'प्रवृत्ति का परिणाम दुःख है और निवृत्ति से स्थायी सुख मिलता है'—इस प्रकार का ज्ञान वास्तविक बोध या सत्य ज्ञान कहलाता है। इसी को 'सत्याबुद्धि' शब्द से कहा है। निवृत्ति मोक्ष का पथ है ('रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्। ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्यबुद्ध्या निवर्तते'–च.शा. १।३६)। जन्म का लक्ष्य मोक्ष है। इसलिए प्रकृति अचेतन होने पर भी उसकी प्रवृत्ति पुरुषकैवल्यार्थ होती है।

क्षीरादि हेतु—('कथमचेतनः प्रवर्तते इत्याह—क्षीरादीनित्यादि। यथा क्षीरमज्ञं वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते। आदिशब्दाच्च यथैकान्ते कमनीयकामिनीसुरतमहोत्सवे तत्सुखातिशयोत्पादनार्थं रेतः प्रवर्तते, तद्वदित्यर्थः'-ड.)। अभिप्राय यह है कि दुग्ध प्रकृति की तरह निष्प्राण है, अचेतन है पर गाय के थनों में बछड़े को देखते ही दुग्ध में गति होने लगती है। उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी चेतन आत्मा के सम्पर्क में आने पर पुरुष-कैवल्य के लिए प्रवृत्त होती है। डल्हण ने 'शुक्रक्षरण' का उदाहरण भी दिया है।

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः। तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति॥ ९॥

प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य—अब प्रकृति (अव्यक्त) और पुरुष (आत्मा) के समान और असमान धर्मों की व्याख्या की जायेगी। यथा—

साधर्म्य—१. प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। २. दोनों ही अनन्त (Have no end) हैं। ३. दोनों ही आकार (Form) रहित हैं। ४. दोनों नित्य (Eternal) हैं। ५. दोनों ही अनपर (Matchless) ('न विद्यतेऽपरो याभ्यां तौ अनपरौ, यतस्तावेव प्रकृतिपुरुषौ महदादिभ्यः परौ') हैं और ६. दोनों ही सर्वव्यापक (All pervading) हैं।

वैधर्म्य—(केवल प्रकृति) १. एक है (इसी का दूसरा नाम अव्यक्त है/Nature is one)। २. अचेतन (Inanimate) है। ३. त्रिगुणात्मक (सत्त्वरजस्तमोगुणाः) है। ४. बीजधर्म वाली है (Has capicity for creation) ('बीजधर्मिणी, सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्थायां स्थिता सर्वेषां महदादिविकाराणां बीजभावेनावस्थिता बीजधर्मिणी इत्युच्यते')। ५. प्रसव धर्म वाली है (Has capicity for delivery) ('प्रसवधर्मिणी, सैव सिसृक्षुणा विभुना पुरुषेण सार्धं क्षोभमागम्य साम्यावस्थातः प्रच्युता महदहङ्कारादिक्रमेण चराचरस्य जगतः प्रसवित्रीति प्रसवधर्मिणी इत्युच्यते')। ६. अमध्यस्थधर्मिणी अर्थात् सुख-दुःख को भोगने वाली है ('सत्त्वादिगुणराशितया सुखादिरूपत्वात् सुखी हि सुखमभिलिप्सन्, दुःखी दुःखं विद्विषन् अमध्यस्थो भवति, प्रकृतिश्च सत्त्वादिरूपा ततो न मध्यस्था')।

पुरुष (पुरि शेते इति पुरुषः/Soul)— १. पुरुष अनेक हैं (Souls are many) ('बहव इति युगपन्मरणासम्भवादनेके पुरुषाः; 'पुर्' शब्देन महदादिकृतं सूक्ष्मं लिङ्गशरीरमुच्यते, तच्च योगिनामेव दृश्यम्'– ड.)। २. चेतनायुक्त (Animate) है। ३. अगुण है (अविद्यमानसत्त्वादिगुणाः/No qualities)। ४. अबीज-धर्मा है (No potentiality of creation)। ५. अप्रसवधर्मा है (No potentiality of delivery) और ६. मध्यस्थधर्मा है (Indifferent to pain or pleasure) ('प्रीत्यप्रीतिविषादायोगेनेच्छाद्वेषशून्यत्वात्, उक्तं च सांख्ये—तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य। कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च')॥ ९॥

विमर्श—प्रकृति (अव्यक्त) जड़ है और आत्मा सजीव है। किन्तु दोनों में इतना अधिक अन्तर होने पर भी बहुत साम्य है। इस सूत्र में इन दोनों के साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों का उल्लेख है जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य और वैधर्म्य

प्रकृति और पुरुष	प्रकृति और पुरुष का वैधर्म्य	
साधर्म्य (Similarities)	**प्रकृति** (Nature)	पुरुष (Soul)
१. अनादि	१. एक है	१. अनेक हैं।
२. अनन्त	२. जड़ है	२. चेतन है।
३. आकार रहित	३. तीनों गुण (सत्त्व, रज गुण वाली)	३. निर्गुण है।
४. नित्य	४. बीजधर्मिणी	४. बीजधर्मरहित है।
५. अपर	५. प्रसवधर्मा है	५. प्रसवधर्मरहित है।
६. दोनों ही व्यापक हैं	६. अमध्यस्थधर्मिणी है	६. मध्यस्थधर्मी है।

उभावप्यनपरौ—प्रकृति और पुरुष की समता करने वाला अन्य कोई नहीं है। महदादि तो इनसे परे हैं, बाद के हैं, अवर हैं। **मध्यस्थधर्माणश्चेति**—पुरुष मध्यस्थधर्मा है अर्थात् विकार रहित हैं, सुख-दुःखादि से अप्रभावित रहते हैं। अतः पुरुष की स्थिति मध्य की है, इनमें लिप्त नहीं हैं ('निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः'–च.); और भी—'तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यतेनापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः'।

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात् तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते॥ १०॥

कारणानुरूप कार्य—'कारण (प्रकृति) के अनुरूप कार्य (महदादिक) होता है'—इस सिद्धान्त के अनुसार महत्, अहंकार आदि सभी विशेष कार्य सत्त्व, रज और तमोमय (त्रिगुणात्मक) हैं। इसी प्रकार

तदञ्जन (तेषां सत्त्वरजस्तमसाम् अञ्जनं लक्षणं व्यक्तिर्वा येषु ते तदञ्जनाः पुरुषाः सत्त्वादिलक्षणा इत्यर्थः) एवं तन्मय (सत्वादिमयत्वात्) होने के कारण पुरुष भी तद्गुण (सत्त्वरजस्तमोमयः) होते हैं; ऐसा कई आचार्य मानते हैं॥ १०॥

विमर्श—ऐसा पूर्व में वर्णित किया जा चुका है कि अव्यक्त (प्रकृति) त्रिगुणात्मिका है और इससे उत्पन्न महदादिक कार्य भी त्रिगुणात्मक हैं। किन्तु पुरुष (आत्मा) निर्गुण होते हुए भी त्रिगुणात्मक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा 'तदञ्जन' और 'तन्मय' होने के कारण लगता है।

तदञ्जन—आत्मा निर्विकार, निर्लिप्त, त्रिगुणातीत है; किन्तु प्रकृति के सम्पर्क में आने पर ठीक उसी तरह त्रिगुणात्मक लगता है जैसे शीशा (आदर्श) लाल रंग के फूल के सान्निध्य से लाल न होते हुए भी लाल रंग का लगता है। सान्निध्य मात्र से ही पुरुष में कर्तृत्व तथा प्रकृति में चैतन्य आ जाता है ('तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः'–सां.का.)।

तन्मयत्वात् (सत्त्वादिमयत्वात्)—'सत्त्वादिमयत्वं पुनः पुरुषाणां सत्त्वादिरूपे महदादौ प्रतिबिम्बनात्। तद्यथा—तडागोदके प्रतिबिम्बितो विधुस्तडागोदककम्पनेन प्रकम्पनात्मकः कथ्यते। एवं सत्त्वादिरूपे महदादौ प्रतिबिम्बिताः पुरुषाः सत्त्वादिमया भवन्ति न तु वास्तवं सत्त्वादिमयत्वं तादृशाच्च तन्मयत्वात् तल्लक्षणाः तद्गुणाः सुखिनो दुःखिनो मूढाश्च पुरुषा भवन्ति'। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पानी में पड़े चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को पानी के काँपने पर काँपता हुआ मानते हैं उसी प्रकार निर्विकार आत्मा को सुखी या दुःखी मानने की मूढ़ता की जाती है ('प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'–गीता ३।२७)।

वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा। परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥ ११॥

वैद्यकानुसार सृष्टि के कारण—वैद्यकशास्त्र में विपुलबुद्धि विद्वान् स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम (इन छः) को सृष्टि का कारण मानते हैं॥ ११॥

विमर्श—इस श्लोक में प्रकृति के सम्बन्ध में प्रचलित मत-मतान्तरों का उल्लेख है; यथा— १. सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य के अनुसार सृष्टि का कारण प्रकृति है। २. स्वभाववादी इसका कारण 'स्वभाव' को मानते हैं। ३. वेदान्ती सृष्टि की रचना का कारण 'ईश्वर' को मानते हैं। ४. कालवादियों के अनुसार 'काल' कारण है। ५. मीमांसक 'नियति' को कारण मानते हैं। ६. गुणपरिणामवादियों के अनुसार 'पञ्चमहाभूत' कारण हैं।

आयुर्वेद चिकित्सा का शास्त्र है। इसमें उपरोक्त श्लोक में वर्णित सभी सिद्धान्तों को माना गया है ('अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्'–वा.; 'एतत् सर्वमत्रानुमतं सर्वविदपारिषदत्वात् आयुर्वेदस्य। सुश्रुताचार्येणापि स्वभावादिभेदभिन्नायाः षड्विधाया अपि प्रकृतेरुदाहरणान्यभिहितानि। सुश्रुतसंहिता में स्वभाव, ईश्वरादि छहों के उदाहरण मिलते हैं; यथा— **१. स्वभाव**—'अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते' ('कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च। माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम्'–ड.)। **२. ईश्वर**—'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः'। **३. काल** (शीतोष्णलक्षणः)—'महाभूतविशेषांस्तु शीतोष्णद्वयभेदतः। काल इत्यध्यवस्यन्ति'। **४. यदृच्छा**—'यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद् विधिज्ञः'। **५. नियति** (अत्रापि धर्माधर्मौ)—'ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्'॥ **६. परिणाम**—'जाठराग्नेस्तु संयोगात् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः'॥

हाराणचन्द्र ने इस श्लोक की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, जैसे कि मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। किन्तु स्वभावादि में से कुछ तो कारण नहीं हैं और कुछ निमित्त कारण हैं ('निमित्तकारणमेव नोपादानमित्युत्पन्नं भवत्येतेषां पृथु दर्शितम्') उन्होंने 'पृथुदर्शिनः' का 'मोटी बुद्धि वाला' अर्थ किया है ('न खल्वेते प्रकृतिवादाः कथमपि प्रभवन्ति तात्त्विकीं बुद्धिमधिरोढुं सोढुं वा कथमपि विचारमित्यसूक्ष्मदर्शित्वेनैवं वादिनां न्यक्कारार्थमिदमुच्यते पृथुदर्शिन इति')।

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्। तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत॥ १२॥

भूत (आकाशादि पाँच) तन्मय हैं अर्थात् प्रकृतिमय ('चलोष्णद्रवखरस्वभावादिधर्मविशेषाक्रान्त-प्रकृतिपरिणाममयानि') और प्रकृति के गुणों ('सत्त्वरजस्तमोगुणान्येवेत्यर्थः') से युक्त हैं, ऐसा समझना चाहिए। पञ्च महाभूतों के द्वारा आकाशादि के लक्षणों से युक्त यह समस्त स्थावरजङ्गमात्मक भूतग्राम (सम्पूर्ण सृष्टि) उत्पन्न हुई है॥ १२॥

तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा। भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते॥

इस सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि का सदा ही चिकित्सा के लिए उपयोग बताया गया है, क्योंकि चिकित्सा में पञ्चभूतात्मक सृष्टि के अतिरिक्त कुछ विचार्य नहीं है॥ १३॥

यतोऽभिहितं—'तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः'; भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः॥ १४॥

अतः पहले कहा जा चुका है कि तत्सम्भव द्रव्यसमूह अर्थात् पुरुष से उत्पन्न शुक्र-शोणितादि द्रव्य-समूह पञ्चभूतात्मक है। इन्द्रियों को भी आयुर्वेद में भौतिक बताया है, इसी प्रकार इन्द्रियार्थ भी पाञ्चभौतिक हैं॥ १४॥

विमर्श—तदुक्तमाद्ये अध्याये—'तत्रास्मिन् पञ्चमहाभूतशरीरसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्, कस्मात्? लोकद्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः—स्थावरो जङ्गमश्च, तस्मिन् पुरुषः प्रधानः, तस्योपकरणमन्यत्' इति। अर्थात् पुरुषसम्भव द्रव्य शुक्र-शोणितादि पाञ्चभौतिक हैं, श्रवण-स्पर्शनादि पाञ्चभौतिक हैं, अतः चिकित्सा में ये सभी अनिवार्यतः ज्ञातव्य हैं।

भवति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः। नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः॥

श्लोक भी है—इन्द्रियाँ और इन्द्रियार्थ पाञ्चभौतिक हैं। जिस इन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है वह उसी के गुणों को ग्रहण करती है, क्योंकि निश्चित रूप से तुल्ययोनि होने के कारण वह उसके विषय का ही ग्रहण करती है, अन्य का नहीं॥ १५॥

विमर्श—'इन्द्रियेण चक्षुरादिना रूपादिकमात्मीयमात्मीयं मानवः उपादत्ते। तद्यथा—तैजसं चक्षुस्तैजसमेव रूपमादत्ते, पार्थिवं घ्राणेन्द्रियं पार्थिवमेव गन्धमादत्ते, एवं शेषेष्वपि बोद्धव्यम्' (ड.)। अभिप्राय यह है कि पञ्च महाभूतों में से जिस इन्द्रिय में जिस महाभूत की अधिकता है वह इसी के गुणों को ग्रहण करती है अन्य को नहीं; जैसे—घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के ही गुणों को ग्रहण करती है, तेज आदि के गुणों को नहीं। सांख्य में इन्द्रियों को भौतिक नहीं माना है, क्योंकि आयुर्वेद और सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। सांख्य का आयुर्वेद से यह दूसरा मतभेद है। पहला मतभेद यह है कि सांख्य प्रकृति को ही सृष्टि का कारण मानता है, स्वभाव या ईश्वर आदि को नहीं।

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुष-व्यापकान् हेतूनुदाहरन्ति;

(इस सूत्र में सांख्य आदि से तीसरे मतभेद का उल्लेख हुआ है—) आयुर्वेद में आत्मा को सर्वगत नहीं माना जाता है, अपितु असर्वगत—अविभु—अणुपरिणाम होने के साथ-साथ नित्य कहा गया है। आत्मा की नित्यता की पुष्टि के लिए नित्यता जताने वाले हेतु दिये जाते हैं।

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं; त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः' इति; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ।। १६ ।।

सांख्यादि से अन्य आयुर्वेदीय मतभेद—आयुर्वेद की दृष्टि में आत्मा असर्वगत (सर्वत्र व्यापक नहीं) है और नित्य है। अपने पाप-पुण्यों के अनुसार तथा शुभ-अशुभ कार्यों के आधार पर आत्मा तिर्यक्-योनियों (पशु-पक्षियों), मनुष्यों की योनि और देवयोनि में संचरित होती है। पर ये सब क्रियाएँ केवल अनुमानप्रमाण से सिद्ध होती हैं, प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं होतीं। ये परम सूक्ष्म हैं, चेतना युक्त हैं, निरन्तर रहने वाली हैं, केवल शुक्र-शोणितसंयोग से ही व्यक्त होती हैं। जो यह बताया गया है कि 'पञ्चमहाभूतशरीरसमवायः पुरुषः' वही कर्मपुरुष चिकित्साधिकृत है ('सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।। स पुमान् चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्'–च.सू. १।४६-४७) ।। १६ ।।

विमर्श—पुरुष की अनेक स्थितियाँ हैं। आयुर्वेद में पुरुष (आत्मा) के कतिपय भेदों का उल्लेख है; यथा— (१) चेतन पुरुष ('चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः') 'परमात्मा' भी है ('प्रभवो नह्यनादित्वात् विद्यते परमात्मनः'–च.शा. १।५३); अनादि, नित्य, निर्गुण, निर्विकार आदि भी है। (२) सूक्ष्म पुरुष जीवात्मा, स्पृक्-शरीरयुक्त या आतिवाहिक शरीरयुक्त भी कहलाता है। कर्मभोगवश आत्मा को बुद्धि, मन, अहंकार, सत्त्व, रज, तम आदि से इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म शरीर 'लिंगशरीर' या 'सूक्ष्मशरीर' प्राप्त होता है। यह 'पुर' है। इसमें शयन करने वाला 'पुरुष = आत्मा' है। इस सूक्ष्म शरीर का साक्षात्कार योगीजन ही कर पाते हैं। पञ्चभूतनिर्मित स्थूल शरीर 'क्षेत्र' है। इसका ज्ञाता होने से आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' है। ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त होने के कारण यह साक्षी है और स्पर्शज्ञान होने से 'स्प्रष्टा' है आदि। (३) चतुर्विंशतिक पुरुष (राशिपुरुष) में मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रिय-विषय और अष्टरूपा प्रकृति (अव्यक्त, महान्, अहंकार और पाँच महाभूत) ये २४ भाव हैं ('पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः। मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी'–च.शा. १।१७)। (४) षड्धातुक पुरुष में पञ्चमहाभूत और आत्मा ये छः हैं। इसका प्रयोजन कैवल्य-प्राप्ति है।

आयुर्वेदोक्त षड्धातु पुरुष में आत्मा की स्थिति सीमित है। यह प्रत्येक देह में प्रदेशवर्ती होकर स्थित (असर्वगत) है। पर नित्य है, क्योंकि सत्तावान् होते हुए 'कारण' है, किसी से उत्पन्न नहीं है। इस प्रकार के असंख्य षड्धातु पुरुष अपने-अपने पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार वशीभूत होकर पशु, मनुष्य आदि योनियों में संचरित होते हैं। इस स्थिति में ये पुरुष परम सूक्ष्म हैं। इनका ज्ञान अनुमान द्वारा तब होता है जब ये शुक्र-शोणित के सम्मूर्च्छन के उपरान्त देहगत होकर अभिव्यक्त होते हैं (आ.प.वि., नि.दे.)।

चरक और सुश्रुत के सृष्टिलय-विषयक विचार विविध होते हुए भी मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं— **चरक** में 'अव्यक्त' शब्द अनादिपुरुष ब्रह्म या आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। आत्मा नित्य सत्तावान् एवं इन्द्रिय तथा मन से अग्राह्य है। नित्य इन्द्रियादि से अग्राह्य को 'अव्यक्त' और अनित्य जो इन्द्रियग्राह्य हो उसे 'व्यक्त' कहते हैं। आत्मा नित्य है, वह अनित्य साधनों से मन एवं इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है। इन्द्रियों आदि से अग्राह्य होने के कारण इसे तो नहीं जाना जा सकता किन्तु यह स्वयं अपने शरीर-क्षेत्र का ज्ञाता है। इस नित्य, व्यापक, अविनाशी आत्मा को 'अव्यक्त' कहते हैं, इससे अतिरिक्त शेष सब व्यक्त हैं ('अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। तस्मात् यदन्यत् तद् व्यक्तं, वक्ष्यते चापरं द्वयम्'–च.शा. १।६१)। **सौश्रुत** विचारधारा

के अनुसार सत्त्वरजस्तमोमयी अष्टधा प्रकृति को 'अव्यक्त' कहा है। प्रकृति अपने स्वरूप में स्थित रहने तक जगत् के रूप में प्रकट नहीं होती है, इस कारण 'अव्यक्त' कहलाती है ('न व्यज्यते स्म इति प्रकृतिः'--गयदासः)। जब चेतन पुरुष के प्रभाव से प्रकृति में परिवर्तन होकर परिणामस्वरूप यह विश्व या सम्पूर्ण जगत् प्रकट हो जाता है तो वही प्रकृति 'व्यक्त' है।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥ १७॥

मन के संयोग से उत्पन्न गुण—(इस सूत्र में उस कर्मपुरुष के शरीर और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध कराने वाले मन के संयोग से उत्पन्न गुणों का वर्णन किया गया है। ये गुण इस प्रकार हैं—) १. सुख (Happiness/स्वभावतोऽनुकूलवेदनीयं सुखम्), २. दुःख (Misery/स्वभावतः प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्), ३. इच्छा (Desire/अभिलाषः), ४. द्वेष (Aversion/अप्रीतिलक्षणः), ५. प्रयत्न (Endeavour/ कार्यारम्भेषूत्साहः), ६. प्राण (Respiration/प्राणवायुः वक्त्रसञ्चारी), ७. अपान (Excretion/अधोवायुः, पक्वाशयस्थितिरधोगमनशीलः), ८. उन्मेष (Opening of eyelids/चक्षुषोरुन्मीलनम्), निमेष (Closing of eyelids/निमीलनम्), ९. बुद्धि (Wisdom/निश्चयात्मिका), १०. मन (Determination of mind/ सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियम्, संशयात्मकम्), ११. संकल्प (मानसं कर्म), १२. विचारणा (Discretion/ पुनरूहापोहाभ्यां वस्तुविमर्शः), १३. स्मृति (Memory/पूर्वानुभूतस्यार्थस्य स्मरणम्), १४. विज्ञान (Knowledge/शिल्पशास्त्रादिबोधः), १५. अध्यवसाय (Preserverence/बुद्धेर्व्यापारः), १६. विषयोपलब्धि (Perception of objects/विषयाणां शब्दादीनां उपलब्धिः अवगतिः) ॥ १७॥

सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च; राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च; तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥ १८॥

सत्त्वादियुक्त मन के गुण—(पूर्वसूत्र में पुरुष-गुणों के वर्णन के उपरान्त अब इस सूत्र में सत्त्वादि युक्त मन के गुणों का वर्णन किया गया है—) **(क) सात्त्विक मन के गुण**—१. आनृशंस्य (अक्रूरकर्मकारित्वम्/क्रूर कर्म न करना/Kindness), २. संविभागरुचिता (संविभज्य भोक्तुमभिलाषुकता/बाँटकर उपयोग करना/Discretion in the use of articles), ३. तितिक्षा (क्षमा, त्याग/Forgiveness), ४. सत्य (भूतहितं तथ्यं वचो वा/सच्चाई/Truthfulness), ५. धर्म (शरीर, वाणी और मन से अच्छे कार्य करना/Righteousness), ६. आस्तिक्य (मोक्ष-परलोकादि में विश्वास/Belief in God), ७. ज्ञान (आत्मज्ञानम्/Knowledge), ८. बुद्धि (तत्कालविषया/Wisdom), ९. मेधा (ग्रन्थावधारणशक्तिः/प्रखर बुद्धि/Intelligence), १०. स्मृति (स्मरण/Memory), ११. धृति (मनसो नियमात्मिका बुद्धिः/धैर्य/Firmness) और १२. अनभिषङ्ग (निर्लिप्तता/Non-attachment)। **(ख) राजस मन के गुण**—१. दुःखबहुलता (दुःखों की अधिकता/Excessive miseries), २. अटनशीलता (घुम्मक्कड़पन/Roving spirit), ३. अधृति (धीरज की कमी/Unsteady nature), ४. अहङ्कार (अभिमान/Pride), ५. आनृतिकत्व (मिथ्यावचनशीलता/ Falseness), ६. अकारुण्य (दयारहित/Unkindness), ७. दम्भ (कुहकवृत्तिता/ठगी/Haughtiness), ८. मान (आत्मन्युत्कर्षबुद्धिः/सम्मान की भावना/Vanity), ९. हर्ष (प्रसन्नता/Pleasure), १०. काम (Lust) और ११. क्रोध। **(ग) तामस मन के गुण**—१. विषादित्व (मूढ़ता/Dispodency), २. नास्तिक्य (परलोकादि को न मानना/Atheism), ३. अधर्मशीलता (Unrighteousness), ४. बुद्धेर्निरोधः (दुर्बुद्धि/ Perverted intelligence), ५. अज्ञान (Ignorance), ६. दुर्मेधस्त्व (दुष्टप्रखरता), ७. अकर्मशीलता (निष्क्रियता/Lethargy) और ८. निद्रालुत्व (अधिक निद्रा/Sleepiness) ॥ १८॥

आन्तरिक्षाः—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसास्तु रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च; आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च; पार्थिवास्तु गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति॥ १९॥

प्राणियों में पञ्चमहाभूतों के गुण—(क) आकाश (आन्तरिक्ष) के गुण (Qualities of Space) —१. शब्द, २. शब्देन्द्रिय (श्रवणेन्द्रिय/Organs of hearing), ३. शरीर के सभी छिद्र (Group of all the portals of the body) और ४. विविक्तता (विरिक्तता या शारीराणां भावानां सिरा-स्नायु-अस्थि-पेशीप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वमिति/पृथकता/Distinctness)। **(ख) वायु** (वायव्य) के गुण (Qualities of *Vāyu*)—१. स्पर्श (Touch), २. स्पर्शेन्द्रिय (त्वक्/Organs of perception), ३. सर्वचेष्टासमूह (नमनोन्नमनादिसर्वक्रियासमूहः या कायवाग्मनःक्रियासमूहः/All movements), ४. सर्वशरीरस्पन्दन (स्पन्दनं चलनम्/Pulsation in the body) और ५. लघुता (हलकापन/Lightness)। **(ग) तेज** (तैजस) के गुण (Qualities of *Tejas*)—१. रूप (लावण्यम्/Form), २. रूपेन्द्रिय (चक्षुः/Organs of sight), ३. वर्ण (गौरादिः/Complexion), ४. सन्ताप (औष्ण्यम्/उष्णता/Temperature), ५. भ्राजिष्णुता (दीप्तता/Illumination), ६. पक्ति (अग्निकृताहारपरिणतिः/पचना/Digestion), ७. अमर्ष (क्रोधः/Intolerance), ८. तैक्ष्ण्य (आशुक्रियता/Hot temperament) और ९. शौर्य (विक्रान्तता/Valour)। **(घ) जल** (आप्य) के गुण (Qualities of water)—१. रस (Taste), २. रसनेन्द्रिय (Organs of taste), ३. सर्वद्रवसमूह (दोषधातुमलेषु द्रुतिमत् द्रव्यनिवहः/सभी प्रकार के तरल/All liquids), ४. गुरुता (भारीपन/Weight), ५. शैत्य (ठण्डापन/Coldness), ६. स्नेह (Blandness) और ७. शुक्रधातु (Semen)। **(ङ) पृथिवी** (पार्थिव) के गुण (Qualities of Earth)—१. गन्ध, २. गन्धेन्द्रिय (Olfactory organs), ३. सर्वभूतसमूह (दोषधातुमलेषु यः कश्चित् काठिन्यनिवहः/शरीर के सभी कठोर भाग/All solids) और ४. गुरुता (Weight)॥ १९॥

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति॥ २०॥

आकाशादि भूतों की सत्त्वादि गुणमयता—इनमें आकाश महाभूत में सत्त्व गुण की बहुलता है, वायु नामक महाभूत में रजोगुण की बहुलता है, अग्नि महाभूत में सत्त्व और रजोगुण की, जल महाभूत में सत्त्व और तमोगुण की तथा पृथिवी नामक महाभूत में तमोगुण की अधिकता होती है॥ २०॥

आकाशादि में सत्त्वादि गुणमयता

महाभूत	गुण	त्रिगुण
आकाश	१. शब्द, २. शब्देन्द्रिय, ३. सर्वच्छिद्रसमूह, ४. विविक्तता।	सत्त्वगुण की बहुलता
वायु	१. स्पर्श, २. स्पर्शेन्द्रिय, ३. सर्वचेष्टासमूह, ४. सर्वशरीरस्पन्दन, ५. लघुता।	रजोगुण की बहुलता
तेज	१. रूप, २. रूपेन्द्रिय, ३. वर्ण, ४. सन्ताप, ५. भ्राजिष्णुता, ६. पक्ति, ७. अमर्ष, ८. तैक्ष्ण्य, ९. शौर्य।	सत्त्व और रजो गुण की अधिकता
जल	१. रस, २. रसनेन्द्रिय, ३. सर्वद्रवसमूह, ४. गुरुता, ५. शैत्य, ६. स्नेह, ७. शुक्रधातु।	सत्त्व और तमो गुण की अधिकता
पृथिवी	१. गन्ध, २. गन्धेन्द्रिय, ३. सर्वभूतसमूह, ४. गुरुता।	तमोगुण की बहुलता

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्। स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते॥ २१॥

(इस श्लोक में यह बताया गया है कि पञ्चमहाभूतों के लक्षण एक-दूसरे में भी पाये जाते हैं—) ये सब पञ्चमहाभूतों के गुण एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए होते हैं तथा ये पञ्चमहाभूतों के लक्षण अपने-अपने द्रव्यों में ही व्यक्त होते हैं॥ २१॥

विमर्श—इसका विस्तार डल्हणानुसार इस प्रकार है—'तत्र शब्दगुणमाकाशं मारुते प्रविष्टं, शब्दस्पर्शरूपगुणत्वान्मारुतस्य; आकाशमारुतौ तेजसि प्रविष्टौ, शब्दस्पर्शरूपगुणत्वात् तेजसः; आकाशमरुत्तेजांसि तोयद्रव्ये प्रविष्टानि, शब्दस्पर्शरूपरसगुणत्वात् तोयस्य; आकाशमरुत्तेजस्तोयानि पृथिव्यामनुप्रविष्टानि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणत्वात् पृथिव्याः'।

इस श्लोक की दूसरी यह व्याख्या भी की जाती है; यथा—आकाश में पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों अणु मात्रा में रहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी आदि महाभूतों में अन्य सभी महाभूतों के गुण अणु मात्रा में रहते हैं। यही अन्योऽन्य प्रवेश है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु। क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः॥ २१॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥



इस प्रकार इस अध्याय में आठ प्रकृतियाँ (अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः) और सोलह विकारों (एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानीति षोडश विकाराः) का तथा क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का अपने और अन्य शास्त्रों (सांख्यादि) के अनुसार संक्षेप में वर्णन किया गया है॥ २१॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'सर्वभूतचिन्ताशारीर' नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ॥ १॥



अध्याय-सारांश

'सर्वभूतचिन्ताशारीर' नामक इस अध्याय में—अव्यक्तस्वरूप, २४ तत्त्वों की उत्पत्ति (३-४); इन्द्रियों के विषय, तत्त्वों का आधिभूतादि भेद (५-७); २४ तत्त्वों का अचेतनत्व और पुरुष का चेतनत्व, प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य (८-९); महदादि सभी का सत्त्वरजस्तमोमय होना (१०); इस सम्बन्ध में स्वमत दर्शन (११); चिकित्साधिकृत पञ्चभूतात्मक पुरुष (१२-१४); इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण (१५-१६); शरीर और मन के साथ संयोग से पुरुष के प्रकट गुण (१७); सत्त्वादि युक्त मन के गुण (१८); महाभूतों के गुण, त्रिगुणात्मक भूतसंगठन (१९); पञ्चमहाभूतों का अन्योऽन्यानुप्रवेश (२०), उपसंहार।



द्वितीयोऽध्यायः

अथातः शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'शुक्रशोणितशुद्धिशारीर' (Anatomical Considerations of the Normalcy of the Sperms and Ovums) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—पूर्व में वर्णित 'सर्वभूतचिन्ताशारीर' नामक अध्याय में शुक्र-शोणित संयोग की चर्चा आयी है। क्षेत्रज्ञ शुद्ध शुक्र-शोणितसंयोग के परिणामस्वरूप ही व्यक्त हो पाते हैं। अतः 'शुक्रशोणितशुद्धि' नामक अध्याय का वर्णन किया जा रहा है।

वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति ॥

शुक्रदोष—वातादि दोषदूषित शुक्र की शुद्धि की आवश्यकता होती है। अतः इस सूत्र में शुक्र धातु की अशुद्धियों का उल्लेख है। ये अशुद्धियाँ इस प्रकार हैं— १. वातजन्य दोष, २. पित्तजन्य दोष, ३. कफजन्य दोष, ४. कुणप (शवगन्धि/Cadaveric smell; 'कुणपः शवमस्त्रियाम्'–अ.को.), ५. ग्रन्थिल (गाँठदार/Clotted), ६. पूतिपूय (Smell of pus), ७. क्षीण (मात्रा में कम या जिसमें बीज कम हों/'If the semen contains spermatozoa less than 20 million per c.c. the subject is usually sterile'–C.C.C.), ८. शुक्र का मूत्र और पुरीष युक्त होना (Contaminated with urine and faeces)। इस प्रकार के दोषों से दूषित शुक्र धातु सन्तानोत्पादन (Reproduction) के अयोग्य होती है ॥ ३ ॥

विमर्श—शुक्रधातु का प्रधान भाग 'बीज' है जिसे 'Spermatozoa' कहते हैं। चरक में इसका उल्लेख इस प्रकार है—'बीजध्वजोपघाताभ्याम्' (चि. ३०।१५४) और 'म्लानशिश्नश्च निर्बीजः' (चि. ३०।१५७)। चरक (चि. ३०) के अनुसार शुक्रदोष—'फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्। अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाऽष्टमम्' ॥ आयुर्वेदिक दृष्टि से शुक्र का महत्त्व चरक के निम्नलिखित श्लोक से जाना जा सकता है—'आहारस्य परं धाम शुक्रं तत् रक्ष्यमात्मनः। क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति' ॥ (नि. ६।८)

'बीज' से सम्बन्धित कुछ शुक्रदोषों के नाम इस प्रकार हैं— १. Azoospermia—निर्बीज ('म्लान-शिश्नस्तु निर्बीजः'–च.), २. Oligozoospermia—बीज (शुक्र) क्षीण ('क्षीणमूत्रपुरीषरेतसः'–सु.), ३. Haemospermia—शोणितशुक्रता ('वातपित्तश्लेष्मशोणित····'–सु.)।

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पितेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः, मूत्रपुरीषरेतसस्त्व-साध्याः इति ॥ ४ ॥

दूषित शुक्रधातु में वातादि वेदनाएँ—विकार-दुष्ट शुक्रधातु में जब **वायु** की प्रधानता होती है तो उसका रंग और वेदनाएँ वातप्रकोप जैसी होती हैं अर्थात् अरुण, कृष्णादि रंग तथा तोदन-भेदनादि वेदनाएँ पायी जाती हैं ('यद्यप्यव्यक्तस्य वायोर्वर्णासम्भवः, तथापि वातदुष्टे दूष्ये अरुणकृष्णौ वातेन वर्णौ भवतः इत्यदोषः; वातवेदना तोदनभेदनादयः')। **पित्तज** विकार में पैत्तिक वर्णवेदनाएँ—पीत-नीलादि वर्ण और

ओष-चोषादि वेदना होती हैं। **श्लेष्म**प्रकोप में श्लेष्मवर्ण वेदनाएँ—शुक्ल वर्ण और कण्ड्वादि वेदनाएँ होती हैं। **रक्त** द्वारा शुक्रधातु में विकार आने पर शोणितवर्ण वेदनाएँ तथा शव (मृत शरीर) सदृश गन्ध और यह मात्रा में अनल्प अर्थात् अधिक (अनल्पम्=बहुलम्) होता है। **श्लेष्मा** और **वायु** से विकारग्रस्त होने पर शुक्रग्रन्थिभूत (Clotted) हो जाता है। **पित्त** और **श्लेष्मा** से पूय के समान या पूति गन्ध वाला होता है। **पित्त** और **वायु** के विकार से शुक्र क्षीण हो जाता है (क्षीण शुक्र के लक्षण—'दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः। क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम्'–च.सू. १७।६९)। **सान्निपातिक** विकार में शुक्र से मूत्र, पुरीष की-सी गन्ध आती है।

साध्यासाध्यता—शुक्रधातु के इन विकारों में कुणपगन्धि, ग्रन्थिभूत, पूतिपूयनिभ और क्षीण दोषों से युक्त होना कृच्छ्रसाध्य, मूत्र-पुरीष गन्ध वाला असाध्य और शेष शुक्रदोष साध्य होते हैं॥ ४॥

विमर्श—रक्त के कारण शुक्रदोष-वर्णन ऐसा ही है जैसे घी से जलने तथा तैल से जलने का व्यवहार है ('घृततैलदग्धवत्, अग्निदग्धघृततैलाभ्यां दग्धं द्रव्यं घृततैलदग्धमित्युच्यते न त्वग्निना दग्धमिति, तथाऽत्रापि वातादिदूषितरक्तेन दुष्टं रक्तदूषितमिति व्यपदेशः, यतो रक्तस्यापि दोषा एव दूषयितारः'–ड.)।

आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्णवेदनादिभिर्विज्ञेयम्॥ ५॥

आर्तव-दोषों का वर्णन (Aetiology, features and prognosis of menstrual flow)—आर्तव (Menstrual fluid) भी वातादि तीनों दोषों, रक्त, वातादि अलग-अलग दोषों, दो-दो दोषों से विकारग्रस्त हो तो अबीज (Sterility) होता है। उसकी दोषवर्ण वेदनाएँ शुक्र की दोषवर्ण वेदनाएँ जैसी होती हैं।

विमर्श—जिस आर्तव को गर्भोत्पत्ति में उपयोगी माना जाता है वह सम्भवतः 'Ovum' (स्त्रीबीज) है॥ ५॥

तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं, साध्यमन्यच्चेति॥ ६॥

असाध्य आर्तव-दोष—आर्तव के इन दोषों में कुणप, ग्रन्थि, पूतिपूय, क्षीण, मूत्र-पुरीष के समान होना असाध्य लक्षण हैं। शेष साध्य हैं॥ ६॥

विमर्श—आर्तवक्षय के लक्षणों का वर्णन सु.सू. १५।१२ में आया है, यथा—'आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना वा'।

भवन्ति चात्र—

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत्। क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः॥
पाययेत नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि। धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम्॥ ८॥
पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम्। ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं पालाशे वाऽपि भस्मनि॥ ९॥
परूषकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम्। प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि॥ १०॥
विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः। स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम्॥
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना।

शुक्र-आर्तव दोषों की चिकित्सा—शुक्र एवं आर्तव को दूषित करने वाले विकारों में आदि के तीन वात, पित्त और कफ दोषों की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन (आदि शब्द से वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन) तथा उत्तरबस्तियों (Urethral irrigation) जैसी क्रिया-विशेषों (Specific procedures) का प्रयोग करना चाहिए। **कुणपरेता** (जिसके शुक्र से शव की-सी गन्ध/Cadaveric smell आती है) की चिकित्सा में रोगी को निम्नलिखित द्रव्यों से सिद्ध घृत पिलाना चाहिए—धातकी (*Woodfordia fruti-*

cosa) पुष्प, खदिर (*Acacia catechu*), दाडिम (*Punica granatum*) और अर्जुन (*Terminalia arjuna*) अथवा शालसारादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए। **ग्रन्थिभूत** (Clotted) शुक्रविकार में शटी (कचूर/*Hedychium spicatum*) या पलाश (*Butea monosperma*) की भस्म से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए। **पूतिपूय** नामक विकार हो तो परूषकादि तथा वटादि वर्ग की औषधियों से सिद्ध घृत प्रयुक्त करें। **क्षीणरेता** (शुक्र) में सूत्रस्थान (अध्याय १५ के १०वें सूत्र) में बतायी गयी विधि तथा आगे (वाजीकरण का क्षीणबलीय अध्याय में) बताये गये के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। शुक्र से **मल-मूत्र** की गन्ध आने पर चित्रक (*Plumbago zeylanica*), उशीर (खश/*Vetiveria zizanioides*) और हींग (*Ferula foetida*) से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए। सभी प्रकार के शुक्रदोषों में स्नेहन (Oleations), वमन (Emesis), विरेचन (Purgation), निरूहण और अनुवासन (Enemas of medicated oils and decoction) तथा उत्तरबस्तियों (Urethral irrigation) का प्रयोग करना चाहिए॥ ७-११॥

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च। शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥ १२॥

शुक्रधातु के गुण (Qualities of semen)—विशुद्ध शुक्र में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं— १. स्फटिकाभ (Like a crystal), २. द्रव (पतला/Liquid), ३. स्निग्ध (चिकना/Viscid), ४. मधुर (Sweet), ५. मधुगन्धि (शहद की-सी गन्ध वाला/Odour of honey)। कुछ अन्य की सम्मति में शुद्ध शुक्र तिलतैल या क्षौद्र मधु सदृश होता है॥ १२॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक के अनुसार शुक्रधातु का सबसे बड़ा गुण उसमें पाये जाने वाले शुक्राणु, उनकी संख्या और गतिशीलता का उत्तम होना है। इसमें शुक्राणुओं (Spermatozoa) के अतिरिक्त अधिवृषण स्राव, शुक्राशय का स्राव, पौरुषग्रन्थि और कूर्पर की ग्रन्थियों का स्राव भी होता है।

चरक में शुक्र के गुण—'स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च। रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्'॥ (चि. ३०।१४६)

विधिमुत्तरबस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये। स्त्रीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्तिषु॥ १३॥
कुर्यात्कल्कान्पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च। ग्रन्थिभूते पिबेत् पाठां त्र्यूषणं वृक्षकाणि च॥
दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे। पिबेद्भद्रश्रियः क्वाथं चन्दनक्वाथमेव च॥ १५॥
शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम्। योगानां शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्तवार्तिषु॥ १६॥
अन्नं शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम्।

आर्तवदोष-चिकित्सा—शुक्रदोषों को दूर करने के लिए जो उपाय ऊपर बताये हैं उनका उपयोग (उत्तरबस्त्यन्तम्—घृतपान, स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन और उत्तरबस्ति) आर्तव-शुद्धि के लिए भी करें। वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार प्रकार के आर्तव-रोगों से पीड़ित स्त्रियों में स्नेहनादि के पश्चात् कल्क (Medicinal pastes), पिचु (Pad or tampoon), आचमन (योनिप्रक्षालनार्थ जल) और पथ्य (Dietary regimen) का प्रयोग करना चाहिए। यदि आर्तव (Menstrual fluid) ग्रन्थीभूत (Clotted) हो तो पाठा (*Cissampelos pariera*), त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल) और इन्द्रजौ (*Holarrhena antidysenterica*) के क्वाथ का पान करें। दुर्गन्धित, पूय की तरह का तथा मज्जसदृश (त्रिदोषज) आर्तव हो तो भद्रश्रिय (श्वेत चन्दन) का क्वाथ या रक्त चन्दन का क्वाथ पीना चाहिए। शुक्रदोष को दूर करने वाले योगों ('स्नेहस्वेदादिपूर्वाणां यथादोषं योगानां रसायनवाजीकरणमूत्रदोषप्रतिषेधोक्तानाम्') का आर्तव सम्बन्धी विकारों (वाताद्येकैकदोषजनितास्वार्तवार्तिषु) में प्रयोग करना चाहिए। पथ्य के लिए आर्तवदोषों में शालि, जौ, मद्य और पित्तवर्धक मांसादि का सेवन करना चाहिए॥ १३-१६॥

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्॥ १७॥
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत्।

आर्तव के गुण (Qualities of normal menstrual fluid)—वह आर्तव उत्तम होता है जो खरगोश के रक्त जैसा हो या लाक्षारस सदृश (Like liquid shellac) हो तथा जो कपड़े पर लगने पर निशान न छोड़ता हो॥ १७॥

विमर्श—शास्त्रों में दो प्रकार के आर्तव की चर्चा मिलती है—१. प्रतिमास निःस्रुत आर्तव और २. अन्तःपुष्प या स्त्रीबीज (Ovum)। उपरोक्त वर्णन प्रतिमास होने वाले स्राव का है। द्वितीय प्रकार के आर्तव का वर्णन डल्हण के शब्दों में इस प्रकार है—'पुराणमार्तवमुपचयात् दिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव विनिवृत्तं नूतनं रूपं स्त्यानीभूतमिव प्रवर्तितुमक्षमं, तत् कथमार्तवसञ्चारो येन तत्संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशङ्क्याह—घृतेत्यादि (श्लोक आगे है—इसी अध्याय का ३६वाँ श्लोक)। पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसङ्घर्षजेनोष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भाशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसम्भवहेतुर्भवति' (सु.शा. २।३६)।

वैसे गर्भाधान से इस दो प्रकार के आर्तव का सम्बन्ध है। मासिक आर्तव गर्भाधान के स्वागत की तय्यारी है (During each cycle the uterine mucosa gradually hypertrophied. The whole purpose is to prepare a suitable bed for the reception and implantation of the fertilized ovum—C.C.C.) जब कि दूसरा स्त्रीबीज (अन्तःपुष्प) गर्भाधान का प्रत्यक्ष प्रयास है। यदि स्त्रीबीज (Ovum) और पुंबीज (Sperm) में मेल हो जाता है तो गर्भाधान की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, अन्यथा—'Menstruation, therefore, may be described as the funeral of the unfertilized ovum'—C.C.C.

आर्तव (Menstruation) ४ से ६ दिन तक रहता है। इस समय कोई विशेष वेदना नहीं होती है। यह निम्न स्थितियों में अनुपस्थित रहता है—१. यौवनारम्भ (Puberty) से पहले, २. गर्भावस्था में, ३. स्तन्यपान (Lactation/स्तन्यस्रवण) के दिनों में (Lactation amenorrhoea) और रजोनिवृत्ति काल में।

परिभाषा—Cyclical discharge of blood, mucus and certain other substances from the uterus in the reproductive life of the females, at an average interval of 28 days (24-32 days) is called 'Menstruation'.

आर्तव में निम्नलिखित पदार्थ होते हैं—१. रुधिर (30-40 c.c.), २. अन्तर्गर्भाशयकला के अंश (Stripped off), ३. श्लेष्मा (Mucus), ४. रक्त श्वेत कोशिकाएँ और ५. असफल स्त्रीबीज (Ovum)।

यदि आर्तव गर्भाशय में रुक जाय तो थक्का (Clot) बन जाता है, पर यह 'Plasmin' की क्रिया द्वारा घुल जाता है।

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि॥ १८॥
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्। असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः॥ १९॥
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा। दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥
तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक्। रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत्॥ २१॥

असृग्दर (Menorrhagia & Metrorrhagia) **के लक्षण**—मासिकधर्म के समय अथवा इसके बिना भी आर्तव रक्त का अधिक मात्रा में या अधिक समय तक आना तथा जिसके लक्षण प्रशस्त आर्तव (शशासृक् इत्यादि) से भिन्न हों वह 'असृग्दर' कहलाता है। रक्त की मात्रा, रक्त के आते रहने का समय आदि सभी प्रकार के असृग्दर में अंगमर्द (Bodyache), वेदना तथा रक्त के अत्यधिक मात्रा में आने से दुर्बलता,

भ्रम (Dizziness), मूर्च्छा (Unconsciousness), तम (श्वासः अथवा अन्धकारदर्शनम्/Blurring of vision), प्यास, जलन, प्रलाप (असम्बद्धभाषणम्/Delirium), रक्तन्यूनता (Anaemia), तन्द्रा (Drowsiness) और वातजन्य विकार आक्षेपकादि हो जाते हैं॥ १८-२०॥

असृग्दर का उपचार—यदि स्त्री तरुणी तथा पथ्य सेवन करने वाली हो और उपद्रव अल्प हों तो रक्तपित्तोक्त (Haemorrhagic disorders) विधि से चिकित्सा करनी चाहिए॥ २१॥

विमर्श—अत्यार्तव (Menorrhagia) और रक्तस्रावी गर्भाशयविकृति (Metropathia haemorrhagica) ये दो ऐसे विकार हैं जिनमें अपत्यपथ से रक्त अधिक आता है। अत्यार्तव में मासिकधर्म के समय रक्त अधिक मात्रा में (सामान्य 30-40 c.c.) आता है। यदि मासिक ठीक समय पर और अधिक समय तक रहने लगे, पर रक्त अधिक न आवे तो यह 'अत्यार्तव' नहीं है। सुश्रुत के 'अनृतावपि' कथन से यह प्रकट होता है कि 'असृग्दर' से अत्यार्तव और रक्तस्रावी गर्भाशयविकृति दोनों का ग्रहण होता है। अत्यार्तव के प्रमुख कारणों में स्थानिक हेतु नववृद्धि, प्रजनन अंग का शोथ तथा शरीरव्यापी कारणों में अन्तःस्रावी विकार का विशेष स्थान है। गर्भाशय की विकृतियों के कारण आने वाले अधिक रक्त के अत्यार्तव (Menorrhagia polymenorrhagia, polymenorrhoea) आदि रूप हो सकते हैं। इस प्रकार के रक्तस्राव का प्रमुख कारण डिम्बक्रिया में विकार आना है। ईस्ट्रीन की दीर्घकालीन क्रिया से अन्तर्गर्भाशय कला का अतिविकसन (Hyperplasia) होता है जिससे रक्तवाहिनियों का संकोच होता है और गर्भाशय से रक्त आने लगता है।

दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः।
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः। पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने॥ २२॥
क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम्। तथाऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत्॥ २३॥

अनार्तव (Amenorrhoea) **के लक्षण**—वात और कफ दोषों द्वारा (पित्त नहीं) जब मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं तो स्त्रियों को मासिकधर्म नहीं होता है (Menstruation is destroyed)। इस अवस्था के उपचार में भोजन में मछली, कुलत्थ, अम्ल पदार्थ, तिल, उड़द और मदिरा हितकर होते हैं। पीने के लिए गोमूत्र, उदश्वित् (आधा पानी मिला तक्र), दधि और शुक्त (Vinegar) पीने को दें॥ २२॥

अल्पार्तव (Oligomenorrhoea) **की चिकित्सा**—क्षीण (अल्प) आर्तव के लक्षण एवं चिकित्सा पहले (दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय नामक १५वें अध्याय में) बताये गये हैं। तो भी इसका उपचार नष्टार्तव की तरह करना चाहिए॥ २३॥

विमर्श—अनार्तव तीन प्रकार का है—१. शरीरक्रिया सम्बन्धी (Physiological), २. प्राथमिक (Primary) और ३. द्वितीयक (Secondary)। शरीरक्रिया सम्बन्धी अनार्तव; जैसे—गर्भावस्था, स्तन्यस्रवण (Lactation) और रजोनिवृत्ति (Menopause) के पश्चात्। प्राथमिक अनार्तव में स्त्री को एक बार भी मासिक नहीं होता है। द्वितीयक अनार्तव में पहले ठीक समय पर आने वाला आर्तव बन्द हो चुका होता है।

मासिक धर्म (आर्तव) के आने में गर्भाशय, डिम्ब-ग्रन्थियाँ (Ovaries), सन्मुखीन पिट्युट्री और केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र का परस्पर सहयोग अपेक्षित होता है। इनमें से किसी एक की खराबी से अनार्तव की स्थिति आती है। इस प्रकार अनार्तव इन प्रत्येक से सम्बन्धित होता है, जैसे गर्भाशयीय (Uterine) अनार्तव आदि।

अनार्तव के हेतु अनेक प्रकार के हैं; यथा—१. प्रजननांगों के विकार, २. शल्यकर्म के उपरान्त या रेडियोथेरापी, ३. शारीरिक गठन (Constitutional), ४. अन्तर्गर्भाशयकला के रोग और ५. वातावरण (Environmental) सम्बन्धी तथ्य। इसका उपचार कारणानुसार किया जाता है।

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च॥ २४॥

ऊपर बताये गये उपचार से शुक्रदोषों एवं आर्तवदोषों को दूर कर देने पर पुरुष अदुष्ट शुक्र और स्त्री शुद्धार्तवा हो जाती है ('पूर्वोक्तप्रकारेण अदुष्टशुक्रः पुरुषः, शुद्धार्तवा च स्त्री भवतीत्यत्राध्याहारः'–ड.)॥ २४॥

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्। किं कारणं? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद्दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रवणाद् बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्। दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासःसमलङ्कृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत्। तत् कस्य हेतोः ?॥ २५॥

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना। तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः॥ २६॥
ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्। कर्मान्ते च क्रमं ह्येनमारभेत विचक्षणः॥ २७॥

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामभिरभिविश्वास्य; विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः॥ २८॥

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै॥ २९॥
अतःपरं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः, त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः॥ ३०॥

ऋतु में पुत्रीय आचार—ऋतु (मासिक/Menstruation) के पहले दिन से ही स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे (Abandon coitus) और दिन में सोना, अञ्जन लगाना, आँसू गिराना, स्नान, अनुलेपन (Smearing of cream and powder), अभ्यंग, नखकर्तन (Paring), दौड़ना, हँसना, कथन (बहुत बोलना), अतिशब्द (तेज आवाज) का सुनना, अवलेखन (कङ्कतिकादिना केशसम्मार्जनम्/Combing hair), तेज हवा में रहना (Exposure to draughts) और व्यायाम (या कष्टकर कार्य/Exertion) का परित्याग करे। क्योंकि दिन में सोने से (गर्भाधान होने पर होने वाला शिशु) स्वापशील (Sleepy), अञ्जन (Collyrium) करने से अन्धा, रोने से दृष्टिविकार (Disordrs of vision), स्नान व अनुलेपन करने से दुःखी रहने वाला, तैल के अभ्यंग (Massage) करने से त्वग्विकार, नाखून काटने से नखरोग, दौड़ने से चंचल, हँसने से दाँत-होठ-तालु-जीभ श्याव रंग के, अधिक बोलने से प्रलापी (Garrulous child), तेज आवाज सुनते रहने से बहरा (Deaf), कंघी करने से गंजा (Bald), तेज हवा में रहने से तथा आयास से उन्मत्त (वातुलः/Insane) होता है, अतः स्त्री इनका परित्याग करे।

दर्भ या कुशा को बिछाकर उस पर शयन करने वाली, हविष्य (सघृतशस्योदनानि, क्षीरसंस्कृतं यवान्नमित्येके) को, हथेली, शराव (तस्तरी) या पत्तों पर रखकर भोजन करने वाली नारी को तीन दिन तक पति से अलग रखें (भर्तुः संरक्षेत् वैद्यः इति शेषः, तस्मै दर्शनमपि न दापयेदित्यर्थः)। तदनन्तर शुद्ध स्नान कराकर, चौथे दिन स्वच्छ एवं उत्तम वस्त्र पहनाकर, आभूषणों से सुसज्जित कर और मंगलाचार स्वस्तिवाचन कराकर (वैद्य) स्त्री को पति के दर्शन करायें ('नवे तनौ च सञ्जाते विगते जीर्णशोणिते। नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा')॥ २५॥

क्योंकि—ऋतुस्नाता (मासिकधर्म के उपरान्त शुद्धता के लिए जिसने स्नान कर लिया है वह) स्त्री सर्वप्रथम जिस व्यक्ति को देखती है वह उसी तरह के पुत्र को जन्म देती है। अतः उसको सर्वप्रथम उसके पति के दर्शन करावें। तदनन्तर उपाध्याय (Priest) पुत्रीय (पुत्रेभ्यो हितं पुत्रीयम्/Religious meausres for male child) विधान सम्पन्न करावें। उसके पश्चात् बुद्धिमान् पति निम्नलिखित क्रम को आरम्भ करे॥ २६-२७॥

पति अपराह्न में एक मास तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के उपरान्त घृत से स्निग्ध घृत-दुग्ध के साथ शाली चावलों का भोजन कर एक मास तक ब्रह्मचारी रहने वाली स्त्री से जिसने तैल से स्निग्ध होकर तैल और उड़द बहुल आहार का सेवन किया हो उसे सामादि तरीकों से आश्वस्त कर उसके साथ रात्रि को पुत्र की कामना करता हुआ सहवास करे। पुत्र की इच्छा से विचार कर (विकल्प्य, एषु दिवसेषु उत्तरोत्तरमायुरित्यादिकं विद्यादित्येवं विकल्प्य विचार्य) चौथी, षष्ठी, अष्टमी, दशवीं और बारहवीं रात्रि को सहवास करे॥ २८॥

इन रात्रियों (चौथी, छठी, आठवीं, दसवीं और बारहवीं) में किये गये सहवास से उत्पन्न पुत्र उत्तरोत्तर आयुष्मान् (Longer life), आरोग्य युक्त (Better health), प्रजावान् (Progeny), सौभाग्यशाली (Fortune), ऐश्वर्यवान् (Wealthy) और बलवान् (Strength) होता है॥ २९॥

यदि कन्या सन्तान की कामना हो तो (शुद्ध स्नान के पश्चात्) पाँचवीं, सातवीं, नौवीं और ग्यारहवीं रात्रि को स्त्री-सहवास करे। इस दृष्टि से त्रयोदशी आदि रात्रियाँ निन्द्य हैं॥ ३०॥

विमर्श—डल्हण ने अपनी 'निबन्धसंग्रह' व्याख्या में गयी का विस्तृत उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें 'पुत्रीय-आचार' का पूरा विवरण दिया हुआ है, जो वहीं द्रष्टव्य है।

ऋतुस्नाता के लिए जो दर्भसंस्तरशायिनी, करतलभोजिनी आदि नियम बताये हैं उनसे गर्भाधान, विशेषकर पुत्र ही होने में कितनी सफलता मिलती है, यह कहना कठिन है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि पति-पत्नी के प्रेममय जीवन में स्वस्थचित्तता एवं नीरोग स्नेहसिक्त सहवास में गर्भाधान की सम्भावना हो सकती है। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी गर्भाधान के लिए जो कुछ अनिवार्य है वँह एक पृथक् ही तथ्य है। इसकी झलक अगले एक सूत्र में मिलती है ('ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्यात् गर्भः स्याद् विधिपूर्वकः। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा'–सु.शा. २।३३)।

सम (४, ६, ८ और १०) रात्रियों में सहवास से पुत्र और विषम (५, ७, ९ और ११) रात्रियों में पुत्री जन्म की तथा पुंसवन संस्कार से 'पुत्र ही होने' का सिद्धान्त वैज्ञानिक परीक्षण की अपेक्षा रखता है। सम्प्रति, 'गुणसूत्री सिद्धान्त' (Chromosomal theory of sex-determination) कुछ दूसरी ही बात कहता है। इसके अनुसार लिंग (Sex) भी एक आनुवंशिक लक्षण है और कायिक लक्षणों (Somatic character) की भाँति लैंगिक लक्षण (Sexual character) भी गुणसूत्रों द्वारा वंशानुगत होते हैं। समस्त पृथुलिंगी प्राणियों की कोशिकाओं में दो प्रकार के गुणसूत्र होते हैं— 1. Autosomes or Somatic chromosomes तथा 2. Allosomes or Sex cromosomes

शुक्रजनन (Spermatogenesis) के फलस्वरूप पुरुष में दो प्रकार के शुक्राणु बनते हैं—आधे वे जिनमें एक्स-गुणसूत्र होता है और आधे वे जिनमें वाई-गुणसूत्र होता है। इसके विपरीत स्त्री के सभी डिम्ब (Ovum) संरचना और गुणों में एक समान होते हैं और इनमें एक्स-गुणसूत्र होता है। निषेचन के समय यदि एक्स-गुणसूत्र वाला शुक्राणु डिम्ब में मिलता है तो समान गुणसूत्र (एक्स-एक्स) होने के कारण सन्तान लड़की होगी और यदि वाई-शुक्राणु से डिम्ब मिलता है तो एक्स-वाई गुणसूत्रों के कारण सन्तान लड़का होगी।

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते; द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा; तृतीयेऽप्येवमसम्पूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति; चतुर्थे तु सम्पूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति। न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेतद् द्रष्टव्यम्। तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत्। अतःपरं मासादुपेयात्॥ ३१॥

मासिकधर्म में मैथुन हानिकर—मासिकधर्म होने के पहले दिन स्त्री से मैथुन करने वाले की आयु अल्प होती है। यदि उसमें गर्भ ठहर जाता है तो उसकी पैदा होते ही मृत्यु हो जाती है, दूसरे दिन मैथुन से गर्भ ठहरने पर शिशु की मृत्यु प्रसव वाले दिन या सूतिकागृह में ही हो जाती है, तीसरे दिन ठहरे गर्भ की भी इसी प्रकार मृत्यु होती है अथवा उसके अंग-प्रत्यंग पूरी तरह विकसित नहीं हुए होते हैं, अतः वह अल्पायु है; चौथे दिन मैथुन से ठहरा गर्भ परिपूर्णांग होता है अतः वह दीर्घायु होता है।

मासिक के समय शुक्र-निषेचन निरर्थक—आर्तव के आते रहने पर शुक्र-निषेचन उसी प्रकार निरर्थक है (अथवा बाहर निकल आता है) जिस प्रकार नदी की धारा में विपरीत दिशा को फेंका काष्ठादि प्लाविद्रव्य (प्रतरणशीलं वस्तु) लौटकर आ जाता है, ऊपर को नहीं जाता है, उसी तरह समझना चाहिए। अतः आर्तव आने के तीन दिन (या जब तक आर्तव आ रहा हो) स्त्री से सम्भोग न करे, उसके उपरान्त महीना भर (अगला मासिक आरम्भ होने तक) सहवास करे॥ ३१॥

विमर्श—मासादुपेयात्—आर्तव काल में स्त्री-सम्भोग वर्जित है। किन्तु उसके उपरान्त मैथुन कब तक करते रहना चाहिए? इसका निर्देश 'मासादुपेयात्' में किया गया है। पर इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हैं। जो यह मानते हैं कि 'पुत्रार्थं क्रियते भार्या' उनके अनुसार सुरत-सेवन महीने-महीने में करना चाहिए, क्योंकि आर्य-संस्कृति में 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' का महत्त्व है। पर चिकित्साशास्त्र में अतिमैथुन तो निषिद्ध है परन्तु 'प्रकामं च निसेवेत मैथुनं शिशिरागमे' (च.) जैसे उल्लेख भी हैं।

गर्भाधान की सर्वाधिक सम्भावना—'The best chance of pregnancy lies in the third week and the least chance in the first week of the menstrual cycle' (C.C.C.)

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गसहदेवाविश्वदेवानामन्यतमां क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठीवेत्॥ ३२॥

पुत्र-सन्तान प्राप्ति के उपाय (Remedies for conceiving a male foetus)—इन दिनों जिस स्त्री के गर्भाधान हो गया है वह पुत्रप्राप्ति की इच्छा से अपने दाहिने नासापुट (Nostril) में (रात के समय) निम्नलिखित औषधियों में से किसी एक को दूध में पीसकर उसकी तीन-चार बूँद डाल लें, गले में आ जाने पर इसे थूके नहीं (कन्या की कामना हो तो इन बूँदों को वाम नासापुट में डाले)— १. लक्ष्मणा ('पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छिता सदा। लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्' —यह लक्ष्मणा की पहचान है पर ऐसा कोई पौधा अभी तक नहीं मिला है), २. वटशुङ्ग (वटप्ररोहाः), ३. सहदेवा (पीतपुष्पा/कंघी), ४. विश्वदेवा (गाङ्गेरुकी/गुडशकरी)॥ ३२॥

विमर्श—डल्हण के (तन्त्रान्तर के उद्धरण के) अनुसार इस पुंसवन संस्कार के पाँच दिन तक स्त्री दूध-भात का सेवन करे, तदनन्तर ग्राम्यधर्म विहित है। डल्हण के अनुसार पुत्रापत्यजननार्थं स्थितगर्भा के तीन मास के अन्दर-अन्दर 'नस्यदान' करना चाहिए ('स्थितगर्भायाश्च मासत्रयाल्पान्तरे पुत्रापत्यजननार्थं नस्यदानमिति')।

सूत्र ३० के विमर्श में यह स्पष्ट होता है कि 'पुत्र होगा या पुत्री?' इसका निर्णय डिम्ब और शुक्राणु के संयोग के समय ही हो जाता है।

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकम्। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा॥

गर्भधारण के लिए आवश्यक—जिस प्रकार ऋतु (वसन्तादि), क्षेत्र (भली प्रकार तय्यार किया गया खेत), जल (समय-समय पर पानी मिलते रहने से) और स्वस्थ बीज (इन चारों के संयोग) से स्वस्थ अंकुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ऋतु (अङ्गनायाः रजःसमयः), क्षेत्र (गर्भाशयः), अम्बु (पुनराहारपाकजो व्यापी रसधातुः) और बीज (स्त्रीपुंसयोरार्तवशुक्रे) इन चारों के संयोग से निश्चित ही गर्भाधान-प्रक्रिया भली प्रकार सम्पन्न होती है॥ ३३॥

एवं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः। भवन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणे हिताः॥ ३४॥

विधिपूर्वक हुए गर्भाधान का फल—इस प्रकार (ऋतु, क्षेत्र, अम्बु, बीज इन चारों से) उत्पन्न पुत्र रूपवान् (Handsome), महासत्त्व (रजस्तमोभ्यामनभिभूताः/Virtuous), चिरायु और पितृ-ऋण से मुक्त करने वाले तथा पिता के लिए हितकर होते हैं॥ ३४॥

विमर्श—महासत्त्व—अतिशय सात्त्विक गुणों से युक्त। ये गुण हैं—विवेक, क्षमा, सन्तोष, मृदुता, दया, लज्जा, सरलता, मन तथा इन्द्रियों की निर्मलता आदि।

पुत्र—'पुत्रः पुरु त्रायत इति पुत्रः; बह्वपि यत् पित्रा पापं कृतं भवति ततोऽयं त्रायत तमिति पुत्रः' (यास्कः)। 'पुत् नाम्नः नरकात्त्रायत इति पुत्रः'। **ऋणस्य मोक्तारः**—ऋण तीन प्रकार के हैं—देव, पितृ और ऋषि-ऋण; पुत्र इन ऋणों से पिता को मुक्त करने वाले बताये गये हैं (यज्ञ द्वारा देव-ऋण, सन्तान द्वारा पितृ-ऋण और स्वाध्याय से ऋषि-ऋण)।

तत्र तेजोधातुर्वर्णानां प्रभवः, स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्। यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते। तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति॥ ३५॥

गर्भ के विभिन्न वर्णों के हेतु—गर्भ के (सभी प्रकार के) वर्णों का कारण तेजोधातु है। वह गर्भाधान (Conception) काल में यदि अप्-धातु की अधिकता वाला होता है तो गर्भ (Foetus) को गौर वर्ण का कर देता है; पृथिवी धातु की अधिकता होने पर गर्भ का वर्ण कृष्ण; पृथिवी-आकाश धातु की अधिकता में कृष्ण-श्याम और जल एवं आकाश धातु के आधिक्य में गौर-श्याम वर्ण का गर्भ होता है। कुछ विचारकों की सम्मति में गर्भिणी जिस वर्ण के आहार का सेवन करती है उसके गर्भ का वही रंग होता है। यदि तेजोधातु दृष्टि भाग को न प्राप्त हो तो शिशु जन्मान्ध होता है, तेजोधातु के रक्तधातुगत होने से रक्ताक्ष (Red eyes), पित्तगत हो तो पिङ्गाक्ष (Yellow eyes), श्लेष्मगत होने पर शुक्लाक्ष और वातगत हो तो विकृताक्ष (Deformed eyes) होता है॥ ३५॥

विमर्श—

गर्भवर्ण (Colour of foetus)

	आधिक्य (Predominence)	गर्भवर्ण
तेजोधातु	अप्-धातु का आधिक्य	गौर वर्ण
	पृथिवी-धातु का आधिक्य	कृष्ण वर्ण
	पृथिवी-आकाश का आधिक्य	कृष्ण-श्याम वर्ण
	जल-आकाश का आधिक्य	गौर-श्याम वर्ण

नेत्रवर्ण (Colour of Eyes)

तेजोधातु

कारण	परिणाम
दृष्टिभाग को प्राप्त न हो तो	जन्माध
रक्तधातु को प्राप्त हो तो	रक्ताक्ष
पित्तानुगत हो तो	पिङ्गलाक्ष
कफानुगत हो तो	श्वेताक्ष
वातानुगत हो तो	विकृताक्ष

भवन्ति चात्र—

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते। विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे।। ३६।।

सम्भोग काल में आर्तव-विसर्जन—जिस प्रकार अग्नि के आश्रित घृतपिण्ड पिघल कर फैल जाता है, उसी प्रकार पुरुष-समागम के समय स्त्रियाँ भी आर्तव का विसर्जन करती हैं।। ३६।।

विमर्श—आर्तव के दो प्रकार का होने की चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रतिमास आने वाला आर्तव और स्त्रीबीज (Ovum) आर्तव आचार्यों ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। देखें सूत्र १७ का विमर्श।

होता यह है कि डिम्बपुटक (Graafian folicle) के विदीर्ण होने पर डिम्ब (स्त्रीबीज/Ovum) का बाहर आना डिम्बक्षरण (Ovulation) कहलाता है। ऐसा मासिकधर्म के प्रथम दिन से १३-१७ (औसतन १४) दिन के समय में होता है। डिम्ब डिम्बप्रणाली से बाहर आते हुए शुक्राणु से मिलकर गर्भाशय में आ जाता है। यदि डिम्ब-शुक्राणु मिलन नहीं होता है तो डिम्ब मर जाता है और मासिक रक्त (आर्तव) के साथ बाहर निकल जाता है।

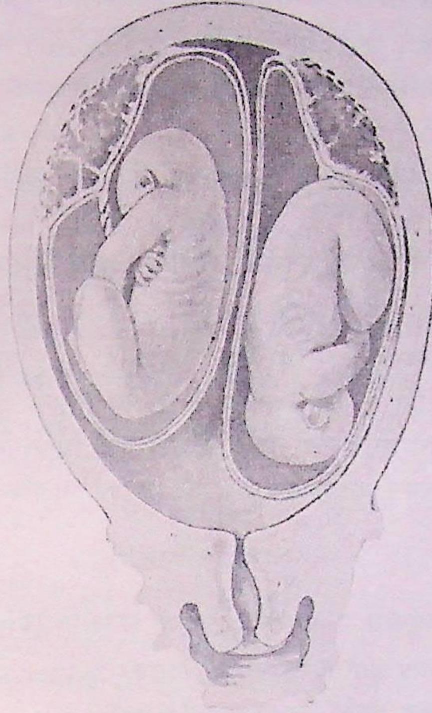
डिम्बग्रन्थियों में लगभग सत्तर हजार डिम्ब होते हैं। मासिकधर्म के समय प्रायः एक डिम्ब बाहर आता है। मासिक आर्तव से गर्भाधान नहीं होता है ('योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। तन्न गर्भस्य किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते'–वाग्भट)।

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ। यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ।। ३७।।

गर्भद्वयोत्पत्ति के सिद्धान्त (Theory of twin birth)—जब अन्तर्वायु द्वारा बीज (Zygote) दो भागों में विभक्त हो जाता है तो दो अधर्मप्रेरित जीव (Unrighteous souls/धर्मेतरपुरःसरौ) उनमें आ जाते हैं। इनको यमौ (Twins) कहते हैं।। ३७।।

विमर्श—यमौ—दो बच्चे एक साथ होने की घटना प्रति ८० गर्भावस्थाओं में एक, तीन बच्चों के एक साथ होने की प्रति ६००० में एक और चार बच्चों के एक साथ होने की घटना प्रति ५००,००० गर्भावस्थाओं में एक होती है। एक साथ अनेक बच्चों का होना आनुवंशिक (Inherited tendency) समझा जाता है। पैंतीस-चालीस वर्ष की स्त्री में युगलजनन (Twin) के होने की सम्भावना अधिक होती है।

यमल (Twins) एकडिम्बी (Uniovular) या दो डिम्बी (Binovular) भेद से दो प्रकार के होते हैं। एकडिम्बी यमल एक ही डिम्ब से होते हैं। यह डिम्ब निषेचन (Fertilization) के उपरान्त दो भ्रूणों (Embryos) में विभक्त हो जाता है ('बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने'–सु.)।



चित्र सं० १ : द्विडिम्बी यमल (Binovular twins)
('बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ। यमावित्यभिधीयेते')
इस चित्र में यह दिखाया गया है कि दोनों भ्रूणों की अपरा (Placenta), उल्व (Amnion)
और जरायु (Chorian) अलग-अलग हैं।

Uniovular twins are developed from a single ovum, which after fertilization, has undergone complete division to form two embryos—T.T.'s Obsterics.

धर्मेतरपुरःसरौ—गयी तु—'धर्मेतरोऽधर्मः, तत्पुरःसरौ अधर्मगामिनौ, न तु धर्मपुरःसरौ, यतः श्रुतिस्मृतिषु अधर्मादेव यमोत्पत्तिरिष्टाः, अत एव तदुत्पत्तौ प्रायश्चित्तमप्युपदिष्टमिति व्याख्याति'। चरकेऽपि—'भिनत्ति यावद् बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः। तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात्प्रसूते'॥ (शा. २।१४) 'यावद् बहुधा भिनत्तीति, यावतीं बहुसंख्यां करोतीति चतुःपञ्चादिरूपाम्' (च.पा.)।

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्। स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम्॥ ३८॥

आसेक्य का हेतु एवं लक्षण—माता-पिता के अल्पवीर्य (Scanty/Defective parental germ cells) होने से उत्पन्न सन्तान 'आसेक्य' नामक नपुंसक (Impotent) कहलाती है। उसको ध्वजोच्छ्राय (Errection of penis) शुक्र (Semen) के प्राशन के बाद होता है॥ ३८॥

विमर्श—आसेक्य को वाग्भट ने 'वक्रध्वज' और चरक ने 'वक्री' कहा है।

डल्हण के अनुसार—'स शुक्रं प्राश्येति, सः पुरुषो निजमुखेन व्यवायं कारयित्वा ततः तिक्तं शुक्रं प्राश्य आस्वाद्य ध्वजोच्छ्रायं लिङ्गोत्थानं लभते। आसेक्यनामाऽयं षण्डो मुखयोन्यपरपर्यायः'।

पाश्चात्य वैद्यक में आसेक्य 'Fellatio' कहा जा सकता है। इसका अर्थ है—'An act of sexual pervertion in which the penis is introduced into the mouth of another.'

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः। स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम्॥ ३९॥

सौगन्धिक नपुंसक—जो (पुरुष) पूतियोनि (Foul genitalia) से पैदा होता है वह 'सौगन्धिक' कहलाता है। ऐसा पुरुष योनि और शिश्न (Penis) की गन्ध को सूँघकर (शिश्न) बल को प्राप्त कर पाता है॥ ३९॥

विमर्श—डल्हण ने सौगन्धिक षण्ड का दूसरा नाम 'नासायोनि' बताया है ('सौगन्धिकनामा षण्डो नासायोन्यपरपर्यायः')।

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते। कुम्भीकः स च विज्ञेयः—

कुम्भीक या षण्ड नपुंसक—जो स्त्रियों से गुदमैथुन करता है वह 'कुम्भीक' नामक षण्ड या नपुंसक है।

विमर्श—इस सूत्र के स्पष्ट अर्थ में 'स्वे' शब्द बाधक है। इसी हेतु इसके कई तरह के अर्थ किये गये हैं—'पुरुषवत् व्यवायं करोति स कुम्भीकनामा षण्डो ज्ञेयः। अन्ये तु प्रथमं स्त्रीषु विषये तासामेव स्वकीयगुदविवरे पशुवत् पृष्ठभागे शिथिलेनैव मेहनेन प्रवर्तते। किं निमित्तमित्याह—अब्रह्मचर्यात् क्लैब्यात् सञ्जातशुक्रस्याप्रवृत्तित्वात्। यतस्तस्य अनया विप्रकृत्या ध्वजोच्छ्रायः सञ्जायते' (ड.)। डल्हण के अनुसार इसका दूसरा नाम 'गुदयोनि' है।

—ईर्ष्यकं शृणु चापरम्॥ ४०॥

दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते। ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः—

ईर्ष्यक नपुंसक—जो पुरुष दूसरे को व्यवायरत देखकर (After seeing the intercourse of others) मैथुन में प्रवृत्त होता है वह 'ईर्ष्यक' नामक षण्ड है॥ ४०॥

विमर्श—डल्हणानुसार ईर्ष्यक का दूसरा नाम 'दृग्योनि' है।

—षण्डकं शृणु पञ्चमम्॥ ४१॥

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते। ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः॥ ४२॥

षण्डक नपुंसक—इसके उपरान्त षण्डक नामक क्लीब का वर्णन किया जायेगा। जो पुरुष ऋतुकाल में अपनी स्त्री से स्त्री की तरह समागम करता है उससे उत्पन्न पुत्र स्त्री की तरह चेष्टा करने वाला तथा आकृति में भी स्त्री के समान होता है। उसका नाम षण्ड(क) है॥ ४१-४२॥

विमर्श—सामान्य नियम है कि—'स्त्री उत्ताना सती वीर्यं गृह्णीयात्' (च.), परन्तु कामातुरता में इससे विपरीत आसन को अपनाना वात्स्यायन के अनुसार 'पुरुषायित' कहलाता है।

'षण्डक' के सम्बन्ध में डल्हण का मत इस प्रकार है—'यः पुमान् मोहवशादृतौ भार्याविषये अङ्गनावदुत्तानो भूत्वा व्यवाययति, ततः स्त्रीचेष्टिताकारः षण्डो जायते। स पुमान् स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च अधोभूतः स्वमेढ्रस्योर्ध्वप्रदेशे अपरपुरुषात् वीर्यच्युतिं कारयति'।

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता॥ ४३॥

नरचेष्टिता कन्या—इसी प्रकार यदि ऋतुकाल में स्त्री पुरुष की तरह (अपने आप को ऊपर और पुरुष नीचे) व्यवाय में प्रवृत्त होती है और गर्भाधान होकर कन्या जन्म लेती है तो वह नरचेष्टिता (पुरुष की तरह क्रिया करने वाली) होती है॥ ४३॥

विमर्श—डल्हण ने इस सूत्र का कुछ भिन्न ही अर्थ किया है—'यत्र पुनरबला पुरुषमधः कृत्वा व्यवायं कुरुते तत्र कन्या भवति। सा नरचेष्टिता। स्त्रीरूपापि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तद्योनौ स्वयोनिघर्षणं करोति'।

नरचेष्टिता का अर्थ 'नरवत् चेष्टां कार्यादिकं करोतीति या सा नरचेष्टिता' करने की सम्भावना भी है। ऐसा देखने में आता भी है कि कुछ स्त्रियों में पुरुषों के से गुणों का बाहुल्य होता है; जैसे—अबला

न होकर प्रहारक मनोबल रखना, कुश्ती लड़ना, युद्ध में शामिल होना, गोताखोरी में हिस्सा लेना आदि। पर इसका उपरोक्त सूत्र से सम्बन्ध टिकाऊ नहीं लगता है। प्रसंग भी 'षण्ड-वर्णन' का है।

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा। सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्डसंज्ञितः॥ ४४॥

यह उपरोक्त पाँच प्रकार के क्लीबों के वर्णन का संक्षेप इस प्रकार है—आसेक्य, सुगन्धी, कुम्भीक और ईर्ष्यक नामक षण्ड वीर्ययुक्त (Capable of discharging semen) होता है परन्तु षण्ड(क) नामक क्लीब अशुक्र (Without semen) होता है॥ ४४॥

विमर्श—शुक्ररहित (बीजरहित) पुरुष Sterile (Free from germs) कहलाता है।

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः। हर्षात् स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत्॥

इन क्लीबों में ध्वजोच्छ्राय का हेतु—इस तरह की विप्रकृतियों ('विरुद्धया विशिष्टया वा प्रकृत्या' अथवा विपरीत रतियों/Unnatural acts) से शुक्रवह सिराएँ स्फुटित अर्थात् फूल जाती हैं (Engorged) और उसके पश्चात् इन चार शुक्रसहित षण्डों में ध्वजोच्छ्राय (Erection of penis) होता है॥ ४५॥

विमर्श—चरक (शा. २।२१) ने दोनों वृषणों के नष्ट होने की स्थिति को 'वातिक षण्डक' कहा है ('वाय्वग्निदोषात् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः')। चरक में नरषण्ड की तरह नारीषण्ड का भी उल्लेख है ('नरनारिषण्डौ'–शा. २; 'नरषण्डो नारिषण्डश्च नरनारिषण्डौ'–च.पा.)।

'प्राकृतिक सुरत-प्रक्रिया' (Normal sexual behaviour) की परिभाषा करना कठिन है, क्योंकि समय-समय पर बदलती रहने वाली यह क्रिया भिन्न-भिन्न संस्कृति, भिन्न-भिन्न सभ्यताओं, भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के, भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों, जातियों, उपजातियों में अलग-अलग ढंग की पायी जाती है। कुछ निश्चित सुरत-विधियों (Sexual practices); जैसे—योनिचूषण (Cunnilingus), मुखमैथुन (Fellacio) और गुदमैथुन (Sodomy) का सभ्य समाज में बिलकुल अप्रचलन नहीं है (Are not rarely observed) है। अतः 'प्राकृतिक सुरत-प्रक्रिया' का निर्णय व्यक्तिगत सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। आयु भी एक पृथक् कारक है।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥ ४६॥

सन्तान में काय, वाक्, मन के भेदों का हेतु—(काय, वाक्, मन की जो प्रति व्यक्ति भिन्नता पायी जाती है उसके हेतुओं का उल्लेख इस सूत्र में किया गया है—) स्त्री-पुरुष सुरत के समय में जिस प्रकार के आहार (Diets), आचार (Behaviour) और चेष्टाओं (Actions) से युक्त होते हैं उनके पुत्र (सन्तान) उसी प्रकार के होते हैं॥ ४६॥

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चतः शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते॥ ४७॥

अनस्थि भ्रूण का हेतु—(जब पाप अतिशय होते हैं तो षण्ड सन्तति से भी अधिक निकृष्ट सन्तान उत्पन्न होती है—) जब रति की कामना से दो स्त्रियाँ (Passionate women/वृषस्यन्त्यौ, रतार्थिन्यौ) परस्पर संयोग कर एक-दूसरे की योनि में स्त्री-शुक्र का क्षरण करती हैं इससे अनस्थि भ्रूण (Boneless foetus) (ईषदर्थे नञ्, तेन कोमलास्थिः) उत्पन्न होता है॥ ४७॥

विमर्श—दो स्त्रियों का परस्पर मैथुन करना सम्भव है पर केवल स्त्रीशुक्र से सन्तानोत्पत्ति या गर्भाधान सम्भव नहीं है। इसी हेतु कुछ बुधजन इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं।

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत्। आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि॥ ४८॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्। कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः॥ ४९॥

कलल की उत्पत्ति—ऋतु (मासिकधर्म) के स्नान के उपरान्त यदि कोई स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है तो वायु प्रकुपित होकर आर्तव (Ovum) को लेकर उसे गर्भाशय में भ्रूण में बदल देती है। यह इस गर्भिणी के गर्भलक्षणों के साथ प्रतिमास वृद्धि को प्राप्त होता रहता है और अन्त में यह पैतृक गुणों ('केशश्मश्रुलोमनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतिभिः') से रहित (Devoid of paternal qualities) 'कलल' कहलाता है।। ४८-४९।।

विमर्श—पहले वर्णित किया जा चुका है कि गर्भधारण स्त्रीबीज (Ovum) और पुंबीज (Sperm) के संयोग से ही गर्भाशय में सम्भव है। डल्हणानुसार इन दोनों श्लोकों को जेज्जटाचार्य प्रक्षिप्त मानते हैं।

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये। गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृतो भृशम्।। ५०।।
गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते। भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव वा।। ५१।।

कुरूप गर्भ (Foetal abnormalities) **तथा उनके कारण**—सर्प, बिच्छू, कूष्माण्ड (Gourd) के आकार की गर्भविकृतियाँ (Monstrosities) उन स्त्रियों में होती हैं जो भयंकर पापों (पापकृता भृशम्/Deadly sins) से युक्त होती हैं। इसी प्रकार वातप्रकोप के कारण अथवा गर्भिणी को दौहृदों की प्राप्ति न होने पर (Non-fulfilment of longings during pregnancy) उत्पन्न शिशु कुब्ज (Hump on the back), कुणि ('कुकरे कुणिः'–अ.को.; Defective arm), पंगु ('पंगुः सक्थ्न्योर्द्वयोर्वधात्'–मा.; दोनों टाँगों का वध), मूक (Dumb) और मिन्मिन (Indistinct speech) होता है।। ५०-५१।।

मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः। वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात्।। ५२।।

विकृत गर्भ का हेतु—(क्या अपने पापकर्मों से ही उपरोक्त गर्भविकृतियाँ होती हैं? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है—) माता-पिता की नास्तिकता ('नास्ति परलोक इत्यादि मतिर्येषां ते नास्तिकाः, तेषां भावो नास्तिक्यम्') और पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों से तथा वातादि दोषों के प्रकोप से गर्भ विकृति को प्राप्त होता है।। ५२।।

विमर्श—सर्प-वृश्चिकादि या Monstersity तथा कुणि, पंगु आदि सहज विकृतियों का कारण भली प्रकार ज्ञात नहीं है। पूर्वजन्मकृत पापकर्मों को इनका हेतु मानने के पीछे भी यही तथ्य प्रतीत होता है। जन्मजात विकारों में 'दौहृदविमानन' का भी प्रमुख स्थान है (The cause of congenital abnormalities remains doubtful)।

'A possible cause of congenital defects may be a disturbance in the nutrition or metabolism of the foetus during the early weeks of intra-uterine life'—Obstetrics by T.T.

कुछ प्रमुख सहज विकृतियाँ इस प्रकार हैं— १. रुबेला (Rubella) संलक्षण, २. श्वासनली-ग्रासनली नालव्रण (Fistula), ३. बद्धोदर, ४. मलद्वार-अछिद्रता, ५. खण्डौष्ठ-खण्डतालु, ६. उन्नत-अन्तर्नत टैलिपेस (Talipes equino-varus) तथा ७. जलशीर्ष आदि।

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च। वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि।। ५३।।

गर्भ में मलादि का त्याग न करने में हेतु—(गर्भस्थ शिशु मल-मूत्रादि का परित्याग क्यों नहीं करता है? इसके उत्तर में बताया गया कि—) मलादि की मात्रा अल्प होने और पक्वाशय की वायु का निष्क्रियता के कारण गर्भस्थ भ्रूण (Foetus), वात, मूत्र और पुरीष (Faeces) का विसर्जन नहीं करता है।। ५३।।

विमर्श—पुरीष और अपानवायु (Flatus) आहारपथ (Alimentary system) में होते हैं और मूत्र 'Urinary system' में बनता है। भ्रूण का पाचनतन्त्र कार्य नहीं करता है तथा श्वसनतन्त्र भी निष्क्रिय रहता है। यद्यपि भ्रूण के रक्त की शुद्धि माता के रक्त से होती है तथापि मूत्रवह तन्त्र यदा-कदा कार्य करता रहता है, क्योंकि गर्भोदक में कभी-कभी यूरिया पाया जाता है।

पक्वाशयस्थ वायु भुक्त अन्न के सड़ने से उपजती है। भ्रूण का पाचनतन्त्र क्रियारहित होता है। इसी हेतु 'अयोगात्' शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु भ्रूण की कोशिकाएँ टूटती-गिरती रहने से भ्रूण की आँतों में 'पुरीष' (Meconium/जातविष्ठा) पायी जाती है (Although it has been stated that the placenta digests and excretes for foetus, the gastro-intestinal tract is active during intra-uterin life. Liquor amnii contains lanugo, hair and epithelium cells shed from the foetal skin. During the later months of pregnancy, liquor is swallowed by the foetus. Mucus and debrided intestinal epithelium are added to the gut content and, with the swallowed liquor, are digested by intestinal ferments to create meconium. Obstertrics by T.T.)।

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते। वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्रोरोदिति॥५४॥

गर्भस्थ शिशु के न रोने में हेतु—(गर्भस्थ भ्रूण रोता क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हुए बताया गया है कि—) भ्रूण का मुख जरायु (Membrane) से ढका होने तथा गले के कफवेष्टित (Covered) होने से वायुमार्ग अवरुद्ध होता है। अतः गर्भस्थ भ्रूण रोता नहीं है॥५४॥

निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसम्भवान् ॥५५॥

गर्भ का श्वास लेना और निद्रा माता के माध्यम से—गर्भस्थ भ्रूण निःश्वास (Expiration), उच्छ्वास (Inspiration), संक्षोभ (संचलनम्/Sensation) और नींद माता के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा नींद से ही प्राप्त करता है॥५५॥

विमर्श—माता भ्रूण को क्या-क्या सुविधाएँ प्रदान करती हैं, इसका विवरण देखिए—

"Upto the moment of delivery, the foetus lives a parasitic existence. The placenta 'Breathes; Digests and Excretes' for the foetus and permits the vital functions of respiration and digestion to remain latent. Protection against trauma, infection and heat loss is afforded by the surrounding maternal tissues."—Obstetrics by T.T.

जहाँ तक गर्भाशय में भ्रूण द्वारा साँस लेने का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में नवीनतम तथ्य इस प्रकार है—

"It has been demonstrated that the foetus in utero rehearses the movements of respiration to a point just short of expansion of the chest and lungs."—Obstetrics by T.T.

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः॥५६॥

हस्ततलादि में बाल न आना आदि का हेतु स्वभाव—भ्रूण के शरीर की बाह्य और आभ्यन्तर रचना ('सन्निवेशः शरीराणां शरीरावयवादीनां चरणादीनां सन्निवेशः रचनाविशेषः'), दाँतों का उगना और गिरना (Growth and falling off of teeth) तथा हस्ततल (Palms) एवं पादतल (Soles) में बालों का न होना स्वभाव (Nature) से है॥५६॥

विमर्श—'कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणां च। माधुर्यमिक्षौ कटुता मरीचे, स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम्'॥ 'निबन्धसंग्रह' व्याख्या से उद्धृत)

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः। भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५७॥

जातिस्मर का लक्षण—पूर्वदेहों (In the previous life/अतिक्रान्तशरीरेषु) में शास्त्रज्ञान से निरन्तर परिपूर्ण और जो सत्त्व गुण की अधिकता से युक्त हैं ऐसे व्यक्ति पूर्व जातिस्मर ('पूर्वामतिक्रान्तामपि जातिं स्मरन्ति') कहलाते हैं॥ ५७॥

विमर्श—जातिस्मर के सम्बन्ध में चरक का कथन—''यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति। स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो 'जातिस्मर' इत्युच्यते'' (शा. ३।१९)।

'जातिस्मर' होने के लिए—१. पूर्वजन्म में ज्ञान-विज्ञानादि से युक्त होना, २. निरन्तर शास्त्र-अनुशीलन की बुद्धि और ३. सात्त्विक गुणों की अधिकता—इन तीन विशेषताओं का होना आवश्यक है।

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे। अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥५८॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥



पुनर्जन्म में किये कर्मों का फल—पूर्वजन्म में किये कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म में प्राप्ति होती है। पूर्वजन्म में संचित गुणों को ही मनुष्य पुनर्जन्म में प्राप्त करता है॥ ५८॥

विमर्श—'काये योऽसौ शरीरसन्निवेशादिः तथा दोषकोपेन कुब्जखञ्जादि तथा मूकमिन्मिनत्वादि मनसि च शास्त्रज्ञानपूर्वजातिस्मरणं सर्वमेव स्वभावादिसिद्धमपि कर्मणैव' (ड.)।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'शुक्रशोणितशुद्धिशारीर' नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ २॥



अध्याय-सारांश

'शुक्रशोणितशुद्धिशारीर' नामक इस अध्याय में—प्रजोत्पादन में असमर्थ शुक्र के दोष एवं उनके लक्षण (३-४); इसी प्रकार आर्तव के दूषित होने के हेतु एवं उनकी असाध्यता (५); शुक्रदोषों की चिकित्सा (७-११); स्वस्थ शुक्र का लक्षण तथा आर्तवशुद्धि के उपाय (१२-१६); शुद्ध आर्तव का लक्षण (१७); असृग्दर की पहचान एवं दोषदुष्टि के लक्षण और उसका रक्तपित्त सदृश उपचार (१७-२१); आर्तवनाश का हेतु, पथ्य, क्षीण आर्तव सदृश उपचार (२२-२३); ऋतुकाल में पुत्रीय आचार का विस्तृत विवरण (२५-३०); सन्तान की कामना से चतुर्थ दिवस में स्त्रीगमन स्तुत्य (३१), लब्धगर्भा की परिचर्या, गर्भ के प्रति ऋतु, क्षेत्र, अम्बु और बीज चारों उत्तरदायी (३१-३३); गर्भ के वर्ण के हेतु (३५); गर्भद्वय की उत्पत्ति में हेतु (३७); आसेक्यादि षण्डों का उल्लेख (३६-४४), कललोत्पत्ति (४९), कुब्ज, कुणि आदि विकृतियों के कारण, गर्भ का मल-मूत्र त्याग न करने में कारण, निःश्वासोच्छ्वास न लेने का हेतु (५१-५५)।



तृतीयोऽध्यायः

अथातो गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'गर्भावक्रान्तिशारीर' (Anatomical Considerations of Fertilisation and Development of the Foetus) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'गर्भावक्रान्ति' शब्द का अर्थ है—'गर्भस्यावक्रान्तिः मेलकः उत्पत्तिरित्यर्थः' ('च.पा.) और गर्भ की व्याख्या डल्हण ने इस प्रकार की है—'अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्मूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते'। अर्थात् गर्भ की उत्पत्ति का वर्णन 'गर्भावक्रान्ति' है और गर्भाशय में शुक्र-शोणित संयोग जो सजीव (आत्मा) तथा जड़ (प्रकृति) के विकार का परिणाम है, 'गर्भ' कहलाता है।

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात् (परानुग्रहात्)परस्परानुप्रवेशाच्च ॥ ३ ॥

शुक्र-शोणित संयोग पञ्चभूतात्मक है—शुक्र सौम्य (जल महाभूत की अधिकता वाला) और आर्तव आग्नेय (तेजो महाभूत की अधिकता वाला) है। किन्तु इनमें सूक्ष्म रूप में अन्य महाभूतों के गुण भी होते हैं। ये महाभूत (पृथिवी, वायु, आकाश) सूक्ष्म प्रकार से परस्पर उपकारक, परस्पर अनुग्रह और एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर सम्मिलित होते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—जिस प्रकार प्रज्वलित दीप में अग्नि, तैल आदि परस्पर विरोधी होने पर भी एक-दूसरे के उपकारक होकर कार्यकर होते हैं उसी प्रकार पञ्चमहाभूत परस्पर विरोधी होने पर भी सत्त्व-रज आदि गुणों की तरह एक-दूसरे के उपकारक ('भूजलानिलानलाकाशानां धारणसंहननपरिणामव्यूहावकाशादानैः परस्परमुपकारः तस्मात्'), परस्पर अनुग्रह ('यथा पार्थिवद्रव्ये पृथिव्याख्यं भूतं बलवदेकं शेषाणि सलिलादीनि चत्वारि दुर्बलानि आश्रयदानेन अनुगृह्णाति····एवंविधात् परस्परानुग्रहाच्च') और परस्पर अनुप्रवेश ('अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्') कर कार्य करते हैं।

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥ ४ ॥

गर्भावतरण-प्रक्रिया (Formation of zygote/युग्मनज)—कामातुर स्त्री-पुरुष के संयोग में वायु शरीर में तेज को उत्तेजित करती है ('तेजः स्त्रीपुरुषेन्द्रियद्वयसङ्घर्षज ऊष्मा, तत् वायुरुदीरयति उत्कटं करोति'), तदनन्तर तेज और वायु की सक्रियता से शुक्र (Semen) च्युत होकर स्त्री की योनि में पहुँचता है ('योनिमभितः सर्वतः प्रतिपद्यते, तेन योनेस्तृतीयावर्तस्थितगर्भशय्या प्रतिपद्यते इत्यर्थः') और वहाँ पर आर्तव (Ovum) से मिल जाता है। तदनन्तर अग्नि और सोम के संयोग से सृजित होता हुआ वह गर्भ गर्भाशय में आश्रय लेता है। वहाँ यह क्षेत्रज्ञ ('पञ्चमहाभूतशरीरक्षेत्रवित् कर्मपुरुषः'), वेदयिता, स्प्रष्टा, श्रोता, रचयिता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता आदि नामों से महर्षियों द्वारा जाना जाता है तथा वह दैवयोग से अक्षय,

अचिन्त्य होते हुए भी लिंगशरीर ('भूतात्मना भौतिकशरीरेण सूक्ष्मेण लिङ्गशरीरेणेत्यर्थः') से तत्क्षण ही सत्त्व, रज, तम एवं देव-असुर भावों से प्रेरित होता हुआ वायु की प्रेरणा से गर्भाशय में प्रविष्ट होकर अवस्थित हो जाता है।। ४।।

विमर्श—क्षेत्रज्ञ—'इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्र इत्यभिधीयते' (गीता) और क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है ('पञ्चमहाभूतशरीरक्षेत्रवित् कर्मपुरुषः'–ड.)। आत्मा तो ज्ञानाधिकरण है ('ज्ञानाधिकरणमात्मा'–त.सं.)। प्रकृति के सम्पर्क में आने पर यह अनेक नामों से पुकारा जाता है ('यदाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते'।।

कठोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य द्वारा उद्धृत प्राचीन वचन; यथा—वेदयिता (मनसो ज्ञापयिता), स्प्रष्टा (स्पर्शनेन्द्रियस्य स्पर्शबोधहेतुत्वात्), घ्राता (घ्राणेन्द्रियस्य गन्धबोधहेतुत्वात्), द्रष्टा (दर्शनेन्द्रियस्य दृष्टिबोधहेतुत्वात्), वक्ता (वागिन्द्रियस्य वाणिबोधहेतुत्वात्), श्रोता (श्रोत्रेन्द्रियस्य श्रवणबोधहेतुत्वात्), पुरुषः (पुरि भौतिके शरीरे वसतीति पुरुषः), स्रष्टा ('चेतनायाः, चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते'–च.), कर्ता (संसरणशीलः), साक्षी (ज्ञात्वात्/'ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः'–च.शा. १।८३; ज्ञानवान् ही साक्षी हो सकता है; 'नाज्ञः पाषाणादिः'–च.पा.), धाता ('शरीरादिसंयोगधारणहेतुत्वात्'), वक्ता (वदत्ययमेव)।

अब प्रश्न यह है कि जब वेदयिता आदि इसके रूप हैं तो क्लेशकर गर्भस्थिति में यह क्यों अवस्थान करता है? इसका उत्तर दिया है कि 'दैवसंयोगात्' अर्थात् पूर्वकृत कर्मों को भोगने के लिए जन्म लेना होता है।

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति।। ५।।

गर्भ के पुरुष, स्त्री या नपुंसक होने में हेतु—शुक्र की बहुलता (पुंबीजप्राबल्य) हो तो पुरुष और आर्तवबहुलता (स्त्रीबीजप्राबल्य) हो तो स्त्री तथा दोनों समान बल हों तो शिशु नपुंसक होता है।। ५।।

विमर्श—शुक्रधातु और आर्तव की सुरत काल में कितनी मात्रा होती है उस पर सन्तान का स्त्री या पुरुष होना निर्भर नहीं करता है (विस्तार के लिए सु.शा. २ के ३०वें सूत्र की व्याख्या देखें)।

स्त्री—'स्त्रियस्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः। अपत्रपणकर्मणः लज्जार्तस्य। स्त्यायते स्त्यैर्धातोः। लज्जन्ति हि ताः नित्यं स्वैरेष्वपि पुंभ्यः' (यास्कः)। अर्थात् स्वच्छन्द होने पर भी पुरुषों से लज्जा करने के कारण 'स्त्री' कहते हैं।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः; अदृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते।। ६।।

गर्भधारण काल—(स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्भोग से गर्भधारण की सबसे अधिक सम्भावना कब होती है? इस सूत्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—) मासिकधर्म (आर्तव) आने के बारह दिन गर्भाधान के लिए उपयुक्त ऋतु होती है (इसमें आरम्भ के तीन और सोलहवाँ दिन नहीं गिना जाता है)। एकीय मत यह भी है कि आर्तव-दर्शन न होने पर भी गर्भाधान के लिए उपयुक्त ऋतु होती है।। ६।।

विमर्श—सामान्यतः स्त्रियों में आर्तव चक्र (Menstrual cycle) अठाईस दिन का होता है और डिम्बक्षरण (Ovulation) की सम्भावना इस चक्र के बारहवें और पन्द्रहवें दिन में अधिक होती है। डिम्बक्षरण इस प्रकार सात दिन से पहले और बीस दिन के बाद होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार आर्तव काल के सातवें दिन से बीस दिन तक का समय गर्भाधान की सम्भावना वाला है, जो 'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति' इस सौश्रुत अवधि का समर्थक है (ऋतुकाल = Optimum period for conception)।

अदृष्टार्तवा—इसके प्रमाण में पाश्चात्य वैद्यक का उद्धरण प्रस्तुत है—

'In some mammals ovulation is initiated by coitus, and it is possible that coitus, particularly when attended with a strong emotional reaction, may occasionally have this

effect in women. This might explain the fact that at all stages of the cycle pregnancy some times apear to have followed a sinlge coitus' (Obstetric by T.T.)

गर्भ—इस शब्द की व्युत्पत्ति में यास्क का कथन है—'गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा'। स्तुत्यर्थक गृभ् धातु से—'सर्वस्य स्तुत्यो हि गर्भ: अथवा सर्वान् अनर्थानसौ गिरति नाशयतीति गर्भ:'।

भवन्ति चात्र—

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्। नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम्॥ ७॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचाम्। हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति॥ ८॥

अदृष्टार्तवा ऋतुमती के लक्षण—(आर्तव होने के उपरान्त ऋतुकाल का अनुमान लगाना आसान है किन्तु 'अदृष्टार्तवा' में ऐसा सम्भव नहीं होता है जिसे इन श्लोकों में वर्णित किया गया है---) १. मुख पीन और प्रसन्न (Face full and lively); २. शरीर, मुख (गुहा) और दन्तमांस ('द्विजशब्देन द्विजसमीपवर्तिनो दन्तवेष्टका अभिप्रेता:, द्विजानां प्रक्लेदाभावात्') क्लेदयुक्त (Moist); ३. पुरुष की कामना होना (Desirous of a man's company); ४. प्रेमभरी कथाएँ सुनने की इच्छा होना; ५. जिसकी कुक्षि (Belly), नेत्र और बाल शिथिल (Drooping) हों; ६. भुजाओं, स्तनों, श्रोणि (Pelvis), नाभि, जघन (Pubis), स्फिक् (Gluteal regions/'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ'–अ.को.; 'प्रोथौ मांसपिण्डम्') और ऊरु (Thigh/ऊर्ध्व जंघा) में स्फुरण होना (Twitching) तथा ७. हर्ष और औत्सुक्य से युक्त होना—ये लक्षण जिस अदृष्टार्तवा में पाये जायें उसे ऋतुमती जानें॥ ७-८॥

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥ ९॥

गर्भाधान का सम्भावना रहित काल (Safe period)—ऊपर वर्णित ऋतुकाल की अवधि समाप्त हो जाने पर स्त्री की योनि (Os) उसी तरह संकुचित हो जाती है जिस प्रकार दिन की समाप्ति पर कमल संकुचित हो जाता है ('योनिसङ्कोचेन बीजस्य गर्भाशयाप्राप्ति:। अत एव (योनि:) बीजं न गृह्णाति')॥ ९॥

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत्कृष्णं विवर्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥ १०॥

मासिकधर्म की प्रक्रिया (Process of menstruation)—दो रक्तवाहिनियों द्वारा (लगभग) एक मास से एकत्रित रुधिर को, जो कुछ कृष्ण वर्ण तथा अल्प गन्ध युक्त होता है, वायु योनिमुख की ओर प्रेरित करती (ले जाती) है॥ १०॥

विमर्श—'काले' शब्द का अर्थ यह भी है—'काले द्वादशवर्षादौ षष्टेश्चार्वाक्, अन्ये पञ्चाशत् वर्षाणि यावत्'।

मासिक-आर्तव (Menstruation) सामान्यत: चार-पाँच दिन तक आता रहता है और इसमें आने वाले रक्त की मात्रा औसतन १० से २० मि.ली. तक होती है। आर्तव-चक्र (Menstrual cycle) मासिकधर्म के पहले दिन से लेकर दूसरे चक्र के आरम्भ होने तक होता है। इसका चक्र कितने दिन का होता है? इसका निर्णय इस कारण करना कठिन है कि यह प्रत्येक स्त्री में अलग-अलग होता है। फिर भी सामान्य रूप से आर्तव-चक्र अट्ठाईस दिन का होता है।

आर्तव-चक्र की प्रावस्था (Phase) दो प्रकार की है— १. पुटकीय प्रावस्था (Follicular phase) और २. गर्भपूर्व (Progestational) प्रावस्था। पहली प्रावस्था (Proliferation/प्रफलन) में डिम्ब की ग्रेनुलोसा कोशिकाओं से ईस्ट्रोजन नामक हॉर्मोन स्रवित होता है। मासिक आर्तव के पश्चात् गर्भाशय अन्त:कला पतली पड़ जाती है। फिर ईस्ट्रोजन के प्रभाव से यह अधिक वाहिनीमय (Vascular) हो जाती है। द्वितीय Progestational phase में कार्पस ल्यूटियम की कोशिकाएँ ईस्ट्रोजन और प्रोजेस्टीरोन हॉर्मोन स्रवित करती हैं।

इन दोनों के प्रभाव से अन्त:गर्भाशय कला में और अधिक वृद्धि होती है और इसका अन्त दूसरे आर्तव-चक्र के आरम्भ होने से होता है।

अन्त:गर्भाशय कला में ये सारे परिवर्तन निषेचित डिम्ब (Fertilized ova) के स्वागत के लिए होते हैं। ऐसा न होने पर मासिक आर्तव आना आरम्भ हो जाता है।

तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ ११॥

मासिक आर्तव के आरम्भ और अन्त का समय—वह मासिक आर्तव स्त्री की बारह वर्ष की आयु से आरम्भ होकर पचास वर्ष की आयु में आना बन्द हो जाता है॥ ११॥

विमर्श—इस सूत्र में आर्तवकाल और आयु (Menstruating age) का उल्लेख किया गया है। मासिक-आर्तव आने की चर्चा इससे पूर्व के सूत्र के 'विमर्श' में की जा चुकी है। यहाँ 'याति पञ्चाशत: क्षयम्' पर विचार किया जायेगा।

उपयुक्त आयु पर मासिक-आर्तव के बन्द हो जाने का अभिप्राय है—'सन्तानोतपादन समय की समाप्ति'। यह काल 'जनननिवृत्तिकाल' (Climacteric) कहलाता है। इसे 'रजोनिवृत्ति' (Menopause) भी कहते हैं। इस काल में मासिक-आर्तव और सन्तानोतपादन सम्बन्धी क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं। सामान्यत: मासिक-आर्तव ४५ से ५० वर्ष की आयु में आना बन्द हो जाता है। परन्तु आनुवंशिकता (Hereditary) क्लाइमेट, श्रोणि और जननांगों (Pelvic genital) के रोग आदि से यह प्रभावित होता है। उष्णकटिबन्ध में रहने वाली कन्याओं में मासिक शीघ्र आरम्भ होता है।

रजोनिवृत्ति का समय श्रोणिप्रदेश के रोगों जैसे—सौत्रिक अर्बुद, गर्भाशय-गात्र का कैंसर, डिम्बार्बुद आदि में शीघ्र आरम्भ होता है। ऐसा ही बच्चे को अधिक समय तक दूध पिलाते रहने से भी होता है।

जब डिम्बग्रन्थि के सेक्स हॉर्मोन्स और सम्मुखीन पीयूषग्रन्थि (Pituitary gland) के गोनेडोट्रोफीन के मध्य सन्तुलन बिगड़ जाता है तो यह स्थिति आती है।

रजोनिवृत्ति होने पर गर्भाशय, गर्भाशयग्रीवा, योनि (Vagina), भग (Vulva) और स्तन सभी में परिवर्तन आ जाते हैं। मासिक रक्त धीरे-धीरे बन्द हो जाता है। Hot-flushes, भगकण्डू, रक्तदाब का बढ़ना, मानसिक विकार, अनिद्रा आदि लक्षण भी पाये जाते हैं।

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला। पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत्॥

बालक या बालिका होने में हेतु—शुद्धकाय पुरुष सन्तान की कामना से स्त्रीगमन करे। यदि युग्म (४, ६, ८, १० और १२वें) दिनों में मैथुन करने से गर्भधारण होता है तो लड़का और अन्यथा (५, ७, ९ और ११वें) दिनों में मैथुन करने से गर्भाधान होता है तो कन्या उत्पन्न होती है॥ १२॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में इससे पूर्व भी एक-दो बार चर्चा की जा चुकी है। देखिए पाश्चात्य वैद्यक का मत—

'In the case of the spermatozoon a similar reducing division takes place, but one chromosome, the sex chromosome, divides into two dissimilar parts termed X and Y. Mature sperm each bear either an X or aY chromosome. In the division of the ovum the sex chromatin is equally divided, and all ova bear an X chromosome. During fertilization if conjugation of an X sperm and an X ovum occurs, the final combination will be XX, and give rise to female genetic structure; but if conjugation of a Y sperm and an X ovum occurs the final combination will be XY, and give rise to male genetic structure' (Obstertrics by T.T.)

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ॥ १३॥

गर्भधारण के तत्काल पश्चात् होने वाले लक्षण (Early features of conception)—श्रम (स्वेदः/Fatigue/थकान होना), ग्लानि (Languor), पिपासा (प्यास), सक्थिसदन (टाँगों में भारीपन, थकान), शुक्र-शोणित का अवबन्ध (अप्रवृत्तिः/Retention) और योनिस्फुरण (Quivering in the vagina)—ये लक्षण होते हैं॥ १३॥

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥ १४॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते॥ १५॥

गर्भिणी के प्रारम्भिक लक्षण (Early signs)—१. स्तनमुख (कृष्णमण्डल = Areola और चूचुक = Nipple) में कृष्णाभ विवर्णता का होना, २. रोमराजि का उभर आना (रोमहर्ष), ३. गर्भ के प्रभाव के कारण नेत्र की पलकों का विशेष रूप से बन्द रखना (Heaviness of eyelids), ४. बिना कारण उलटी करना, ५. सुगन्ध से उद्विग्न होना, ६. प्रसेक (बार-बार थूकते रहना/Salivation) और ७. सदन (थकान/Fatigue)—ये गर्भिणी के प्रारम्भिक लक्षण हैं॥ १४-१५॥

विमर्श—गर्भावस्था में होने वाले अन्य प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं—यदि गर्भाधान एक बार के मैथुन से ही हो गया हो तो सामान्यतः गर्भधारण की अवधि मैथुन के दिन से २६६ दिन की होती है। मासिकधर्म के प्रथम दिवस से गणना करने पर यह अवधि औसतन २८० दिन की बैठती है।

परिवर्तन—(१) अनार्तव (Amenorrhoea)—यह गर्भावस्था का सर्वप्रथम पाया जाने वाला लक्षण है। पर अनार्तव स्थिति दुग्धस्रवण (Lactation) समय में हुई गर्भस्थिति में भी होती है और ऐसा भी देखा गया है कि एक कन्या के मासिकधर्म के आरम्भ हुए बिना ही गर्भ रह गया (Obstertric by T.T.)। (२) प्रातः अस्वस्थता (Morning sickness)—यह छठे सप्ताह में आरम्भ हो सकती है। यह सभी स्त्रियों में पाया जाने वाला लक्षण नहीं है। इसमें प्रायः प्रातःकाल हृल्लास (Nausea) और वमन होते हैं। (३) स्तनलक्षण (Breast symptoms)—लगभग चतुर्थ सप्ताह में गर्भिणी अपने स्तनों में कुछ स्पर्शासहिष्णुता तथा कुछ भारीपन महसूस करने लगती है। (४) बार-बार मूत्रत्याग (Frequency of micturition)—प्रारम्भ के १२ सप्ताहों में जब गर्भाशय अभी Pelvic organ ही होता है तो मूत्राशय पर इसके हलके से दबाव से मूत्रत्याग बार-बार होता है विशेषकर दिन में। (५) उदरवृद्धि (Abdominal enlargement)—कुछ स्त्रियों में यह पाया जाता है। इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं। (६) प्रथम गर्भस्पन्दन (Quickening)—गर्भिणी स्त्री को १८वें और २०वें सप्ताह के दौरान गर्भ की गति की प्रतीति होती है पर बहुप्रजाता (Multiparae) स्त्री इसे दो सप्ताह पहले ही प्रतीत करने लगती है। पर यह लक्षण कम महत्त्व का इस हेतु माना जाता है कि कुछ स्त्रियाँ जो अपने आपको गर्भिणी मानने लगती हैं, इस लक्षण को जताती हैं। (६) श्रान्तता (Tiredness)—यह लक्षण प्रायः पाया जाता है, विशेषकर बहुप्रसवा में।

परन्तु इन उपरोक्त परिवर्तनों के आधार पर ही गर्भावस्था का निर्णय करना सम्भव नहीं है। अतः ऐसे निर्णय के लिए और अधिक जाँच करना आवाश्यक होता है। जब तक १. भ्रूण के अंग-प्रत्यंग भली प्रकार स्पर्शलभ्य न हो जायें, २. भ्रूण की गतियों की स्पर्श द्वारा प्रतीति न हो या ३. भ्रूण के हृदय की ध्वनियाँ सुनी न जायें तब तक 'गर्भ है' का निर्णय नहीं किया जा सकता है। अन्य सभी चिह्न (Signs) एवं लक्षण आनुमानिक (Presumptive) मात्र माने जाते हैं। क्ष-किरण चित्रों से गर्भ का निर्णय (Radiological diagnosis of pregnancy) जिसमें भ्रूण की अस्थियाँ दिखायी देती हैं, ही वास्तविक निर्णय है। ऐसा निर्णय गर्भावस्था के सोलहवें सप्ताह के उपरान्त सम्भव होता है। पर इस विधि का उपयोग गर्भावस्था के प्रारम्भ

एवं मध्य में (Early or mid-pregnancy) न करना ही अच्छा है, क्योंकि रेडियेशन से भ्रूण को हानि पहुँच सकती है।

'गर्भनिर्णय' के लिए कई तरह टेस्ट भी किये जाते हैं। संक्षेप में गर्भनिर्णायक लक्षण इस प्रकार हैं—

1. Hearing the foetal heart sounds.

2. The manual appreciation of foetal parts and movements

3. Radiological demonstration of foetal bones.

प्रसव की सम्भावित तिथि (Expected date of delivery) जानने की विधि यह है कि अन्तिम मासिकधर्म के पहले दिन से अगले नौ महीने और सात दिन अथवा पिछले तीन महीने छोड़कर सात दिन जोड़ दें जिससे २८० दिन पूरे हो सकें। इस प्रकार प्रसव की सम्भावित तिथि जानी जा सकती है।

गर्भाभास (Pseudocyesis) में स्त्री मानसिक विकृति के कारण अपने आपको गर्भवती समझने लगती है और उन सभी लक्षणों के होने की बात कहती है जो इस अवस्था में हुआ करते हैं। पर सभी परीक्षण नकारात्मक होते हैं।

तदा प्रभृति व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत॥ १६॥

गर्भावस्था में क्या नहीं करना चाहिए (Don'ts during antenatal period)—गर्भधारण होने के उपरान्त से ही व्यवाय (Intercourse), व्यायाम (Physical evertion), अतितर्पण (अधिक तृप्तिकर आहार/Over nutrition), अतिकर्षण (Starvation), दिन में सोना, रात को जागना, शोक (Grief), यानारोहण (Riding on vehicle), भय, उत्कटुकासन (उकडू बैठना/Squatting), अकाल में स्नेहादि क्रियाएँ (Oleation) और रक्तविस्रावण (Blood letting) और वेगविधारण (Suppression of natural calls) नहीं करना चाहिए॥ १६॥

विमर्श—व्यवायं (न सेवेत)—गर्भिणी के 'जन्म पूर्व रक्षण' (Antenatal care) का विशेष महत्त्व है। इस सूत्र में इसका मार्गप्रदर्शन मात्र वर्णित है। गर्भावस्था के प्रारम्भिक तीन मास तथा अन्तिम मास में मैथुन न करना ही ठीक है, क्योंकि—

'It is generally considered that coitus increases the risk of miscarriage during the first 12 weeks, and must be avoided during the last month to prevent infection.' —Obstetrics by T.T.

अतितर्पणम्, अतिकर्षणम्—गर्भिणी के भोजन की केलोरीज के बढ़ाने की आवश्यकता तो नहीं होती है पर वसा, कैल्सियम, लोह, फॉलिक एसिड पर्याप्त मात्रा में मिलने चाहिए। इसी प्रकार प्रोटीन, खनिज, कार्बोहाइड्रेट भी आवश्यक हैं। गर्भावस्था में गर्भिणी का शरीरभार २८ पौण्ड से अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए।

व्यायामम्—सामान्य क्रियाशीलता गर्भिणी के लिए आवश्यक है। पर हानिकर व्यायाम से बचना चाहिए ('Light house work is quite harmless. All exercise of a violent nature however, should be avoided on account of the risk of miscarriage.'—Obstetrics by T.T.)।

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते। स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥

भ्रूण के कष्ट—दोषप्रकोप से गर्भिणी के शरीर का जो-जो भाग पीड़ित (Afflicted) होता है, गर्भस्थ भ्रूण के शरीर का भी वही-वही भाग विकारग्रस्त होता है॥ १७॥

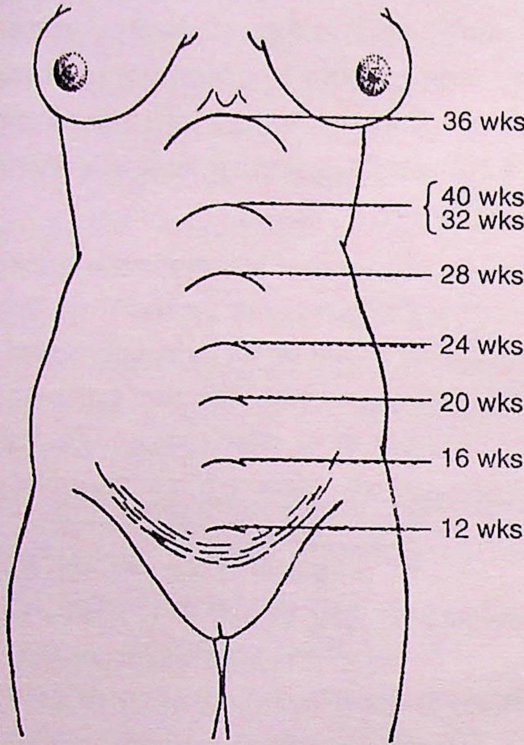
तत्र प्रथमे मासि कललं जायते; द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते; यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति; तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति; चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्। तस्माद् गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते। दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् सा यद्यदिच्छेत् तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति॥ १८॥

भ्रूण का मासानुमासिक विकास (Monthwise foetal development)—**प्रथम मास** में 'कलल' (सिङ्घाणप्रख्यम्/Embryo of somite stage) बनता है। **द्वितीय मास** में शीत (श्लेष्मा) और उष्ण (पित्त) के द्वारा ('कफानिलयोरपि ऊष्मसम्भवात् परिणामहेतुत्वम्', तदुक्तं चरके—'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः' इति) महाभूतों का संघात (Solid mass) पच्यमान होकर घना (गाढ़ा) हो जाता है। यदि यह घनसंघात 'पिण्डाकार' (Globular in form) हो तो पुमान् (Male) और पेशी (दीर्घाकृति/Elongated) के आकार का हो तो स्त्री (Female) और अर्बुदाकार ('वर्तुलफलार्धमिति'; गयी के द्वारा भोज का उद्धरण—'चतुरस्रा भवेत्पेशी वृत्तः पिण्डो घनः स्मृतः। शाल्मली मुकुलाकारमर्बुदं परिचक्षते') हो तो शिशु नपुंसक (Hermaphrodite) होता है। **तृतीय मास** में हाथ, पैर और शिर के पाँच पिण्डक (Stumps) उभर आते हैं और अंग-प्रत्यंग भी सूक्ष्म हो जाते हैं ('शाखाश्चतस्रो मूर्धोरःपृष्ठोदराण्यङ्गानि, चिबुकनासौष्ठश्रवणाङ्गुलिपार्ष्णिप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि')। **चतुर्थ मास** में अंग-प्रत्यंग स्पष्टतर हो जाते हैं और गर्भ-हृदय के और अधिक विकसित हो जाने से चेतनाधातु (Life) भी अधिक स्पष्ट (Manifested) हो जाती है, क्योंकि चेतना का स्थान हृदय है। इससे गर्भ चतुर्थ मास में इन्द्रियों के अर्थों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) में रुचि दिखाने लगता है और दो हृदय होने के कारण नारी (गर्भिणी) को 'द्वौहृदिनी' (Double hearted/द्वितीयं हृदयं यस्याः सा द्विहृदया) कहते हैं।

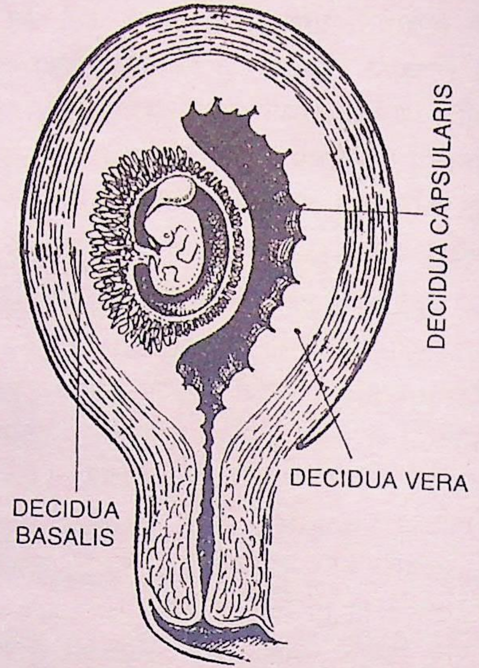
द्वौहृदविमानन (द्वौहृदिनी स्त्री की इच्छाओं को पूरा न करने) से स्त्री कुब्ज (Hump back), कुणि (Deformed arm), खञ्ज (दोनों टाँगें बेकार), जड़ (Idiot), वामन (Dwarf), विकृताक्ष (Deformed eyes) और अनक्ष (Without eyes) सन्तान को जन्म देती है। इस हेतु द्वौहृदिनी जिस-जिस चीज की इच्छा करती है उस-उस वस्तु को उसे देना चाहिए। लब्ध दौहृद वाली नारी शक्तिशाली और दीर्घायु पुत्र (सन्तान) को उत्पन्न करती है॥ १८॥

विमर्श—गर्भवृद्धि (Development of the foetus)—गर्भ वृद्धि के तीन प्रक्रम (Periods) हैं— १. डिम्बीय (Ovular)—यह प्रारम्भिक दो सप्ताहों में, २. भ्रूणीय (Embryonic)—यह तीन से पाँच सप्ताह तक और ३. गर्भीय (Foetal)—यह गर्भ की स्पष्ट आकृति धारण होने तक।

दौहृदिनी—चौबीस सप्ताह के भ्रूण के अंग-प्रत्यंगों को स्पर्श (Palpation) द्वारा जाना जा सकता है और उसकी गतियाँ भी जानी जा सकती हैं। यदि गर्भिणी स्थूल न हो तो भ्रूण की गतियों (Foetal movements) को देखा भी जा सकता है। इस अवधि के भ्रूण की हृद्-ध्वनियाँ (Foetal Heart sounds) सुनी जा सकती हैं। ये ध्वनियाँ सामान्यतः १२० से १६० तक प्रति मिनट होती हैं। किन्तु हृदय का निर्माण बहुत पहले आरम्भ हो चुका होता है। हृदय के कार्य से चेतनता (प्राणों) की जानकारी मिलती है। सम्भवतः इसी हेतु 'हृदयं चेतनास्थानम्' कहा जाता है। इस प्रकार गर्भिणी के दो हृदय होने के कारण उसे 'दौहृदिनी' तथा पोषण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो उसे भिन्न-भिन्न पदार्थों के खाने की इच्छा होती है उसे 'दौहृद' कहते हैं।



चित्र सं० २ : बुध्न (Fundus) की ऊँचाई



चित्र सं० ३ : गर्भाशय में ९ सप्ताह का भ्रूण

प्रथमे मासि कललं जायते, द्वितीये शीतोष्मानिलैर-भिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते' (सु.शा. ३।१८)







चित्र सं० ४ : भ्रूण का क्रमिक विकास

'तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्ग विभागश्च सूक्ष्मो भवति; चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति' (सु.शा. ३।१८)

डिम्ब (Ova) की आयु निश्चित करना कठिन कार्य है। साधारणतः चार सप्ताह का डिम्ब २ सें.मी. (In diameter) होता है और छः से आठ सप्ताह में यह पाँच सें.मी. हो जाता है। बीस सप्ताह के उपरान्त यह प्रति चार सप्ताह में ५ सें.मी. बढ़ता है। आठ सप्ताह का गर्भ मानव-आकृति धारण कर लेता है। बारहवें सप्ताह में अपरा स्पष्ट हो जाती है।

अट्ठाईसवें सप्ताह में गर्भ का भार १४०० ग्रा. (३ पौण्ड) होता है। वृषण (Testicle) वंक्षणी नलिका तक आ जाते हैं। गर्भ आँखें खोल देता है। कहा जाता है कि इस अवधि में जन्म लेने वाला शिशु जीवित रह जाता है, पर जीवित रहने वालों की संख्या अत्यल्प है ('तत्र जातश्चेन्न जीवेत'–सु.)।

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी। गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत्॥
सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्। अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम्॥ २०॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना। प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये॥ २१॥

दौहृदविमानन से हानि—गर्भिणी (Gravida) जिन-जिन पदार्थों को खाना चाहती है चिकित्सक को चाहिए कि वह इन सब को, गर्भ को हानि पहुँचने के डर से लाकर देवें। गर्भिणी को जब दौहृदों की प्राप्ति भली प्रकार हो जाती है तो वह गुणवान् पुत्र (सन्तान) को जन्म देती है। अन्यथा दौहृदविमानन (अलब्धदौहृदा, अप्राप्ताभिलषितपदार्थाः) से उसको गर्भ के तथा अपने विषय में भय होने लगता है। गर्भिणी की जिन-जिन इन्द्रियार्थों की पूर्ति नहीं होती है सन्तान की उन-उन इन्द्रिय में विकृति (Abnormality of that particular sense organ) आ जाती है॥ १९-२१॥

राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः। अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥ २२॥
दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात्। अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते॥ २३॥
आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम्। दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते॥ २४॥
गोधामांसाऽशने पुत्रं सुषुप्सुं धारणात्मकम्। गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा॥ २५॥
माहिषे दौर्हृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्। वराहमांसात् स्वप्नालुं शूरं सञ्जनयेत् सुतम्॥ २६॥
मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम्। सृमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात्॥ २७॥
अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौर्हृदम्। शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति॥ २८॥

भिन्न-भिन्न प्रकार के दौहृद—(इन श्लोकों में विशेष प्रकार के दौहृदों की प्राप्ति से विशेष प्रकार की सन्तान होने का/Pregnancy longings and their effects on the foetus/वर्णन किया गया है—) जिस स्त्री को गर्भावस्था में राजदर्शन (Seeing a king) का दौहृद है वह (दौहृदविमानन न होने पर) धनवान् और महापुण्यवान् सन्तान को जन्म देती है। यदि गर्भिणी को दुकूलपट्ट, कौशेय (Silken) वस्त्र या भूषणादि में दौहृद है तो (उनकी प्राप्ति हो जाने पर) वह आभूषण-प्रिय और सुन्दर सन्तति पैदा करती है। इसी प्रकार जिस गर्भिणी को तपस्वियों के आश्रम-दर्शनादि की श्रद्धा हो वह संयतात्मा (संयतेन्द्रिय/Self-controlled) और धार्मिक विचारों वाली सन्तान को जन्म देती है। देवताओं की मूर्तियों में दौहृद वाली गर्भिणी पार्षदोपम ('पार्षदेषु सभापुरुषेषु उपमा यस्य सः तथा तं सभ्यसमम्'/Well-respected in the society) पुत्र पैदा करती है। व्याल जातियों (व्याला व्याघ्रादयो हिंस्राः) में दौहृद होने पर हिंसक मनोवृत्ति वाली सन्तान जन्म लेती है। गोह का मांस (Iguana meat) खाने की इच्छा जिस गर्भिणी को होती है उसकी सन्तान सुषुप्सु (निद्राप्रिय) और हृदय में ली हुई वस्तु को न छोड़ने वाली (हृदयगृहीत-वस्तूनाममोचकम्/Power of retention of memory) होती है। गोमांस खाने में दौहृद वाली नारी की

सन्तान बलवान् और सभी दुःखों को सहन करने वाली होती है। भैंस के मांस में रुचि रखने वाली गर्भिणी की सन्तति बहादुर, लाल आँखों वाली और रोमयुक्त होती है। वाराह (सूअर) मांस के दौहृद वाली गर्भिणी का पुत्र निद्राप्रिय और शूरवीर होता है। इसी प्रकार मृग के मांस का दौहृद हो तो तेज दौड़ने वाली वनचर सन्तान होती है और सृमर (महाशूकर) के मांस से उद्विग्न मन वाली तथा तितर के मांस का दौहृद हो तो सन्तान निरन्तर डरने वाली होती है। इनके अतिरिक्त अन्य जिस प्रकार की वस्तुओं में गर्भिणी को दौहृद होता है वह उन-उन के शरीर, आचार और शील के समान गुण वाली सन्तान (सुत) को जन्म देती है॥ २२-२८॥

विमर्श—यद्यपि ये ऊपर वर्णित दौहृद दो हजार वर्ष पुराने हैं पर आज भी विभिन्न जातियों, आदिवासियों एवं धर्मावलम्बियों में गो-गोधाभक्षक स्त्रियाँ मिल जाती हैं।

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्। यथा तथा दैवयोगाद्दौर्हृदं जनयेद्धृदि॥ २९॥

दौहृद पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुसार होते हैं—माता के हृदय में दैवयोग से उसी प्रकार के दौहृदों की कामना होती है जिस प्रकार के पूर्वजन्म में किये गये कर्मों द्वारा गर्भ का भवितव्य बनता है॥ २९॥

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः, सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः, अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च, ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत्। नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्तिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति॥ ३०॥

गर्भ की पञ्चम मास से होने वाली वृद्धि—पञ्चम मास (अन्तर्गर्भाशय जीवन) में गर्भ के मन (Mind) का अपेक्षाकृत विकास अधिक होता है। छठे मास में बुद्धि (Wisdom) और सप्तम मास में सभी अंग-प्रत्यंग और अधिक विकसित हो जाते हैं। अष्टम मास में ओज (Body resistance) अस्थिर (Unsteady) होता है। इस महीने में जन्म हो जाय तो शिशु जीवित नहीं रहता है, क्योंकि यह (गर्भ) राक्षसों का अंश होता है और गर्भ निरोज (ओजोरहित) होता है। इस हेतु राक्षसों (नैर्ऋतों) को बलि, मांस, ओदन आदि देने चाहिए। तत्पश्चात् नौवें, दसवें, ग्यारहवें या बारहवें मास में शिशु का जन्म होता है। इससे अधिक समय लगे तो वह विकारी होता है॥ ३०॥

विमर्श—'(At 28th weeks) The foetus is said to be viable, and the law assumes that it can survive; but the number of infants with which survive such premature birth is very small''—Obstetrics by T.T. ('तत्र जातश्चेन्न जीवेत्'–सु.)। इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि 'नैर्ऋत भागहरण' वाली बात पाश्चात्य वैद्यक में गर्भ के सातवें मास में घटती है।

'द्वादशानामन्यतमस्मिन्'—जब सामान्यतः निश्चित समय से गर्भावस्था की अवधि अधिक हो जाती है (औसतन २८० दिन) तो वह अवस्था 'Post maturity' कहलाती है। पर दीर्घकालीन गर्भावस्था का निर्णय करना कठिन है। सुश्रुत के अनुसार यदि मासिकस्राव के प्रथम दिवस से लेकर बारह मास तक प्रसव होता है तो यह सामान्य है। यह देखा गया है कि पशुओं में यदि बड़ी मात्रा में प्रोजेस्टिरोन का प्रयोग किया जाय तो गर्भावस्था की अवधि बढ़ जाती है। पर स्त्रियों में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

मेडिको-लीगल केस में गर्भावस्था की अवधि निश्चित करनी पड़ जाती है। पत्नी को छोड़ देने के पश्चात् यदि स्त्री के ४४ सप्ताह के बीत जाने पर सन्तान होती है तो पति उसे अपनी सन्तान मानने से इनकार करता है। ऐसी स्थिति में निर्णय देना होता है। एक न्यायिक निर्णय में ३४६ दिन में हुई सन्तान को जायज (Legitimate) और ३६० दिन में हुई सन्तान को दूसरे न्यायालय ने नाजायज (Illegitimate) करार दिया है। ऐसे निर्णय Medical evidence पर निश्चित होते हैं।

चालीसवें सप्ताह में दोनों वृषण (Testicles) वृषणकोष में आ जाते हैं। ऐसा केवल मनुष्यों में ही होता है।

प्रसव का सम्भावित दिन

(Ely's Table of the Duration of Pregnancy)

जनवरी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	नवम्बर
अक्टूबर	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४	५	६	७	
फरवरी	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८				दिसम्बर
नवम्बर	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	१	२	३	४	५				
मार्च	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	जनवरी
दिसम्बर	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४	५	
अप्रैल	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०		फरवरी
जनवरी	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४		
मई	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	मार्च
फरवरी	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	१	२	३	४	५	६	७	
जून	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०		अप्रैल
मार्च	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४	५	६		
जुलाई	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	मई
अप्रैल	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	१	२	३	४	५	६	७	
अगस्त	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	जून
मई	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४	५	६	७	
सितम्बर	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०		जुलाई
जून	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	१	२	३	४	५	६	७		
अक्टूबर	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	अगस्त
जुलाई	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४	५	६	७	
नवम्बर	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०		सितम्बर
अगस्त	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	१	२	३	४	५	६		
दिसम्बर	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	अक्टूबर
सितम्बर	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	१	२	३	४	५	६	७	

'नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति' (सु०)

विशेष–ऊपर की पंक्ति की तिथियाँ मासिकधर्म की अन्तिम तिथि की तथा नीचे की पंक्ति की तिथियाँ सम्भावित प्रसव दिन की सूचक हैं।

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति॥ ३१॥

आहार रस के बिना और आहार रस से गर्भ का पोषण (Neutrition of the foetus)—गर्भनाड़ी (Umbilical cord of the foetus) माता की रस का वहन करने वाली नाड़ी (Maternal part of the placenta) से बन्धी होती है जो गर्भ को माता से आहार रस और वीर्य (Nutrition) पहुँचाती है। गर्भ इस उपस्नेह (Nutrition) से वृद्धि को प्राप्त होता है। गर्भाधान के समय से लेकर जब गर्भ के अंग-प्रत्यंग प्रकट नहीं हुए होते हैं ('ननु अङ्गप्रत्यङ्गप्रव्यक्तीभावे गर्भनाभिनाडी मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, अङ्गप्रत्यङ्गप्रव्यक्तीभावात् पूर्वं कथं गर्भपुष्टिः स्यादित्याह; ''''आनिषेकात् प्रभृति इति आ समन्ततो भावेन निषेचनमानिषेको योनौ शुक्रस्य निषेचनं तत्प्रभृति गर्भाधानं मर्यादीकृत्येत्यर्थः') तब से सम्पूर्ण शरीर के अवयवों का अनुसरण करने वाली तिर्यग्गत रसवह धमनियों का उपस्नेह गर्भ को जीवित रखता है॥ ३१॥

विमर्श—उपस्नेह—यथा—'पूर्णसरःसलिलोपस्नेहः चत्वरे जाततरुकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोतीत्यर्थः'। डल्हण ने भोज का उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें गर्भपोषण विधि का वर्णन इस प्रकार है—'गर्भो रुणद्धि स्रोतांसि रसरक्तवहानि वै। रक्ताज्जरायुर्भवति नाडी चैव रसात्मिका॥ सा नाडी गर्भमाप्नोति तथा गर्भस्य वर्तनम्। यद्यदश्नाति मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम्॥ तस्मादन्नात् रसो भूतं वीर्यं त्रेधा प्रवर्तते। भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते॥ गर्भः पुष्यति भागेन वर्धते च यथाक्रमम्। गर्भं कुल्येव केदारं नाडी प्रीणाति तर्पिता'॥

इस सम्पूर्ण वर्णन में दो प्रकार की गर्भपोषण विधि का वर्णन है—१. गर्भ का उपस्नेह से पोषण और २. गर्भ को नाड़ी द्वारा पोषण पहुँचाना। प्रारम्भिक तीन मास के गर्भ को उपस्नेह से पोषण मिलता है। उपस्नेह का अर्थ है तरल का छन-छन कर बाहर निकल आना, जैसे—तालाब का जल समीप स्थित वृक्ष को पोषण प्रदान करता है।

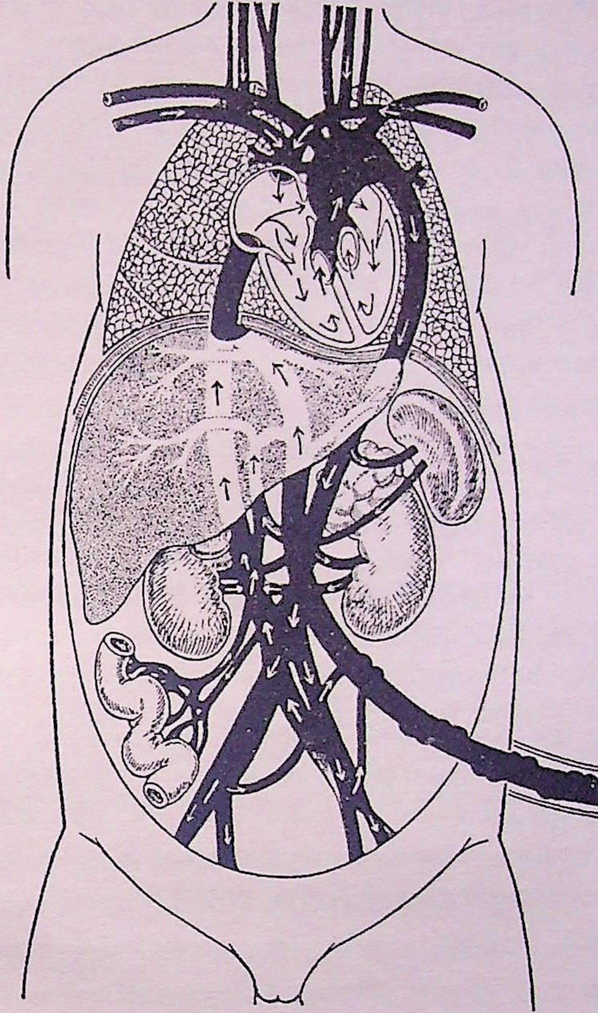
गर्भनाभिनाड़ी (Umbilical cord)—गर्भ अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए माता के रक्त और अपरा (Placenta) पर पूर्णतः निर्भर करता है। परन्तु फिर भी यह एक शरीरक्रिया सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना (Entity) है। जिस वस्तु की इसे आवश्यकता होती है उसे माता से, माता की आवश्यकताओं की चिन्ता न करते हुए ग्रहण कर लेता है; जैसे—कैल्शियम, लौह आदि।

गर्भनाभिनाड़ी या Funin गर्भ और अपरा को परस्पर जोड़ती है। इसका निर्माण 1. Epithelium covering, 2. Whartons jelly, 3. Blood vessels, 4. Umbilical vesicle और 5. Allantois से होता है। इसकी लम्बाई ७.५ से.मी. से १८० से.मी. (६ फुट) तक हो सकती है और गर्भ से लिपटी हुई होती है।

अपरा (Placenta)—इसका निर्माण भ्रूण की जरायु (Chorion of embryo) और अन्तर्गर्भाशयकला के विशेष भाग (Decidua basalis) से होता है। गर्भ गर्भनाड़ी से और गर्भनाड़ी अपरा से जुड़े होते हैं।

अपरा के कार्य—१. माता के रक्त से ऑक्सीजन और पोषण गर्भ तक पहुँचाना। २. यह गर्भ के उत्सर्गी (Excretory) अवयव की तरह कार्य करता है। कार्बन-डाइ-ऑक्साइड आदि को मातृ-रक्त के माध्यम से निकालता है। ३. संक्रमण को गर्भ तक पहुँचने नहीं देता है पर मसूरिका (Rubella) और फिरंग के रोगाणु (Spirochaete of syphilis) गर्भ तक पहुँच जाते हैं। ४. यह गर्भ, गर्भाशय और

अन्तर्गर्भाशय कला को बनाये रखने का कार्य भी करता है, क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के हॉर्मोन बनते हैं; जैसे कोरिओनिक गोनेडोट्रॉफीन, ईस्ट्रोजन और प्रोजेस्टिरॉन आदि।



चित्र सं० ५ : भ्रूण का रक्त-परिसंचरण (Foetal circulation)
'मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति····धमनीनामुपस्नेहो जीवयति'।

गर्भ का रक्तसंचार—प्रसवोत्तर मानव-शोणितसंचार में ऊर्ध्वगा और अधोगा महासिराएँ अशुद्ध रुधिर को हृदय के दाहिनी ओर के अलिन्द (Atrium) में पहुँचाती हैं। वहाँ से रक्त दाहिनी ओर के निलय (Ventricle) में पहुँच कर शुद्ध होने के लिए बाईं और दाहिनी ओर की फुप्फुसीया धमनियों द्वारा फुप्फुसों में पहुँचता है। वहाँ से शुद्ध होकर यह पुनः बाईं और दाहिनी ओर की फुप्फुसीया सिराओं द्वारा हृदय के बाईं ओर के अलिन्द (Atrium) में पहुँचकर बाईं ओर के निलय (Ventricle) में पहुँचता है और वहाँ से सारे शरीर में फैल जाने के लिए महाधमनी (Aorta) में पहुँचा दिया जाता है।

परन्तु श्वसनतन्त्र के क्रियाशील न होने के कारण गर्भ के रक्तशोधन का कार्य गर्भनाभिनाड़ी द्वारा माता के रक्तशोधन के साथ-साथ फुफ्फुसों में सम्पन्न होता है। इस प्रकार गर्भ का रक्तसंचार भिन्न प्रकार का होता है। गर्भ के रक्तसंचार में निम्नलिखित पाँच भिन्नताएँ पायी जाती हैं—१. नाभिनाल में तीन रक्तवाहिनियाँ, दो धमनियाँ तथा एक सिरा होती है [जो रक्तवाहिनियाँ हृदय की ओर रक्त ले जाती हैं उन्हें सिरा (सरणात् सिराः/Vein) और हृदय से बाहर रक्त ले जाने वाली को धमनी (धमनात् धमन्यः/Artery) कहते हैं।] नाभिधमनियों द्वारा गर्भ का अशुद्ध रक्त अप(म)रा में पहुँचता है और नाभिसिरा द्वारा शुद्ध रक्त अपरा में से गर्भ के शरीर में पहुँचता है। यह सिरा शुद्ध रक्त यकृत् में पहुँचाकर तथा उसको पोषण प्रदान कर आगे निकल जाती हैं और दो भागों में विभक्त हो जाती है। २. सिरावाहिनी (Ductus venosus) जो नाभिसिरा की शाखा है, नाभिसिरा को निम्न महासिरा (Inferior vena cava) से जोड़ती है। ३. धमनीवाहिनी (Ductus arteriosus) फुफ्फुसीया धमनी को महाधमनी से जोड़ती है। ४. अधोजठर (Hypogastric) नामक दो धमनियाँ नाभिनाल का आश्रय लेकर गर्भ की नाभि से बाहर निकल आती हैं और अपरा तक रक्त ले आती हैं। ५. अण्डाकार च्छिद्र (Foramen ovale) गर्भ हृदय के अलिन्दद्वय के मध्य स्थित होता है जिसमें से होकर निम्न महासिरा का रक्त दाहिनी ओर से बाईं ओर वाम अलिन्द (Atrium) में पहुँचता है। ये सिराएँ प्रसव के ४-५ दिन में सूत्राकार होकर विलीन हो जाती हैं। अण्डाकार छिद्र भी दस दिन के अन्दर विलीन हो जाता है।

गर्भरक्तसंचार संक्षेप में—

(१) आद्य क्रम—माता का शुद्ध रुधिर नाभिसिरा (Umbilical vein) की शाखाओं द्वारा गर्भ के यकृत् को पोषण प्रदान कर 'Ductus venosus' द्वारा निम्न महासिरा (Inferior vena cava) के रुधिर से मिल जाता है। इस महासिरा द्वारा यह रक्त हृदय के दाहिने अलिन्द (Atrium) में पहुँच कर Foramen ovale (गर्भावस्था में दोनों अलिन्दों के मध्य छिद्र) में से वाम अलिन्द में पहुँच जाता है, वहाँ से वाम निलय में और फिर वहाँ से महाधमनी में पहुँचता है।

(२) द्वितीय क्रम—ऊर्ध्व महासिरा (Superior vena cava) का रक्त भी दाहिने अलिन्द में फिर वहाँ से दाहिने निलय में पहुँचता है। इस रक्त का कुछ भाग फुफ्फुस धमनियों द्वारा दोनों फुफ्फुसों के पोषण के लिए (शुद्ध होने के लिए नहीं) जाता है और शेष अधिक भाग 'Ductus arteriosus' द्वारा महाधमनी में पहुँच जाता है। फुफ्फुसों के पोषण के उपरान्त आया अल्प मात्रा का रक्त वाम अलिन्द, फिर वाम निलय में आकर वहाँ से महाधपनी में प्रविष्ट हो जाता है।

(३) तृतीय क्रम—इस क्रम में जब शुद्ध रक्त महाधमनी में पहुँचकर गर्भ के सारे शरीर को पोषण पहुँचा चुकता है तो उसका अधिकांश भाग पुनः दो Hypogastric arteries द्वारा नाभिनाल में प्रविष्ट होकर अपरा में से होता हुआ मातृ-रुधिर में पुनः शोधन के लिए मिल जाता है।

गर्भस्य खलु सम्भवतः पूर्वं शिरः सम्भवतीत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम्; हृदयमिति कृतवीर्यो, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्; नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः, पाणिपादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य; मध्यशरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात् सर्वगात्रसम्भवस्य; तत् तु न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिः, गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च। तद्यथा—चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथग् दृश्यन्ते, कालप्रकर्षात्; तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्; तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति; एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः, तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति॥ ३२॥

भ्रूण के सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले अवयव के सम्बन्ध में मतभिन्नता—(इस सूत्र में ऋषियों की अलग-अलग सम्मतियाँ इस विषय के सम्बन्ध में दी गयी हैं कि 'गर्भ के शरीर का कौन-सा भाग पहले बनता है ?) शौनक नामक ऋषि का कहना है कि 'गर्भ का शिर सर्वप्रथम बनता है, क्योंकि प्रधान इन्द्रियों का मूल (Seat of all sensory and motor organs) शिर है'। कृतवीर्य के अनुसार 'हृदय का निर्माण सर्वप्रथम होता है, क्योंकि यह बुद्धि (Wisdom) और मन (Mind) का स्थान है'। पाराशर्य कहते हैं कि 'नाभि सर्वप्रथम निर्मित होती है, क्योंकि इसी से (पोषक रक्त प्राप्त कर) शरीरी के शरीर की वृद्धि होती है'। मार्कण्डेय की मान्यता है कि 'हाथ और पैर का निर्माण सर्वप्रथम होता है, क्योंकि गर्भ की चेष्टाओं का ये ही मूल हैं'। सुभूति और गौतम यह स्वीकार करते हैं कि 'शरीर का मध्य भाग पहले बनता है, क्योंकि गर्भ के सम्पूर्ण शरीर की उत्पत्ति इसी से बन्धी होती है'।

धन्वन्तरि का मत है कि गर्भ उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपरोक्त अनुमान ठीक नहीं हैं, क्योंकि बाँस के अंकुर और आम के फल की तरह गर्भ के सम्पूर्ण शरीर अंग-प्रत्यंग का निर्माण एक साथ होता है किन्तु अति सूक्ष्म होने के कारण नजर नहीं आता है; जैसे—आम के पके फल में समय पाकर केशर (Pollens), मांस (Pulp), अस्थि (Nut) और मज्जा (Kernel) अलग-अलग दिखायी देते हैं किन्तु ये अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण आरम्भ में दिखायी नहीं देते हैं, समय इनको व्यक्त करता है। वंशांकुर (Sprout of the bamboo) के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। इसी प्रकार गर्भ के आरम्भ में अंग-प्रत्यंग सभी होते हैं पर सूक्ष्म होने के कारण उपलब्ध नहीं होते हैं, वे सब समय आने पर प्रव्यक्त (Obvious) हो जाते हैं॥ ३२॥

विमर्श—उपरोक्त सूत्र में गर्भ के विकास के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन किया गया है। विषय को अधिक विस्तार से सुगम बनाने के लिए इस प्रकार की सम्भाषा-परिषदों की परिपाटी अपनायी जाती रही है। चरक-सूत्रस्थान अध्याय १२ और अध्याय २५ में जटिल प्रश्नों की विभिन्न पहलुओं से जाँच-परख कर प्रतिपाद्य विषयों की गुत्थियों को सुलझाया गया है। इन परिषदों में हिस्सा लेने वाले महर्षि हुआ करते थे, साधारण व्यक्ति नहीं ('समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा'–च.सू. २५)। आजकल शिक्षण-संस्थाओं में भी किसी एक विषय को लेकर वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का प्रचलन है।

तत्र गर्भस्य पितृजमातृजरसजात्मजसत्त्वजसात्म्यजानि शरीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः। गर्भस्य केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्ज-हृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्त्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः, वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि॥ ३३॥

पितृजादि शरीर-लक्षण—अब गर्भ के पितृज, मातृज, रसज, आत्मज, सत्त्वज और सात्म्यज शरीर लक्षणों (Physiological procedures) का वर्णन किया जायेगा—**पितृज**—शरीर के बाल, दाढ़ी के बाल, अस्थि, नख, दन्त, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र आदि कठोर रचनाएँ पितृज हैं। **मातृज**—मांस, रक्त, मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, अन्त्र, गुद आदि मृदु रचनाएँ मातृज हैं। **रसज**—शरीर की वृद्धि, बल, वर्ण, स्थिति (Health) और हानि (बीमारी) रसज हैं। **आत्मज**—इन्द्रियाँ (Sensory and motor organs), ज्ञान (Knowledge), विज्ञान (Wisdom), आयु (Longevity), सुख और दुःख आत्मज हैं ('आत्मजानि आत्मसन्निधानजातानि, न तु आत्मनो जातानि, आत्मनो निर्विकारस्य विकार-जनकत्वाभावात् प्रकृतिभावानुत्पत्तेः'–ड.)। **सत्त्वज**—इसका वर्णन आगे ('गर्भव्याकरणम्' नामक चतुर्थ

अध्याय में) किया जायेगा। **सात्म्यज**—वीर्य (Valour), आरोग्य, बल, वर्ण (Complexion) और मेधा (Intelligence) सात्म्यज (Physiological contributions) हैं।। ३३।।

विमर्श—इस वर्णन का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि यद्यपि गर्भ के निर्माण में मातृ-पितृ-रस आदि सभी का सहयोग अपेक्षित होता है तथापि इनमें जिस अवयवादि की रचना में जिसका अंश अधिक है, उसी का उल्लेख किया गया है।

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणकुक्षिमहत्त्वं च पूर्वं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्याम्, यस्याः पार्श्वद्वयमवनतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितं च लक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति।। ३४।।

भ्रूण के लिंग (Sex) की पूर्व जानकारी—जिसके दाहिने स्तन में पहले दूध आता है, दाहिनी कुक्षि (Flank) भारी हो, पहले दाहिने पैर को उठाकर चलती है, जिसका दौहृद पुन्नाम (Masculine) द्रव्यों में होता है, जो स्वप्न में पद्म, उत्पल, कुमुद, आम्रातक आदि पुन्नाम वाली वस्तुओं को प्राप्त करती है तथा जिसका मुख एवं वर्ण प्रसन्न होता है उस गर्भिणी को यह कह दें कि उसके पुत्र ही होगा। इसके विपरीत हो तो कन्या तथा जिसके उदर के दोनों पार्श्व दबे हुए हों और उदर सामने की ओर को निकल आया हो एवं स्त्री-पुरुष के जो लक्षण ऊपर बताये हैं, वे हों तो नपुंसक (Hermaphrodite) होता है। जिस गर्भिणी का उदर बीच में निम्न (Concave) होता है, द्रोणी ('द्रोणी जलक्षेपणी') की तरह वह यमल (Twin) को जन्म देती है।। ३४।।

भवन्ति चात्र—

देवताब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः। महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्।। ३५।।

गुणवती सन्तान का हेतु—जो देवता-ब्राह्मणों में श्रद्धा रखते हैं तथा जो पवित्र आचार वाले हैं उनकी सन्तान महान् गुणों से युक्त होती है। इससे भिन्न की सन्तान गुणहीन होती है।। ३५।।

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः। ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः।। ३६।।

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः।। ३।।



स्वभाव और पूर्वजन्म कृत कर्म—गर्भ के अंग-प्रत्यंग का बनना स्वभाव से ही होता है और इनकी उत्पत्ति में जो गुण-अवगुण आते हैं वह गर्भ के पूर्वजन्मों का परिणाम है।। ३६।।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'गर्भावक्रान्तिशारीर' नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।। ३।।



अध्याय-सारांश

'गर्भावक्रान्तिशारीर' नामक इस अध्याय में—गर्भ के मूल कारण शुक्र-आर्तव का स्वरूप (३), गर्भावतरण प्रक्रिया (४), शुक्र की अधिकता से पुत्र और आर्तव की अधिकता से पुत्री, समान होने पर नपुंसक का जन्म (५); अपत्यफलद काल, ऋतुमती का लक्षण, आर्तवकालावधि और रजोनिवृत्ति काल (६-११); सद्योगृहीतगर्भा के लक्षण, गृहीतगर्भा के लक्षण और गर्भिणी के लिये त्याज्य (१३-१७); गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि, दौहृदिनी काल, दौहृद की पूर्ति से गुणान्वित पुत्र, दौहृद-विशेष से गुण-विशेष (१८-२९); आठवें मास में ओज की अस्थिरता, प्रसव अवधि (३०), गर्भ द्वारा माता की रसवहा नाड़ी से पोषण प्राप्ति (३१); गर्भ के अंगों की सर्वप्रथम उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार, धन्वन्तरि द्वारा अन्तिम निर्णय (३२), गर्भ की मातृज, पितृजादि की रचनाओं का उल्लेख (३३); पुत्र होगा या पुत्री ? लक्षणों से जानने का वर्णन (३४)।



चतुर्थोऽध्यायः

अथातो गर्भव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'गर्भव्याकरणशारीर' (The Details of Foetal Anatomy) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'गर्भव्याकरणम्, गर्भविवरणम् इत्यर्थः'।

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥ ३ ॥

अग्नि आदि की प्राण संज्ञा—अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व, रज, तम, पाँच इन्द्रियाँ और भूतात्मा—ये प्राण हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—प्राण अर्थात् जीवन (Life) में अग्नि आदि सभी सम्मिलित हैं। इनका सम्मिलित रूप ही जीवन कहलाता है। डल्हणानुसार यहाँ अग्नि आदि के विशिष्ट अर्थ हैं। **अग्नि**—'अग्निरत्र पाचकभ्राजकालोचकरञ्जकसाधकानां पाञ्चभौतिकानां सर्वधात्वनुगतानां ऊष्मणां शक्तिरूपतयावस्थितो वाचोऽधिदेवत्वमापन्नो बोद्धव्यः'; यहाँ अग्नि शरीर में व्याप्त पित्तरूप पाञ्चभौतिक उष्णताएँ आदि के रूप में है। **सोम**—'श्लेष्मरसशुक्रादीनां तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य च शक्तिरूपतयावस्थितो मनसोऽधिदैवत्वमापन्नः सोम इति'; यहाँ सोम (श्लेष्मा) से अभिप्राय शरीर के सम्पूर्ण रसादि तरल एवं रसनेन्द्रिय की शक्ति तथा मानसाधिदैव से है। **वायु**—'वायुः पञ्चात्मकः प्राणादिभेदेन'; प्राणापानादि पाँच प्रकार की वायु। **सत्त्व, रज, तम**—ये आठ प्रकार की प्रकृति के गुण हैं ('सत्त्वरजस्तमांसि तु प्रकृतेरष्टरूपाया गुणाः'। **पञ्चेन्द्रियाणि**—'श्रवणदर्शनस्पर्शनरसनघ्राणानीति पञ्च'। **भूतात्मा**—'शुभाशुभकर्मभिः परिगृहीतः कर्मपुरुषः'।

इन अग्नि-सोमादि के कारण ही जीवन बना रहता है ('प्राणयन्ति जीवयन्तीति प्राणाः')। जैसे—अग्नि आहारपाकादि कर्मों के द्वारा इसका अनुप्रीणन करती है; सोम ओज आदि सौम्य धातुओं का पोषण करता है; वायु दोष, धातु और मलों के संचरण एवं उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा इसे बनाये रखता है; सत्त्व, रज, तम भी मनोरूप होकर भूतात्मा के द्वारा शरीर के ग्रहण-मोक्षण में हेतु होने से उपकारक हैं ('शरीरान्तरग्रहणमोक्षणे हेतुरिति तदपि प्राणयति'), चक्षुरादि पाँच इन्द्रियाँ इसे रूपादि ग्रहण कर्मों द्वारा अनुप्राणित करती हैं और भूतात्मा जो कर्मपुरुष है वह भी इसे चेतनता प्रदान कर उपजीवक है। अभिप्राय यह है कि जिसे जीवन कहा जाता है वह अग्निसोमादि सभी का सम्मिलित रूप है। ये सभी इसे बनाये रखने में किसी-न-किसी रूप में अपना-अपना योगदान देते हैं।

सम्प्रति जीवन के पाँच लक्षण हैं— १. क्षुब्धता (Irritability), २. स्वांगीकरण (Assimilation), ३. वृद्धि (Growth), ४. प्रजोत्पादन और ५. मलोत्सर्जन।

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्वान् वर्णानवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा व्रीहेरष्टादशभागप्रमाणा, सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना; द्वितीया लोहिता नाम, षोडशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता नाम, द्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीमशकाधिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नामाष्टभागप्रमाणा, विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पञ्चमी वेदिनी नाम

पञ्चभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; षष्ठी रोहिणी नाम व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुदश्लीपद-गलगण्डाधिष्ठाना; सप्तमी मांसधरा नाम व्रीहिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना। यदेतत् प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु, न ललाटे सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु च; यतो वक्ष्यत्युदरेषु—'व्रीहि-मुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येदि'ति॥ ४॥

त्वचा के सात भेद—पञ्चमहाभूतों के अधिष्ठान वाले शुक्र-शोणित के भली प्रकार हुए परिपाक से प्राण युक्त इस शरीर की दूध की मलाई (Layers of cream on the surface of boiled milk) की तरह सात त्वचाएँ होती हैं। इन त्वचाओं में बाहर की 'अवभासिनी' नामक त्वचा है जो सभी प्रकार के वर्णों (गौरादि) को (भ्राजक पित्त के द्वारा) प्रकट करती है और (पञ्चभूतात्मक) छाया को प्रकाशित करती है (चकार से प्रभा का भी ग्रहण किया जाता है)। इस त्वचा की मोटाई (प्रमाण/Thickness) व्रीहि (यव) के अठाहरवें भाग के बराबर होती है। यह सिध्म और पद्मकण्टक नामक रोगों का अधिष्ठान है। दूसरी त्वचा का 'लोहिता' नाम है। इसकी मोटाई यव के सोलहवें भाग के बराबर है और यह तिलकालक, न्यच्छ और व्यङ्ग का अधिष्ठान (स्थान) है। तीसरी त्वचा 'श्वेता' नाम से है जिसका प्रमाण जौ का बारहवाँ भाग है और यह चर्मदल, अजगल्ली और मशक नामक रोगों का आश्रय है। 'ताम्रा' नामक चौथी त्वचा जौ के आठवें भाग के बराबर मोटी होती है और यह विविध किलास-कुष्ठ की अधिष्ठान है। पाँचवीं त्वचा का नाम 'वेदिनी' है जो यव के पाँचवें भाग के बराबर मोटी होती है। इसमें कुष्ठ और विसर्प रोग होते हैं। 'रोहिणी' नामक छठी त्वचा की मोटाई यव के बराबर होती है और यह ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, श्लीपद और गलगण्ड आदि का अधिष्ठान है। सातवीं त्वचा का नाम 'मांसधरा' है। यह दो जौ के बराबर मोटी होती है और इसमें भगन्दर, अर्श और विद्रधि रोग होते हैं। इन त्वचाओं के जो ये प्रमाण बताये हैं वे मांसल स्थानों के हैं न कि मस्तक, अंगुल्यादि सूक्ष्म स्थानों के, जैसा कि आगे वर्णन किया गया है कि उदररोगों में व्रीहिमुख से अंगुष्ठोदर प्रमाण वेधन करें॥ ४॥

विमर्श—चक्रपाणि के शब्दों में प्रतिच्छाया, छाया और भा—'जलादिषु या छाया सा प्रतिच्छाया। आसन्ना लक्षते छाया, यथा—चित्रगता छाया प्रत्यासन्नैव लक्ष्यते। भाः प्रकृष्टा प्रकाशते, यथा—मणिमौक्तिकादीनां प्रभा दूरादेवोपलभ्यते इत्यर्थः। छाया तु या पञ्चविधा सा वर्णप्रभाश्रया'।

सिध्म, पद्मकण्टक, चर्मदल, ग्रन्थि, भगन्दरादि का वर्णन आगे किया गया है।

सप्त त्वचो भवन्ति

क्रम	त्वचा	अधिष्ठान
१.	अवभासिनी (Reflecting layer) (यव का अठाहरवाँ भाग)	पञ्चविध छाया का प्रकाशन, सिध्म, पद्मकण्टकाधिष्ठान
२.	लोहिता (Reddish layer) (यव का सोलहवाँ भाग)	तिलकालक, न्यच्छ, व्यंगाधिष्ठान
३.	श्वेता (White layer) (यव का बारहवाँ भाग)	चर्मदल, अलगल्ली, मशकाधिष्ठान
४.	ताम्रा (Pigment layer) (यव का आठवाँ भाग)	विविध किलास, कुष्ठाधिष्ठान
५.	वेदिनी (Sensory layer) (यव का पाँचवाँ भाग)	कुष्ठ, विसर्पाधिष्ठान
६.	रोहिणी (Proliferating layer) (यव प्रमाण)	ग्रन्थि, अपची, अर्बुदाधिष्ठान
७.	मांसधरा (Muscle supporting layer) (दो यव प्रमाण)	भगन्दर, अर्श, विद्रधि-अधिष्ठान

सम्प्रति त्वचा को इतने भागों में विभक्त करने की अपेक्षा केवल दो प्रमुख स्तरों (Layers) में बाँटना ठीक समझा गया है—१. बाह्य त्वचा (Epidermis) और २. त्वचा (Dermis)। इन दोनों के भी कुछ उपभाग (Subdivision) किये गये हैं—(१) बाह्य त्वचा में रक्तवाहिनियाँ नहीं पायी जाती हैं। इसे पोषण लसीकाओं से मिलता है। इसमें तन्त्रिकाएँ (Nerves) होती हैं। इसकी एक लेयर शल्क स्तर (Stratum corneum) है। बाल इसकी खास उपज है। दूसरी लेयर स्वच्छ स्तर (Stratum lucidum) है। तीसरी लेयर परिडिम्ब स्तर (Stratum granulosum) है। चौथी लेयर 'Malpighian' लेयर है। इसमें मेलनिन (Melanin) नामक वर्णक होता है। (२) त्वचा (Dermis) में रक्तवाहिनियाँ, लसीकाएँ, कई तरह की संवेदी (Sensory) तन्त्रिकाएँ, बालों की जड़ें (Folicles) तथा स्वेदग्रन्थियाँ आदि होते हैं।

कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः ॥ ५ ॥

सप्तविध कला—कला भी सात हैं। ये धातुओं और आशयों के मध्य स्थित होने से इनकी मर्यादा (सीमा) को अलग-अलग करने वाली हैं॥ ५॥

विमर्श—रक्त-मांसादि धातुएँ हैं (धारणात् धातवः)। इस प्रकार कफ, पित्त, पुरीषादि भी प्रकृतिस्थ हों तो धातु कहलाते हैं। उनके अवस्थान-प्रदेश धात्वाशय हैं। कलाओं से उनकी सीमा निर्धारित होती हैं ('तेषामन्तरेषु मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः')। ये प्रत्यक्ष नहीं हैं। अतः उपमान प्रमाण द्वारा प्रदर्शित करने के लिए इन्हें अग्रिम श्लोकों में वर्णित किया गया है।

भवतश्चात्र—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते। तथाहि धातुर्मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥ ६ ॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा। श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥

कला-वर्णन—जिस प्रकार काष्ठ (Wood) को काटते हुए उसका अन्दर का सारभाग (Medullary wood) दिखायी देने लगता है उसी प्रकार मांस को अलग करते हुए धातुएँ दिखायी देने लगती हैं। जो स्नायुओं (Elastic fibres) से भली प्रकार ढका हुआ होता है तथा जो जरायु की तरह आवरण से आच्छादित होते हैं वह भाग 'कला' कहलाता है॥ ६-७॥

विमर्श—वृद्ध वाग्भट द्वारा वर्णित कला का स्वरूप—'यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथास्वमूष्मभिर्विपाकः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषाल्पत्वात् कलासंज्ञः'।

कला के सम्बन्ध में श्रीगणनाथ सेन महोदय के अनुसार—''सूक्ष्मकौषेयवासः समाकारा नानाविध-संस्थानाः, या मांसस्यास्थ्न आशयानाञ्च सर्वेषामन्तर्बहिरावृत्य तिष्ठन्ति, यथादेशकर्मसंज्ञाश्च लभन्ते, ताः 'धात्वाशयान्तरमर्यादाः' इति पूर्वे'' (सु.शा. ४)।

तासां प्रथमा मांसधरा, यस्यां मांसे सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥ ८ ॥

मांसधरा कला—पहली कला 'मांसधरा' (Flesh supporting) है। इसमें स्थित मांस में सिराओं (Veins), स्नायुओं (Fibres), धमनियों (Arteries) और स्रोतों (Channels) के जाल (Net works) स्थित होते हैं॥ ८॥

भवति चात्र—

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः। भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥ ९ ॥

शरीर में सिरा-धमनी का प्रसार—जिस प्रकार कमल (*Nelumbium speciosum*) की नाल (बिस = मृणाल/Lotus stalks) भूमि में पंकोदक (गीली मिट्टी) में स्थित होने पर चारों ओर को फैलते हैं, उसी प्रकार मांस में सिरा, धमनी आदि फैलते हैं॥ ९॥

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति॥

रक्तधरा कला—दूसरी कला 'रक्तधरा' (Blood supporting/Endothelium) है, जो मांस के अन्दर होती है। इसमें रुधिर विशेषतः सिराओं में, यकृत् और प्लीहा होते हैं॥ १०॥

भवति चात्र—

वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्। मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं सम्प्रसिच्यते॥ ११॥

रक्तस्रवण—जिस प्रकार क्षीरी वृक्ष से प्रहार करने पर क्षीर (Latex) बहने लगता है उसी प्रकार मांस के कट जाने से शीघ्र ही रक्त बहने लगता है॥ ११॥

तृतीया मेदोधरा; मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति॥ १२॥

मेदोधरा कला—तीसरी कला 'मेदोधरा' (Fat supporting/Adipose tissue) है। मेद सभी प्राणियों के उदर (Abdomen) और छोटी अस्थियों में रहती है। बड़ी अस्थियों में मज्जा रहती है॥ १२॥

भवति चात्र—

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते। शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता॥ १३॥

मज्जा और वसा—मज्जा बड़ी अस्थियों में विशेष रूप से रहती है। अन्य अस्थियों में पायी जाने वाली मज्जा जो रक्तयुक्त होती है, 'मेद' कहलाती है। शुद्ध मांस का स्नेह (Oily substance of pure flesh) 'वसा' कहलाता है॥ १३॥

विमर्श—'वसा तु मांसान्तरानुप्रविष्टः सूक्ष्मतरः स्नेहभागस्तस्या मेदस्यनुप्रवेशस्तुल्योपादानत्वात्' (गणनाथ सेन)।

'मेदो नाम सान्द्रसार्पिस्तुल्यः स्नेहधातुः शरीरस्य। तस्य स्थानमुदरान्तः (In the omentum) त्वचामधस्तात् (In superficial fascia) अन्तरालेषु च पेश्यादीनाम्' (गणनाथ सेन)।

'मज्जा नाम अस्थिमध्यगतः स्नेहः। स द्विविधः—पीतो रक्तश्च, तत्र पीतो नलकास्थ्नामन्तः, रक्तस्त्वितरास्थिषु प्रान्तभागेषु च नलकास्थ्नाम्। सोऽयं स्थूलरूपेण मेदसोऽभिन्नोऽपि कर्मनिर्माणवैशेष्यात् पृथगेव धातुः। रक्तमज्जा तु शोणितस्य शोणकणिकाप्रभवः—इति नव्याः' (गणनाथ सेन)।

चतुर्थी श्लेष्मधरा सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति॥ १४॥

भवति चात्र—

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते। सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा॥ १५॥

श्लेष्मधरा कला और कार्य—चौथी कला 'श्लेष्मधरा' (Synovial membrane) है। यह सभी प्राणियों की सन्धियों में स्थित होती है॥ १४॥

जिस प्रकार धुरी (Axle) स्नेहसिक्त (Lubricated) होने पर भली प्रकार गति करती है उसी प्रकार प्राणियों के शरीर की सन्धियाँ भी श्लेष्मा (Synovial fluid) से युक्त होने पर भली प्रकार गति करती हैं॥ १५॥

विमर्श—श्लेष्मक कला (Synovial membrane) में तरल होता है जो श्लेष्म (Synovial fluid) कहलाता है। यह स्वच्छ, अण्डे की सफेदी की तरह का तथा सन्धियों में पाया जाता है।

पञ्चमी पुरीषधरा नाम; याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था॥ १६॥

पुरीषधरा कला और कार्य—पाँचवीं कला 'पुरीषधरा' (Faecal matter supporting) है। यह उदर के अन्दर पक्वाशय में स्थित (Lines the lower gut) होती है और मल (Excretory products) को पृथक् करती है॥ १६॥

विमर्श—'अन्तःप्रकोष्ठे इति कोष्ठस्यान्तर्मध्यमन्तःकोष्ठम्, तस्मिनन्नं मूत्रपुरीषरूपतया विभजति'।

कोष्ठ का लक्षण—'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकं फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते'॥

यकृत्समन्तात् कोष्ठे च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता। उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला॥ १७॥

पुरीषधरा कला का विसर्जन कार्य—यकृत् और कोष्ठ के समीपवर्ती अन्त्रों में स्थित (Located in the intestines in the vicinity of the liver and other viscera) यह मल(पुरीष)धरा कला मल (Waste products) को, जो उण्डुक में स्थित है, पृथक् करती है (अथवा पुरीष और मूत्र के रूप में अलग-अलग करती है)॥ १७॥

विमर्श—भुक्त पदार्थ स्थूलान्त्र में आकर तरल भाग आचूषित होकर मूत्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है और शेष भाग पुरीष बनकर मलद्वार से बाहर निकल जाता है। 'मलं विभजते' का यह 'गयी' सम्मत अर्थ है।

उण्डुक शरीर की कौन-सी रचना है इस सम्बन्ध में मतभेद है। पर अधिकतर 'Caecum' को उण्डुक माना जाता है। डल्हण ने इसका एक अन्य नाम 'पोट्टलक' भी दिया है। कुछ विद्वान् 'Sigmoid colon' को उण्डुक मानते हैं।

इस सम्बन्ध में म.म. श्रीगणनाथ सेन महोदय द्वारा प्रस्तुत विवरण—''उण्डुकपरिचयश्च क्वापि स्पष्टं न वर्णितः, न च 'शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः' इत्युक्तेस्तत्स्वरूपावबोधः। समुन्नेयं तु तत्स्वरूपं कथञ्चित् मलधराख्यकलाख्यानप्रसङ्गे; 'उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला'–इत्यभिधानात्। उण्डुको हि नाम बृहदन्त्रस्याद्योभागश्चरके 'पुरीषोण्डुकः' इति प्रतिपादितः''।

षष्ठी पित्तधरा; या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति॥ १८॥

पित्तधरा कला का कार्य—छठी कला 'पित्तधरा' है (पित्तमत्रान्तरग्निसंज्ञकम्) जो (कफ के आशय) आमाशय से च्युत हुए (आये हुए) और पक्वाशय की ओर जाने के लिए (पक्वाशयागमनायोपस्थितं पित्तस्थानं प्राप्तम्) उपस्थित चार प्रकार के भुक्त अन्न को धारण करती है॥ १८॥

विमर्श—'तथा च संग्रहः—षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था, सा हि अन्तरग्नि-अधिष्ठानतया आमपक्वाशययोर्मध्ये चतुर्विधमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयन्ती पचतीत्यर्थः'।

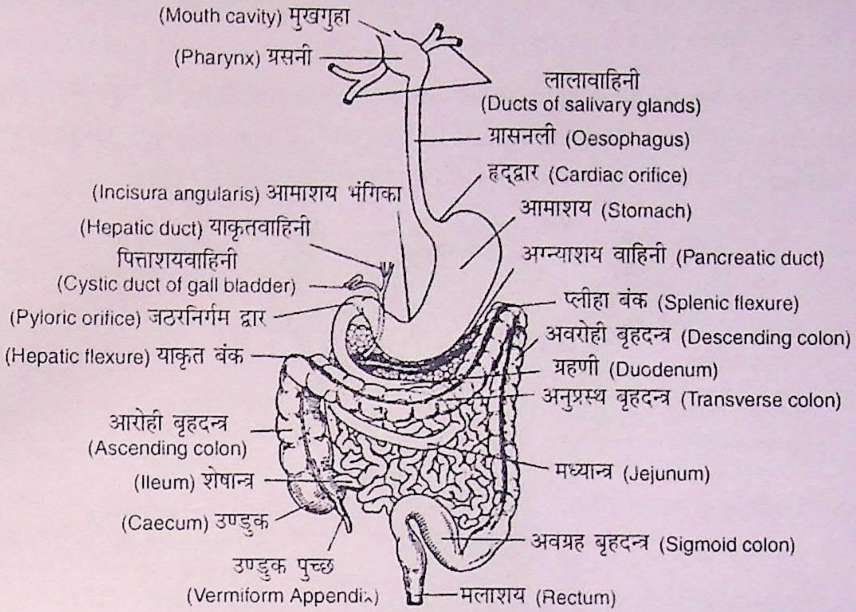
भवति चात्र—

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्। तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा॥ १९॥

पित्तकर्म—पित्त के तेज से मनुष्यों के कोष्ठ में स्थित अशित (भोजन किया हुआ/अश् भोजने/ Eatable), खादित (खाया हुआ/खाद् भक्षणे/Chewable), पीत (पीया हुआ/धेट् पाने/Drinkable) और लीढ (चाटा हुआ/लिह् आस्वादने/Lickable)—यह चार प्रकार का अन्न यथासमय जीर्ण तथा शोषित होता है॥ १९॥

विमर्श—यथाकालम्—'कालानतिक्रमेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्निषु मात्राद्रव्यगुरुलघूचितकालानतिक्रमेण' (ड.) अर्थात् भोजन के पचन में जाठराग्नि की तीक्ष्णता, मध्य या मन्दता तथा भुक्त अन्न की मात्रा, द्रव्य का गुरु-लघु होना आदि का भी प्रभाव पड़ता है और पचन काल भी प्रभावित होता है।

भोजन के पचन में आहारपथ जो एक लम्बी पेशीमय नलिका है, उसके प्रमुख भाग हैं—१. मुख, २. जीभ, ३. ग्रसनी (Pharynx), ४. ग्रासनली, ५. आमाशय, ६. लघ्वन्त्र, ७. बृहदन्त्र, ८. मलाशय (Rectum) और ९. गुदनलिका (Anal canal)।



चित्र सं० ६ : पचनतन्त्र के प्रमुख अवयव

आहारपथ (पचनतन्त्र) के विशेष कार्य हैं—१. अशन या अन्तर्ग्रहण (Ingestion)—भोजन का अन्तर्ग्रहण। २. पाचन (Digestion)—भोजन को पचाना। ३. स्रवण (Secretion)—कई प्रकार के पाचन रसों का स्रावण। ४. अवशोषण (Absorption)—पानी, लवण, विटामिन्स आदि का शोषण। ५. उत्सर्जन (Excretion)—भारी धातुएँ, टॉक्सीन आदि को निकालना। ६. गति (Movement)—ये कई प्रकार की हैं। इनका काम भुक्त अन्न को रसों से मिलाना (Admixture of food), इसे आगे बढ़ाना तथा अन्त्र की दीवार में रक्तसंचार को बढ़ावा देना आदि है। मलत्याग (Defaecation) भी बड़ी आँतों की गति का परिणाम हैं। ७. लोहितकोशिकाजनन (Erythropoiesis), ८. रक्तप्रतिक्रिया (Reaction) को नियमित करना, ९. रक्तशर्करा को नियमित करना तथा १०. शरीर में जल के सन्तुलन को बनाये रखना आदि।

भुक्त अन्न लगभग साढ़े चार घण्टों में बृहदन्त्र में पहुँचता है। कई कारणों से इसमें अन्तर आ जाता है। यहीं पर जल का अवशोषण होता है और पुरीष निर्मित होता है। अन्न को यथासमय पचाना तथा शोषणादि कार्य पित्तधरा कला के ही हैं।

सप्तमी शुक्रधरा नाम; या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी॥ २०॥

शुक्रधरा कला—सातवीं कला 'शुक्रधरा' है जो सभी प्राणियों के सारे शरीर में होती है॥ २०॥

भवन्ति चात्र—

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा। शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः॥ २१॥

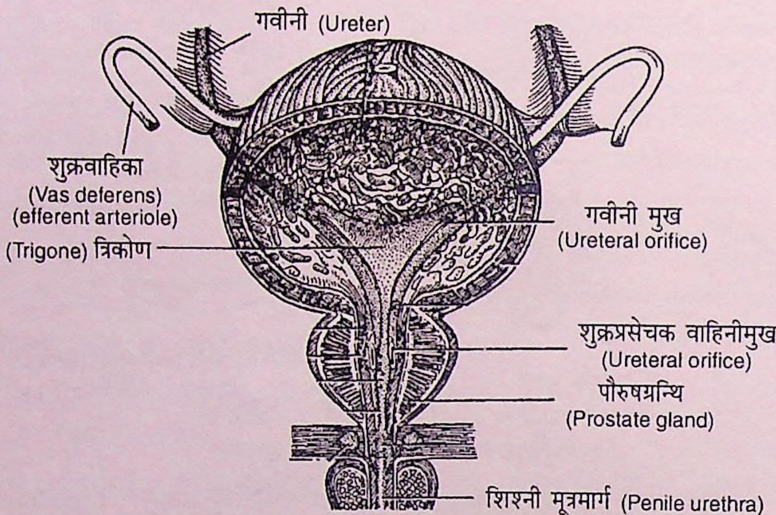
शुक्रधातु का शरीर में प्रसार—जैसे दूध में घी और गन्ने में रस व्याप्त होते हैं उसी प्रकार विद्वान् चिकित्सक शुक्र को शरीर में सर्वत्र व्यापक जाने॥ २१॥

विमर्श—सम्प्रति शुक्र (Semen) को सर्वशरीरव्यापी नहीं माना जाता है। शुक्रधरा कला सर्वशरीर-व्यापिनी की संगति भी कठिन है। अन्तः शुक्र को शरीरव्यापी माना जाता है।

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः। मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते॥ २२॥

शुक्रक्षरण (Ejaculation of semen)—बस्तिद्वार (Opening of the urinary bladder) के नीचे (Internal urinary meatus) और दो अंगुल दाहिनी ओर पुरुष का शुक्र मूत्रवह स्रोत (Urinary passage) के मार्ग से प्रविष्ट होकर बाहर आता है॥ २२॥

विमर्श—इस श्लोक का अर्थ समझने के लिए बस्ति (Urinary bladder), बस्तिमुख (Opening of the bladder), शुक्राशय (Seminal vesicle), शुक्रवाहिनी (Vas deferens) और मूत्रवह स्रोत (Urinary passage) का शारीर जानना आवश्यक है। यह निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट है—



चित्र सं० ७ : मूत्राशय, पौरुषग्रन्थि, शुक्रवाहिनियाँ और शुक्राशय

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा। स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् सम्प्रवर्तते॥ २३॥

शुक्रक्षरण-प्रक्रिया—(जब दूध में घी की तरह शुक्र सारे शरीर में स्थित है तो वह अलग होकर कैसे क्षरित होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—) जब मन क्रोधादि से रहित और प्रसन्न होता है तो स्त्री के साथ रति करते समय पुरुष के (शिश्नेन्द्रिय के) प्रहर्ष से शुक्र बाहर निकलता है॥ २३॥

विमर्श—रति करते समय प्रहर्ष युक्त शिश्न से जो शुक्र बाहर निकलता है वह वृषणों (Testes) से शुक्रवाहिनियों द्वारा आये तरल से, शुक्राशय से आये शुक्र से, पौरुषग्रन्थि के स्राव से और श्लैष्मिक ग्रन्थियों के स्राव से निर्मित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्र को सर्वशरीरव्यापी मानने का अभिप्राय वृषण-ग्रन्थियों के हॉर्मोन (Testostrerone) से है, जो सीधे रुधिर में मिलकर फिजिकल, सेक्स्युअल और मानसिक परिवर्तन लाता है।

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद्गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते; शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद्गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति॥ २४॥

अपरा और स्तन्य का निर्माण—गर्भ के कारण गर्भिणी के आर्तववह स्रोतों के मार्ग अवरुद्ध हो जाने से आर्तवदर्शन नहीं होता है। अतः अधोमार्ग के रुक जाने से यह ऊपर की ओर आकर तथा वृद्धि को प्राप्त होकर अपरा कहलाता है। अवशिष्ट आर्तव और भी ऊपर आकर स्तनों में पहुँचता है। यही कारण है कि गर्भिणियों के स्तन पीन, उन्नत और दुग्धयुक्त होते हैं॥ २४॥

विमर्श—मासिक-आर्तव और अपरा-निर्माण की चर्चा की जा चुकी है।

पीनोन्नतपयोधरा—स्तन त्वगीय (Cutaneous) रचना है। प्रत्येक स्तन में १५-२० खण्ड (Lobes) होते हैं। वयस्क आयु (Puberty) तथा गर्भावस्था में इनका आकार बढ़ जाता है। गर्भावस्था के बाद के दिनों में कोष्ठकों (Alveoli) की कोशिकाएँ उनमें हुए स्राव से बड़ी हो जाती हैं। स्तन्यस्रवण के समय दुग्ध इन कोष्ठकों में एकत्रित हो जाता है और प्रसव के पश्चात् दुग्ध स्रवित होने लगता है।

स्तनों के विकास और स्तन्यस्रवण (Lactation) में कई प्रकार के हॉर्मोन कार्य करते हैं। सबसे अधिक क्रियाशील हॉर्मोन ईस्ट्रोजन्स और प्रोजेस्टिरॉन हैं जो डिम्बग्रन्थि के 'Graafian follicles' से इस्ट्राडियाल (Oestradiol) और कार्पस ल्यूटियम (Progesterone) से निर्मित होते हैं। प्रोलेक्टिन (Prolactin) प्रमुख दुग्धोत्पादक द्रव्य है। वयस्कता (Puberty) लाना केवल ईस्ट्रोजन का काम है। यह हॉर्मोन (अन्तःस्राव) शैशव और बाल्यावस्था में अनुपस्थित रहता है। यदि ग्रन्थिल ऊतक (Glandular tissue) न हों तो युवावस्था में दुग्धस्रवण अनुपस्थित होता है।

गर्भावस्था में स्तनों की वृद्धि का कारण ईस्ट्रोजन और प्रोजेस्टिरॉन की उत्तेजक क्रिया से ग्रन्थिल ऊतकों का प्रचुरोद्भवन (Proliferation) है। स्तनवृद्धि के लिए इन दोनों का क्रियाशील होना आवश्यक है। गर्भावस्था में अपरा इन दोनों अन्तःस्रावों का बड़ी मात्रा में निर्माण करता है। 'पीनोन्नतपयोधरा' का यही रहस्य है।

वास्तविक स्तन्यस्रवण (Lactation) प्रसव के पश्चात् होता है। अपरा के अलग हो जाने से प्रोलेक्टिन (Prolactin) का स्राव स्वतन्त्र रूप से होने लगता है। अपरा इस हॉर्मोन के निर्माण को रोके रखता है।

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणितफेनप्रभवः फुप्फुसः, शोणितकिट्टप्रभव उण्डुकः ॥

यकृत् आदि की उत्पत्ति—गर्भ के यकृत् और प्लीहा (Spleen) रक्त से बनते हैं और रक्त के फेन से फुप्फुस का निर्माण होता है। इसी प्रकार उण्डुक (Caecum) रक्तकिट्ट (Waste product of blood) से निर्मित होता है॥ २५॥

विमर्श—'यकृत् कालखण्डं दक्षिणपार्श्वस्थम्, प्लीहा अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धो वामपार्श्वस्थितः; यकृत्प्लीहानौ इत्युपलक्षणं, तेन क्लोमापि शोणितजः, तथा च वृद्धवाग्भटः—'रक्तादनिलयुक्तात् कालीयकम्' इति। शोणित इत्यादि फुप्फुसः हृदयनाडिकालग्नः स्वनामख्यातः। शोणितकिट्टेत्यादि उण्डुकः पोट्टलकः' (ड.)।

यकृत्—शरीर में यह सबसे बड़ी ग्रन्थि है जिसका भार १७५० ग्राम के लगभग होता है। यह उदर के ऊपर और दाहिने भाग में मध्यच्छद के नीचे स्थित होता है और फाल्सिफार्म तथा अन्य लिगामेण्ट के द्वारा बँधा रहता है। इसके दो प्रमुख खण्ड हैं—दाहिना और बायाँ। यह रंग में भूरा-लाल होता है और इसमें रक्तवाहिनियाँ अत्यधिक होती हैं। शरीर के लिए यह अनिवार्य अवयव है और इसके कार्य अनेक प्रकार के हैं; यथा—गर्भावस्था में R.B.C. बनाता है, एक प्रकार का रक्ताशय (Store house) है। रक्त का थक्का (Blood clotting) से भी इसका सम्बन्ध है। प्लाज्मा प्रोटीन बनाता है; पित्त (Bile) बनाता है, कार्बोहाइड्रेट-वसा-प्रोटीन के चयापचय से सम्बन्धित है, विषों को दूर कर रक्षा करता है और शरीर की ऊष्मा (Heat) को नियमित करता है।

प्लीहा (Lien)—यह बाईं ओर के अधःपर्शुका (Hypochondriac) प्रदेश में स्थित होती है और अधिजठर (Epigastric) प्रदेश तक फैली होती है। इसका रंग हलका काला-गुलाबी होता है। यह तीन इंच चौड़ी, पाँच इंच लम्बी और डेढ़ इंच मोटी होती है। इसका भार ६-८ औंस तक होता है।

प्लीहा के मुख्य कार्य इस प्रकार हैं— १. गर्भ के बाद के महीनों में रक्तकोशिकाओं (Red cells) का निर्माण करती है। २. इसकी R.E. कोशिकाएँ रुधिर की जीर्ण रक्त और श्वेत कोशिकाओं को नष्ट करती हैं। ३. इसमें रक्त संचित रहता है (Reservoir of blood) और लोह (Iron) भी। ४. इसकी R.E. कोशिकाएँ रोगाणुओं से रक्षा करती हैं।

फुप्फुस—वक्षोगुहा में हृदय के दोनों ओर एक फुप्फुस स्थित होता है। यह स्पंज की तरह की बनावट वाली रचना है। इसका रंग सलेटी होता है। यह अपनी आवरणगुहा (Pleural cavity) में लगभग स्वतन्त्र होता है। पानी में डालने पर फुप्फुस तैरते हैं। दाहिने फुप्फुस का भार २२ औंस और बायें का २० औंस के लगभग होता है। फुप्फुसों के प्रमुख कार्य साँस द्वारा ऑक्सीजन ग्रहण करना और कार्बनडाइआक्साइड को बाहर निकालना, गैसों को बाहर निकालना, शारीरताप के सन्तुलन को बनाये रखना है और ये रक्तसंचार को भी प्रभावित करते हैं।

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः। तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति॥ २६॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं बस्तिश्च देहिनः। उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत्॥ २७॥
कफशोणितमांसानां साराज्जिह्वा प्रजायते। यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत्॥ २८॥
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा। मेदसः स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमाप्नुयात्॥ २९॥
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः। आशय्याऽभ्यासयोगेन करोत्याशयसम्भवम्॥

अन्त्रादि की उत्पत्ति—रक्त और श्लेष्मा का जो सारभाग है उसका जब पित्त द्वारा पचन हो रहा होता है उस समय वायु के अनुधावन से (वायुनाग्नेः समिन्धनात्) मनुष्य की अन्त्र, गुद (Anus) और बस्ति (Bladder) का निर्माण होता है। उदर में पक्व हुए कफ, रुधिर और मांस के सारभाग से जिह्वा का निर्माण होता है; जैसे उत्तम स्वर्ण आग में रखकर तथा धौंकनी से हवा करने पर (Blowing air) निर्मित होता है। जिस प्रकार वायु ऊष्मा से युक्त होकर स्रोतों को विदीर्ण कर देती है, उसी प्रकार वायु मांस में प्रविष्ट होकर उसे पेशी के रूप में विभक्त कर देती है।

वायु द्वारा सिरा ही मेद के स्नेह से स्नायु (Ligament) के रूप में परिवर्तित हो जाती है। मृदुपाक हो तो सिरा तथा खरपाक हो तो स्नायु का निर्माण होता है। वायु ही बार-बार अभ्यास कर आशयों का निर्माण करती है॥ २६-३०॥

विमर्शत—आशय्य—'अभ्यासयोगेन वायुः स्थितिं कृत्वा इत्यर्थः' (ड.)।

रक्तमेदःप्रसादाद् वृक्कौ; मांसासृक्कफमेदःप्रसादाद् वृषणौ; शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः, तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च; तद्विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति॥ ३१॥

वृक्कों की उत्पत्ति—रुधिर और मेद के सारभाग (प्रसादः = सारः) से वृक्कों का निर्माण होता है और वृषण (वृषणौ = अण्डौ) मांस, रक्त, कफ और मेद के सार से निर्मित होते हैं। हृदय रक्त और कफ के सारभाग से बनता है, इस (हृदय) के ही आश्रय प्राणवह धमनियाँ हैं तथा हृदय के नीचे बायीं ओर प्लीहा एवं फुप्फुस और दाहिनी ओर यकृत् तथा क्लोम होते हैं। वह हृदय विशेष रूप से चेतना का स्थान है। जब वह तमोगुण से आच्छादित हो जाता है तो सभी प्राणी सो जाते हैं॥ ३१॥

विमर्श—विशेषेण चेतनास्थानम्—'चेतनास्थानं चैतन्यास्पदम्, सामान्येन तु सकलशरीरमेव चेतना-स्थानम्। तदुक्तं चरके–चेतनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्तर्मलद्रवगुणैर्विना'॥ इति। चेतना के साथ रहने वाला मन भी विशेष रूप से हृदय के आश्रित है। अतः जब हृदय तमोगुण से आच्छादित हो जाता है तो सभी प्राणी सो जाते हैं।

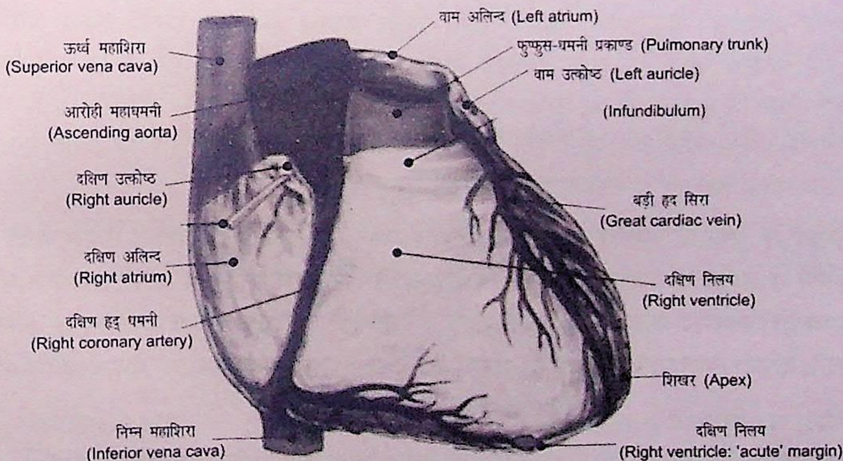
क्लोम—यह सन्दिग्ध रचना है, क्योंकि अभी तक यह निर्णीत नहीं हो सका कि वास्तव में क्लोम शब्द से शरीर की कौन-सी रचना ली जाय। इस सम्बन्ध में म.म. श्रीगणनाथ सेन महोदय की सम्मति इस प्रकार है—'एवञ्च, क्लोमपदार्थव्याकुलीभावोऽपि स्फुट एव। तथाहि—केचित् आमाशयपश्चाद्वर्तिनी अग्न्याशयाख्ये यन्त्रे (Pancreas) क्लोमपदं प्रयुञ्जते साम्प्रतिकाः, तत्प्रामादिकम्। यतः 'शुष्कक्लोम-गलाननः'—इत्यादिप्रयोगदर्शनात् (सु.उ. ४१) टीकाकृद्भिः क्लोम्नः पिपासास्थानत्वेन निर्देशाच्च गलसमीपवर्ती कोऽप्यवयवः क्लोमेति शक्यमुन्नेतुम्। 'क्लोमस्याद्गलनालिका'–इति देवयाज्ञिकभाष्यदर्शनात् सुश्रुतेन मण्डलाख्यास्थिसन्धीनां क्लोम्नि (शा. ५) दृष्टान्तदर्शनाच्च तरुणास्थिचक्रवेष्टितः श्वासपथः (Trachea or tracheo-bronchial tree) एव कण्ठपुरःस्थः क्लोमेति निश्चयोऽस्माकम्'।

वृक्क—ये संख्या में दो होते हैं और मेरुदण्ड (Vertebral column) के दोनों ओर, उदर की पिछली दीवार में, अन्तिम वाक्षस कशेरुका के सामने स्थित होते हैं। दाहिने वृक्क का ऊपर का भाग बारहवीं पर्शुका के सामने तथा वाम वृक्क का ऊपर का भाग ग्यारहवीं पर्शुका भाग की अधःसीमा के सामने होता है। ये लगभग चार इंच लम्बे, ढाई इंच चौड़े और डेढ़ इंच मोटे होते हैं। इनके प्रमुख कार्यों में— १. हानिकर पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना, २. इलेक्ट्रोलाइट्स के सन्तुलन को बनाये रखना, ३. प्लाज्मा के आयतन और जल के सन्तुलन को बनाये रखना, ४. शरीर में से औषधियों, विषैले पदार्थों को निकालना, ५. अमोनिया आदि कुछ पदार्थों का निर्माण करना और ६. रुधिर और ऊतकों में परासरणी दबाव (Osmotic pressure) को बनाये रखना आदि हैं।

भवति चात्र—

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति॥ ३२॥

हृदय और कार्य—हृदय (Heart) बिना खिले कमल की तरह और अधोमुख होता है। यह जागते और सोते समय भी खिलता और बन्द होता रहता है॥ ३२॥



चित्र सं० ८ : हृदय का सम्मुखीन दृश्य (Sterno-costal surface of heart)
('पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्')

विमर्श—हृदय—यह एक पेशीमय अन्तःसुषिर रचना है जो इधर-उधर से आये रक्त के ग्रहण करने और शुद्ध होने के पश्चात् उसे सारे शरीर के पोषण के लिए पुनः भेज देने का कार्य करता है। हृदय

मध्यावकाश (Mediastenum) में दोनों फुफ्फुसों के मध्य हृदावरण (Pericardium) में स्थित होता है। इसका अधिक भाग मध्य रेखा से बायीं ओर और कुछ भाग दाहिनी ओर होता है। यह आधार (Base) से शिखर (Apex) तक ५ इंच लम्बा, ३ $\frac{१}{२}$ इंच चौड़ा और २ $\frac{१}{२}$ इंच मोटा होता है। इसका औसतन भार पुरुषों में १० औंस और स्त्रियों में ९ औंस होता है।

हृदय की बनावट (रचना) और कार्य दोनों ही बड़े कौतुकमय हैं। इसके चार कोष्ट (Chamber) होते हैं—दो दाहिनी ओर और दो बायीं ओर। ऊपर के कोष्ठ अलिन्द (Atrium) और नीचे के निलय (Ventricle) कहलाते हैं। दाहिनी ओर के अलिन्द में ऊर्ध्व महासिरा (Superior vena cava) और निम्न महासिरा (Inferior vena cava) द्वारा लाया गया अशुद्ध रक्त पहुँचता है। इन दोनों कोष्ठों के मध्य कपाटिकाएँ (Tricuspid valve) होती हैं, जो दाहिने अलिन्द के रक्तपूर्ण होने पर खुलती हैं और रक्त दाहिने निलय में आ जाता है। दाहिने निलय से यह रक्त फुफ्फुसीया धमनी की दो शाखाओं (Pulmonary artery) द्वारा शुद्ध होने के लिए फुफ्फुसों में चला जाता है। फुफ्फुसीया धमनी और दाहिने निलय के मध्य भी कपाटिकाएँ (Pulmonary semilunar valves) होती हैं।

फुफ्फुसों में शुद्ध होने के पश्चात् रुधिर फुफ्फुसीया सिराओं द्वारा लौट कर पुनः हृदय के वाम अलिन्द में आकर वाम निलय में चला जाता है। इन दोनों कोष्ठों के मध्य भी कपाटिकाएँ (Bicuspid/Mitral valves) होती हैं जो वाम अलिन्द के रक्तपूर्ण होने पर खुलती हैं। वाम निलय से रुधिर महाधमनी (Aorta) द्वारा सारे शरीर में पोषण प्रदान करने के लिए भेज दिया जाता है। महाधमनी और वाम निलय के मध्य भी कपाटिकाएँ (Aortic semilunar valve) होती हैं।

कपाटिकाओं का कार्य रक्त को पीछे लौटने से रोकना है। दोनों अलिन्दों के रक्तपूर्ण होने तक इनके और निलयों के मध्य की कपाटिकाएँ बन्द रहती हैं। जैसे ही ये खुलती हैं तो फुफ्फुसीया धमनी और महाधमनी की कपाटिकाएँ बन्द हो जाती हैं। यही क्रम रात-दिन चलता रहता है और इनके बन्द होने और खुलने की ध्वनि हृदयस्थान पर सुनी जा सकती है।

हृदय प्राणायतन है। इसकी क्रियाएँ किस प्रकार सम्पन्न होती हैं, इसकी स्वस्थ और विकारग्रस्त ध्वनियों का विवरण आदि पर बहुत विस्तृत वाङ्मय उपलब्ध है जो विस्तारभय से नहीं दिया जा रहा है। शोणितशोधन के सम्बन्ध में श्री शार्ङ्गधर के शब्द सदा सुख स्मरणीय हैं—'नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्।। पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्।। शरीरप्राणयोरेवं संयोगादायुरुच्यते'।

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति; सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा सम्भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले; तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तम्, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे; क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति।। ३३।।

निद्रा का विवेचन—निद्रा वैष्णवी (विष्णोरियं वैष्णवी मायैव) तथा पापात्मा कहलाती है ('पाप्मानं कस्मादामनन्ति ? कृत्स्नशुभव्यापारनिरोधात्')। यह स्वभावतः सभी प्राणियों में हुआ करती है। जब तमोबहुल श्लेष्मा संज्ञावह स्रोतों में पहुँच जाता है तो तामसी नामक निद्रा होती है जिसमें प्राणी जागता नहीं है। ऐसी निद्रा प्रलयकाल में पायी जाती है। तमोबहुल प्रकृति वाले मनुष्यों में निद्रा दिन और रात दोनों समय आती है और रजोबहुल में बिना किसी कारण के नींद आती रहती है। इसी प्रकार सत्त्वबहुल व्यक्तियों को आधी रात में नींद आती है तथा जो क्षीणश्लेष्मा और वातबहुल हैं एवं मानसिक तथा शारीरिक कष्टों से पीड़ित हैं उन्हें नींद आती ही नहीं है। यदि आती है तो यह 'वैकारिकी निद्रा' कहलाती है।। ३३।।

विमर्श—'ननु यदि लङ्घनश्रमादिभिर्वायुर्वर्धते श्लेष्मा च क्षीयते तथा कथं निद्रा उदेति? उच्यते—मनसः श्रान्तत्वात् भूतात्मनो विषयनिवृत्तौ प्राणिनः स्वपन्ति। यदुक्तं चरके—यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः'॥ इति।

चरक-सूत्रस्थान के 'अष्टौ निन्दितीय' नामक २१वें अध्याय में निद्रा से सम्बन्धित पर्याप्त विस्तृत वर्णन है। चक्रपाणि ने—'स्वप्नश्च निरिन्द्रियप्रदेशे मनोऽवस्थानम्' परिभाषा की है। 'स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति', 'निद्रायत्तं सुखं दुःखम्' तथा 'आनयन्त्यचिरान्निद्राम्' आदि के द्वारा निद्रा का ही बखान किया गया है। चरक-सूत्रस्थान अध्याय ११ में 'त्रय उपस्तम्भाः इति, आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति' में स्वप्न का महत्त्व बताया गया है।

निद्रा शरीरक्रिया सम्बन्धी अवस्था (Physiological state) है जिसमें स्वल्प समय के लिए अचेतनता (Temporary suspension of consciousness) आती है।

मनुष्यों एवं पशुओं में २४ घण्टों में सोने का समय कितना होता है, यह आदत पर भी निर्भर करता है। निष्क्रिय होने से रात्रि नींद के लिए उपयुक्त मानी जाती है। नवजात के लिए १८-२० घण्टे, बालक के लिए १२-१४ घण्टे, युवावस्था में ७-९ घण्टे और वृद्धावस्था में ५ घण्टे की नींद पर्याप्त होती है।

नींद की गहराई (Depth of sleep)—गहरी नींद में सपने नहीं आते हैं। निद्रा से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रभावित नहीं होती हैं। वेदना, स्पर्श और श्रवण शक्ति सबसे कम प्रभावित होती हैं। सोये हुए को आवाज देकर उठाना अपेक्षाकृत आसान होता है।

यदि व्यक्ति को ६०-११४ घण्टे सोने न दें तो चक्र आना, मन की एकाग्रता विकृत तथा वेदना की प्रतीति कम हो जाती है। और भी अधिक समय तक जगाये रखने से मूर्च्छा और मृत्यु हो जाती है। यह समझा जाता है कि शरीर में निद्रा का केन्द्र 'Hypothalamus' का पश्चिम और पार्श्व का भाग है।

नींद आने के सिद्धान्त (Theories of sleep) अनेक हैं। प्रमस्तिष्क रक्ताल्पता (Cerebral ischaemia) के सिद्धान्त में यह माना जाता है कि भोजन के उपरान्त जो तन्द्रा (Drowsiness) आती है उसका कारण यह है कि प्लीहा में रक्त अधिक चला जाता है, रक्तभार कम हो जाता है और इस प्रकार प्रमस्तिष्क को रक्त कम मिलता है।

नींद न आने की अवस्था 'अनिद्रा' (Insomnia) कहलाती है। वैकारिकी निद्रा इसी श्रेणी की है।

भवतश्चात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्। तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥ ३४॥
निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते। स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते॥ ३५॥

तम-आच्छादित हृदय से निद्रा का आगमन—हे सुश्रुत! चेतना का स्थान हृदय बताया गया है। जब हृदय तमोगुण से आच्छादित हो जाता है तो प्राणियों को नींद आ जाती है। नींद आने का हेतु तम है और जागने में हेतु सत्त्व है। अथवा नींद आने में श्रेष्ठ हेतु स्वभाव है॥ ३४-३५॥

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः। रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान्॥ ३६॥

स्वप्न कैसे आते हैं?—(जब मनुष्य जागता होता है तो उसे ज्ञान होता है और जब सो जाता है तो बोध नहीं रहता है, फिर उसे स्वप्न कैसे आते हैं? इस श्लोक में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—) क्षेत्रज्ञ ('भूतैरुपलक्षित आत्मा भूतात्मा') शरीर का प्रभु (स्वामी) है। वह स्वप्न में रजोगुण युक्त मन से पूर्वजन्म में कृत शुभाशुभ विषयों को देखता है ('रजोयुक्तेन रजःप्रेरितेनेत्यर्थः, रजसः प्रवर्तकत्वात् तमोयुक्तेन च मनसा न किमपि पश्यति, तमस आवरणकत्वात्')॥ ३६॥

करणानां तु वैकल्ये तमसाऽभिप्रवर्धिते। अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते॥ ३७॥

निर्विकार आत्मा सुप्त जैसा क्यों लगता है? —तमोगुण के कारण इन्द्रियों में विकलता आने से निर्विकार आत्मा न सोते हुए भी सोता हुआ लगता है। ('अभिप्रवर्धिते इति, अभि सर्वतो बहिरन्तश्च प्रवर्धिते। तत्र बहिरिन्द्रियाणां विषयभूतेऽर्थे अन्तर्मनोऽर्थेऽपि सुखदुःखादौ'–ड.)॥ ३७॥

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्। प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्षितक्षतक्षीण-मद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्। रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम्। विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम; तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च। तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्यायशिरोगौर-वाङ्गमर्दाऽरोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि भवन्ति। रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति॥ ३८॥

दिवास्वप्न से हानियाँ—दिन में सोना सभी ऋतुओं में निषिद्ध है किन्तु ग्रीष्मर्तु में निषिद्ध नहीं है। बाल, वृद्ध, स्त्रीकर्षित (Exhausted one after intercourse), क्षत (Wounded), क्षीण (Weak), मद्यनित्य (Who drinks daily), प्रतिदिन गाड़ी या सवारी या सफर करने से थके हुए व्यक्ति; जिन्होंने भोजन नहीं किया है; मेद, स्वेद, कफ, रस, रक्त से जो क्षीण हैं और जो अजीर्ण से पीड़ित हैं, उन्हें किसी भी ऋतु में थोड़े समय के लिए दिन में सोना निषिद्ध नहीं है। जो लोग रात को जागते हैं उन्हें रात्रिजागरण से आधे समय तक दिवास्वप्न उचित है। दिन में सोना विकार है। दिन में सोना अधर्म और सर्वदोषप्रकोपक होता है। इससे (सर्वदोषप्रकोप से) कास, श्वास, प्रतिष्याय, शिरोगौरव, अङ्गमर्द, अरोचक, ज्वर, अग्निदौर्बल्य आदि हो जाते हैं। रात को जागने वालों में भी वात-पित्त के कारण ये ही उपद्रव होते हैं॥ ३८॥

विमर्श—'दिवास्वप्नोऽधर्मस्तथापि शरीररक्षार्थं ग्रीष्मे दिवास्वाप उक्तः' (ड.)।

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्। ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्॥ ३९॥

अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः। नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाःशतम्॥

निद्रा का उपयुक्त समय—इस कारण से रात को न जागे और दिन में सोने का भी परित्याग करे। यह जानकर कि ये दोनों ही दोषप्रकोपक हैं। समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह उपयुक्त समय तक ही निद्रा का सेवन करे। समुचित समय तक ही नींद लेने वाले व्यक्ति नीरोग एवं प्रसन्नचित्त रहते हैं, बल और वर्ण से युक्त होते हैं और वृष (स्त्रीरमणशक्तियुक्तः), न अधिक स्थूल न अधिक कृश, श्रीमान् (शरीरशोभायुक्त) तथा सौ वर्ष तक जीने वाले होते हैं॥ ३९-४०॥

(निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा।)

दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः। न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते॥ ४१॥

सात्म्य होने पर दिवास्वाप हानिकर नहीं—दिन अथवा रात के समय जिन्हें नींद सात्म्यीकृत अर्थात् दिन में सोना और रात को जागना अनुकूल आ गया है; उन्हें नित्य दिन में सोने और रात में जागने में कोई दोष नहीं होता है॥ ४१॥

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि। सम्भवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति॥

निद्रानाश के हेतु (Etiology of loss of sleep)—वायु, पित्त, मनस्ताप (Perturbation of mind), क्षय (Wasting) और अभिघात (Trauma) से निद्रानाश होता है। इनसे विपरीत से (By counteracting measures) अनिद्रा की दशा को दूर किया जाता है॥ ४२॥

निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्। गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च॥ ४३॥

निद्रानाश के उपाय—निद्रानाश को दूर करने के लिए अभ्यङ्गयोग (शरीर पर तेल की मालिश/ Anointing), शिर पर तैल की मालिश, सारे शरीर पर उबटन लगाना (Rubbing medicated pastes and powders) और संवाहन (मृदुमर्दनम्/मुट्ठी-चम्पी/Massage) करना हितकर होता है॥ ४३॥

शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः। भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः॥ ४४॥
रसैर्बिलेशयानां च विष्किराणां तथैव च। द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि॥ ४५॥
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च। निद्रानाशे तु कुर्वीत तथान्याऽन्यपि बुद्धिमान्॥ ४६॥

निद्रानाश में आहार—निद्रानाश से पीड़ित रोगी को खाने के लिए शालि, गेहूँ, पीठी आदि अन्न जो इक्षुविकारों से संस्कृत हों तथा जो मधुर, स्निग्ध एवं क्षीर, मांसरसादि युक्त हों, देने चाहिए। बिलेशय तथा विष्किर प्राणियों का मांसरस दें। इसी प्रकार द्राक्षा, मिश्री, गन्ने के बने पदार्थ आदि को रात्रि में उपयोग करें। शयन, आसन, यान आदि मृदु और मनोज्ञ होने चाहिए। बुद्धिमान् को निद्रानाश में ये तथा इसी तरह के अन्य उपाय करने चाहिए॥ ४४-४६॥

निद्रातियोगे वमनं हितं संशोधनानि च। लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च॥ ४७॥

अति निद्रा का उपाय—नींद अधिक आती हो तो वमन तथा संशोधन, लंघन (यत् किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्'–च.), रक्तमोक्षण और वे उपाय जो मन को व्याकुल करते हों, लाभकर होते हैं॥ ४७॥

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम्।

कफादि में रात्रिजागरण हितकर—रात को जागना उनके लिए हितकर है जो कफ, मेद और विष से पीड़ित हों।

दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काऽजीर्णातिसारिणाम्॥ ४८॥

दिवास्वाप हितकर—इसी प्रकार दिन में सोना प्यास, शूल, हिक्का, अजीर्ण और अतिसार से पीड़ितों के लिए हितकर होता है॥ ४८॥

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥ ४९॥

तन्द्रा का लक्षण—इन्द्रियों (श्रोत्रादि) के अर्थों (शब्दादि) को ग्रहण न करना (असम्प्राप्ति), शरीर में भारीपन, जम्भाई लेना (Yawning), थकान और निद्रायुक्त की तरह चेष्टाएँ जिसमें हो वह 'तन्द्रा' कहलाती है॥ ४९॥

विमर्श—तन्द्रा (Drowsiness) कफज विकार है। शार्ङ्गधर ने कफज रोगों में सर्वप्रथम तन्द्रा का उल्लेख किया है ('कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्रातिनिद्रता'–पू. ७)। जागने के बाद क्लम नहीं होता है जबकि तन्द्रा में होता है ('परं निद्रायां प्रतिबोधितस्य क्लमाभावः, तन्द्रायां तु प्रबोधितोऽपि क्लाम्यति, अत एवात्र क्लमग्रहणम्'–ड.)।

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः। यन्मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः॥ ५०॥

जृम्भा का लक्षण—वायु का एक उच्छ्वास (ऊपर को साँस लेना/Inspiration) लेकर चेहरे के उद्वेष्टन के साथ (Involuntary contraction of facial muscles) मुँह खोलकर नेत्रों में आँसू लिये हुए जिसमें वायु बाहर को निकालते (Expiration) हैं, वह 'जृम्भ' कहलाता है॥ ५०॥

विमर्श—'जृम्भस्तु त्रिषु जृम्भणम्' (अ.को.)। कुछ में छींक का लक्षण भी दिया गया है—'प्राणोदानौ समौ स्यातां मूर्ध्नि स्रोतः पथि स्थितौ। नस्तः प्रवर्तते शब्दः क्षवथुं तं विनिर्दिशेत्' ॥ तच्च टीकाकारापठितत्वान्न पठनीयम्।

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः॥५१॥

क्लम का लक्षण—जिसमें बिना श्रम के थकान होती है और साँस नहीं फूलती है तथा इन्द्रियों द्वारा अपना कार्य करने में बाधा उत्पन्न होती है वह क्लम (Lethargy) कहलाता है॥५१॥

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता। शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते॥५२॥

आलस्य का लक्षण—सशक्त होते हुए भी जिस व्यक्ति में काम करने का उत्साह नहीं होता तथा जो कोमल वस्तु आदि के स्पर्श का इच्छुक है और क्लेश सहन न कर पाता हो एवं लोलता (सुख की स्पृहा) आदि की प्रवृत्ति आलस्य (Laziness) कहलाती है॥५२॥

उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्। हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत्॥

उत्क्लेश का लक्षण—प्रसेक (Water brash), निष्ठीवन (बार-बार थूक आना/Spitting) और हृत्प्रदेश में पीडनवत् व्यथा हो पर जी मचलने पर भी भुक्त पदार्थ बाहर न निकले तो यह उत्क्लेश (Heart burn) कहलाता है॥५३॥

वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः। न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत्॥५४॥

ग्लानि का लक्षण—मुख का स्वाद मधुर होना, तन्द्रा (Drowsiness), हृत्प्रदेश में ऐंठन होना, भ्रम और अन्न के प्रति इच्छा न होना ग्लानि (Langour) है॥५४॥

आर्द्रचर्मावनद्धं हि यो गात्रं मन्यते नरः। तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत्॥५५॥

गौरव का लक्षण—जब शरीर गीले चमड़े से लपेटा हुआ-सा लगे और शिर अत्यन्त भारी हो तो यह अवस्था गौरव (Heaviness) कहलाती है॥५५॥

तन्द्रा आदि का संक्षिप्त विवरण

नाम	लक्षण*
१. तन्द्रा (Drowsiness)	१. इन्द्रियार्थों को ग्रहण न करना, २. गौरव, ३. जृम्भा, ४. क्लम, ५. नींद की-सी प्रवृत्ति।
२. जृम्भा (Yawning)	१. ऊपर को साँस लेना, २. मुँह का खुलना, ३. अश्रु, ४. उद्वेष्ट।
३. क्लम (Lethargy)	१. बिना श्रम थकान, २. साँस न फूलना, ३. इन्द्रियार्थाप्रवृत्ति, ४. क्लम।
४. आलस्य (Laziness)	१. सुखस्पर्श की इच्छा, २. दुःख न सहना, ३. शक्त पर अनुत्साह, ४. लोलता।
५. उत्क्लेश (Heart burn)	१. जीभ चलना, २. प्रसेक, ३. थूकना, ४. हृत्पीड़ा।
६. ग्लानि (Langour)	१. मुखमाधुर्य, २. तन्द्रा, ३. भ्रम, ४. हृद्वेष्टन, ५. अन्न की इच्छा न होना।
७. गौरव (Heaviness)	१. गीले चमड़े से ढका जैसा शरीर, २. शिर में भारीपन।
८. भ्रम (Vertigo)	१. रज, पित्त और वायु से, २. चक्र आकर गिर पड़ना।

* ये सभी लक्षण हैं, मुख्य व्याधियाँ नहीं।

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद्भ्रमः। तमोवातकफात् तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा॥

मूर्च्छादि में दोषों की प्रधानता—मूर्च्छा (Fainting) प्रायः पित्तदोष एवं तमोगुण की अधिकता से, **भ्रम** रजोगुण और पित्त तथा वायु दोष की अधिकता से, **तन्द्रा** तमोगुण, वात तथा कफ दोष की अधिकता से और **निद्रा** श्लेष्मदोष तथा तमोगुण की अधिकता होने पर होते हैं॥५६॥

विमर्श—मूर्च्छा (Fainting or syncope) एक विशिष्ट लक्षण है जो अनेक रोगों में पाया जाता है। बहुत देर तक खड़े रहने से स्थितिज अल्परक्तदाब (Postural hypotension) होकर बेहोशी आ जाती है। वाहिनी-प्रेरक दौर्बल्य (Vasomotor instability) जैसे—उल्लाघ (Convalescent/रोगमुक्त/ 'उल्लाघो निर्गतो गदात्'–अ.को.), रक्तन्यूनता तथा महाधमनीसंकीर्णता (Stenosis) आदि में, भी मूर्च्छा होना सम्भव है। सहसा तीव्र वेदना, अशुभ समाचार, रक्त को देखने आदि में, आवेश (Emotion) से भी मूर्च्छा होती है ('केचित् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः'–मा.)। खाँसी के समय बलगम से श्वासावरोध होकर भी मूर्च्छा होती है। सम्प्रति मूर्च्छा लक्षण माना जाता है। माधवनिदान में मूर्च्छा स्वतन्त्र व्याधि है।

भ्रम—भ्रम 'Vertigo' है। माधवनिदान में भ्रम का लक्षण इस प्रकार है—'चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा। भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः'।

भ्रम पित्त और वायु दोष तथा रजोगुण की अधिकता से होने वाला रोग है। भ्रम में ज्ञानेन्द्रियों को धोखा हो जाता है। इसमें रोगी या तो अपने आप को घूमता हुआ प्रतीत करता है या उसे वस्तुएँ घूमती नजर आती हैं। भ्रम में रोगी का गति पर नियन्त्रण नहीं रहता है। मनस्तन्त्रिकाविक्षिप्ति (Psychoneurosis) में भी चक्र आते हैं पर वह 'Vertigo' नहीं है।

कर्णस्राव, शिरःशूल, कर्णक्ष्वेड (Tinitus), ऊर्ध्वश्वसनतन्त्र संक्रमण, शिरोऽभिघात या बार्बीटिचुरेट औषध लेने के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करें। गतिरोग (Motion sickness), प्रघाणतन्त्रिकाशोथ (Vestibular neuritis) आदि में भी चक्र आते हैं।

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति॥ ५७॥

गर्भ की वृद्धि रस और वायु से—गर्भ की वृद्धि रसनिमित्ता अर्थात् माता के आहाररस से और वायु द्वारा आध्मान होने से होती है॥ ५७॥

विमर्श—इस सूत्र में गर्भ की वृद्धि के जो दो कारण बताये हैं उनमें एक का उल्लेख पहले किया जा चुका है (तदुक्तं प्राक्—'मातुस्तु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा')। दूसरा कारण है—'वायु द्वारा गर्भ के स्रोतों का पूरण होना' ('मारुताध्मानं वायुना स्रोतसां पूरणं तदेव निमित्तं यस्यां सा मारुताध्माननिमित्ता')।

भवन्ति चात्र—

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम्। तदाऽऽधमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते॥ ५८॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः। ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा॥ ५९॥

गर्भ की वृद्धि में वायु और अग्नि—(गर्भ की) नाभि के मध्य (In the umbilical region) में ज्योति अर्थात् अग्नि का स्थान निश्चित रूप से है। गर्भ की उस अग्नि का वायु आध्मान (Blow) करती है जिससे गर्भ की वृद्धि होती है। वायु इस अग्नि की ऊष्मा के साथ स्रोतों का ऊपर (Vertical), तिर्यक् (Oblique) और नीचे (Horizontal) की ओर को दारण (खोलना/Opens) करता है जिससे गर्भ का शरीर शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ५८-५९॥

विमर्श—पूर्व में ही वर्णित किया जा चुका है कि गर्भ की वृद्धि के लिए पोषण माता से प्राप्त होता है जो गर्भनाभिनाड़ी द्वारा गर्भ में पहुँचता है। वृद्धि के क्रम की चर्चा भी हो चुकी है जिसमें धन्वन्तरि ने निर्णय दिया है कि 'वंशाङ्कुरवत् चूतफलवच्च'। यहाँ उसी बात का प्रकारान्तर से वायु और पित्त का सम्बन्ध दिखाते हुए वर्णन किया गया है।

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन। ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम्।। ६०।।

दृष्टि और रोमकूपों की वृद्धि नहीं—यह धन्वन्तरि का मत है कि मनुष्यों की दृष्टि (Vision) और रोमकूपों (Pores of hair follicles) के आकार या संख्या में निश्चित रूप से किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती है।। ६०।।

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा। स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः।। ६१।।

शिर के बाल और नाखून बढ़ते रहते हैं—शरीर के क्षीण (Wasting) होने पर भी शिर के बाल और हाथ-पैरों के नाखून बढ़ते रहते हैं। इसका कारण बालों और नाखूनों का स्वभाव (By vertue of their nature) है।। ६१।।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः, समस्तैश्च।। ६२।।

सात प्रकार की प्रकृतियाँ—प्रकृतियाँ (Costitutions) सात हैं—१. वातिक, २. पैत्तिक, ३. श्लैष्मिक, ४. त्रिदोषज, ५. वात-पित्तज, ६. वात-कफज और ७. पित्त-कफज।। ६२।।

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु।। ६३।।

प्रकृति का निर्माण—शुक्र-शोणित संयोग के समय वात-पित्तादि दोषों में से जो दोष उत्कट ('स्वभावस्थितो न प्रकुपितः') होता है उसी से गर्भ की प्रकृति बनती है; इसे सुश्रुत ! तुम मुझसे सुनो।। ६३।।

विमर्श—यहाँ 'दोष की उत्कटता' से अभिप्राय दोष का प्रकृतिस्थ होकर प्रबल होने से है, विकृत होकर प्रबल होने से नहीं ('द्विविधा हि उत्कटा वातादयः— प्राकृता वैकृताश्च। तत्र प्राकृताः सप्तविधायाः प्रकृतेर्हेतुभूताः शरीरैकजन्मानः, वैकृतास्तु गर्भव्याघातकाः'–ड.)।

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी दन्तखादी च भवति।। ६४।।

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति सम्भ्रमेण सुप्तः।। ६५।।
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसञ्चयमित्रः।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः।। ६६।।

(वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा। गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः।। ६७।।)

वातिक प्रकृति (Features of *vātika* constitution) **के लक्षण**—१. प्रजागरूक (प्रायः जागते रहना/Wakeful), २. शीतद्वेषी (ठण्ड सहन न करने वाला/Averse to cold), ३. दुर्भग (कुरूप/Ugly), ४. स्तेन (चोरी करने वाला/Thief), ५. मत्सरी (ईर्ष्यालु/Jealous), ६. अनार्य (असभ्य/Uncultured), ७. गान्धर्वचित्त (गानप्रिय/Lover of music), ८. स्फुटितकरचरण (हाथ-पैर फटे हुए/Cracks in palms and soles), ९. दाढ़ी, बाल और नाखून कुछ रूखे (Scanty and rough hair, nails), १०. क्राथी (हिंसाशीलः/Irritable) और ११. दाँतों से नाखून काटने वाला और दाँतों को सोते हुए कटकटाने वाला।। ६४।।

वातप्रकृति के अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—१२. अधृति (अधीर/Impatient), १३. अदृढ़सौहृद (अस्थायी मैत्री/Unstable friendship), १४. कृतघ्न (अकृतज्ञ/Ungratefull), १५. कृशपरुष (दुर्बल/Lean and thin), १६. शरीर की सिराओं का उभरना (Prominent veins), १७. प्रलाप करने वाला (Garrulous), १८. तेज चलने और बोलने वाला (Fast walker), १९. अस्थिरचित्त (चंचल चित्त/Unsteady mind) और २०. नींद में आकाश में घूमने वाला।। ६५।।

वातप्रकृति के कुछ अन्य लक्षण इस प्रकार हैं— २१. अनिश्चित बुद्धि (Wavering mind/अनवस्थित बुद्धिनिश्चयः), २२. चलदृष्टि (चञ्चलनयन/Rolling eyes), २३. रत्न, धन और मित्र जिसके थोड़े हों और २४. जो कुछ परस्पर असम्बद्ध भाषण करता हो (Talks irrelevant thing) वह मनुष्य वातिक प्रकृति का है॥ ६६॥

वातिक प्रकृति के मनुष्य का स्वभाव— २५. बकरी (Goat), गोमायु (Jackal), गीदड़, शश (खरगोश/Rabbit), आखु (चूहा/Mouse), उष्ट्र (ऊँट/Camel), श्वा (कुत्ता), गृध्र (Vulture), कौआ और गधे के समान होता है॥ ६७॥

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति॥ ६८॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् सम्पश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥ ६९॥
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः॥ ७०॥
(भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः। व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः॥ ७१॥)

पैत्तिक प्रकृति (Features of *paittika* constitution) **के लक्षण**— १. स्वेदन (अधिक पसीना आना/Prespires too much), २. दुर्गन्ध (शरीर से दुर्गन्ध आना/Bad odour), ३. शरीर पीला और शिथिल (Lax), ४. नख, नयन, तालु, जीभ, होठ, हस्ततल और पादतल ताम्रवर्ण (Coppery), ५. दुर्भग (मन्द भाग्य, कुरूप/Ugly), ६. वली (Wrinkle), पलित (White hair) और खालित्य (Alopecia) युक्त, ७. बहुभुक् (अधिक खाने वाला), ८. उष्णता सहन न करने वाला, ९. शीघ्र क्रोधी और प्रसन्न होने वाला, १०. मध्य बल वाला (Medium strength) और ११. मध्यम आयु वाला होता है॥ ६८॥

पित्त प्रकृति वाले मनुष्य के कुछ अन्य लक्षण इस प्रकार हैं— १२. मेधावी (Intelligent), १३. निपुणमति (Clever), १४. विगृह्यवक्ता (अपनी बात को मनवाने वाला/Dominating orator), १५. तेजस्वी (तेजयुक्त/Bright), १६. सभा में जो हार न खाये (Difficut to defeat in debates), १७. पैतिक प्रकृति वाला व्यक्ति स्वप्न में सोना, ढाक, कर्णिकार और अग्नि, विद्युत् (Lightening) तथा उल्काओं (Thunder) को देखता है। १८. जो किसी के डर से दबता नहीं है, १९. जो आज्ञाकारी नहीं हैं उनके प्रति कठोर, २०. जो आज्ञाकारी हैं उनके प्रति सान्त्वना, दानादि में रुचि लेने वाला, २१. जो मुखरोगों से सदा पीड़ित रहता है; ऐसा व्यक्ति पित्तप्रकृति वाला होता है॥ ६९-७०॥

इन लक्षणों के अतिरिक्त पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति का स्वभाव— २२. सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिल्ली, बन्दर, व्याघ्र, रीछ और नेवले (Mongoose) जैसा होता है॥ ७१॥

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति॥ ७२॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् सम्पश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥ ७३॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥ ७४॥
(दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं गुरुमानकरश्च भवेत्स सदा॥ ७५॥
(ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः। तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः॥ ७६॥)

श्लैष्मिक प्रकृति (Features of *ślesmaja* constitution) **के लक्षण**— १. इसके शरीर का रंग दूब, नीलकमल, निस्त्रिंश (खड्गः), रीठे का गीला फल और सरकण्डे में से किसी एक के समान, २. सुन्दर शरीर वाला, ३. प्रिय दर्शन (Good looking), ४. मधुर रस को पसन्द करने वाला, ५. कृतज्ञ (Grateful), ६. धैर्ययुक्त (Patient), ७. सहनशील (Tolerant), ८. लोभरहित (Ungreedy), ९. ताकतवर, १०. देर से ग्रहण (बात को) करने वाला, ११. वैर भाव को देर तक रखने वाला होता है॥ ७२॥

श्लैष्मिक प्रकृति वाले मनुष्य के कुछ अन्य लक्षण इस प्रकार हैं— १२. नेत्र सफेद (White eyes), १३. स्थिर, टेढ़े और अति नीलवर्ण बाल, १४. लक्ष्मीवान् (Wealthy), १५. जिसकी आवाज मेघ, ढोल और शेर जैसी हो, १६. ऐसा व्यक्ति सोते में कमल, हंस, चकवों से युक्त सुन्दर जलाशयों को देखता है। १७. नेत्रों के लाल कोनों वाला, १८. शरीर की सुन्दर बनावट वाला (Well formed body), १९. स्निग्ध छवि वाला (Radiant appearance), २०. सत्त्व गुणों से युक्त, २१. क्लेश को सहन करने वाला और २२. गुरुजनों का सम्मान करने वाला व्यक्ति श्लैष्मिक प्रकृति वाला होता है॥ ७३-७४॥

इसी प्रकार— २३. शास्त्रों में दृढ़ विश्वास करने वाला, २४. विश्वसनीय मित्रों एवं धन वाला, २५. सोच-विचार कर प्रचुर दान देने वाला, २६. जो सदा ही निश्चित सम्मति वाला है और २७. गुरुओं का सदा मान करने वाला व्यक्ति श्लैष्मिक प्रकृति वाला होता है॥ ७५॥

इन लक्षणों के अतिरिक्त श्लैष्मिक प्रकृति वाले मनुष्य का स्वभाव २८. ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, शेर, घोड़ा, हाथी, गौ, बैल, गरुड़ और हंस (Swan) के समान होता है॥ ७६॥

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः। ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत्॥ ७७॥

संसर्गज प्रकृतियों के लक्षण—वातादि दोषों की अलग-अलग, दो-दो और तीनों दोषों की मिलकर भी मनुष्यों की प्रकृतियाँ होती हैं। अतः वैद्य इन संसर्गज प्रकृतियों को जाने॥ ७७॥

प्रकोपो वाऽन्यथाभावः क्षयो वा नोपजायते। प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥ ७८॥

प्रकृतियों में परिवर्तन—मनुष्यों की इन उपरोक्त प्रकृतियों का न तो प्रकोप होता है, न अन्यथा भाव और न क्षय ही होता है। ऐसा इनका स्वभाव है। परन्तु गतायु मनुष्य की प्रकृति में प्रकोपादि होते हैं॥ ७८॥

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते। तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम्॥ ७९॥

प्रकृतिदोष से हानि क्यों नहीं—(वातादि प्रकृतियों में जो दोष हैं उनसे कष्ट क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है—) जिस प्रकार विषैले कीट का विष अपने दाहादि गुणों से कीट को अल्प मात्रा में ही कष्ट दे पाता है ('न विषेण विपद्यते, अत्र नञ् ईषदर्थे, तेन किञ्चित् बाधितुं शक्नुवन्ति न तु भृशम्') इसी प्रकार वातादि प्रकृतियों से स्फुटित चरण-करादि का कष्ट नगण्य ही होता है॥ ७९॥

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान् शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥ ८०॥

भौतिक प्रकृतियों में से वात, पित्त और कफ की प्रकृतियों का वर्णन किया जा चुका है। शेष पार्थिव प्रकृति वालों का शरीर स्थिर और विशाल होता है तथा ऐसे व्यक्ति क्षमा प्रदान करने वाले होते हैं। नाभस (आकाशीय) प्रकृति वाले पवित्र, लम्बी उमर वाले तथा नासा-कर्णादि के बड़े छिद्रों वाले होते हैं॥ ८०॥

विमर्श—अब तक वातादि भेद से पाँच प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। डल्हणाचार्य के अनुसार सत्त्व, रज, तम की एक-एक, दो-दो और सभी मिलाकर प्रकृतियों के अनेक भेद हो जाते हैं। उन्हीं के दिये गये उद्धरण के अनुसार—

उक्तं च— 'एकैकेन वदन्ति पञ्चदश तु द्वाभ्यां त्रिभिस्तावती-
भूतैः पञ्चचतुर्भिरेव भिषजस्त्वेकां समस्तैरपि।
एकस्त्रिंशतमत्र भूमिसलिलस्वाहाप्रियस्पर्शना-
काशैश्च प्रकृतिगुणैरपि पुनः प्राहुस्तु सप्तापराः'।।

और भी—''गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिरेकशो द्विशः समस्तैश्च सप्त महाप्रकृतयो भवन्ति, 'सप्त दोषतः, सप्त गुणतः' इति नागार्जुनाचार्यः''। आगे सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृतियों के भेदों का विस्तार से वर्णन है।

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्। प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्।। ८१ ।।
माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता। भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम्।। ८२ ।।
शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता। प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम्।। ८३ ।।
मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसञ्चयौ । महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम्।। ८४ ।।
गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता। विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम्।। ८५ ।।
प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमाञ्छुचिः। रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान्।। ८६ ।।
जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम् । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः।। ८७।।

सप्तैते सात्त्विकाः काया—

(१) **ब्राह्मकाय के लक्षण**—शौच (Pure), आस्तिक्य (परलोकादि में आस्था/Aesthetic), वेदाध्ययन में अभ्यास, गुरुजनों की पूजा, सम्मानपूर्वक आतिथ्य (Good host) और यज्ञ (इज्या = यागः) करना—ये 'ब्राह्मकाय' के लक्षण हैं।। ८१ ।।

(२) **माहेन्द्रकाय के लक्षण**—माहात्म्य (महाशयत्वम्/बड़प्पन/Greatness), शौर्य (Chivalry), आज्ञा (हुक्म करने का स्वभाव/Commanding habits), निरन्तर शास्त्राभ्यास और सेवा करने वालों की देख-भाल करना—ये 'माहेन्द्रकाय' के लक्षण हैं।। ८२ ।।

(३) **वारुणकाय के लक्षण**—ठण्ड को पसन्द करना, सहिष्णुता (Tolerance), पैङ्गल्य (पिङ्गाक्षता/आँखों का लाल रहना/Grey eyes), हरिकेशता (कपिलकेशता/Brown hair/कैलेबाल/पिंगल वर्ण) और मीठा बोलना (Sweet voice)—ये 'वारुणकाय' के लक्षण हैं।। ८३ ।।

(४) **कौबेरकाय के लक्षण**—मध्यस्थ (पक्षपातहीन /Impartial), सहनशीलता, धन-दौलत कमाना और इकट्ठा करना और सन्तानोत्पादन की प्रबल शक्ति वाला होना (Highly fertile)—ये 'कौबेरकाय' के लक्षण हैं।। ८४।।

(५) **गान्धर्वकाय के लक्षण**—सुगन्ध एवं मालाओं में रुचि, नाच-गाने पसन्द करना तथा विहारशीलता (Always roams about)—ये 'गान्धर्वकाय' के लक्षण हैं।। ८५।।

(६) **याम्यकाय के लक्षण**—प्राप्तकारी (अच्छे काम करने वाला/Performs right things), दृढोत्थान (न हारने वाला/Has indefatigable energy), निडर, अच्छी स्मरणशक्ति वाला (Good memory), पवित्र, राग (Attachment), मोह (Infatuation), मद (Vanity) और द्वेष (Jealousy) से रहित होना—ये 'याम्यकाय' के लक्षण हैं।। ८६।।

(७) **ऋषिकाय के लक्षण**—जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम (हवन) और अध्ययन में रुचि रखना और ज्ञान तथा विज्ञान से सम्पन्न होना—ये 'ऋषिकाय' के लक्षण हैं।। ८७।।

ये सात प्रकार के 'सात्त्विक काय' का वर्णन है।

—राजसांस्तु निबोध मे।

अब मैं 'राजस कायों' का वर्णन करता हूँ। (राजस काय सात प्रकार के हैं, यथा—)

ऐवर्श्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम्॥ ८८॥

एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम्। तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा॥ ८९॥
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम्। प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च॥ ९०॥
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम्। एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता॥ ९१॥
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम्। उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा॥ ९२॥
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम्। असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्॥ ९३॥
लोलुपं चाऽप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम्। षडेते राजसाः काया—

(१) आसुरसत्त्व (काय) के लक्षण—ऐश्वर्यवान् (Wealthy), रौद्र (भयानक/Fierce looking), शूर (Brave), चण्ड (बहुत क्रोध/Full of anger), असूयक (परगुणेषु मत्सरिणम्/ Calumnious), एकाशी (अपने आप ही खाने वाला) और औदरिक (घस्मर–'घस्मरोऽद्मरः'–अ.को./ Greedy of food/खाने का शौकीन)—ये 'आसुरसत्त्व' के लक्षण हैं॥ ८८॥

(२) सर्पसत्त्व के लक्षण—तीक्ष्ण (Sharp), आयासी, परिश्रमी (Laborious), भीरु (डरपोक), चण्ड (कोपनम्), मायान्वित (Shrewd) और विहार-आचार में चञ्चल (Quick in action and behaviour) होना—ये 'सर्पसत्त्व' के लक्षण हैं॥ ८९॥

(३) शाकुन काय (सत्त्व) के लक्षण—अधिक कामी (प्रवृद्धकामसेवी/Over sexy), अजस्राहार (अनवरताहारशीलः/Eats incessantly), अमर्षण (असहिष्णु/Intolerant) और अनवस्थायी (अस्थिर-बुद्धि/Unsteady mind)—ये 'शाकुन सत्त्व' के लक्षण हैं॥ ९०॥

(४) राक्षसकाय के लक्षण—एकान्तग्राहिता (एकान्तग्रहणशीलता/Prefers loneliness/ एकान्तप्रिय), रौद्र (Terifying), असूया (किसी की उन्नति को न सहन करने वाला/Intolerant of other's progress), धर्मबाह्यता (अधार्मिक/Irreligious) और अत्यन्त तमोगुणयुक्त होना—ये 'राक्षसकाय' के लक्षण हैं॥ ९१॥

(५) पैशाचकाय के लक्षण—उच्छिष्टाहारता (जूठी चीजों को खाना/Eat food left by others), तैक्ष्ण्य (कोपनत्वम् = क्रोध करना), साहसिक कार्यों में रुचि, स्त्रियों में लोलुप (Fondness for women) और निर्लज्ज होना—ये 'पैशाचकाय' के लक्षण हैं॥ ९२॥

(६) प्रेतसत्त्व के लक्षण—अपनी वस्तु को दूसरे को न देने वाला, आलसी, दुःखी स्वभाव होना (Unhappy), असूयक (Jelous/परनिन्दक), लोभी और दान न देने वाला—ये 'प्रेतसत्त्व' के लक्षण हैं।

यह छः प्रकार के 'राजसकाय' का वर्णन है॥ ९३॥

—स्तामसांस्तु निबोध मे॥ ९४॥

अब तामस कायों का वर्णन करते हैं॥ ९४॥

दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता। निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः॥ ९५॥
अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता। परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम्॥ ९६॥
एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः। वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः॥ ९७॥
इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा।

ये 'तामस काय' तीन प्रकार के हैं; यथा—

(१) पाशव गुण के लक्षण—दुर्मेधस्त्व (मेधाशक्ति की कमी/Dull grasping power), मन्दता (जिह्मता/मन्दबुद्धि/Unintelligent), स्वप्न में नित्य मैथुन करना और निराकरिष्णुता (Indecisive/निर्णय न ले पाना)—ये 'पाशव सत्त्व' के लक्षण हैं॥ ९५॥

(२) मत्स्यसत्त्व के लक्षण—अनवस्थितता (अस्थिरचित्तता/Fickle), मूर्खता, डरपोकपन, पानी का प्रेमी (Has affinity for water) और आपस में झगड़ना—ये 'मत्स्यसत्त्व' के लक्षण हैं॥ ९६॥

(३) वानस्पत्य सत्त्व के लक्षण—एक ही स्थान में रहने में रुचि, नित्य केवल आहार में लगे रहना और धर्म-अर्थ-काम से रहित होना—ये 'वानस्पत्य काय' के लक्षण हैं॥ ९७॥

यह तीन प्रकार के 'तामसकाय' का वर्णन है।

कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत्॥ ९८॥

महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वमःकृताः। प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत्॥ ९९॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥



मानव-शरीर की प्रकृति को जानकर चिकित्सा आदि क्रियाएँ करनी चाहिए। सत्त्व, रज और तम की महाप्रकृतियों का यह भली प्रकार किया गया वर्णन है। चिकित्सक इनको जानें॥ ९८-९९॥

प्रकृतियाँ (Constitutions)

दोषज	सात्त्विक	राजस	तामस
१. वातिक	१. ब्राह्मकाय	१. आसुरकाय	१. पाशवकाय
२. पैत्तिक	२. माहेन्द्रकाय	२. सर्पकाय	२. मत्स्यकाय
३. श्लैष्मिक	३. वारुणकाय	३. शाकुनकाय	३. वानस्पत्य
४. वात-पित्तज	४. कौबेरकाय	४. राक्षसकाय	-
५. वात-कफज	५. गान्धर्वकाय	५. पैशाचकाय	-
६. पित्त-कफज	६. याम्यकाय	६. प्रेतकाय	-
७. त्रिदोषज	७. ऋषिकाय	-	-
८. भौम	-	-	-
९. नाभस	-	-	-

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'गर्भव्याकरणशारीर' नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ॥ ४॥



अध्याय-सारांश

'गर्भव्याकरणशारीर' नामक इस अध्याय में—अग्नि, सोम, वायु आदि की प्राण संज्ञा (३), अवभासिनी आदि सात त्वचाएँ, उनके कार्य, प्रमाणादि (४), सात प्रकार की कला, कला भाग की शरीर में स्थिति, मांसधरादि कलाओं का वर्णन (८-११); शुक्रधातु की सर्वशरीरव्यापकता, गर्भधारण होने पर आर्तव न आने का कारण, गर्भ के यकृदादि की उत्पत्ति (२४-२५); हृदय की पुण्डरीक से उपमा (३२), निद्रा का वर्णन, उसके तामसी, वैकारिकी भेद (३३); दिवास्वप्न का निषेध, सात्म्यीकरण पर दोष नहीं (३८-४१) निद्रानाश के हेतु, उसका उपचार, पथ्य, निद्रातियोग का उपचार, तन्द्रालक्षण, जृम्भलक्षण, क्लमलक्षण, आलस्य, उत्क्लेश, भ्रम, गौरव (४२-५५), गर्भवृद्धि रसनिमित्ता, सात प्रकार की प्रकृतियाँ, प्रकृति की उत्पत्ति (६२-६३), वातादि दोषानुसार प्रकृतियों के लक्षण (६४-७९), एकीयमत से पाञ्चभौतिक प्रकृतियाँ (८०); ब्राह्मकाय, माहेन्द्रकाय आदि सात्त्विक कायादि के लक्षणों का विस्तार से वर्णन (८१-९७)।



पञ्चमोऽध्यायः

अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'शरीरसंख्याव्याकरणशारीर' (Enumeration of Anatomical Parts of the Body) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'व्याकरण' शब्द का अर्थ है विवरण और 'शरीर' शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं— १. 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः शरीरम् उक्तम्, तस्य संख्या अवयवशः संख्या' और २. दूसरा अर्थ है 'शरीरशब्दोऽयं समुदायवृत्तिः अवयवेषु वर्तते, तेषां संख्या'। समस्तार्थ यह हुआ कि पञ्चमहाभूतों के समुदाय से निर्मित शरीर के अवयवों की संख्या का विवरण इस अध्याय में वर्णित किया जायेगा।

इससे पूर्व अध्याय में 'गर्भ-विषयक' चर्चा हुई है जहाँ गर्भ के अंग-प्रत्यंग का वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण शरीर के निर्मित हो जाने के उपरान्त 'शरीरसंख्याव्याकरण' का विवरण प्रस्तुत करना स्वाभाविक है।

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते। तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति; एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपैतस्तदा 'शरीरं' इति संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गं— शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥ ३ ॥

गर्भ की परिभाषा—शुक्र (पुंबीज) और शोणित (स्त्रीबीज/Sperm and ovum) सम्मिलित होकर तथा गर्भाशय में आकर (Zygote embedded in the uterus) जब आत्मा (क्षेत्रज्ञ) तथा अष्टविध प्रकृति एवं षोडश विकारों ('पञ्चभूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति') से मिश्रीभूत हो जाते हैं तो उसे **गर्भ** (Embryo) कहते हैं।

गर्भ की वृद्धि—चेतना प्राप्त इस गर्भ (भ्रूण) को वायु दोष-धातु-मल, अंग-प्रत्यंगादि विभागों में विभाजित करती है; तेज इसे रूप-रूपान्तरों में प्रपाचित करता है; जल पित्त और वायु द्वारा हुए शोषण में क्लेदता लाता है; पृथिवी जल से क्लिन्न हुए में घनता लाती है और आकाश वायु और अग्नि से अवरुद्ध स्रोत आदि को खोलकर वृद्धि करता है ('अनिलानलविदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यक्विवर्धितमवकाशदानेन विवर्धयति')।

'शरीर' शब्द से ग्राह्य अंग—इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त वह गर्भ हाथ, पैर, जीभ, नाक, कान, नितम्ब आदि अंगों से युक्त होने पर 'शरीर' कहलाता है। इस शरीर को षडङ्ग (Six parts) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें छः प्रमुख अंग (भाग) होते हैं; यथा— १. चार शाखाएँ (Four limbs : दो हाथ, दो पैर—भुजाओं और टाँगों सहित), २. मध्य (कण्ठादिगुदपर्यन्तम्/Trunk) एक और ३. शिर एक (इस प्रकार छः अंग हैं) ॥ ३ ॥

विमर्श—अष्टविध प्रकृति (अव्यक्त, महान्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) और सोलह विकार (पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियाँ) तथा आत्मा—इस प्रकार यह 'पञ्चविंशतिक राशिपुरुष' योगीजनों के चिन्तन का विषय है।

चिकित्सकोपयोगी षड्धातुज पुरुष है, जिसमें पञ्चमहाभूत और आत्मा सम्मिलित हैं ('एतेन योगिनामुपयोगी पञ्चविंशतिको राशिरुक्तः। तमिदानीं भिषजामुपयोगिनं षड्धातुकं कृत्वा निदर्शयति'–ड.)।

लगभग तीन मास तक का गर्भ भ्रूण (Embryo) और उसके उपरान्त गर्भ (Foetus) कहलाता है, पर छः सप्ताह के उपरान्त भ्रूण की गर्भ संज्ञा भी है (Three periods may be distinguished in the development of the foetus. Ovular : During the first 2 weeks; Embryonic : During the 3rd to 5th weeks, when a definite form is assumed; Foetal : After the 6th weeks—Obstetrics by T.T.)।

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः, कर्णनेत्र(नासा)भ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवंक्षणवृषणपार्श्वस्फिग्जानुकूर्परबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥ ४॥

प्रत्यंगों की गणना—अब इसके उपरान्त प्रत्यंगों (Subdivisions of the body) की गणना की जायेगी—मस्तक (Head), उदर (Abdomen), पृष्ठ (Back), नाभि (Umbilicus), ललाट (Forehead), नासा, चिबुक (Chin), बस्ति (Urinary bladder) और ग्रीवा (Neck); ये एक-एक हैं। कर्ण, नेत्र, भ्रू (Eyebrows), शंख (Temples), अंस (बाहुशिरः/Shoulders), गण्ड (गल्लः /Cheeks), कक्ष (Axillae), स्तन, वंक्षण, वृषण (Testes), पार्श्व, स्फिक् (Buttocks), जानु (Knees), कूर्पर, बाहु (Upper arms), ऊरु (Thighs) आदि दो-दो हैं। अंगुलियाँ बीस हैं। स्रोतों का वर्णन आगे किया जायेगा॥ ४॥

विमर्श—'बाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे इत्यत्र प्रभृतिग्रहणात् चौष्ठसृक्कणीकुकुन्दराणामवरोधः' (ड.)।

तस्य पुनः संख्यानं—त्वचाः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयामाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च॥ ५॥

अवयवों की गणना—आश्रयभूत अंग-प्रत्यंगों के वर्णन के उपरान्त इनके भी अवयवों (Subparts of the body) की गणना (Enumeration) इस प्रकार है—त्वक् (Skin), कला (Membranes and fasciae), धातु (Principles), मल (Waste products), दोष (वातादि), यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक (Caecum), हृदय, आमाशय, अन्त्र (Intestines), वृक्क (Kidneys), स्रोत, कण्डरा (Tendons), जाल (Retinaculum), कूर्च (Bunches of fibres), रज्जु (Bundles), सेवनी (Raphes and sutures), संघात (Bone junctions), सीमन्त (Bony ends), अस्थियाँ, सन्धियाँ, स्नायु (Ligaments), मांसपेशियाँ (Muscles), मर्म (Vulnerable areas), सिराएँ, धमनियाँ और योगवह स्रोतस्॥ ५॥

विमर्श—योगवह स्रोतस्—'योगवहानि इति धमन्या सह योगं वहन्ति यानि स्रोतांसि तानि योगवहानि धमनीव्याकरणोदितानि प्राणोदकान्नादिवहानीत्यर्थः' आदि।

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रोः रज्जवः, सप्त सेवन्यः, चतुर्दश सङ्घाताः; चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि) चेति समासः॥ ६॥

शरीर के अवयवों (Subparts) का परिगणन

त्वचा आदि की गणना—त्वचा सात (Seven layers of skin), कला सात, आशय सात, धातुएँ सात, सिराएँ सात सौ, पेशियाँ पाँच सौ, स्नायु नौ सौ, अस्थियाँ तीन सौ, सन्धियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौबीस, दोष तीन, मल तीन और नौ स्रोत (Openings) (सोलह कण्डरा, सोलह जाल, छः कूर्च, चार रज्जु, सात सेवनी, चौदह संघात, चौदह सीमन्त, बाईस योगवह स्रोत और दो अन्त्र)—यह संक्षेप है॥ ६॥

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च॥ ७॥

इनका विस्तृत वर्णन—इससे आगे इनका विस्तार से वर्णन किया जायेगा—त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक्कों का (गर्भव्याकरण में) वर्णन किया जा चुका है॥ ७॥

आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति॥ ८॥

आशयों की संख्या—आशय (Hollow viscera) इस प्रकार है—१. वाताशय, २. पित्ताशय, ३. श्लेष्माशय, ४. रक्ताशय, ५. आमाशय (Stomach), ६. पक्वाशय (Intestines), ७. मूत्राशय (Urinary bladder) और ८. स्त्रियों में गर्भाशय (Uterus)॥ ८॥

विमर्श—'आशयक्रमस्तु वाग्भटेनोक्तः। यथा—'रक्तस्याद्यः क्रमात् करे। कफामपित्तपक्वानां वायोर्मूत्रस्य च क्रमात्। गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरा''॥

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि॥ ९॥

आँतों की लम्बाई—पुरुषों में आँतों की लम्बाई साढ़े तीन व्याम और स्त्रियों में आधा व्याम कम अर्थात् तीन व्याम होती है॥ ९॥

विमर्श—व्याम—'व्यामः बाह्वोः सकरयोस्तिर्यगन्तरम्' ('व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्'–अ.को.)। फैले हुए दोनों हाथों = बाहों के मध्य का अन्तर 'व्याम' है।

पोषणतन्त्र या आहारपथ की लम्बाई मुख से लेकर गुद पर्यन्त युवा पुरुष में नौ मीटर (३० फुट) के लगभग होती है। इसमें लघ्वन्त्र जठरनिर्गम के अन्तभाग (Pyloric extremity) से लेकर बृहदन्त्र के आरम्भ होने तक २३ फुट के लगभग लम्बी होती है और बृहदन्त्र लघ्वन्त्र के अन्त से लेकर गुद (Anus) तक लगभग छः फुट लम्बी होती है। स्त्रियों में लघ्वन्त्र की लम्बाई (पुरुषों की अपेक्षा) कुछ कम होती है।

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च॥ १०॥

नौ स्रोत—कर्ण, नेत्र, मुख, घ्राण (Nostrils), गुद (Anus), मेढ्र (Urethra)—ये नौ स्रोत (Openings) हैं जो पुरुषों में पाये जाते हैं। इनके मुख बाहर की ओर को होते हैं। ये स्रोत स्त्रियों में भी पाये जाते हैं, परन्तु स्त्रियों में तीन अन्य स्रोत भी हैं; दो स्रोत स्तनों में और एक स्रोत रक्तवह (For flow of menses)॥ १०॥

विमर्श—''अधस्ताद्रक्तवहं स्मरातपत्रस्याध आर्तववहम्, स्मरातपत्रं भगस्योपरितने भागे। उक्तं च—'विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्। सकलकामसिरामुखचुम्बितं निगदितं मदनातपकारणम्'॥ इति''।

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु; तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः अग्रप्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बं, मूर्द्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च॥ ११॥

कण्डराएँ—कण्डराएँ (Tendons) सोलह हैं—इनमें चार पैरों में और हस्त, ग्रीवा तथा पृष्ठ प्रत्येक में चार-चार होती हैं। हाथ और पैर की कण्डराओं के जो अग्रभाग (प्ररोह/Offshoots) हैं उनसे नख बनते हैं। ग्रीवा, हृदय की निबन्धनियों (कण्डराओं) से नीचे की ओर जाने के बाद इनके प्ररोहों से मेढ्र (Penis) का निर्माण होता है। इसी प्रकार श्रोणि (Pelvis) और पीठ की कण्डराओं से नीचे की ओर जाने के बाद इनके प्ररोहों से बिम्ब (Buttocks) निर्मित होते हैं। ऊरु, वक्ष, अंस की कण्डराओं के प्ररोहों से मूर्द्धा (शिर) बनता है॥ ११॥

विमर्श—इस सूत्र के अर्थ को समझने में कई प्रकार के मतभेद हैं। तथ्य यह है कि इन मतभेदों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस सूत्र का अर्थ समझना कठिन है। पाठ में भी अन्तर है। अब यह जाना गया है कि नाखूनों का अस्थि से कोई सम्बन्ध नहीं है जब कि इनको अस्थिधातु का मल माना जाता है। नख त्वचा का ही परिष्कृत रूप माना जाता है (It consists of intimately united, horny epithelial cells probably representing the stratum corneum of the epidermis—Blakiston)।

विम्ब—'चतसृणामधोभागगतानां बिम्बं मण्डलमर्थान्नितम्बस्य'।

मान्यवर श्रीघाणेकर जी के वर्णन के अनुसार डल्हण ने जो इसकी व्याख्या की है उसका सार इस प्रकार है—'ग्रीवाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह मस्तक है, हाथों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह बाहु-शिर है, पैरों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह श्रोणिप्रदेश है और पृष्ठाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह वक्षोमण्डल है। उपरिगत प्ररोह से 'उद्गम' (Origin) समझना चाहिए।

मांससिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि; तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम्॥ १२॥

जाल-विवरण—मांस (Muscles), सिरा, स्नायु (Ligaments) और अस्थि प्रत्येक के चार-चार जाल (Network) हैं। ये मणिबन्ध (Wrists) और गुल्फ (Ankles) में स्थित हैं और परस्पर बँधे हुए हैं, परस्पर जुड़े हुए हैं (Intermingled and crossed with each other) और आपस में गवाक्ष (Network of holes) की तरह बने हुए हैं (स्पंज की तरह) जिससे सारा शरीर गवाक्ष अर्थात् जाल की तरह है॥ १२॥

विमर्श—जाल जैसा होने के कारण सिरा, स्नायु आदि से निर्मित की जाल संज्ञा है। 'सारा शरीर ही गवाक्षित है' से अभिप्राय सिरा आदि का सम्पूर्ण शरीर के सूक्ष्मतम भाग में भी फैलकर जाल-सा बना देने से है। मणिबन्ध और गुल्फ का उल्लेख उपलक्षण मात्र है। तथ्य यह है कि रक्तवाहिनियों, लसिकाओं एवं तन्त्रिकाओं का सम्पूर्ण शरीर में जाल फैला हुआ है। इसी से शरीर को 'यैर्गवाक्षितम्' कहा है।

षट् कूर्चास्ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु; हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः॥ १३॥

कूर्च छः हैं—कूर्च (नाम्नैवाकृतिरुन्नेया/Brushlike structures) छः हैं जो हस्त, पाद, ग्रीवा और मेढ्र (Penis) में स्थित होते हैं। हाथों में दो, पैरों में दो, ग्रीवा में एक और मेढ्र में एक—इस प्रकार छः कूर्च हैं॥ १३॥

विमर्श—'कूर्चा नाम स्नायुधमनीसन्निपाताः। तेष्वेकैकाः स्नायुसन्निपाताः पञ्चसु ग्रीवाकक्षावङ्क्षणभागेष्वेकश्च धमनीसन्निपातो मेढ्रे दृश्यते' इति हाराणः। अर्थात् स्नायु-धमनी का समूह 'कूर्च' है।

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे॥ १४॥

रज्जु-विवरण—बड़ी रज्जु (Long fascial bands of muscles) चार हैं—पृष्ठवंश (Vertebral column) के दोनों ओर पेशियों को बाँधे रखने के लिए बहिः स्थित (External) दो-दो तथा आभ्यन्तर में (Internal) दो-दो हैं॥ १४॥

विमर्श—गयी तु—'महत्यो मांसरज्जवश्चतस्रः, चतस्रः पृष्ठवंशमुभयतः इत्यष्टौ प्रतिपादयति'।

सप्त सेवन्यः; सिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वाशेफसोरेकैका; ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण॥ १५॥

सात सेवनियाँ—सेवनियाँ (Raphes and sutures) सात हैं—ये शिर में पाँच, जिह्वा और मूत्रेन्द्रिय में एक-एक इस प्रकार सात सेवनियाँ हैं, जिन्हें शस्त्रकर्म के समय बचाना चाहिए॥ १५॥

विमर्श—जैसे दो वस्त्रप्रान्तों को बराबर-बराबर मिलाकर सिलाई की जाती है कुछ इसी तरह की सिलाई शरीर के कुछ भागों—अस्थियों, त्वचा आदि में भी दिखायी देती हैं जिनका सेवनी (Raphe/त्वचादि की सिलाई या अस्थि की सिलाई) के नाम से सुश्रुत में वर्णन है। जैसे—मूत्रवृद्धि में तरल निकालते समय—'सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्तात् विध्येत् व्रीहिमुखेन तु' (सु.)। यह सेवनी शिश्नमणि के अधः प्रदेश से आरम्भ होकर गुदद्वार (Opening) तक जाती है। यह त्वचा की सीवन है, जीभ के नीचे की सीवन श्लैष्मिक कला की है और शिर की सीवन अस्थियों की है। शरीर में इस तरह की अनेक सेवनियाँ हैं।

चतुर्दशास्थ्नां सङ्घाताः; तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः॥ १६॥

अस्थियों के संघात—अस्थियों के संघात (Meeting of many bones) चौदह हैं—तीन गुल्फ, जानु और वंक्षण में और इतने ही दूसरी अधःशाखा में, इस प्रकार छः संघात हैं। कक्षा, कूर्पर और हाथ में एक-एक और इतने ही दूसरी भुजा में, इस प्रकार ये भी छः संघात हैं। दोनों मिलाकर बारह संघात हैं। इनके अतिरिक्त एक संघात शिर में और एक त्रिक (Sacral) प्रदेश में हैं। इस प्रकार चौदह संघात हैं॥ १६॥

विमर्श—

अस्थिसंघात

स्थान	अस्थियों का संघात
गुल्फ	सात अस्थियाँ पैर की (कूर्चास्थियाँ/Tarsal), दो जंघास्थियाँ।
जानु	एक ऊरु, एक जान्वस्थि, दो जंघास्थियाँ।
वंक्षण	एक ऊरु, श्रोणिफलक की तीन अस्थियों का।
कक्षा	एक अक्षक, एक अंसफलक, एक प्रगण्डास्थि।
कूर्पर	दो प्रकोष्ठास्थियाँ, एक प्रगण्डास्थि का संघात है।
मणिबन्ध	अग्रबाहू की दो, करकूर्चास्थियाँ आठ हैं।
शिर	पन्द्रह अस्थियों का संघात है।
त्रिक	इसमें पाँच अस्थियाँ हैं।

चतुर्दशैव सीमन्ताः; ते चास्थिसङ्घातवद्गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसङ्घाताः; ये ह्युक्ताः सङ्घातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम्॥ १७॥

चौदह सीमन्त है—सीमन्त चौदह हैं। उनकी गणना अस्थिसंघात के समान ही करनी चाहिए, क्योंकि जो अस्थिसंघात इससे पूर्व कहे गये हैं सीमन्त उनसे युक्त होते हैं। मतान्तर से ये पूर्वोक्त संघात अठारह हैं (अतः सीमन्त भी अठारह हैं)॥ १७॥

विमर्श—भोज के अनुसार—'सङ्घाताः सञ्चिता यैस्तु सीमन्तान् तान् प्रचक्षते'। जो आचार्य संघात ही अठारह मानते हैं उनके मत से सीमन्त भी अठारह है; 'एकेषामाचार्याणां मते सङ्घाता अष्टादश। तद्यथा—पूर्वोक्ताश्चतुर्दश, श्रोणिकाण्डमुपर्येकः, वक्ष उपर्येकः, उदरोरःसन्धाने एकः, अंसकूटमुपर्येकः, एवं अष्टादश' (ड.)। वाग्भटस्तु—'गुल्फजानुवङ्क्षणमणिबन्धकूर्परकक्षासु एकैकः त्रिके एकः पञ्च शिरसि इति अष्टादश सीमन्तानाह, सङ्घातांस्तु चतुर्दश'।

त्रीणि सषष्ठीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते; शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते॥ १८॥

अस्थियों की संख्या—वेदवादियों के अनुसार मानव-शरीर में अस्थियों की संख्या तीन सौ साठ हैं, किन्तु शल्यशास्त्र में अस्थियाँ तीन सौ हैं। इनमें से एक सौ बीस शाखाओं (Extremities) में, श्रोणि (Pelvis), पार्श्व (Flanks), पृष्ठ और छाती में एक सौ सतरह; ग्रीवा (Neck) से ऊपर के भाग में तिरसठ—इस प्रकार तीन सौ अस्थियाँ हैं॥ १८॥

विमर्श—मानव अस्थिकंकाल ('स्यात् शरीरास्थ्नि कङ्कालः पृष्ठास्थ्नि तु कशेरुका। शिरोऽस्थनि करोटिः स्त्री पार्श्वास्थनि तु पर्शुका'–अ.को.) में आजकल २०६ अस्थियाँ मानी जाती हैं परन्तु 'Cartilage' और 'Sesamoid bones' को गिन लिया जाय तो अस्थियाँ लगभग ३०० होती हैं।

वेदवादिनः—'वेदवादिनो भाषन्ते इत्यत्र आयुर्वेदवादिन इति द्रष्टव्यम्, न पुनर्वेद एव; तदा तु त्रीण्येवास्थिशतानीत्यत्रत्यं वचो वेदविरुद्धत्वादप्रमाणं स्यात्' (ड.)।

सम्प्रति अस्थियों की संख्या २०६ मानी जाती हैं जिनमें कान की तीन अस्थियाँ (Malleus, incus, stapes) भी सम्मिलित हैं। शल्यशास्त्र में तीन सौ अस्थियाँ मानने के निम्नलिखित कारण हैं— १. अस्थि उसी को माना जाता है जिसकी रचना अस्थि जैसी हो। नखों की रचना अस्थि से भिन्न है। २. उनको अस्थि मानना जो अस्थि जैसे लगते हैं पर वास्तव में अस्थि नहीं है; जैसे—तरुणास्थियाँ और दाँत। ३. जिनकी अस्थि से कोई समता नहीं है; जैसे—दन्तोलूखल, पर्शुकाओं के स्थालक आदि। ४. अस्थियों के उभार, जैसे—Transverse process स्वतन्त्र अस्थियाँ नहीं हैं। ५. परिगणन विधि भी भिन्न हैं—'जितनी करकूर्चास्थियाँ उतनी ही पादकूर्चास्थियाँ जानें, पर दोनों की अस्थिसंख्या में अन्तर है। ६. बौद्ध प्रभाव के कारण शवच्छेदन न कर पाना भी अस्थिगणना में अन्तर का कारण है।

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पाष्र्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे अंसफलके; ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकम्, षट् शिरसीति॥ १९॥

शाखाओं की अस्थिसंख्या—('शाखाओं में १२० अस्थियाँ कौन-कौन-सी हैं' इस सूत्र में यह बताया गया है—) पैर की प्रत्येक अंगुलि (Toe) में तीन-तीन अस्थियाँ हैं, इस प्रकार पादांगुलियों में पन्द्रह अस्थियाँ हैं; तल (Sole), कूर्च (Tarsus) और गुल्फ (Ankle) में दस अस्थियाँ हैं; पार्ष्णि (Heel/एड़ी)

में एक अस्थि है; जंघा (Calf) में दो, जानु (Knee) में एक, ऊरु (Thigh) में एक। इस प्रकार एक अधःशाखा (Lower extremity/सक्थि) में तीस अस्थियाँ होती हैं। दूसरी अधःशाखा और ऊपर की दोनों ऊर्ध्व शाखाओं (प्रत्येक) में तीस-तीस अस्थियाँ हैं (इस प्रकार चारों–ऊर्ध्व और अधः–शाखाओं में १२० अस्थियाँ हैं)।

श्रोणि (Pelvis) में पाँच—इनमें गुद (Anal region), भग (Perineum) और नितम्बों (Hips) में चार तथा एक त्रिक (Sacral region) में स्थित है।

एक पार्श्व (Flank of one side) में छत्तीस अस्थियाँ, इतनी ही दूसरे पार्श्व में; पीठ (Back) में तीस अस्थियाँ; छाती में आठ, दो अंसफलक (Scapula) (पाठान्तर—द्वे अक्षकसंज्ञे/Clavicles) में, ग्रीवा में नौ, कण्ठनाड़ी (Trachea) में चार, हनु (Chin) में दो, दाँत (Teeth) बत्तीस, नासा में तीन, तालु (Palate) में एक और गण्ड (Cheeks), कर्ण तथा शंख (Temples) में एक-एक (कुल ६) एवं शिर (Skull) में छः अस्थियाँ होती हैं॥ १९॥

विमर्श—अस्थियों की गणना की दृष्टि से चरक और सुश्रुत की गणना का महत्त्व है परन्तु इन दोनों की गणना में परस्पर अन्तर है। इस अन्तर का क्या कारण रहा है और उस काल में इतनी अस्थियाँ क्यों मानी गयीं, इसकी चर्चा अब महत्त्वहीन हो गयी है। हम यहाँ केवल २०६ अस्थियों के नाम एवं स्थान का विवरण दे रहे हैं जिसे संसार भर के बहुसंख्यक शल्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।

प्रौढ़ व्यक्ति के शरीर में २०६ अस्थियाँ होती हैं। इनमें दाँत और नाखूनों की गणना नहीं की गयी है—

(१) शाखाओं की अस्थियाँ—

(क) एक अधःशाखा में तीस अस्थियाँ हैं—

अंगुलियों की (Phalanges)		१४
प्रपादास्थियाँ (Metatarsals)		५
पादकूर्चास्थियाँ (Tarsus)		७
जंघास्थियाँ	(अन्तर्जंघिका/Tibia)	२
	(बहिर्जंघिका/Fibula)	१
जान्वस्थि (Patella)		१
ऊर्वस्थि (Femur)		
		३० × २ = ६०

एक अधःशाखा में ३० और उतनी ही दूसरी शाखा में—इस प्रकार कुल ६० अस्थियाँ।

(ख) एक ऊर्ध्व शाखा में तीस अस्थियाँ हैं—

अंगुल्यास्थियाँ (Phalanges)		१४
करभास्थियाँ (Metacarpals)		५
पाणिकूर्चास्थियाँ (Carpal bones)		८
प्रकोष्ठास्थियाँ	(बहिःप्रकोष्ठास्थि/Radius)	
	(अन्तःप्रकोष्ठास्थि/Ulna)	२
प्रगण्डास्थि (Humerus)		१
		३० × २ = ६०

इस प्रकार एक ऊर्ध्वशाखा में ३० और उतनी ही दूसरी शाखा में—इस प्रकार कुल ६० अस्थियाँ। इस प्रकार चारों शाखाओं की कुल अस्थिसंख्या १२० हैं।

(२) मध्य शरीर की अस्थियाँ—

कण्ठ से लेकर कटि तक कशेरुकाएँ (Vertebrae)	२४
त्रिकास्थि/Sacrum (में संलग्न अस्थियाँ)	१
अनुत्रिकास्थि (Coccyx)	१
श्रोणि (Pelvis) में (Hip bones, Os innominatum=नितम्बास्थि)	२
वक्षोऽस्थि /Sternum (में तीन अस्थियाँ संलग्न हैं)	१
अक्षकास्थि (Clavicles)	२
अंसफलक (Scapulae)	२
पर्शुकाएँ (Ribs) (एक ओर १२)	२४
कण्ठिका (Hyoid)	१
इस प्रकार मध्य शरीर में कुल अस्थिसंख्या	५८

(३) शिर की अस्थियाँ—

शिर:कपाल (पुर:कपाल/Frontal bone) (पश्चात्कपाल/Occipital bone) } दोनों में १-१	२
(पार्श्वकपाल/Parietal bone)	२
शंखास्थियाँ (Temporal bones)	२
जतूकास्थि (Sphenoid)	१
झर्झरास्थि (Ethmoid)	१
गण्डास्थि (Malar bones)	२
ऊर्ध्व हन्वस्थियाँ (Maxillae/Superior maxillary bone)	२
अधो हन्वस्थि (Mandible/Inferior maxillary bone)	१
ताल्वस्थियाँ (Palate bones)	२
नासास्थियाँ (Nasal bones)	२
शुक्तिका (नासाभ्यन्तरत:) (Turbinated bones)	२
सीरिका (नासाप्राचीर) (Vomer)	१
अश्रुपीठ (Lachrymal bones)	२
कर्णास्थियाँ (Ossicles of the ear)	६
इस प्रकार शिर की कुल अस्थिसंख्या	२८

संक्षेप में—	चारों शाखाओं में	१२० अस्थियाँ
	मध्य शरीर में	५८ अस्थियाँ
	शिर में	२८ अस्थियाँ
	कुल	२०६ अस्थियाँ

भिन्न-भिन्न मतों से अस्थि संख्या

अंग	चरक	वाग्भट	सुश्रुत	आधुनिक
अधःशाखाएँ	६८	७०	६०	६०
ऊर्ध्वशाखाएँ	६०	७०	६०	६०
मध्य शरीर	१४१	१२०	११७	५८
शिर	९१	१००	६३	२८
कुल संख्या	३६०	३६०	३००	२०६

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि। तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि॥ २०॥

अस्थियों के प्रकार (Types of bones)—ये अस्थियाँ पाँच प्रकार की हैं; यथा— १. कपालास्थियाँ (कर्परसंज्ञानि/Flat bones), २. रुचक (दन्ताः/Teeth), ३. तरुणास्थियाँ (तरुणसंज्ञानि/Cartilage), ४. वलय (वलयसंज्ञानि/Ring bones) और ५. नलकास्थियाँ (Tubular bones)।

कपालादि अस्थियों के स्थान—पाँच प्रकार की इन अस्थियों में— १. कपालास्थियाँ (Flat bones), जानु (Knee), नितम्ब (Pelvis), अंस (Scapula), गण्ड (Cheek), तालु (Palate), शंख (Temple) और शिर में पायी जाती हैं। २. रुचकास्थियाँ दाँत हैं। ३. तरुणास्थियाँ (Cartilage) घ्राण (नाक), कर्ण, ग्रीवा और अक्षिकोष (Orbital cavity) में होती हैं। ४. वलयास्थियाँ (Ring bones) पार्श्व (Flanks), पृष्ठ और छाती में होती हैं। ५. नलकास्थियाँ (Tubular bones) उपरोक्त के अतिरिक्त शेष नलकास्थियाँ हैं॥ २०॥

विमर्श—शेषाणि नलकसंज्ञानि इति। 'हस्तपादाङ्गुलितले कूर्चेषु मणिबन्धयोः। बाहुजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु'–इति भोजः। इस प्रकार के विशेष नामों से अस्थियों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है ('नामविशेषकथनं रचनाविशेषज्ञापनार्थम्')।

अस्थियाँ बनावट के अनुसार सम्प्रति चार प्रकार की मानी जाती हैं; यथा— **(१) लम्बी** (Long) अस्थियाँ शाखाओं में होती हैं। अँगुलियों और अंगूठों की अस्थियाँ 'Miniature long bones' कहलाती है। नलका(लम्बी)स्थियाँ भीतर से खोखली होती हैं जिसे 'Medullary cavity' कहते हैं। मज्जा (Marrow) यहीं होती है। **(२) ह्रस्व** (Short) अस्थियाँ स्पंज की तरह होती हैं। ये मणिबन्ध और गुल्फ (Ankle) में पायी जाती हैं। **(३) चपटी** (Flat) अस्थियाँ भी भीतर से स्पंज की तरह होती हैं। ये भीतरी अंग की सुरक्षा करती हैं। इनसे पेशी-निवेश (Attachment of muscle) में सुविधा भी रहती है। अंसफलक, अग्रकपाल, पश्चकपाल चपटी हैं। **(४) विषम** (Irregular) अस्थियाँ कशेरुका और अनेक कपालास्थियाँ आदि हैं।

तरुणास्थि (Cartilage) संयोजी ऊतक (Connective tissue) है जो न्यूनाधिक अल्प पारदर्शक तथा कुछ लचीला (Elastic) होता है। यह कार्टिलेज कोशिकाओं और 'Martrix' नामक पदार्थ से निर्मित होता है। कर्णपालि नासाग्र तरुणास्थियाँ हैं।

दन्त—यह कैल्सीफाइड रचना है जो दन्तमांस के सहारे स्थिर हैं। भुक्त पदार्थ को चबाना, शब्दोच्चारण में सहायता करना ('लृतुलसानां दन्ताः'–पाणिनिः) और चेहरे को आकार देना इनका कार्य है।

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः। अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम्॥ २१॥

तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्। अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम्॥

मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा। अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा॥

अस्थियों की उपयोगिता—प्राणियों का शरीर अस्थियों के सहारे उसी प्रकार खड़ा रहता है जिस प्रकार वृक्ष अपने अभ्यन्तर सार (Inner wood) के सहारे खड़े रहते हैं। समय के साथ शरीर की त्वचा एवं मांस नष्ट हो जाते हैं किन्तु अस्थियाँ नष्ट नहीं होती हैं, क्योंकि ये शरीर के सार (Solid parts) हैं। सिराओं तथा स्नायुओं (Vesseles and ligaments) से मांस अस्थियों से बँधा होता है। इस प्रकार अस्थियों का अवलम्बन मिलने से ये न नष्ट होते हैं और न गिरते हैं॥ २१-२३॥

विमर्श—काश्यपसंहिताकार के अनुसार—'अस्थीनि स्नायुबद्धानि स्नायवो मांसलेपनाः। सिराभिः पुष्यते नित्यं तस्य सर्वं त्वचाततम्'॥ अर्थात् अस्थियाँ स्नायुओं से बन्धी होती हैं और स्नायुओं पर मांस लेपन की तरह होता है जो नित्य सिराओं द्वारा पोषण प्राप्त करता है। इस प्रकार निर्मित इस शरीर पर त्वचा चढ़ी होती है।

चरक कहते हैं कि पञ्चमहाभूतों की ऊष्मा से यह अस्थिमय संघात बनता है ('सङ्घातः स्वोष्मणा कृतः'–च.चि. १५)। इसे खरता दिये जाने के पश्चात् अस्थि का रूप निश्चित होता है। वायु इनके अन्दर सुषिरता और स्नेह उनको मेद से भरता है। यही स्निग्ध पदार्थ मज्जा कहलाता है। अस्थियों में सुषिरता लाना वायु और आकाश का काम है ('वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु'–च.चि. १५)।

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च॥ २४॥

शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः। शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः॥

सन्धियों के भेद—सन्धियाँ (Joints) दो प्रकार की हैं— १. चेष्टा वाली (Movable) और २. स्थिर (Immovable)। शाखाओं (Extremities), हनु (Mandible) और कटि (Hip) सन्धियाँ चेष्टा (गति) युक्त और शेष सभी सन्धियाँ स्थिर होती हैं, ऐसा बुधजन जानें॥ २४-२५॥

विमर्श—प्रकारान्तर से गति के आधार पर सन्धियों के तीन भेद भी किये जाते हैं— (१) बहुचेष्टावान् सन्धियाँ (Freely movable joints), जैसे—शाखाओं एवं अधोहनु की सन्धियाँ अधिक गतिशील होती हैं। (२) अल्पचेष्टावान् सन्धियाँ (Partially movable joints), जैसे—पृष्ठवंश की सन्धियाँ अपेक्षाकृत अल्प गतिशील हैं। (३) चेष्टारहित सन्धियाँ (Immovable joints) जैसे, शिर की सन्धियाँ। बहुचेष्टावान् सन्धियों को 'Diarthrosis', अल्पचेष्टावान् सन्धियों को 'Amphiarthrosis' और चेष्टारहित सन्धियों को 'Synarthrosis' भी कहते हैं।

सङ्ख्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते; तेषां शाखास्वष्टषष्टिः, एकोनषष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश, जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ; तावन्त एव ग्रीवायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु हृदयक्लोम-निबद्धास्वष्टादश, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके नासायां च, द्वौ वर्त्ममण्डलयोर्नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि॥ २६॥

सन्धियों की संख्या और स्थान—ये सन्धियाँ २१० हैं। इनमें से शाखाओं में ६८, कोष्ठ में ५९ और ग्रीवा से ऊपर ८३ सन्धियाँ हैं।

पैर की प्रत्येक अंगुलि में तीन-तीन, अंगूठे में दो इस प्रकार १४ सन्धियाँ हैं। जानु, गुल्फ और वंक्षण में एक-एक सन्धि है। इस तरह एक टाँग में १७ सन्धियाँ हैं। इतनी ही सन्धियाँ दूसरी टाँग में है। ऊर्ध्व शाखाओं में भी प्रत्येक में सतरह सन्धियाँ हैं। इस प्रकार चारों शाखाओं में ६८ सन्धियाँ होती हैं।

कटिकपालों (Flat bones of hip) में तीन सन्धियाँ, पृष्ठवंश (Vertebral column) में चौबीस सन्धियाँ, दोनों पार्श्वों में चौबीस सन्धियाँ और छाती में आठ सन्धियाँ होती हैं। इस तरह मध्य देह में ५९ सन्धियाँ हैं।

ग्रीवा में आठ सन्धियाँ, कण्ठ (Throat) में तीन, हृदय और क्लोम से निबद्ध नाड़ियों में अठारह और बत्तीस दाँतों के दन्तमूलों से बत्तीस सन्धियाँ होती हैं। काकलक ('गलमणिः, घण्टिकेति लोके तालुमूलम्'–इति चक्रपाणिः) में एक, नासा में एक, नेत्राश्रित वर्त्ममण्डल (Lids) में दो, गाल-कान एवं शंख में एक-एक (दोनों ओर के दो-दो), हनुसन्धियाँ (Mandibular joints) दो, भौं (Brows) के ऊपर दो, शंखों के ऊपर दो, शिरःकपालों (Skull) में पाँच तथा मूर्धा (Forehead) में एक सन्धि होती है। इस प्रकार ग्रीवा और ग्रीवा से ऊपर ८३ सन्धियाँ हैं।। २६।।

विमर्श—सन्धियों की इस उपरोक्त गणना में पदकूर्चप्रपद सन्धियाँ (Tarsometatarsal joints) और अन्तरागुल्फिका सन्धि (Intertarsal joints) की गणना नहीं हुई है। अब कुछ नई सन्धियाँ भी प्रकाश में आयी हैं, जैसे—कशेरुका के 'Articular processes' के मध्य की सन्धियाँ।

त एते सन्धयोऽष्टविधाः—कोरोलूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्ताः। तेषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हन्वोरुभयतस्तु वायसतुण्डाः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः।। २७।।

प्रकारान्तर से सन्धियों के आठ भेद—ये सन्धियाँ प्रकारान्तर से आठ प्रकार की हैं; यथा—१. कोर (कोरो नाम गर्तः, तदाकृतयः कोराः, कोरः कलिका, तदाकृतय इत्यन्ये; Hinge joints), २. उलूखल (उलूखलः तण्डुलखण्डनोपयोगी, तदाकृतयः सन्धयः उलूखलाः; Ball and socket joints), ३. सामुद्ग (समुद्गः सम्पुटः, तदाकृतयः सामुद्गाः; Amphiarthrosis), ४. प्रतर (प्रतरो भेलकः, तदाकृतयः प्रतराः; Arthrodia), ५. तुन्नसेवनी (Sutures), ६. वायसतुण्ड (Ginglymoarthrodial joints), ७. मण्डल (मण्डलाकृतिः) और ८. शंखावर्त (Convolutions of a conch-shell)।

इन सन्धियों के शरीर में स्थान—इन आठ प्रकार की सन्धियों में—१. 'कोर' नामक सन्धियाँ अंगुलि, मणिबन्ध (Wrist), गुल्फ, जानु और कूर्पर (Elbow) में होती हैं। २. 'उलूखल' नामक सन्धियाँ कक्षा (Axillae), वंक्षण (Hips) और दाँतों में होती हैं। ३. 'सामुद्ग' नामक सन्धियाँ अंसपीठ (Scapulae), गुद (Anal region), भग (Pelvis) और नितम्ब (Buttocks) में पायी जाती हैं। ४. 'प्रतर' नामक सन्धियाँ ग्रीवा और पृष्ठवंश (Back) में होती हैं। ५. 'तुन्नसेवनी' नामक सन्धियाँ शिर की चपटी अस्थियों तथा कटि (Hip bones) में होती हैं। ६. 'वायसतुण्ड' नामक सन्धियाँ हनु (Mandible) के दोनों ओर होती हैं। ७. 'मण्डल' सन्धियाँ कण्ठ, हृदय, नेत्र और क्लोम नाड़ी में होती हैं। ८. 'शंखावर्त' सन्धि श्रोत्र-शृङ्गाटक में पायी जाती हैं। इनकी आकृतियाँ इनके नामों से (Self-explanatory) जानी जा सकती हैं।। २७।।

विमर्श—श्रोत्र-शृङ्गाटक 'External auditory meatus' या 'Labyrinth' या 'Maze of the ear' है।

सन्धियाँ और उनके स्थान

सन्धियाँ	स्थान जहाँ पायी जाती हैं
१. कोर सन्धि (Hinge joint)	अंगुलि, मणिबन्ध, गुल्फ, जानु और कूर्पर
२. उदूखल सन्धि (Socket joint)	कक्षा, वंक्षण (Hips), दाँत
३. सामुद्ग सन्धि (Amphiarthrosis)	अंसपीठ, गुद, भग, नितम्ब
४. प्रतर सन्धि (Arthrodia)	ग्रीवा, पृष्ठवंश
५. तुन्नसेवनी (Sutures)	शिर की चपटी अस्थियों एवं कटि में
६. वायसतुण्ड (Ginglymoarthrodial joint)	हनु के दोनों ओर (Mandible joint)
७. मण्डल सन्धि	कण्ठ, नेत्र, क्लोमनलिका
८. शंखावर्त (Convolutions of conch shell)	श्रोत्र, शृंगाटक

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः। पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते॥

यह केवल अस्थियों की सन्धियों का वर्णन है। पेशी (Muscles), स्नायु (Ligaments) और सिराओं (Vessels) की सन्धियाँ तो असंख्य (Innumerable) हैं॥ २८॥

नव स्नायुशतानि। तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षट् निचितास्तास्त्रिंशत्, तावत्य एव तलकूर्चगुल्फेषु, तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत्; षट्त्रिंशद् ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत्; एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि भवन्ति॥ २९॥

स्नायु ९०० हैं—स्नायु (Ligaments) नौ सौ हैं। इनमें से शाखाओं में छः सौ, दो सौ तीस कोष्ठ (Trunk) में और ग्रीवा एवं उससे ऊपर के भाग में सत्तर स्नायु हैं। इस प्रकार शरीर के विभिन्न भागों में कुल ९०० स्नायु हैं।

शाखागत स्नायु—शाखागत स्नायुओं में से पैर की प्रत्येक अंगुलि में छः-छः, कूर्च (Middle part of the sole), तल (Front part of the foot) और गुल्फ में दस-दस, जंघा (Leg) में भी तीस, जानु में दस, ऊरु में चालीस, वंक्षण (Hip) में दस—इस प्रकार एक टाँग में १५० स्नायु होते हैं। इतने दूसरी टाँग में तथा ऊर्ध्व शाखा में प्रत्येक में १५० स्नायु पाये जाते हैं। सब मिलाकर चारों शाखाओं में ६०० स्नायु हैं।

मध्य शरीर एवं ग्रीवा के स्नायु—कटि (Lumber region) में साठ, पीठ में अस्सी, पार्श्वों (In the sides) में साठ, छाती में तीस, ग्रीवा में छत्तीस, मूर्धा में चौंतीस—इस प्रकार सब स्नायु ९०० (शाखाओं में ६०० तथा कटि आदि में ३०० = ९००) है॥ २९॥

विमर्श—स्नायु—'सान्द्रमसृणशणगुच्छसमाकाराः सन्धिबन्धनार्थाः प्रायेण—गणनाथसेन। (Ligaments are bands of white fibrous tissue which hold the bones together)। 'स्नायुरिति शणाकार उपधातुविशेषो येन धनूंषि नह्यन्ते' (डल्हण सू. २५।१)।

भवन्ति चात्र—

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे। प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा।। ३०।।
प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ। वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह।। ३१।।
आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु। पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ।। ३२।।
नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता। भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता।। ३३।।
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः। स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः।। ३४।।
न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः। व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम्।।
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा। स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम्।।

स्नायु भेद एवं कार्य—स्नायुओं के चार प्रकार होते हैं, उन्हें तुम मुझसे सुनो—१. प्रतानवती (Branched), २. वृत्त (Round), ३. प्रिथु (Flat) और ४. सुषिर (Porus) ।। ३०।।

कुशल वैद्यों द्वारा यह जानना चाहिए कि प्रतानवती स्नायु शाखाओं और सभी सन्धियों में पाये जाते हैं जबकि सभी वृत्त स्नायु कण्डराएँ (Tendons) हैं।। ३१।।

बस्ति, आमाशय और पक्वाशय के अन्त में (At the distal ends) सुषिर स्नायु होते हैं। पृथु स्नायु पार्श्वों, छाती, पीठ और शिर में होते हैं।। ३२।।

स्नायु के कार्य—जिस प्रकार बहुत-से लकड़ी के फट्टों को परस्पर अनेकों बन्धनों से जोड़ कर तय्यार की गयी नौका पानी में आदमियों के भार को सहन करने में सक्षम होती है उसी प्रकार सारे शरीर में जितनी भी सन्धियाँ हैं वे सभी विविध प्रकार के अनेकों स्नायुओं से बन्धी होने के कारण भार को सहन करने में समर्थ होती हैं।। ३३-३४।।

स्नायु का महत्त्व—अस्थियों, पेशियों, सिराओं और सन्धियों के क्षतिग्रस्त होने पर इतनी विकृति नहीं आती है जितनी स्नायुओं को हानि पहुँचने से होती है।। ३५।।

स्नायुज्ञान की उपयोगिता—जो आभ्यन्तर (Deep) और बाह्य (Superficial) स्नायुओं को अच्छी तरह जानता है वह गुह्य शल्य (Deeply penetrated foreign body) को शरीर से निकालने में समर्थ होता है।। ३६।।

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्। एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति; एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ; तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु; ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः, एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायाम्, ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति; एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि।। ३७।।

भवति चात्र—

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्। पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः॥ ३८॥

मांसपेशियों की संख्या—मांसपेशियाँ पाँच सौ हैं; इनमें से—शाखाओं मं ४००, कोष्ठ में ६६ और ग्रीवा से ऊपर ३४—इस प्रकार कुल मांसपेशियाँ ५०० हैं।

शाखागत मांसपेशियाँ—शाखाओं की मांसपेशियों में पैर की प्रत्येक अंगुलि (Toes) में तीन-तीन मांसपेशियाँ होती हैं, अतः पाँच अँगुलियों में ३ × ५ = १५ पेशियाँ हैं; प्रपद (पादाग्र/Anterior part of the foot) में दस, पैर के ऊपर के भाग (Dorsum of the foot) में दस जो कूर्च से जुड़ी हैं; पादतल (Sole) और गुल्फ में दस; गुल्फ जानु के बीच बीस; जानु में पाँच, ऊरु में बीस, वंक्षण में दस—इस प्रकार एक टाँग में एक सौ मांसपेशियाँ होती हैं। इतनी ही मांसपेशियाँ दूसरी टाँग (सक्थि) में तथा प्रत्येक उर्ध्वशाखा में होती हैं। इस प्रकार शाखाओं में चार सौ मांसपेशियाँ होती हैं।

मध्यकाय की मांसपेशियाँ—पायु (गुद/Anus) में ३, शिश्न (Penis) में १, सेवनी (Raphe) में १, वृषणों (Scrotum) में २, प्रत्येक स्फिक् (Buttock) में ५-५, बस्तिशिर (Fundus of the bladder) में २, उदर में ५, नाभि में १, पीठ के ऊर्ध्व भाग से जुड़ी हुई ५-५ (१०), पार्श्वों में ६, छाती में १०, अक्षकास्थि और अंस (कन्धा) में लगी, चारों ओर ७, हृदय और आमाशय में २, यकृत्, प्लीहा, उण्डुक में ६—इस प्रकार ये कुल ६६ मांसपेशियाँ हैं।

ऊर्ध्वजत्रुग मांसपेशियाँ—ग्रीवा में ४, हनु में ८, काकलक (Plate) और गले में प्रत्येक में १-१, तालु में २, जीभ में १, होठों में २, नासा में २, आँखों में २, गालों में ४, कानों में २, ललाट में ४ और शिर में १ मांसपेशी है। सब मिलकर ३४ मांसपेशियाँ हैं।

इस प्रकार शरीर में मांसपेशियाँ की कुल संख्या ५०० है॥ ३७॥

सिरा (Vessels), स्नायु (Ligaments), अस्थि (Bones) और सन्धियाँ (Joints) मांसपेशियों से ढकी होने के कारण बलवती होती हैं॥ ३८॥

विमर्श—पेशी—''मांसावयवसङ्घातः परस्परं विभक्तः 'पेशी' इत्युच्यते'' (ड.); 'इह खलु पेश्यो नाम प्राणभृतां प्रधानानि चेष्टासाधनानि मांसमयानि। निखिलानां चेष्टानां तदाकुञ्चनप्रसारमूलत्वात्'–गणनाथ सेन।

क्रियावैशिष्ट्य से पेशियाँ दो प्रकार की होती हैं— १. स्वतन्त्र (Involuntary muscles) पेशियाँ—ये प्राणी की इच्छा की प्रतीक्षा नहीं करती हैं; जैसे—अन्त्र, हृदय, आमाशय की मांसपेशियाँ। २. परतन्त्र (Voluntary) पेशियाँ—ये प्राणी की इच्छा के अनुसार कार्य करती हैं; जैसे—हाथ, पैर आदि की मांसपेशियाँ। प्रायः स्वतन्त्र मांसपेशियाँ शरीर के आभ्यन्तर भाग में और परतन्त्र पेशियाँ शरीर के बाह्य भाग में होती हैं।

आकृति के अनुसार ये कई प्रकार की होती हैं। इनमें स्वतन्त्र मांसपेशियाँ तीन प्रकार की हैं; जैसे—कोषाकार, नलकाकार और सूत्राकार। बस्ति, हृदय और आमाशयादि में कोषाकार होती हैं, अन्त्रादि में नलकाकार तथा प्लीहादि में सूत्राकार। इन मांसपेशियों को बारीकी से देखने पर सभी सूत्रमय होती हैं। परतन्त्र मांसपेशियाँ पाँच प्रकार की हैं; यथा— १. कुछ रस्सी की तरह लम्बी, २. कोई वेम (Spindle) की तरह, ३. कुछ तालवृन्त जैसी, ४. शरपुंखाकार और कोई ५. प्रच्छदाकार। इनके आकार के सम्बन्ध में आगे भी वर्णन है।

स्त्रीणां तु विंशतिरधिका। दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्च पञ्चेति, यौवने तासां परिवृद्धिः; अपत्यपथे चतस्रः—तासां प्रसृतेऽभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे, गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः, शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव। पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या यत्र गर्भस्तिष्ठति॥ ३९॥

स्त्रियों में अधिक मांसपेशियाँ—स्त्रियों में २० मांसपेशियाँ पुरुषों से अधिक होती हैं—प्रत्येक स्तन में पाँच-पाँच इस प्रकार १०; इनकी यौवनकाल में वृद्धि होती है। अपत्यपथ (Genital tract) में ४ मांसपेशियाँ हैं। इनमें २ अन्दर की ओर को फैली हुई होती हैं और २ मुख में स्थित हैं तथा गोल होती हैं। गर्भच्छिद्रसमाश्रित अर्थात् योनि के अन्तर्मुख में या गर्भाशय के मुख में तीन पेशियाँ आश्रित हैं। तीन और पेशियाँ हैं जो शुक्र (Sperm) और आर्तव (Ovum) को एक-दूसरे के समीप लाती हैं। गर्भशय्या (गर्भाशय/Uterus), पित्ताशय (Gall bladder) और पक्वाशय (Intestines) के मध्य स्थित होती है, जहाँ गर्भ ठहरता है (Foetus lies)॥ ३९॥

विमर्श—गर्भाशय या गर्भशय्या अन्तःसुषिर पेशीमय रचना है जो शुक्राणुयुक्त डिम्ब (Impregnated ovum) को ग्रहण करता है और विकासशील गर्भ की आश्रयस्थली है। उदर के अधोभाग में इसकी स्थिति योनि (Vagina) से ऊपर सामने मूत्राशय और पीछे अवग्रह बृहदन्त्र (Sigmoid colon) और मलाशय (Rectum) इन दोनों के मध्य होती है। यह देखने में तुम्बी जैसा (Piriform) होता है। कुमारी (Virgin) युवती के गर्भाशय की लम्बाई ३ इंच, चौड़ाई २ इंच और मोटाई १ इंच के लगभग होती है। इसके तीन प्रमुख भाग हैं— १. बुध्न (Fundus), २. गात्र (Body) और ३. ग्रीवा (Cervix or neck)। 'मलमूत्राशययोर्मध्ये गर्भशय्या प्रतिष्ठिता' (सु.)।

तासां च बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिशिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति॥ ४०॥

स्थान के अनुसार पेशियों के विविध रूप (Characteristics)—ये मांसपेशियाँ स्वभाव से ही स्थान के अनुसार बहल (बहुतराः/Largeness), पेलव (अल्पाः/Smallness), स्थूल (Thickness), अणु (Thinness), पृथु (विस्तीर्णाः/Flatness), वृत्त (वर्त्तुलाः, गोल), ह्रस्व (अदीर्घाः/Shortness), दीर्घ (आयताः/Longness), स्थिर (कठिनाः/Firmness), मृदु (कोमलाः/Shoftness), श्लक्ष्ण (स्पर्शसुखाः/Smoothness) और कर्कश (स्पर्शासुखाः/Roughness) होती हैं॥ ४०॥

भवति चात्र—

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः। स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः॥

प्रजननांगों (Genitals) को आच्छादित करने वाली पेशियों में पुरुषों में जो लक्षण (मेढ्र) और मुष्क (Penis and scrotum) की मांसपेशियाँ बतायी गयी हैं वे स्त्रियाँ में फल (Ovaries) को आच्छादित करती हैं॥ ४१॥

विमर्श—लक्षण—'लक्ष्यते ज्ञायते पुमाननेनेति लक्षणं लिङ्गं शिश्नमिति यावत्' (ड.)। फल से डल्हण गर्भाशय मानते हैं। डल्हण की टीका में गयी द्वारा दिये गये भोज के उद्धरण में स्त्रियों में तीन मांसपेशियाँ कम होने की बात कही गयी है—'पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्जं विद्धि भूमिप। अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः'॥

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः॥ ४२॥

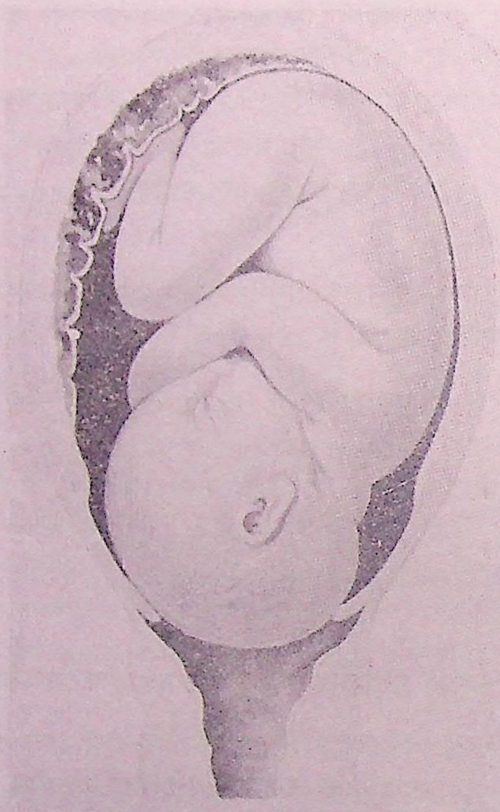
मर्म (Vulnerable areas), सिरा, धमनी और स्रोतों (Channels) के प्रविभागों का वर्णन अन्यत्र (६, ७ और ९वें अध्याय में) किया जायेगा॥ ४२॥

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः। तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः॥ ४४॥

स्त्री प्रजननांगों (Female genital tract) **का स्वरूप**—स्त्रीजननांग मार्ग शंख के अन्तर्भाग (Inner portion of a conch shell) सदृश और तीन आवर्तों (Circular folds) वाला होता है। इसके तृतीय आवर्त में गर्भशय्या (Bed of foetus) प्रतिष्ठित है। विद्वान् जन जानते हैं कि गर्भाशय का आकार (Shape) और रूप (Apprearance) रोहित नामक मछली के मुख सदृश होते हैं।। ४३-४४।।

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः। स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति।।

गर्भाशय में भ्रूण की स्थिति—स्त्री के गर्भाशय में गर्भ अंगों को संकुचित कर (आभुग्नः = संकुचिताङ्गः/ Universal flexon) अधोमुख होता है। प्रसव के समय उसका शिर स्वभावतः योनि में आ जाता है।। ४५।।



चित्र सं० ९ : सामान्य प्रसव और गर्भाशय का एक समान आकार
('आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो'''''शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति')

विमर्श—शिरसा याति—आयुर्वेद में प्रायः पाये जाने वाले रोग तथा रोगों के प्रायः पाये जाने वाले लक्षणों का उल्लेख मिलता है ('बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति')। इसी प्रकार प्रसव के समय सबसे अधिक पायी जाने वाली प्रस्तुति (Presentation) का उल्लेख किया गया है कि 'गर्भ का शिर सर्वप्रथम बाहर आता है'। देखें Obstetrics by T.T. के शब्दों में—

'In 96 per cent of cases at term the foetus lies longitudinally, with the head in the lower uterine segment, and the breech in the fundus. The reason for this is found in the fact that full time the foetus has to adapt itself to the shape of the uterus.'

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः। शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित्।। ४६।।

चिकित्साशास्त्र के किसी भी अंग में सम्पूर्ण शरीर के अंग-प्रत्यंग एवं त्वचा का इस प्रकार का विनिश्चय शल्यशास्त्र के अतिरिक्त कहीं नहीं है॥ ४६॥

विमर्श—सामान्यतः चिकित्साशास्त्र के सभी अंग स्वतन्त्र हैं। तथापि किसी-न-किसी रूप में ये परस्पर सम्बद्ध भी हैं। कायचिकित्सा में शल्यशास्त्री की और शल्यकर्मसाध्य व्याधियों में कायचिकित्सक की आवश्यकता होती आयी है। किन्तु शरीर के अंग-प्रत्यंग विनिश्चय की जितनी आवश्यकता शल्यहर्ता को होती है उतनी अन्य किसी चिकित्सक को नहीं ('नैव वर्ण्यतिऽङ्गेषु केषुचित्')।

तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता। शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः॥
प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्। समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥ ४८॥

इस हेतु यदि शल्यहर्ता शरीर के अंग-प्रत्यंग के सम्बन्ध में सन्देह रहित ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह मानव के मृत शरीर की शोधन करने के उपरान्त भली प्रकार जाँच करे। क्योंकि जिसको शास्त्र से पढ़ा है तथा उसको प्रत्यक्ष भी देखा है तो इस प्रकार दोनों तरह से प्राप्त ज्ञान उस विषय की जानकारी को और बढ़ाता है॥ ४७-४८॥

विमर्शत—इससे पूर्व के (सू.स्था.अ. ३ में) वर्णन में शास्त्र के अध्ययन और उसके क्रियात्मक को पक्षी के दो पंखों की तरह बताया है ('उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि। अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ')।

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमावहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक्प्रकुथितं चोद्धृत्य, ततो देहं सप्तरात्रादुशीरबालवेणुबल्वजकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा॥ ४९॥

शवच्छेदन-विधि (Method of dissecting cadavers)—शरीर के अंग-प्रत्यंगादि के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए इस प्रकार का मृत मानव-शरीर लें जिसमें सभी अंग-प्रत्यंग हों, जिसकी विष से मृत्यु न हुई हो, जो किसी लम्बी बीमारी से न मरा हो, जो सौ वर्ष से कम आयु का हो और जिसकी आँतों से मल निकाल दिया गया हो। उस मृत पुरुष-शरीर को मुञ्ज, वल्कल, कुश, शण आदि से लपेट कर और पिंजरे में रखकर अल्प बहाव वाली नदी में पिंजरे को प्रकाश रहित स्थान में बाँध दें और सड़ने दें। इस प्रकार अच्छी तरह कोथ युक्त हो जाने के उपरान्त (After proper decomposition) सातवें दिन मृत शरीर को पिंजरे से निकाल कर खस, बाल, बाँस या बल्वज (उशीरभेद) से बनी कूची से धीरे-धीरे रगड़कर त्वगादि का निरीक्षण करें और सभी अंग-प्रत्यंग विशेषों को पूर्व वर्णन के अनुसार प्रत्यक्ष देखें॥ ४९॥

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः। दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च॥ ५०॥

चर्मचक्षुओं से आत्मा को देखना सम्भव नहीं—इस शरीर में विभु (आत्मा/Soul) को नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह (आत्मा) अतिसूक्ष्म (Ultra-minuteness) है। उसे केवल ज्ञानचक्षुओं (By the eyes of knowledge) और तपश्चक्षुओं (By the eyes of penance) से ही देखा जा सकता है॥ ५०॥

विमर्श—आत्मा ज्ञानाधिकरण है और आत्मा तथा परमात्मा भेद से दो प्रकार का है। परमात्मा एक है, ईश्वर है और सर्वज्ञ है जबकि आत्मा प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है, विभु है, नित्य है। इन्हें ज्ञानचक्षुओं ('सद्गुरूपदेशजज्ञानान्येव चक्षूंषि तैर्दृश्यते') और तपश्चक्षुओं ('तपांसि चान्द्रायणादीनि तानि चक्षूंषि दृष्टस्तैरपि च') से ही देखा जा सकता है।

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः। दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥ ५१ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरणशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



शवच्छेदन का लाभ—शास्त्राध्ययन से प्राप्त ज्ञान को शरीर पर प्रत्यक्ष देखकर चिकित्सक कार्य में कुशलता प्राप्त करता है और इस प्रकार सन्देह का निवारण कर तथा बहुदृष्ट एवं बहुश्रुत होकर ही शस्त्रादि क्रियाएँ करनी चाहिए ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'शरीरसंख्याव्याकरणशारीर' नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५ ॥



अध्याय-सारांश

'शरीरसंख्याव्याकरणशारीर' नामक इस अध्याय में—'गर्भ' की परिभाषा, इसमें पञ्चमहाभूतों द्वारा विभाजन, पचन, क्लेदन आदि क्रियाएँ, हस्त-पादादि की 'शरीर' संज्ञा, सम्पूर्ण शरीर का छः अंगों में विभाजन (३); प्रत्यङ्गों की अलग-अलग संख्या, त्वचा, कला, धातु, मल, दोष आदि में विभाजन, त्वगादि की संख्या, पेशी, धमनी, गर्भ आदि की शरीर में संख्या (४-६); आशय संख्या, आँतों की लम्बाई, स्रोतों की संख्या, सोलह प्रकार की कण्डराएँ, मांसजालादि की संख्या, कूर्च, सेवनी, अस्थिसंघात, सीमन्त, तीन सौ अस्थियाँ, शाखादि में अस्थियों की संख्या (७-२३); दो प्रकार की सन्धियाँ, सन्धिसंख्या, इनके आठ प्रकार, नौ सौ स्नायु, ग्रीवादि में इनकी संख्या, स्नायुज्ञान की आवश्यकता (२४-३६); पाँच सौ मांसपेशियाँ, शाखादि में इनकी संख्या, स्त्रियों में बीस अधिक, इनके स्थानवश नाना रूप (३७-४०); गर्भशय्या का स्थान, गर्भस्थिति, मृत शरीर में शरीर की रचनाओं को प्रत्यक्ष देखने की विधि, दृष्ट-श्रुत के लाभ (४१-५१)।



षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर' (The Anatomical Considerations of Individual Vulnerable Areas) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'शरीरसंख्याव्याकरणशारीर' नामक पाँचवें अध्याय में मांस-सिरादि व्याकरण का उल्लेख हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि मांस-सिरादि के आश्रित मर्मों का वर्णन किया जाय।

प्रत्येकमर्मनिर्देशम्—'प्रत्येकशब्दादग्रे मांसादिशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः, तेन प्रत्येकमांसादिमर्मणां निर्देशः विवरणं यस्मिन् तत् तथा'।

मर्म—'मारयन्तीति मर्माणि' (ड.); जिनको क्षति पहुँचने पर मृत्यु हो जाती है वह 'मर्म' है।

'अपि च मरणकारित्वान्मर्म' (अ.हृ.)।

सप्तोत्तरं मर्मशतम्। तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति; तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति ॥ ३ ॥

न खलु मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥ ४ ॥

मर्मों की संख्या और नाम—मर्म १०७ हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं— १. मांसमर्म (वे मर्म जो मांस/Muscles में स्थित होते हैं), २. सिरामर्म (जो रक्तवाहिनियों/Vessels में स्थित होते हैं), ३. स्नायुमर्म (जो स्नायुओं/Ligaments के आश्रित होते हैं), ४. अस्थिमर्म (ये अस्थियों/Bones में पाये जाते हैं) और ५. सन्धिमर्म (ये सन्धियों/Joints में होते हैं)। इन मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धियों के अतिरिक्त मर्म नहीं होते हैं, क्योंकि अन्य मर्म उपलब्ध नहीं होते हैं॥ ३-४॥

विमर्श—पांच ही प्रकार के मर्म होते हैं, अधिक नहीं। स्रोतादि को मांसादि में समाविष्ट समझा जाता है ('स्रोतःप्रभृतीनि मांसादीन्यव्यतिरिच्य वर्तन्ते, यतो मांसादिष्वेव स्रोतःप्रभृतीनि सन्ति, तस्मान्मांसादीनि पञ्चैव मर्माणि')।

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ॥ ५ ॥

मांसादि के मर्मों की संख्या—मांसादि में स्थित १०७ मर्म इस प्रकार हैं— १. मांसमर्म ११, २. सिरामर्म ४१, ३. स्नायुमर्म २७, ४. अस्थिमर्म ८ और ५. सन्धिमर्म २० हैं। इस प्रकार मर्मों की स्थानभेद से कुल संख्या १०७ है॥ ५॥

विमर्श—अन्य संहिता एवं संग्रह-ग्रन्थों में मर्मों के स्थान एवं संख्या के सम्बन्ध में मतान्तर हैं।

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ, उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत् ॥ ६ ॥

अंग-प्रत्यंग के मर्मों की संख्या—प्रदेश-विशेष के ज्ञानार्थ मर्मों का विशद वर्णन इस प्रकार है—एक सक्थि (टाँग, अधःशाखा/Inferior extremity) में ११ मर्म होते हैं। इतने ही दूसरी टाँग में और इतने ही प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा में। इस प्रकार अधः और ऊर्ध्व शाखाओं में मर्मों की कुल संख्या ४४ है (११ × ४ = ४४)। उदर और छाती में १२, पीठ में १४ और ग्रीवा से ऊपर ३७ मर्म हैं। इस प्रकार ६३ मर्म हैं। शाखाओं के मर्मों को मिलाकर १०७ मर्म हैं (४४ + ६३ = १०७)।।६।।

तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रबस्तिजान्वाण्युर्वीलोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरत् सक्थि व्याख्यातम्। उदरोरसोस्तु गुदबस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति। पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति। बाहुमर्माणि तु शिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रबस्तिकूर्पराण्युर्वीलोहिताक्षाणि कक्षधरं चेति। एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः। जत्रुण ऊर्ध्वं चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे विधुरे द्वे फणे द्वावपाङ्गौ द्वावावर्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्खावेका स्थपनी पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति ।। ७।।

अधःशाखा के मर्मों के नाम एवं संख्या—अधःशाखा के मर्मों में—१. क्षिप्र, २. तलहृदय, ३. कूर्च, ४. कूर्चशिर, ५. गुल्फ, ६. इन्द्रबस्ति, ७. जानु, ८. आणि, ९. ऊर्वी, १०. लोहिताक्ष और ११. विटप। इतने ही मर्म दूसरी अधःशाखा में भी होते हैं। इस प्रकार दोनों अधःशाखाओं में २२ मर्म हैं।

पेट और छाती के मर्म—गुद (Anus), बस्ति (Urinary bladder), नाभि, हृदय, स्तनमूल दो, स्तनरोहित दो, अपस्तम्भ दो और अपलाप दो। इस प्रकार पेट तथा छाती में १२ मर्म हैं।

पीठ के मर्म—१. कटीकतरण दो, २. कुकुन्दर दो, ३. नितम्ब दो, ४. पार्श्वसन्धि दो, ५. बृहती दो, ६. अंसफलक दो और ७. अंस दो। इस प्रकार १४ मर्म हैं।

बाहु के मर्म—१. शिप्र, २. तलहृदय, ३. कूर्च, ४. कूर्चशिर, ५. मणिबन्ध, ६. इन्द्रबस्ति, ७. कूर्पर, ८. आणि, ९. ऊर्वी, १०. लोहिताक्ष और ११. कक्षधर। ये एक बाहु के मर्म हैं। ये ही दूसरी बाहु के भी हैं।

ऊर्ध्वजत्रु के मर्म—१. धमनियाँ ४, २. मातृकाएँ ८, ३. कृकाटिका २, ४. विधुर २, ५. फण २, ६. अपांग २, ७. आवर्त २, ८. उत्क्षेप २, ९. शंख २, १०. स्थपनी १, ११. सीमन्त ५, १२. शृंगाटक ४ और १३. अधिपति १।।७।।

तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि, नीलधमनीमातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनमूलापलापापस्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरामर्माणि, आणिविटपकक्षधरकूर्चकूर्चशिरोबस्तिक्षिप्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि, कटीकतरुणनितम्बांसफलकशङ्खास्त्वस्थिमर्माणि, जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिबन्धकुकुन्दरावर्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि ।।८।।

मांसादि मर्मों के नाम : मांसमर्म—तलहृदय, इन्द्रबस्ति, गुद और स्तनरोहित हैं। **सिरामर्म**—नीला दो, धमनियाँ दो, मातृका आठ, शृंगाटक चार, अपाङ्ग दो, स्थपनी एक, फण दो, स्तनमूल दो, अपलाप दो, अपस्तम्भ दो, हृदय, नाभि, पार्श्वसन्धि दो, बृहती दो, लोहिताक्ष चार और ऊर्वी चार हैं। **स्नायुमर्म**—आणि चार, विटप दो, कक्षधर दो, कूर्च चार, कूर्चशिर चार, बस्ति एवं क्षिप्र चार, अंस दो, विधुर दो और उत्क्षेप दो हैं। **अस्थिमर्म**—कटीकतरुण दो, नितम्ब दो, अंसफलक दो और शंख दो हैं। **सन्धिमर्म**—जानु दो, कूर्पर दो, सीमन्त पाँच, अधिपति एक, गुल्फ दो, मणिबन्ध दो, ककुन्दर दो, आवर्त दो और कृकाटिका दो हैं।।८।।

तान्येतानि पञ्चविकल्पानि भवन्ति। तद्यथा—सद्यःप्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणि चेति। तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोनविंशतिः, कालान्तर-प्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, त्रीणि विशल्यघ्नानि, चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकरा-णीति॥ ९॥

मर्मों का प्रकारान्तर से वर्गीकरण—इन मर्मों को पाँच श्रेणियों (Groups) में विभक्त किया गया है— १. सद्यः प्राणहर मर्म (Instantly fatal), २. कालान्तर प्राणहर मर्म (Fatal after a time), ३. विशल्यघ्न मर्म (Fatal on extraction of foreign body), ४. वैकल्यकर मर्म (Disabling) और ५. रुजाकर मर्म (Painful)। इनमें सद्यः प्राणहर १९ मर्म हैं, कालान्तर प्राणहर ३३ मर्म हैं, विशल्यघ्न ३ मर्म हैं, वैकल्यकर ४४ मर्म हैं और रुजाकर ८ मर्म हैं॥ ९॥

भवन्ति चात्र—

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्।
हृदयं बस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु॥ १०॥

सद्यःप्राणहर मर्म—शिर में पाये जाने वाले शृंगाटक नामक ४ मर्म, अधिपति (शिरोगत) नामक १ मर्म, शंख (शिरोगत) नामक २ मर्म, कण्ठ की सिराएँ (मातृकाएँ) ८ मर्म, गुद नामक १ मर्म, हृदय नामक १ मर्म, बस्ति नामक १ मर्म, नाभि नामक १ मर्म—ये १९ सद्यःप्राणहर (Cause instant death on being hurt) मर्म हैं जिनको क्षति पहुँचने पर तुरन्त मृत्यु हो जाती है॥ १०॥

वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रबस्तयः। कटीकतरुणे सन्धी पार्श्वजौ बृहती च या॥ ११॥
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु।

कालान्तर प्राणहर मर्म—छाती के मर्म (वक्षो मर्माणीति स्तनमूले द्वे, स्तनरोहिते द्वे, अपलापौ द्वे, अपस्तम्भौ द्वे—इस प्रकार वक्षोमर्म ८ हैं), सीमन्त (नामक शिरोमर्म ५ हैं), तलहृदय (नामक हस्तपाद मर्म ४ हैं), क्षिप्र (नामक हस्तपाद मर्म ४ हैं), इन्द्रबस्ति (जंघागत मर्म ४ हैं), कटीकतरुण (पृष्ठगत मर्म २ हैं), पार्श्वसन्धि (गत मर्म २ हैं), बृहती (नामक मर्म २ हैं) और नितम्ब (नामक मर्म २ हैं)—इन कालान्तर प्राणहर मर्मों पर आघात होने पर कुछ काल के पश्चात् (Fatal after a time of injury) मृत्यु होती है। इनकी संख्या ३३ है॥ ११॥

उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत्॥ १२॥

विशल्यघ्न मर्म—उत्क्षेप नामक ऊर्ध्वजत्रुग दो मर्म और स्थपनी नामक शिरोगत मर्म एक—ये तीन ऐसे मर्म हैं जिनमें स्थित शल्य को निकाल देने पर मृत्यु हो जाती है॥ १२॥

लोहिताक्षाणि जानूर्वीकूर्चविटपकूर्पराः। कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके॥ १३॥
अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणौ तथा। वैकल्यकरणान्याहुरावर्तौ द्वौ तथैव च॥ १४॥

वैकल्यकर मर्म—लोहिताक्ष नामक ४ मर्म, अणि ४ मर्म, जानु २ मर्म, ऊर्वी ४ मर्म, कूर्च ४ मर्म, विटप २ मर्म, कूर्पर २ मर्म, कुकुन्दर २ मर्म, कक्षधर २ मर्म, विधुर २ मर्म, कृकाटिका २ मर्म, अंस २ मर्म, फलक २ मर्म, अपांग २ मर्म, नीला २ मर्म, मन्या २ मर्म, फण २ मर्म तथा आवर्त २ मर्म—ये ४४ वैकल्यकर (Disabling) मर्म हैं॥ १३-१४॥

गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ द्वे द्वे कूर्चशिरांसि च। रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान्॥

रुजाकर मर्म—टखना (गुल्फ) में २ मर्म, मणिबन्ध में २ मर्म, हाथ-पैर में कूर्चशिर नामक ४ मर्म—ये ८ रुजाकर मर्म हैं। इनके क्षतिग्रस्त होने पर वेदनाएँ होती हैं।

क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च॥ १५॥

क्षिप्र नामक मर्म (सक्थिगत) के विद्ध होने मात्र से कालान्तर में मृत्यु हो जाती है॥ १५॥

मर्माणि मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपाताः; तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति। तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तांस्तान् भावान् आपद्यन्ते॥ १६॥

मर्मस्वरूप और अभिघात—जहाँ मांस (Muscles), सिरा (Vessels), स्नायु (Ligaments), अस्थि और सन्धियों (Joints) का सन्निपात ('संश्लेषः, अत्यन्तमिश्रीभाव इति यावत्'/Meat together/परस्पर मिलते हैं) है वह स्थान 'मर्म' (Vulnerable area) है, जहाँ स्वभावतः प्राणों की स्थिति है। अतः इनमें अभिघात होने पर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं॥ १६॥

तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति; कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति; विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते; (पाकात्पतितशल्यो वा जीवति) वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति; रुजाकराण्यग्निवायु-गुणभूयिष्ठानि, विशेषतश्च तौ रुजाकरौ, पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुरेके॥ १७॥

(यदि चोट लगने पर सभी मर्म प्राणहर हैं तो 'सद्यःप्राणहर', 'कालान्तर प्राणहर' ऐसा वर्गीकरण क्यों? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि—) सद्यःप्राणहर मर्म 'आग्नेय' हैं। अतः इन पर आघात होने पर अग्निगुणों के शरीर में शीघ्र क्षीण हो जाने से शीघ्र मृत्यु होती है। कालान्तर प्राणहर मर्म 'सौम्य और आग्नेय' हैं। इन पर हुए आघात से अग्नि गुण तो शीघ्र क्षीण हो जाते हैं पर सौम्य गुण धीरे-धीरे क्षीण होते हैं, अतः मृत्यु कुछ काल पश्चात् होती है। विशल्यघ्न प्राणहर मर्म 'वायव्य' हैं। इन मर्मों में शल्य के चुभने से अन्तर्वायु अवरुद्ध हो जाती है। इस मर्मस्थान स्थित शल्य को निकाल देने से अन्तर्वायु के निकल जाने से मृत्यु हो जाती है। यही कारण है कि सशल्य मनुष्य जीवित और उद्धृत शल्य मनुष्य मृत हो जाता है। वैकल्यकर मर्म 'सौम्य' हैं। सोम स्थिर होता है, शीतल है। अतः प्राणान्त होने नहीं देता है। रुजाकर शल्य में अग्नि और वायु के गुण अधिक होते हैं। अतः इनके क्षतिग्रस्त होने पर वेदनाएँ अधिक होती हैं। कुछ आचार्य वेदना को पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होने वाली बताते हैं॥ १७॥

पीठ के मर्म

नाम	संख्या	निर्माण धातु	प्रकार	भौतिक गुण
१. कटीकतरुण	२	अस्थिमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्य, आग्नेय
२. कुकुन्दर	२	सन्धिमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
३. नितम्ब	२	अस्थिमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्याग्नेय
४. पार्श्वसन्धि	२	सिरामर्म	,,	,,
५. बृहती	२	,,	,,	,,
६. अंसफलक	२	अस्थिमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
७. अंस	२	स्नायुमर्म	,,	,,

उदर और छाती के मर्म

नाम	संख्या	निर्माण धातु	प्रकार	भौतिक गुण
१. गुद	१	मांसमर्म	सद्यःप्राणहर	आग्नेय
२. बस्ति	१	स्नायुमर्म	,,	,,
३. नाभि	१	सिरामर्म	,,	,,
४. हृदय	१	,,	,,	,,
५. स्तनमूल	२	,,	कालान्तर प्राणहर	सौम्याग्नेय
६. स्तनरोहित	२	मांसमर्म	,,	,,
७. अपलाप	२	सिरामर्म	,,	,,
८. अपस्तम्भ	२	,,	,,	,,

अधःशाखाओं के मर्म

नाम	संख्या	निर्माण धातु	प्रकार	भौतिक गुण
१. क्षिप्र	२	स्नायुमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्य, आग्नेय
२. तलहृदय	२	मांसमर्म	,,	,,
३. कूर्च	२	स्नायुमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
४. कूर्चशिर	२	,,	रुजाकर	अग्नि-वायुगुणभूयिष्ठ
५. गुल्फ	२	सन्धिमर्म	,,	,,
६. इन्द्रबस्ति	२	मांसमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्य, आग्नेय
७. जानु	२	सन्धिमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
८. आणि	२	स्नायुमर्म	,,	,,
९. ऊर्वी	२	सिरामर्म	,,	,,
१०. लोहिताक्ष	२	,,	,,	,,
११. विटप	२	स्नायुमर्म	,,	,,

ऊर्ध्व शाखाओं के मर्म

नाम	संख्या	निर्माण धातु	प्रकार	भौतिक गुण
१. क्षिप्र	२	स्नायुमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्याग्नेय
२. तलहृदय	२	मांसमर्म	,,	,,
३. कूर्च	२	स्नायुमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
४. कूर्चशिर	२	,,	रुजाकर	वायुगुणभूयिष्ठ
५. मणिबन्ध	२	सन्धिमर्म	,,	,,
६. इन्द्रबस्ति	२	मांसमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्याग्नेय
७. कूर्पर	२	सन्धिमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
८. आणि	२	स्नायुमर्म	,,	,,
९. ऊर्वी	२	सिरामर्म	,,	,,
१०. लोहिताक्ष	२	,,	,,	,,
११. कक्षधर	२	स्नायुमर्म	,,	,,

ऊर्ध्वजत्रुग मर्म

नाम	संख्या	निर्माण धातु	प्रकार	भौतिक गुण
१. धमनियाँ	४	सिरामर्म	वैकल्यकर	सौम्य
२. मातृकाएँ	८	,,	सद्यःप्राणहर	आग्नेय
३. कृकाटिका	२	सन्धिमर्म	वैकल्यकर	सौम्य
४. विधुर	२	स्नायुमर्म	,,	,,
५. फण	२	सिरामर्म	,,	,,
६. अपांग	२	,,	,,	,,
७. आवर्त	२	सन्धिमर्म	,,	,,
८. उत्क्षेप	२	स्नायुमर्म	विशल्यघ्न	वायव्य
९. शंख	२	अस्थिमर्म	सद्यःप्राणहर	आग्नेय
१०. स्थपनी	१	सिरामर्म	विशल्यघ्न	वायव्य
११. सीमन्त	५	सन्धिमर्म	कालान्तर प्राणहर	सौम्याग्नेय
१२. शृंगाटक	४	सिरामर्म	सद्यःप्राणहर	आग्नेय
१३. अधिपति	१	सन्धिमर्म	,,	,,

केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां समवायात् सद्यःप्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्यप्राणहराणि, त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं यतोऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति।। १८।।

मर्मों से सम्बन्धित विवरण वैकल्पिक (Alternative interpretation)—किन्हीं आचार्यों का मत है कि सद्यःप्राणहर मर्म वे हैं जहाँ पाँचों—सिरा, स्नायु, मांस, अस्थि और सन्धि; ये एक साथ संयुक्त होकर स्थित हों। इसी प्रकार यदि किसी स्थान पर ये पाँचों अल्प मात्रा में अथवा इनमें कोई एक नहीं है तो वहाँ अभिघात होने पर वह 'कालान्तरप्राणहर मर्म' है। मांससिरादि में दो की कमी वाला स्थान 'विशल्यप्राणहर', तीन की कमी से 'वैकल्यकर' और एक कम हो तो 'रुजाकर' मर्म होता है। परन्तु यह मत इस हेतु स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अस्थि पर चोट लगने पर रक्त निकलता है। अतः सम्मिलित रूप से सबका महत्त्व है।। १८।।

विमर्श—सद्यःप्राणहर—शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगों का अपना महत्त्व है। इनमें भी हृदय, मस्तिष्क और वृक्कों का विशेष स्थान है। इन तीनों में हृदय प्राच्यों की दृष्टि से 'हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्' है। इस 'सद्यःप्राणहर' के सन्दर्भ में चरक-सूत्रस्थान के 'दशप्राणायतनीय' नामक २९वाँ अध्याय पठनीय है। जहाँ प्राण रहते हैं, ऐसे दस स्थान हैं। सद्यःप्राणहर मर्मों और इन दस प्राणायतनों में अन्तर है ('दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं (हृदयबस्तिशिरांसि) कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्')।

हृदय का कार्य रुक जाने से, श्वासावरोध होने से या मस्तिष्क का कार्य बन्द हो जाने से मृत्यु होती है। पर ये एक-दूसरे के सापेक्ष हैं। इनमें से एक का काम बन्द हो जाने पर अन्य दोनों भी काम करना बन्द कर देते हैं।

पञ्चानामपि समस्तानाम्—तथ्य यह है कि मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि—ये पाँचों सभी मर्मस्थलों में न्यूनाधिक मात्रा में पाये जाते हैं ('यद्यपि गुदबस्तिनाभिहृदयेषु सद्यःप्राणहरमर्मसु अस्थीनि न व्यक्तानि तथाप्यव्यक्तानामस्थ्नां शक्तिरूपेणावस्थानात् पञ्चानां समवाय उत्पद्य एव')। यद्यपि ऐसे उदाहरण

अनेक हैं जिनमें मांसादि पाँच में से किसी में एक, किसी में दो, किसी में तीन की कमी है पर अव्यक्त रूप से सभी मर्मों में मांसादि सभी पाये जाते हैं।

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन् सन्तर्प्य देहं प्रतियापयन्ति॥ १९॥

चतुर्विध सिराओं द्वारा शरीर का पोषण—शरीर में चार प्रकार की जो सिराएँ (वातपित्तकफरक्तवहाः) हैं वे प्रायः मर्मस्थलों में भी प्रविष्ट हुई होती हैं। इस प्रकार धमनियाँ (सिराएँ) स्नायु, अस्थि, मांस और सन्धियों को पोषण प्रदान करती हुई सम्पूर्ण शरीर का पालन करती हैं ('मर्मस्वित्यादि—एतेन स्नाय्वस्थिसन्धिमांसगतत्वं बोधितम्, अत एवास्थिविद्धेऽपि शोणितागमनमित्यर्थः'–ड.)॥ १९॥

ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः समन्ततो वायुरभिस्तृणोति।
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये॥ २०॥
रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा।
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन् मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत्॥ २१॥

मर्माभिघात में तीव्र वेदना का हेतु—मर्म को क्षति पहुँचने पर प्रकुपित वायु इन रक्तवाहिनियों को आच्छादित कर लेता है। इस प्रकार प्रवृद्ध वातदोष शरीर में तीव्र वेदनाएँ उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् तीव्र वेदनाओं से व्याप्त होने पर शरीर का निपात (Collapse) होने लगता है ('शरीरं प्रलीयते प्रलयं यच्छति, शरीरयन्त्रं विघट्टयतीत्यर्थः') और शरीर की चेतना नष्ट हो जाती है (Consciousness is gradually lost)। अतः शल्य को निकालने की इच्छा करने वाले शल्यचिकित्सक को चाहिए कि वह यत्नपूर्वक मर्मों की परीक्षा कर शल्य को निकाले॥ २०-२१॥

एतेन शेषं व्याख्यातम्॥ २२॥

इस उपरोक्त वर्णन से शेष पित्त-श्लेष्म लक्षणों की भी व्याख्या कर दी गयी है ('शेषमिति दाहादि स्रोतोरोधादि च पित्तश्लेष्मणोर्लक्षणं व्याख्यातमित्यर्थः')॥ २२॥

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति, विशल्यघ्नं वैकल्यकरं च भवति वैकल्यकरं कालान्तरेण विद्धं क्लेशयति रुजां च करोति, रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति॥ २३॥

मर्मवेधन के भिन्न-भिन्न परिणाम—यदि सद्यःप्राणहर मर्म के समीप वेधन (Piercing injuries) हो तो कालान्तर में मृत्यु होती है (तत्काल नहीं); यदि कालान्तरप्राणहर मर्म के समीप (At the periphery) वेधन हो तो वैकल्य (Disability) होता है; विशल्यघ्न मर्म के समीप वेधन हो तो भी विकलता आती है और वैकल्यकर मर्म के समीप हुए वेधन से रोगी को क्लेश एवं वेदना होते हैं तथा रुजाकर मर्म के समीप वेधन होने पर वेदना अल्प होती है॥ २३॥

तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति॥ २४॥

मर्माभिघात से मृत्यु की अवधि—सद्यःप्राणहर मर्म के क्षतिग्रस्त होने पर एक सप्ताह में मृत्यु होती है। कालान्तरप्राणहर के क्षतिग्रस्त होने पर पन्द्रह दिन या महीने में, पर क्षिप्रमर्म के अभिघात से कभी-कभी शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। विशल्यघ्न और वैकल्यकर मर्म पर चोट लगने से मृत्यु कभी ही होती है॥ २४॥

अत ऊर्ध्वं सक्थिमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याऽऽक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्र रुजाभिर्मरणं;

क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चो नाम, तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः; गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरः, तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फः, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा; पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिः, तत्र शोणितक्षयेण मरणं; जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु, तत्र खञ्जता; जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च; ऊरुमध्ये उर्वी, तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः; उर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसन्धेरूरुमूले लोहिताक्षं, तत्र लोहितक्षयेण मरणं पक्षाघातो वा; वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं, तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति; एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि; यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः; विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि॥ २५॥

बिद्ध मर्मो के स्थान एवं लक्षण—अब इससे आगे प्रत्येक मर्म के स्थान का वर्णन किया जायेगा। पैर के अंगूठे और अंगुलि के मध्य 'क्षिप्र' नाम का मर्म है। उसके विद्ध होने पर आक्षेपों (Convulsions) से मृत्यु हो जाती है। मध्य अंगुलि की सीध में (In the line of middle toe) पादतल के मध्य में 'तलहृदय' नामक मर्म है। उसके अभिघात से वेदनाएँ होकर मृत्यु होती है। क्षिप्र नामक मर्म के ऊपर दोनों ओर 'कूर्च' नामक मर्म पर चोट लगने से (सम्भवतः प्रथम और द्वितीय पादांगुलि की प्रसारक /Extensor/कण्डरा पर) भ्रमण (Rotation) और वेपन (कम्पन/Tremors) नामक विकृतियाँ आती हैं। गुल्फ सन्धि के दोनों ओर नीचे (पाद उपबन्धनी/Retinaculae of foot) 'कूर्चशिर' नामक मर्म है। उस पर हुए अभिघात से वेदना और सूजन होती है। पाद और जङ्घा के जोड़ (Junction) पर 'गुल्फ' नामक मर्म है। यहाँ चोट लगने पर वेदना, स्तब्धपादता (Rigid foot) और खञ्जता (Limping foot/लंगड़ापन) होते हैं। एड़ी (पार्ष्णी/Heel) की ओर, जंघा के मध्य 'इन्द्रबस्ति' नामक मर्म पर यदि चोट लगती है तो रक्तस्राव (सम्भवतः पश्चजंघाधमनी से) होकर मृत्यु हो जाती है। जंघा और ऊरु (Leg and thigh) के सन्धिस्थल पर 'जानु' नामक मर्म है। वहाँ चोट लगने पर खञ्जता (Limping) आती है। जानुसन्धि से तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर 'आणि' नामक मर्मस्थल पर अभिघात होने से अधिक सूजन और स्तब्धसक्थिता (टाँग का अकड़ जाना/Stiffness of the leg) होती है। ऊरु (Thigh) के मध्य 'ऊर्वी' नामक मर्म पर अभिघात से रक्तस्राव होकर 'सक्थिशोष' (Wasting of the extremity) होता है। ऊरु से ऊपर की ओर वंक्षण (Hip joint) से नीचे ऊरुमूल (Femoral triangle) में 'लोहिताक्ष' नामक मर्म है। वहाँ चोट लगने पर रक्तस्राव होकर मरण या पक्षाघात (Paralysis) होता है। वंक्षण और वृषणों (Testes) के मध्य (सम्भवतः शुक्राणुरज्जु/Spermatic cord) 'विटप' नामक मर्म पर अभिघात होने पर षाण्ढ्य (Impotency) या अल्पशुक्रता (Oligospermia) होती है।

ऊर्ध्वशाखामर्म—इस प्रकार यह एक सक्थि (टाँग) के ग्यारह मर्मों के स्थानों-लक्षणों का वर्णन सम्पन्न हुआ। इतने ही मर्म दूसरी टाँग में और प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा में भी पाये जाते हैं। विशेषकर अधः शाखा में जो गुल्फ, जानु और विटप नामक मर्म बताये हैं उनके स्थान पर ऊर्ध्व शाखा में मणिबन्ध (गुल्फ), कूर्पर (जानु) और कक्षधर (विटप के स्थान पर) नामक मर्म होते हैं। जैसे वंक्षण और वृषण के मध्य विटप मर्म होता है, ऊर्ध्व शाखा में वक्ष और कक्षा के मध्य 'कक्षधर' मर्म है। इनके विद्ध होने पर वे ही उपद्रव भी होते हैं, विशेषकर मणिबन्ध मर्म के क्षतिग्रस्त होने पर कुण्ठता (करस्याकर्मण्यत्वम्/Loss of function), कूर्पर नामक मर्म के अभिघात से 'कुणि' (संकुचितबाहुमध्यः/Contracture) और कक्षधर पर चोट लगने से पक्षाघात (Hemiplegia) होते हैं।

इस प्रकार चारों ऊर्ध्वाधर शाखाओं के ४४ मर्मों का वर्णन किया गया है॥ २५॥

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम्; अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिः, तत्रापि सद्योमरण-मश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति; पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिः, तत्रापि सद्यो मरणं; स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामा-शयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं, तत्रापि सद्य एव मरणं; स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया (कासश्वासाभ्यां) म्रियते; स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तन-रोहितौ, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते; अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोर-पलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्; उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्यातानि ॥ २६ ॥

गुदमर्म—अब इससे आगे उदर और छाती के मर्मस्थानों का वर्णन किया जायेगा। अपान वायु और पुरीष को बाहर निकालने के लिए प्रेरित करने वाला और स्थूलान्त्र (Large intestine) से जुड़ा हुआ 'गुद' (Anus) नामक मर्म है। यहाँ पर अभिघात होने पर सद्योमरण (Instantanous death) होता है।

बस्तिमर्म—अल्प मांस और अल्प रक्त वाला कटि (Pelvis) के अन्दर बस्ति (मूत्राशय) नामक मर्म है। अश्मरीव्रण के अतिरिक्त क्षति पहुँचने पर सद्योमरण होता है। अश्मरीव्रण (Wound created for removal of a calculus) भी यदि दोनों ओर कर दिये गये हों तो भी मृत्यु हो जाती है। एक ओर किये गये भेदन से भी मूत्रस्रावी व्रण (Fistula) बन जाता है जो कृच्छ्रसाध्य होता है और यत्न करने पर ही ठीक होता है।

नाभिमर्म—पक्वाशय और आमाशय के मध्य 'नाभि' (Umbilicus) नामक मर्म है, जहाँ सिराओं का उत्पत्तिस्थान (सिराप्रभवः/Origin of the veins) है। वहाँ भी अभिघात होने पर सद्योमरण होता है।

हृदयमर्म—दोनों स्तनों और आमाशयद्वार (Opening) के मध्य वक्षःस्थल में स्थित 'हृदय' नामक मर्म है (सिरामर्मेदम्, कमलमुकुलाकारमधोमुखं चतुरंगुलम्) वहाँ अभिघात होने से सहसा मृत्यु हो जाती है।

स्तनमूलमर्म—स्तनों के नीचे दोनों ओर दो-दो अंगुल पर 'स्तनमूल' नामक दो मर्म हैं जिनके क्षतिग्रस्त होने पर कफपूर्ण कोष्ठता (फुप्फुस नामक कोष्ठ में) से कास और श्वास होकर मृत्यु हो जाती है।

स्तनरोहितमर्म—स्तनचूचुकों (Nipples) के ऊपर दोनों ओर दो-दो अंगुल दो 'स्तनरोहित' नामक मर्म हैं। वहाँ पर हुए अभिघात से छाती के रुधिरपूर्ण हो जाने पर (Internal mammary artery या बाह्य पर्शुकान्तर धमनी के क्षतिग्रस्त होने से) कास और श्वास से मृत्यु हो जाती है।

अपलापमर्म—दोनों अंसकूटों के नीचे पार्श्वों के उपरि भाग में 'अपलाप' नामक दो मर्म हैं। वहाँ चोट लगने पर रक्त में पूय पड़ जाने (Empyema) से मृत्यु हो जाती है।

छाती के दोनों ओर दो वातवह नाड़ियाँ (Bronchi) 'अपस्तम्भ' नाम से हैं। वहाँ अभिघात होने पर वातपूर्ण कोष्ठता (Pneumothorax) होकर कास-श्वास से मरण हो जाता है।

इस प्रकार उदर और वक्ष के १२ मर्मस्थानों का वर्णन किया गया है॥ २६॥

विमर्श—इस वर्णन में तीन विशेष रोगों का उल्लेख हुआ है—१. लोहितपूर्ण कोष्ठता (रक्तवक्ष/ Haemothorax), २. पूयपूर्ण कोष्ठता (पूयवक्ष/Empyema) और ३. वातपूर्ण कोष्ठता (वातवक्ष/ Pneumothorax)। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) रक्तवक्ष (लोहितपूर्ण कोष्ठता/Haemothorax)—यह स्तनरोहित नामक वाक्षस मर्म के वेधन से होता है जिसमें फुप्फुसावरणगुहा में रक्त एकत्रित हो जाता है। इसके प्रमुख कारण हैं—बाहर से किसी वस्तु का छाती में चुभना या पर्शुकाभग्न के किसी तीक्ष्णाग्र भाग से व्रण बनना, यक्ष्मा (फुप्फुस के) से

हुए व्रण से रुधिर आना या नववृद्धि (New growths) तथा Aneurysm (Aorta का) से भी रक्त एकत्रित हो सकता है। इसकी चिकित्सा कारणानुसार की जाती है। रक्त का आचूषण (Aspiration) करना होता है तथा एण्टीबायोटिक का भी प्रयोग किया जाता है।

(२) पूयवक्ष (पूयपूर्ण कोष्ठता/Empyema)—इसमें फुप्फुसावरण गुहा में पूय एकत्रित हो जाती है। न्यूमोकोकस रोगाणु प्रमुख हेतु हैं। इसके लक्षण फुप्फुसावरण मं तरल भरने जैसे होते हैं। विशेषकर पूय की उपस्थिति के कारण ठण्ड लगकर (Rigors) सविरामी (Intermittent) ज्वर होता है। पर्शुकान्तर स्थान में शोफ (Oedema) होना सम्भव है। अँगुलियाँ मुद्गरनिभ (Clubling) होती हैं। एक्स-रे एवं रक्त परीक्षण से रोग-निर्णय होता है। चिकित्सा में पूयनिर्हरण और पेनिसिलीन का प्रचुर प्रयोग करना होता है।

(३) वातवक्ष (वातपूर्ण कोष्ठता/Pneumothorax)—इसमें फुप्फुसावरण गुहा में हवा भर जाती है। कुछ समय पश्चात् इसमें तरल भी हो सकता है (Hydropneumothorax) तथा संक्रमणग्रस्त होने पर पूय भी पड़ना (Pyopneumothorax) सम्भव है। रक्त हो तो यह 'Haemopneumothorax' कहलाता है। लक्षण तरल की मात्रा और फुप्फुसों की दशा पर निर्भर करते हैं। छाती में सहसा तेज दर्द, साँस लेने में कठिनाई, रोगी का साँस उथला और जल्दी-जल्दी चलता है। रोगी निपात (Collapse), पसीने से तर और श्यावता (Cyanosis) युक्त होता है। रक्तदाब गिर जाता है। कुछ ही मिनटों में मृत्यु भी हो सकती है। एक्स-रे एवं रक्तपरीक्षण आदि पर्याप्त रोगनिर्णायक हैं। इस अवस्था के प्रमुख हेतु हैं—स्वतः (Spontaneous) होना, फुप्फुस यक्ष्मा, भग्न हुई पर्शुका, फुप्फुस गेंग्रीन, विद्रधि आदि। इसकी चिकित्सा कारणानुसार एण्टीबायोटिक्स का प्रयोग और संचित हवा को निकालने की व्यवस्था आदि हैं।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च म्रियते; पार्श्वयोर्जघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते; स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहती, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसम्बद्धे अंसफलके, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ; बाहुमूर्द्धग्रीवामध्येंऽसपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ, तत्र स्तब्धबाहुता। एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि॥ २७॥

पीठ के मर्म—अब इससे आगे पीठ के मर्मों का वर्णन किया जायेगा—पृष्ठवंश (Vertebral column) के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणीकाण्ड (Hip bone) में **कटीकतरुण** नामक दो मर्म हैं, उनके क्षतिग्रस्त होने पर रक्तक्षय (Loss of blood) से पाण्डु (Pallor) और विवर्णता (Discolouration) होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। पृष्ठवंश के दोनों ओर जघन (Hip) के बहिर्भाग (Postero-lateral side) में (बहुत नीचे नहीं) **ककुन्दर** नामक दो मर्म हैं। वहाँ चोट लगने से शरीर के अधोभाग (Lower half of the body) में स्पर्शज्ञान (Sensation) का अभाव और गति करने में असमर्थता होती है। श्रोणीकाण्ड से ऊर्ध्व भाग में आशयों को आच्छादित करने वाले और पार्श्व भागों को जोड़ने वाले दो **नितम्ब** नामक मर्म हैं। इनको क्षति पहुँचने पर शरीर के अधोभाग में शोष (Atrophy) और दुर्बलता होकर मृत्यु हो जाती है। अधःकाया के दोनों पार्श्वों को जघन पार्श्व के मध्य तिर्यक्पन (Obliquely) से जोड़ने के स्थान से ऊर्ध्व भाग में **पार्श्वसन्धि** नामक मर्म हैं। उन पर आघात होने पर रक्तपूर्णकोष्ठता (Haemopelvis) होकर मृत्यु हो जाती है। पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूल नामक (सामने की ओर के) मर्म के समान स्तर पर (स्तनमूलाद् ऋजु) **बृहती** नामक मर्म हैं। उन पर चोट लगने से रक्तस्राव की अधिकता से होने वाले उपद्रवों से मृत्यु हो जाती है। पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से सम्बन्धित ('त्रिकसम्बद्धे इति

ग्रीवायाः अंसद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः तत्र सम्बद्धे अंसफलके') **अंसफलक** (Branchial plexus) नामक दो मर्म हैं। उनको क्षति पहुँचने पर भुजाओं में सुन्नपन (स्वाप/Loss of sensation) और शोष (Atrophy) होते हैं। बाहुशिर (कन्धा) और ग्रीवा के मध्य में 'अंसपीठ' और 'अंस' (कन्धे) को बाँधने वाले **अंस** नामक दो मर्म हैं। वहाँ चोट लगने पर स्तब्धबाहुता (बाहु का अकड़ जाना/Stiffness of the upper extremity) होती है। इस प्रकार पृष्ठ के मर्मों का वर्णन किया गया है॥ २७॥

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्योमरणम्। शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके, तत्र चलमूर्धता; कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे, तत्र बाधिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोरन्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ, तत्र सशल्यो जीवेत् पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः; भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्योमरणं; मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि॥ २८॥

ऊर्ध्वजत्रुग मर्म—अब इसके आगे 'ऊर्ध्वजत्रुगत' (Above the clavicle) मर्मों का वर्णन किया जायेगा। **ग्रीवामर्म**—कण्ठनाड़ी (Trachea) के दोनों ओर चार धमनियाँ दो नीला, दो मन्या (एक नीला, एक मन्या एक ओर) हैं। उनके क्षतिग्रस्त होने पर मूकता (Loss of speech; Probably implies to recurrent laryngeal nerve), स्वरवैकृत (Defective voice) और रस का पता न लगना (Loss of taste) होते हैं। ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार सिराएँ हैं। उनको क्षति पहुँचने पर सद्योमरण (Probably implies to carotid sheath structures) होता है। शिर और ग्रीवा के संयोगस्थल पर 'कृकाटिका' नामक मर्म है जिसके क्षतिग्रस्त होने पर चलमूर्धता (Instability of head) होती है।

शिरोमर्म—कान के पीछे और नीचे **विधुर** (Mastoid region) नामक दो मर्म हैं। वहाँ पर लगी चोट से बधिरता (Deafness) होती है। नासामार्ग (Nasal passage) के दोनों ओर अन्दर स्रोतोमार्ग से लगे हुए दो **फण** (Olfactory mucosa of the nose) नामक मर्म हैं। वहाँ की चोट से गन्ध का ज्ञान नहीं होता (Anomsia) है। भौंह (Eye-brow) के अन्त में, आँखों के नीचे, बाहर की ओर (On the outer side of the orbits) **अपांग** नामक मर्म है। यहाँ अभिघात (Injury) होने पर आन्ध्य (Blindness) या दृष्टि का कम हो जाना पाया जाता है। भौंह के ऊपर निम्न भाग पर **आवर्त** नामक दो मर्म हैं। वहाँ के अभिघात से अन्धापन या नजर की ख़राबी होती है। भौंह के पुच्छान्त भाग से ऊपर कान और ललाट (Forehead) के मध्य **शंख** (Temple) नामक मर्म है जिस पर चोट लगने से सद्योमरण होता है (Probably due to middle meningeal haemorrhage)। शंखप्रदेश से ऊपर जहाँ शिर के बाल समाप्त होते हैं, दो **उत्क्षेप** नामक मर्म हैं। वहाँ पर लगे अभिघात से वहाँ चुभा शल्य यदि पकने पर निकल जाता है तो रोगी बच जाता है किन्तु यदि शल्य को निकालते हैं तो मृत्यु हो जाती है। भौंह के बीच **स्थपनी** नामक मर्म है। वहाँ पर लगे अभिघात के लक्षण उत्क्षेप जैसे हैं। शिर में **सीमन्त** नाम की पाँच सन्धियाँ (Cranial sutures) हैं। वहाँ पर हुए अभिघात से उन्माद (Insanity), भय और चित्तनाश (Mental breakdown) होकर मृत्यु हो जाती है। नाक, कर्ण, नेत्र, जीभ को पोषण पहुँचाने वाली सिराओं के संयोगस्थल (संगम/Confluence) पर चार **शृंगाटक** नामक मर्म हैं। इन पर

चोट लगने से तत्काल मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्क (Cranium) के अन्दर ऊपर की ओर सिरा-सन्धियों का संगम है (Probably cerebral veins), जहाँ पर बाल घुमावदार होते हैं वहाँ पर **अधिपति** नामक मर्म है। वहाँ पर लगी चोट से भी सद्योमरण होता है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुज ३७ मर्मों का वर्णन किया गया है।

भवन्ति चात्र—

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम्।
विद्धयङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम्।। २९।।
हृद्बस्तिकूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसम्मितानि शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम्।। ३०।।

मर्मों का माप (Measurement)—ऊर्वी, कूर्चशिर, विटप, कक्षधर, पार्श्व और स्तनमूल नामक मर्मों का माप (परिणाम) प्रत्येक का एक-एक अंगुल है। मणिबन्ध और गुल्फ नामक मर्मों का स्थान दो-दो अंगुल परिमाण का है। कूर्पर और जानु तीन-तीन अंगुल परिमाण वाले हैं। हृदय, बस्ति, कूर्च, गुद, नाभि और शिर के चार अर्थात् शृंगाटक, पाँच सीमन्त तथा गले के दस मर्म और दो मर्म अर्थात् बारह मर्म (दो नीला, दो मन्या, आठ मातृकाएँ)—ये सब मुष्टि प्रमाण वाले हैं। शेष मर्मों को आधा अंगुल लम्बा तथा चौड़ा समझें।। २९-३०।।

विमर्श— **मर्म परिमाण**

एक अंगुल	दो अंगुल	तीन अंगुल	मुष्टि परिमाण	आधा अंगुल
ऊर्वी कूर्चशिर विटप कक्षधर स्तनमूल पार्श्व	मणिबन्ध गुल्फ	कूर्पर जानु	हृदय बस्ति कूर्च गुद नाभि शृंगाटक सीमन्त	शेष सब आधा-आधा अंगुल परिमाण वाले मर्म हैं।

एतत्प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम्।
पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम्।। ३१।।

मर्मज्ञान की उपयोगिता—मर्मों के सम्बन्ध में जानकारी रखने वाले विद्वानों का कहना है कि शल्यहर्ता को शस्त्रकर्म मर्मों को बचाकर ही करना चाहिए, क्योंकि मर्म समीप में हुए अभिघात से भी मारक होते हैं। अतः मर्मसदन (मर्मस्थानम्) को बचाना चाहिए।। ३१।।

विमर्श—जिस प्रकार आँख आदि के समीप हुए अभिघात से नेत्र की रचना भी प्रभावित होती है, उसी प्रकार समीप में हुए अभिघात से मर्म का प्राणहर होना सम्भव है।

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति।। ३२।।
क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा वृक्षा इवायुधनिपातनिकृत्तमूलाः।। ३३।।
तस्मात् तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे।

जीवन के लिए रुधिर का महत्त्व—मनुष्यों के हाथ-पैर की सिरा के कट जाने से कटे प्रान्त सिकुड़ जाते हैं जिससे रक्तस्राव अधिक नहीं हो पाता है। इस प्रकार भयंकर स्थिति उत्पन्न होने पर भी मनुष्य की मृत्यु नहीं होती है, जैसे—शाखा के कट जाने पर भी वृक्ष सूखता (मरता) नहीं है॥ ३२॥

अधिक रक्तस्राव से मृत्यु तथा उपचार—क्षिप्र और तलहृदय नामक मर्म के क्षतिग्रस्त होने पर अत्यधिक रक्तस्राव होता है और वायु भी कुपित होकर अधिक वेदना उत्पन्न करता है। इस प्रकार वातप्रकोप और रक्तस्राव की अधिकता से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। जैसे—मूल के कट जाने पर वृक्ष सूख जाता है॥ ३३॥

अतः इन मर्मों के क्षतिग्रस्त होने पर रोगी को बचाने के लिए मणिबन्ध या गुल्फप्रदेश से ऊपर काटकर (Amputated) व्यवस्था करनी चाहिए।

विमर्श—इन दोनों श्लोकों में जीवन के लिए रक्त की अनिवार्यता प्रतिपादित की गयी है। रक्तस्राव की अल्पता से जीवन को तत्काल कोई खतरा नहीं, अधिक रक्त निकल जाने से जीवन बचता नहीं है ('रक्तं जीव इति स्थितिः'–सु.)। छोटी रक्तवाहिनियों के कटे प्रान्त सिकुड़कर रक्तस्राव को रोकते हैं। बाहर निकला हुआ रुधिर भी जमकर मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। अङ्गोच्छेदन (Amputation) सन्धिस्थल से ऊपर किया जाता है।

मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः॥ ३४॥
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित् ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि।

मर्मज्ञान का महत्त्व—मर्मों का सम्यक् ज्ञान आधे शल्यशास्त्र के ज्ञान के बराबर है, क्योंकि मर्माभिघात होने पर प्राणी शीघ्र ही जीवित नहीं रहता है। यदि कोई कुशल चिकित्सकों द्वारा उपचार करने पर बच जाता है तो भी विकलांगता (Disability) तो होती ही है॥ ३४॥

सम्भिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला जीवन्ति शस्त्रनिहतैश्च शरीरदेशैः।
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषैर्येषां न मर्मसु कृता विविधाः प्रहाराः॥ ३५॥

मर्म सुरक्षित हैं तो जीवन को संकट नहीं—वे मनुष्य जिन्हें अनेक एवं तीव्र अभिघात (Injuries) लगे हों और उनके कोष्ठ (Trunk), शिर और कपाल (Head and scalp) क्षतिग्रस्त हो गये हों अथवा टाँग (सक्थि/Leg), भुजा, पैर और हाथ पूरी तरह कट गये हों तो भी वे बच जाते हैं, यदि उनके मर्म सुरक्षित हों॥ ३५॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च।
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते। मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः॥ ३६॥

मर्माभिघात प्राणहर क्यों है?—मर्मों में सोम, वायु, तेज, रज, सत्त्व, तम और आत्मा प्रायः निवास करते हैं। यही कारण है कि मर्मों को क्षति पहुँचने पर प्राणी जीवित नहीं रहते हैं॥ ३६॥

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः। रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते॥ ३७॥
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवं धातुक्षयो नृणाम्। ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति॥ ३८॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात्। शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात्॥ ३९॥
विशल्यघ्ने तु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम्।
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः। कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि॥ ४०॥

भिन्न-भिन्न मर्माभिघातों के परिणाम—**सद्यःप्राणहर मर्म** के क्षतिग्रस्त होने पर इन्द्रियों के अर्थों को ग्रहण करने में असमर्थता (Inability to percieve objects of senses), मन (Mind) और बुद्धि (Wisdom) में विकार आ जाना तथा नाना प्रकार की वेदनाएं होती हैं। **कालान्तर प्राणहर मर्म**

यदि क्षतिग्रस्त होता है तो प्राणी की धातुओं का नाश होना निश्चित है। इस प्रकार धातुक्षय और वेदनाओं से रोगी की मृत्यु हो जाती है। **वैकल्यकर मर्म** को क्षति पहुँचने पर यद्यपि कुशल चिकित्सक द्वारा उपचार किये जाने पर पीड़ित अंग क्रिया करने लगता है तथापि विकलता फिर भी रहती है। **विशल्यघ्न मर्म** पर चोट लगने से होने वाले परिणाम पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार (विकलता का रहना) ही होते हैं। **रुजाकर मर्म** में क्षत होने पर नाना प्रकार की वेदनाएँ होती हैं और कुवैद्य से उपचार कराने पर विकलांगता भी बनी रहती है॥ ३७-४०॥

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि। उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम्॥ ४१॥

मर्म के समीप का अभिघात भी हानिकर—यदि मर्मों के समीप के स्थान पर छेदन (Excision), भेदन (Incision), अभिघात (Trauma), दहन (Burn) या दारण (Tearing) कर्म होते हैं तो उनसे उत्पन्न लक्षण मर्मोपघात जैसे ही होते हैं॥ ४१॥

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते॥ ४२॥

मर्माभिघात से मृत्यु या वैकल्य निश्चित—मर्म पर चोट लगने पर ऐसा नहीं होता है कि हानि (अत्ययः, व्यापत्/Harm) अल्प हो या बिलकुल न हो। मर्म को क्षति पहुँचने पर मृत्यु अथवा वैकल्य (Disabled) निश्चित है॥ ४२॥

विमर्श—सम्प्रति शरीररचना एवं शरीरक्रिया की विशेष जानकारी होने से रोगी-परिचर्या एवं महौषधों की उपलब्धि के कारण मर्माभिघात से विकलाङ्गता की अनिवार्यता काफी सीमा तक समाप्त हो गयी है।

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम्।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः॥ ४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥



मर्माभिघात कृच्छ्रसाध्य—मर्मस्थानों पर होने वाले इस प्रकार के नानाविध विकार (Pathological conditions) प्रायः भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी बड़ी कठिनाई से ठीक हो पाते हैं॥ ४३॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर' नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ॥ ६॥



अध्याय-सारांश

'प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर' नामक इस अध्याय में—मांस-मर्मादि पाँच प्रकार के मर्मों की संख्या १०७, इनकी सक्थि, बाहु आदि में अलग-अलग संख्या (३-८), प्रकारान्तर से सद्यःप्राणहर आदि भेद से मर्म पाँच प्रकार के, शरीर में इनके स्थान, मर्मों की पाँच भौतिक विशेषताएँ (९-१७), सद्यःप्राणहरादि के सम्बन्ध में मतान्तर (१८); शल्यहर्ता के लिए मर्मज्ञान की अनिवार्यता (२०-२१), मर्माभिघात से मृत्यु की समय-सीमा (२४); शरीर में प्रत्येक मर्म का स्थान यथा—शाखामर्म, उरसोमर्म, पृष्ठमर्म आदि के स्थान (२५-२८), शरीर में मर्मों का मान (Measurements), इस जानकारी का लाभ (२८-३१), हाथ-पैर के कट जाने पर मृत्यु क्यों नहीं? (३२), मर्माभिघात से वैकल्य निश्चित (४२)।

●

सप्तमोऽध्याय:

अथातः सिरावर्णविभक्तिशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'सिरावर्णविभक्तिशारीर' (The Anatomical Consideration of the Veins, Their Divisions and Colour) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—इससे पूर्व के अध्याय में सिरामर्मों का भी उल्लेख हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि उसके पश्चात् 'सिराविभक्ति' और 'वर्ण' का वर्णन किया जाय ('विभक्तिः विभागः समुदायात् पृथक्करणमित्यर्थः। सिराणां वातादिवहानां तद्वर्णानां चारुणनीलशुक्ललोहितानां विभक्तिर्यस्मिन् शारीरे तत् तथाविधम्'।) **सिरा**—'सरणात् सिराः' अर्थात् हृदय की ओर रक्त का धीमे-धीमे (सरणात्) प्रवाह जिनमें होता है, सिराएँ हैं।

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः; द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः; तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ ३ ॥

सिराओं की संख्या एवं कार्य—शरीर में सात सौ सिराएँ हैं। ये सिराएँ अपने आकुञ्चन (Contraction) और प्रसारण (Dilatation) द्वारा उसी तरह समस्त शरीर को पोषण (Nutrition) पहुँचाती हैं जिस प्रकार जलहारिणियों (Channels) द्वारा आराम ('नानावृक्षसमुदायविशेषः, वाटिका, आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव तत्'–अ.को.) और कुल्याओं (कुहलों/'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्'–अ.को.) द्वारा केदार (खेत/Field) की उपस्नेहन से पालना होती है। शरीर में इन सिराओं का जाल वृक्ष के पत्र में सेवनियों की तरह (Like the veins on a leaf) फैला हुआ होता है। इनका मूल (Origin) नाभि है जहाँ से ये सिराएँ ऊपर, नीचे और तिरछी (Obliquely) फैलती हैं॥ ३ ॥

विमर्श—इस सूत्र में आराम और केदार को जल (पोषण) पहुँचाने के लिए जलहारिणी और कुल्या शब्दों के प्रयोग द्वारा दो उदाहरण दिये गये हैं जो शरीर की छोटी और बड़ी सिराओं द्वारा शरीरस्थ धातुओं को पोषण पहुँचाने की विधि को स्पष्ट करने लिए हैं ('एतद्दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम्'–ड.)।

उपस्निह्यते, अनुगृह्यते च—वाटिकाओं में पौधों को पानी देने के लिए छोटी-छोटी नालियाँ (जलहारिणी) और खेतों में फसल के लिए पानी पहुँचाने हेतु बड़ी-बड़ी नालियाँ (कुल्या) बनानी होती हैं। इनके द्वारा उपस्नेहन विधि से (अर्थात् नालियों से रिस-रिस कर पौधों तक पानी पहुँचना) पानी मिलता है और इस प्रकार लता, क्षुप, वृक्षक, वृक्ष आदि का पालन होता है। उसी प्रकार सिराओं (यहाँ धमनियों) द्वारा शरीर की धातुओं को उपस्नेहन से पोषण पहुँचता है।

आकुञ्चनप्रसारणादिभिः—शरीर की रक्तवाहिनियों की दीवारों में सिकुड़ने और फैलने की प्रक्रिया निरन्तर होती रहती है जिससे इनमें स्थित रक्त आगे को बढ़ता रहता है। सिराओं में यह गति (सरण) धीमे-धीमे और धमनियों में (धमन) शीघ्रता से होती है ('धमनात् धमन्यः'–च.)। सिराओं में कपाट होते हैं जो रक्त को पीछे लौटने नहीं देते हैं।

नाभिमूलम्—सिराओं का मूल नाभि है। यह सम्भवतः गर्भ के रक्तसंचार से प्रेरित है, क्योंकि गर्भ में शुद्धाशुद्ध रुधिर का आदान-प्रदान गर्भनाभिनाड़ी के माध्यम से होता है। **'नाभिमूलम्'** के रहस्य को समझने के अन्य भी प्रयास हुए हैं पर सभी **'दूरेणान्वयः'** ही प्रतीत होते हैं।

द्रुमपत्रसेवनीनामिव—हृदय के समीप की रक्तवाहिनियों का आकार (सिरा और धमनी दोनों) बड़ा होता है। सिराएँ ज्यों-ज्यों हृदय के नजदीक आती जाती हैं उनका आकार बड़ा होता जाता है। दूसरी ओर धमनियाँ हृदय से ज्यों-ज्यों दूर होती जाती हैं, पतली पड़ती जाती हैं। अन्त में सूक्ष्मतम वाहिनियाँ केश की तरह पतली होने के कारण केशिकाएँ (Capillaries) कहलाती हैं। सूक्ष्मतम धमनी धमनिका (Arteriole) है। सिराओं, धमनियों, लसीकाओं और तन्त्रिकाओं का भी समस्त शरीर में जाल-सा बिछा हुआ है जो वृक्षपत्र की सेवनियों की तरह दीखता है।

भवतश्चात्र—

यावत्यस्तु सिराः काये सम्भवन्ति शरीरिणाम्। नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता। सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥

सिराओं का नाभि से सम्बन्ध—(गर्भ) शरीर में जितनी भी सिराएँ हैं उन सबका सम्बन्ध (उत्पत्ति) नाभि से हैं और वहीं से सारे शरीर में फैलती हैं। प्राणियों के प्राण नाभि में स्थित होते हैं और नाभि प्राणों के आश्रित है। नाभि सिराओं से चारों ओर से घिरी हुई है, जिस प्रकार पहिये की नाभि (मध्य भाग) अरों (Spokes) से घिरी होती है॥ ४-५॥

विमर्श—सूत्र २-५ तक में सिराओं और नाभि की बारीकी से चर्चा हुई है। सूत्र दो में आराम और केदार तथा द्रुमपत्र सेवनियों द्वारा सिराओं की शरीर की स्थिति के लिए अनिवार्यता बतायी गयी है।

सम्प्रति विभिन्न प्रकार की सम्पूर्ण शारीर धातुओं तक पोषण पहुँचाने का कार्य धमनियों का माना जाता है। कुछ आचार्यों ने यहाँ पर आये सिरा शब्द का अर्थ धमनी माना है। हमारी सम्मति में शरीर के पोषक पदार्थ आहार से प्राप्त होते हैं और आहार पर हुई पचन क्रिया से उत्पन्न आहाररस सिराओं द्वारा यकृत् में से होता हुआ अनेक परिवर्तनों के उपरान्त हृदय में पहुँचता है और फुफ्फुसों में प्राणवायु ग्रहण कर हृदय द्वारा धमनियों के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर में पोषणादि कार्यों के लिए भेज दिया जाता है। इस प्रकार शरीर के पोषक पदार्थों का आदि वाहक सिराएँ ही हैं।

बड़ी-बड़ी धमनियों, बड़ी-बड़ी सिराओं और लसीकावाहिनियों का नाभि के समीप होने तथा नाभि की शरीर के मध्य स्थिति होने के कारण दस प्राणायतनों में नाभि का स्थान, प्राणों का आश्रय नाभि और नाभि का आश्रय प्राण माना जाने लगा है। अथवा गर्भ का रक्तसंचार नाभि के माध्यम से होने से भी नाभि को प्राणों के समकक्ष माना गया है।

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः; एवमेतानि सप्त सिराशतानि॥ ६॥

सात सौ सिराएँ और प्रधान सिराएँ—इन सात सौ सिराओं में चालीस प्रधान (Principal) सिराएँ हैं। इन चालीस में से दस वातवाहिनियाँ, दस पित्तवाहिनियाँ, दस कफवाहिनियाँ और दस रक्तवाहिनियाँ हैं। वातस्थान तक पहुँचते-पहुँचते वातवाहिनियाँ विभक्त होकर १७५ हो जाती हैं। इतनी ही पित्तवाहिनियाँ पित्त स्थान तक पहुँचती हुई विभक्त होकर हो जाती हैं। इसी प्रकार कफवाहिनियाँ भी विभक्त होकर १७५ हो जाती हैं। दस रक्तवाहिनियाँ यकृत्-प्लीहा तक पहुँचती हुई १७५ हो जाती हैं। इस प्रकार सिराएँ सात सौ हैं॥ ६॥

विमर्श—शरीर में वातादि दोषों के स्थानों के सम्बन्ध में चरक का कथन है—'तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभाग उपदेक्ष्यते; तद्यथा—बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च

वातस्थानानि, तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्। उरःशिरोग्रीवापर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्' (सू. २०।९)। 'शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ' (सु.सू. २१)।

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्; तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एवोदरे, दश वक्षसि। एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं; तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां, षट् नासिकायाम्, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवाहिनीनां सिराणां व्याख्यातं भवति। एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे; एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि॥ ७॥

वातवह सिराओं का शरीर में स्थान—वातवाहिनी सिराएँ १७५ हैं। इनका विभाग इस प्रकार है—एक सक्थि (टाँग/Leg) में २५ हैं; दूसरी टाँग में भी २५ हैं। इसी प्रकार दोनों ऊर्ध्वशाखाओं में भी प्रत्येक में २५ वातवाहिनी सिराएँ हैं। इस प्रकार शाखाओं में कुल संख्या १०० है। कोष्ठ में ३४ वातवाहिनी सिराएँ हैं। इनमें से गुद (Anus), मेढ्र (Penis) और श्रोणि में ८, प्रत्येक पार्श्व (Flanks) में २-२, पीठ में ६, उदर में ६ और वक्ष में १० हैं। जत्रूर्ध्व भाग में ४१ वातवाहिनी सिराएँ हैं। इनमें से ग्रीवा में १४, कानों में ४, जिह्वा में ९, नासिका में ६ और नेत्रों में ८ कुल ४१ सिराएँ हैं। इस प्रकार ये १०० + ३४ + ४१ = १७५ वायु का वहन करने वाली सिराएँ हैं।

पित्तवह सिराओं का विभाग—शेष पित्तवाहिनी आदि के भी ये ही विभाग हैं। केवल अन्तर यह है कि पित्तवाहिनियाँ नेत्रों में १०, कानों में २ हैं। रक्तवह और कफवह सिराएँ भी पित्तवह सिराओं की तरह हैं। इस प्रकार जो शरीर में ७०० सिराएँ बतायी हैं यह उनका सविभाग वर्णन है॥ ७॥

भवन्ति चात्र—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन्॥
यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः॥

वातवह सिराओं के प्राकृत कार्य—शरीर की आकुञ्चन-प्रसारणादि स्वाभाविक क्रियाओं का बिना किसी प्रकार के व्यवधान (Hinderance) के चलने देना, बुद्धि (Intellect) के कार्यों को मोह मुक्त रखना तथा अन्य (सूत्रस्थान के 'वातकलाकलीय' अध्याय में चरक द्वारा वर्णित 'प्रस्यन्दोद्वहनपूरणादिकान्') कार्यों को करना वातवह सिराओं के प्राकृत कार्य हैं। जब वायु कुपित होकर वातवह सिराओं में आता है तो विविध प्रकार की वातज व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं॥ ८-९॥

विमर्श—चरक (सू. १२) में कुपिताकुपित वायु का विशद वर्णन है। चिकित्सास्थान अ. २८ में वायु को प्राणापानादि पाँच भागों में विभक्त कर विस्तार से बताया गया है। कुपित होने पर वायु द्वारा ८० रोगों को जन्म देने का उल्लेख 'महारोगाध्याय' (सू. २०) में हुआ है। **बुद्धिकर्मणामिति**—'पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां, मनसो बुद्धेश्च स्वे स्वे विषये प्राकृतायां प्रवृत्तौ मोहस्याभावं करोति' (ड.)।

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्। संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्गुणानपि॥
यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसम्भवाः॥ ११॥

पित्तवह सिराओं के प्राकृत कार्य—भ्राजिष्णुता (दीप्तिमत्वम्/चमक/Luste to the body), अन्न में रुचि (Relish for food), अग्नि को दीप्त करना और नीरोग बनाये रखना; ये तथा अन्य (रागपक्त्योज इत्यादिकान्) पित्त के प्राकृत कार्य हैं। जब प्रकुपित पित्त पित्तवह सिराओं में आता है तो वह नाना प्रकार के पैत्तिक विकारों को जन्म देता है॥ १०-११॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन्॥
यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः॥

श्लेष्मवह सिराओं के प्राकृत कार्य—अङ्गों का स्नेहन (Lubrication of parts of body), सन्धियों में स्थैर्य्य (Stability), बल, उदीर्णता (सोत्साहता/Energy) तथा अन्य गुण (सन्धिश्लेषणादिकान्) श्लेष्मा के प्राकृत कार्य हैं। जब प्रकुपित श्लेष्मा श्लेष्मवह सिराओं को प्राप्त होता है तो वह नाना प्रकार की श्लैष्मिक व्याधियों को जन्म देता है॥ १२-१३॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्। स्वाः सिराः सञ्चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि॥ १४॥
यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः॥ १५॥

रक्तवह सिराओं के प्राकृत कार्य—धातुओं की पूर्णता एवं वर्ण (Nutrition and colour) सन्देहरहित स्पर्शज्ञान (Definite perception of touch) तथा अन्य वर्णप्रसाद, मांसपुष्टि आदि रक्तवह सिराओं के प्राकृत गुण हैं। जब रक्तवह सिराओं में प्रकुपित रक्त पहुँचता है तो रक्त से उत्पन्न नाना प्रकार की व्याधियाँ होती हैं॥ १४-१५॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा। श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः॥

सिराएँ सर्ववहा हैं—यद्यपि उपरोक्त वर्णन वातवह, पित्तवह आदि सिराओं का है तथापि तथ्य यह है कि ऐसी कोई भी सिरा नहीं है जो केवल वात या केवल पित्त आदि का ही वहन करती हों। अतः ये सिराएँ सर्ववहा अर्थात् सभी सिराएँ सभी वातादि का वहन करती हैं॥ १६॥

प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्। ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः॥ १७॥

कुपित दोषों का सर्वगामी होना—ये सिराएँ 'सर्ववहाः' इस हेतु कहलाती हैं क्योंकि प्रकुपित (Vitiated) और मूर्च्छित (परस्परं मिश्रितानाम्/Aggravated) दोष जब उन्मार्गी होकर संचरण करते हैं तो सर्वत्रगामी हो जाते हैं॥ १७॥

विमर्श—सिरा—सुश्रुत-शारीरस्थान का सातवाँ अध्याय सिराओं से सम्बन्धित है। अन्य भी कई विस्तृत प्रसंग हैं जहाँ सिराओं के सम्बन्ध में चर्चाएँ हैं। नवम अध्याय 'धमनीव्याकरण' है और अन्य भी कई स्थानों में धमनी की चर्चाएँ हैं। पर इन दोनों से सम्बन्धित समस्त वाङ्मय को पढ़ जाने के उपरान्त आज भी यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि सिरा को 'Vein' और धमनी को 'Artery' माना जाय या नहीं; यद्यपि 'सरणात् सिराः' और 'धमनात् धमन्यः' जैसे स्पष्ट उल्लेख भी हैं। इतना ही नहीं अपितु सिरा शब्द की वर्तनी (Spelling) में भी सन्देह है। कहीं दन्त्य 'स' का प्रयोग है तो कहीं तालव्य 'श' का।

चरक और सुश्रुत संहिता की भाषा दो हजार वर्ष पुरानी तो है ही। सम्भव है कि सिरा-धमनी सम्बन्धित उस समय की संस्कृत के रहस्य को आज हम भली प्रकार हृदयंगम न कर पा रहे हों अथवा इनसे सम्बन्धित बहुत-सा साहित्य आज उपलब्ध न होने से वस्तुस्थिति को समझने में कठिनाई आ रही हो।

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः॥ १८॥

भिन्न-भिन्न सिराओं की पहचान—वात का वहन करने वाली सिराएँ अरुण (Crimson red colour) वर्ण की और वायु से पूर्ण होती हैं। **पित्त** का वहन करने वाली सिराएँ उष्ण (Warm) और नीले (Blue) रंग की होती हैं। **कफ** का वहन करने वाली सिराएँ शीत, रंग में गौर (White) तथा स्थिर (Steady) होती हैं। इसी प्रकार **रक्तवह** सिराएँ रंग में लाल और न अधिक उष्ण, न अधिक शीत होती हैं॥ १८॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक में सिराओं का इस तरह का वर्णन नहीं मिलता है। इतना तो है कि सिराओं का अशुद्ध रुधिर हलका काला या नीलापन लिये काला होता है और धमनियों के रुधिर का रंग इन्द्रगोप सदृश लाल होता है।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद् याः सिरा भिषक्। वैकल्यं मरणं चापि व्यधात् तासां ध्रुवं भवेत्॥
सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान्। षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्ठं च मूर्धनि॥
शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु। पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः॥ २१॥

वेधन के अयोग्य सिराएँ—अब इसके उपरान्त उन सिराओं का वर्णन किया जायेगा जो वेधन (Venesection) के अयोग्य होती हैं। क्योंकि यदि चिकित्सक (Clinician) इनका वेधन कर देता है तो वैकल्य (Disability) या मृत्यु निश्चय ही हो जाती है। बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह शाखाओं में ४०० सिराओं को, कोष्ठ में १३६ सिराओं को और जत्रु से ऊर्ध्व भाग (शिर) में १६४ सिराओं को समझें। इन ७०० सिराओं में से शाखाओं में १६ सिराएँ, कोष्ठ में ३२ सिराएँ और जत्रु से ऊपर ५० सिराएँ अव्यध्य (Unfit for venesection) होती हैं॥ १९-२१॥

तत्र सिराशतमेकैकस्मिन् सक्थ्नि भवति; तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा चैका तास्त्वव्यध्याः; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु। द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः, कटीकतरुणयोश्च; अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे; चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहतीसिरे; तावत्य एवोदरे, तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत्; चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ; एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति। चतुःषष्टं सिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति; तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां, तासामष्टौ चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेद्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः; एवं ग्रीवायां षोडश अव्यध्याः; हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत्; षट्त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः, रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे; द्विर्द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः परिहरेत्; तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे; अष्टात्रिंशदुभयोर्नेत्रयोस्तासामेकैकामपाङ्ग्योः परिहरेत्; कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीनामेकैकां परिहरेत्; नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः, आवर्तयोरेकैका, स्थपन्याश्चैका परिहर्तव्या; शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतामेकैकां परिहरेत्; द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति॥ २२॥

अधःशाखा की अव्यध्य सिराएँ—एक सक्थि (अधःशाखा/Lower extremity) में १०० सिराएँ होती हैं। इनमें से जालधरा ('जालानीव जालानि मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिजानि कूर्चशिरोव्यापीनि तानि धारयन्ति यास्ता जालधरा इत्यर्थः'–ड.) एक बाह्य (External) और तीन आभ्यन्तर (Internal) सिराएँ हैं जिनमें से दो ऊर्वी नाम से और एक लोहिताक्ष नामक सिरा है। इस प्रकार एक अधःशाखा में ४ अव्यध्य सिराएँ हैं। इतनी ही अव्यध्य सिराएँ दूसरी अधःशाखा में और प्रत्येक ऊर्ध्व शाखा में भी चार-चार अव्यध्य सिराएँ हैं। इस प्रकार चारों ऊर्ध्वाधःशाखाओं में कुल ४×४ = १६ अशस्त्रकृत्या (अव्यध्याः/Not fit for venesection) सिराएँ हैं।

मध्यदेह की अव्यध्य सिराएँ—**श्रोणि** (Pelvis) में ३२ सिराएँ हैं। इनमें से ८ अशस्त्रकृत्या (जो शस्त्रकर्म के अयोग्य है) हैं जिनमें से दो-दो सिराएँ विटपों (Probably perineum) में और कटीकतरुणों (A part of hip bone) में भी प्रत्येक में दो-दो सिराएँ हैं। प्रत्येक **पार्श्व** (Trunk) में आठ-आठ सिराएँ हैं। जिनमें से एक-एक जो ऊपर की ओर को जाती है उन्हें वेधन कर्म से मुक्त रखें। इसी प्रकार

पार्श्वसन्धिगत दो सिराएँ भी अशस्त्रकृत्या है (ऊपर को जाने वाली २ और पार्श्वसन्धिगत २ = कुल ४)। **पृष्ठवंश** (Vertebral column) के दोनों ओर २४ सिराएँ हैं। उनमें से प्रत्येक पार्श्व में ऊपर की ओर को जाने वाली बृहती नाम की दो सिराओं का परित्याग करें। **उदर** में २४ सिराएँ हैं। उनमें से मेढ्र (Penis) के ऊपर रोमराजी (Hair line) के दोनों ओर दो-दो सिराएँ हैं अव्यध्या हैं। **वक्ष** (Thorax) में ४० सिराएँ हैं। उनमें से १४ सिराएँ शस्त्रकर्म के अयोग्य हैं। इन १४ सिराओं में से हृदय में दो, स्तनमूल में दो-दो, स्तनरोहित, अपलाप, अपस्तम्भ के दोनों ओर की ८ सिराएँ हैं। इस प्रकार वक्ष में १४ सिराएँ अव्यध्य हैं। मध्यदेह की अव्यध्य सिराओं की कुल संख्या ८ + ४ + २ + ४ + १४ = ३२ है (श्रोणि की ८, पार्श्वों की ४, पृष्ठवंश की २, उदर की ४ और छाती की १४ सिराएँ होती हैं। इस प्रकार कुल ३२ सिराएँ मध्यदेह में अव्यध्य हैं) ।

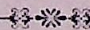
जत्रूर्ध्व की अव्यध्य सिराएँ—जत्रू (Clavicle) से ऊपर शिर में गयी हुई १६४ सिराएँ हैं। इनमें से **ग्रीवा** में ५६ सिराएँ हैं जिनमें से १२ सिराओं, जो मर्मसंज्ञक हैं तथा कृकाटिका दो और विधुर दो सिराओं को शस्त्रकर्म से बचाना चाहिए (१२ + २ + २ = १६)। इस प्रकार ग्रीवा में १६ सिराएँ अव्यध्य हैं। **हनु** (Temporo-mandibular joint) के दोनों ओर ८ सिराएँ हैं, जिनमें से सन्धिगत दो धमनियों को छोड़ देना चाहिए। **जीभ** में ३६ सिराएँ हैं। इनमें से भी जीभ के नीचे की १६ सिराओं में से दो रसवहा और दो वाग्वहा शस्त्रकर्म के अयोग्य हैं। **नाक** में २४ सिराएँ हैं। इनमें औपनासिक्य (नासासमीपवर्तिन्यः/Nearest to the nose) ४ सिराएँ हैं जो अवेध्य हैं। इन २४ सिराओं में से ही एक तालु के मृदुभाग में है, उसे भी शस्त्र से बचावें। **नेत्रों** में ३८ सिराएँ हैं। इनमें से अपांगों की दो (प्रत्येक की एक-एक) सिराएँ वेधन कर्म के अयोग्य हैं। **कानों** में १० सिराएँ हैं। इनमें से शब्दवाहिनी नामक एक-एक सिरा को बचाना चाहिए। नासा और नेत्रों में गयी हुई **ललाट** (Forehead) की ६० सिराओं में से केशान्त (Hair line) के साथ-साथ गयी हुई ४ तथा दोनों आवर्तों में एक-एक और एक स्थपनी को बचाना चाहिए। **शंखप्रदेश** (Temporal region) में १० सिराएँ हैं। इनमें से शंखसन्धिगत एक-एक सिरा अव्यध्य है। **मूर्धा** (Head/शिर) में १२ सिराएँ हैं। इनमें से उत्क्षेप नामक मर्मों में दो, सीमन्तों में एक-एक (सीमन्त ५ हैं) और एक अधिपति मर्म में स्थित सिरा त्याज्य है।

इस प्रकार जत्रु से ऊपर—ग्रीवा में १६, हनु में ४, जिह्वा में ४, नासिका में ५, नेत्रों में २, कानों में २, नेत्रनासिका में ७, शंख में २ तथा शिर में ८; ये ५० सिराएँ अव्यध्य हैं।। २२।।

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः। प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम्।।

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः।। ७।।



सिराएँ सर्वशरीरव्यापी हैं—जिस प्रकार पद्मिनीकन्द (Bulbe of the lotus) की शाखाएँ (बिस) पानी में चारों ओर फैली होती हैं उसी प्रकार सिराएँ (Tributaries of veins) नाभि से चारों ओर फैलकर सारे शरीर में व्याप्त होती हैं।। २३।।

विमर्श—विज्ञान में पारिभाषिक शब्द अपने निश्चित अर्थ से बन्धे होते हैं अन्यथा अव्यवस्था सम्भव है। इस तरह सिरा का एक निश्चित अर्थ 'Vein' अब प्रायः सभी को स्वीकार्य है; पर सिराओं से सम्बन्धित शास्त्रीय वर्णन सिरा के केवल 'Vein' से सहमत नहीं लगता है। इस आधार पर हम सिरा को केवल 'Vein' नहीं मान सकते। आयुर्वेद में वर्णित सिरा पाश्चात्य वैद्यक की 'Vein' भी है और इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत कुछ है।

सिरा कहीं रक्त का वहन करती है, कहीं आहाररस का तो कहीं तन्त्रिका (Nerve) का अर्थ देती है। पाश्चात्य वैद्यक के विद्वानों ने अपनी-अपनी प्रतिभाओं का प्रयोग कर प्रसंगवश जिस सिरा का जो अर्थ उन्हें उपयुक्त जँचा उसका आंग्ल भाषा में पर्याय दे दिया है। यही कारण है कि ये पर्याय एक-दूसरे से भिन्न हैं। फिर भी आयुर्वेद में युगानुरूपता लाने के लिए सभी प्रयास स्तुत्य हैं। इस परिस्थिति में हमने यथास्थिति को बनाये रखना ही उपयुक्त समझा है।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'शिरावर्णविभक्ति' नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥७॥



अध्याय-सारांश

'सिरावर्णविभक्तिशारीर' नामक इस अध्याय में—सिराओं से सम्बन्धित शारीर का वर्णन किया गया है। शरीर में ७०० सिराएँ हैं जो जलहारिणी एवं कुल्याओं की तरह शरीर का पोषण करती हैं। इनका मूल नाभि है। ये यहीं से ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् दिशा में प्रसरण करती हैं (३); इनमें मूल सिराएँ ४० हैं जो वातवाहिनी, पित्तवाहिनी आदि भेद से ७०० होती हैं (६); सक्थि, बाहु, कोष्ठ आदि में सिराओं की संख्या का उल्लेख (७), वातादि का वहन करने वाली सिराओं के प्राकृत एवं वैकृत कर्म (८-१५), सिराओं का वातादि दोषों के अनुसार वर्ण (१८); अव्यध्या सिराओं की शाखादि के अनुसार संख्या (१९-२१), शरीर के किस भाग की कौन-सी सिरा अव्यध्या है? (२२) इसका विस्तार से वर्णन है।



अष्टमोऽध्यायः

अथातः सिराव्यधविधिं शारीरं व्याख्यास्यामः ।। १ ।।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः २ ।।

अब इसके बाद 'सिराव्यधविधिशारीर' (The Techniques and Anatomical Considerations of Venepuncture) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ।। १-२ ।।

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तस्त्रीमद्यपाध्वकर्षितवमितविरिक्तास्थापितानुवासित-जागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च सिरां न विध्येत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ।। ३ ।।

सिराव्यध का निषेध (Contraindications for venepuncture)—निम्नलिखित की सिराएँ अव्यध्य हैं— १. बाल (Very young/धातुएँ अपूर्ण होती हैं), २. वृद्ध (Very old/धातुएँ क्षीण हो चुकी होती हैं), ३. रूक्ष (The austere/रूखापन लिये), ४. क्षत (Wounded/वातप्रकोप के भय से), ५. क्षीण (Debilated person/वातप्रकोप के भय से), ६. भीरु (Timid/डरपोक/'तमोबहुलत्वाल्लोहितदर्शनिन मूर्च्छाभयात्'), ७. परिश्रान्त (Tired/'श्रमकुपितः शोणितसेचनेनातिबल्यं प्राप्य वातो व्यापादयति'), ८. स्त्रीकर्षित (स्त्रीकर्षितस्य वातप्रकोपभयान्न विध्येत्), ९. मद्यकर्षित (Inebrieted/मद्यविक्षिप्तचित्तस्यातिमूर्च्छाकरत्वात्), १०. अध्वकर्षित (लम्बे सफर से थका हुआ), ११. वमित (जिसे वमन कराया गया हो), १२. विरिक्त (जिसे विरेचन कराया गया हो), १३. आस्थापित (जिसे आस्थापन बस्तियाँ दी गयी हों), १४. जागरित (जो जागा हुआ हो/'आस्थापितजागरितयोः वातप्रकोपभयात्'), १५. नपुंसक (Impotents/'प्रधानधातुक्षयेणाल्पसत्त्वेन च निश्चितविनाशात्'), १६. कृश (Thinned out), १७. गर्भिणी ('उपक्षीणधातुत्वाद्देहसन्देहभयात्') और १८. जो कास, श्वास, शोष, प्रवृद्ध ज्वर ('प्रवृद्धज्वरस्यासृक्स्रावेण प्रलापादिभयात्'), आक्षेपक (Convulsions), पक्षाघात (Hemiplegia), उपवास, पिपासा तथा मूर्च्छा से पीड़ित हों उनकी सिरा का वेध न करें।

इनके अतिरिक्त जो सिराएँ अव्यध्य हैं, व्यध्य होने पर भी जो दिखायी नहीं देती हैं, दिखायी देने पर भी जिनको नियन्त्रित नहीं किया गया है (Not stabilished) और नियन्त्रित किये जाने पर ऊपर को उठी नहीं हैं (Can not be made prominent) इनका वेध न करें।। ३ ।।

विमर्श—वेधन के लिए सिरा का १. व्यध्य होना, २. दिखायी देना, ३. नियन्त्रित होना और ४. उठा होना आवश्यक है।

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापक्वेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत् ।। ४ ।।

सिरावेधन में सावधानी—रक्त निकाल देने पर ठीक होने वाली व्याधियाँ जिनका वर्णन पूर्व ('अष्टविधशस्त्रकर्मीय' नामक २५वें अध्याय के २५वें सूत्र) में किया गया है ('त्वक्दोषा ग्रन्थयः शोफाः तथा स्राव्या विद्रधयः पश्चादि') और अपक्वावस्था ('अपक्वेषु इति यद्यपि रक्ताभावात् पक्वानां रक्तस्रुतिर्न क्रियते इत्यर्था देवापक्वग्रहणं लभ्यते, तथापि बाह्योपक्रमेषु मध्ये शोणितावसेकस्य प्राधान्याख्यापनायापक्वग्रहणं कृतम्'–ड.) तथा अन्य जिनका उल्लेख नहीं किया गया है उनमें यथाभ्यास, यथान्याय सिरावेधन करें ।। ४ ।।

विमर्श—प्रागभिहिताः—अर्थात् इससे पूर्व सूत्रस्थान के १४वें तथा २५वें अध्याय में रक्तावसेक-साध्य व्याधियों का उल्लेख हुआ है।

अपक्वेषु—अपक्व व्रणशोथ में चारों ओर रक्तसंचय हुआ होता है जो एक प्रकृति की ओर से बचाव की विधि है। रक्त के अधिक इकट्ठे होने से वेदना, सूजन, उष्णता, लालिमा आदि प्रमुख लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि रक्तमोक्षण किया जाता है तो ये सभी लक्षण गायब हो जाते हैं। पक्वावस्था में शोणितविस्रावण अनुपयुक्त है।

यथाभ्यासम्—('सदेशाभ्याससविधसमर्यादसवेशवत्'—अ.को.; 'यथाभ्यासम् = यथासमीपमित्यर्थः' —ड.)। हाराणचन्द्र को 'यथासमीपम्' अर्थ ही अभिप्रेत है—'यथाभ्यासं यथासन्नम्, एतत्तु मुख्यानामदर्शन-विषयम्, उक्तं च—'मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत्सिराम्'। यह अर्थ भी सम्भव है कि गुरूपदेश से सिराव्यधन की जिस विधि का अभ्यास किया हो उसके अनुसार।

यथान्यायम्—'न्यायस्य स्नेहस्वेदादिकस्य अनतिक्रमेण यथान्यायम्' (ड.); वर्णित विधि के अनुसार वेधन करें (शास्त्रविहित विधि से)।

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम्॥५॥

आत्ययिक दशा में अव्यध्य में वेधन का विधान—जिन बालस्थविरादि में सिराव्यध का निषेध किया गया है उनमें भी विषोपसर्ग (Poisoning) और आत्ययिक (Emergency) स्थिति होने पर सिरा-वेध किया जा सकता है॥५॥

विमर्श—जीवन के हर क्षेत्र में आपत्काल में मर्यादाओं के उल्लंघन का प्रचलन है। चिकित्सा के सम्पूर्ण कार्यकलाप जीवनरक्षार्थ हैं। आत्ययिक अवस्था में अव्यध्य सिराओं के वेधन का यही उद्देश्य है। कहा भी है—'अतिपातिषु रोगेषु नैच्छेद् विधिमिमां भिषक्। प्रतप्तागारवत् शीघ्रं तत्र कुर्याच्चिकित्सितम्'॥ (सु.)

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकाल-मुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य प्राप्तं शस्त्रमादाय सिरां विध्येत्॥६॥

सिराव्यध में पूर्वकर्म और प्रधान कर्म—सिराव्यध के पूर्वकर्म (Pre-venepuncture treatment) में रोगी को स्नेहन (Oleated) और स्वेदन (Sweated) के उपरान्त प्रकुपित दोषों के विपरीत प्रभाव वाले द्रवबहुल (Mainly of liquids) अन्न अथवा यवागू का पान करावें; फिर सिरावेधन योग्य समय ('व्यभ्रादिकालानतिक्रमेण') में रोगी को बिठाकर या उठे हुए (To stand or to sit) की, जिससे रोगी के प्राणों को कोई कष्ट न हो उस प्रकार वस्त्रपट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल, लता आदि में से किसी एक से शरीर के किसी उपयुक्त स्थान को न बहुत कसकर (उत्तमांग में) और न बहुत शिथिल (शाखासु) ही बाँधें। इस प्रकार शरीर-प्रदेश पर शस्त्र से सिरा का वेध करें॥६॥

विमर्श—ऐसा माना जाता है कि स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् रक्तमोक्षण करने से दोषों का बाहर निकलने में सुविधा होती है।

भुक्तवन्तम्—शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी को कुछ रोगों में लघु आहार देने से उसकी शक्ति बनी रहती है और वह वेदनादि को सहन कर लेता है ('न मूर्च्छत्यन्नसंयोगात्'—सु.)।

पूर्व ही बताया गया है कि 'दृष्टाश्चायन्त्रिताः' अर्थात् सिरा दिखायी दे रही हो और यन्त्रित न हो तो वेधन न करे, क्योंकि अनियन्त्रित सिरा स्थिर नहीं होती है।

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते। सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन॥७॥

सिराव्यध के लिए अनुपयुक्त काल—अत्यधिक शीतल और अत्यधिक उष्ण काल में, आकाश में बादल होने पर और तेज हवाओं के चलने पर सिराव्यधन नहीं करना चाहिए। रोगरहित अवस्था में कभी भी सिरावेधन न करें॥ ७॥

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परे सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतशिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च यन्त्रं पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्; एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः। पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरं पादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत्। अथोपरिष्टात् हस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत्। गृध्रसीविश्वाच्योः सङ्कुचितजानुकूर्परस्य। श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य। बाहुभ्यावलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः। अनामितमेढ्रस्य मेढ्रे। उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधो जिह्वायाम्। अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च। एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात्॥ ८॥

उत्तमाङ्ग की सिराओं का उत्थान—(इस सूत्र में यह बताया गया है कि उत्तमाङ्ग, सक्थि, पाणिद्वय, पृष्ठ, उदर, वक्ष, जिह्वा आदि की सिराओं का उत्थान किस प्रकार किया जाता है—) व्यध्यसिर (जिसकी सिरा का वेध करना है) पुरुष को अरत्नि मात्र ऊँचे (कोहनी से कनिष्ठा अंगुलि तक का माप) आसन पर पूर्व की ओर मुख करके बिठावें। फिर टाँगों को मोड़कर रोगी की कोहनियों को घुटनों पर टिकायें और अंगूठे को अन्दर कर मुट्ठी बन्धे हाथों को दोनों ओर मन्याओं के ऊपर (Region of jugular vein) रखावें। तदनन्तर यन्त्रणशाटक (वस्त्र) को ग्रीवा और मुट्ठी बन्धे हाथों पर चारों ओर डालकर रोगी के पीछे खड़े (या बैठे) अन्य सहायक पुरुष को बायें हाथ में पकड़वा दे। फिर सहायक पुरुष से कहे कि सिरा के उत्थान के लिए वह दाहिने हाथ से न अधिक शिथिल और न अधिक दृढ़ कसते हुए यन्त्रशाटक के प्रान्तों को आवेष्टित (मरोड़ना) करे और रक्तविस्रावणार्थ रोगी की पीठ के मध्य में यन्त्र को पीड़ित कर दबाव डाले। इस समय रोगी मुख में हवा भर कर रहे। यह मुख के अन्दर की सिराओं को छोड़कर उत्तमाङ्ग की सिराओं के वेधन के लिए यन्त्रण-विधि है।

पादादि सिरावेध-विधि—जिस पैर की सिरा का वेध करना हो उस पैर को समतल भूमि पर अच्छी तरह स्थिर कर तथा दूसरे पैर को कुछ ऊँचा कर मोड़ लें। फिर व्यध्य सिरपाद को (जिस पैर की सिरा का वेध करना है उसे) जानुसन्धि से नीचे यन्त्रणशाटक से लपेट कर तथा गुल्फ को हाथों से पीड़ित कर अथवा जहाँ वेधन करना है उस स्थान के चार अंगुल ऊपर कपड़ा, चर्म, लता आदि में से किसी एक से बाँध कर सिरावेधन करें। **हस्तसिरावेधनार्थ** अंगूठे को अन्दर कर मुट्ठी बन्धे हाथ को समुचित स्थान पर टिका दें और उसके ऊपर के भाग में पूर्ववत् यन्त्रणशाटक, लता, चर्म आदि से लपेट कर सिरा का वेध करें (अथवा व्यध्य स्थान से चार अंगुल ऊपर वस्त्रादि से आवेष्टित कर सिरावेधन करें)। **गृध्रसी तथा विश्वाची** के सिरावेध में गृध्रसी में घुटनों को सिकोड़ कर अथवा विश्वाची में कोहनी को मोड़ कर सिरावेध करें। (शेष प्रक्रिया यन्त्रणशाटक आदि पूर्व वर्णित के अनुसार करनी होती है।) **श्रोणि, पीठ,**

कन्धे में सिरावेध के लिए रोगी की पीठ को ऊँचा कर तथा शिर को आगे की ओर को झुका कर बैठे हुए रोगी की सिरा का वेध करें। रोगी पीठ को फुला लेता है। **उदर** और **छाती** की सिरा के वेध के लिए रोगी शिर को ऊँचा उठाता है तथा छाती को फैलाकर पेट को विस्फूर्जित (आयामितम्) कर लेता है। **पार्श्वसिरावेध-विधि** में भुजाओं के सहारे लटकते हुए रोगी की पार्श्व की सिरा का वेध किया जाता है। **शिश्नेन्द्रिय** (Penis) की सिरा का वेध करने के लिए मेढ्र को अवनामित ('अवनामितं स्तब्धीकृतं मेढ्रं यस्य स तथा'/नीचे की ओर को मोड़कर; 'While erect' वाला सुझाव व्यवहार्य नहीं है) कर सिरावेध करें। **जिह्वा** की सिरा का वेध करना हो तो जीभ को पीछे की ओर मोड़कर और दाँतों से दबाकर जिह्वाधः सिरा का वेध करें। **तालु** और **दन्तमूल** की सिरा के वेध के लिए मुखगुहा को खूब फैला लिया जाता है।

इस प्रकार शरीर और व्याधि की आवश्यकताओं के अनुसार सिरोत्थान के लिए यन्त्रण के जो उपाय बताये हैं उनका तथा उसी तरह के अन्य उपायों को प्रयोग में लायें॥ ८॥

विमर्श—यन्त्रमावेष्टयेत्—अर्थात् लपेट कर कपड़े (यन्त्रणशाटक) के प्रान्तों को कस कर ऐंठे। इससे सिराओं का रक्तसंचार रुक जाता है और सिरा फूल जाती है। इस प्रकार उसका वेधन करने में आसानी होती है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि रोग जिस स्थान का है उसी स्थान की या उसके समीप की सिरा का वेध किया जाता है जिससे दूषित रुधिर के निकलने के साथ-साथ रोग भी दूर हो जाय।

पाश्चात्य वैद्यक में भी सिरावेध होता रहा है और आज भी किन्हीं विशेष परिस्थितियों में होता है। लेकिन इन दोनों चिकित्सा पद्धतियों में सिरावेध की उपयोगिता एक-दूसरे से नितान्त भिन्न है। पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति में सिरावेध द्वारा रक्त निकाल देने का एक ही उद्देश्य है कि रक्तवाहिनियों में दबाव कम हो। यह उद्देश्य किसी भी सिरा से रुधिर निकाल कर पूरा किया जा सकता है। परन्तु आयुर्वेद में सिरावेध का उद्देश्य दोषों को शान्त करना है। इसकी प्राप्ति रोग के स्थान की या समीप की सिरा का वेध करने से ही होती है। सिरोत्थान के लिए यन्त्रण का भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रयोग करने का उद्देश्य भी यही है।

गृध्रसी अधःशाखा का और विश्वाची ऊर्ध्वशाखा का रोग है, जो वात-प्रधान व्याधियाँ हैं।

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्यथाऽर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम्॥ ९॥

शस्त्रप्रणिधान प्रमाण और शस्त्र-विशेष—उदर, नितम्ब आदि मांसबहुल स्थानों में शस्त्रप्रयोग यव प्रमाण गहरा किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त स्थानों में आधे यव प्रमाण का शस्त्रप्रयोग करें या व्रीहिमुख शस्त्र से व्रीहिमात्र वेधन करें। अस्थि के ऊपर की सिरा का कुठारिका नामक शस्त्र से आधा यवमात्र वेधन करें॥ ९॥

विमर्श—'व्रीहिः अत्र प्रधानकल्पनया शूकधान्यं, तत्रापि रक्तशालिरेव' (ड.)।

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत ग्रीष्मकाले तु शीतले। हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः॥ १०॥

सिरावेध काल—१. वर्षाकाल में बादलों से रहित दिन में, २. ग्रीष्मकाल में ठण्ड के समय और ३. हेमन्त ऋतु में मध्याह्न में सिरावेध करें। शस्त्रप्रयोग के लिए ये तीन काल हैं॥ १०॥

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्। मुहूर्तं रुद्ध्वा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्॥ ११॥

सुविद्धा सिरा का लक्षण—शस्त्रप्रयोग के पश्चात् सिरा में से रुधिर धारा (Stream) के रूप में बाहर आये और थोड़ी देर के बाद बन्द हो जाय तो उसे 'सुविद्धा' (Ideal puncture) सिरा समझे॥ ११॥

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका। तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते॥ १२॥

अशुद्ध रक्त का पहले आना—कुसुम्भ नामक पुष्प को तोड़ने पर जिस प्रकार पहले पीला स्राव आता है उसी प्रकार सिरा का वेधन करने पर पहले अशुद्ध रक्त निकलता है॥ १२॥

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च। न वहन्ति सिरा विद्धास्तथानुत्थितयन्त्रिताः॥

वेधन पर रक्त न आने का हेतु—सिरा के सुविद्धा होने पर भी रुधिर के न निकलने के कारण निम्नलिखित हैं—१. मूर्च्छित (बेहोश रोगी/Unconscious), २. अतिभीत (बहुत डरा हुआ/Frightened), ३. श्रान्त (थका हुआ/Tired), ४. तृषित (प्यासा/Thirsty), ५. सिरा यन्त्रित न हो और ६. सिरा उत्थित (Prominent) न हो॥ १३॥

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च। भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा॥

क्षीणादि रोगियों में सिरावेध काल—क्षीण (Debilitated), बहुदोष युक्त और मूर्च्छा से पीड़ित व्यक्ति का रक्तविस्रावण आवश्यक हो तो पुनः अपराह्ण (Afternoon) या अगले दिन (अन्येद्युः/Next day/प्रतिदिन नहीं) या तीसरे दिन करना चाहिए॥ १४॥

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः। न चातिनिःस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत्॥ १५॥

अधिक रक्तस्राव न होने दें—बुद्धिमान् को शोणितविस्रावण समय में यह सावधानी बरतनी चाहिए कि दूषित रुधिर भले ही शरीर में रह जाय पर अधिक रक्तस्राव नहीं होने देना चाहिए। इस प्रकार जो दूषित रुधिर शेष रह जाता है उसका उपचार संशमन उपायों से करना चाहिए॥ १५॥

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः। परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे॥ १६॥

स्रावित रुधिर की मात्रा—यदि रोगी बलवान् हो, दोष बहुत प्रबल हों, रोगी वयःस्थ (Adult person) हो तो रक्तमोक्षण में अधिक-से-अधिक एक प्रस्थ रक्त निकालना चाहिए॥ १६॥

विमर्श—रुधिर का दूसरा नाम 'प्राण' है। अतः दूषित रक्त को निकालते समय इसके प्रति सावधान रहना आवश्यक है कि कहीं रक्त अधिक मात्रा में न निकल जाय। इससे पूर्व के श्लोक में यही सावधानी बरतने के लिए सतर्क किया गया है कि भले ही दूषित रुधिर शरीर में रह जाय पर (अधिक रक्तविस्रावण से) रोगी के जीवन को खतरा नहीं होना चाहिए । इसी बात को ध्यान में रखकर प्रस्थ सोलह पल का होने पर भी रक्तविस्रावण के रुधिर को मापने के लिए इस नियम में परिवर्तन किया गया और प्रस्थ को साढ़े तेरह पल का माना गया ('वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः')। साढ़े तेरह पल = ५४ तोला, एक पल लगभग ४४ ग्राम के बराबर।

तत्र पाददाहपादहर्षचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्, श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद्द्व्यङ्गुले, जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्यां, ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, एवं दक्षिणबाहौ यकृद्दाल्ये (कफोदरे च), एतामेव च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्यां, श्रोणिं प्रति समन्तादद्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां शूलिन्यां, परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरधश्चतुरङ्गुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे), वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च, बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके, अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके; हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शङ्खकेशान्तसन्धि-

गतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वक्ष्यामयेषूपनासिके लालाट्यामपाङ्ग्यां वा, एता एव शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति॥ १७॥

रोगानुसार सिरावेध के स्थान—निम्नलिखित रोगों में क्षिप्र नामक मर्म ('पादाङ्गुष्ठयोर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म') से दो अंगुल ऊपर की ओर की सिरा का व्रीहिमुख नामक शस्त्र से वेध करें—पाददाह, पादहर्ष, चिप्प, विसर्प, वातशोणित, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी आदि। **श्लीपद** रोग में जिस सिरा का वेध किया जाता है उसका वर्णन उस रोग के वर्णन के समय ही किया जायेगा।

जङ्घा में गुल्फ से चार अंगुल ऊपर की सिरा का वेध निम्नलिखित व्याधियों में किया जाता है—क्रोष्टुकशिर (वातव्याधि), खञ्ज (लंगड़ा), पंगु ('पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्') और वातवेदनाएँ। **अपची** नामक रोग में इन्द्रबस्ति नामक मर्म (पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्ति नाम मर्म') से दो अंगुल नीचे स्थित सिरा का और गृध्रसी नामक विकार में जानुसन्धि से चार अंगुल ऊपर या चार अंगुल नीचे की सिरा का वेध किया जाता है। **गलगण्ड** रोग में ऊरुमूल में स्थित सिरा का वेध करें। इसी तरह का वर्णन दूसरी टाँग और दोनों ऊर्ध्वशाखाओं का समझें।

विशेषकर वाम बाहु में कूर्पर सन्धि से अन्दर की ओर बाहु के मध्य की या कनिष्ठिका और अनामिका अँगुलियों के मध्य की सिरा का **प्लीहरोगों** में वेधन करें। इसी प्रकार यकृद्दाल्युदर, कफोदर तथा कास एवं श्वास रोग में भी दाहिनी बाहु के मध्य की सिरा का वेधन विहित है। **गृध्रसी** की तरह विश्वाची में कूर्पर सन्धि से चार अंगुल ऊपर या चार अंगुल नीचे स्थित सिरा का वेध करते हैं ('यथा गृध्रस्यां जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरंगुले एवं विश्वाच्यामपि कूर्परसन्धेरुपर्य्यधो वा चतुरंगुले')।

श्रोणि के चारों ओर दो अंगुल क्षेत्र में स्थित सिरा का शूल युक्त प्रवाहिका में वेधन करें ('कालेनानुबन्धभूतरक्तावृतवातकृतशूलयुक्तायामित्यर्थः')। **मेढ्र** (Penis) के मध्य की सिरा का वेध परिवर्तिका, उपदंश, शूकरोग और शुक्रधातु सम्बन्धी विकारों में किया जाता है। **वृषणों** (Testes) के पार्श्व की सिरा का वेध मूत्रवृद्धि में और जलोदर में सेवनी के बायीं ओर नाभि के चार अंगुल नीचे की सिरा का वेध करें। **अन्तर्विद्रधि** और पार्श्वशूल में बाईं ओर कक्षा तथा स्तन के मध्य स्थित सिरा वेध्य है। कुछ आचार्यों के मत से बाहुशोष (Atrophy of the arm) और अवबाहुक नामक रोगों में कन्धों के मध्य की सिरा का वेध करना चाहिए। **तृतीयक ज्वर** (Tertiary fever) में त्रिकसन्धि के बीच की सिरा का वेध करें। **चतुर्थक** (Quartan) **ज्वर** में स्कन्ध (Shoulder) सन्धि के नीचे दोनों ओर में से किसी एक पार्श्व की सिरा वेधन-कर्म योग्य होती है।

अपस्मार (Epilepsy) में हनुसन्धि (Mandibular joint) के मध्य स्थित सिरा का वेधन करें ('हनुसमीपसन्धिमध्यगतामित्यर्थः')। इसी प्रकार **उन्माद** (Insanity) में शंख और केशान्त सन्धि में स्थित तथा छाती, अपांग (Outer canthus) और ललाट (Forehead) के मध्य स्थित सिरा वेध्य होती है। जिह्वा तथा दाँतों के रोगों में जिह्वा के नीचे स्थित सिरा का वेधन किया जाता है। **तालु** (Palate) के रोगों में तालव्य (तालु की) सिरा व्यध्य है। कान के ऊपर और चारों ओर की सिरा का कर्णशूल में तथा कर्णरोगों में वेध करें। गन्ध न आती हो (Loss of smell) तो और नासा के अन्य रोगों में नासाग्रस्थित सिरा वेध्य होती है। तिमिर (नेत्ररोग), अक्षिपाक आदि नेत्रव्याधियों में नासा के समीप, ललाट या अपांग की सिरा का वेध करें। इन्हीं सिराओं का वेधन शिरोरोग, अधिमन्थ आदि रोगों ('प्रभृतिग्रहणात् क्षुद्ररोगे पठितारूंषिकादेरपि ग्रहणम्') में करना चाहिए॥ १७॥

दुष्टव्यधा विंशतिः—दुर्विद्धातिऽविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्रुताऽत्युदीर्णाऽन्ते विद्धा परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाविद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनःपुनर्विद्धा सिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति॥ १८॥

दुष्टव्यध (Defective venepuncture) सिराएँ—दुष्टव्यध सिराएँ २० हैं— १. दुर्विद्धा, २. अतिविद्धा, ३. कुञ्चिता, ४. पिच्चिता, ५. कुट्टिता, ६. अप्रस्रुता, ७. अत्युदीर्णा, ८. अन्तेऽविद्धा, ९. परिशुष्का, १०. कूणिता, ११. वेपिता, १२. अनुत्थितविद्धा, १३. शस्त्रहता, १४. तिर्यक्-विद्धा, १५. अपविद्धा, १६. अव्यध्या, १७. विद्रुता, १८. धेनुका, १९. पुनःपुनर्विद्धा और २०. सिरा-स्नायु-अस्थि-सन्धिमर्मविद्धा॥ १८॥

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा प्रमाणातिरिक्त-विद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवं, कुण्ठशस्त्र-प्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनःपुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रस्रुता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्राविण्यन्ते-विद्धा, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागावसादिता किञ्चित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽति-प्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता, तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किञ्चिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा, अशस्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽव-घट्टनादारोहद्व्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनःपुनर्विद्धा, स्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति॥ १९॥

दुष्टव्यध सिराओं का विवरण— (१) दुर्विद्धा (Bodly punctured or infective)—वह सिरा कहलाती है जो सूक्ष्ममुख शस्त्र से विद्ध होने पर रक्त को अल्प मात्रा में विसर्जित करती है तथा वेदना और शोथ से युक्त होती है। (२) अतिविद्धा (Big punctured)—जो शास्त्रीय प्रमाण से अधिक कट जाती है और रुधिर शरीर के अन्दर ही प्रविष्ट हो जाता है ('अन्तःप्रविशतीति शरीराभ्यन्तरं प्रविशति') या जिसमें रुधिर अधिक मात्रा में निकल जाता है (Excessive haemorrhage) वह 'अतिविद्धा' है। (३) कुञ्चिता (Crooked)—वह सिरा है जिसमें अतिविद्धा के समान लक्षण होते हैं। (४) पिच्चिता (Crushed)—कुण्ठ (Blunt) शस्त्र से विद्ध किये जाने पर सिरा पिचक जाती (Flattened) है। (५) कुट्टिता (Lacerated)—सिरा के न मिलने पर भी वेधन के प्रयास में (Not properly located) जिसके दोनों पार्श्वों पर बार-बार शस्त्रप्रयोग कर क्षतिग्रस्त कर दिया है वह 'कुट्टिता' है। (६) अप्रस्रुता—शीत, भय और मूर्च्छा के कारण वेधन करने पर भी जिस सिरा से रुधिर न निकले या अल्प निकले वह 'अप्रस्रुता' है। (७) अत्युदीर्णा (Torn veins)—तीक्ष्ण और बड़े मुख वाले शस्त्र से जिस सिरा का वेध होता है वह अत्युदीर्णा कहलाती है। (८) अन्तेऽविद्धा (Marginal punctured)—अल्प रक्तस्राव करने वाली विद्ध सिरा 'अन्तेऽविद्धा' है। (९) परिशुष्का (Dry punctured)—जिस व्यक्ति का रक्त क्षीण (Anaemic) हो गया है और सिरा वातपूर्ण है तो वेधन करने पर वह सिरा 'परिशुष्का' कहलाती है। (१०) कूणिता (Partial punctured)—जिस सिरा का एक-चौथाई भाग (One-fourth portion of a vein is cut) ही कटा हो और थोड़ा ही रुधिर निकला हो तो वह 'कूणिता' कहलाती है। (११) वेपिता—जिस अनुपयुक्त स्थान पर अनुपयुक्त यन्त्रण वाली अतः काँपती हुई सिरा का वेधन किया जाता है वह 'वेपिता' कहलाती है। (१२) अनुत्थितविद्धा—वह सिरा कहलाती है जिसके लक्षण वेपिता सदृश हों। (१३) शस्त्रहता—इसमें रक्त अधिक मात्रा में निकलता है और सिरा पूरी तरह कट जाती है (छिन्ना/Fully cut) तथा जिससे

अंग अपना कार्य करने में असमर्थ होता है (Loss of function) वह 'शस्त्रहता' है। (१४) तिर्यक्विद्धा (Obliquely cut)—जिस सिरा के वेधन में शस्त्र तिर्यक् (Oblique) प्रयुक्त किया गया हो और थोड़ा-सा भाग ही कटने से रह गया हो वह 'तिर्यक्विद्धा' है। (१५) अपविद्धा—अल्प गुण वाले शस्त्र से अथवा शस्त्रप्रयोग की विधि को न जानने वाले के द्वारा जिस वेधन में बार-बार क्षत किया गया हो वह 'अपविद्धा' कहलाती है। (१६) अव्यध्या—वह सिरा कहलाती है जिसके वेधन को निषिद्ध कर दिया है। यदि इसका भी वेधन कर दिया जाय तो यह 'अव्यध्या' नामक दुष्टव्यध है। (१७) विद्रुता—यदि अस्थिर (Unstable) सिरा का वेध किया जाय तो यह 'विद्रुता' कहलाती है। (१८) धेनुका—अगर किसी सिरा को विद्ध करने के लिए बार-बार शस्त्रप्रयोग किया जाय (Vein is opened repeatedly) तथा जो आरोहद्व्यधा अर्थात् जिस पर ऊपर-ही-ऊपर शस्त्रपद कर दिये गये हों तथा जिनसे रुधिर गाय के थनों से दूध की तरह निकलता हो वह 'धेनुका' है। (१९) पुनःपुनर्विद्धा—जब एक ही स्थान पर बार-बार शस्त्रप्रयोग किया जाता है तो वह सिरा 'पुनःपुनर्विद्धा' कहलाती है। (२०) स्नायु (Ligaments), अस्थि, सिरा, सन्धि और मर्मों का भी वेध कर दिया जाता है तो वेदना, शोथ, विकलांगता और मरण भी आदि व्यापत्तियाँ होती हैं॥ १९॥

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः। मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥

सिराव्यध एक कठिन कार्य—जो चिकित्सक सिरावेध में कुशल नहीं है उसे यह जान लेना चाहिए कि सिराएँ स्वभावतः चल (Slippery by nature) होती हैं (अथवा—कोई भी शल्यचिकित्सक सिरावेध में निपुण होने का दावा नहीं कर सकता, क्योंकि सिराएँ स्वभाव से चपल होती है) और ये मछली की तरह इधर-उधर को फिसल जाती हैं। अतः बड़े यत्न के साथ इनका ताड़न (वेधन) करना चाहिए॥ २०॥

विमर्श—चलाः—सिराएँ वेधन काल में बड़ी कठिनाई से पकड़ में आ पाती हैं। इनकी चंचलता को दर्शाने के लिए मछली का उदाहरण उपयुक्त ही है। इसीलिए इसी अध्याय के सूत्र ३ में यह कहा गया है—'याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिताः इति' (सिरां न विध्येत्)।

अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते। भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥ २१॥

अज्ञ द्वारा सिरावेध का निषेध—जो शस्त्रकर्म में निपुण नहीं है (Untrained surgeon) उनके द्वारा शरीर पर शस्त्रप्रयोग किये जाने पर (या सिरावेध करने पर) नाना प्रकार की व्यापत्तियाँ एवं उपद्रव होते हैं॥ २१॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि। यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात्॥

सिरावेध का महत्त्व—स्नेहन (Oleation) आदि चिकित्सा-कर्मों द्वारा तथा विविध प्रकार के आलेपनों (Annointments) द्वारा उतनी शीघ्रता से व्याधियाँ शान्त नहीं होती हैं जितनी शीघ्रता से सिराव्यध (Venepuncture) से होती हैं॥ २२॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः। यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते॥

सिराव्यध एक सम्पूर्ण चिकित्सा—जिस प्रकार कायचिकित्सा (Internal medicine) में भली प्रकार की गयी बस्तिचिकित्सा (Enema therapy) सम्पूर्ण चिकित्सा का आधा भाग होती है उसी प्रकार अच्छी तरह किया गया सिराव्यध भी सम्पूर्ण शल्यचिकित्सा का आधा भाग है॥ २३॥

विमर्श—सिराव्यध का महत्त्व—'मांसमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात्। धमन्यश्च विशुद्ध्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः॥ रसस्वेदादिनिःस्यन्दात् विशुद्ध्यन्ति न पुष्कलम्'।

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरिक्तास्थापितानुवसितसिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते। एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ २४॥

सिरावेध के पश्चात् त्याज्य—स्नेहन (Oleation), स्वेदन (Sweat), वान्त (वमन कराने पर/Made to vomit), विरिक्त (जिसे विरेचन कराया गया है/Purged), आस्थापित अनुवासित और जिसका सिरावेध किया गया है उन्हें एक मास तक क्रोध, आयास (Hard work), मैथुन (Sexual intercourse), दिवास्वप्न (Sleeping by day), अधिक बोलना, व्यायाम, यान (Riding), अध्ययन (Reading), अधिक खड़े रहना, आसन (अधिक समय तक बैठना), चंक्रमण (अधिक घूमना), शीत, वात और आतप (गर्मी) का अधिक सेवन, विरुद्धाहार (Contradictory diet), असात्म्य (Unsuitable) आहार तथा अजीर्ण (Indigestion) का बलवान् होने तक सेवन नहीं करना चाहिए (किसी के मत से एक मास तक)। इनका विस्तार से वर्णन आगे (आतुरोपद्रवचिकित्सिते) किया जायेगा॥ २४॥

भवतश्चात्र—

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा। अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद्दुष्टशोणितम् ॥ २५ ॥

प्रच्छान आदि का उपयोग—पछने लगाकर अवगाढ (Vitiated) रुधिर को, अवगाढतर रक्त को जलौकाओं द्वारा, अवगाढतम रुधिर को तुम्बी के प्रयोग द्वारा, बहुत ही अवगाढ हो तो शृंग द्वारा और अत्यधिक अवगाढ रुधिर को सिराव्यध कर निकालें॥ २५॥

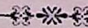
अवगाढे जलौका स्यात् प्रच्छन्नं पिण्डिते हितम्। सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिराव्यधविधिशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥



अवगाढ आदि रक्त के निकालने के लिए उपाय—अवगाढ रुधिर में जलौका, पिण्डित (Lump, haematoma) में प्रच्छान्न (Scarification), शरीरव्यापी दूषित रुधिर को निकालने के लिए सिरावेध और शृंग तथा अलाबू (Gourd) का त्वक्-स्थित रुधिर को निकालने के लिए प्रयोग करना चाहिए॥ २६॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'शिराव्यधविधिशारीर ' नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ८॥



अध्याय-सारांश

'सिराव्यधविधिशारीर' नामक इस अध्याय में—सिरावेध के तरीकों (Techniques of venesection) का वर्णन किया गया है और बाल, स्थविर, गर्भिणी, आक्षेपक, पक्षाघात, याप्य व्याधियाँ आदि की सिराएँ अव्यध्या हैं (३)।

रक्तावसेक साध्य व्याधियाँ विधिपूर्वक व्यध्य हैं, अव्यध्य सिराओं में भी विषोपसर्ग एवं आत्ययिक अवस्था में सिराव्यधन किया जा सकता है (४-५)।

सिराव्यध का प्रधान कर्म विस्तार से वर्णित (६), सिरावेधन के लिए प्रतिकूल काल (७)।

उत्तमाङ्ग, सक्थि, पाणि आदि की सिरा के उत्थान की विधि (८); प्रदेश-विशेष में शस्त्रप्रणिधान प्रमाण (९), वर्षा, ग्रीष्मादि ऋतुओं में सिरावेध के लिए प्रशस्त समय (१०), सुविद्ध सिरा, लक्षण (११), सिरावेधन पर रुधिर न निकलने में हेतु (१३), दुबारा सिरावेध करने का समय (१४)।

सिरावेध में निकले रक्त का प्रमाण (सार्धत्रयोदश पल) का प्रस्थ (१६)।

रोगविशेष के अनुसार व्यध्या सिरा के वेधन के लिए देहदेश-विशेष का नियम (१७)।

दुष्टव्यधसिराएँ बीस प्रकार की–दुर्विद्धातिविद्धादि, इनके लक्षण (१८-१९), अज्ञानवश बिंधी सिराओं के अनेक उपद्रव (२१), सिराव्यध को चिकित्सार्थ बताया है (२३)।

एक मास तक स्वास्थ्य नियमों का पालन (२५)।

सिराव्यध, जलौका, शृंग, प्रच्छान आदि के प्रयोज्य विषय (२६)।



नवमोऽध्यायः

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'धमनीव्याकरणशारीर' (The Anatomical Considerations of the *Dhamanis*) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'ध्मानाद् अनिलपूरणाद् धमन्यः, तासां व्याकरणं (विवरणम्) यस्मिन् शारीरे तत् धमनी-व्याकरणशारीरम्' (ड.)।

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः। तत्र केचिदाहुः—सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः, कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात्, कर्मवैशेष्यादागमाच्च; केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥ ३ ॥

धमनी और स्रोत सिराओं से भिन्न हैं—शरीर में २४ धमनियाँ बतायी गयी हैं जिनका उत्पत्ति-स्थान (Origin) नाभि (Umbilical region) है। कुछ आचार्यों की सम्मति में सिरा, धमनी और स्रोत में कोई अन्तर नहीं है; धमनी और स्रोत सिरा के ही विकार हैं, किन्तु यह मत सही नहीं है क्योंकि धमनियाँ और स्रोत सिराओं से भिन्न हैं। कैसे?

१. व्यञ्जनान्यत्वात् (लक्षणान्यत्वात्/Differences in their characters) अर्थात् इनके लक्षणों में अन्तर है; २. मूलसन्नियमात् (Original numbers) अर्थात् इनकी संख्या में अन्तर है; ३. कर्मवैशेष्यात् (Specific functions) अर्थात् इनके कार्यों में अन्तर है और ४. आगमाच्च (आगमोऽत्र आयुर्वेदः/ Authoritative literature) अर्थात् आयुर्वेद में पाये गये वर्णन के अनुसार भी सिरा, धमनी और स्रोतों में परस्पर अन्तर है।

सिरा, धमनी और स्रोतों को केवल इस आधार पर एक नहीं माना जा सकता कि ये—१. परस्पर-सन्निकर्षात् (सन्निकर्षो नैकटचम्/Close relationship-anatomically) अर्थात् ये एक साथ पाये जाते हैं; २. सदृशागमत्वात् (आप्तानां वचनमागमः तस्य सदृशत्वात्' शास्त्र द्वारा इनके कार्यों में समानता का वर्णन) अर्थात् शास्त्र में इस प्रकार का वर्णन मिलने से कि इनके कार्य समान हैं; ३. सदृशकर्मत्वात्—अर्थात् ऐसा प्रतीत होना कि सिरादि के कार्य एक समान हैं और ४. सौक्ष्म्याच्च (Due to their minuteness) अर्थात् ये सिरादि अतिसूक्ष्म होते हैं। इन कारणों से सिरादि के कार्य अलग-अलग होने पर भी एक-से लगते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—धमनियाँ और स्रोत सिराओं से अलग हैं—'सरणात् (Smoothly flowing of blood) सिराः, ध्मानात् धमन्यः (Pulsate), स्रवणात् स्रोतांसि (Secrete)'—यह इनकी व्युत्पत्ति है।

सिराविकाराः—'सिराणामेवाकारान्तरेण परिणामः, पिष्टविकारक्षीरविकारवत्। पुनरपि तैरुक्तम्—सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः। आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्' ॥ भाव यह है कि एकीय मत से स्रोत, धमनी आदि सिराओं के विकार हैं।

परमतोच्छेदमाह—(१) व्यञ्जनान्यत्वात् लक्षणान्यत्वात्; तत्र सिराणां वातादिवहानाम् अरुणनील-शुक्ललोहितवर्णत्वं लक्षणम्, शब्दादिवहधमनीनां तु वर्णानुक्तेः स्वधातुसमवर्णत्वम्, एवं स्रोतसामपि। तदुक्तं

चरके—'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घान्याकृत्या' इत्यादिकम्। अर्थात् सिराएँ पृथक् हैं, क्योंकि इनके वर्णों का वर्णन है।

(२) मूलसन्नियमो द्वितीयो भेदो यथा—'तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत् यावदेवमेतानि सप्तसिराशतानि, धमनीनां तु चतुर्विंशतिर्धमन्यः, स्रोतसां पुनः द्वाविंशतिः स्रोतांसि'।

(३) कर्मवैशेष्यं विशिष्टकर्मकरत्वम्, तच्च तृतीयभेदकारणम्; तद्यथा—कर्मणामप्रतिघातमित्यादि प्रोक्तं सिराणां कर्मवैशेष्यम्, शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिकं धमनीनाम्, प्राणान्नवारिरसशोणितमांसमेदोवहत्वादिकं स्रोतसाम्। अर्थात् सिराओं की संख्या एवं कार्य अलग-अलग हैं।

(४) आगमोऽत्र आयुर्वेदः, तद्यथा—'सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि' आदि में सिरा, धमनी आदि का अलग-अलग पाठ है।

इसी प्रकार डल्हण ने उन कारणों का भी विस्तार से उल्लेख किया है जिनसे यह समझा जाता है कि सिरा, धमनी, स्रोत सिरा के ही रूपान्तर हैं।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥ ४॥

नाभिप्रभव धमनियों का विभाजन—नाभिप्रदेश में उत्पन्न इन धमनियों से ऊपर की ओर को जाने वाली दस, नीचे की ओर को जाने वाली दस और तिरछी (तिर्यक्) जाने वाली चार धमनियाँ हैं॥ ४॥

विमर्श—धमनियों की उत्पत्ति, उनके प्रसार की दिशा, संख्या आदि पाश्चात्य वैद्यक के वर्णन से मेल नहीं खाता है।

ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन्विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफ-शोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां भाषते च, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिन्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च॥ ५॥

ऊर्ध्वग धमनियों के विशिष्ट कर्म—ऊपर की ओर को जाने वाली धमनियाँ शब्द (Impulses of sound), स्पर्श, रूप (Vision), रस (Taste), गन्ध, प्रश्वास (प्रश्वासोऽन्तःप्रविशद् वायुः/Inspiration), उच्छ्वास (ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद् वायुः/Expiration), जृम्भित (जम्भाई/Yawning), क्षुत् (छींक/Sneezing), हसित (हँसना/Laughing), कथित (Speech), रुदित (रोना) आदि विशिष्ट कार्यों को करती हुई शरीर को धारण करती हैं। जब ये धमनियाँ हृदय में पहुँचती हैं तो तीन भागों में विभक्त हो जाती हैं। इस प्रकार इनकी संख्या तीस हो जाती हैं। इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस प्रत्येक का दो-दो धमनियाँ वहन करती हैं जिनकी कुल संख्या दस हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध—इनमें से प्रत्येक का दो-दो धमनियाँ वहन करती हैं जो कुल संख्या में आठ हैं। दो धमनियाँ बोलने के काम के लिए, दो अव्यक्त (Rhythmic phonation) शब्द के लिए, दो सोने के लिए, दो जागने (Keeping awake) के लिए, दो आँसु बहाने के लिए, दो स्त्रियों के स्तनों से दूध निकालने के लिए और पुरुषों में स्त्रियों के स्तनों की तरह शुक्र के वहन के लिए हैं।

इन धमनियों में इस प्रकार तीस का विभाग सहित वर्णन किया गया है। इनके द्वारा नाभि से ऊपर उदर, पार्श्व, पृष्ठ, छाती, कन्धे, ग्रीवा तथा बाहु का धारण एवं वृद्धि होती है॥ ५॥

विमर्श—**'भाषत इति'**—'ताल्वादिस्थानव्यापारनिष्पादिताकारादिवर्णव्यक्तियुक्तं शब्दं करोति। (भाष् व्यक्तायां वाचि), घोषश्च तद्विपरीतोऽव्यक्तः शब्दः। द्वाभ्यां स्वपिति, तमोविषयाभ्याम्, सत्त्वविषयाभ्यां तु बुध्यते। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरादयो धार्यन्ते अङ्गादिभिः सहैताभिरुदरादीनां बन्धनेन दृढीकृतत्वात्, वातादिवहनेनैव चैताभिरेव याप्यन्ते' (ड.)।

अर्थात् तमोबहुल दो धमनियाँ नींद लाने तथा सत्त्वबहुल दो धमनियाँ जगाने का काम करती हैं। ये धमनियाँ उदरादि को बाँधे रखती हैं और वातादि के वहन द्वारा उनकी वृद्धि करती हैं।

भवति चात्र—

ऊर्ध्वङ्गमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः। अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम्॥ ६॥

ऊपर जाने वाली धमनियाँ इन कार्यों को पूर्णतः करती हैं और नीचे जाने वाली धमनियों के कर्मों का यथावत् वर्णन किया जायेगा॥ ६॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्रपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गानां च रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विरेचयन्ति; आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वे अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्यग्गामिनीनां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति; तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च॥ ७॥

अधोग धमनियों के कर्म—अधोगा (नीचे की ओर जाने वाली) धमनियाँ वात, मूत्र, पुरीष (Faeces), शुक्र (Seminal fluid), आर्तव (Menstrual blood) आदि को नीचे की ओर को ले जाती हैं। ये धमनियाँ पित्ताशय में जाकर वहाँ पर स्थित अग्नि से विपक्व अन्नपानरस को पृथक् करती हैं, उसका वहन करती हैं, शरीर का तर्पण करती हैं, ऊर्ध्वगत तिर्यक् धमनियों को रस पहुँचाती हैं तथा रसस्थान को पूरित करती हैं (अयमभिप्रायः–'आमपक्वाशये अधोनाभेरेवमन्नरसो वर्तुलीकृतो रसस्थानस्य पूरणं ततश्चोर्ध्वगाभिस्तिर्यगाभिश्च तत्र तत्रोपनीयते इति सकलशरीरतर्पणमधोगतानामेव कर्म; रसस्थानं हृदयम्')। ये धमनियाँ मूत्र, पुरीष और स्वेद का विरेचन करती हैं (अर्थात् पृथक् करती हैं;) तथा आमाशय और पक्वाशय के मध्य आकर तीन-तीन भागों में विभक्त हो जाती हैं। इस प्रकार ये संख्या में तीस (१० × ३ = ३०) हो जाती हैं।

इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस का वहन करने वाली दो-दो धमनियाँ हैं। इस प्रकार इनकी कुल संख्या दस हैं। अन्न का वहन करने वाली अन्त्र के आश्रित दो धमनियाँ हैं, जल का वहन करने वाली दो धमनियाँ हैं, मूत्रबस्ति में स्थित मूत्र का वहन करने वाली दो तथा शुक्र का निर्माण करने वाली दो एवं शुक्र का वहन (Ejaculation) करने वाली भी दो धमनियाँ हैं। स्त्रियों में ये ही दो धमनियाँ आर्तवसंज्ञक रक्त का अभिवहन और विसर्जन करती हैं। स्थूलान्त्र से लगी हुई (In relation to the large intestine) दो धमनियाँ हैं जो वर्चोनिरसनी (Defecation) अर्थात् मलत्याग का कार्य करती हैं। तिरछी (तिर्यक्) जाने वाली धमनियों के द्वारा स्वेदग्रन्थियों को पोषण पहुँचाने वाली आठ धमनियाँ हैं। इस प्रकार इन धमनियों की कुल संख्या तीस है।

इस प्रकार तीन अधोगा धमनियों का सविभाग वर्णन किया गया है। ये धमनियाँ नाभि से नीचे पक्वाशय, कटि, मूत्र, पुरीष, गुद, बस्ति, मेढ्र और सक्थि (टाँग) को धारण किये हुए होती हैं और पोषण प्रदान करती हैं॥ ७॥

विमर्श—तोयवहे द्वे—'द्वे अन्नवाहिन्यौ अन्नाश्रिते नहि पित्ताशये रसमूत्रपुरीषभावेन विविच्यमानस्य आहरस्यान्नभावोऽस्ति, नापि तोयस्य तोयभावना, तेन तोयमत्र भविष्यतो मूत्रस्य कारणभूतं पक्वाहारविवेकजं द्रवमयमुदकमिवोदकं, तदपि द्वे एव वहतः, तदुदकं बस्तिविवरप्राप्तं मूत्रमित्युच्यते। ते तु द्वे मूत्रबस्तिसम्बद्धे एव, एवमन्नमत्र भविष्यत् किट्टस्य कारणभूतम् पक्वाहारविवेकजं घनमन्नमिवान्नं, तदपि द्वे एव वहतः, तदेवोण्डुकप्राप्तं पुरीषमित्युच्यते' (ड.)। अर्थात् उदकवह दो धमनियों का जल मूत्र-निर्माण के काम आता है।

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः। तिर्यग्गाः सम्प्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम्॥ ८॥

श्लोक भी है—अधोगा धमनियाँ इन उपरोक्त कार्यों को करती हैं। तिर्यग्गा धमनियों के कार्यों का जैसा है वैसा वर्णन किया जायेगा॥ ८॥

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्व-सङ्ख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तः शरीर-मभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णीते। तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः॥ ९॥

तिर्यग्गत धमनियों के कर्म—चारों तिर्यक् (Four obliquely running) धमनियों में प्रत्येक सैकड़ों-हजारों भागों में उत्तरोत्तर विभक्त होती चली जाती हैं। इस प्रकार ये धमनियाँ असंख्य हो जाती हैं और उनसे यह शरीर जालों से व्याप्त और चारों ओर से बन्धा हुआ तथा विस्तृत होता है। इनके मुख (Terminal openings) रोमकूपों (Hair follicle) से बन्धे होते हैं और स्वेद का वहन करते हैं तथा ये अन्दर और बाहर पोषण (Nutrition) पहुँचाते हैं ('रसम्, रसधातुम् अन्तरभ्यन्तरे यैर्मुखैः सम्यक् परिणताहाररसवाहिभिः')। इन्हीं सिरामुखों द्वारा अभ्यंग (Oily anointments), परिषेक (Irrigation), अवगाहन (Immersion baths) और आलेपन द्रव्यों का वीर्य त्वचा में परिपक्व होकर शरीर के अन्दर पहुँचता है। इनके द्वारा ही स्पर्श के सुख और दुःख का ग्रहण होता है ('तैरेव मनोऽनुगतैः सुखासुखरूपं स्पर्शं कर्मात्मा गृह्णीते')। इस प्रकार सम्पूर्ण अंगों में फैली हुई विभाग सहित इन तिर्यग्गत चार तरह की धमनियों का वर्णन समाप्त हुआ॥ ९॥

भवतश्चात्र—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च। धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते॥ १०॥

धमनियों की सुषिरता का हेतु—जिस प्रकार कमल के डण्ठल (Stem) और मूल (बिस/Stalk) में स्वभाव से ही नालियाँ (Natural channels) होती हैं उसी प्रकार धमनियों के सुषिर मार्ग होते हैं जिनसे रस ले जाया जाता है॥ १०॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥ ११॥

धमनियों का शरीर और आत्मा से सम्बन्ध—ये पाञ्चभौतिक धमनियाँ पाञ्चभौतिक ज्ञानेन्द्रियों में पाँच प्रकार से पृथक्-पृथक् व्याप्त हैं और जीवित मनुष्य की आत्मा को पाञ्चभौतिक शरीर से जोड़ती

हैं तथा इस संयोजन (Union) को जीवन भर बनाये रखती हैं। मृत्यु के समय धमनियों, पञ्चेन्द्रियों, आत्मा और पाञ्चभौतिक शरीर का यह संयोजन टूट जाता है और पाँच महाभूतों में विलीन हो जाता है॥ ११॥

विमर्श—इस श्लोक में उसी पूर्व वर्णित विषय का सूक्ष्मता से विवरण दिया गया है जिसका उल्लेख सूत्रस्थान में विस्तार से किया गया है। यहाँ 'पञ्च' शब्द का एक ही श्लोक में सात बार प्रयोग हुआ है जिससे वास्तविक अर्थबोध में दुरूहता का आभास होता है। इस श्लोक में एक विशेष बात यह कही गयी है कि इन्द्रियाँ, शरीर एवं आत्मा को परस्पर मिलाने का कार्य धमनियाँ करती हैं जबकि प्रचलित सिद्धान्त में यह कार्य मन का है ('आत्मा मनसा युज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततः ज्ञानोत्पत्तिर्भवति')।

मूल में पाठभेद कर अर्थभेद होना स्वाभाविक है। डल्हणानुसार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है— 'एतेनैतदुक्तं भवति—आकाशादिपञ्चभूतसमुत्पन्नाः धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु पञ्चवारान् भावयन्ति, ततश्च इन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य विनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति'।

लगभग इसी प्रकार के अर्थ को गयी ने कुछ भिन्नता के साथ वर्णित किया है जो डल्हण द्वारा उद्धृत है।

सिराओं की तरह धमनियाँ भी केवल 'Arteries' ही नहीं हैं अपितु इनके नाना प्रकार के कार्य हैं (तन्त्रान्तरे—'रसवहा न कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा। शब्दादिग्रहणोच्छ्वासनिःश्वासवचनानि च॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चसु। तत् संख्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम्॥ शरीरे हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चतत्त्वावशेषत्वात् पञ्चतां गतमुच्यते)॥

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीष-शुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः। तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याक्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति; अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च; उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च; रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं, तल्लिङ्गानि च; रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च; मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च; मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च; मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च, तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च; पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च, तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च; शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च; आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च; सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः; बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्त-मिति। स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत्, उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत्॥ १२॥

स्रोत तथा उनके विद्ध होने पर लक्षण—अब इसके उपरान्त स्रोतों के मूल विद्ध (Penetrating injuries of the roots) होने पर उत्पन्न लक्षणों का उपदेश किया जायेगा। ये स्रोत इस प्रकार हैं— १. प्राणवह स्रोत, २. अन्नवह (Food carrying) स्रोत, ३. उदकवह (Water carrying) स्रोत, ४. रसवह स्रोत, ५. रक्तवह स्रोत, ६. मांसवह (Flesh carrying) स्रोत, ७. मेदोवह स्रोत, ८. मूत्रवह (Urine carrying) स्रोत, ९. पुरीषवह (Faeces carrying) स्रोत, १०. शुक्रवह (Semen carrying) स्रोत और ११. आर्तववह (Menstrual blood or ovum carrying) स्रोत।

भगवान् धन्वन्तरि के मत से इतने ही स्रोत हैं और इनके भाग-उपभाग बहुत-से हैं। कुछ आचार्य स्रोतों की इससे अधिक संख्या बताते हैं।

१. इन स्रोतों में प्राणवह स्रोत दो हैं। इनका मूल (Origin) हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने से क्रोशन (वेदना के मारे चिल्लाना/Wailing), विनमन (मुड़ जाना/Bending of body), मोहन (मूर्च्छा होना/Stupor), भ्रमण (चक्र आना/Vertigo), वेपन (काँपना/Shivering) या मृत्यु हो जाती है।

२. अन्नवह स्रोत दो हैं। इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर रोगी को आध्मान (Tympanitis), शूल (Colic), अन्नद्वेष (Aversion to food), वमन, प्यास, आन्ध्य (Dimness of vision) या मृत्यु हो जाती है।

३. उदकवह स्रोत दो हैं। इनका मूल तालु और क्लोम हैं। इनके विद्ध होने पर पिपासा और सद्योमरण होते हैं।

४. रसवह स्रोत दो हैं और उनका मूल हृदय और रसवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने के लक्षण शोष तथा मरण हैं। शेष लक्षण प्राणवह स्रोतों के विद्ध होने जैसे हैं।

५. रक्तवह स्रोत दो हैं तथा इनके मूल यकृत्, प्लीहा तथा रक्तवाहिनी धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर श्यावांगता (Black discolouration of the body), ज्वर, दाह, पाण्डुता (Anaemia), रक्त का अधिक निकल जाना (Haemorrhage) और नेत्र लाल होते हैं।

६. मांसवह स्रोत दो हैं। इनके मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवह धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर शोथ, मांसशोष (Atrophy of muscles), सिराग्रन्थियाँ (Varicosity of veins) और मृत्यु होते हैं।

७. मेदोवह स्रोत दो हैं और इनके मूल कटि (Waist region) एवं दोनों वृक्क हैं। इनके विद्ध होने पर पसीना आना, अंगों में स्निग्धता, तालुशोष, भारी सूजन और पिपासा होते हैं।

८. मूत्रवह स्रोत दो हैं और इनके मूल बस्ति और शिश्नेन्द्रिय हैं। इनके बिद्ध होने पर आनद्धबस्तिता (Distension of the bladder/बस्ति का फूल जाना), मूत्रनिरोध (Retention of urine) और स्तब्धमेढ्रता (Stiffness of the penis) होते हैं।

९. पुरीषवह स्रोत दो हैं और इनके मूल पक्वाशय (Colon) और गुद (Rectum) हैं। इनके विद्ध होने पर आनाह (Distension of the abdomen), दुर्गन्ध आना (Foul smell) और ग्रथितान्त्रता (Matting of intestines) होते हैं।

१०. शुक्रवह स्रोत दो हैं और इनके मूल दोनों स्तन और दोनों वृषण (Testes) हैं। इनकी क्षति होने पर क्लीबता (Impotency/नपुंसकता), शुक्र का देर से निकलना (Delay in discharge of the semen) और शुक्र के साथ रक्त का आना होते हैं।

११. आर्तववह स्रोत दो हैं। इनके मूल गर्भाशय और आर्तववह धमनियाँ हैं। इनके विद्ध होने पर बन्ध्यत्व (Sterility), मैथुन को सहन न कर पाना (Dyspareunia) और आर्तवनाश (Absence of menstruation) होते हैं।

सेवनीच्छेदन (Injury to the perineal raphe) होने पर वेदना होती है और बस्ति तथा गुद के वेधन होने जैसे लक्षण होते हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

स्रोतोविद्ध होने पर रोगी का उपचार प्रत्याख्येय (चिकित्सा-परिणाम के बारे में बताकर) चिकित्सा करनी चाहिए। जिसका शल्य निकाल दिया है उसकी चिकित्सा क्षतविधान (व्रणवत्) से करें॥ १२॥

स्रोतोविद्ध लक्षण

स्रोतो नाम	संख्या	उत्पत्तिस्थान	स्रोतोविद्ध के लक्षण
१. प्राणवह	२	हृदय, रसवाहिनी धमनियाँ	क्रोशन, विनमन, मोहन, भ्रमण, वेदन, मृत्यु।
२. अन्नवह	२	आमाशय, अन्नवह धमनियाँ	आध्मान, शूल, अन्नद्वेष, वमन, प्यास, मृत्यु।
३. उदकवह	२	तालु, क्लोम	पिपासा, सद्योमरण।
४. रसवह	२	हृदय, रसवाहिनी धमनियाँ	शोष और प्राणवह स्रोत के समान लक्षण।
५. रक्तवह	२	यकृत्, प्लीहा, रक्तवाहिनी धमनियाँ	श्यावांगता, ज्वर, दाह, पाण्डुता, अतिरक्तास्राव, रक्तनेत्र।
६. मांसवह	२	स्नायु, त्वचा, रक्तवह धमनियाँ	शोथ, मांसशोष, सिराग्रन्थि, मृत्यु।
७. मेदोवह	२	कटि, वृक्क	स्वेद, स्निग्धता, तालुशोष, शोथ, पिपासा।
८. मूत्रवह	२	बस्ति, मेढ्र	आनद्धबस्तिता, मूत्रनिरोध, स्तब्धमेढ्रता।
९. पुरीषवह	२	पक्वाशय, गुद	आनाह, दुर्गन्ध, ग्रथितान्त्रता।
१०. शुक्रवह	२	दोनों स्तन, दोनों वृक्क	क्लीबता, चिरात् प्रसेक, रक्तशुक्रता।
११. आर्तववह	२	गर्भाशय, आर्तववह धमनियाँ	वन्ध्यत्व, मैथुनासहिष्णुत्व, आर्तवनाश।

भवन्ति चात्र—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्। स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥ १३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणशारीरं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥



स्रोत का लक्षण—स्रोत उसे समझना चाहिए जो सिरा तथा धमनियों से भिन्न हो तथा जो मूल ख (Main cavity) से निकलकर, वहाँ से आरम्भ होकर सारे शरीर में फैला हुआ होता है और जो रस का वहन करता हो॥ १३॥

विमर्श—चरकोक्त स्रोतोलक्षण—'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च'॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'धमनीव्याकरणशारीर' नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ९॥



अध्याय-सारांश

'धमनीव्याकरणशारीर' नामक इस अध्याय में—धमनियों एवं स्रोतों के सम्बन्ध में वर्णन है और धमनी, सिरा और स्रोतस् अलग-अलग हैं, यह प्रतिपादित भी किया है (३)।

नाभि से प्रकट हुई इन धमनियों में १० ऊर्ध्वगा, १० अधोगा और ४ तिर्यग्गा (इस प्रकार २४) हैं (४), इसी प्रसंग में ऊर्ध्वग धमनियों के कार्यों का उल्लेख है (५)।

इसी प्रकार अधोग धमनियों के अलग-अलग कार्यों का विवरण भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है, कार्यों का विवरण भी तिर्यग्गा धमनियों के स्वेदवहन, रस से तर्पण, स्पर्शास्पर्श की जानकारी आदि कार्य बताये गये हैं (७)।

पञ्चभूतात्मक ये धमनियाँ इन्द्रियों एवं पञ्चमहाभूतों तथा आत्मा को परस्पर सम्बन्धित करती हैं और इस सम्बन्ध के टूटने पर मृत्यु हो जाती है (११)।

स्रोतों का विवरण विस्तार से है, स्रोतों के शरीर में स्थान, उनके बिद्ध होने पर होने वाले लक्षणों का विस्तार से वर्णन है, जैसे—प्राणवह दो स्रोत हैं। इनका मूल हृदय है, इसके विद्ध होने पर क्रोशन (आर्तस्वर), विनमन, मरण आदि लक्षण होते हैं (१२)।

अन्त में स्रोत की परिभाषा दी है और यह बताया है कि किस प्रकार ये सिरा और धमनियों से भिन्न रचना है (१३)।



दशमोऽध्यायः

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'गर्भिणीव्याकरणशारीर' (Anatomical Considerations and Care of the Pregnant) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयशस्करांश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि सेवेत, न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसम्बाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रवमधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥ ३ ॥

गर्भिणी के लिए नियम—गर्भधारण (Conception) के पहले दिन से ही गर्भिणी (Pregnant women) को चाहिए कि वह नित्य प्रसन्नचित्त रहे, स्वच्छ तथा आभूषणों से युक्त और श्वेत वस्त्र धारण करे। इसी प्रकार ब्राह्मण, शान्ति, मंगल, देवता एवं गुरु इनके पूजन एवं आदेशों के पालन में तत्पर रहे। ऐसे प्राणियों का स्पर्श न करे जो मलिन, विकृत तथा हीन गात्र वाले (Maimed persons) हों। उनका भी परित्याग करे जो दुर्गन्धयुक्त और देखने में भद्दे (Bad scenes) लगते हों। उद्वेजनीय (मन को उद्विग्न करने वाली) कथाएँ और ऐसा अन्न जो सूखा हुआ, बासी, दुर्गन्धयुक्त और क्लिन्न हो, प्रयोग में न लाये। इसी प्रकार बाहर निष्प्रयोजन घूमना, एकान्त, खाली मकान, चैत्य ('देवताधिष्ठितो वृक्षः, अन्ये बौद्धालयमाहुः'), श्मशान (Cremation ground) और ऐसे स्थानों में उगे वृक्षों की छाया, क्रोध तथा अपयश लाने वाले कार्यों का भी परित्याग करे। भार उठाना और ऊँचे बोलना भी निषिद्ध है। इनके अतिरिक्त गर्भिणी के लिए वह सभी कुछ त्याज्य है जिससे गर्भ को हानि पहुँचने की सम्भावना हो। तैलाभ्यङ्ग और उद्वर्तन (उबटन) का अधिक उपयोग न करे, शरीर को थकाये नहीं, गर्भावक्रान्तिशारीर नामक (तृतीय) अध्याय में वर्णित ग्राम्यधर्म, यानवाहन आदि का भी परित्याग करे। गर्भिणी का आसन (Seat), शयन (Bed) मृदु वस्त्र से ढके होने चाहिए, शय्या अधिक ऊँची न हो, आश्रय (Support) की व्यवस्था हो और बाधारहित (Comfortable) हो। गर्भिणी का भोजन हृद्य (ओजस्यत्वात्), द्रव (जीवनीयत्वात्), मधुरप्राय ('सकलशरीरधातूनां सात्म्यत्वात् उपयोजनीयम्'), स्निग्ध (घृतादियुक्त), दीपनीय द्रव्यों से संस्कृत ('द्रवादीनामग्निमान्द्यहेतुत्वात्तत्प्रतिकारार्थम्') होना चाहिए। ये सामान्य नियम हैं जिनका पालन प्रसव होने तक करना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्श—इस सूत्र में गर्भिणी की 'जन्मपूर्व देखभाल' (Antenatal care) की चर्चा है जो 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्' का ही अंग है। इसमें गर्भिणी को मानसिक और शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ रखना उसकी दैनिक दिनचर्या, आहार-विहार आदि का उल्लेख है जिनका पालन प्रसव होने तक करना होता है। कुछ इसी तरह की चर्चा पहले भी और कुछ अगले सूत्रों में भी की गयी है। इन नियमों के पालन का उद्देश्य गर्भिणी के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखना है जिससे गर्भ प्रसव तक स्वस्थ बना रहे,

प्रसवकाल की कठिनाइयाँ और उपद्रव न होने पायें, जीवित और स्वस्थ शिशु का जन्म हो और माता को बच्चे की देखभाल करने योग्य बनाये रखना है।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियमबद्ध क्रम से गर्भिणी का महीने-पन्द्रह दिन में परीक्षण होते रहना चाहिए। यह इतिवृत्त भी जानें कि क्या गर्भिणी कभी स्कार्लेट ज्वर, रीयुमेटिक ज्वर, रुबैल्ला, कोरिया या जीर्ण वृक्क व्याधियों से पीड़ित रही है? कभी रुधिराधान (Blood transfusion) कराया है?

बार-बार गर्भपात, समय से पूर्व बार-बार प्रसव होना, मृत शिशु का जन्म या मसृण गर्भ (Macerated foetus) का इतिवृत्त हो तो सिफिलिस, जीर्णवृक्क व्याधि या 'Rhesus incompatibility' होना सम्भव है। इसी प्रकार मूत्र में एल्ब्युमिन का आना, आर्द्र शोथ (Oedema), आक्षेप आदि का इतिहास मिले तो विशेष सावधानी से परीक्षण की आवश्यकता होती है। श्रोणिसंकोच (Pelvic contraction) और अस्थिविरूपता (Bony deformity) के बारे में भी जाने।

इस सूत्र में गर्भिणी की भोजन-व्यवस्था का सामान्य वर्णन है। अगले सूत्रों के विमर्श में इसकी विशेष चर्चा की गयी है।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत; विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्, चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषेत्येके; चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं च भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः; अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणा-स्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमे-दाप्रसवकालात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते ॥ ४॥

गर्भिणी का मासानुमासिक भोजन क्रम (Monthwise diet schedule)—गर्भिणी पहले, दूसरे और तीसरे महीने में मधुर, शीत और द्रवबहुल आहार का विशेष रूप से सेवन करे। विशेषकर तीसरे महीने में षष्टि के चावलों को दूध के साथ खिलायें। चतुर्थ मास में दही के साथ, पाँचवें मास में दूध से और छठे मास में घी के साथ साठी के चावल खिलायें—ऐसा किन्हीं का मत है। चतुर्थ मास में दूध और मक्खन मिला आहार दें, जांगल प्राणियों के मांसरस युक्त मन को प्रिय लगने वाले अन्न खिलायें। पाँचवें माँस में दुग्ध और घृतयुक्त, छठे मास में गोखरू से सिद्ध घृत की समुचित मात्रा को दूध से दें या यवागू खिलायें। सप्तम मास में पृथक्पर्ण्यादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत पिलायें। इस प्रकार के पथ्यसेवन से गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है। आठवें मास में बेर के पेड़ की छाल के काढ़े में बला, अतिबला, सौंफ, पलल (तिलकल्क), दूध, दधिमस्तु, तिलतैल, लवण, मैनफल, मधु और घृत मिलाकर आस्थापन बस्ति दें; इससे रुका हुआ मल निकल जाता है और वायु का अनुलोमन होता है। इसके उपरान्त दूध और मधुर द्रव्यों के कषाय से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति दें; इससे वायु का अनुलोमन होता है और उपद्रवरहित प्रसव सुखपूर्वक सम्पन्न होता है। तत्पश्चात् प्रसव होने तक गर्भिणी को स्निग्ध यवागू और मांसरस का सेवन करायें। गर्भिणी की इस प्रकार परिचर्या करने पर वह स्निग्ध और बलवती होकर बिना किसी प्रकार के उपद्रवों के सुखपूर्वक प्रसव करती है ॥ ४॥

विमर्श—इस सूत्र में गर्भिणी के आहार में घृत, दुग्ध, मांस आदि की उपस्थिति को इस प्रकार भी वर्णित किया जा सकता है—इस आहार में प्रोटीन और खनिजों की मात्रा गर्भ की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली होनी चाहिए। वसा, कैल्शियम, विटामीन 'ए' और 'डी' की मात्रा भी पर्याप्त होनी

चाहिए। कार्बोहाइड्रेट की मात्रा इतनी ही होनी चाहिए जिससे गर्भिणी का शरीरभार अनावश्यक रूप से न बढ़ने पाये। शारीरभार की जाँच करते रहना चाहिए।

यह तथ्य सामने आया है कि असन्तुलित आहार (Poor quality diet) समयपूर्व प्रसव (Premature labour), मृतजात (Still birth) और विषाक्तता (Toxaemia) का हेतु है। भोजन में विटामिन्स और आयरन मिला देने से ऐसी घटनाएँ काफी कम हो जाती हैं।

प्रोटीनबहुल मांस, दुग्ध आदि आहार के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैद्यक की सम्मति देखिए—

'Protein should be increased and at least two-thirds of the protien should be of animal origin, i.e. meat, milk, eggs, cheese and fish'—T.T. Obstetrics.

'स्निग्धाभिश्च यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेत्—आप्रसवकालात्' (सु.शा. १०।४)।

गर्भावस्था के बाद के महीनों में कैल्शियम, फॉस्फोरस और आयरन की मात्रा वृद्धिशील गर्भ की आवश्यकताओं को देखते हुए बढ़ा देनी चाहिए। आयरन (Iron) की आवश्यकता को जानने के लिए रक्त में हीमोग्लोबीन की जाँच करते रहना चाहिए। गर्भावस्था के द्वितीयार्ध में ५-१० मि.ग्रा. प्रतिदिन फोलिक एसिड भी देते रहना चाहिए।

सुश्रुत के कथन—'न चायासयेच्छरीरम्' का अभिप्राय यह है कि मृदु आयास (टहलना, घर का काम करना आदि) गर्भिणी के लिए आवश्यक हैं किन्तु हानिकर प्रकार (Violent nature) का व्यायाम नहीं करना चाहिए ('दारुणानुचितव्यायामसेविन्याः'–च.शा. ८।२२)।

गर्भावस्था में कोष्ठबद्धता भी एक समस्या है। इस अवस्था में तीव्र विरेचन निषिद्ध है। सुश्रुत में इस समस्या के समाधान के लिए निरूहण बस्तियों का विधान है। महीने में एक बार ३२ सप्ताह तक गर्भिणी के मूत्र की शर्करा और एल्ब्युमिन के लिए जाँच करते रहना चाहिए। इसी प्रकार रक्तभार की भी परीक्षा करते रहना आवश्यक है। इससे विषाक्तावस्था की जानकारी पहले ही प्राप्त की जा सकती है।

मैथुन (Coitus)—गर्भाधान के प्रारम्भिक १२ सप्ताहों के समय में मैथुन करने से गर्भपात (Miscarriage) की सम्भावना रहती है। अतः मैथुन निषिद्ध है। अन्तिम मास में मैथुन से संक्रमण होना सम्भव है ('चतुष्प्रभृतिषु मासे क्रोधशोकासूयेर्ष्याभयत्रासव्यवायव्यायामसंक्षोभसन्धारणविषमासनशयनस्थानक्षुत्पिपासातियोगात् कदाचिद् वा पुष्पं पश्येत्'–च.शा. ८।२४)।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ते तिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितसर्वागारं यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कं समुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसम्पन्नं विधेयम्॥ ५॥

सूतिकागार-वर्णन—अनुकूल मुहूर्त, तिथि आदि का विचार कर गर्भिणी को नवम मास (Of gestation) में सूतिकागार (Maternity home) में प्रविष्ट करा देना चाहिए। वह सूतिकागार ब्राह्मण जाति की गर्भिणी के लिए श्वेत वर्ण की, क्षत्रिय के लिए रक्त वर्ण की, वैश्य के लिए पीत वर्ण की और शूद्र गर्भिणी के लिए कृष्ण वर्ण की भूमि पर बनायें। शय्या भी ब्राह्मण के लिए बिल्व, क्षत्रिय के लिए गूलर, वैश्य के लिए तिन्दुक और शूद्र के लिए भिलावे के काष्ठ की बनायें। इसकी (Of the labour room) दीवारें लिपी-पुती होनी चाहिए। इसमें सभी आवश्यक वस्तुओं को सुसज्जित कर रखा गया हो तथा जिसके द्वार पूर्व या दक्षिण दिशा की ओर को हों। यह प्रसूतिकागार आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा होना चाहिए तथा इसमें रक्षा एवं मंगल कार्यों के लिए भी प्रबन्ध होना चाहिए॥ ५॥

विमर्श—चरक (शा. ८) में जन्मोपायकथन (जातिसूत्रीय) के प्रसंग में गर्भिणी सम्बन्धी विषयों का विस्तार से उल्लेख है। चरक कहते हैं कि गर्भिणी सूतिकागार में प्रविष्ट होकर प्रसव काल की प्रतीक्षा करे। प्रसवकाल में किस तरह के सामान, औषधियाँ, उपकरण आदि की आवश्यकता होती है, इसकी भी सूची दी है जिसमें 'शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि', 'द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ' आदि सब कुछ है। आजकल प्रसव सम्बन्धी और भी अधिक जानकारी होने तथा रुधिराधान, सीजेरियन जैसे शल्यकर्मों के उपकरण उपलब्ध होने से उनकी भी आवश्यकता होने पर व्यवस्था को ध्यान में रखा जाता है। सम्प्रति Sterile towels, dressings, antiseptics आदि की व्यवस्था भी की जाती है।

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने। सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥ ६ ॥

प्रजायिनी का लक्षण—जब गर्भवती की कुक्षि (Flanks) शिथिल हो जाय, हृदय पर पड़ा हुआ दबाव हट जाय तथा जघनप्रदेश (Waist) में वेदना होने लगे तो उसे प्रजायिनी (प्रसवमना/Nearing the time of delivery) समझे ॥ ६ ॥

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥ ७ ॥

आसन्नप्रसवा के लक्षण—जब प्रसवकाल और भी समीप आ जाता है (आसन्नप्रसवा/When parturition is very near) तो कटिपृष्ठ (Waist and round the back) के चारों ओर तीव्र वेदना होती है, बार-बार मलत्याग (Defaecation) तथा मूत्रत्याग (Micturition) की इच्छा होना और योनिमुख से श्लेष्मा का स्राव (Mucus discharge) होता है ॥ ७ ॥

विमर्श—प्रसव के आरम्भ होने के लक्षण और चिह्न तीन प्रकार के होते हैं— १. वेदना, २. गर्भाशय-ग्रीवा का छोटा और विस्तृत होना तथा ३. प्रसवसूचक स्राव (Show/'योनिमुखात् श्लेष्मा च'–सु.)।

(१) वेदना (Pain)—'कटीपृष्ठं प्रति समन्तात् वेदना' (सु.)। परिपूर्णांग गर्भ को बाहर निकालने के लिए गर्भाशय रुक-रुक कर संकुचित होता है और प्रत्येक संकोच के साथ गर्भाशयग्रीवा फैलती जाती है। गर्भाशय के संकोचों के मध्य लगभग २० मिनट का अन्तर होता है। गर्भाशयसंकोच के समय होने वाली वेदना अनैच्छिक (Involuntary), सन्दमी (Inhibitable), परिसरणीय (Peristaltic) और सविरामी (Intemittent) होती है। जैसे हृदय-पेशी को पर्याप्त रक्त न मिलने पर हृच्छूल होता है, उसी प्रकार संकोचकाल में गर्भाशय-मांसपेशी को रक्त न मिलने पर प्रसवकालीन वेदनाएँ होती हैं। ये वेदनाएँ रुक-रुक कर न होकर लगातार रहें अर्थात् गर्भाशयसंकोच निरन्तर रहे तो प्राणवायु के अभाव में गर्भ की मृत्यु होना सम्भव है।

(२) गर्भाशयग्रीवा के छोटे होने और विस्तृत होने से प्रसव के आरम्भ होने की सूचना मिलती है। विस्तृत हुई गर्भाशयग्रीवा में अंगुली प्रविष्ट कर यदि गर्भाशयकला का फूला हुआ भाग स्पर्श किया जाता है तो प्रसव का आरम्भ होना समझा जाता है।

(३) 'योनिमुखात् श्लेष्मा च' (सु.); प्रसवसूचक स्राव (Show)—यह श्लैष्मिक (Mucus) स्राव गर्भाशयग्रीवा से आता है। इसमें कुछ रक्त मिला हो सकता है। इसकी अनुपस्थिति में भी प्रसव का आरम्भ होना सम्भव है।

प्रसव के लिए गर्भिणी को, चरक के अनुसार जमीन पर पीठ के सहारे लिटाना चाहिए ('आवीप्रादुर्भावे भूमौ शयनं विदध्यात्'–शा.)।

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदक-परिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्, ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थिता-माभुग्रसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयु-रिति॥ ८॥

प्रसव की प्रथमावस्था (First stage of labour)—जिसके प्रसव होने ही वाला हो (या हो रहा है/Ready for delivery) उसे मंगल, स्वस्तिवाचन के उपरान्त, कुमारों (Male children) से घिरी हुई तथा जिसके हाथ में पुन्नाम फल (Fruits of masculine name) हों और तैलाभ्यंग की हुई एवं उष्णोदक से सिंचन की गयी को (या उष्णोदक से स्नान करायी गयी को) भली प्रकार तैयार की गयी यवागू का आकण्ठ (Be fedfully) पान करायें। उसके उपरान्त गर्भिणी को मृदु और विस्तृत शय्या पर तकिया लगाकर तथा टाँगें सिकोड़ कर पीठ के सहारे (Made to lie supine with the lower extrimity flexed) लिटा दें। उसकी परिचर्या के लिए उसके पास चार ऐसी बड़ी उम्र की और प्रसवकर्म में कुशल स्त्रियाँ होनी चाहिएं जिनके ऊपर गर्भिणी को पूर्ण विश्वास हो। इन स्त्रियों के नाखून भी कटे हुए होने चाहिए॥ ८॥

विमर्श—प्रसव की प्रथमावस्था (First stage of labour)—इसमें गर्भाशयकला (Membrane) विदीर्ण हो चुकी होती है। इसे प्रसवारम्भ का सूचक समझा जाता है। जब गर्भाशय संकुचित होता है तो अन्तर्गर्भशिय का दबाव बढ़ जाता है जिससे गर्भाशयकला एक छोटे थैले की शकल में आभ्यन्तर मुख (Internal Os) में आ जाती है, जिससे गर्भाशयग्रीवा फैल जाती है। जब तक यह थैला नहीं फटता है तब तक गर्भ और गर्भवती को कोई हानि नहीं पहुँचती है।

प्रथमावस्था के अन्त में वेदनाएँ बढ़ जाती हैं। वमन होना सामान्य बात है। गर्भाशय के संकोच के साथ ग्रीवा के फैलने से भी वेदनाएँ होती हैं। प्रसव की प्रथमावस्था गर्भाशयग्रीवा के फैलने तक सीमित है। इसमें गर्भाशयकला विदीर्ण हो जाती है।

कुमारपरिवृताम्—छोटे लड़कों का प्रसव के समय गर्भिणी के पास होने का अभिप्राय वही है जो 'पुन्नामफलहस्ता' का है। इससे पुत्र होने की उत्कट कामना प्रकट होती है।

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैनामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, न चा-प्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः, ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्; अकालप्रवाहणाद्बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुमूर्ध्वाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं कुब्जं विकटं वा जनयति॥ ९॥

प्रसवकाल में प्रवाहण में सावधानी—इस समय गर्भिणी के अपत्यमार्ग (विशिखान्तर/Parturient canal) में तैल का अन्दर से बाहर की (अनुलोमम्-यथामुखम्) ओर को अभ्यंग करें और उससे कहें—सुभगे! प्रवाहण करो (प्रवाहस्व = प्रवाहणं कुरु/Try to strain/जोर लगाओ); किन्तु आवी (प्रसववेदना/Real pain) न हो तो प्रवाहण न करे।

तदनन्तर नाड़ीप्रबन्ध के मुक्त हो जाने पर ('गर्भनाडीनां प्रकृष्टो बन्धस्तस्मिन्'/Foetal attachment being released) और श्रोणि (Pelvis), वंक्षण तथा बस्तिशिर में वेदना होने पर धीरे-धीरे प्रवाहण करे। उसके बाद गर्भनिर्गम के लिए प्रगाढ़ (तेज) प्रवाहण करे और गर्भ के योनिमुख (Outer opening of the vagina) में आने पर और भी तीव्र प्रवाहण करे जब तक कि प्रसवकर्म सम्पन्न न हो जाय। बिना आवी के प्रवाहण करने से बधिर (Deaf), मूक (Dumb), मूर्धाभिघाती (ऊर्ध्वजत्रुगतरोगिणम्), व्यस्तहनु (हनुसन्धि का विकृत होना/Defective jaw), कास, श्वास, शोष आदि उपद्रवों से युक्त, कुब्ज (कुबड़ा/Hunch backed) और विकट (विकृत अंग वाली/Somatic defects) सन्तान पैदा होती है॥ ९॥

विमर्श—इस सूत्र में **प्रसव की द्वितीयावस्था** (Second stage of labour) के प्रबन्ध की चर्चा है—द्वितीयावस्था 'Stage of expulsion of the child' भी कहलाती है। यह गर्भाशयमुख (Os uteri) के पूरी तरह विस्तृत हो जाने से लेकर शिशु के जन्म लेने तक होती है।

इस स्टेज में वेदनाएँ और अधिक तेजी से होती हैं और अधिक समय तक बनी रहती हैं। प्रथम प्रसवा में भग के फैलते समय जैसे ही गर्भ का शिर पेल्विस में से गुजरता है, तो वेदना अत्यधिक तीव्र हो जाती है और वेदना के मारे स्त्री की चीख (Cry out) निकल जाती है। गर्भाशय के प्रत्येक संकोच के साथ गर्भ का शिर धीरे-धीरे नीचे आता जाता है।

९६% प्रसवों में शिर ही पहले बाहर आता है (Vertex presentation/शीर्षोदय)। शीर्षोदय के भी कई प्रकार हैं; जैसे—Left occipito-lateral (३९%), Right occipito-lateral (२५%) आदि ('स योनिं शिरसा याति स्वभावात्प्रसवं प्रति'–च.)। शिशु के बाहर आते ही रक्तमिश्रित गर्भोदक (Liquor amnii) बड़ी मात्रा में तेजी से बाहर आता है।

प्रसव की तीसरी अवस्था (Third stage)—यह अवस्था शिशु के जन्म से लेकर अपरा (Placenta) और गर्भाशयकला (Membrane) के निकल जाने तथा गर्भाशय द्वारा प्रतिगमन (Retraction) के उपरान्त इससे Blood sinuses के भली प्रकार दब जाने तक होती है। शिशु के जन्म लेने के पश्चात् अपरा और कला ही गर्भाशय में रह जाते हैं। अपरा के साथ कला भी कुछ ही समय में बाहर आ जाती है। इसके साथ ही कुछ औंस रुधिर भी बाहर आता है। सामान्य प्रसव में लगभग २८० मि.ली. (१० औंस) रक्त निकलता है (इसका आधा अपरा से पहले और आधा अपरा के निकलने के बाद)। प्रथमप्रसवा में साधारणतः ८-१६ घण्टे और अनेकप्रसवा में ४-८ घण्टे का समय लगता है। प्रथमप्रसवा की प्रथमावस्था (First stage) ७-१४ घण्टे का समय ले लेती है।

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत् प्राञ्जलमाकर्षेत्॥ १०॥

गर्भ के प्रतिलोम होने पर उपाय—प्रतिलोम उदय (Abnormal presentation) ('प्रतिलोमता चानेकप्रकारा मूढगर्भनिदानोक्तदिशा ज्ञातव्या') हो तो उसे अनुलोम ('मूढगर्भचिकित्सितोक्तप्रकारेण') कर निकालना चाहिए॥ १०॥

विमर्श—प्रतिलोम अर्थात् मूढगर्भ और अनुलोम अर्थात् मूढगर्भ की चिकित्सा में वर्णित विधि से गर्भ को सामान्य स्थिति में लाना।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूल हस्तपादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा॥ ११॥

गर्भसंग का उपचार—गर्भसंग अर्थात् गर्भ का बाहर न निकल पाना (अतिदीर्घ प्रसव/Protracted labour) होने पर काले साँप की केंचुली (निर्मोक) या मैनफल से योनि का धूपन करें, गर्भिणी के हाथ-पैरों में हिरण्यपुष्पीमूल (कलिकारिकामूल) को बाँधना चाहिए अथवा सुवर्चला (सूर्यभक्ता) या विशल्या (पाटला) को धारण करायें॥ ११॥

विमर्श—गर्भसंग अर्थात् मूढ़गर्भ का उपचार मूढ़गर्भ की चिकित्सा प्रसंग में विस्तार से बताया गया है। निदानस्थान (८वाँ अ.) में मूढ़गर्भ के कारणों की विस्तार से चर्चा की गयी है। यहाँ तीन उपाय सुझाये हैं— १. धूपन (सर्पनिर्मोक, मैनफल), २. बन्धन (हिरण्यपुष्पीमूल), ३. धारण (सुवर्चला)।

अथ जातस्योल्बं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्; ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात्॥ १२॥

सद्योजात की परिचर्या (Care of new born)—शिशु के जन्म के तत्काल पश्चात् उसकी उल्व (जरायु/Vernix caseosa) को उसके शरीर से साफ कर तथा मुख में घृत एवं लवण लगाकर साफ करें और उसके शिर पर घी लगे वस्त्रखण्ड (पिचु/Swab) को रखें ('मुखं च विशोध्य निर्मलीकृत्य, तदपि मुखकण्ठगतजरायुकफापनयनेन'। तदुक्तं—'जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते')।

तदनन्तर नाभिनाड़ी (Umbilical cord) को सूत्र से नाभि की ओर गाँठ लगाकर, आठ अंगुल छोड़कर काट दें। कटी हुई नाभिनाड़ी, जो शिशु की नाभि से लगी हुई है, उसे सूत्र के सहारे शिशु की ग्रीवा से बाँध दें ('ग्रीवायां सम्यक् बध्नीयात् स्रावपरिहारार्थम्'–ड.)॥ १२॥

विमर्श—जन्म के तुरन्त पश्चात् शिशु को इस प्रकार पकड़े कि उसका शिर नीचे की ओर को हो जिससे मुख या ग्रसनी (Pharynx) में श्लेष्मा या उदक (Liquor) हो तो बाहर निकल जाय। म्यूकस एक्सट्रेक्टर की सहायता से मुख और गले को स्वच्छ किया जा सकता है। स्वस्थ शिशु शीघ्र ही श्वास लेने लगता है अन्यथा शिशु-अश्वसन (Apnea neonatorum) की तरह उपचार करना होता है।

'नाभिनाड़ी····सूत्रेण बध्वा'—प्रसव के पश्चात् नाभिनाड़ी को काटने के लिए तब तक न बाँधें जब तक—१. शिशु जोर से नहीं रो लेता, २. नाभि से कुछ इंच दूर तक स्पन्दन (Pulsation) समाप्त नहीं हो जाता और ३. नाभिसिरा का पात (Collapse) नहीं हो जाता। यदि नाभिनाड़ी (Cord) को तुरन्त बाँध दिया जाय तो शिशु ६०-९० मि.लि. रुधिर से वंचित रह जाता है। प्रसवोपरान्त शिशु को अपरा के लेवल से कुछ नीचे कर दें तो शिशु को अधिक रुधिर मिल जाता है। नाभि को बाँधने और काटने का कार्य बाद में होना चाहिए। शिशु की नाभिनाड़ी को नाभि से ७.५ से.मी. (३ इंच) दूरी पर काटना चाहिए। काटने से पहले स्वच्छ सूत्र से तीन-चार लपेट लगाकर रीफ-ग्रन्थि (Reef knot) लगावें। नाभिनाड़ी को खींचना नहीं चाहिए। द्वन्द्वापत्य (Twin) में दो स्थानों पर बन्धन की आवश्यकता होती है।

आजकल सूत्र से बाँधने की अपेक्षा प्लास्टिक के छोटे-छोटे Crushing clamps आते हैं जो ढीले भी नहीं होते हैं। नाभि का कटा हुआ हिस्सा (Residual stamp) लगभग सातवें दिन अलग हो जाता है। उसका व्रणवत् उपचार किया जाता है। संक्रमण से व्रण को बचाना चाहिए, अन्यथा सेप्टीसीमिया, पायमिया, अनीमिया और कामला जैसी व्याधियाँ हो सकती हैं। अतः संक्रमण का सन्देह होते ही ब्लड कल्चर (Blood culture) कराकर तुरन्त चिकित्सा-व्यवस्था करें।

नाभिनाड़ी-बन्धन के शिथिल हो जाने पर भीषण रक्तस्राव हो सकता है।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्; ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च॥ १३॥

सद्योजात की परिचर्या—इसके उपरान्त नवजात शिशु को शीतल जल से आश्वस्त (शीतल जल शिशु को होश में लाने के लिए छिड़कें) कर जातोत्तर (Post-natal) संस्कार करायें। फिर घृत-मधु और स्वर्णभस्म को अनामिका अंगुली (Ring finger) से (गुंजा प्रमाण) चटायें और बलातैल की मालिश कर क्षीरवृक्ष कषाय या एलादि सुगन्धित द्रव्यों के जल से अथवा सोने या चाँदी को गरम कर जिस पानी में बुझाया जाय उससे स्नान करायें। या कोष्ण कपित्थपत्र के क्वाथ से स्नान करायें। यह स्नान दोष, काल और आर्थिक दशा का विचार (यथादोषम्—'क्षीरिवृक्षकषायेण पित्तघ्नेन, सर्वगन्धोदकेन वा वातेन, विभववानतिक्रमेण रूप्यहेमतप्तेन वारिणा'–ड.) कर कराया जाता है॥ १३॥

विमर्श—मधु-घृत आदि के प्राशन के लिए वृद्ध वाग्भट ने अन्य कई औषधियों एवं भिन्न प्रकार की विधि का उल्लेख किया है।

कोष्णेन—शिशु के स्नानार्थ जल की उष्णता उसके शारीरताप की उष्णता जितनी होनी चाहिए।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्। चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते॥ १४॥

तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तमिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च। ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसम्मितं द्विकालं पाययेत्॥ १५॥

शिशु को स्तन्यपान—हृदयस्थित धमनियों के विस्तृत हो जाने के उपरान्त तीन-चार दिन (रात्रि) के उपरान्त प्रसूता के स्तनों में दूध उत्पन्न होता है। अतः पहले दिन शिशु को मधु, घृत और सुवर्ण भस्म मिलाकर तथा मन्त्रों से पवित्र कर तीन बार चटायें। दूसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध घृत दें और तीसरे दिन भी। चौथे दिन (प्रातः और मध्याह्न में) जिसे पहले दूध नहीं दिया गया है उस शिशु की हथेली में आने जितना घृत-मधु विषम मात्रा में मिलाकर पिलायें और उसी दिन रात्रि को माँ अपना दूध देना आरम्भ कर दे ('पञ्चमादिदिवसेषु यथेष्टं स्तन्यम्')॥ १४-१५॥

विमर्श—स्तन्यं प्रवर्तते—ऐसा विश्वास करने का कारण है कि प्रोलैक्टिन (Prolactin) स्तन्योत्पादन के प्रति उत्तरदायी है। रुधिर में ईस्ट्रोजन का स्तर इस पिटचुट्री स्राव को उत्तेजित करता है। जब रक्त में ईस्ट्रोजन का स्तर नीचा होता है जैसा कि गर्भरहित स्त्रियों में देखा जाता है, तो पिटचुट्री ग्रन्थि प्रोलेक्टिन स्रवित नहीं करती है। थाइराइड और एड्रीनल हॉर्मोन भी स्तन्य (Milk) उत्पादन में कार्य करने वाले समझे जाते हैं।

प्रसव के अन्तिम दिनों में स्तन दुग्ध को स्रवित करने में समर्थ होते हैं पर इनसे दूध निकलता नहीं है। शिशु के जन्म के पश्चात् स्तनों से कोलस्ट्रम (Colostrum) २४-४८ घण्टों तक निकलता है और बाद में स्तन दूध से भर जाते हैं और दूध आने लगता है। दूध होते हुए भी—प्रसव के बाद और अपरा के निकल जाने से पहले—स्तनों से न निकलने का कारण अपरा (Placenta) द्वारा ऐसे पदार्थ का बनना है जो दूध को निकलने नहीं देता है। अपरापतन के पश्चात् जैसे ही यह पदार्थ बाहर निकल जाता है, दुग्ध स्रवित होने लगता है। शिशु द्वारा स्तन्यपान भी स्तन्योत्पादन में (Reflex and mechanically) सहायक होता है।

प्रसव के पश्चात् तीन दिन तक स्तनों से निकलने वाला स्राव कोलस्ट्रम (Colostrum) कहलाता है। इसमें प्रोटीन और साल्ट्स प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। एक मास के बाद का स्तन्य 'Mature milk' कहलाता है।

अब यह मान्यता है कि शिशु को आरम्भ से ही माँ का दूध पीने देना चाहिए ('मातुरेव पिबेत्स्तन्यम्'—वा.; 'It has been claimed that colostrum is important to the infant because of a high content of antibodies·····'—T.T. Obstetrics)।

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिःक्वाथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात्। विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत् त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके॥ १६॥

सद्यःप्रसूता की परिचर्या—अब सद्यःप्रसूता को बलातैल के अभ्यंग के पश्चात् पान-परिषेक आदि के लिए भद्रदार्वादि वातहर औषधक्वाथ को प्रयोग में लायें। दोष अर्थात् रक्त के अन्दर ('दोषशब्दोऽत्र रक्तवचनः') रह जाने पर उसी दिन पिप्पली, पीपलामूल, गजपिप्पली, चित्रक और शृंगबेर के चूर्ण को

गुड़ मिले कोष्ण जल से पिलायें। इसे दो या तीन दिन या दुष्ट रुधिर के ठीक होने तक दें। शुद्ध होने पर तीसरे या चौथे दिन विदारिगन्धादि से सिद्ध स्नेहयवागू ('स्नेहबहुलां यवागूम्') या क्षीरयवागू को तीन दिन तक पिलावें।

तदनन्तर जौ, कोल, कुलथी से सिद्ध जांगल प्राणियों के मांसरस को शाली चावलों के साथ प्रसूता के शारीरिक और अग्निबल की परीक्षा कर खाने को दें। इस विधि से अध्यर्धमास (तीन पक्ष, डेढ़ मास) तक परिचर्या करें। तब प्रसूता को आहार, आचार आदि के नियम-पालन की आवश्यकता नहीं रहती है और वह 'विगतसूतिकाभिधाना' (Lady during puerperium/प्रसूतकाल रहित) कहलाती है। कुछ आचार्यों की सम्मति में प्रसूतकाल (Puerperium) आर्तवदर्शन (Until the onset of next menstruation) होने तक चलता है॥ १६॥

विमर्श—पाश्चात्य मत से भी प्रसूतकाल (Puerperium) की अवधि इतने ही दिन की मानी जाती है—"The puerperum is the time following labour during which the pelvic organs return approximately to their condition before pregnancy. The puerperium may be said to extend over 6 to 8 weeks though no exact time can be set."—Obstetrics by T.T.

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां स्नेहनित्या च स्यात् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा बलवती; अबलां यवागूं पाययेत् त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा। अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत्॥ १७॥

बलवती और निर्बल प्रसूता की परिचर्या—धन्वभूमि (जांगलदेशजाता, मरुभूमि, राजस्थान की निवासिनी) की बलवती सूतिका स्त्री को घृत या तैल की मात्रा ('मात्रामहःपरिणामिनीम्'/Liberal amounts) पिलायें और अनुपान के रूप में पिप्पल्यादि कषाय पीने को दें। इस प्रकार स्नेह का प्रयोग तीन या पाँच दिन तक करें। यदि सूतिका (प्रसूता) स्त्री निर्बल हो तो उसे यवागू (Gruel) का तीन दिन या पाँच दिन तक पान करायें। उसके उपरान्त स्निग्ध अन्न, अग्नि और बल की वृद्धि तथा वातप्रशमनार्थ पिलावें ('स्निग्धेन पेयादिक्रमेण वह्नेर्बलस्य च बृंहणार्थं वातजयार्थं चोपचरेत्'–ड.)॥ १७॥

विमर्श—इस प्रसंग में वृद्ध वाग्भट ने पथ्य-सेवन के उपरान्त प्रसूता के उदर को वस्त्र से लपेटने की सलाह दी है जिससे वायु प्रवेश न कर सके।

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्, क्रोधायासमैथुनादींश्च परिहरेत्॥ १८॥

प्रसूता के लिए त्याज्य—प्रसूता को पर्याप्त कोष्ण जल से धार लगाकर खूब सिंचन करें (स्नान करायें) और क्रोध, आयास (व्यायाम), मैथुन आदि का ('क्रोधादयः पञ्चदश आतुरोपक्रमणीय-चिकित्सितोक्ताः') परित्याग करायें॥ १८॥

विमर्श—'परिषिञ्चेत् धारया, गर्भक्षोभकृतरक्तस्रावणार्थं वातजयार्थं च' (ड.)।

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते। स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा। परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात्॥ २०॥

प्रसूता की चिकित्सा में सावधानी—मिथ्याचार (Injudicious conduct of life) से प्रसूता को (During puerperium) जो व्याधि हो जाती है वह अति-अपर्तण (Lack of nutrition) के कारण कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाती है। इस हेतु प्रसूता का (प्रसूतकाल/Puerperium में) भली प्रकार परीक्षण कर व्याधि के अनुसार विशिष्ट उपचार देश-काल की विवेचना के साथ प्रतिदिन इस प्रकार करें कि उसके जीवन को कोई खतरा न हो॥ १९-२०॥

विमर्श—प्रसूता की परिचर्या के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैद्यक की सम्मति भी इसी प्रकार है—

'The management of the early puerperium consists in keeping careful watch upon the physiological processes during this time, and in being prepared to intervene early and effectively if they should show signs of becoming pathological.—Obstetrics by T.T.

प्रसूता की परिचर्या के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं— १. प्रसूता के आहार, विश्राम, मानसिक व शारीरिक देखभाल की ओर ध्यान देना। २. संक्रमण को रोकने की व्यवस्था। ३. प्रसूता के शारीरताप, धमनी-गति (Pulse-rate) और प्रत्यावर्तन (Involution) की प्रगति के प्रति सावधानी। ४. प्रसूता के स्तनों की देखभाल और दुग्धस्रवण (Lactation) की प्रगति की जाँच। ५. ऐसे व्यायाम की व्यवस्था करना जिससे उदरभित्ति (Wall) और श्रोणिप्रदेश अपनी पूर्वावस्था में शीघ्र आ सकें।

संक्रमण को न होने देने की पूर्ण व्यवस्था, प्रसूता को कुछ दिनों तक शारीरिक एवं मानसिक विश्राम, शारीरताप पर निगाह रखना, दुग्धस्रवण के समय की जाँच, गर्भाशय का प्रत्यावर्तन (Involution), मल-मूत्र त्याग की नियमितता, सूतिस्राव (Lochia/साधारणतः प्रसव के बाद आने वाला योनिस्राव जो ८-१० दिन में बन्द हो जाता है) के बारे में जानना, नींद, आहार, यदि सीवन (Stitches) लगाये हों तो उनके बारे में तथा स्तनों की देखभाल आदि के प्रति सावधान रहना नितान्त आवश्यक है।

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या महावृक्षक्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकल्कं वा पिप्पल्यादिं वा मद्येन, सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहा-वृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरबस्तिं दद्यात्, स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत्॥ २१॥

अपरापतन न होने का उपचार (Management of retained placenta)—प्रसव के उपरान्त यदि अपरा न निकली हो तो आनाह (Distension) और आध्मान (Tympanitis) होते हैं। अतः उसे निकालने के लिए प्रसूता के गले में बालों से लिपटी हुई अंगुली को घुमावें (Tickle the throat) या कड़वे तैल में कुटकी, अलाबू, कृतवेधन (कोशातकी = कड़वी लौकी), सरसों और साँप की केंचुली को मिलाकर योनिमुख का धूपन (Fumigate the vaginal opening) करें और लांगलीमूल कल्क का प्रसूता के हाथों एवं पैरों पर लेप करें। अथवा इसके शिर पर महावृक्ष (सेहुण्ड) के दूध का सिंचन करें या कूठ और लांगलीमूल कल्क को मद्य या गोमूत्र के साथ पिलायें। इसी प्रकार शालमूलकल्क (या शाली के मूल का कल्क) या पिप्पल्यादि गण की औषधियों को मद्य के साथ पिलायें। या सिद्धार्थ (श्वेत सरसों), कूठ, कलिहारी, सेहुण्ड के दूध को सुरामण्ड (सुरा का उपरितन भाग) में मिलाकर आस्थापन बस्ति दें। इन्हीं औषधियों से सिद्ध सफेद सरसों के तेल की उत्तरबस्ति (Vaginal douche) करें। अथवा नाखून कटे, स्वच्छ एवं स्निग्ध हाथों की सहायता से अपरा को निकालें॥ २१॥

विमर्श—प्रसव की तृतीयावस्था (Stage) एक शरीरक्रिया सम्बन्धी प्रक्रिया (Process) है। स्वाभाविक प्रसव के उपरान्त कुछ समय तक विश्राम कर गर्भाशय पुनः कुछ ही मिनट पश्चात् संकुचित होने लगता है। कुछ ही नियमित संकोचों के पश्चात् अपरा गर्भाशय से पृथक् होकर योनि में आ जाती है। प्रसूता को अपरा की इस उपस्थिति का ज्ञान होता है और वह एक-दो बार प्रवाहण (Staining) कर भग (Vulva) में से इसे बाहर निकाल देती है। इसके साथ कुछ (औंस) रुधिर भी आ सकता है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में तब तक व्यवधान नहीं डालना चाहिए जब तक रुधिर अधिक आने लगे या अपरा के बाहर आने में विलम्ब हो रहा हो। अपरा को बाहर निकालने का सामान्य प्रयास और प्रक्रिया

यह है कि बायाँ हाथ धीरे से उदर के ऊपर रखें और गर्भाशय की ऊपर की सीमा पर उस समय हलका-सा दबाव डालें जब गर्भाशय में संकोच हो रहा हो। गर्भाशय से अपरा के अलग होने और योनि में आने पर हाथ को गर्भाशय छोटा प्रतीत होने लगता है। यदि अपरा योनि (Vagina) में हो और गर्भाशय में संकोच हो तो इसे हाथ की सहायता से बाहर निकाला जा सकता है ('स्निग्धेन क्लृप्तनखेन हस्तेनापहरेत्'–सु.)।

'Providing the uterus is contracting and the placenta lies in the vagina this is a good method. As the placenta comes out of the vulva it is received in the right hand, and gently drawn away from the mother.—Obstetrics by T.T.

प्रसव के समय जब शिशु के कन्धे बाहर आ गये हों तो कुछ प्रसूतिचिकित्सक (Obstetricians) गर्भाशयसंकोचक औषध (Oxytocic ergometrine) देना पसन्द करते हैं। इससे गर्भ, अपरा शीघ्र बाहर आते हैं और प्रसवोत्तर (Post-partum) रक्तस्राव भी नहीं होता है। पर इसका प्रयोग अनुभवी चिकित्सकों द्वारा किया जाता है।

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्बस्तौ बस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति; ततश्च नाभिबस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव-निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्ल-लक्षणम्।

मक्कल्लशूल के लक्षण—प्रसव के पश्चात् रूक्ष शरीर वाली (Dehydrated) जिस नारी का तीक्ष्ण औषधियों द्वारा (पिप्पल्यादि) रक्त शुद्ध नहीं किया गया है उसके गर्भाशय में स्थित प्रकुपित वायु रक्त के प्रवाह को रोक देती है जिससे नाभि के नीचे दोनों पार्श्वों और बस्ति या बस्तिशिर में ग्रन्थि उत्पन्न होती है। इससे नाभि, बस्ति और उदर में शूल होता है; पक्वाशय में सूइयों की-सी चुभन, भेदन तथा दारण जैसी वेदना होती है; सारे उदर में आध्मान हो जाता है और मूत्रसंग (Retention of urine) होता है। ये सभी 'मक्कल्लशूल' के लक्षण हैं।

विमर्श—मक्कल्लशूल—('प्रजातायाः प्रजननशोणितसञ्जनितशूलं मक्कल्लः'–ड.)। यह प्रसव के बाद सफाई या स्वच्छता के नियमों का पालन न करने से (अविशोधितम्) होने वाला रोग है, जिसमें नाना प्रकार की वेदनाएँ, ग्रन्थिनिर्माण, मूत्रावरोध जैसे लक्षण हो जाते हैं। निदानस्थान में भी कुछ ऐसा ही संकेत आया है—'स्त्रीणामप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः। दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः' ॥ (९।२६) तथा—'अपि सम्यक् प्रजातानामसृक्कायादनिःसृतम्। रक्तजं विद्रधिं कुर्य्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम्' ॥ (९।२७) इससे स्पष्ट है कि यह प्रसवोत्तर वेदना मात्र नहीं अपितु भयंकर अवस्था है ('स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा'–सु.) जिसमें रक्त अन्दर रुका रह जाता है।

तत्र वीरतर्वादिसिद्धं जलमुषकादिप्रतीवापं पाययेत्, यवक्षारचूर्णं वा सुखोदकेन पिप्पल्यादि-क्वाथेन वा, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिक्वाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पर्ण्यादि-क्वाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिबेदरिष्टमिति॥ २२॥

मक्कल्लशूल की चिकित्सा—इसके उपचार में प्रसूता को पीने के लिए वीरतर्वादि सिद्ध क्वाथ को ऊषकादि गण की औषधियों का प्रक्षेप डालकर दें। या यवक्षार चूर्ण को कोष्ण जल से या पिप्पल्यादि कषाय से या सुरामण्ड से पिप्पल्यादि चूर्ण दें; या पञ्चकोल एला का प्रक्षेप डालकर वरुणादि कषाय दें; या पृथक्पर्ण्यादि कषाय दें, जिसमें देवदारु और कालीमरिच का चूर्ण मिला हो या त्रिकटु, चतुर्जात, कुस्तुम्बुरु (धनियाँ) को पुराने गुड़ के साथ दें अथवा केवल स्वच्छ अरिष्ट (अभयारिष्टादि) दें॥ २२॥

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत॥ २३॥

शिशु-सुरक्षा (Protection of the child)—अब (प्रसूता की परिचर्या की व्यवस्था कर) नवजात शिशु को क्षौम (क्षुमा/अतसी तन्निर्मित वस्त्र/दुकूल/Silk) में लपेटकर क्षौम वस्त्र वाली शय्या पर लिटायें; पीलु, बैर, निम्ब, फालसा की शाखाओं से पंखा करें; शिर पर तैलपिचु (Oil swab) प्रतिदिन रखें और इसका रक्षोघ्न धूपों से धूपन करें। शिशु के हाथों, पैरों और ग्रीवा में रक्षोघ्न द्रव्य बाँधें; तिल, अतसी और सरसों (श्वेत) के दाने इसके चारों ओर बिखेरें, वहाँ अग्नि जलावें और व्रणितोपासन में वर्णित उपायों का पालन करें ('तेन प्राक् शीर्षशयनादि सर्वमत्रापि तत्रोक्तं वेदितव्यम्')॥ २३॥

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा॥ २४॥

शिशु का नामकरण संस्कार—तत्पश्चात् प्रसव से दसवें दिन माता तथा पिता मंगलकौतुक (Religious celebrations) करने के बाद शिशु के शुभ (Wellbeing) के लिए प्रार्थना कर नामकरण (Naming ceremony) करें और अपनी इच्छानुसार या नक्षत्र पर नाम रखें॥ २४॥

विमर्श—शिशु के नामकरण के सम्बन्ध में चरक का कथन द्रष्टव्य है—'कुमारस्य पिता (नक्षत्रदेवतायुक्तं नाम कारयेत्) द्वे नामनी कारयेत्, नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च। तत्राभिप्रायिकं घोषवदाद्यन्तस्थान्तम् ऊष्मान्तं वाऽवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनवप्रतिष्ठितम्। नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासमानाख्यं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा' (शा. ८।५४)

अत्र चक्रपाणिः—"घोषा वर्गचतुर्था 'घझढधभाः', अन्तस्था 'यरलवाः', 'शषसहा' ऊष्माणः"।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य। तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत्। ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीं चोपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्॥ २५॥

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः। भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥ २६॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने। दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा॥ २७॥

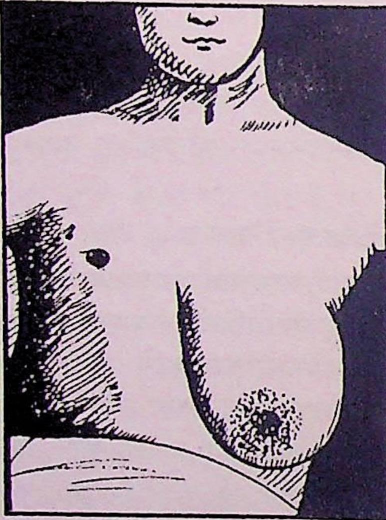
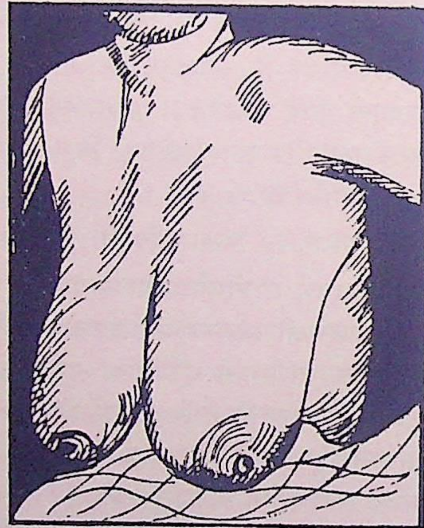
धात्री के गुण (Qualities of the wet-nurse)—धात्री (धाय) यथावर्ण (अर्थात् ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणी, क्षत्रिय के लिए क्षत्रिया आदि) होनी चाहिए। धात्री के अन्य गुण इस प्रकार हैं—मध्यमप्रमाणा (साधारण बनावट वाली/Medium structure), मध्यमवयस्का (मध्यमायु की/Middle aged), अरोगा (रोगरहित/Healthy), शीलवती (सरल स्वभाव वाली/Cultured), अचपला (जो चंचल न हो/Of quiet nature), अलोलुप (जो लोभी न हो/Ungreedy), अकृशा (न दुबली न मोटी/Neither thin nor obese), अस्थूला (जो भारी शरीर की न हो), प्रसन्नक्षीरा (Possess good quality milk), अलम्बौष्ठी (लम्बे होठों वाली न हो/Unelongated lips), अलम्बोर्ध्वस्तनी (जिसके स्तन लम्बे और ऊपर को उठे न हों), अव्यङ्गा (व्यंग = क्षुद्ररोग रहित या अंगहीन न हो), अव्यसिनी (किसी प्रकार का व्यसन न करती हो), जीवितवत्सा (जिस का पुत्र जीवित हो), दोग्ध्री (जिसके दूध पर्याप्त हो/Having plenty of milk),

वत्सला (शिशु से प्यार करने वाली हो/Loving nature), अक्षुद्रकर्मिणी (अशुभ कार्य करने वाली न हो/Not engaged in mean deeds), कुले जाता (अच्छे खानदान की हो) और इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत सारे (भूयिष्ठ) गुणों से युक्त हो तथा श्याम वर्ण की हो ('श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति'–ड.)। इन गुणों से युक्त धात्री की आवश्यकता शिशु के आरोग्य, बल और वृद्धि के लिए आवश्यक है।

धात्री के स्तनदोष एवं स्तनपान विधि—यदि धात्री के स्तन ऊपर की ओर को हों तो शिशु को भयभीत (कराल/Fearful) करती है, लम्बे स्तन वाली से शिशु के नाक-मुख को स्तनों से ढके जाने पर मृत्यु हो सकती है। अतः उत्तम तिथि में (On the auspicious day) शिशु के शिर को धोकर, नये वस्त्र पहनाकर तथा उत्तर दिशा की ओर मुँहकर और धात्री को पूर्व की ओर मुख कर बिठा दें। फिर धात्री अपने दाहिने स्तन को धोकर तथा उसमें से कुछ दूध निकाल कर और निम्नलिखित मन्त्रों से आमन्त्रित कर स्तन्यपान कराये॥ २५॥

'हे सुभगे! (O fortunate lady!) क्षीर का वहन करने वाले चारों समुद्र तेरे स्तनों में हों (अर्थात् तेरे स्तनों में पर्याप्त मात्रा में दूध हो) जिससे बालक की दिन-प्रतिदिन बल और वृद्धि हो॥ २६॥

हे शुभानने! (O fair lady!) तेरे अमृत सदृश दुग्ध को पीकर शिशु इसी प्रकार लम्बी उमर प्राप्त करे जिस प्रकार देवता अमृतपान कर दीर्घायु हुए हैं॥ २७॥

चित्र सं० १० : अस्तनी और लम्बस्तनी
('....अलम्बोर्ध्वस्तनीम्'–सु.)

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्व्याधिजन्म भवति॥ २८॥

नाना स्तन्यों के पान से हानियाँ—(नियत धात्री के अभाव में) शिशु को तरह-तरह का दुग्धपान कराने से असात्म्य होने के कारण नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं॥ २८॥

विमर्श—शिशु को तरह-तरह का दूध पिलाने से अजीर्ण सम्बन्धी विकार होने की सम्भावना रहती है। (Contamination of feeds with staphylococci is possible, and if fresh milk is not sterilized infection with a great variety of bacteria may occur.—Obstetrics by T.T.)

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्सुहितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः। तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत्॥ २९॥

दूध पिलाने में सावधानी—यदि शिशु को पिलाने से पहले स्तनों से दूध न निकाला जाय तो इससे स्तन दूध से भर जाते हैं (Unhygenic milk collected) और इस दूध को पीने से शिशु के स्रोत अवरुद्ध हो जाने से कास, श्वास और वमन जैसे विकार हो जाते हैं। अतः शिशु को इस प्रकार (अपरिस्रुत) का दुग्ध न पिलायें॥ २९॥

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्य-मुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिस-विदारिकन्दमधुकशतावरीनलिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात्॥ ३०॥

स्तन्यनाश का कारण (Aetiology of scanty breast milk)—क्रोध और अवात्सल्य (अममत्वम्/Lack of mental love) तथा शोक (Grief) आदि हैं।

स्तन्यवृद्धि के उपाय—अतः दुग्धोत्पादनार्थ माता को प्रसन्नचित्त रखें और खाने को जौ, गेहूँ, शालि चावल, साँठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर (काँजी), पिण्याक (तिलखलि), लहसुन, मछली, कशेरुक, सिंघाड़ा, भिस, विदारीकन्द, मुलहठी, शतावर, नलिका (शाकभेद), लौकी और कालशाक आदि दें॥ ३०॥

विमर्श—Even when these two (Taking the nipple into the mouth and exert suction, and to oppose the gums in order to milk the lactiferous sinus) requirements are satisfied, satisfactory lactation is dependent upon the establishment of the let-down reflex and this may be inhibited by a psychological upset in the mother or by painful stimuli provoked by the baby—Obstetrics by T.T.

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत; तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्; तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति। न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणीज्वरितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्त-विरुद्धाहारतर्पितायाः स्तन्यं पाययेत्; नाजीर्णौषधं च बालं, दोषौषधमलानां तीव्रवेगोत्पत्ति-भयात्॥ ३१॥

स्तन्य-परीक्षण (Tests for good milk)—धात्री के दूध की पानी में परीक्षा करें। जो दूध शीतल, अमल (Clear), तनु (Thin), शंख की तरह सफेद, पानी में डालने पर एक जैसा (Uniform) बना रहता है, झागरहित (Devoid of froth), तार जैसा दीखने वाला (तन्तुमत्) और जो न तैरे और डूबे नहीं वह शुद्ध (Pure) माना जाता है। ऐसे दूध से कुमार नीरोग रहता है, उसके शरीर तथा बल की वृद्धि होती है।

निषिद्ध स्तन्य—उस धात्री (Wet nurse) का दुग्ध शिशु को न पिलायें जो भूख से पीड़ित (क्षुधित/Hungry), शोकग्रस्त, बीमार, थकी हुई, जिसकी रक्तादि धातुएँ दूषित हों, गर्भिणी हो, ज्वरग्रस्त, बहुत दुबली या बहुत मोटी, विदग्धाजीर्ण से पीड़ित और जिसने विरुद्धाहार किया हो। शिशु को सेवन की हुई औषध के जीर्ण होने से पहले स्तन्यपान न करायें, क्योंकि इससे दोष, औषध और पिलाये गये दूध से तीव्र वेगों (दोषों) की उत्पत्ति का भय होता है॥ ३१॥

भवन्ति चात्र—

धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा। दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति॥ ३२॥
मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः।
दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः। भवन्ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत्॥

दूषित स्तन्य—यदि धात्री भारी, विषम और दोषल आहार का सेवन करती है तो उसके शरीर में दोष प्रकुपित होकर स्तन्य को भी दूषित कर देते हैं॥ ३२॥

स्तन्यदूषण के हेतु—मिथ्या आहार-विहार करने वाली स्त्री के वातादि दोष प्रकुपित होकर स्तन्य को भी दूषित कर देते हैं। इससे शिशु में जो व्याधियाँ होती हैं उनको कुशल चिकित्सक भली प्रकार जान लें॥ ३३॥

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते। मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति॥ ३४॥

बालकों के रोग का विज्ञानोपाय—शिशु के अंग तथा प्रत्यंग में जिस स्थान पर वेदना होती है वह उस स्थान को बार-बार छूता है और रोता है॥ ३४॥

निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत्। बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति॥ ३५॥

रुग्ण शिशु के लक्षण—जब शिर में व्याधि होती है तो शिशु आँखें बन्द कर लेता है और शिर को धारण नहीं कर पाता है (Not able to steady the head)। बस्तिप्रदेश में व्याधि होने पर मूत्रसंग (Retention of urine) और वेदना होती है तथा मूर्च्छा (Unconsciousness) और प्यास होते हैं॥ ३५॥

विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः। कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः॥

शिशु की उदरव्याधियों का विज्ञानोपाय—उदर की व्याधियों का विण्मूत्रसंग (मलमूत्रावरोध), विवर्णता, छर्दि, आध्मान और अन्त्रकूजन (Gurgling in the intestines) से पता चलता है। यदि शिशु बहुत रोता हो तो कोई शरीरव्यापी (Generalized disorder) विकार जानें॥ ३६॥

तेषु यथाऽभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा संयुक्तं विदध्यात्, धात्र्याश्च केवलं, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च पूर्ववत्, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः॥ ३७॥

शिशुव्याधि-उपचार—उन रोगों का उपचार जो उन-उन रोगों में बताया गया है, वह करना चाहिए। फिर भी शिशु (क्षीरप) को दी जाने वाली औषध अतीक्ष्ण (मृदु/Mild), अच्छेदनीय (कफमेदसोरच्छेदकारी) और आगे वर्णित की जाने वाली मात्रा के अनुसार क्षीर और घृत के साथ देनी चाहिए ('बालस्य क्षीरसर्पिः सात्म्यत्वात्')। धात्री को केवल औषध दें। क्षीर और अन्न दोनों का सेवन करने वाले (क्षीरान्नाद) को भी क्षीर-घृत से और धात्री को केवल औषध दें और अन्नाद शिशु को कषायादि औषध दें पर धात्री को औषध देने की आवश्यकता नहीं होती है॥ ३७॥

विमर्श—क्षीरप = केवल दूध पीने वाला; अन्नाद = अन्न पर निर्भर रहने वाला शिशु और क्षीरान्नाद = जो दूध और अन्न दोनों पर निर्भर रहता है।

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रहणसंमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमितामन्नादायेति॥ ३८॥

शिशु-औषध मात्रा—शिशु को एक मास के बाद (क्षीर-घृत मिली हुई) औषध की मात्रा अंगुली के दो पर्व सम्मित (A pinchful of medicine) दें। क्षीरान्नाद शिशु के लिए औषधकल्क मात्रा कोलास्थि के बराबर तथा अन्नाद शिशु के लिए कोल प्रमाण औषध-कल्कादि दें॥ ३८॥

विमर्श—सूत्रस्थान (३५वें) के आतुरोपक्रमणीय नामक अध्याय में मात्रा का आयु के अनुसार विवरण दिया गया है। तथापि—'प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भैषज्यरक्तिका। अवलेह्या तु कर्तव्या मधुक्षीरसिताघृतैः॥ एकैकां वर्धयित्तावत् यावत्संवत्सरो भवेत्। तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्यात् यावत् षोडशकाब्दिकः'॥

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः। तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ॥ ३९॥

क्षीराद शिशु में औषध-प्रयोगविधि—अगदङ्कर (चिकित्सक) को चाहिए कि वह चिकित्सकों द्वारा बताये गये उस-उस रोग को दूर करने वाले योगों के कल्क का स्तनों पर लेप करने के उपरान्त शिशु को स्तन्यपान करायें॥ ३९॥

एकं द्वे त्रीणि चाहानि ...तपित्तकफज्वरे। स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः॥ ४०॥
न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ।

ज्वर में घृतपान का निषेध—स्तनन्धय (Milk-fed infant) शिशु को वातिक ज्वर में एक दिन, पैत्तिक ज्वर में दो दिन और श्लैष्मिक ज्वर में तीन दिन तक घृतपान निषिद्ध है। क्षीरान्नाद और अन्नाद शिशुओं के लिए जैसी आवश्यकता हो अथवा जैसा आगे बताया जायेगा उसके अनुसार घृतपान करायें। ज्वर में तृष्णा के भय से शिशु को स्तनपान न करायें॥ ४०॥

विरेकबस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात्॥ ४१॥

शिशु में विरेकादि का निषेध—आत्ययिक (Emergency) अवस्था को छोड़कर शिशु को विरेक (Purgation), बस्ति (Enema) और वमन (Emetic therapy) नहीं कराने चाहिए॥ ४१॥

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत्। तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम्॥ ४२॥
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा।

मस्तुलुंगक्षय की चिकित्सा—मस्तुलुंग (Brain matter) के सिकुड़ जाने से वायु प्रकुपित होकर ('मस्तुलुङ्गोऽविलीनघृताकारा मस्तकमज्जा'–ड.) ताल्वस्थि को निम्न कर देता है (Depresses the anterior fontanelle)। इससे शिशु तृषा से युक्त होता है और बीमार दीखता है। ऐसी दशा में शिशु को घृत और मधुर द्रव्यों का कषायपान करायें और शरीर पर मलें तथा उस पर शीतल जल का छिड़काव करें॥ ४२॥

विमर्श—नवजात में तालुनमन जैसे लक्षण निर्जलीभवन (Dehydration/Inanition = निर्जलान्नता) और ज्वर में भी देखी जाती है। इसमें ज्वर भी होता है। ऐसी दशा जीवन के प्रारम्भिक सप्ताह में पायी जाती है। शिशु का मुख एवं जिह्वा सूखे होते हैं और त्वचा उष्ण तथा चूर्ण युक्त-सी होती है। उपचार में उबला हुआ पानी एक औंस प्रति घण्टा ज्वर के सामान्य होने तक दें। गुदमार्ग से या अधस्त्वचा से तरलाधान की भी कभी-कभी आवश्यकता होती है।

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम्। मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः॥ ४३॥
गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम्। रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम्॥ ४४॥

तुण्डिनाभि और उपचार—वायु के कारण यदि शिशु की नाभि फूल जाती है और वेदना होती है तो यह तुण्डिनाभि नामक विकार (Omphalitis) है। इसके उपचार के लिए वायु को शान्त करने वाले तैल, स्वेदन तथा उपनाहन (Poultices) किये जाते हैं। शिशु में गुदपाक (Proctitis) हो जाय तो पित्तशामक क्रिया (चिकित्सा) करनी चाहिए। इसमें रसाञ्जन का पान तथा आलेपन विशेष रूप से लाभकर हैं॥ ४३-४४॥

विमर्श—रसाञ्जन (रसौत) बनाने की विधि—'दार्व्याः क्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनं ख्यातं नेत्रयोः परमं हितम्'॥ (भा.प्र.) सम्प्रति तुण्डिनाभि एवं गुदपाक जैसे रोगों के शमन के लिए एण्टीबायोटिक्स औषधियाँ आश्चर्यजनक लाभ पहुँचाती हैं।

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पली-हरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूली-क्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षार्द्धिब्राह्मीसिद्धं; तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति॥ ४५॥

आयु के अनुसार घृतप्रयोग—शिशु के स्वास्थ्य (Health), बल (Strength), मेधा (Intellect) और आयु (Longevity) के लिए भिन्न-भिन्न आयु में घृत का प्रयोग इस प्रकार करें—केवल दूध पीने वाले 'क्षीरप' को सफेद सरसों, वच, जटामांसी, क्षीरकाकोली, अपामार्ग, शतावरी, सारिवा, ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी, कुठ और सेंधानमक से सिद्ध घृत का प्रयोग करें। दूध और अन्न दोनों का सेवन करने वाले 'क्षीरान्नाद' शिशु को मुलहठी, वचा, पिप्पली, चित्रक, त्रिफला इनसे सिद्ध किया हुआ घृत समुचित मात्रा में दें। अन्न पर निर्भर रहने वाले 'अन्नाद' शिशु को लघु और बृहत् पञ्चमूल, क्षीरविदारी, तगर, देवदारु, मरिच, मधु, विडंग, द्राक्षा, ऋद्धि, ब्राह्मी (मण्डूकपर्णी या ब्राह्मी) इनसे सिद्ध घृत का समुचित मात्रा में प्रयोग करें॥ ४५॥

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात्, सहसा नापहरे-दुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः; एवमविहतमना ह्यभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसम्पन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति। वातातपविद्यु-त्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत्॥ ४६॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च। नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च॥ ४७॥

शिशु की सुरक्षा—बालक की सुरक्षा के लिए उसे इस प्रकार उठायें कि किसी प्रकार का उसको कष्ट न हो और न उसे झिड़के (Scolded); सोते हुए को इस प्रकार सहसा न जगायें कि वह डर जाय; उसे झपट कर न लें और न उसे उछाले ही, अन्यथा वातादि के प्रकोप का भय है। उसे शीघ्र ही बिठाने न लगें नहीं तो कौब्ज्य (Kyphosis) हो सकता है। प्रतिदिन उसके अनुकूल रहें और उसे हानि न पहुँचाने वाले (अजिघांसु) सैंकड़ों विधि से उसे खुश रखने का (खिलौने आदि देकर) प्रयास करें ('प्रियशतैर्बालक्रीडनकदानादिभिरित्यर्थः')। इस प्रकार प्रसन्नचित्त बालक वृद्धि को प्राप्त होता है; नित्य उत्कृष्ट सत्त्वसम्पन्न (Sharp intellect) होता है; नीरोग रहता है और प्रसन्नचित्त (Cheerful) होता है। बालक को तीव्र वात, बेहद गर्मी, बिजली की तेज रोशनी, वृक्ष, लता, अकेला घर, कुआँ, गढ़ा आदि तथा ग्रहच्छाया और दुष्ट ग्रहों के सम्पर्क से बचायें। बालक को किसी अपवित्र जगह पर अकेले न छोड़ें, न आकाश में उछालें, न ऊँची-नीची जगहों पर, न गर्मी, हवा तथा वर्षा में और न धूल, धुआँ और जल के स्थानों पर छोड़ें॥ ४६-४७॥

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा। दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया॥ ४८॥

मातृ स्तन्य के अभाव में गाय या बकरी का दूध—जब तक माँ (या धात्री) के दूध की व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक (या मातृदुग्ध के अभाव में) शिशु को दुग्ध सात्म्य होने के कारण बकरी या गाय का दूध समुचित मात्रा में पीने को दें॥ ४८॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक में भी मातृस्तन्य के अभाव में गोदुग्ध को शिशु के लिए उपयुक्त माना जाता है—

It is desirable that the baby should be breast fed ('मातुरेव पिबेत्स्तन्यम्'–वा.) whenever this is practicable, and that cow's milk should be used only when the mother cannot or does not wish to feed her own baby, or when her health renders breast feeding inadvisable.—Obstetrics by T.T.

परन्तु गाय का दूध शिशु के लिए भयंकर व्याधियों का कारण भी बन सकता है, क्योंकि इसमें विकृतियाँ गाय, दूध निकालने वाले व्यक्ति, दूध के बर्तन, दूध की बोतल आदि से आती हैं। अतः इस दूध को शिशु को देने से पहले उबालना नितान्त आवश्यक है। दूध में पानी मिलाने के बारे में अलग-अलग सम्मतियाँ हैं।

अलग-अलग भार वाले शिशु के लिए यह मात्रा निम्न प्रकार है—

शिशु का भार	७ पौण्ड	९ पौण्ड	१२ पौण्ड	१५ पौण्ड
पेयमात्रा (Size of feed)	३ १/२ औंस	४ १/२ औंस	६ औंस	७ १/२ औंस
पानी (Feed made of water)	१ १/२ औंस	१ १/२ औंस	१ १/२ औंस	१ १/२ औंस
गोदुग्ध	२ औंस	३ औंस	४ १/२ औंस	६ औंस
शर्करा (Added sugar)	१ १/२ चम्मच	१ १/२ चम्मच	१ १/२ चम्मच	१ १/२ चम्मच

आजम्—बकरी का दूध पिलाने की सौश्रुत सम्मति की तरह पाश्चात्य मत भी कुछ इसी प्रकार का है—"In rare cases of intolerance to cow's milk other mammalian milks may be used, ass's, mare's or goat's milk have been employed"—Obstetrics by T.T.

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥ ४९ ॥

अन्नप्राशन की आयु—जब शिशु छः मास का हो जाय तो इसे अन्न पतला (लघु) कर तथा जो हितकर हो दें॥ ४९ ॥

विमर्श—आजकल यह बताया जाता है कि माता का दूध शिशु जितना अधिक समय पीता है उसे पीने देना चाहिए। इन्दु के अनुसार—'अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत्'।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्; प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति ॥

शिशु की ग्रह एवं उपसर्ग से रक्षा—उपसर्ग (Contagion) के भय से शिशु को सदा सुरक्षित (Protected) स्थान में ('नित्यमवरोधरत इति, सततं परिजनावृतः अन्तःपुरस्थो वा') रोगादि से बचाव की पूरी व्यवस्था कर रखें। क्योंकि बालक ग्रह और उपसर्ग से रक्षणीय होते हैं॥ ५० ॥

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुछुन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥ ५१ ॥

ग्रहों के प्रभाव से ग्रस्त शिशु के सामान्य लक्षण— १. शिशु उद्विग्न (Restless) होता है, २. डरता है (Fears), ३. रोता है (Cries), ४. बेहोश (Unconscious) हो जाता है, ५. अपने आपको और धाय को नाखूनों से नोचता है (Scractches) और दाँतों से काटता है (Bites), ६. दाँत कटकटाता है (Grinds teeth), ७. कराहता है (Makes sounds), ८. जम्भाईयाँ लेता हैं (Yawns), ९. भौंहों

को चलाता है (Moves its eyebrows), १०. ऊपर की ओर देखता है, ११. (मुख से) झाग निकालता है (Brings out froth), १२. अपने होंठ काटता है (Bites his lips), १३. शिशु डरावना (Cruel) लगता है, १४. उसे पतले दस्त आते हैं जो अपक्व (Undigested) होते हैं। १५. उसकी आवाज कमजोर और वेदनावाली (Pathetic) होती है, १६. रातभर जागता है, १७. कमजोर हो जाता है, १८. अंग पीले पड़ जाते हैं (Pale limbs), १९. शिशु के शरीर से मछली, छुछुन्दर और खटमल की-सी गन्ध आती है और २०. जैसे पहले धाय का दूध पीता था वैसे अब नहीं पीता है। ग्रहोपसृष्ट के ये सामान्य लक्षण हैं। इनका विस्तार से वर्णन आगे (उत्तरतन्त्र के २७, २८, २९ और ३० में) किया जायेगा॥ ५१॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत्॥ ५२॥

विद्याग्रहण की आयु—जब बालक शक्तिमान् ('विद्यार्जनक्लेशक्षमम्') हो जाय तो उसे उसके वर्ण के अनुसार ('ब्राह्मणस्त्रयीं, क्षत्रियो दण्डनीतिम्') विद्या ग्रहण करायें॥ ५२॥

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति॥ ५३॥

विवाह के योग्य आयु—अब (शिक्षाग्रहण करने के उपरान्त) इसका पच्चीस वर्ष की वय होने पर बारह वर्ष की कन्या से विवाह कर दें जिससे पित्र्य ('पितुर्हितं कर्म पित्र्यं श्राद्धदानादि'), धर्म ('श्रुतिस्मृतिविहितं यज्ञाद्यनुष्ठानम्'), अर्थ ('सुवर्णादि'), काम ('स्वेषु विषयेषु इन्द्रियाणामानुकूल्यतः प्रवृत्तिः') और प्रजा ('पुत्रपौत्रादयः') की प्राप्ति हो सके॥ ५३॥

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ ५४॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ ५५॥

गर्भाधान की उपयुक्त आयु—यदि पुरुष की आयु पच्चीस वर्ष की न हो और स्त्री सोलह वर्ष से कम आयु की हो तो इनसे हुआ गर्भ गर्भाशय में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यदि जीवित जन्म लेता है तो अधिक समय तक नहीं रहता है, यदि जीवित रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ दुर्बल होती हैं। अतः सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री में गर्भाधान न करायें॥ ५४-५५॥

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः सम्भवन्ति॥ ५६॥

गर्भाधान के अयोग्य स्त्रियाँ—बड़ी उम्र की अतिवृद्ध स्त्री में तथा लम्बी बीमारी से पीड़ित या अन्य किसी रोग से ग्रस्त में गर्भाधान न करें। इसी तरह के पुरुष के द्वारा भी गर्भाधान नहीं होना चाहिए॥ ५६॥

विमर्श—गर्भाधान के लिए ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज की तरह गर्भाधान की ऋतु, क्षेत्ररूपा नारी का उत्तम स्वास्थ्य, गर्भाधान से लेकर प्रसव तक भली प्रकार की देखभाल तथा क्षेत्रबीज की तरह पुंबीज का उत्तम कोटि का होना आवश्यक है। इस श्लोक में इसी प्रकार की विशेषताओं की ओर संकेत है ('ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादंकुरो यथा'–सु.)।

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशयकटीवङ्क्षणबस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च। तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयशृतक्षीरपानैश्च; गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत्; प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्वपृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं च प्रक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः; वेदनायां महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्राकण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाययेत्; मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धम्; आनाहे हिङ्गुसौवर्चललशुनवचासिद्धम्; अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागारिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुमनव-

मालिकागैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथालाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाययेत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूककल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलौदककन्दक्वाथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं; न्यग्रोधादिस्वरसपरिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्; अथादृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्यासिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्यासिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहतीद्वयोत्पलशतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा; एवमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते; व्यवस्थिते च गर्भे गव्येनोडुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत्। अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दालकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि; बस्त्युदरशूलेषु पुराणगुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा; वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तां मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्पस्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रम्; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्यमुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत; वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांसरसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः, तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः॥५७॥

सम्भावित गर्भपात की चिकित्सा—निदानस्थान के 'मूढगर्भनिदान' नामक आठवें अध्याय में वर्णित कारणों से सम्भावित गर्भपात (Threatened abortion) में गर्भाशय, कमर (Waist), वंक्षण (Groin) और बस्ति (Bladder) में वेदना और योनि से (Per vaginum) रुधिर आता है। इन लक्षणों की उपस्थिति में शीतल परिषेक (Irrigation with cold water), अवगाहन (Cold baths), शीतल प्रदेह (Cold pastes) और पीने के लिए जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध दें। ● यदि गर्भ अधिक स्फुरण युक्त (Excessive foetal movements) हो तो इसे नियन्त्रित करने लिए उत्पलादि गण से सिद्ध दुग्ध का बार-बार पान करायें। ● यदि गर्भपात (Abortion) या अकालप्रसव (Premature labour) अनिवार्य (प्रस्रंसमाने) हो तो पार्श्वों (Flanks) में दाह, पीठ में दर्द, योनिद्वार से रक्त आना (असृग्दर), आनाह (Distension of abdomen) और मूत्रसंग (Retention of urine) होते हैं; गर्भ एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है और पेट में बेचैनी होती है। ऐसी दशा में स्निग्ध (Soothing) और शीत (Cooling) उपचार किया जाता है। ● यदि वेदना हो तो माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मुलहठी, गोखरू, कटेरी (छोटी) से सिद्ध दूध में शर्करा और मधु मिलाकर पिलायें। ● मूत्रसंग हो तो दर्भादि द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध दें। ● आनाह हो तो हींग, सोंचर नमक, लहसुन और वचा से सिद्ध दुग्ध का पान करायें। ● अपत्यपथ से रुधिर अधिक मात्रा में आ रहा (Excessive bleeding) हो तो (१) कोष्ठागारिका ('कीटविशेषः'–ड.) के घर की मिट्टी (तद्गृहमृत्तिका) मंजीठ, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरु, राल और रसौत के चूर्ण को मधु के साथ चाटने को दें। (२) अथवा न्यग्रोधादि द्रव्यों में जितने मिल जायें उनकी त्वक् और कोमल पत्तों के कल्क को दूध से पिलावें। (३) या उत्पलादि के कल्क को (४) या कशेरु, सिंघाड़ा और कमलकन्द के कल्क को उबले हुए दूध से दें (५) या गूलरफल और कमल आदि जलज कन्द के क्वाथ से शालिधान्य के कल्क को शर्करा एवं मधु मिलाकर पिलायें (६) वस्त्रखण्ड को न्यग्रोधादि के स्वरस में भिगोकर योनि में धारण करायें। ● वेदना हो पर रक्तस्राव न हो तो (१) मुलहठी, देवदारु, मंजीठ, पयस्या (अर्कपुष्पी) से सिद्ध दुग्ध पीने को दें; (२) या अश्मन्तक (कर्बुदाकारः), शतावरी, पयस्या (अर्कपुष्पी) से सिद्ध दुग्ध दें; (३) या विदारिगन्धादि द्रव्यों से सिद्ध क्षीरपाक पिलायें; (४) या छोटी-बड़ी कटेरी, कमल, शतावरी,

सारिवा, पयस्या और मुलहठी से सिद्ध किया हुआ दुग्ध दें। इस प्रकार तत्काल चिकित्सा करने पर गर्भिणी की वेदनाएँ शान्त होती हैं और गर्भ भी पुष्ट होता है। जब गर्भ स्थिर (Foetus is retained) हो जाय तो गर्भिणी को गूलर के कच्चे फलों से सिद्ध गोदुग्ध से भोजन करायें।

गर्भपात-चिकित्सा—गर्भपात हो जाने पर जितने महीने का गर्भ हो उतने दिन लवण और स्नेह रहित और शुण्ठी आदि पाचक द्रव्यों से संस्कृत उद्दालक (अरण्यकोद्रव:) आदि की बनी यवागू पिलायें। बस्ति और उदर में शूल हो तो दीपनीय (पञ्चकोल) द्रव्यों से युक्त पुराना गुड़ दें या दीपनीय द्रव्यों से युक्त अरिष्ट (अभयारिष्ट) पिलायें।

लीनगर्भ-चिकित्सा—वायु के प्रकुपित होने से स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं और गर्भ लीन (संकुचित) हो जाता है (Shrinks) जिससे गर्भ अधिक समय तक अन्दर रह जाता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा में स्त्री का स्नेहनादि मृदु कर्मों से उपचार करें। उत्क्रोश (कुररभेद, पक्षि विशेष) के मांसरस से संसिद्ध और अधिक स्नेह वाली यवागू पिलायें। खाने को उड़द, तिल और बेल के कच्चे फलों से सिद्ध कुल्माष ('यावक: कुल्माषश्च'–अ.को.) अर्थात् कुलथी दें और बाद में मधुमाध्वीक सात दिन तक पिलायें।

लम्बे गर्भकाल में उपचार—यदि गर्भकाल लम्बा (Pregnancy is prolonged : Post-maturity) हो तो गर्भिणी को विशेषकर मूसल से ओखली में धान कूटने को कहें, विषमासन पर बिठायें या विषमयान पर बिठाकर सफर करायें।

शुष्कगर्भ का उपचार—गर्भ वातप्रकोप के कारण शुष्क हो जाता है। इससे माता का उदर खाली-सा लगता है, गर्भ का स्पन्दन भी मन्द होता है। ऐसे में बृंहणीय द्रव्य, दुग्ध और मांसरसों द्वारा उपचार करना चाहिए।

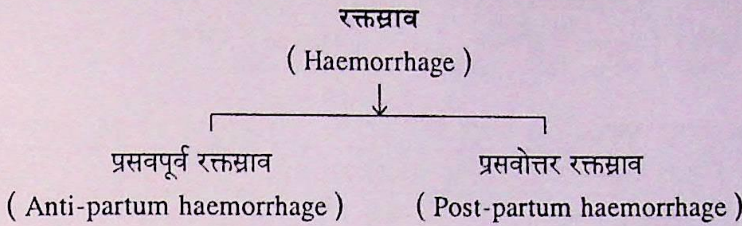
नैगमेषापहृत और नागोदर गर्भ—शुक्रशोणितज सजीव गर्भ जब प्रकुपित वात से युक्त होता है तो उससे उदर फूल जाता है। वह कभी-कभी अचानक स्वत: गायब (लीन) हो जाता है। उसे 'नैगमेषापहृत' कहते हैं। यह जब और लीन हो जाता है ('प्रलीयमानम् अल्पीभवन्तम्') तो इसको 'नागोदर' कहते हैं। इसका उपचार भी लीनगर्भ की तरह किया जाता है।। ५७।।

विमर्श—इस सूत्र में गर्भिणी के अनेकों विकारों का चिकित्सा सहित उल्लेख है यथा— १. पतिष्यति गर्भे (सम्भावित गर्भस्राव/Threatened abortion), २. गर्भस्फुरण (Excessive foetal movements), ३. प्रस्रंसमान गर्भ (Inevitable abortion or premature labour), ४. वेदना (Pain) युक्त गर्भ, ५. मूत्रसंग (Retention of urine) तथा आध्मान (Distension) युक्त गर्भावस्था, ६. रक्त अधिक आने पर (Excessive bleeding), ७. वेदना है पर रक्तस्राव नहीं, ८. व्यवस्थिते गर्भे (स्थिरगर्भ/Foetus is retained), ९. अतीते (पतिते इत्यर्थ:/Abortion has taken place), १०. बस्त्युदरशूलयुक्त गर्भ, ११. लीयते (Shrinks) गर्भ: (लीनगर्भ:), १२. कालातीतस्थायिनि गर्भे (Pregnancy is prolonged), १३. शुष्यति गर्भ: (Foetus dries up)—शुष्क गर्भ और १४. नागोदर गर्भ।

उन रोगों की संख्या, जो गर्भावस्था से सम्बन्धित (Associated with pregnancy) हैं, बहुत अधिक है; यथा— १. वृक्कविकार (Pyelitis/गोणिकाशोथ; मूत्रमार्गसंक्रमण आदि), २. रक्तविकार (रक्तन्यूनता, लोह की कमी/Megaloblastic anaemia), ३. हृद्रोग (श्वासकृच्छ्रता/Dyspnea) आदि, ४. फुप्फुस या किसी अन्य अंग का यक्ष्मा, न्यूमोनिया, श्वास, ५. मधुमेह, ६. तीव्र संक्रमणजन्य ज्वर आदि, ७. कृमिदन्त (Dental caries), ८. अतिलालास्रावता (Ptyalism), ९. हृद्दाह (Heart burn), १०. ग्रहणीव्रण, ११. उण्डुकपुच्छशोथ (Appendicities), १२. कामला, १३. पूयमेह, १४. गोनोमेह (Gonorrhaea), १५. फिरंग, १६. अपस्मार, १७. कण्डू (Pruritus), १८. रक्तदाबवृद्धि और १९. गर्भक्षेपक आदि।

विस्तारभय से इन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ एक महत्त्वपूर्ण व्याधियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

रक्तस्राव—यह गर्भावस्था और प्रसव के पश्चात् भी हो सकता है।



प्रसवपूर्व रक्तस्राव—('अत्यर्थं स्रवति रक्ते'–सु.शा. १०)। यह तीन तरह का है—१. Accidental रक्तस्राव—इसमें अपरा का आंशिक पार्थक्य होता है। २. परिसरीसम्मुखीन अपरा (Placenta praevia)—इसमें रक्तस्राव होना अनिवार्य है और ३. Incidental रक्तस्राव, जैसे—Erosion of cervix, polyp या कार्सीनोमा आदि से।

उपचार में प्लेसेण्टा प्रीविआ की विशेष व्यवस्था करनी होती है। योनि-परीक्षण का प्रयास न करें। तीव्र रक्तस्राव हो रहा हो तो मार्फिआ १५ मि.ग्रा. सूचीवेध करें और रुधिराधान आरम्भ कर दें। Caesarian section की आवश्यकता हो सकती है।

प्रसवोत्तर रक्तस्राव—यह प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) भेद से दो प्रकार का होता है। द्वितीयक प्रसव के २४ घण्टे बाद होता है। प्राथमिक रक्तस्राव यदि अपरा के स्थान से हो रहा है तो इसको रोकने की व्यवस्था तुरन्त होनी चाहिए। इस रक्तस्राव को होने ही न देने के लिए सम्मुखीन स्कन्धोदय के तुरन्त बाद सिरामार्ग से अर्गोमिट्रीन का प्रयोग करना चाहिए।

प्रसवपूर्व और प्रसवोत्तर रक्तस्राव के सम्बन्ध में विस्तार से जानना चिकित्सक के लिए नितान्त आवश्यक है।

गर्भाक्षेपक (Eclampsia)—इसमें दौरे (Fits) पड़ते हैं जो यद्यपि गर्भावस्था में कभी भी पड़ सकते हैं, पर अधिकतर गर्भावस्था के अन्तिम तीन महीनों में (Pre-eclampsia), प्रसवकाल में और प्रसव के पश्चात् प्रारम्भिक कुछ घण्टों में पड़ते हैं। इसका कारण विषाक्तता, असह्य वेदना और अर्गोमिट्रिन यदि दिया हो तो उससे भी अतिरक्तदाब पीड़िताओं में ऐसा कभी-कभी देखा जाता है।

एक हजार प्रसवों में एक स्त्री इससे पीड़ित होती है। रोग के आक्रमण से पहले लक्षण अस्पष्ट होते हैं। शिरःशूल, आँखों के आगे निशान (Spots), मूत्र में प्रोटीन और मूत्र की मात्रा कम, कामला, चेहरा, हाथ, उदर और टाँगों में सूजन, मूत्र को उबालने पर गाढ़ा होना आदि लक्षण गर्भाक्षेप के पूर्व या गर्भाक्षेप होने को हो तो पाये जाते हैं, जो भयानक स्थिति के सूचक हैं।

गर्भाक्षेपक के लक्षण अपस्मार के दौरे जैसे होते हैं। अपस्मार में The aura, The cry, The tonic, The clonic होते हैं पर इसमें The cry नहीं होती पर सान्तर, निरन्तर आक्षेप पाये जाते हैं। इसमें जीभ कट सकती है पर मल-मूत्र का त्याग नहीं होता है। The Aura आदि के लिए अपस्मार रोग का वर्णन देखें।

इसके उपचार में गर्भधारण होने से लेकर प्रसव के कुछ समय बाद तक सावधानी रखनी पड़ती है। रोग को न होने देने के लिए शामक और रक्तभार को कम करने वाली औषधियों का प्रयोग, प्रसव को शीघ्र कराने के प्रयास (Surgical induction) की आवश्यकता हो सकती है।

यदि रोग आरम्भ हो चुका हो तो शिशु और माता की रक्षा की दृष्टि से दौरों का रोकना नितान्त आवश्यक है। एतदर्थ सेडेटिव्स औषधियों का प्रयोग और संज्ञाहरण (Anaesthesia) करना होता है।

गर्भपात (Abortion)—यह कई प्रकार का होता है; यथा—१. सम्भावित (Threatened) गर्भपात, २. अनिवार्य (Inevitable) गर्भपात, ३. पूर्ण (Complete) गर्भपात, ४. अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात, ५. संक्रमित (Septic) गर्भपात, ६. लीन (Missed) गर्भपात, ७. पुनः-पुनः (Habitual) गर्भपात।

पच्चास प्रतिशत गर्भपातों का कारण ज्ञात नहीं हो पाता है। फिर भी कुछ कारण १. मातृसम्बन्धी (Maternal) होते हैं; जैसे—मधुमेह, अवटु-अल्पक्रियता आदि। २. डिम्बसम्बन्धी (Ovular), जैसे—Germ cells की अप्राकृतता आदि। ३. अभिघातजन्य (Traumatic), जैसे—विजातीय वस्तु का अन्तः प्रवेश (Uterine cavity), गर्भधारण के प्रारम्भिक तीन मास के समय में मैथुन करना आदि।

गर्भपात के उपचार में यह जानना आवश्यक है कि गर्भपात किस प्रकार का है—सम्भावित है, अनिवार्य है, पूर्ण है या अपूर्ण है आदि। चिकित्सा-व्यवस्था भी उसी प्रकार की जाती है (नि.स्था.अ. ८ भी देखें)।

गर्भाशय में गर्भ की मृत्यु (Death of the foetus)—प्रसवकाल में श्वासावरोध से गर्भ की मृत्यु के अतिरिक्त अन्य भी कई कारण हैं जिनसे गर्भ की प्रसव के पूर्व गर्भाशय में ही मृत्यु हो जाती है। ऐसी स्थिति में गर्भाशय मृत गर्भ को बाहर निकाल देता है किन्तु ऐसा भी देखा गया है कि मृत गर्भ महीनों तक गर्भाशय में टिका रहता है।

अन्तर्गर्भाशय मृत्यु के प्रमुख कारण फिरंग (Syphilis) आदि संक्रमण, पूर्व-गर्भाक्षेपविषाक्तता, गर्भ का विकृत निर्माण (Rhesus incompatibility) एवं अपरा की अपर्याप्तता आदि हैं।

इस अवस्था के लक्षणों में—१. गर्भ की गतियों का माता द्वारा अनुभव न करना, २. स्तनों का सिकुड़ने लगना और ३. वमनादि का सहसा रुक जाना प्रमुख हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि किसी एक लक्षण के आधार पर गर्भ की मृत्यु का निर्णय एक कठिन कार्य है।

उपचार में कुछ समय प्रतीक्षा करना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रायः गर्भ की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् गर्भाशय इसे बाहर निकाल देता है। अल्पफाइब्रिनोजन रक्तता (Hypofibrinogenaemia) जैसे उपद्रव होने लगें तो गर्भपात करा देना चाहिए। एतदर्थ सुरक्षित उपाय 'Oxytocin' का अन्तःसिरीय तरलाधान (Infusion) है (नि.स्था. ८ वाँ अ. भी देखें)

लीनगर्भ—'यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः' (अं.सं.)।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः ।। ५८ ।।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च। अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी।। ५९ ।।

वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा। अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च।। ६० ।।

बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्। पृश्निपर्णी बला शिग्रुः श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ।।

शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।

वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः। यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः।। ६२ ।।

गर्भस्राव की मासानुमासिक चिकित्सा—इन श्लोकों में सात औषधयोगों का उल्लेख है जिनका क्रमशः उपयोग, गर्भधारण के प्रथम मास से सातवें मास तक गर्भस्राव की आशंका होने पर गर्भिणी को कराया जाता है—१. मुलहठी, सागवान के बीज, पयस्या (अर्कपुष्पी या क्षीरकाकोली) और देवदारु।

२. अश्मन्तक (पाषाणभेद/कोविदारसदृशः अम्लपत्रः, 'अम्ललोटक' इति लोके), तिल (कृष्ण), ताम्रवल्ली (मंजीठ) और शतावरी। ३. वृक्षादनी (बन्दाक), पयस्या (क्षीरकाकोली), लता (गिलोय), कमल और अनन्तमूल। ४. अनन्ता (उत्पलसारिवा), सारिवा, रास्ना, पद्मा (भार्गी) और मुलहठी। ५. छोटी और बड़ी कटेरी, गम्भारी, क्षीरीवृक्ष-न्यग्रोधादि के कोमल पत्ते, छाल तथा घृत। ६. पिठवन, बला (खरेंटी), शिग्रु (सहिजन), गोखरू और मधुपर्णिका (गिलोय)। ७. सिंघाड़ा, भिस, मुनक्का, कसेरु, मुलहठी और मिश्री। इनको दूध के साथ प्रयोग में लाया जाता है॥ ५८-६२॥

कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिका-मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद्भिषगष्टमे॥ ६३॥
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्। क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम्॥ ६४॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च। एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति॥ ६५॥

आठवें मास में गर्भिणी को कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, पटोल (परवल), ईख और छोटी कटेरी के मूल से सिद्ध दुग्ध दें। नवम मास में मुलहठी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और सारिवा (क्वाथ) पीने को दें। दसवें मास में शुण्ठी और क्षीरविदारी से सिद्ध दुग्ध दें; अथवा सोंठ, मुलहठी, देवदारु के चूर्ण को दूध से दें। इन योगों के यथाक्रम प्रयोग से गर्भ की वृद्धि भली प्रकार से होती है और वेदना भी शान्त होती है॥ ६३-६५॥

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति॥ ६६॥

पुनर्गर्भाधान काल—यदि छः वर्ष के अन्तराल से पुनः गर्भाधान होता है तो होने वाला शिशु अल्पायु होता है॥ ६६॥

विमर्श—सम्भवतः इसका कारण लम्बी अवधि तक निष्क्रिय रहने से गर्भाशय की कार्यकुशलता में कमी आना है।

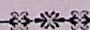
अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः॥ ६७॥

गर्भिणी-चिकित्सा—यदि गर्भिणी किसी तीव्र व्याधि से पीड़ित हो जाय तो आपत्तिकाल में मधुर और अम्ल आहार द्रव्यों से वमन करायें तथा अनुलोमनार्थ प्रयोग करें। संशमन और अन्नपान भी मृदु ही दें। खाने के लिए मृदुवीर्य और प्रायः मधुर तथा गर्भ के अनुकूल द्रव्यों का प्रयोग करें तथा अन्य क्रियाएँ भी गर्भ के अनुकूल एवं मृदु होनी चाहिए॥ ६७॥

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा। मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम्॥ ६८॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा। हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु॥ ६९॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि। कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः॥ ७०॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां तृतीयं शारीरस्थानं समाप्तम्।



शिशु के लिए मेधादिवर्धक योग—शिशुओं के बल, बुद्धि, शरीर, मेधा को बढ़ाने वाले चार योग इस प्रकार हैं—१. स्वर्णभस्म, कूठ, मधु, घृत और वचा; २. ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मधु, घृत और स्वर्णभस्म; ३. अर्कपुष्पी (पयस्या), मधु, घृत और स्वर्णभस्म तथा ४. स्वर्णभस्म, कैडर्य (पर्वतनिम्ब), वंशलोचन, दूर्वा, घृत, मधु॥ ६८-७०॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-शारीरस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'गर्भिणीव्याकरणशारीर' नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १०॥

इस प्रकार 'शारीर' नामक तीसरा स्थान समाप्त हुआ॥ ३॥



अध्याय-सारांश

'गर्भिणीव्याकरणशारीर' नामक इस अध्याय में—गर्भावस्था (Pregnancy), प्रसव (Labour) और नवजात (New born) शिशु से सम्बन्धित विवरण दिया गया है।

गर्भिणी को आरम्भ से ही प्रसन्नचित्त, धार्मिक कृत्य शान्ति-मंगलादि, क्रोध, भय आदि से रहित, सुखद शयनासनादि का सेवन, समुचित आहार आदि सामान्य नियमों का पालन करना चाहिए (३)।

विशेष रूप से प्रथम मासादि के लिए विशिष्ट आहार-व्यवस्था बतायी गयी है। अन्तिम मास में अनुवासन एवं विशेष प्रकार के आहार की सलाह दी है (४) और गर्भिणी को सूतिकागार में ले जाना चाहिए (५)।

प्रजायिनी के लक्षण (६), प्रजनयिष्यमाणा की परिचर्या करने वाली स्त्रियों के लिए नियम (८); गर्भसंग हो तो उसकी चिकित्सा-विधि (१०), नवजात की परिचर्या, नाभिच्छेदन के नियम, प्रसूता के स्तन्योत्पत्ति में विलम्ब, दुग्धपान के नियम (१२-१५); प्रसूता की परिचर्या (१६), उसकी अन्नपान-व्यवस्था (१७), उसे मिथ्याचार से बचाना चाहिए (२०)।

अपरा न गिरे तो उपचार (२१), मक्कल्ल लक्षण तथा चिकित्सा (२२), शिशु की शय्या तथा परिचर्या (२३); दशवें मास में नामकरण, धात्री-व्यवस्था, धात्री के गुण तथा दोष (२५), शिशु को दूध पिलाने के नियम, धात्री को प्रसन्नचित्त रखना (२९-३०), धात्रीस्तन्य की परीक्षा (३१-३३)।

रुग्ण शिशु की परीक्षा (३४-३५), क्षीरप, क्षीरान्नाद, अन्नाद शिशु के आहारानुसार भेद और औषध मात्रा (३८), शिशुव्याधि—तालुपात तथा उपचार (४२), शिशु से व्यवहार के नियम (४६-४७)।

स्त्रीदुग्ध के अभाव में शिशु को आज या गव्य दुग्ध की व्यवस्था (४८), छठे महीने में अन्नप्राशन करायें (४९)।

शिशु के ग्रहोपसर्ग लक्षण (५१), पच्चीसवें वर्ष शादी (५३), गर्भपात, गर्भस्फुरण, गर्भस्रंसन आदि अवस्थाओं की परिचर्या-चिकित्सा (५७)।

गर्भस्राव में मासानुमासिक क्रम (५८-६२), दूसरे बच्चे में छः वर्ष का अन्तर (६६), शिशु के लिए बलबुद्धिवर्धक योग (६८-७०)।



चिकित्सास्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'द्विव्रणीयचिकित्सितम्' (Management of the Two Types of Ulcerative Lesions/Wounds and Ulcers) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श— 'द्वौ व्रणौ अधिकृत्य कृतं द्विव्रणीयम्। चिकित्सितं = विकारप्रतीकारः' (ड.)।

व्रण

आगन्तुज व्रण (Wound) — शारीर (निज) व्रण (Ulcer)

द्वौ व्रणौ भवतः—शारीर आगन्तुश्च। तयोः शारीरः पवनपित्तकफशोणितसन्निपातनिमित्तः; आगन्तुरपि पुरुषपशुपक्षिव्यालसरीसृपप्रपतनपीडनप्रहाराग्निक्षारविषतीक्ष्णौषधशकलकपालशृङ्ग-चक्रेषुपरशुशक्तिकुन्ताद्यायुधाभिघातनिमित्तः। तत्र तुल्ये व्रणसामान्ये द्विकारणोत्थानप्रयोजन-सामर्थ्याद् द्विव्रणीय इत्युच्यते ॥ ३ ॥

व्रणभेद—व्रण दो प्रकार के होते हैं—१. शारीर और २. आगन्तुज। इनमें से शारीर व्रण के कारण वात, पित्त, कफ, रक्त और सान्निपातिक हैं। आगन्तुज व्रण के कारण पुरुष द्वारा अभिघात, पशु (गोमहिषादयः), पक्षि (काक-कङ्क-गृध्रादयः), व्याल (व्याघ्रादयो दुष्टजीवाः), सरीसृप (कृष्णसर्पादयः मीनमकरौ च), प्रपतन, पीडन, प्रहार (लगुडादिकुट्टनम्), आंग, क्षार, विष, तीक्ष्णौषध, (चिरबिल्वचित्रकादीनि), लकड़ी का टुकड़ा, कपाल (घटादीनां कर्परम्), सींग, चक्र (आयुधविशेषः) बाण, परशु (कुठाराकारः), शक्ति (त्रिमुखी, आयुधः), और कुन्त (भाला) आदि के द्वारा अभिघात हैं। दोषों से उत्पन्न या चोट लगने से हुआ व्रण व्रण ही है ('व्रणसामान्यम् = व्रणजातिः, व्रणत्वमित्यर्थः') किन्तु दो कारणों, दो तरह की उत्पत्ति और दो प्रकार के प्रयोजनों (शीतक्रियादि) से यह अध्याय 'द्विव्रणीय' कहलाता है ॥ ३ ॥

विमर्श—सूत्रस्थान (अध्याय २१ श्लोक ४०) में व्रण की परिभाषा एवं उसका विस्तृत विवेचन दिया गया है। संक्षेप में इतना ज्ञातव्य है कि आगन्तुज व्रण में शोथ (Inflammation) व्रण बन जाने के बाद यदि संक्रमण होता है तो पाया जाता है, जब कि दोषज-निज-शारीर व्रण में शोथ पहले होता है और व्रणोत्पादन बाद में। व्रण के इन दो भेदों में सभी प्रकार के व्रण समाविष्ट हो जाते हैं।

द्विव्रणीय—''द्विकारणं द्विहेतुकम्, यदुत्थानं उत्पत्तिः, तस्य प्रयोजनं शीतक्रियादि, तस्य सामर्थ्यं शक्तिस्तस्मात् 'द्विव्रणीय' इत्युच्यते'' (ड.)।

सर्वस्मिन्नेवागन्तुव्रणे तत्कालमेव क्षतोष्मणः प्रसृतस्योपशमार्थं पित्तवच्छीतक्रियावचारण-विधिविशेषः सन्धानार्थं च मधुघृतप्रयोग इत्येतद्द्विकारणोत्थानप्रयोजनम्, उत्तरकालं तु दोषोपप्लव-विशेषाच्छारीरवत् प्रतीकारः ॥ ४॥

आगन्तुज व्रण की आशु चिकित्सा (Immediate treatment of trauma)—आगन्तुज कारणों (Exogenous factors) से उत्पन्न व्रण की फैली हुई ऊष्मा के उपशमन के लिए शीघ्र ही (First aid) प्रकुपित पित्त के शीतावचारण (Cooling measures) की तरह की चिकित्सा-व्यवस्था करें और सन्धानार्थ (कटे प्रान्तों को जोड़ने के लिए/Promoting union of the wound edges) घृत तथा मधु का प्रयोग करें। दो प्रकार के जो व्रण बताये हैं उसका आधार यह (सन्धानार्थ तत्काल प्रयास) ही है। दोषज (Endogenous) व्रण के उपचार में जो विधि वर्णित है उसकी आवश्यकता उत्तरकाल (सात दिन में/'यतः सद्योव्रणत्वं सप्ताहमेव'-ड.) में दोषों से दूषित हो जाने के कारण ('दोषैरनिलादिभिरुपप्लवो दूषणं तद् भेदात्') होती है॥ ४॥

विमर्श— सद्योव्रण (आगन्तुज) के उपचार में सन्धानार्थ मधु-घृत के प्रयोग की तत्काल आवश्यकता बतायी है। सप्ताह भर का समय बीत जाने पर शारीरव्रणवत् उपचार बताया है। आगन्तुज व्रण के कटे प्रान्तों को तत्काल पास-पास लाकर दस दिन तक स्थिर रखने से प्रायः सन्धान हो जाता है। बाद में भी इस प्रकार करने पर कटे भाग जुड़ जाते हैं। पर संक्रमण हो जाने पर सन्धान कर्म कठिन कार्य है। इस प्रकार के व्रणप्रान्तों के सन्धानार्थ रुधिर की उपस्थिति अनिवार्य है। वाग्भट सूखे हुए किनारे वाले व्रणों को सीवन कर्म से पहले खुरचने की सलाह देते हैं—'व्रणो निःशोणितौष्ठौ यः किञ्चिदेवावलिख्यतम्। सञ्जातरुधिरं सीव्येत् सन्धानं ह्यस्य शोणितम्'॥ (सू. २९।५६) क्योंकि सन्धान का आधार रुधिर है।

'यस्मादस्य व्रणस्य सन्धानं शोणितमेव' (अ. द.)।

दोषोपप्लवविशेषः पुनः समासतः पञ्चदशप्रकारः, प्रसरणसामर्थ्याद्; यथोक्तो व्रणप्रश्नाधिकारे; शुद्धत्वात् षोडशप्रकार इत्येके॥ ५॥

दोषज व्रण के भेद— दोषदूषित व्रण (Ulcerative leisons) संक्षेप में पन्द्रह प्रकार का होता है जो सम्बन्धित दोष तथा उसके प्रकोप के अनुसार है, जैसा कि 'व्रणप्रश्नाधिकार' (सू. अ. २१) में बताया गया है। कुछ आचार्य शुद्ध व्रण ('सकलदोषोपप्लवरहितो व्रणः') को सम्मिलित कर व्रण के सोलह भेद मानते हैं॥ ५॥

विमर्श— यदि वात, पित्त, कफ और रक्त के अतिरिक्त इनकी अंशांश कल्पना के साथ-साथ धातु, मल आदि को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो ये व्रणभेद असंख्य हो जायेंगे। शुद्ध व्रण का लक्षण—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः। अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते'॥ (सु.सू. २३।१८)

तस्य लक्षणं द्विविधं—सामान्यं वैशेषिकं च। तत्र सामान्यं रुक्। 'व्रण' गात्रविचूर्णने, व्रणयतीति व्रणः। विशेषलक्षणं पुनर्वातादिलिङ्गविशेषः॥ ६॥

दोषज व्रण के लक्षण— इस व्रण के लक्षण दो प्रकार के हैं—१. सामान्य (General) और २. विशेष (Specific)। व्रण के सामान्य लक्षणों में वेदना (Pain) का विशिष्ट स्थान है। 'व्रण' शब्द गात्र-विचूर्णार्थक 'व्रण' धातु से बना है ('व्रणयतीति व्रणः')। व्रण के विशेष लक्षण वातादि दोषों के प्रकोप के अनुसार होते हैं॥ ६॥

विमर्श— डल्हण के अनुसार—('व्रण गात्रविचूर्णने इत्येवं धातुः, गात्रविवर्णनमित्यस्यार्थः। व्रणयति गात्रवैवर्ण्यं करोतीत्यर्थः') व्रण इसलिए कहलाता है क्योंकि इससे व्रणस्थान का रंग समीपस्थ त्वचा से भिन्न (विवर्ण) होता है। (विशेष विवरण सू.अ. २१ के विमर्श में देखें)

तत्र श्यावारुणाभस्तनुः शीतः पिच्छिलोऽल्पस्रावी रूक्षश्चटचटायनशीलः स्फुरणायामतोदभेदवेदनाबहुलो निर्मांसश्चेति वातात्, क्षिप्रजः पीतनीलाभः किंशुकोदकाभोष्णस्रावी दाहपाकरागविकारकारी पीतपिडकाजुष्टश्चेति पित्तात्, प्रततचण्डकण्डूबहुलः स्थूलौष्ठः स्तब्धसिरास्नायुजालावततः कठिनः पाण्ड्ववभासो मन्दवेदनः शुक्लशीतसान्द्रपिच्छिलास्रावी गुरुश्चेति कफात्, प्रवालदलनिचयप्रकाशः कृष्णस्फोटपिडकाजालोपचितस्तुरङ्गस्थानगन्धिः सवेदनो धूमायनशीलो रक्तस्रावी पित्तलिङ्गश्चेति रक्तात्, तोददाहधूमायनप्रायः पीतारुणाभस्तद्वर्णस्रावी चेति वातपित्ताभ्यां, कण्डूयनशीलः सनिस्तोदो रूक्षो गुरुर्दारुणो मुहुर्मुहुः शीतपिच्छिलाल्पस्रावी चेति वातश्लेष्मभ्यां, गुरुः सदाह उष्णः पीतपाण्डुस्रावी चेति पित्तश्लेष्मभ्यां, रूक्षस्तनुस्तोदबहुलः सुप्त इव च रक्तारुणाभस्तद्वर्णास्रावी चेति वातशोणिताभ्यां, घृतमण्डाभो मीनधावनतोयगन्धिर्मृदुर्विसर्प्युष्णकृष्णस्रावी चेति पित्तशोणिताभ्यां, रक्तो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः कण्डूप्रायः स्थिरो सरक्तपाण्डुस्रावी चेति श्लेष्मशोणिताभ्यां, स्फुरणतोददाहधूमायनप्रायः पीततनुरक्तस्रावी चेति वातपित्तशोणितेभ्यः, कण्डूस्फुरणचुमचुमायमानप्रायः पाण्डुघनरक्तास्रावी चेति वातश्लेष्मशोणितेभ्यः, दाहपाकरागकण्डूप्रायः पाण्डुघनरक्तास्रावी चेति पित्तश्लेष्मशोणितेभ्यः, त्रिविधवर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफेभ्यः, निर्दहननिर्मथनस्फुरणतोददाहपाकरागकण्डूस्वापबहुलो नानावर्णवेदनास्रावविशेषोपेतः पवनपित्तकफशोणितेभ्यः, जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति ॥ ७ ॥

व्रण के दोषानुसार लक्षण—(१) वातिक व्रण के लक्षण—श्याव (Blackish) और अरुण (Reddish) वर्ण, तनु (पतला, जो गहरा न हो/Small in size), शीतस्पर्श, पिच्छिल (Slimy), अल्पस्राव वाला, रूक्ष (Dry), चटचटायन तरह की विशेष वेदना वाला (Tendency to crack), स्फुरण (पुनः पुनश्चलनम्/Throbbing), आयाम (खींचने जैसी वेदना वाला/Stretching), तोद (Pricking), भेद (Piercing) जैसी वेदनायुक्त, अबहुल (जो बहुत फैला न हो/Little granulation tissue formation) और अल्प मांस वाला होता है। (२) पैत्तिक व्रण के लक्षण—क्षिप्र अर्थात् शीघ्र होने वाला (Sudden appearance), वर्ण में पीला और नीलापन (Yellowish or bluish), पलाशपुष्प जल सदृश उष्ण स्राव वाला (Reddish ? Sero-sanguinous) जलन और पाक तथा राग युक्त और पीले रंग की पिडकाओं वाला होता है। (३) श्लैष्मिक व्रण के लक्षण—लगातार तेज कण्डू युक्त, स्थूल (मोटे) प्रान्तों वाला, अमृदु सिरा-स्नायु समूह से बन्धा हुआ (Covered with regid vein and ligamentous tissue), पाण्डुवर्ण (Anaemic look), अल्पवेदना वाला, कठोर, जिससे सफेद, ठण्डा, गाढ़ा और चिपचिपा स्राव निकलता है तथा गुरु (Feeling of heaviness) होता है। (४) रक्तज व्रण के लक्षण—देखने नें मूँगे के ढेर जैसा (Collection of coral sprouts), काले रंग के स्फोट और पिडका के जालों से युक्त, घुड़साल की-सी गन्धवाला (तीक्ष्णक्षारगन्धिः/Horse stable जैसी गन्ध), वेदना युक्त, धूमायन शील ('पक्वेण धूमोद्गमनकर्तुं शीलः'/Have a dull lustre देखने में धूमिल-सा), रक्त स्राव वाला (Tendency to bleed) और पैत्तिक व्रण के लक्षणों वाला होता है। (५) वात-पित्त व्रण के लक्षण—तोद, दाह युक्त तथा धूमिल-सा, वर्ण में पीत और अरुण तथा पीत वर्ण एवं अरुण वर्ण के स्राव वाला होता है। (६) वात-कफ व्रण के लक्षण—कण्डू युक्त, पीड़ायुक्त (Painful), रूक्ष, गुरु, दारुण (कठिन/Hard) और जिसमें से बार-बार शीतल एवं पिच्छिल स्राव आता है। (७) पित्त-श्लेष्म व्रण के लक्षण—भारी, दाहयुक्त, उष्ण, पीत और पाण्डु वर्ण के स्राव वाला होता है। (८) वात-शोणित व्रण के लक्षण—रूक्ष, तनु और तोद की अधिकता वाला, सुन्न-सा (Loss of sensation), वर्ण में रक्त और अरुण तथा रक्त और अरुण वर्ण के स्राव वाला होता है। (९) पित्त-शोणित व्रण के लक्षण—देखने में घृतमण्ड ('घृतस्य उपरिस्थोऽच्छोभागो

मण्ड:'-ड.) सदृश, मछली के धोवन सदृश गन्धवाला ('मत्स्यप्रक्षालनोदकगन्धि:, विस्रगन्धिरित्यर्थ:'), मृदु, प्रसरणशील, जिसमें से काले रंग का उष्ण स्राव आता है। (१०) श्लेष्म-शोणित व्रण के लक्षण—रक्तवर्ण, भारी, स्निग्ध, चिपचिपा, अधिक कण्डूयुक्त, स्थिर (Fixed), रुधिर एवं पाण्डु वर्ण के स्राव वाला है। (११) वात-पित्त-शोणित व्रण के लक्षण—स्फुरण युक्त, अधिकतर तोद, दाह और धूमिल-सा तथा पीले रंग का पतला स्राव एवं रक्तस्राव वाला है। (१२) वात-कफ-शोणित व्रण के लक्षण—कण्डू, स्फुरण और अधिक चुमचुमायन ('राजिका सर्षपलिप्त इव') युक्त और पीले, गाढ़े रक्तस्राव वाला है। (१३) श्लेष्म-पित्त-शोणित व्रण के लक्षण—प्राय: दाह, पाक, राग और कण्डूयुक्त तथा पीला, गाढ़े रक्त का स्राव आता है। (१४) वात-पित्त-कफ व्रण के लक्षण—इसमें वातादि तीनों दोषों के वर्ण, वेदना और स्राव होते हैं। (१५) वात-पित्त-कफ-शोणितज व्रण के लक्षण—इसमें नाना प्रकार के वर्ण, वेदना एवं स्राव होते हैं तथा निर्दहन (भस्मसात्करणमिव = जला देने जैसी), निर्मथन (मन्थानविलोडनमिव = मथने जैसी), स्फुरण, तोद, दाह, पाक, राग, कण्डू की अधिकता तथा सुन्नपन (स्वाप) होते हैं। (१६) शुद्ध व्रण के लक्षण—इसमें जीभ के निचले हिस्से की तरह मृदु (कोमल:), स्निग्ध (मसृण:), अल्पवेदना युक्त, सुव्यवस्थित (शोभनाकृति:) और निरास्राव (अल्पस्रावयुक्त) ये लक्षण होते हैं॥ ७॥

विमर्श—शुद्ध व्रण के लक्षण सू. २३ में भी बताये गये हैं—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्त: श्यावौष्ठ: पिडकी सम:। अवेदनो निरास्रावो व्रण: शुद्ध इहोच्यते'॥ (सु.सू. २३।१८)

सुव्यवस्थित:—'शोभनाकृति: एतेन नात्युन्नतो नातिनीच: किन्तु सम इति बोधयति' (ड.)।

तस्य व्रणस्य षष्टिरुपक्रमा भवन्ति। तद्यथा—अपतर्पणमालेप: परिषेकोऽभ्यङ्ग: स्वेदो विम्लापनमुपनाह: पाचनं विस्रावणं स्नेहो वमनं विरेचनं छेदनं भेदनं दारणं लेखनमेषणमाहरणं व्यधनं विस्रावणं सीवनं सन्धानं पीडनं शोणितास्थापनं निर्वापणमुत्कारिका कषायो वर्ति: कल्क: सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनं व्रणधूपनमुत्सादनमवसादनं मृदुकर्म दारुणकर्म क्षारकर्माग्निकर्म कृष्णकर्म पाण्डुकर्म प्रतिसारणं रोमसञ्जननं लोमापहरणं बस्तिकर्मोत्तरबस्तिकर्म बन्ध: पत्रदानं कृमिघ्नं बृंहणं विषघ्नं शिरोविरेचनं नस्यं कवलधारणं धूमो मधु सर्पिर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानमिति॥ ८॥

व्रण के साठ उपक्रम—उस व्रण (सोलह प्रकार) के साठ उपक्रम (Procedures for the treatment) होते हैं अर्थात् व्रण (Ulcerative and other lesions) चिकित्सा की साठ प्रकार की विधियाँ हैं जो इस प्रकार हैं—१. अपतर्पण (अभोजनम्/Abstinence from food), २. आलेप (लेप लगाना/Application of paste) ३. परिषेक (सिंचन, छिड़कना, धार लगाकर तरल प्रयोग/Spraying), ४. अभ्यङ्ग (मालिश करना/Anointing), ५. स्वेद (पसीना लाना/Fomentation-sudation/सिकाई करना), ६. विम्लापन (अङ्गुल्यादिना मर्दनम्/Gentle massage), ७. उपनाह (Poultice लगाना), ८. पाचन (फोड़े को पकाना/Induction of suppuration), ९. विस्रावण (रक्त निकालना/Blood letting), १०. स्नेह (स्नेह-तैल-घृतादि का प्रयोग/Oleation), ११. वमन (छर्दन/Emesis), १२. विरेचन (दस्त लाना/Purgation), १३. छेदन (काटकर अलग करना/Excision), १४. भेदन (चीरा लगाना/Incision), १५. दारण (औषध लेप द्वारा फोड़े का फटना/Bursting by medication), १६. लेखन (खुरचना/Scraping), १७. एषण (शलाका द्वारा शल्य को ढूँढ़ना/Probing), १८. आहरण (निकालना, खींचना/Extraction), १९. व्यधन (बींधना/Puncturing), २०. स्रावण (तरल के निकलते रहने की व्यवस्था/Drainage), २१. सीवन (व्रण का सीना/Suturing), २२. सन्धान (जुड़ने के लिए परस्पर मिलाना/Approximation of wound edges), २३. पीडन (निचोड़ना, दबाना/Squeezing out), २४. शोणितस्थापन (रक्तस्राव को रोकना/Haemostasis), २५. निर्वापण ('वेदनोपशमन'–ड./Cooling applications), २६. उत्कारिका ('पेयानुसारिणी उत्कारिका'–ड./Warming applications), २७. कषाय

(क्वाथ/Medicinal debridement), २८. वर्ति (औषधयुक्त/Use of wicks), २९. कल्क (Pastes), ३०. सर्पि (औषधसिद्ध घृत), ३१. तैल (औषधसिद्ध तैल/Medicated oil), ३२. रसक्रिया (क्वाथ को गाढ़ा करना/Thickened extracts), ३३. अवचूर्णन (बारीक औषध-चूर्ण छिड़कना/Dusting powder), ३४. व्रणधूपन (Fumigation of the ulcer), ३५. उत्सादन ('निम्नव्रणस्योन्नतिकरणम्'—ड./ Granulation tissue के निर्माण को बढ़ाना), ३६. अवसादन ('उन्नतव्रणस्य निम्नत्वकरणम्'–ड./Removal of granulation tissue), ३७. मृदुकर्म (व्रण की कठोरता को नरम करना/Softening), ३८. दारुण कर्म (मृदु व्रण को कठोर करना/Hardening) , ३९. क्षार कर्म (क्षार का प्रयोग), ४०. अग्निकर्म (Thermal cauterisation), ४१. कृष्णकर्म (क्षतांक को काला करना/Pigmenting procedures), ४२. पाण्डुकर्म (पाण्डु रंग का करना), ४३. प्रतिसारण ('प्रतिसारणं घर्षणम्'/त्वचा के समान रंग करने के लिए), ४४. रोमसंजनन (बाल उगाना), ४५. रोमापहरण (बाल हटाना/Depilation), ४६. बस्तिकर्म (Enema therapy), ४७. उत्तरवस्तिकर्म (Douching and irrigation procedures), ४८. बन्ध (Bandaging), ४९. पत्रदान (Covering of ulcers by leaves), ५०. कृमिघ्न (Disinfection), ५१. बृंहण (Restorative measures), ५२. विषघ्न (Neutralisation of poisons), ५३. शिरोविरेचन (Use of errhines), ५४. नस्य (Nasal medication), ५५. कवलधारण (Gargling), ५६. धूम (Smoking), ५७. मधुसर्पि: (Internal use of honey and ghee), ५८. यन्त्र (Instrumentation), ५९. आहार (Dietary regimen), ६०. रक्षाविधान (Prophylactic Measures या व्रणितोपासन) ॥ ८ ॥

विशेष— 'व्रणितस्य सञ्जातव्रणस्योपासनं सेवनं तच्च गृहशय्यासनादिकं, तद् विद्यते यस्मिन् स तथा' (डल्हण:) ।

तेषु कषायो वर्तिः कल्कः सर्पिस्तैलं रसक्रियाऽवचूर्णनमिति शोधनरोपणानि। तेष्वष्टौ शस्त्रकृत्याः। शोणितास्थापनं क्षारोऽग्निर्यन्त्रमाहारो रक्षाविधानं बन्धविधानं चोक्तानि। स्नेहस्वेदन-वमनविरेचनबस्त्युत्तरबस्तिशिरोविरेचननस्यधूमकवलधारणान्यन्यत्र वक्ष्यामः। यदन्यदवशिष्टमुपक्रमजातं तदिह वक्ष्यते॥ ९॥

साठ उपक्रमों के कार्य— इन साठ उपक्रमों में से कषाय (Decoctions), वर्ति (Wicks), कल्क (Pastes), घृत, तैल, रसक्रिया और अवचूर्णन (Dusting powders) का प्रयोग व्रणों के शोधन (Cleaning) और रोपण (Healing) के लिए होता है। इनमें आठ छेदन-भेदनादि शस्त्र द्वारा सम्पन्न होते हैं ('शस्त्रेण कर्तुं शक्याः')। शोणितास्थापन (Haemostasis), क्षारकर्म, अग्निकर्म, यन्त्र, आहार, रक्षाविधान और बन्धविधान (Bandaging) का वर्णन किया जा चुका है। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति, उत्तरबस्ति, शिरोविरेचन, नस्य, धूम और कवल धारण का वर्णन अन्यत्र किया जायेगा। जो शेष रह गये हैं उनका क्रमशः वर्णन यहाँ किया जाता है॥ ९॥

विमर्श— कषाय, वर्ति आदि का वर्णन इसी अध्याय में आगे हैं। अष्टविधशस्त्रकर्म सू.अ. ५ में, शोणितस्थापन सू.अ. १४ में, क्षार सू.अ. ११ में, अग्निकर्म सू.अ. १२ में, यन्त्रकर्म सू.अ. ९ में, बन्धन सू.अ. १८ में और रक्षाविधान सू.अ. १९ में वर्णित हैं।

षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफः, तस्यैकादशोपक्रमा भवन्त्यपतर्पणादयो विरेचनान्ताः; ते च विशेषेण शोथप्रतीकारे वर्तन्ते, व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते; शेषास्तु प्रायेण व्रणप्रतीकारहेतव एव॥ १०॥

शोथनाशक उपक्रम—छः प्रकार के शोफ का जो वर्णन पूर्व (सू.अ. १७ में) किया गया है उसकी चिकित्सा-विधियाँ ग्यारह प्रकार की हैं जो अपतर्पण से लेकर विरेचन तक हैं। ये विधियाँ विशेष रूप से शोथ को दूर करती हैं। पर व्रण बन जाने पर भी इनका प्रयोग निषिद्ध नहीं है। शेष उपक्रम मुख्य रूप से व्रणचिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।। १०।।

विमर्श— यद्यपि अपतर्पण से लेकर विरेचन तक बारह उपक्रम होते हैं किन्तु अपतर्पण सर्वसामान्य एवं उपक्रमों में प्रधान होने से संख्यातिरेक नहीं होता है ('अपतर्पणम्—उपक्रममध्ये प्राधान्यात् गृह्यते'–ड.)। यही बात अगले सूत्र में कही गयी है।

अपतर्पणमाद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च।। ११।।

(१) अपतर्पण : प्रधानतम उपक्रम (Abstinence from food)—यह आद्य उपक्रम (First procedure) है और सामान्य रूप से शोफ से पीड़ित सभी रोगियों (या सभी प्रकार/पञ्चदशानाम्) के शोफों में प्रयुक्त होता है तथा (आशुरोगहर होने से) प्रधानतम भी है।। ११।।

विमर्श—अपतर्पण का प्रयोग आगन्तुज में नहीं होता है, क्योंकि उनमें दोषोच्छ्राय नहीं होता है ('सर्वशोफानामिति पञ्चदशानां, नागन्तोः, दोषोच्छ्रायोपशान्त्यर्थमिति वचनात्'–ड.)।

भवन्ति चात्र—

दोषोच्छ्रायोपशान्त्यर्थं दोषानद्धस्य देहिनः। अवेक्ष्य दोषं प्राणं च कार्यं स्यादपतर्पणम्।। १२।।

अपतर्पण के लाभ एवं अवधि—(कफादि आम) दोषों से युक्त व्यक्ति के दोषोच्छ्राय (दोषौत्कटच) को शान्त करने के लिए रोगी के दोष तथा प्राण ('चकारात् वयःप्रकृत्यादीनि चेष्टानि') आदि की विवेचना कर अपतर्पण कराना चाहिए।। १२।।

विमर्श— दोष और अपतर्पण के सम्बन्ध में चक्रदत्त का कथन—'दोषाणामेव सा शक्तिर्लङ्घने या सहिष्णुता। नहि दोषक्षये कश्चित्सहते लङ्घनादिकम्'।।

ऊर्ध्वमारुततृष्णाक्षुन्मुखशोषश्रमान्वितैः। न कार्यं गर्भिणीवृद्धबालदुर्बलभीरुभिः।। १३।।

अपतर्पण का निषेध विषय—ऊर्ध्वमारुत (श्वासकासादिरोगिणः), प्यास, भूख, मुखशोष (निरामवातपित्तकृतः), थकान से युक्त, गर्भिणी, वृद्ध, बाल, दुर्बल और डरपोक व्यक्तियों को अपतर्पण नहीं कराना चाहिए।। १३।।

विमर्श— कुछ आचार्य 'ऊर्ध्ववात' से इस नाम के रोग का ग्रहण करते हैं—'भुक्तेऽभुक्ते तथा सुप्ते यस्योद्गारो भृशं भवेत्। ऊर्ध्ववातं तु तं विद्यादुदानव्यानसम्भवः'।।

शोफेषूत्थितमात्रेषु व्रणेषूग्ररुजेषु च। यथास्वैरौषधैर्लेपं प्रत्येकश्येन कारयेत्।। १४।।

(२) आलेपन विषय (Application of paste) जातमात्र शोथ (Early stage of inflammation) और वह व्रण जिनमें भयंकर वेदनाएँ होती हैं उनमें 'यथास्वैः' अर्थात् जिस दोष की प्रधानता है उसको दूर करने वाले औषध द्रव्यों का लेप करना चाहिए।। १४।।

विमर्श— यथास्वैः—वात-प्रधान व्रणशोथ में दोषप्रशमनार्थ मातुलुङ्ग द्रव्यों का (सू.अ. ३७ में वर्णित) पित्त-प्रधान व्रण में दूर्वादि द्रव्यों का तथा श्लेष्मदोष की प्रधानता में अजगन्धाश्वगन्धादि द्रव्यों का लेप करना चाहिए। 'प्रत्येकश्येन = एकेन' (ड.)

यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम्। क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निमेवमालेपनं रुजः।। १५।।

आलेपन फल—जिस प्रकार गृह में लगी आग को छिड़का गया जल शान्त कर देता है उसी प्रकार व्रणशोथ की वेदना को आलेप शान्त कर देता है।। १५।।

विमर्श—सूत्रस्थान अध्याय ('व्रणालेपनबन्धनविधि अध्यायोपक्रमः') १८ में आलेपन को 'आद्य उपक्रम' बताया गया है; प्रलेप के भेद, लगाने की विधि आदि का विस्तार से वर्णन है।

प्रह्लादने शोधने च शोफस्य हरणे तथा। उत्सादने रोपणे च लेपः स्यात्तु तदर्थकृत्॥ १६॥

आलेपन के अन्य लाभ—मन की प्रसन्नता (प्रह्लादने सुखकरणे; रुजापनयनात्), व्रण का शोधन (व्रणस्य दोषप्रकोपस्फोटनात्), शोथ को दूर करना (Reduction of swelling), व्रण का उत्सादन (निम्नव्रणस्योन्नतिकरणे/filling up the wound) और रोहण (Healing), ये लेपन के लाभ हैं॥ १६॥

विमर्श—'अस्य प्रयोगः पुरालेपाध्याये, द्रव्याणि तु मिश्रकादिषु' (ड.)।

वातशोफे तु वेदनोपशमार्थं सर्पिस्तैलधान्याम्लमांसरसवातहरौषधनिःक्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत, पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्तेषु क्षीरघृतमधुशर्करोदकेक्षुरसमधुरौषधक्षीरवृक्षनिःक्वाथैरनुष्णैः परिषेकान् कुर्वीत, श्लेष्मशोफे तु तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैरशीतैः परिषेकान् कुर्वीत॥ १७॥

यथाऽम्बुभिः सिच्यमानः शान्तिमग्निर्नियच्छति। दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति॥ १८॥

(३) परिषेक : वेदनाहर उपाय—वातिक शोफ में वेदना की शान्ति के लिए घृत, तैल, धान्याम्ल, मांसरस और वातहर औषधियों के कोष्ण क्वाथों से परिषेक (Spraying) करें। **पैत्तिक, रक्तज, अभिघातज** और **विष** जन्य शोथ में दूध, घी, मधु, शर्करा जल, गन्ने का रस, मधुरौषधियाँ (काकोल्यादीनि) और क्षीर वृक्ष (वटादि) के अनुष्ण (जो गरम न हो) क्वाथों से परिषेक करें। **श्लेष्म** शोफ में तैल, मूत्र (गोमूत्र), क्षार जल, मदिरा, शुक्त और (कालेयकागुरुप्रभृति) कफहर औषधियों के उष्ण क्वाथों से परिषेक करें॥ १७॥

जैसे जल से सिञ्चन करने पर आग शान्त हो जाती है उसी प्रकार परिषेक से दोषाग्नि शान्त होती है॥ १८॥

विमर्श—वातहर औषध जैसे—भद्रदार्वादि द्रव्य।

अभ्यङ्गस्तु दोषमालोक्योपयुक्तो दोषोपशमं मृदुतां च करोति॥ १९॥

(४) अभ्यङ्ग (Anointing) **का लाभ**—दोषों को देखकर प्रयुक्त किये जाने पर दोषों को शान्त करता है तथा मृदुता लाता है॥ १९॥

विमर्श—दोषमालोक्य—दोषों को देखकर जैसे—वात तथा कफ दोषों में तैल से और पित्त-रक्त-विषादि में शतधौत घृत से अभ्यंग किया जाता है।

स्वेदविम्लापनादीनां क्रियाणां प्राक् स उच्यते। पश्चात् कर्मसु चादिष्टः स च विस्रावणादिषु॥

अभ्यङ्ग-समय—यह अभ्यङ्ग स्वेदन (Local fomentation), विम्लापन (Gentle massage therapy) आदि से पहले किया जाता है और विस्रावणादि (Blood-letting) के पश्चात् करते हैं॥ २०॥

विमर्श—स्नेहन को छोड़कर विरेचनान्त जो सात उपक्रम (शोथ के) है अभ्यंग उनसे पहले करना बताया है और स्नेहन वमन-विरेचन को छोड़कर सेचनान्त उपक्रमों के पश्चात् किया जाता है।

रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च। शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः॥ २१॥

(५) स्वेदन (Sudation/Fomentation) **के विषय**—(वात-कफादि की) की वेदनाओं से युक्त, दारुण (Indurated) और कठोर (Hard) शोथों तथा इसी तरह के व्रणों में स्वेदन करना चाहिए॥ २१॥

स्थिराणां रुजतां मन्दं कार्यं विम्लापनं भवेत्। अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाड्या ततः शनैः॥
विमर्दयेद्भिषक् प्राज्ञस्तलेनाङ्गुष्ठकेन वा।

(६) विम्लापन (Gentle massage) **के विषय और प्रयोग**—जो व्रण या व्रणशोथ स्थिर (कठिन/Fixed) और मन्द-मन्द (Mild) वेदनायुक्त है, उनमें 'विम्लापन' किया जाता है। विम्लापन से पहले प्रयोज्य स्थल का अभ्यंग और स्वेदन करते हैं। तदनन्तर विद्वान् सर्जन वेणु (बाँस/Bamboo), पाणि-पादतल (Palm) या अंगुष्ठ (Thumb) से धीरे-धीरे मर्दन करते हैं॥ २२॥

विमर्श— विम्लापन—'अंगुल्यादिमर्दनेन शोथविलयनम्' (ड.)। व्रण या व्रणशोथ में मन्द-मन्द वेदना कफाधिक्य या वातकफाधिक्य में होती है।

शोफयोरुपनाहं तु कुर्यादामविदग्धयोः॥ २३॥
अविदग्धः शमं याति विदग्धः पाकमेति च।

(७) उपनाह (Application of poultices)—जो व्रणशोथ (Inflammation) आम (Unsuppurated) या विदग्ध (Partially suppurated) हो उसमें उपनाह किया जाता है। इससे जो फोड़ा पका नहीं है वह बैठ (Resolve) जाता है और जो विदग्ध अर्थात् जिसमें पाक आरम्भ हो गया है वह शीघ्र पक जाता है॥ २३॥

विमर्श— वात-कफ शोथ में उपनाह का प्रयोग होता है। 'अविदग्धः = आमः'; विदग्धः = किञ्चित्पक्वः, Partially suppurated कहलाते हैं।

निवर्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः। तस्य सम्पाचनं कुर्यात् समाहृत्यौषधानि तु॥ २४॥
दधितक्रसुराशुक्तधान्याम्लैर्योजितानि तु। स्निग्धानि लवणीकृत्य पचेदुत्कारिकां शुभाम्॥ २५॥
सैरण्डपत्रया शोफं नाहयेदुष्णया तया। हितं सम्भोजनं चापि पाकायाभिमुखो यदि॥ २६॥

(८) पाचन (Indication of suppuration) **विषय**—अपतर्पण से लेकर विरेचन तक ('तस्यैकादशोपक्रमाः'–सु.) के उपक्रमों से जो व्रणशोथ शान्त नहीं होता है उसके पाचन के लिए सम्पाचन औषधियों ('औषधानि मिश्रकोक्तानि शणमूलकबीजादीनि समभागप्रमाणानि, तथा चतुर्गुणदध्यादिद्रवाणि च समाहृत्य एकीकृत्य'-ड.) को लेकर दधि, तक्र, सुरा, शुक्त, धान्याम्ल में मिलाकर, स्निग्ध कर और लवण मिलाकर इस प्रकार पकायें कि उत्तम 'लप्सिका' या 'पूपलिका (Semisolid paste) उपनाहन के योग्य, न बहुत गाढ़ी न बहुत पतली (उत्कारिका) बन जाय। इसे गरम-गरम एरण्ड के पत्र पर रखकर शोथ-युक्त स्थान (व्रणशोथ) पर रख दें। यदि पाकाभिमुख (Suppuration) होने लगे तो यथेष्ट भोज्य पदार्थ दें, जो हितकर (Beneficial and wholesome) होने चाहिए॥ २४-२६॥

विमर्श— डल्हण द्वारा दिये गये 'सुधीर' के उद्धरण के अनुसार 'पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं सम्भोजनं मतम्'। पथ्यापथ्य युक्त भोजन 'सम्भोजन' है।

वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च। अचिरोत्पतिते शोफे कुर्याच्छोणितमोक्षणम्॥ २७॥

(९) विस्रावण (Blood-letting) **विषय**—वेदना की शान्ति के लिए, पाक को रोकने के लिए तत्काल उत्पन्न व्रणशोथ में शोणितमोक्षण कराना चाहिए ('जलौकाभिः प्रच्छनैर्वा शोणितमोक्षणं कुर्यात्'–ड.)।

विमर्श— व्रणशोथ में श्वेतरक्तकोशिकाओं के संचय से सूजन होकर तनाव बढ़ जाता है, जिससे वेदना होने लगती है। रक्तमोक्षण से दूषित रुधिर निकल जाता है जिससे फोड़े को पकने का अवसर नहीं मिलता है और तनाव कम होकर वेदना भी जाती रहती है। रक्तमोक्षणार्थ जलौकापातन परम सुकुमार उपाय है।

सशोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति। संरब्धे विषमे चापि व्रणे विस्रावणं हितम्॥ २८॥
सविषे च विशेषेण जलौकोभिः पदैस्तथा। वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तये तथा॥ २९॥

रक्तविस्रावण के अन्य विषय—जो व्रणशोथ कठिन (Hard), श्याम (कृष्णारुण) वर्ण, रक्तसंचय युक्त (Congested), वेदनायुक्त, विशाल मूल वाला (संरब्ध/Indurated), विषम (निम्नोन्नत/Irregular) हो उसमें रक्तमोक्षण करना चाहिए। इसी प्रकार यदि विष युक्त (जैसे—सर्पविष) व्रण या व्रणशोथ हो तो विशेष रूप से जलौकाओं या प्रच्छान्न कर विस्रावण करें। वेदना की शान्ति एवं पाक को रोकने के लिए भी विस्रावण हितकर होता है॥ २८-२९॥

विमर्श— सर्पविष को दूर करने के लिए तत्काल दंशस्थान पर पछने लगाकर रक्तनिर्हरण कराया जाता है ('रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्'–सु.क. ५।१५)।

सोपद्रवाणां रूक्षाणां कृशानां व्रणशोषिणाम्। यथास्वमौषधैः सिद्धं स्नेहपानं विधीयते॥ ३०॥

(१०) स्नेहपान (Oleation) **विषय**—व्रण के (वेपथुपक्षवधादि) उपद्रवों से पीड़ितों को तथा व्रण के कारण क्षीण हो जाने वालों को तत्तत् दोषनाशक औषधियों से सिद्ध स्नेहपान कराना चाहिए॥ ३०॥

विमर्श— व्रण के कई तरह के उपद्रव होते हैं। चरक (चि. २५) में व्रण के सोलह प्रकार के उपद्रव बताये हैं। व्रण के जिन उपद्रवों में स्नेहपान का विधान है उनमें गन्ध, वर्ण, स्राव, वेदना और आकृति इन पाँच पर आधारित उपद्रव यहाँ अभिप्रेत नहीं है। केवल वात-प्रधान वेपथु, पक्षाघात आदि की उपस्थिति में या शोष में स्नेहपान विहित है।

उत्सन्नमांसशोफे तु कफजुष्टे विशेषतः। संक्लिष्टश्या(ध्या)मरुधिरे व्रणे प्रच्छर्दनं हितम्॥ ३१॥

(११) वमन (Emesis) **विषय**—उत्सन्न मांसशोफ अर्थात् ऐसा व्रण जिसका मांस (Granulation) ऊपर को उठा हो (Excessive) और जो शोथ (Inflammation) युक्त हो, कफप्रकोप से पीड़ित हो तथा जिसमें काले रंग का दूषित (संक्लिष्टं = दुष्टम्) रुधिर हो उसमें प्रच्छर्दन (वमन/Emesis) हितकर होता है॥ ३१॥

वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबन्धिषु। विरेचनं प्रशंसन्ति व्रणेषु व्रणकोविदाः॥ ३२॥

(१२) विरेचन (Purgation) **विषय**—पित्तबहुल वात से दुष्ट और बहुत पुराने व्रण में व्रणपण्डित (Traumatologists) विरेचन के प्रयोग की प्रशंसा करते हैं॥ ३२॥

विमर्श— वातपित्तप्रदुष्टेषु—'वातेन सहितं पित्तं वातपित्तम्, पित्तप्रधानसंसर्गः; न तु वातश्च पित्तं चेति, केवलवाते बस्तिविधानात्' (ड.)। वात की प्रधानता में बस्ति का विधान है विरेचन का नहीं।

अपाकेषु तु रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषु च। स्नायुकोथादिषु तथा छेदनं प्राप्तमुच्यते॥ ३३॥

(१३) छेदन (Excision) **विषय**—जिनमें पाक प्रायः नहीं होता ('अविद्यमानपाकेषु मेदःकफग्रन्थिमांसकन्दादिषु') जो कठिन (दृढ) और स्थिर (अचल) हों तथा स्नायुकोथादि (Necrotising soft tissue) में 'छेदन' हितकर होता है॥ ३३॥

विमर्श— छेदन कर्म योग्य व्याधियों का विस्तृत विवरण सू.अ. २५ में किया गया है—'छेद्या भगन्दरो ग्रन्थिः' आदि।

अन्तःपूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्सङ्गवत्स्वपि। गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते॥ ३४॥

(१४) भेदन (Incision) **विषय**—जो विद्रधि मुख रहित (Without opening) अन्दर से पूययुक्त, उत्संग (कोटर/Pockets of pus) युक्त ('उत्सङ्गवत्सु चिरस्थितपूयावदारणगम्भीरसुषिरव्रणवस्तुप्रदेशः उत्सङ्गतुल्यत्वादुत्सङ्ग उच्यते'-ड.) तथा गतिमान् (Fistulous opening)हो, उसका 'भेदन' करना चाहिए॥ ३४॥

विमर्श— भेदन योग्य व्याधियों का वर्णन सू.अ. २५ में विस्तार से है।

बालवृद्धासहक्षीणभीरूणां योषितामपि। मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तेषु दारणम्॥ ३५॥
सुपक्वे पिण्डिते शोफे पीडनैरुपपीडिते।
पाकोद्वृत्तेषु दोषेषु तत्तु कार्यं विजानता। सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः॥ ३६॥

(१५) दारण (Bursting by local applications) **विषय**—बाल, वृद्ध, असह (Apprehensive), क्षीण (Debilitated), भीरु (Timid), स्त्रियों और मर्म (Vulnerable areas) के ऊपर होने वाले व्रणशोथ में 'दारण' कर्म (Inducing spontaneous bursting by the local application of medications) किया जाता है। जो शोथ भली प्रकार पक गया है (Localised and well ripened) तथा जो पिण्डाकार (Localised) हो गया है, उसका पीडन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा 'पीडन' (Pressure) करना चाहिए। जब दोष पक कर उठा हुआ ('उत्तानेषु त्वग्गतेष्वित्यर्थः/Suppurative lesion is pointing) हो तो अनुभवी शल्यचिकित्सक द्वारा चिरबिल्वादि मिश्रकोक्त दारण द्रव्यों का केवल क्षार-प्रयोग से 'दारण' कराना चाहिए॥ ३५-३६॥

विमर्श— पीडन—पक्व व्रणशोथ में मुख बन जाने के उपरान्त यदि किसी कारण से पूय का निर्हरण न हो रहा हो तो पीड़न द्रव्यों का लेप किया जाता है जो सूख जाने पर सिकुड़ता है और इस प्रकार पीडन कर दोषों को बाहर निकाल देता है (पीडन द्रव्यों के लिए देखें सू.अ. २५)। एतदर्थ क्षार को 'परमदारण द्रव्य' माना जाता है।

कठिनान् स्थूलवृत्तौष्ठान् दीर्यमाणान् पुनः पुनः। कठिनोत्सन्नमांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक्॥
समं लिखेत् सुलिखितं लिखेन्निरवशेषतः। वर्त्मनां तु प्रमाणेन समं शस्त्रेण निर्लिखेत्॥ ३८॥

(१६) लेखन (Scraping) **विषय**—लेखन कर्म उन व्रणों में किया जाता है जो कठिन (मांसहीनान्), मोटे और गोल किनारों वाले (Thick and rolled margins) और जो कठिन एवं उन्नत मांस (Hard and raised granulation surface) वाले हैं तथा जो बार-बार फट जाते (Crack repeatedly) हैं॥ ३७॥

लेखन-प्रकार—उनमें (मांसहीन व्रणों में) लेखन 'सम' (Be done uniformly) होना चाहिए और (स्थूल तथा गोल ओष्ठों वाले व्रणों में) 'सुलिखित' (Bescraped well/अतिशयलिखितम्) तथा जो व्रण बार-बार विदीर्ण होते हैं उनमें पूरी तरह (Leave no pockets uncleared) से लेखन कर्म करें। इसी प्रकार (कठिन और उन्नत मांस वाले) व्रणों में 'वर्त्मनानुप्रमाण' (जहाँ-जहाँ मार्ग बना हुआ है) से शस्त्र द्वारा सम लेखन करना चाहिए॥ ३८॥

विमर्श—

लेखन (Scraping)

व्रण की दशा	लेखन-प्रकार
१.कठिन (मांसहीन)	१. सम (Uniform)
२. स्थूल, वृत्तौष्ठ	२. सुलिखित (Crapped well)
३. बार-बार विदीर्ण होने वाले	३. निरवशेष लेखन (No pockets)
४. कठिनोन्नतमांसवाले	४. वर्त्मनानुप्रमाण से लेखन

'अत्र व्रणवर्त्मशब्देन व्रणगताश्चत्वारः पार्श्वा वाच्याः। शस्त्रेण निर्लिखेत न तु गोजीशेफालिकादिपत्रेण' (ड.)।

क्षौमं प्लोतं पिचुं फेनं यावशूकं ससैन्धवम्। कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत्॥ ३९॥

शस्त्र के अभाव में—क्षौम (Cloth made from linseed plant), प्लोत (कर्पटम्), पिचु (कार्पासतूलम्), यावशूक (यवक्षार), फेन (समुद्रफेनम्)—इनको सेन्धानमक (Rock salt) के साथ तथा खुरदरे (Rough surface) पत्रों को लेखन कर्म में प्रयुक्त करें॥ ३९॥

नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सङ्गिनः शनैः। करीरबालाङ्गुलिभिरेषण्या वैषयेद्भिषक् ॥ ४० ॥

(१७) एषण (Probing) **विषय**—नाडीव्रण (Sinuses), शल्यगर्भ व्रण (With foreign bodies) (अभ्यन्तरे शल्यानित्यर्थः), उन्मार्गी अर्थात् टेढे-मेढ़े और उत्सङ्गी (उर्ध्वसङ्गिनः या कोटरवान्) व्रणों में अनुभवी शल्यहर्ता करीर (चुन्चूपोदिकादीनां कोमला नालाः), बाल (Hair), अंगुलि या एषणी (Probes) नामक यन्त्र से एषण करे॥ ४० ॥

विमर्श—एषणी यन्त्र भी है और शस्त्र भी। यहाँ शलाका-यन्त्रों में पठित एषणी का प्रयोग होता है। जहाँ भेदनपूर्वक एषण करना हो वहाँ एषणी शस्त्र उपयुक्त होता है ('एषयेत् करीरादिनिक्षेपणेन तत्र मध्यनिश्चयं कुर्यादित्यर्थः')। यहाँ डल्हण द्वारा पठित 'एषणशस्त्रम्' चिन्त्य है।

नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाड्योऽवक्त्राः सशोणिताः। चुन्चूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषयेत् तु ताः॥

करीरादि के प्रयोग का विषय—नेत्रवर्त्म, गुद (Anus) के समीप के रक्तयुक्त और अल्पमुख वाले नाड़ीव्रणों में चुन्चू (चीचुरिति लोके/May be some species of corchorus) और उपोदिका (पोई इति लोके/*Sasella rubra*) की कोमल नाल की सहायता से एषण कर्म करना चाहिए॥ ४१ ॥

संवृतासंवृतास्येषु व्रणेषु मतिमान् भिषक्। यथोक्तमाहरेच्छल्यं प्राप्तोद्धरणलक्षणम्॥ ४२ ॥

(१८) आहरण (Extraction) **विषय**—व्रण संवृतास्य (तंग मुख वाला/Narrow opening) हों या असंवृतास्य (चौड़े मुख वाला/Wide opening) व्रण से यदि शल्य के उद्धरण (Extraction) के योग्य लक्षण उपस्थित हों तो बुद्धिमान् शल्यहर्ता को पूर्ववर्णित (सू. २७।९-११) विधि के अनुसार शल्य का आहरण करना चाहिए॥ ४२ ॥

रोगे व्यधनसाध्ये तु यथोद्देशं प्रमाणतः। शस्त्रं निदध्याद्दोषं च स्रावयेत् कीर्तितं यथा॥ ४३ ॥

(१९) व्यधन (Puncturing) और **(२०) स्रावण** (Drainage) **विषय**—जलोदर, मूत्रवृद्धि आदि व्यधन कर्म साध्य व्याधियों में उद्देश्यपूर्त्यर्थ प्रमाणानुसार शस्त्र का प्रयोग करना चाहिए और जैसे बताया गया है उसके अनुसार स्रावण की व्यवस्था करें॥ ४३ ॥

विमर्श—**प्रमाणतः**—'तत्र दकोदरोद्दिष्टं प्रमाणाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढमिति ज्ञेयम्। विद्रध्यादिषु पुनः महत्स्वपि च केषुचित् द्व्यङ्गुलं शस्त्रनिपातनम्' इति। इस सूत्र में दो उपक्रमों का उल्लेख है—व्यधन और स्रावण।

अपाकोपद्रुता ये च मांसस्था विवृताश्च ये। यथोक्तं सीवनं तेषु कार्यं सन्धानमेव च॥ ४४ ॥

(२१) सीवन (Approximation of edges by suturing) और **(२२) सन्धान** (Grafting or union) **विषय**—उन व्रणों में जो पाक (Suppuration) और उपद्रव रहित हों, मांस (Muscles) में स्थित हों तथा विवृत (चौड़े/Widely gaping) हों उनमें जैसा कि अष्टविधशस्त्रकर्मीय (सू.अ. २५) में वर्णित है, के अनुसार 'सीवन' और सन्धान कर्म करना चाहिए॥ ४४॥

विमर्श—**सन्धान**—यद्यपि डल्हण ने प्रसंगवश यहाँ सन्धान का अर्थ 'व्रणौष्ठादिसंयोजनम्' किया है किन्तु सीवन तो व्रणौष्ठों को पास-पास लाने पर ही सम्भव होता है ('स्थापयित्वा यथातथम्'-सु.)। अतः सन्धान का सही-सही सौश्रुत आभिप्राय 'Grafting' ही प्रतीत होता है। देखिये नासासन्धान के प्रसङ्ग में—'विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्' (सु.सू. १६)।

पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान्मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत्॥ ४५ ॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति। न चाभिमुखमालिम्पेत् तथा दोषः प्रसिच्यते॥ ४६ ॥

(२३) पीडन (Squeezing pressure by medicinal pastes) **विषय**—ऐसे व्रण (या विद्रधियाँ) जिनके अन्दर मवाद (Pus) हो पर मुख छोटा हो; जो व्रण मर्मगत (Vulnerable areas) हों उनमें (सू.अ. ३७वें में वर्णित) पीडन द्रव्यों का चारों ओर लेप कर दें। तदनन्तर उस लेप के शुष्क होने तक प्रतीक्षा करें। लेपन व्रणमुख पर नहीं करना चाहिए जिससे दोष-निर्हरण में बाधा न हो।। ४५-४६।।

विमर्श—पीडन कर्म के लिए जो द्रव्य प्रयोग में लाये जाते हैं उनमें पिच्छिल गुण होता है और लेप करने के उपरान्त ये सूख कर सिकुड़ते हैं जिससे दबाव पड़कर पूय आदि बाहर निकल आते हैं। ('द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्। यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः'—सु.सू. ३७।११)।

तैस्तैर्निमित्तैर्बहुधा शोणिते प्रस्रुते भृशम्। कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं भवेत्।। ४७।।

(२४) शोणितस्थापन (Haemostasis) **विषय**—सिराव्यधादि अनेकों कारणों से अत्यधिक रक्तस्राव होने पर जो शोणितस्थापन उपाय बताये हैं (शोणितस्थापनम् = 'शोणितातिप्रवृत्तिस्तम्भनम्'-ड.; चक्रपाणि ने च.सू. ४।९ में 'शोणितस्थापनम्' का कुछ और ही अर्थ किया है—'शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य प्रकृतौ शोणितं स्थापयतीति शोणितस्थापनम्') शल्यहर्ता द्वारा उनका प्रयोग करने से रक्तस्राव रुक जाता है।। ४७।।

विमर्श—शोणितस्थापनोपाय चार प्रकार के बताये हैं—'सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा' (सु.सू. १४।४०)। विशेष विवरण के लिए सू. १४ अ. देखें।

दाहपाकज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः। रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत्।। ४८।।
यथोक्तैः शीतलद्रव्यैः क्षीरपिष्टैर्घृताप्लुतैः। दिह्यादबहलान् लेपान् सुशीतांश्चावचारयेत्।। ४९।।

(२५) निर्वापण (Cooling measures) **विषय**—इस उपक्रम का उपयोग उन व्रणों में किया जाता है जो पित्तप्रकोप के कारण तथा रक्तदुष्टि से दाह, पाक और ज्वरयुक्त होते हैं। इनमें मिश्रक अध्याय (सू. ३७) में बताये गये दूर्वादि शीतल द्रव्यों को दूध में पीसकर और घृत मिलाकर पतला-सा (अबहलान् = अल्पान्) ठण्डा लेप करें।। ४८-४९।।

विमर्श—दाह, पाक, ज्वर आदि लक्षण पच्यमान व्रणशोथ में पाये जाते हैं। शीतलोपचार से रक्तसंचय कम होकर शान्ति प्राप्त होती है।

व्रणेषु क्षीणमांसेषु तनुस्राविष्वपाकिषु।
तोदकाठिन्यपारुष्यशूलवेपथुमत्सु च। वातघ्नवर्गेऽम्लगणे काकोल्यादिगणे तथा।। ५०।।
स्नैहिकेषु च बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम्। तेषां च स्वेदनं कार्यं स्थिराणां वेदनावताम्।। ५१।।

(२६) उत्कारिका (Warming measures) **विषय**—जो व्रण (वातप्रकोप के कारण) क्षीण मांस वाले, पतले स्राव से युक्त, पाक रहित (Non-suppurative), तोद (Pricking pain), काठिन्य, पारुष्य, शूल एवं वेपथु (कम्प/Throbbing) युक्त हैं उनमें (काकोल्यादि) वातहर गण तथा (सौवीरतुषोदकादि) अम्लगण और तिल, अतसी, सरसों आदि स्नेहयुक्त बीजों को परस्पर मिलाकर तथा कूट कर बारीक चूर्ण से उत्कारिका बनावें। इसे वेदना युक्त एवं स्थिर व्रणों (व्रणशोथों) में स्वेदनार्थ प्रयुक्त करें।। ५०-५१।।

विमर्श—यह एक प्रकार की पुल्टिस है जिसको स्वेदन (Fomentation) के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छिलानां विशेषतः। कषायैः शोधनं कार्यं शोधनैः प्रागुदीरितैः।। ५२।।

(२७) **कषाय-व्रणशोधन** (Wound cleaning) **विषय**—दुर्गन्धयुक्त (Foul smelling), क्लेद (Sodden) युक्त और पिच्छिल (Slimy) व्रणों में विशेषकर पूर्ववर्णित शोधन-कषायों (सू.अ. ३७) से शोधन (Medicinal debridement by decoctions) करना चाहिए॥ ५२॥

विमर्श—शोधन-कषाय—'शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः। शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः'॥ (सु.सू. ३७।१२)

अन्तःशल्यानणुमुखान् गम्भीरान् मांससंश्रितान्। शोधनद्रव्ययुक्ताभिर्वर्तिभिस्तान् यथाक्रमम्॥

(२८) **वर्ति** (Medicated wicks) **विषय**—जो व्रण शल्य (Foreign body) युक्त, छोटे मुख वाले, गम्भीर धातु और मांस में स्थित हैं उनमें (अजगन्धा, अजशृंगी आदि सूत्रस्थान के मिश्रक अध्याय ३७ में वर्णित) शोधन द्रव्यों से बनायी गयी वर्तियों का यथाक्रम प्रयोग करना चाहिए॥ ५३॥

विमर्श—यथाक्रमम्—पहले छोटी फिर धीरे-धीरे बड़ी-से-बड़ी वर्ति को क्रम से प्रयुक्त करें (डल्हण)।

पूतिमांसप्रतिच्छन्नान् महादोषांश्च शोधयेत्। कल्कीकृतैर्यथालाभं वर्तिद्रव्यैः पुरोदितैः॥ ५४॥

(२९) **शोधन-कल्क विषय**—जो व्रण पूतिमांस (Putrified flesh) से ढके हों और (वात और कफ दोषों से) अतिदुष्ट (अतिदुष्टानित्यर्थः) हों उनको मिश्रकोक्त (३७वें अध्याय में वर्णित) वर्तिद्रव्यों के कल्क (Paste) के प्रयोग से शुद्ध करें॥ ५४॥

विमर्श—मिश्रकोक्त वर्तिद्रव्य—'कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा। संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत्। एतैरेवौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान्'॥ (सू. ३७।१४-१५)

पित्तप्रदुष्टान् गम्भीरान् दाहपाकप्रपीडितान्। कार्पासीफलमिश्रेण जयेच्छोधनसर्पिषा॥ ५५॥

(३०) **शोधन-घृत विषय**—जिन व्रणों में पित्तदोष की प्रधानता है, गम्भीर धातुओं में स्थित हैं, दाह और पाक से पीड़ित हैं उनमें कपास के फलों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए॥ ५५॥

विमर्श—कासीसादि शोधन द्रव्य और कार्पासफल का कल्क बनाकर कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण जल मिलाकर घृतपाक विधि से घृत तैयार करें।

उत्सन्नमांसानस्निग्धानल्पस्रावान् व्रणांस्तथा। सर्षपस्नेहयुक्तेन धीमांस्तैलेन शोधयेत्॥ ५६॥

(३१) **शोधन-तैल विषय**—जो उत्सन्न मांस वाले (Hypertrophied granulation tissue) स्निग्ध और अल्पस्राव (Insignificant discharge) वाले व्रण हैं उनमें बुद्धिमान् चिकित्सक शोधनार्थ सिद्ध किये हुए सरसों के तैल और तिलतैल को प्रयुक्त करें॥ ५६॥

विमर्श—'तिलतैलेनेति मिश्रकोक्तेन पूयादिशोधनद्रव्यसिद्धेनेति शेषः' (ड.)।

तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम्। व्रणानां स्थिरमांसानां कुर्याद्द्रव्यैरुदीरितैः॥ ५७॥
कषाये विधिवत्तेषां कृते चाधिश्रयेत्पुनः। सुराष्ट्रजां सकासीसां दद्याच्चापि मनःशिलाम्॥
हरितालं च मतिमांस्ततस्तामवचारयेत्। मातुलुङ्गरसोपेतां सक्षौद्रामतिमर्दिताम्॥ ५९॥
व्रणेषु दत्त्वा तां तिष्ठेत् त्रींस्त्रींश्च दिवसान् परम्।

(३२) **रसक्रिया** (Thickened extracts) **विषय**—शोधन-तैलों से शुद्ध न होने वाले ऐसे व्रण जिनका मांस स्थिर (Granulation surface regidly fixed) है उनमें मिश्रक नामक अध्याय (सू.अ. ३७) में पठित शालसारादि द्रव्यों से निर्मित रसक्रिया का प्रयोग करना चाहिए। इन (शालसारादि) द्रव्यों के क्वाथ में सुराष्ट्रजा (फिटकरी), कासीस, मनःशिला तथा हरिताल मिलाकर उसमें मातुलुंग स्वरस तथा मधु मिलाकर उसका खूब मर्दन करें। इस प्रकार पकाकर तथा गाढ़ा कर तैयार की गयी रसक्रिया को व्रणों में लगावें और प्रति तीसरे दिन (प्रतिदिन नहीं) बदलें॥ ५७-५९॥

विमर्श— विधिवत्—क्वाथ बनाने की विधि से, जैसे—'द्रव्यापेक्षया षोडशगुणोदके, अष्टगुणोदके षोडशभागावशिष्टे वा'। **त्रींस्त्रींश्च**—'तत्र त्रींस्त्रींश्च दिवसान् अवतिष्ठेत् नाधिकं, व्रणवस्त्ववदरणभयात्' (ड.)। अर्थात् इसे व्रण पर प्रतिदिन लगाने से व्रणवस्तु नष्ट हो सकती है।

मेदोजुष्टानगम्भीरान् दुर्गन्धांश्चूर्णशोधनैः ॥ ६० ॥
उपाचरेत् भिषक् प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनवर्तिजैः।

गम्भीर धातु स्थित दूषित व्रण का उपचार—अनुभवी शल्यचिकित्सक जो गम्भीर धातुओं में स्थित नहीं हैं और दूषित मेदो धातु वाले तथा दुर्गन्ध (Foul smell) युक्त व्रणों का (अजगन्धादि) शोधनवर्तियों के द्रव्यों से तथा (कासीसादि) के श्लक्षण एवं शोधन चूर्णों से उपचार करें॥ ६० ॥

शुद्धलक्षणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम् ॥ ६१ ॥
तत्र कार्यं यथोद्दिष्टैर्द्रव्यैर्वैद्येन जानता।

(३३) रोपण (Healing) **विषय**—जानकार चिकित्सक शुद्ध लक्षणों से युक्त व्रण का पूर्व वर्णित वटादि द्रव्यों के कषाय से 'रोपण' करे॥ ६१ ॥

विमर्श— शुद्ध व्रण-लक्षण—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः। अवेदनो निरास्रावः व्रणः शुद्ध इहोच्यते'॥ (सु.सू. २३।१८) अथवा—'जिह्वातलाभो मृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धो विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धो व्रण इति' (सु.चि.१)।

अवेदनानां शुद्धानां गम्भीराणां तथैव च ॥ ६२ ॥
हिता रोपणवर्त्यङ्गकृता रोपणवर्तयः।

रोपणवर्तियाँ—वेदना रहित (या अल्पवेदना युक्त) शुद्ध और गम्भीर धातुओं में स्थित व्रण के लिए (सोमामृताश्वगन्धाकाकोल्यादि से बनी) 'रोपण' वर्तियाँ (Healing wicks) हितकर होती हैं॥ ६२ ॥

विमर्श— रोपणवर्त्यङ्गकृता—'रोपणवर्त्यङ्गानि सोमामृताश्वगन्धाकाकोल्यादीनि च तैः कृता रोपणवर्तयः' (ड.)।

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम् ॥ ६३ ॥
कल्कः संरोहणः कार्यस्तिलजो मधुसंयुतः। स माधुर्यात् तथौष्ण्याच्च स्नेहाच्चानिलनाशनः ॥
कषायभावान्माधुर्यात् तिक्तत्वाच्चापि पित्तहृत्।
औष्ण्यात् कषायभावाच्च तिक्तत्वाच्च कफे हितः ॥ ६५ ॥
शोधयेद्रोपयेच्चापि युक्तः शोधनरोपणैः। निम्बपत्रमधुभ्यां तु युक्तः संशोधनः स्मृतः ॥ ६६ ॥
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चापि युक्ताश्चाप्युपरोपणः। तिलवद्यवकल्कं तु केचिदाहुर्मनीषिणः ॥ ६७ ॥
शमयेदविदग्धं च विदग्धमपि पाचयेत्। पक्वं भिनत्ति भिन्नं च शोधयेद्रोपयेत्तथा ॥ ६८ ॥

रोपण कल्क (Healing paste) **विषय**—जब व्रण में से दुर्गन्ध युक्त गला हुआ मांस (Foul smelling and putrifyng tissues) निकाल दिया गया हो और मांस में स्थित व्रण का रोहण न हो रहा हो (Indolent ulcers) उसके रोहण के लिए 'मधुयुक्त तिलकल्क' का प्रयोग करना चाहिए।

तिलकल्क का दोषानुसार प्रभाव—यह तिल कल्क मधुर, उष्ण और स्निग्ध होने के कारण वातनाशन है; कषाय, मधुर और तिक्त होने से 'पित्तनाशन' है; उष्ण, कषाय और तिक्त होने के कारण 'कफनाशन' है। यदि शोधन और रोपण द्रव्यों के साथ इसका (तिलकल्क का) प्रयोग किया जाय तो यह शोधन (Cleaning) और रोपण (Healing) दोनों कार्य करता है; जैसे—निम्बपत्र और मधु के साथ प्रयुक्त करने पर यह 'शोधन' करता है और इन्हें घृत के साथ मिलाकर लगायें तो यह 'संरोपण' है।

तिलकल्क की तरह यवकल्क भी—कुछ विद्वानों के अनुसार तिलकल्क की तरह यवकल्क भी (अथवा तिलयुक्त यवकल्क-जेज्जटगयदासौ) अविदग्ध (Early stage of inflammation) का शमन (Causes resolution), विदग्ध (पाकाभिमुख व्रणशोथ) का पाचन (Suppuration), पक्व (Suppurated) व्रणशोथ का भेदन (Bursting) और भिन्न (Resultant) व्रण का शोधन तथा रोपण करता है॥ ६३-६८॥

पित्तरक्तविषागन्तून् गभीरानपि च व्रणान्। रोपयेद्रोपणीयेन क्षीरसिद्धेन सर्पिषा॥ ६९॥

रोपण घृत—पित्त, रक्त और विष से उत्पन्न तथा आगन्तुज व्रण एवं गम्भीर धातुओं में स्थित व्रण मिश्रकोक्त रोपणीय द्रव्यों एवं दूध से सिद्ध घृत से रोहित (Healed) हो जाते हैं॥ ६९॥

कफवाताभिभूतानां व्रणानां मतिमान् भिषक्। कारयेद्रोपणं तैलं भेषजैस्तद्यथोदितैः॥ ७०॥

रोपण तैल—कफ और वायु के प्रकोप से ग्रस्त व्रणों में बुद्धिमान् चिकित्सक मिश्रक नामक अध्याय (सूत्रस्थान अध्याय ३७) में बताये गये (कालानुसार्य्यागुरु प्रभृति) औषध द्रव्यों से सिद्ध रोपण तैलों का प्रयोग करें॥ ७०॥

अवन्ध्यानां चलस्थानां शुद्धानां च प्रदुष्यताम्। द्विहरिद्रायुतां कुर्याद्रोपणार्थां रसक्रियाम्॥

रोपण रसक्रिया—जिन व्रणों (पित्तरक्तविषाभिघातजादयः) में बन्धन का निषेध (Contra-indication) हैं, जो चलस्थ अर्थात् चल (Mobile) सन्धियों में स्थित हैं, शुद्ध हैं पर पुनः दोषयुक्त हो जाते हैं उनमें (न्यग्रोधादि के काढ़े में) दोनों हल्दियों के चूर्ण का प्रक्षेप डाल कर तय्यार की गयी रसक्रिया को रोपण के लिए प्रयुक्त करें॥ ७१॥

विमर्श—'अत्र कल्पना—न्यग्रोधादिवर्गस्य त्रिफलाद्रव्यापेक्षया अष्टगुणे चतुर्गुणे वाऽम्भसि अष्टभागावशिष्टे चतुर्भागावशिष्टे वा कषायं पुनरधिमृत्य फाणितीभावे अवशिष्टकषायगत्रया हरिद्राद्वयचूर्णं प्रक्षिप्य सुमर्दितां मधुयुताम् अवतारयेत्' (ड.)।

समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां रोपणं भिषक्।
चूर्णं विदध्यान्मतिमान् प्राक्स्थानोक्तो विधिर्यथा॥ ७२॥

चूर्ण विषय—जो व्रण सम (Have regular margins), स्थिरमांस (Adherent to the deeper tissues) और त्वचा तक ही सीमित हैं उनमें पूर्व (सू.स्था.अ. ३७) में बतायी गयी विधि से बुद्धिमान् चिकित्सक रोपण चूर्णों का प्रयोग करें॥ ७२॥

विमर्श— त्रिफला, लोध्रादि द्रव्यों के चूर्ण को रोपणार्थ प्रयुक्त करें।

शोधनो रोपणश्चैव विधिर्योऽयं प्रकीर्तितः। सर्वव्रणानां सामान्येनोक्तो दोषाविशेषतः॥ ७३॥

सर्वदोषसामान्य उपाय—व्रणों के शोधन और रोपण की यह विधि सभी प्रकार के व्रणों के लिए सामान्य है और यह वर्णन किसी एक दोष से सम्बन्धित नहीं है (दोषाविशेषतः) सर्वदोषसामान्य है॥ ७३॥

एष आगमसिद्धत्वात् तथैव फलदर्शनात्। मन्त्रवत् सम्प्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथञ्चन॥ ७४॥

अमीमांस्य विधि—यह शोधन-रोपण विधि आगम (शास्त्र) द्वारा प्रतिपादित होने से तथा फलदर्शन अर्थात् आरोग्य-प्राप्ति होने से मन्त्र की तरह प्रयुक्त करने योग्य है। इसमें किसी प्रकार के विचार की कभी भी आवश्यकता नहीं है॥ ७४॥

स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कषायादिषु सप्तसु। भेषजानि यथायोगं यान्युक्तानि पुरा मया॥ ७५॥

कषायादि का विवेक से प्रयोग करें—कषाय, वर्ति, कल्क, सर्पि:, तैल, रसक्रिया और चूर्ण—इन सातों का जो इससे पूर्व मैंने वर्णन किया है उनके औषध-प्रयोग के सम्बन्ध में शल्यचिकित्सक अपने विवेक के अनुसार कार्य करे॥ ७५॥

विमर्श—पुरा मया—यह वर्णन (कषायादि सात का) इसी अध्याय के श्लोक संख्या ५२ से ६३ तक में किया गया है। इनमें शोधन और रोपण विधियाँ (१. कषाय/Decoction, २. वर्ति/Wicks, ३. कल्क/Paste, ४. घृत, ५. तैल, ६. रसक्रिया/Thickened extracts) और ७. चूर्ण/Powder) वर्णित हैं।

आद्ये द्वे पञ्चमूल्यौ तु गणो यश्चानिलापहः। स वातदुष्टे दातव्यः कषायादिषु सप्तसु॥ ७६॥
न्यग्रोधादिर्गणो यस्तु काकोल्यादिश्च यः स्मृतः। तौ पित्तदुष्टे दातव्यौ कषायादिषु सप्तसु॥ ७७॥
आरग्वधादिस्तु गणो यश्चोष्णः परिकीर्तितः। तौ देयौ कफदुष्टे तु संसृष्टे संयुता गणाः॥ ७८॥

दशमूल वातनाशन हैं—लघुपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल ये जो दो गण हैं इनका प्रयोग कषायादि सात विधियों में वातदुष्टि होने पर करें, क्योंकि ये वातनाशक हैं॥ ७६॥

न्यग्रोधादि, काकोल्यादि गण पित्तनाशक हैं—इसी प्रकार पित्तदुष्टि में पित्तहर न्यग्रोधादि गण और काकोल्यादि गण की औषधियों को कषायादि के रूप में प्रयोग में लावें॥ ७७॥

आरग्वधादि औषध कफनाशन है—आरग्वधादि गण और उष्ण द्रव्यों के गण की औषधियों को कषायादि सात के लिए कफदुष्टि में प्रयुक्त करें। यदि दोष संसृष्ट (मिले-जुले) हों तो इन गणों की औषधियों को मिलाकर कषायादि का निर्माण कर प्रयोग में लावें॥ ७८॥

वातात्मकानुग्ररुजान् सास्रावानपि च व्रणान्। सक्षौमयवसर्पिर्भिर्धूपनाङ्गैश्च धूपयेत्॥ ७९॥

(३४) धूपन (Fumigation) विषय—वात-प्रधानता के कारण जो व्रण तीव्र वेदना और स्रावयुक्त हों उनका क्षौम (अतसी) वस्त्र, यव, घृत तथा धूपनांगों (श्रीवेष्टक, सर्जरस आदि) से धूपन करें॥ ७९॥

विमर्श—धूपन द्रव्य—'श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि। सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम्'॥ (सु.सू. ३७।२२)

परिशुष्काल्पमांसानां गम्भीराणां तथैव च। कुर्यादुत्सादनीयानि सर्पींष्यालेपनानि च॥ ८०॥

(३५) उत्सादन उपक्रम—वातप्रकोप के कारण शुष्क और अल्पमांस वाले (Poorly granulating) और गम्भीर (Deep) व्रणों में घृतों और आलेपनों द्वारा 'उत्सादन' (निम्नव्रणस्योन्नतिकरणम्/Encouraging granulation tissue formation) उपक्रम करना चाहिए॥ ८०॥

विमर्श—१. उत्सादन द्रव्य—'अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला। उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गण:'॥ (सु.सू. ३७।३१) २. उत्सादन अर्थात् व्रण के शीघ्र रोहण की व्यवस्था।

मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद्विधिवन्नरः। विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते॥ ८१॥

आभ्यन्तर उत्सादन विषय—मांस खाने वाले प्राणियों (व्याघ्रादि:) का मांस (शुष्क, अल्पमांस और गम्भीर व्रणों में) विधिपूर्वक तैयार कर खाने को दें और (क्रोध-शोकादि से रहित) मन (रोगी का) प्रसन्न रहना चाहिए। मांस मांस से बढ़ता है॥ ८१॥

विमर्श— 'अद्यात्क्रव्यादमांसानि बृंहणानि विशेषत:' (च.)।

विशुद्धमनसः—इसका जेज्जट ने यह अर्थ किया है कि व्याघ्रादि का मांस छद्म नाम से खिलाने से रोगी के मन की प्रसन्नता बनी रहती है। यक्ष्मचिकित्सा में चरक ने अनेक प्राणियों के मांस को छद्म नामों से खिलाने की सलाह दी है।

मांस खाने से जो प्रोटीन मिलती है उससे व्रण में रोहणांकुर शीघ्र और अधिक बनते हैं।

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम्। कुर्याद्द्रव्यैर्यथोद्दिष्टैश्चूर्णितैर्मधुना सह॥८२॥

(३६) अवसादन—(Medicinal cauterisation of granulation tissue) **विषय**—उत्सन्न (ऊपर को उठे हुए) मृदु मांस वाले व्रणों में कासीसादि द्रव्यों के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए॥ ८२॥

विमर्श—**अवसादन द्रव्य**—'कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला' (सु.सू. ३७।३२)। इन द्रव्यों के विधिपूर्वक प्रयोग से व्रण के अनावश्यक रूप से बढ़े हुए ऊतक नष्ट हो जाते हैं।

कठिनानाममांसानां दुष्टानां मातरिश्वना। मृद्वी क्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत्॥
वातघ्नौषधसंयुक्तान् स्नेहान् सेकांश्च कारयेत्। मृदुत्वमाशुरोहं च गाढो बन्धः करोति हि॥

(३७) मृदुकर्म (Softening procedures) **विषय**—कठोर, अल्पमांस वाले और वायु से दूषित व्रणों में (मधुर, स्निग्ध, कोष्ण जल-लवणों से अन्दर और बाहर किये गये लेपादि से) मृदु क्रिया करनी चाहिए और (साथ में रक्त भी दूषित हो तो) रक्तमोक्षण करें। कफानुगत वातप्रकोप में वातहर औषधियों से सिद्ध स्नेह एवं सेक (Irrigation) करना चाहिए। गाढबन्ध से व्रण में मार्दव आता है और रोहण शीघ्र होता है॥ ८३॥

व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणं हितम्॥ ८४॥
धवप्रियङ्ग्वशोकानां रोहिण्याश्च त्वचस्तथा।
त्रिफलाधातकीपुष्परोध्रसर्जरसान् समान्। कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत्॥ ८५॥

(३८) दारुण कर्म (Induction of fibrosis) **विषय**—मृदुमांस वाले व्रण में दारुण कर्म (कठिनीकरणम्) हितकर होता है। एतदर्थ धव (बाकली/*Anogeissus latifolia*), प्रियंगु, अशोक और रोहिणी की छाल, त्रिफला, धातकी पुष्प, लोध्र और सर्जरस (राल) इनको बराबर मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें और उसे व्रण पर छिड़कें॥ ८४-८५॥

विमर्श—'रोहिण्याः कटुतुम्ब्याः वल्कलस्य (ड.)।

उत्सन्नमांसान् कठिनान् कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान्। तथैव खलु दुःशोध्यान् शोधयेत् क्षारकर्मणा॥

(३९) क्षारकर्म (Application of caustics) **विषय**—ऊपर को उठे हुए मांस वाले, कठोर, कण्डूयुक्त और चिरोत्थ (Chronic) व्रणों तथा जिनका शोधन करना कठिन हो उन व्रणों का शोधन क्षार-प्रयोग कर करें॥ ८६॥

स्रवतोऽश्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः। निःशेषच्छिन्नसन्धींश्च साधयेदग्निकर्मणा॥ ८७॥

(४०) अग्निकर्म (Fire cautery) **विषय**—अश्मरी के निकालने पर बने व्रण जिनसे मूत्र स्रवित होता रहता हो (Calculogenic urinary fistula), जिनसे रक्त बहता हो तथा निःशेषतः छिन्न (जो पूरी तरह कटी) सन्धियों के व्रणों (Have cut through the entire joints) की अग्निकर्म द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए॥ ८७॥

विमर्श—'मूत्राशयाश्मरी के शल्यकर्म में कभी-कभी मूत्रस्रावी व्रण बन जाता है ('मूत्रस्रावी व्रणो भवेत्'–वा.चि. ११)।

दुरूढत्वात् तु शुक्लानां कृष्णकर्म हितं भवेत्॥ ८८॥
भल्लातकान् वासयेत्तु क्षीरे प्राङ्मूत्रभावितान्। ततो द्विधा छेदयित्वा लौहे कुम्भे निधापयेत्॥
कुम्भेऽन्यस्मिन् निखाते तु तं कुम्भमथ योजयेत्। मुखं मुखेन सन्धाय गोमयैर्दाहयेत्ततः॥ ९०॥
यः स्नेहश्च्यवते तस्माद्ग्राहयेत्तं शनैर्भिषक्। ग्राम्यानूपशफान् दग्ध्वा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्॥
तैलेनानेन संसृष्टं शुक्लमालेपयेद्व्रणम्। भल्लातकविधानेन सारस्नेहांस्तु कारयेत्॥ ९२॥
ये च केचित्फलस्नेहा विधानं तेषु पूर्ववत्।

(४१) रूढव्रण का वर्ण विषय (Pigmenting procedures): **कृष्णकर्म** (Blackening procedure)—जो व्रण कठिनाई से रूढ़ (भरे) होते हैं उनका क्षतांक (Scar) श्वेतवर्ण का होता है। अतः वहाँ कृष्णकर्म हितकर है। एतदर्थ भिलावों (*Semecarpus anacardium*) को (सात दिन तक) गोमूत्र में भावित कर गोदुग्ध में (सात दिन तक) रखें, तदनन्तर भल्लातक फलों के दो-दो टुकड़े कर (सुखा लें) फिर लोहे के घड़े में रखें और ऐसी व्यवस्था करें कि ये फल घड़े में से निकल न सकें, पर इनका तैल निकलता रहे। फिर इस घड़े को जमीन में गड़े हुए दूसरे घड़े के मुख-से-मुख को मिलाकर जोड़ दें। उसके बाद ऊपर वाले घड़े पर उपले रख कर आग लगा दें। इस प्रकार जो भल्लातक तैल नीचे के बर्तन में इकट्ठा होता है उसे शनैः-शनैः निकाल लें। फिर ग्राम्यपशुओं के खुरों को जलाकर बारीक भस्म बना लें और उसे भल्लातक तैल में मिलाकर शुक्लवर्ण के क्षतांक पर लेप कर दें। भल्लातक तैल की तरह अन्य फल (पिण्डीतक, बिभीतक आदि का) स्नेह निकाल कर ग्राम्य पशुओं के खुरों की भस्म मिला लें और इसी प्रकार प्रयोग में लायें॥ ८८-९२॥

दुरूढत्वात् तु कृष्णानां पाण्डुकर्म हितं भवेत्॥ ९३॥
सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागले रोहिणीफलम्। तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम्॥ ९४॥
नवं कपालिकाचूर्णं वैदुलं सर्जनाम च। कासीसं मधुकं चैव क्षौद्रयुक्तं प्रलेपयेत्॥ ९५॥
कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत्। कासीसं रोचनां तुत्थं हरितालं मनःशिलाम्॥ ९६॥
वेणुनिर्लेखनं चापि प्रपुन्नाडरसाञ्जनम्। अधस्तादर्जुनस्यैतन्मासं भूमौ निधापयेत्॥ ९७॥
मासादूर्ध्वं ततस्तेन कृष्णमालेपयेद्व्रणम्।

(४२) पाण्डुकर्म (Restoration of normal skin colour of the scar)—कठिनाई से ठीक होने वाले (दुरूढ़) व्रणों का रंग यदि कृष्ण वर्ण का हो तो उसमें पाण्डुकर्म हितकर होता है। एतदर्थ रोहिणीफल ('हरीतकीभेदस्तत्फलम्, अन्ये तु कटुतुम्बीफलमाहुः'-ड.) को बकरी के दूध में सात दिन तक रखें। बकरी के दूध में ही इस फल को बारीक पीसकर क्षतांक पर लगाना सवर्णकरण (त्वचा के समान रंग करने वाला) होता है॥ ९३-९४॥

नवीन घड़े के टुकड़ों का चूर्ण, वैदुल मूल ('वेतसस्तद्भवं वैदुलं मूलमिति शेषः'), सर्ज वृक्ष का मूल, कासीस, मुलहटी इनके बारीक चूर्ण को मधु में मिलाकर लेप करें॥ ९५॥

कपित्थ (कैथ/*Feronia limonia*) के फल का अन्दर का गूदा (Pulp) निकालकर उसमें बकरी का मूत्र भर लें। फिर उसमें कासीस, गोरोचन, नीला थोथा, हड़ताल, मैनसिल, बाँस की छाल, पनवाड़ के बीज और रसौत डालकर अर्जुन वृक्ष के नीचे की जमीन खोदकर उसमें एक मास तक रखें। उसके बाद निकाल कर कृष्णवर्ण के व्रण पर लेप करें॥ ९६-९७॥

कुक्कुटाण्डकपालानि कतकं मधुकं समम्॥ ९८॥
तथा समुद्रमण्डूकी मणिचूर्णं च दापयेत्। गुटिका मूत्रपिष्टास्ता व्रणानां प्रतिसारणम्॥ ९९॥

(४३) प्रतिसारण (Rubbing by medicinal pills) **विषय**—मुर्गी के अण्डों का छिलका (Shell), कतक (निर्मली), मुलहठी, समुद्रमण्डूकी (जलशुक्ति = मुक्ताशुक्ति/Sea shells) और स्फटिकादि (Gem stones) को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र में पीस कर गोली बना लें। इससे व्रणचिह्न (Scal) का घर्षण करें॥ ९८-९९॥

विमर्श— कृष्णकर्म और पाण्डुकर्म के उपरान्त प्रतिसारण की आवश्यकता इस हेतु होती है कि त्वचा के समान वर्ण होने में जो कमी रह जाती है उसे प्रतिसारण उपक्रम द्वारा दूर किया जा सके ('तयोरेव शुक्लकृष्णवर्णयोः स्वप्रयोगैरवशिष्टशुक्लत्वकार्ष्ण्ययोः सवर्णीकरणम्')। कृष्ण वर्ण के व्यक्तियों में कृष्णकर्म और गौर वर्ण के व्यक्तियों में पाण्डुकर्म की आवश्यकता होती है।

हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसाञ्जनम्। रोमाण्येतेन जायन्ते लेपात्पाणितलेष्वपि। १००॥
चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना। तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः॥ १०१॥
कासीसं नक्तमालस्य पल्लवांश्चैव संहरेत्। कपित्थरसपिष्टानि रोमसञ्जननं परम्॥ १०२॥

(४४) रोमसञ्जनन (Regrowth of hair) **उपक्रम**—हाथी के दाँत की भस्म और रसांजन (रसौत) को (बकरी के दूध में मिलाकर) लेप करने से (क्षतांक पर) बाल उग आते हैं। यदि इसका लेप हाथ और पैर के तलवों पर किया जाय तो वहाँ भी बाल उग आते हैं। (अश्व-गो-महिषादि) पशुओं के त्वचा, बाल, खुर, सींग और अस्थि की भस्म को बारीक पीस कर तथा तिलतैल मिलाकर क्षतांक पर लगाने से बाल पुनः आ जाते हैं। कासीस, नक्तमाल (करञ्ज) के कोमल पत्तों को कपित्थ के रस में पीसकर लगाने से उत्तम रोमसंजनन (बाल उगना) होता है॥ १००-१०२॥

विमर्श— 'हस्तिदन्तमसीरसाञ्जनेन अजाक्षीरसहितेनेति वाक्यशेषः'। इस योग के सम्बन्ध में डल्हण कहते हैं—'अयं योगः केशशाते सति बहुशो दृष्टप्रत्ययः'। अर्थात् इसका प्रयोग प्रायः सफल होता देखा गया है।

रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति। क्षुरकर्तरिसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत्। १०३॥
(शङ्खचूर्णस्य भागौ द्वौ हरितालं च भागिकम्। शुक्तेन सह पिष्टानि लोमशातनमुत्तमम्॥)
तैलं भल्लातकस्याथ स्नुहीक्षीरं तथैव च। प्रगृह्यैकत्र मतिमान् रोमशातनमुत्तमम्॥ १०५॥
कदलीदीर्घवृन्ताभ्यां भस्मालं लवणं शमी। बीजं शीतोदपिष्टं वा रोमशातनमाचरेत्॥
आगारगोधिकापुच्छं रम्भाऽऽलं बीजमैङ्गुदम्। दग्ध्वा तद्भस्मतैलाम्बु सूर्यपक्वं कचान्तकृत्॥

(४५) रोमापहरण (रोमशातन/Depilation)—यदि व्रण बालों की अधिकता के कारण भर न रहा हो तो बालों को क्षुर (Razor), कर्तरी (श्मश्रुकर्तनाद्युपयुक्तं शस्त्रम्/Pair of scissors) या सन्दंश (नासालोमापहो यन्त्रविशेषः/Forceps) से काट दें। शंखभस्म दो भाग, हरताल एक भाग इनको शुक्त (काँजी) में पीसकर लगाना उत्तम लोमशातन है। भिलावे का तेल और थोहर का दूध दोनों को मिलाकर लगाने से उत्तम रोमशातन होता है। केले की तथा श्योनाक (सोनापाठा) की भस्म और आल (हरताल), नमक तथा शमी के बीजों को शीतल जल में पीसकर लगाने से बाल साफ (शातन) हो जाते हैं। इसी प्रकार आगारगोधिका (गृहगोधिका/ब्राह्मणीति लोके /छिपकली/Domestic lizard) की पूँछ, केला, हरताल और इंगुद वृक्ष के बीज की भस्म को तैल और जल मिलाकर धूप में सुखावें। यह भी उत्तम केशशातन/Good recipe for epilation)॥ १०३-१०७॥

वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः। अधःकाये विशेषेण तत्र बस्तिर्विधीयते॥ १०८॥

(४६) बस्ति (Enema therapy) **विषय**—वातविकृत व्रण जो रूक्ष तथा अत्यन्त वेदना युक्त, विशेषकर अधःकाया में स्थित हो तो उसके उपचारों में बस्ति ('निरूहः स्नैहिकश्च) कर्म किया जाता है॥ १०८॥

मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरीव्रणे। तथैवार्तवदोषे च बस्तिरप्युत्तरो हितः ॥ १०९॥

(४७) **उत्तरबस्ति** (Vaginal or urethral douch) **विषय**—मूत्राघात (Retention of urine), मूत्रदोष (Urinary disorders), शुक्रदोष (Seminal disorders), अश्मरी व्रण (Lithotomy wounds) और आर्तवदोष (Menstrual disorders) में उत्तरबस्ति हितकर होती है॥ १०९॥

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम्। रोहत्यपि च निःशङ्कस्तस्माद्बन्धो विधीयते॥

(४८) **बन्ध** (Bandaging) **हेतु**—बन्धन से व्रण की शुद्धता बनी रहती है, इससे व्रण में मार्दव आता है और अभिघातादि से सुरक्षित रहकर बिना शंका के भरता भी शीघ्र है। अतः व्रण का बन्धन किया जाता है॥ ११०॥

विमर्श— बन्धनों का विस्तृत वर्णन सूत्रस्थान (अध्याय १८) में किया गया है। **निःशङ्कः**—'निर्गता शङ्का निर्घातमक्षिका पतनानां यत्र स निःशङ्कः' (ड.)।

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम्। पत्रदानं भवेत्कार्यं यथादोषं यथर्तु च॥ १११॥
एरण्डभूर्जपूतीकहरिद्राणां तु वातजे। पत्रमाश्वबलं यच्च काश्मरीपत्रमेव च॥ ११२॥
पत्राणि क्षीरवृक्षाणामौदकानि तथैव च। दूषिते रक्तपित्ताभ्यां व्रणे दद्याद्विचक्षणः॥ ११३॥
पाठामूर्वागुडूचीनां काकमाचीहरिद्रयोः। पत्रं च शुकनासाया योजयेत्कफजे व्रणे॥ ११४॥
अकर्कशमविच्छिन्नमजीर्णं सुकुमारकम्। अजन्तुजग्धं मृदु च पत्रं गुणवदुच्यते॥ ११५॥
स्नेहमौषधसारं च पट्टः पत्रान्तरीकृतः। नादत्ते यत्ततः पत्रं लेपस्योपरि दापयेत्॥ ११६॥
शैत्यौष्ण्यजननार्थाय स्नेहसंग्रहणाय च। दत्तौषधेषु दातव्यं पत्रं वैद्येन जानता॥ ११७॥

(४९) **पत्रदान** (Application of leaves) **विषय**—जो व्रण स्थिर (Indolent), अल्पमांस वाले (Have little granulation) और रूक्ष होने के कारण जिनका रोहण न हो रहा हो उनमें दोष और ऋतु का विचार कर पत्रदान उपक्रम करना चाहिए॥ १११॥

दोषानुसार पत्रदान———वातिक व्रण में एरण्ड, भोजपत्र, करञ्ज और हरिद्रा के पत्रों का पत्रदान के रूप में प्रयोग करें। रक्त और पित्त से दूषित व्रण में उपोदिका (आश्वबल), गम्भारी, न्यग्रोधादि क्षीरवृक्ष और कुमुद (औदक) के पत्रों से बुद्धिमान् चिकित्सक पत्रदान उपक्रम करते हैं। कफज व्रण में पत्रदान के लिए पाठा, मूर्वा, गिलोय, मकोय, हरिद्रा और शुकनासा (श्योनाक) के पत्रों को प्रयुक्त किया जाता है॥ ११२-११४॥

उत्कृष्ट पत्र—पत्रदान के लिए वह पत्र श्रेष्ठ है जो अकर्कश (Not rough), अविच्छिन्न (कटा न हो/Not torn), अजीर्ण (नया/Not old), सुकुमार (तनु), कृमिभक्षित न हो और मृदु (कोमल/Soft) हो॥ ११५॥

पत्र का प्रयोज्य स्थल—यदि पत्र को स्नेह और औषध सार तथा बन्धनपट्ट के मध्य (पट्टः वस्त्रान्तरीकृतः) रखा जाय तो स्नेह और औषध सार आचूषित नहीं होते हैं। अतः पत्र को लेप के ऊपर (और पट्टवस्त्र के नीचे) रखना चाहिए॥ ११६॥

पित्त-रक्तदूषित व्रणों में शैत्य और वात-कफदूषित व्रणों में उष्णता के लिए तथा व्रण पर प्रयुक्त औषध के स्नेह के संग्रह के लिए विद्वान् वैद्यों को पत्र का प्रयोग करना चाहिए॥ ११७॥

मक्षिका व्रणमागत्य निःक्षिपन्ति यदा कृमीन्। श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः॥ ११८॥

तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तास्रावश्च जायते। सुरसादिर्हितस्तत्र धावने पूरणे तथा।। ११९।।
सप्तपर्णकरञ्जार्कनिम्बराजादनत्वचः। हिता गोमूत्रपिष्टाश्च सेकः क्षारोदकेन वा।। १२०।।
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा कृमीनपहरेद्व्रणात्। विंशतिं कृमिजातीस्तु वक्ष्याम्युपरि भागशः।।

(५०) कृमिघ्न (Disinfection) **विषय**—जब मक्खियाँ व्रण पर बैठकर कृमियाँ पैदा कर देती हैं (Beget organisms there) तो इन कृमियों द्वारा व्रण के खाये जाने पर भयंकर (Very severe) व्रणशोथ हो जाता है। तब वहाँ नाना प्रकार की तीव्र वेदनाएँ तथा रक्तस्राव होने लगता है। ऐसी दशा में धोने और पूरण के लिए सुरसादि गण की औषधियाँ हितकर हैं। ऐसे व्रणों का सिंचन करने के लिए सप्तपर्ण, करञ्ज, आक, नीम, राजादन (खिरनी) की छाल को गोमूत्र या क्षारोदक में पीसकर सेकार्थ प्रयोग में लाया जाता है। या मांसपेशी से कृमि युक्त व्रण को ढक देने पर कृमियाँ मांसपेशी में आ जाती हैं। इस प्रकार इन्हें निकालें। बीस प्रकार की कृमियों का वर्णन आगे किया जायेगा।। ११८-१२१।।

दीर्घकालातुराणां तु कृशानां व्रणशोषिणाम्। बृंहणीयो विधिः सर्वः कायाऽग्निं परिरक्षता।।

(५१) बृंहण (Restorative measures) **विषय**—व्रणपीड़ित जो व्यक्ति काफी समय से बीमार (Chronically ill) हैं, कृश (Cachectic) रोगियों एवं व्रणशोषियों (Emaciated due to wounds) में उनकी कायाग्नि की रक्षा करते हुए ('कायग्रहणं तद्देहगतकार्श्यदोषसात्म्याद्यनुक्तग्रहणार्थम्') बृंहणीय ('बृंहणीयः देहोपचयकरो विधिः') विधि अपनानी चाहिए।। १२२।।

विषजुष्टस्य विज्ञानं विषनिश्चयमेव च। चिकित्सितं च वक्ष्यामि कल्पेषु प्रतिभागशः।। १२३।।

(५२) विषघ्न (Neutralisation of poisons) **विषय**—विषजुष्ट के लक्षण (Clinical features of poisoning), प्रत्येक विष की (स्थावरजङ्गमादि) पहचान और चिकित्सा का वर्णन आगे कल्पस्थान में किया जायेगा।। १२३।।

कण्डूमन्तः सशोफाश्च ये च जत्रूपरि व्रणाः। शिरोविरेचनं तेषु विदध्यात्कुशलो भिषक्।। १२४।।

(५३) शिरोविरेचन (Errhines) **विषय**—जो व्रण कण्डू (Itching) युक्त, शोथयुक्त और जो जत्रु ('वक्षोंऽसयोः सन्धिः') से ऊपर के भाग में स्थित हैं उन व्रणों में कुशल शल्यचिकित्सक को शिरोविरेचन कराना चाहिए।। १२४।।

रुजावन्तोऽनिलाविष्टा रूक्षा ये चोर्ध्वजत्रुजाः। व्रणेषु तेषु कर्तव्यं नस्यं वैद्येन जानता।। १२५।।

(५४) नस्य (Nasal medication or snuffs) **विषय**—जो व्रण वेदना युक्त, वातप्रकोप से उत्पन्न, रूक्ष और जत्रूर्ध्व प्रदेश में स्थित हों उनमें कुशल सर्जन को नस्य उपक्रम कराना चाहिए।। १२५।।

दोषप्रच्यावनार्थाय रुजादाहक्षयाय च। जिह्वादन्तसमुत्थस्य हरणार्थं मलस्य च।। १२६।।
शोधनो रोपणश्चैव व्रणस्य मुखजस्य वै। उष्णो वा यदि वा शीतः कवलग्रह इष्यते।। १२७।।

(५५) कवलग्रह (Gargling) **विषय**—जिह्वा और दाँतों के रोगों में मल को दूर करने के लिए, वेदना और दाह में (त्रिफला-द्राक्षादि के कषायों के प्रयोग द्वारा) दोषनिर्हरण के लिए, मुख के व्रणों में शोधन और रोपण के लिए (वात-कफज व्रण में) उष्ण तथा (रक्त-पित्तज व्रण में) शीतल कवलग्रह कराना चाहिए।। १२६-१२७।।

ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् व्रणांश्च कफवातजान्। शोफस्रावरुजायुक्तान् धूमपानैरुपाचरेत्।।

(५६) धूम (Smoking) **विषय**—ऊर्ध्वजत्रुग रोगों में, कफ-वातज व्रणों में जो शोथ, वेदना और वेदना से युक्त हों उनमें धूपमान द्वारा उपचार करना चाहिए।। १२८।।

क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च। सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते॥ १२९॥

(५७) मधुसर्पिः उपक्रम—बड़े आकार के सद्योव्रणों (Large traumatic wounds) की ऊष्मा को कम करने के लिए तथा उनके सन्धान (Union/'सन्धानं घातविशेषात् द्विधाभूतस्यावयवस्यैकभावः'—ड.) के लिए 'मधुसर्पिः' का उपयोग करना चाहिए॥ १२९॥

अवगाढास्त्वणुमुखा ये व्रणाः शल्यपीडिताः। निवृत्तहस्तोद्धरणा यन्त्रं तेषु विधीयते॥ १३०॥

(५८) यन्त्र (Use of instruments) **विषय**—अवगाढ (गम्भीर/Deep) और अणुमुख (Small opening) वाले ऐसे शल्ययुक्त (Contain foreign body) व्रण जिनके शल्य को हाथ से निकालना सम्भव नहीं है उनमें यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए॥ १३०॥

लघुमात्रो लघुश्चैव स्निग्ध उष्णोऽग्निदीपनः। सर्वव्रणिभ्यो देयस्तु सदाऽऽहारो विजानता॥

(५९) आहार (Dietary regimen) **विषय**—जो मात्रा में लघु (Light) हो, लघु गुणवाला, स्निग्ध (Demulcent) और अग्निदीपक हो उस आहार को आहारज्ञाता द्वारा सभी प्रकार के व्रणों में दिया जाना चाहिए॥ १३१॥

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः। रक्षाविधानैरुद्दिष्टैर्यमैः सनियमैस्तथा॥ १३२॥

(६०) रक्षाविधान (Protective measures) **विषय**—क्षतातुर (Ulcer patient) की धूपन-मन्त्रादि पूर्व वर्णित विधि, यम, नियम आदि रक्षाविधानों के (गुग्गुल्वादिधूपादिभिर्मन्त्रैश्चायुर्वेदविहितैः) द्वारा निशाचरों (Invisible creatures) से नित्य रक्षा करनी चाहिए॥ १३२॥

विमर्श— यमैः—'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तथैव च। व्यवहारनिवृत्तिश्च यमाः पञ्च प्रकीर्तिताः'॥ **नियमैः**—'अक्रोधो गुरुसुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्तिताः'॥ इस प्रकार व्रणचिकित्सा के साठ (६०) उपक्रम पूरे हुए।

षण्मूलोऽष्टपरिग्राही पञ्चलक्षणलक्षितः। षष्ट्या विधानैर्निर्दिष्टैश्चतुर्भिः साध्यते व्रणः॥

व्रण एवं व्रण की चिकित्सा का संक्षिप्त विवरण—इस सूत्र में यह बताया गया है कि व्रण के—१. कितने मूल (Etiological factors) हैं? २. कितने परिग्रहण (अधिष्ठान/Sites) हैं? ३. कितने लक्षणों से लक्षित (Clinical features) हैं? और ४. चिकित्सा-विधान (Procedures) कितने हैं?

अर्थात् जिस व्रण का अब तक वर्णन किया गया है उसके छः मूल कारण हैं ('वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तवः षडेव मूलं कारणानि यस्य स षण्मूलः'); आठ परिग्रह (अधिष्ठान) हैं ('त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि परिगृह्णातीति अष्टपरिग्राही'); पाँच लक्षणों से पहचाना जाता है ('पञ्चानां वातपित्तकफसन्निपातागन्तूनां लक्षणानि तैर्लक्षितः'); इसके साठ चिकित्सा विधान हैं (जिनका इसी अध्याय में वर्णन किया गया है) और इस व्रण की चार—वैद्य, परिचारक, आतुर और औषध द्वारा चिकित्सा की जाती है॥ १३३॥

विमर्श— पञ्चलक्षणलक्षितः के अर्थ में कुछ मतान्तर हैं। ऊपर जो अर्थ किया है वह डल्हण सम्मत है। पर डल्हण ने ही प्रश्न भी उठाया है कि इसमें रक्त का कोई उल्लेख नहीं है। अतः इसका भिन्न अर्थ इस प्रकार भी सम्भव है—'तर्हि अन्यथैव पञ्चलक्षणलक्षितं व्याख्यायते—गन्धवर्णास्राववेदनाकृतिभिर्लक्षितैर्लक्षित इति'।

व्रण-विवरण तालिका

मूल (हेतु)	१. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. रक्त, ५. सन्निपात, ६. आगन्तुज।
अधिष्ठान (व्रणवस्तु)	१. त्वक्, २. मांस, ३. सिरा, ४. स्नायु, ५. अस्थि, ६. कोष्ठ, ७. सन्धि, ८. मर्म।
लक्षण या उपक्रम	१. गन्ध, २. वर्ण, ३. स्राव, ४. वेदना, ५. आकृति १. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४. सन्निपात, ५. आगन्तुज। साठ हैं
चतुर्भिः साध्यते	१. वैद्य, २. आतुर, ३. परिचारक, ४. औषध।

योऽल्पौषधकृतो योगो बहुग्रन्थभयान्मया। द्रव्याणां तत्समानानां तत्रावापो न दुष्यति॥ १३४॥

अन्य औषधियों को सम्मिलित करना—ग्रन्थ के विस्तार के भय से शोधन-रोपणादि योगों में औषधियाँ अल्प ही हैं। अतः उन-उन योगों में रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि की समानता के आधार पर अन्य औषधियों को सम्मिलित कर लेने में कोई दोष नहीं है॥ १३४॥

प्रसङ्गाभिहितो यो वा बहु दुर्लभभेषजः। यथोपपत्ति तत्रापि कार्यमेव चिकित्सितम्॥ १३५॥

औषधियों का यथालाभ प्रयोग—इस सूत्र में यथालाभ औषध-प्रयोग की चर्चा है कि प्रसंगवश कहे गये योग या ऐसे योग जिनमें बहुत और दुर्लभ औषधियाँ हैं उनमें से जितनी मिल जायें उतनी को चिकित्सार्थ प्रयुक्त करें॥ १३५॥

विमर्श— प्रसङ्गाभिहितः—जैसे 'पिण्डीतकत्रयम्' आदि के प्रसंग में इस योग को 'त्रिदोषज शोफ' में भी प्रयुक्त करने को कहा है ('अत्र हि वातपित्तकफशोथोक्तौषधगणत्रयं प्रकरणसमानत्वात् सन्निपातोक्तमौषधं प्रसङ्गाभिहितम्')।

बहुदुर्लभभेषजः—जैसे भद्रदार्वादि गण की औषधियाँ बहुत होने के कारण जितनी मिल जायें उतनी ही प्रयोग में लावें। इसी प्रकार देश-कालादि की दृष्टि से दुर्लभ औषधियों में से जितनी उपलब्ध हो सकें उतनी से ही काम चला लें।

गणोक्तमपि यद्द्रव्यं भवेद्व्याधावयौगिकम्। तदुद्धरेद्यौगिकं तु प्रक्षिपेदप्यकीर्तितम्॥ १३६॥

गण की हानिकर औषध का परित्याग—यदि किसी औषधगण की कोई औषध रोग के अनुकूल न हो तो उसका परित्याग कर दें तथा गण में न कही गयी औषध यदि रोग में लाभकर है तो उसका ग्रहण कर लें॥ १३६॥

उपद्रवास्तु विविधा व्रणस्य व्रणितस्य च। तत्र गन्धादयः पञ्च व्रणस्योपद्रवाः स्मृताः॥ १३७॥
ज्वरातिसारौ मूर्च्छा च हिक्का च्छर्दिररोचकः। श्वासकासाविपाकाश्च तृष्णा च व्रणितस्य तु॥

व्रण और व्रणित के उपद्रव—व्रण और व्रणपीडित व्यक्ति के उपद्रव नाना प्रकार के होते हैं; यथा— १. व्रण के गन्धादि पाँच उपद्रव हैं और २. व्रणित के ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा, हिक्का, छर्दि, अरोचक, श्वास, कास, विपाक और तृष्णा हैं॥ १३७-१३८॥

व्रणक्रियास्वेवमासु व्यासेनोक्तास्वपि क्रियाम्। भूयोऽप्युपरि वक्ष्यामि सद्योव्रणचिकित्सिते॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥



यद्यपि यहाँ व्रणक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है तथापि सद्योव्रण-चिकित्सा (अगले अध्याय) में इस पर पुनः चर्चा की जायेगी ॥ १३९ ॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'द्विव्रणीय चिकित्सा' नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अध्याय-सारांश

'द्विव्रणीय-चिकित्सित' नामक इस अध्याय में—आगन्तुज और दोषज व्रण ऐसे दो भेद कर आगन्तुज व्रण के कारण उनमें दोषप्रकोप तथा दोषज व्रण के पन्द्रह प्रकार, उनके लक्षण आदि एवं शुद्ध व्रण मिलाकर सोलह भेदों की स्वीकृति (सू. १-७)।

व्रण के साठ उपक्रम, उनमें अनेक शोधन-रोपण करने वाले, आठ शस्त्रकृत्य, क्षार, अग्नि, यन्त्र, रक्षा-विधान, बन्धन, स्नेहन-स्वेदन आदि का नामोल्लेख (८-९); प्रशामक एकादश उपक्रम, अपतर्पण आद्य और सर्वशोफसामान्य उपक्रम, अपतर्पण विषय (१०-१३)।

आलेपन विषय, परिषेक विषय, अभ्यंग, कवलधारण, उपनाहन, विस्रावण आदि के प्रयोज्य स्थल, लाभ प्रयोग विधि आदि (१४-२९)।

स्नेहपान, वमन, विरेचन, छेदनादि अष्टविध शस्त्रकर्म के विषय (३०-४४)।

पीड़न विषय, विधि, निर्वापण, उत्कारिका आदि का विवरण और कषायसप्तक, शोधन-रोपण भेद से उल्लेख, इनके द्रव्य, प्रयोज्य स्थल, तिल-यव कल्क की उपयोगिता का विवरण (४५-७३)।

कषायादि सप्तक के सम्बन्ध में चिकित्सक द्वारा अपने विवेक से काम लेने की सलाह (७५); पञ्चमूल द्वय का कषायादि सप्तक के रूप में वातप्रकोप में उपयोग, धूपन विषय, उत्सादन, अवसादन, मृदुकर्म, दारण कर्म आदि के प्रयोज्य स्थलों का उल्लेख, क्षार, अग्नि, यन्त्रादि के उपयोग का विवरण (७६-८०)।

इसी प्रकार कृष्णकर्म, पाण्डुकर्म, सवर्णीकरण, प्रतिसारण, लोमसंजनन, लोमापहरण आदि के लिए विभिन्न योगों का वर्णन (८१-१०७)।

बस्ति, उत्तरबस्ति, पत्रदान की उपयोगिता तथा विस्तृत विवरण (१०८-११७), मक्खियों द्वारा व्रण को हानि पहुँचाना, कृमिघ्न विषय, बृंहण, विषघ्न, धूम, धूपन और औषध का यथालाभ प्रयोग तथा व्रण-उपद्रव संक्षेप में वर्णित है (१०८-१३९)।



द्वितीयोऽध्यायः

अथातः सद्योव्रणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'सद्योव्रणचिकित्सितम्' (Management of Recent Traumatic Wounds) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः। विश्वामित्रसुतं शिष्यमृषिं सुश्रुतमन्वशात् ॥ ३ ॥

धर्माचार्यों (Virtuous persons) में श्रेष्ठ और वाग्विशारद (Expert speaker) धन्वन्तरि ने विश्वामित्र के पुत्र अपने शिष्य ऋषि सुश्रुत को शिक्षित किया ॥ ३ ॥

नानाधारामुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः। नानारूपा व्रणा ये स्युस्तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

नाना प्रकार की धारा (Edges) एवं मुख वाले शस्त्रों से शरीर के नाना प्रकार के स्थानों पर हुए व्रणों की जो नाना प्रकार की आकृतियाँ होती हैं उनके लक्षणों का वर्णन किया जायेगा ॥ ४ ॥

विमर्श— इस श्लोक में व्रणों की भिन्न-भिन्न आकृतियों के तीन कारण बताये हैं—१. नाना प्रकार की शस्त्रधारा, २. नाना प्रकार के शस्त्रमुख और ३. नाना प्रकार के देहस्थान। व्रण की आकृति को देखकर शस्त्र की धार का अनुमान लगाया जाता है।

आयताश्चतुरस्राश्च त्र्यस्रा मण्डलिनस्तथा। अर्धचन्द्रप्रतीकाशा विशालाः कुटिलास्तथा ॥ ५ ॥
शरावनिम्नमध्याश्च यवमध्यास्तथाऽपरे। एवम्प्रकाराकृतयो भवन्त्यागन्तवो व्रणाः ॥ ६ ॥
दोषजा वा स्वयं भिन्ना, न तु वैद्यनिमित्तजाः।

व्रण की आकृतियाँ— १. आयत (Rectangular), २. चतुरस्र (चतुष्कोणः/Quadrangular), ३. त्र्यस्र (त्रिकोणाः/Triangular), ४. मण्डली (वर्तुलाः/Circular), ५. अर्धचन्द्राकार (Semilunar), ६. विशाल (विस्तीर्णाः/Extensive), ७. कुटिल (वक्राः/Crooked), ८. शराव (तस्तरी की तरह) निम्न मध्य (Depressed in the centre as a saucer) और ९. जौ की तरह बीच से उठे हुए (Raised in the centre as a barley grain) आदि तथा अन्य भी आगन्तुज व्रणों (Traumatic wounds) की तथा अपने आप विदीर्ण दोषज व्रणों की, शल्यचिकित्सक कृत व्रणों की नहीं, आकृतियाँ होती हैं ॥ ५-६ ॥

विमर्श— न तु वैद्यनिमित्तजाः— 'तेषामायतविशालसमप्रविभक्तलक्षणाः आकृतयो व्रणगुणत्वेनैवोक्ताः, यतस्ताः आकृतीः भिषजः प्रदेशविशेष एव कुर्वन्ति' (ड.)। चिकित्सक द्वारा कृत व्रण व्रणगुण (पूर्वोक्त) युक्त होते हैं (आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः। प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते'-सु.)। **दुर्दर्शरूपेषु—** 'गोशृङ्गवदुन्नतमांसप्ररोहादिषु' (ड.)।

भिषग्व्रणाकृतिज्ञो हि न मोहमधिगच्छति ॥ ७ ॥
भृशं दुर्दर्शरूपेषु व्रणेषु विकृतेष्वपि।

व्रणाकृतियों को जानने की आवश्यकता— जो शल्यचिकित्सक व्रणों की नाना प्रकार की आकृतियों को जानता है वह भृश (भयानक/Grotesque) और दुर्दर्श (Distorted) रूपों वाले व्रणों को देखकर विचलित नहीं (Bewildered) होता है ॥ ७ ॥

अनन्ताकृतिरागन्तुः स भिषग्भिः पुरातनैः ॥ ८ ॥
समासतो लक्षणतः षड्विधः परिकीर्तितः।

आगन्तुज व्रणों का वर्गीकरण (Classification)—प्राचीन काल के चिकित्सकों ने अनेक प्रकार के आगन्तुज व्रणों को लक्षणों के आधार पर संक्षेप में छः प्रकार का बताया है॥ ८॥

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च॥ ९॥
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम्।

आगन्तुज व्रणों के भेद—यह आगन्तुज व्रण छः प्रकार का है; जैसे—१. छिन्न (साधारणशस्त्रेण/Excised), २. भिन्न (साधारणशस्त्रेण/Stab injury), ३. विद्ध (पुनरणुमुखेन शस्त्रेण/Punctured), ४. क्षत (क्षतादीनि पाषाणलगुडादिभिरपि स्युः/Lacerated), ५. पिच्चित (Crushed) और ६. घृष्ट (Abrased)। इनके लक्षण क्रमशः वर्णित किये जा रहे हैं॥ ९॥

तिरश्चीन ऋजुर्वाऽपि यो व्रणश्चायतो भवेत्॥ १०॥
गात्रस्य पातनं चापि छिन्नमित्युपदिश्यते।

छिन्न व्रण के लक्षण—जो व्रण आकृति में तिरश्चीन (तिर्यक्-अवस्थितः=तिरछे/Oblique) या ऋजु (अवक्रः/Straight) हो तथा आयत (विस्तृत/Extensive) हो और हाथ आदि कटकर गिर जाये तो वह व्रण 'छिन्न' कहलाता है॥ १०॥

विमर्श— 'गात्रस्य पातनम्'—'शस्त्रस्य प्रहारेण हस्तादिपातनम्, चकारादपातनं च किञ्चिच्छिन्नम्' (ड.) (Separation of parts of body)।

कुन्तशक्त्यृष्टिखड्गाग्रविषाणादिभिराशयः॥ ११॥
हतः किञ्चित् स्रवेत् तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते।

भिन्न व्रण के लक्षण—जब शरीर का कोई आशय (Body cavity) कुन्त (भाला/Spears), शक्ति (त्रिमुखी/Lance), ऋष्टि (शर्बला), तलवार के अग्रभाग आदि से क्षतिग्रस्त हो जाय और उसमें से कुछ स्राव (Discharge) आने लगे तो वह व्रण 'भिन्न' कहलाता है॥ ११॥

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च॥ १२॥
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते।

कोष्ठ का लक्षण—(Definition of thoraco-abdominal cavity) आमस्थान, अग्निस्थान, पक्वस्थान, मूत्रस्थान, रुधिरस्थान, हृदय, उण्डुक (Caecum) और फुप्फुस ये कोष्ठ कहलाते हैं॥ १२॥

विमर्श— चरक (सू. ११।४८) में जो तीन रोगमार्ग बताये हैं उनमें एक कोष्ठ भी है। यथा—'कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैः तन्त्रे स रोगमार्ग आभ्यन्तरः'।

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते॥ १३॥
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति। मूर्च्छाश्वासतृडाध्मानमभक्तच्छन्द एव च॥ १४॥
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता। लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च॥ १५॥
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि—

कोष्ठभेदन के लक्षण—कोष्ठ के भिन्न होने पर उसमें रुधिर भर जाता है, ज्वर और दाह होते हैं। नाभि के निचले भाग में कोष्ठभेदन होने पर मूत्र और गुदमार्ग से तथा नाभि से ऊपर के भाग में कोष्ठ का भेदन होने पर मुख और नासामार्ग से रक्त आने लगता है। साथ में मूर्च्छा (Fainting), श्वास (Dyspnoea), प्यास, आध्मान (Tympanitis), अभक्तच्छन्द (भोजन में अरुचि/Distaste for food), मल-मूत्र और वायु का अवरोध (Stoppage of the passage of stool, urine and flatus), स्वेद का अधिक आना, आँखों का लाल होना, मुख से लोहे की गन्ध (Metallic odour) आना, शरीर से दुर्गन्ध आना, हृदय और पार्श्वों (Sides) में वेदना होती हैं॥ १३-१५॥

विमर्श— इस सूत्र में जो लक्षण बताये हैं उनका अलग-अलग सम्बन्ध भिन्न-भिन्न कोष्ठों के भेदन से है। आमाशय की स्थिति नाभि से ऊर्ध्व भाग में होने से इसका भेद से होने पर रुधिर ऊर्ध्व मार्ग से आता है। पक्वाशय और मूत्राशय का भेदन होने पर क्रमशः मलद्वार और मूत्रमार्ग से रुधिर आता है। अन्य लक्षण सामान्यतः सभी में न्यूनाधिक मात्रा में हो सकते हैं ('अत्राधोनाभेः रक्तं गुदमूत्रमार्गाभ्यां प्रवर्तते, नाभेरूर्ध्वं मुखघ्राणाभ्यामिति' (ड.) ।

—विशेषं चात्र मे शृणु। आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयेत्पुनः ॥ १६ ॥
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम्। पक्वाशयगते चापि रुजो गौरवमेव च ॥ १७ ॥
शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः। अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरन्त्रपूरणम् ॥
पिहितास्ये घटे यद्वल्लक्ष्यते तस्य गौरवम्।

कोष्ठ में रुधिर एकत्रित होने पर लक्षण—इनके सम्बन्ध में तुम विशेष चर्चा मुझसे जानो—यदि व्रण बनने के उपरान्त आमाशय में रुधिर एकत्रित हो जाय तो खून की उलटी (Haematemesis) आती है तथा आध्मान (Tympanitis) अत्यधिक और तीव्र (Excruciating) उदरशूल होता है। यदि व्रण होने पर रुधिर पक्वाशय में इकट्ठा हो जाय तो भी वेदना तथा भारीपन होता है और नाभि से निचला भाग ठण्डा एवं स्रोतों (खेभ्यः/Body openings) से रक्त आने लगता है। यदि आँतों में व्रण न हो तो भी (पार्श्व में एकत्रित रुधिर से) आँतें उसी प्रकार रुधिर से परिपूर्ण हो जाती हैं जिस प्रकार घड़े में—उसका मुख बन्द करने तथा पानी में डुबो देने पर—उसके छोटे-छोटे छिद्रों (Pores) से पानी भर जाता है और इस प्रकार भारीपन (Heaviness) की प्रतीति होती है॥ १६-१८॥

विमर्श— 'यथापिहितास्ये आच्छादितमुखे घटे सूक्ष्मैः खै रन्ध्रैः उदकपूरणं लक्ष्यते इत्यर्थः' (ड.)।

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयाद्विना ॥ १९ ॥
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत्।

विद्ध का लक्षण—जब सूक्ष्म मुख वाले शल्य से शरीर का कोई भाग आशय (Cavity) के बिना विद्ध (Pierced) हो जाता है तो वह व्रण 'विद्ध' कहलाता है। ऐसे व्रणों में शल्य या तो बीच में ही रुककर उत्तुण्डित (उन्नमित/ऊर्ध्वमुख/Protruding out) हुआ होता है या बाहर निकल जाता है॥ १९॥

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ॥ २० ॥
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत्क्षतं त्वभिनिर्दिशेत्।

क्षत का लक्षण—जो व्रण न तो अधिक छिन्न हो (Excessively exised) और न अधिक भिन्न (Excessively incised) हो अपितु इन दोनों (छिन्न और भिन्न) के लक्षणों से युक्त हो तथा जो विषम (Irregular) हो वह क्षत कहलाता है॥ २०॥

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ॥ २१ ॥
सास्थि तत्पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम्।

पिच्चित का लक्षण—प्रहार (मुद्गराद्यभिघातः/Blow) और पीड़न (कपाटादियन्त्रेण/Pressure) से जब कोई अंग चपटा (पृथुताम् = विस्तीर्णताम्/Flattened) हो जाता है और साथ में अस्थि भी होती है तो यह व्रण पिच्चित कहलाता है। इसमें अंग मज्जा (Marrow) और रक्त से व्याप्त होता है॥ २१॥

विगतत्वग्यदङ्गं हि सङ्घर्षादन्यथाऽपि वा ॥ २२ ॥
उषास्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते।

घृष्ट का लक्षण—रगड़ से लगी चोट (Rubbing injury) से अथवा इसी तरह के किसी अन्य कारण से जब अंग की किसी जगह की त्वचा छिल जाती है अर्थात् अंग त्वचा रहित हो जाता है (Skin

gets peeled off) और वहाँ पर जलन (Burning sensation) तथा स्राव उपस्थित होते हैं तो यह 'घृष्ट' व्रण कहलाता है॥ २२॥

सद्योव्रण-विवरण

सद्योव्रण (Recent traumatic wounds)	लक्षण
१. छिन्न (Excised)	तिरश्चीन, ऋजु, आयत और अंग का कट कर अलग होना।
२. भिन्न (Stab injury)	कुन्तादि तीक्ष्णाग्र शस्त्र से आशय का क्षतिग्रस्त होना तथा स्राव आना।
३. विद्ध (Punctured)	बिना आशय के सूक्ष्म मुख शल्य से अंग का क्षतिग्रस्त होना तथा शल्य का अन्दर रहने से उभार या शल्य का निकल जाना।
४. क्षत (Lacerated)	नातिच्छिन्न, नातिभिन्न, दोनों के लक्षण, व्रण विषमाकार।
५. पिच्चित (Crushed)	प्रहार और पीडन से अस्थि सहित अंग का चपटा होना और मज्जा तथा रक्त से व्याप्त होना।
६. घृष्ट (Abrased)	रगड़ से अंग का त्वचा रहित होना तथा साथ में दाह और स्राव की उपस्थिति।

छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते वाऽसृगतिस्रवेत्॥ २३॥
रक्तक्षयाद्रुजस्तत्र करोति पवनो भृशम्। स्नेहपानं हितं तत्र तत्सेको विहितस्तथा॥ २४॥
वेशवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम्। धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत स्निग्धान्यालेपनानि च॥ २५॥
वातघ्नौषधसिद्धैश्च स्नेहैर्बस्तिर्विधीयते।

छिन्नादि चार व्रणों की चिकित्सा—छिन्न, भिन्न, विद्ध तथा क्षत व्रण होने पर रुधिर अधिक निकल जाता है जिससे रक्तक्षय होने पर वातदोष प्रकुपित होता है और वह तीव्र वेदनाएँ उत्पन्न करता है। इस अवस्था की चिकित्सा में स्नेहपान तथा कोष्ण स्नेहसेक (Irrigation) हितकर होते हैं। उपनाहन (Poultice) के लिए वेशवार, कृशरायुक्त तथा स्नेह युक्त पुल्टिस प्रयोग में लावें। धान्यस्वेद (माषादिकोष्णधान्यस्वेदः या धान्याम्लम्) तथा स्निग्ध आलेपन करें। वातघ्न औषधियों से सिद्ध स्निग्ध बस्तियाँ (Oily enemas) भी दी जाती हैं॥ २३-२५॥

विमर्श—**वेशवार**—'मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेशितम्। पिप्पलीशुण्ठीमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम्। ऐकध्यं पाचयेत्सम्यक् वेश(स)वार इति स्मृतः'॥ (सु.सू. ४६।३६५) **कृशरा**—तिल, चावल, उड़द की खिचड़ी। **स्नेहैर्बस्तिः**—'स्नेहपानं ऊर्ध्वनाभिजेषु व्रणेषु, नाभेरधोगतेषु बस्तिरिति' (ड.)।

पिच्चिते च विघृष्टे च नातिस्रवति शोणितम्॥ २६॥
अगच्छति भृशं तस्मिन् दाहः पाकश्च जायते। तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः॥ २७॥
शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः।

पिच्चित और विघृष्ट की चिकित्सा—पिच्चित (Crushed) और विघृष्ट (Abrazed) व्रण में धिक नहीं निकल पाता है, जिससे इनमें दाह और पाक (Suppuration) तीव्र प्रकार का होता है।

इनकी उष्णता, दाह और पाक को नियन्त्रित करने के लिए शीतल आलेपन (Cold external applications) और शीतल परिषेक (Irrigation) करने चाहिए॥ २६-२७॥

विमर्श— 'शीतलमालेपनं सेकः शुद्धी रक्तविमोक्षणम्' इस पाठान्तर में 'शुद्धिर्वमनादि, तत्रोर्ध्वनाभिजेषु वमनं, दाहोत्तरे मध्यकायजे रेचनम्, अधोनाभिजेषु पुनरास्थापनं, स्त्यानरक्तेषु रक्तमोक्षणम्' (ड.)।

षट्स्वेतेषु यथोक्तेषु छिन्नादिषु समासतः॥ २८॥
ज्ञेयं समर्पितं सर्वं सद्योव्रणचिकित्सितम्।

इस प्रकार छः प्रकार के सद्योव्रणों (Recently traumatized wounds) छिन्नादि की चिकित्सा संक्षेप में वर्णित की गयी है। उसे सद्योव्रणचिकित्सा में समझ लेना चाहिए॥ २८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि छिन्नानां तु चिकित्सितम्॥ २९॥
ये व्रणा विवृताः केचिच्छिरःपार्श्वावलम्बिनः। तान् सीव्येद्विधिनोक्तेन बध्नीयाद्गाढमेव च॥

अवयव छिन्न होने पर चिकित्सा—अब इसके उपरान्त (अवयव-विशेष में होने वाले) छिन्नादि व्रणों की चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा। यदि कोई व्रण शिर के पार्श्व या शिर और पार्श्वों में लटक गये (Gaping) हों और विवृत (खुले) हों तो उनको पूर्व वर्णित विधि के अनुसार सीवन कर्म कर गाढ़ बन्ध से बाँध देना चाहिए॥ २९-३०॥

कर्णं स्थानादपहृतं स्थापयित्वा यथास्थितम्। सीव्येद्यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाभिप्रतर्पयेत्॥ ३१॥
कृकाटिकान्ते छिन्ने तु गच्छत्यपि समीरणे। सम्यङ्निवेश्य बध्नीयात् सीव्येच्चापि निरन्तरम्॥
आजेन सर्पिषा चैव परिषेकं तु कारयेत्। उत्तानोऽन्नं समश्नीयाच्छयीत च सुयन्त्रितः॥ ३३॥

(इन श्लोकों में कर्णपालि/Ear lobe के चिर जाने/Avulsion और गलक्षत/Cut-throat की चिकित्सा का उल्लेख है—) यदि कर्णपालि चिर गयी हो (स्थानादपहृतम्, अनिःशेषतश्छिन्नम्/Torn out of its place) तो उसे यथावत् स्थापित कर ('कर्णव्यधबन्धविधि' नामक अध्याय १६ में वर्णित के अनुसार) सीवन कर्म कर दें और वातघ्न द्रव्यसिद्ध तैल को कान में डालें॥ ३१॥

कृकाटिका के छिन्न होने की चिकित्सा—कृकाटिकान्त (कृकाटिका पर्यन्त/Atlanto-occipital joint) तक कट जाने और उसमें से वायु निकल रही हो तो कटे भागों की सम्यक् स्थापना कर चारों ओर से भली प्रकार सीवन कर्म कर दें ('असाध्याः वायुनिर्वाहिणः, इत्यस्यायं अपवादः'–ड.) तथा अच्छी तरह बाँध दें। तदनन्तर व्रण पर बकरी के घृत का परिषेक (Sprinkling) करें। रोगी को सुनियन्त्रित स्थिति (Well controlled position) में ही ऊर्ध्वमुख (Supine position) लेटे-लेटे अन्नपानादि का ग्रहण कराना चाहिए ('अन्नमित्युपलक्षणं, तेन शयनमूत्रपुरीषोत्सर्गादि चोत्तानस्यैवेति'–ड.)॥ ३२-३३॥

विमर्श— गला सामने की ओर से कई स्थानों पर से; जैसे—कण्ठिका (Hyoid) अस्थि से ऊपर, अवटु (Thyroid) ग्रन्थि की तरुणास्थि, श्वासप्रणाल (Trachea) आदि कट सकता है। उपरोक्त वर्णन श्वासप्रणाल के कटने का है। इस अवस्था के उपचार में अनेक रोगियों में श्वासप्रणालछिद्रीकरण (Trachiostomy) की आवश्यकता पड़ती है।

शाखासु पतितांस्तिर्यक् प्रहारान् विवृतान् भृशम्।
सीव्येत् सम्यङ्निवेश्याशु सन्ध्यस्थीन्यनुपूर्वशः॥ ३४॥
बद्ध्वा वेल्लितकेनाशु ततस्तैलेन सेचयेत्। चर्मणा गोफणाबन्धः कार्यो यो वा हितो भवेत्॥

सीवनकर्म—यदि शाखाओं (Limbs) में तिरछे (Oblique) प्रहारों से अत्यधिक विस्तृत (Wide separation) व्रण बन गये हों तो उन्हें सन्धि-अस्थि आदि को यथास्थान सम्यक् प्रकार से स्थापित कर सीवन कर्म करें॥ ३४॥

बन्ध-विशेष का उपयोग—तदनन्तर वेल्लितक (Spiral) बन्ध से शीघ्र बाँध दें और तैल से व्रण को सिञ्चित (Soaked) करें। अथवा गोफणाबन्ध (चर्मनिर्मित/Sling bandage) से इनमें से जो हितकर हो बाँध दें॥ ३५॥

पृष्ठे व्रणो यस्य भवेदुत्तानं शाययेत् तु तम्। अतोऽन्यथा चोरसिजे शाययेत् पुरुषं व्रणे॥ ३६॥

रोगी को अधोमुख या ऊर्ध्वमुख लिटाना—जब व्रण पीठ में हो तो रोगी को पीठ के सहारे (Spine position) लिटावें ('दोषस्रुत्यर्थम्, अन्यथा अनिर्गच्छन् अन्तर्व्यवस्थितो दोषः उत्सङ्गं कृत्वा विकरोति'–ड.)। छाती में व्रणों में रोगी को इससे विपरीत (अधोमुख) लिटावें॥ ३६॥

छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन बुद्धिमान्। बध्नीयात् कोषबन्धेन प्राप्तं कार्यं च रोपणम्॥

कटे भाग का तैल से दहन—शाखा के पूर्णतः कट जाने पर (Complete dismemberment of an extrimity) कुशल चिकित्सक तैल से व्रण का दहन करे और कटे अंग पर कोषबन्ध (Stump bandage) बाँध दें तथा रोहण (Healing) की व्यवस्था करे॥ ३७॥

विमर्श—शाखा के पूर्णतः कट जाने से 'तैल से दहन' करने पर वाहिनी संकोच होकर रक्तस्राव रुक जाता है ('दाहः सङ्कोचयेत् सिराः)।

चन्दनं पद्मकं रोध्रमुत्पलानि प्रियङ्गवः। हरिद्रा मधुकं चैव पयः स्यादत्र चाष्टमम्॥ ३८॥
तैलमेभिर्विपक्वं तु प्रधानं व्रणरोपणम्।

व्रणरोपण (Wound healing) तैल—चन्दन (Sandal wood), पद्मक, रोध्र, कमल, प्रियंगु, हरिद्रा, मुलहठी और गोदुग्ध—इनसे सिद्ध तैल परम व्रणरोपण (The best recipe for wound healing) है॥ ३८॥

चन्दनं कर्कटाख्या च सहे मांस्याह्वयाऽमृता॥ ३९॥
हरेणवो मृणालं च त्रिफला पद्मकोत्पले। त्रयोदशाङ्गं त्रिवृतमेतद्वा पयसाऽन्वितम्॥ ४०॥
तैलं विपक्वं सेकार्थे हितं तु व्रणरोपणे।

सिंचन के लिए चन्दनादि तैल—चन्दन, काकड़ासिंगी, माषपर्णी और मुद्गपर्णी (सहे), जटामांसी, गिलोय, हरेणु (कलायाः), खश (मृणाल, उशीर), त्रिफला (हरड़-बहेड़ा-आँवला), पद्म (कमल), उत्पल (नीलोत्पल)—इन तेरह द्रव्यों के कल्क और त्रिवृत् (घृत-वसा-मज्जा; 'त्रिवृतमिति त्रिभिर्घृतवसा-मज्जभिर्वृतं तैलं त्रिवृतम्') से गोदुग्ध के साथ सिद्ध तैल (तैलपाक विधि से तैयार किया गया) सेक (Irrigation) के लिए और व्रणरोपण में हितकर है ('क्षीरेण चतुर्गुणेन पक्वम्')॥ ३९-४०॥

विमर्श—इस योग का दूसरा नाम 'त्रयोदशांग तैल' भी है।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भिन्नानां तु चिकित्सितम्॥ ४१॥
भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लम्बते तु यत्। तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धशिरं शनैः॥ ४२॥
पीडयेत्पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण तु। ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्यं चानेन सर्पिषा॥ ४३॥

भिन्ननेत्र की चिकित्सा—अब इसके उपरान्त भिन्न व्रणों (Stab wounds) की चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा। यदि नेत्र भिन्न व्रण से अकर्मण्य हो जाय (अकर्मण्यम् = 'अवलोकनादि स्वकर्मणोऽसम्पादकम्, अन्ये तु अकर्मण्यमसाध्यमित्यर्थः'/Ceased functioning) या नेत्र भिन्न न हुआ हो पर अपने स्थान से (From its socket) बाहर लटक गया हो तो उसे यथास्थान लाकर तथा रक्तवाहिनियों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाये बगैर धीरे-धीरे दबाकर पद्मपत्रों से ढक ('ऊष्मत्वव्युदासार्थं मार्दवार्थं च'–ड.) दें। तत्पश्चात् आगे वर्णित घृत से तर्पण एवं नस्य का प्रयोग करें॥ ४१-४३॥

आजं घृतं क्षीरपात्रं मधुकं चोत्पलानि च। जीवकर्षभकौ चैव पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत्॥ ४४॥
सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत् प्रशस्यते।

आजघृत का नेत्राभिघात में प्रयोग—बकरी का घी, मुलहठी, उत्पल (नीलकमल), जीवक और ऋषभक—इनको समान मात्रा में परस्पर मिला कर कल्क बना लें। इस कल्क को एक आढक दूध में पकाकर घृत तैयार करें। यह घृत नेत्रों के सभी प्रकार के आघातों में श्रेष्ठ हैं॥ ४४॥

विमर्श— क्षीराढकम्—'शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुःप्रस्थैस्तथाढकम्' (भा.प्र.)। प्रस्थ एक सेर (लगभग एक किलो) इस प्रकार आढक चार लीटर (क्षीरपात्रम्) समझा जा सकता है। डल्हण—'नैवं, वृद्धाः आढकशब्देन द्रवद्रव्यस्य द्विगुणतया परिभाषितत्वात् अष्टाविंशत्यधिकपलशतं गृह्णन्ति'।

इस घृत से नेत्राभिघात होने पर तर्पण तथा नस्य किये जाते हैं।

उदरान्मेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः॥ ४५॥
कषायभस्ममृत्कीर्णां बद्ध्वा सूत्रेण सूत्रवित्। अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यान्मधुसमायुतम्॥ ४६॥
बद्ध्वा व्रणं सुजीर्णेऽन्ने सर्पिषः पानमिष्यते। स्नेहपानादृते चापि पयःपानं विधीयते॥ ४७॥
शर्करामधुयष्टिभ्यां लाक्षया वा श्वदंष्ट्रया। चित्रासमन्वितं चैव रुजादाहविनाशनम्॥ ४८॥

मेदोवर्ति के बाहर आने पर चिकित्सा—(इन श्लोकों में उदराभिघात/Abdominal injury होने पर वपा के बाहर निकल आने/Extrusion of the omentum की चिकित्सा का वर्णन है—) यदि उदराभिघात होने पर मेदोवर्ति (वपा का कोई अंश) बाहर निकल आये तो उस पर सर्जक-अर्जुनादि कषाय द्रव्यों की भस्म (क्षार/Alkalies of astringent trees) और मृत् (कृष्णमृत्/Black clay/काली मिट्टी) से ढककर कुशल चिकित्सक उसे सूत्र से बाँध दे। तदनन्तर इस मेदोवर्ति को अग्नितप्त शस्त्र से काट दे और कटे भाग पर मधु को प्रयुक्त करे। व्रण बन्धन करने के बाद रोगी को भुक्त अन्न के जीर्ण होने पर घृतपान करावें तथा बाद में दुग्धपान भी कराना चाहिए। इस दुग्ध को मधु-यष्टि से क्षीरपाक कर और शर्करा तथा एरण्ड स्नेह (चित्रा, एरण्डः) का प्रक्षेप देकर पिलावें अथवा गोखरू से क्षीरपाक कर तथा उसमें लाक्षा-एरण्डस्नेह एवं तिलतैल का प्रक्षेप देकर पानार्थ प्रयुक्त करें। ये दोनों योग व्रणवेदना और दाह को शान्त करते हैं॥ ४५-४८॥

विमर्श— क्षीरपाक की विधि—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः'॥ डल्हण ने इस क्षीर की मात्रा के सम्बन्ध में कहा है—'प्रतिदिनं क्षीरचतुष्पलं पेयम्, शर्करैण्डतैलं तु प्रत्येकं कार्षिकम्'।

अग्नितप्तेन शस्त्रेण—शस्त्रकर्म से पूर्व शस्त्रों को विसंक्रमित करने का महत्त्व इससे स्पष्ट है। सौश्रुत काल में शस्त्रों को विसंक्रमित करने के दुष्परिणाम भी ज्ञात थे ('अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्, अन्यथा पाकभयं स्यात्, पुनः क्षतं च'–ड.)। छिद्र छोटा होने से कटा भाग अन्तः प्रविष्ट न हो सके तो छिद्र को बड़ा कर देना चाहिए ('यदा प्रवेश्यमाना न प्रविशति प्रविष्टा वा नावतिष्ठते तदा तस्याः छेदः'–ड.)।

आटोपो मरणं वा स्याच्छूलो वाऽच्छिद्यमानया। मेदोग्रन्थौ च यत् तैलं वक्ष्यते तच्च योजयेत्॥

मेदोवर्ति को काटना—अगर बाहर निकली हुई मेदोवर्ति (Omentum = वपा) को न काटा जाय तो आटोप (Meteorism), मृत्यु अथवा शूल (Colicky pain) होते है। इसके उपचार के लिए आगे मेदोग्रन्थि नामक रोग की चिकित्सा में जिस तैल (द्विकरञ्ज इत्यादिकम्) का उल्लेख किया जायेगा, उसको प्रयोग में लायें॥ ४९॥

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा। कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान्॥

अन्तःस्थित शल्य से हानि—जब शल्य त्वचा (त्वचः सप्त) एवं सिरा आदि (सिरादीनि सिरास्नायुसन्ध्यस्थीनि) का भेदन कर अथवा इनको (सिरादि को) एक ओर कर कोष्ठ में स्थिर हो जाता है (Gets stuck up in the thoraco-abdominal cavity) तो पूर्व वर्णित (सूत्रस्थान अ. २७ में) आटोप, आनाह, विद्रधि आदि उपद्रवों को जन्म देता है॥ ५०॥

विमर्श—'शोथपाकौ रुजश्चोग्राः कुर्यात् शल्यमनिर्हृतम्। वैकल्यं मरणं वाऽपि तस्मात् यत्नात् विनिर्हरेत्'॥ (सु.सू. २७।२२) **त्वचोऽतीत्य**—'त्वचोऽतिक्रम्य, त्वचः सप्त, सिरादीनि सिरास्नायुमांस-सन्ध्यस्थीनि। सिराच्छेदलिङ्गं तु सुरेन्द्रगोपप्रतिममित्यादि पूर्वमुक्तम्'।

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुं शीतपादकराननम्। शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत्॥ ५१॥

आभ्यन्तर रक्तस्राव (Internal haemorrhage) **की असाध्यावस्था**—अन्तर्लोहित (आभ्यन्तर रक्तस्राव/कोष्ठमध्यपतितरुधिरमित्यर्थः) होने से यदि रोगी पाण्डुवर्ण (Anaemic) हो, उसके मुख-हाथ-पैर ठण्डे हो गये हों, साँस भी शीतल हो, नेत्र रक्तवर्ण (Blood shot) हों और दोष-मल आदि अपने मार्ग से न आ रहे हों (Obstruction to the evacuatory channels) तो वह असाध्य है॥ ५१॥

आमाशयस्थे रुधिरे वमनं पथ्यमुच्यते। पक्वाशयस्थे देयं च विरेचनमसंशयम्॥ ५२॥
आस्थापनं च निःस्नेहं कार्यमुष्णैर्विशोधनैः। यवकोलकुलत्थानां निःस्नेहेन रसेन च॥ ५३॥
भुञ्जीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैन्धवसंयुताम्। अतिनिःस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक्॥ ५४॥

साध्य आभ्यन्तर रक्तस्राव की चिकित्सा—(आभ्यन्तर रक्तस्राव से पीड़ित व्यक्ति यदि उपरोक्त असाध्य लक्षणों से रहित है तथा साध्य है तो उसकी चिकित्साविधि इस प्रकार है—) यदि आमाशय (Stomach) में रुधिर एकत्रित हो गया हो तो वमन (Emesis) कराना हितकर है तथा पक्वाशय (Intistine) में रुधिर एकत्रित होने पर विरेचन (Purgatives) निश्चित रूप से लाभप्रद होता है। इसी प्रकार इस अवस्था में स्नेह रहित तथा शोधन करने वाली उष्ण आस्थापन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। खाने के लिए सैन्धव लवण युक्त यवागू को जौ, बेर और कुलत्थ के रस (यूष/Soup) के साथ दें जिसमें स्नेह न हो अथवा इसी रस के साथ अन्न दें। यदि रक्त अधिक निकल गया हो तो या भिन्न कोष्ठ (Pierced abdomen) होने पर रोगी को (रक्त की कमी को ठीक करने या जीवन-रक्षा के लिए) रक्त पिलावें ('पिबेदसृक् इति, जीवितानुबन्धनार्थम्'–ड.)॥ ५२-५४॥

विमर्श— पिबेदसृक्—शरीर में रक्त की कमी को दूर करने के लिए रुधिर का प्रयोग सर्वोत्तिम उपाय है ('रुधिरं रुधिरेणैवाप्याय्यते'–च.; 'सामान्यं वृद्धिकारणम्'–च.)। विशेष विवरण के लिए सु.सू. १४वाँ (शोणितवर्णनीय नामक) अध्याय देखें।

स्वमार्गप्रतिपन्नास्तु यस्य विण्मूत्रमारुताः। व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवति मानवः॥ ५५॥

भिन्नकोष्ठ की साध्यता—यदि ज्वर-आध्मान आदि उपद्रव न हों और मल-मूत्र तथा वायु अपने स्वाभाविक मार्ग से आ रहे हों तो कोष्ठ के भिन्न (Abdomen may have burst) होने पर भी रोगी जीवित रहता है॥ ५५॥

अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत्। पिपीलिकाशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु॥ ५६॥
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांशुभिः। प्रवेशयेत् कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः॥ ५७॥
प्रवेशयेत् क्षीरसिक्तं शुष्कमन्त्रं घृताप्लुतम्। अङ्गुल्याऽभिमृशेत् कण्ठं जलेनोद्वेजयेदपि॥ ५८॥
हस्तपादेषु संगृह्य समुत्थाप्य महाबलाः। भवत्यन्तःप्रवेशस्तु यथा निर्धुनुयुस्तथा॥ ५९॥
तथाऽन्त्राणि विशन्त्यन्तः स्वां कलां पीडयन्ति च। व्रणाल्पत्वाद्बहुत्वाद्वा दुष्प्रवेशं भवेत्तु यत्॥

तदापाट्य प्रमाणेन भिषगन्त्रं प्रवेशयेत्। यथास्थानं निविष्टे च व्रणं सीव्येदतन्द्रितः ॥ ६१ ॥
स्थानादपेतमादत्ते प्राणान् गुपितमेव वा। वेष्टयित्वा तु पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥ ६२ ॥
घृतं पिबेत् सुखोष्णं च चित्रातैलसमन्वितम्। मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधःप्रवृत्तये ॥ ६३ ॥
ततस्तैलमिदं कुर्याद्रोपणार्थं चिकित्सकः। त्वचोऽश्वकर्णधवयोर्मोचकीमेषशृङ्ग्योः ॥ ६४ ॥
शल्लक्यर्जुनयोश्चापि विदार्याः क्षीरिणां तथा। बलामूलानि चाहृत्य तैलमेतैर्विपाचयेत् ॥ ६५ ॥
व्रणं संरोपयेत् तेन वर्षमात्रं यतेत च।

बाहर निकल आयी अन्त्र की चिकित्सा—यदि आँतें बाहर निकल आयी हों पर अभिन्न अर्थात् कहीं से कटी न हों (Not perforated) तो उन्हें पुनः उनके पूर्व स्थान पर स्थापित कर देना चाहिए। अन्यथा (यदि कट गयी हों तो) कुछ शल्यचिकित्सकों की सम्मति है कि आँतों के भिन्न हुए भाग को पिपीलिकाओं के सिरों से जोड़ देना चाहिए ('पिपीलिकावदनसन्दंशसंहिते अन्त्रे तासां च छेदः कार्यः') ॥ ५६ ॥

यदि बहिर्निर्गत अन्त्र भाग तृण, रक्त, धूलादि से युक्त हो तो उसे दूध से अच्छी तरह धो दें और कृत्तनख (छिन्ननखः/Nails pared off) शल्यचिकित्सक घृत लगाकर धीरे-धीरे आँतों को अन्तः प्रविष्ट करे। यदि अन्त्र शुष्क हो गयी हो तो उसे भी दूध से धोकर तथा घी लगाकर अन्दर कर देना चाहिए। बाहर निकली हुई आँत को अन्दर करने के लिए (Replacement of the intestine) रोगी के गले में—१. अंगुली से स्पर्श करें (Tickled by the fingers) या २. रोगी पर जल छिड़कें (Water should be sprayed) या ३. बलवान् परिचारकों द्वारा रोगी के हाथों और पैरों को पकड़वा कर उसे इस प्रकार झकझोरें कि बहिर्निर्गत अन्त्र अन्तः प्रविष्ट हो जाय ॥ ५७-५९ ॥

इन उपायों द्वारा बहिरागत अन्त्र अन्तः प्रविष्ट हो जाती है और अपनी कला (स्वां कलां पीडयन्ति, स्वकीया कला/Supporting membrane/'पञ्चमी मलधरा तां पीडयन्ति'–ड.) पर स्थिर हो जाती है।

व्रण को बड़ा करना—यदि व्रण (जिसमें से आँत बाहर आयी है) छोटा हो या आँत का बहिरागत भाग बहुत बड़ा हो और अन्त्र को अन्तः प्रविष्ट करना कठिन हो तो व्रण को आवश्यकतानुसार प्रमाण से बड़ा कर आँत को अन्दर कर देना चाहिए। अन्त्र के अपने पूर्व (यथा) स्थान पर आ जाने के बाद चतुर शल्यचिकित्सक व्रण को सीवन कर्म कर बन्द कर दे, क्योंकि स्थानभ्रष्ट (Dislocated) हुई अन्त्र आपस में उलझकर (Twisted) घातक होती है। व्रण को कपड़ा लपेटकर बाँध दे और घृतसेक (Irrigation with ghee) करें ॥ ६०-६२ ॥

एरण्ड स्नेह का प्रयोग—मल (Stools) को मृदु करने तथा वायु (Flatus) को नीचे की ओर प्रवृत्त करने के लिए एरण्ड स्नेह (Castor oil) युक्त कोष्ण (Luke warm) घृत रोगी को पिलावें ॥ ६३ ॥

व्रणरोपण के लिए अश्वकर्णादि तैल—व्रणरोपण के लिए चिकित्सक निम्नलिखित तैल का प्रयोग करें—अश्वकर्ण (अश्वत्थ सदृश वृक्ष) और धव की छाल, शाल्मली और मेढ़ासिंगी की छाल तथा शल्लकी और अर्जुन की छाल, विदारीकन्द एवं क्षीरी वृक्षों की छाल और बला (खरेंटी) की जड़—इनके कल्क से चतुर्गुण जल मिलाकर एक प्रस्थ तैल का पाक करें। इस तैल से व्रणरोपण (Wound healing) करें और रोगी एक वर्ष तक मैथुन, व्यायामादि से परहेज रखें ॥ ६४-६५ ॥

विमर्श—क्षीरवृक्ष—'न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षपारीषाश्वत्थपादपाः'। वर्षमात्रं यतेत च—'मैथुनव्यायामादि परिहरन् वर्षमात्रं यत्नं कुर्वीतेत्यर्थः'।

पादौ निरस्तमुष्कस्य जलेन प्रोक्ष्य चाक्षिणी ॥ ६६ ॥
प्रवेश्य तुन्नसेवन्या मुष्कौ सीव्येत् ततः परम्। कार्यो गोफणिकाबन्धः कटयामावेश्य यन्त्रकम् ॥
न कुर्यात् स्नेहसेकं च तेन क्लिद्यति हि व्रणः।

मुष्कभेद (Testicular injury) **की चिकित्सा**—अभिघात से जिस व्यक्ति के अण्ड बाहर निकल आये हों (Extrusion of the testes) उसके नेत्रों एवं पैरों को पानी से पोंछ कर दोनों अण्डों को (मुष्कौ वृषणकोषौ ?–ड.) अन्तःप्रविष्ट कर व्रण को तुन्नसेवनी (Continuous stitch) नामक सीवन से बन्द कर देना चाहिए। तदनन्तर अंग को स्थिर रखने (Immobilization) के लिए कमर में पट्टी लपेटकर गोफणाबन्ध (Triangular bandage) बाँध देना चाहिए ('कट्यामावेश्य यन्त्रकम्, पट्टयन्त्रमावेश्य चलनभयादित्यर्थः'–ड.)। इस व्रण का स्नेह सेक (Oily application) नहीं करना चाहिए, अन्यथा व्रण में क्लेद (Sodden) हो जाता है॥ ६६-६७॥

विमर्श— मुष्कौ—अमरसिंह 'मुष्कोऽण्डकोषो वृषणः' अर्थात् इन तीनों को समानार्थक मानते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में 'निरस्तमुष्कस्य' का अर्थ है—'जिस व्यक्ति के मुष्क (कोष में से) बाहर निकल आये हों'। इस प्रकार 'मुष्क' 'Testis' (pl. testes) है। ये दो होते हैं। इसी से 'मुष्कौ' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पर डल्हण ने 'मुष्कौ' का पर्याय 'अण्डकोषौ' दिया है, जब कि अण्डकोष 'Scrotum' है (A pouch containting the testes) और एकवचन में प्रयुक्त होता है ('कालान्तरेण फलकोषं प्रविश्य'-सु.नि. १२।७)। अतः यह सभी विचारणीय है।

'तुन्नसेवनी' और 'गोफणाबन्ध'—इनमें तुन्नसेवनी यहाँ निरन्तर सीवन है और गोफणाबन्ध तिकोनी पट्टी है। ये दोनों ही अपने पूर्व वर्णन से भिन्न हैं।

कालानुसार्यागुर्वेलाजातीचन्दनपद्मकैः ॥ ६८॥
शिलादार्व्यमृतातुत्थैस्तैलं कुर्वीत रोपणम्।

व्रणरोपण तैल—कालानुसारी (तगर), अगर, इलायची, जाती (चमेली), चन्दन, पद्माख, मनःशिला, दारुहल्दी, अमृता (गिलोय) और नीला थोथा (Copper sulphate)—इनके कल्क से सिद्ध तैल को व्रणरोपणार्थ प्रयुक्त करें॥ ६८॥

शिरसोऽपहृते शल्ये बालवर्तिं निवेशयेत्॥ ६९॥
बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुङ्गं व्रणात् स्रवेत्। हन्यादेनं ततो वायुस्तस्मादेवमुपाचरेत्॥ ७०॥
व्रणे रोहति चैकैकं शनैर्बालमपक्षिपेत्।

शिरोऽभिघात (Skull injury) **के बिद्ध व्रण की चिकित्सा**—जब शिर (Skull) से शल्य निकाल दिया गया हो तो व्रण में बालवर्ति (केशरचित वर्ति/Hair wick) को प्रविष्ट करना चाहिए। यदि बालवर्ति को प्रविष्ट न किया जाय तो व्रण में से मस्तुलुंग ('शिरसो बलाधानं स्त्यानघृताकारं मस्तुलुङ्गमुच्यते'/Cranial contents, brain matter and cerebro-spinal fluid) स्रवित होता है। इससे वायु प्रकुपित होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। अतः इस (बालवर्ति) को व्रण में प्रविष्ट करना चाहिए और व्रणरोहण के साथ-साथ बालवर्ति के बालों को एक-एक कर निकालते रहना चाहिए॥ ६९-७०॥

गात्रादपहृतेऽन्यस्मात् स्नेहवर्तिं प्रवेशयेत्॥ ७१॥
कृते निःशोणिते चापि विधिः सद्यःक्षते हितः।

व्रण का सामान्य उपचार—शरीर के किसी भी भाग (शिर के अतिरिक्त) से शल्य को निकाल देने के उपरान्त व्रण में स्नेहवर्ति (Oily pessaries) प्रविष्ट करें और व्रण के रक्त रहित हो जाने के पश्चात् सद्यःक्षत विधि के अनुसार उपचार करें। ('मधुघृतादिसन्धानार्थम्'–ड.)॥ ७१॥

दूरावगाढाः सूक्ष्माः स्युर्ये व्रणास्तान् विशोणितान्॥ ७२॥
कृत्वा सूक्ष्मेण नेत्रेण चक्रतैलेन तर्पयेत्।

सूक्ष्ममुख व्रण में चक्रतैल—ऐसे व्रण जो गहरे हैं और जिनका मुख छोटा है ('दूरावगाढाः दूरानुप्रविष्टा इत्यर्थः') उनके रक्त को साफ कर (After securing complete haemostasis) उनमें सूक्ष्म मुख वाले यन्त्र की सहायता से (व्रणप्रक्षालनयन्त्रेण) चक्रतैल भर देना चाहिए॥ ७२॥

विमर्श— 'चक्रतैलेनेति तिलतैलपीडनोपकरणकाष्ठेभ्योऽणुतैलन्यायेन गृहीतं तैलं चक्रतैलं, सद्यःपीडनोद्धृतमात्रं वा। तर्पयित् पूरयेत्'–ड.)।

समङ्गां रजनीं पद्मां त्रिवर्गं तुल्यमेव च॥ ७३॥
विडङ्गं कटुकां पथ्यां गुडूचीं सकरञ्जिकाम्। संहृत्य विपचेत्काले तैलं रोपणमुत्तमम्॥ ७४॥

व्रणरोपण मंजिष्ठादि तैल—मंजीठ (समंगा), हरिद्रा, भार्गी, त्रिवर्ग (त्रिफला), नीला थोथा, वायविडंग, कुटकी, हरीतकी, गिलोय और करंजफल (करञ्जिका = नक्तमालफलमित्यर्थः)—इनके कल्क से सिद्ध तैल व्रणरोहण काल में प्रयुक्त करने पर उत्तम व्रणरोपण करता है॥ ७३-७४॥

विमर्श— इस व्रणरोपण तैल में हरीतकी का दो बार पाठ है; एक बार त्रिफला में और दुबारा 'पथ्या' शब्द से। अतः यहाँ हरीतकी दुगुनी ली जाती है। वचन भी है—'घृते तैले च योगे च यद्द्रव्यं पुनरुच्यते। तत् ज्ञातव्यमिहाचार्यैर्भागितो द्विगुणं भवेत्' ॥

तालीशं पद्मकं मांसी हरेण्वगुरुचन्दनम्। हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः॥ ७५॥
पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम्।

सद्यो व्रणरोपण तालीशादि तैल—तालीसपत्र, पद्माख, जटामांसी, हरेणुबीज, अगर, लालचन्दन ('चन्दने रक्तचन्दनम्'–परि.प्र.) दोनों (दारु और हल्दी) हल्दियाँ, पद्मबीज (कमलगट्टा), उशीर (खश) और मुलहठी—इनके कल्क से सिद्ध तैल सद्योव्रण में उत्तम रोपण है॥ ७५॥

क्षते क्षतविधिः कार्यः पिच्चिते भग्नवद्विधिः॥ ७६॥

क्षत-पिच्चित का चिकित्सासूत्र—पूर्व वर्णित 'नातिभिन्नम्, नातिच्छिन्नम्' से परिभाषित क्षत (Lacerated) व्रण होने पर क्षतव्रणे की तरह जैसा कि 'क्षौद्रघृततैलाभ्यङ्गादिः' बताया गया है, चिकित्सा करनी चाहिए और पिच्चित (Crushed) व्रण हो तो भग्न की तरह बन्ध सेक रूक्ष भोजनादि वर्णित के अनुसार उपचार व्यवस्था करें॥ ७६॥

घृष्टे रुजो निगृह्याशु चूर्णैरुपचरेद्व्रणम्।

व्रणवेदनाहर योग—यदि व्रण घृष्ट (Abrased) प्रकार का हो तो वेदना को (मधु-मधुर-शीतादि) द्रव्यों के प्रयोग द्वारा शीघ्र दूर कर व्रण का (शाल-अर्जुन-सर्जादि की) छाल के चूर्णों से उपचार करना चाहिए।

विश्लिष्टदेहं पतितं मथितं हतमेव च॥ ७७॥
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशनम्। अयमेव विधिः कार्यः क्षीणे मर्महते तथा॥ ७८॥

तैलद्रोणी का गुमचोट में प्रयोग—नमन, आकर्षण, आरोहण, पतन, वध-साहसादि के कारण जिसके अवयवादि अपने स्थान से च्युत हो गये हों (विश्लिष्टदेहम् = स्वस्थानच्युतावयवं देहम्), जो वृक्षादि से गिरा हो (Fallen from a height), शरीर मथित (बलीयसा विलोडितम्) हुआ हो या दण्ड-मुष्टि आदि से पीटा गया हो उसे तैलपूर्ण द्रोणी (दारुनिर्मिता नौसदृशी/Tub filled with oil) में लिटावें और खाने के लिए मांसरस दें। यही विधि अध्वादि से क्षीण (Debitilated) में और हृदयादि मर्मों पर चोट लगने पर भी अपनायें॥ ७७-७८॥

विमर्श—द्रोणी नाव के आकार का लकड़ी का बना पात्र है, जिसमें द्रोण परिमित (सोलह प्रस्थ) तरल आता है ('चतु:प्रस्थैस्तथाढकम्। चतुर्भिराढकैर्द्रोण:'-शार्ङ्गधर:)। इसमें रोगी को लिटाने का आदेश है जिससे प्रभावित अंग की गतियाँ सीमित रहें।

रोपणे सपरीषेके पाने च व्रणिनां सदा। तैलं घृतं वा संयोज्यं शरीरर्तूनवेक्ष्य हि॥ ७९॥

ऋतुओं का विचार—तैल तथा घृत का रोपण (Healing) तथा परिषेक (Irrigation) के लिए प्रयोग सदा ही रोगी के शरीर और ऋतुओं का विचार कर करना चाहिए॥ ७९॥

विमर्श— शरीरर्तून्—रोगी के शरीर के सम्बन्ध में रोगी की वातिक-श्लैष्मिक प्रकृति तथा शिशिरादि काल का विचार कर तैलों का प्रयोग करें और रोगी की रक्त-पित्त प्रकृति हो और शरदादिक काल हो तो घृतों का प्रयोग करना चाहिए।

घृतानि यानि वक्ष्यामि यत्नतः पित्तविद्रधौ। सद्योव्रणेषु देयानि तानि वैद्येन जानता॥ ८०॥

सद्योव्रण में घृत-प्रयोग—जिन घृतों का पित्तविद्रधि की चिकित्सा में वर्णन किया जायेगा ('प्रपौण्डरीक-मञ्जिष्ठामधुकोशीरपद्मकैरित्यादीनि') उन्हें जानकर चिकित्सक सद्योव्रणों में भी प्रयुक्त करे॥ ८०॥

सद्यःक्षतव्रणं वैद्यः सशूलं परिषेचयेत्। सर्पिषा नातिशीतेन बलातैलेन वा पुनः॥ ८१॥

दोष-ऋतु के अनुसार घृत-तैल का प्रयोग—चिकित्सक को चाहिए कि वह वेदनायुक्त 'सद्य:क्षत व्रण (Recent lacerated wound) में पित्त-रक्त प्रकृति वाले रोगी में और शरदादिक काल में कोष्ण घृत से परिषेक (Sprinkle lukewarm) करे तथा उसे वात-कफ प्रकृति वाले रोगी में और शीतर्तु में बलातैल से परिषेक करना चाहिए (बलातैलेन वातकफप्रकृतौ देहे काले च शीतले')॥ ८१॥

समङ्गां रजनीं पद्मां पथ्यां तुत्थं सुवर्चलाम्। पद्मकं रोध्रमधुकं विडङ्गानि हरेणुकाम्॥ ८२॥
तालीशपत्रं नलदं चन्दनं पद्मकेशरम्। मञ्जिष्ठोशीरलाक्षाश्च क्षीरिणां चापि पल्लवान्॥ ८३॥
प्रियालबीजं तिन्दुक्यास्तरुणानि फलानि च। यथालाभं समाहृत्य तैलमेभिर्विपाचयेत्॥ ८४॥
सद्योव्रणानां सर्वेषामदुष्टानां तु रोपणम्।

अदुष्ट व्रणों में समंगादि तैल—निम्नलिखित रोपण तैल सभी प्रकार के अदुष्ट (Uncontaminated) सद्यो व्रणों में उत्तम रोपणकर्ता है—समंगा (मंजीठ), हल्दी, भार्गी, हरड़, नीला थोथा, सूर्यभक्ता (हुलहुल), पद्माख, लोध्र, मुलहठी, वायविडंग, रेणुकाबीज, तालीसपत्र, खस, चन्दन, पद्मकेशर, मंजीठ, खस, लाख, क्षीर वृक्षों के पत्र, प्रियाल (चिरौंजी) के बीज, तिन्दुक के कच्चे फल (तरुणानि = आमानि)—इनमें से जो-जो द्रव्य मिल जायें उनके कल्क से तैल सिद्ध करें। यह तैल सभी अदुष्ट सद्योव्रणों में रोपण करता है॥ ८२-८४॥

कषायमधुराः शीताः क्रियाः स्निग्धाश्च योजयेत्॥ ८५॥
सद्योव्रणानां सप्ताहं पश्चात् पूर्वोक्तमाचरेत्।

सद्योव्रण की चिकित्सा-विधि—सद्योव्रणों में एक सप्ताह तक कषाय (Astringent), मधुर, शीत और स्निग्ध (Demulcent) द्रव्यों द्वारा उपचार करना चाहिए। उसके पश्चात् पूर्वोक्त (द्विव्रणीयोक्त) विधि से चिकित्सा करें॥ ८५॥

दुष्टव्रणेषु कर्तव्यमूर्ध्वं चाधश्च शोधनम्॥ ८६॥
विशोषणं तथाऽऽहारः शोणितस्य च मोक्षणम्। कषायं राजवृक्षादौ सुरसादौ च धावनम्॥ ८७॥
तयोरेव कषायेण तैलं शोधनमिष्यते। क्षारकल्पेन वा तैलं क्षारद्रव्येषु साधितम्॥ ८८॥

दुष्टव्रण-चिकित्साविधि—दुष्टव्रण हों तो उनके उपचार में वमन-शिरोविरेचन द्वारा ऊर्ध्व शोधन और विरेचन-आस्थापन द्वारा अधः शोधन करने के उपरान्त लंघन (विशोषण/Fasting therapy), कटु-तिक्त-कषायादि आहार (Appropriate dietary regimen) और शोणित-मोक्षण (Blood letting) कराने चाहिए॥ ८६॥

व्रणप्रक्षालनार्थ द्रव्य—व्रण के प्रक्षालन के लिए आरग्वधादि गण तथा सुरसादि गण की औषधियों के कषाय (Decoction) को प्रयुक्त करें॥ ८७॥

शोधनार्थ तैल—इन्हीं गणों की औषधियों के कषाय से सिद्ध तैल से शोधन करें अथवा मुष्कक, पलाश आदि के क्षार (या कल्क) से सिद्ध तैल का शोधनार्थ प्रयोग करें॥ ८८॥

विमर्श— 'तत्रोर्ध्वनाभिजेषु कफजेषु वमनम्, पित्तजेषु पित्ताशयजेषु च विरेचनम्, वाताशयाधःकायजेषु मलेन मार्गावरणदुष्टसमीरणदूषितेषु पुनरास्थापनम्, शिरसिजेषु तु कफजेषु शिरोविरेचनम्' (ड.)।

द्रवन्ती चिरबिल्वश्च दन्ती चित्रकमेव च। पृथ्वीका निम्बपत्राणि कासीसं तुत्थमेव च॥ ८९॥
त्रिवृत्तेजोवती नीली हरिद्रे सैन्धवं तिलाः। भूमिकदम्बः सुवहा शुकाख्या लाङ्गलाह्वया॥ ९०॥
नैपाली जालिनी चैव मदयन्ती मृगादनी। सुधामूर्वार्ककीटारिहरितालकरञ्जिकाः॥ ९१॥
यथोपपत्ति कर्तव्यं तैलमेतैस्तु शोधनम्। घृतं वा यदि वा प्राप्तं कल्काः संशोधनास्तथा॥ ९२॥

दुष्टव्रणों (सभी प्रकार) के उपचारार्थ तैल-घृत-कल्क योग—एतदर्थ तैल शोधन (तैल सिद्ध) करने के लिए इन द्रव्यों को लें—द्रवन्ती (चीरितपत्रिका, दन्तीभेद), चिरबिल्व (करञ्जक), दन्ती (उदुम्बरपर्णी), चित्रक, पृथ्वीका (स्थूलजीरकः), नीम के पत्ते, कासीस, नीला थोथा, निशोथ, तेजोवती (काकमर्दनिका, मालकांगनी ?), नीली (नीलाञ्जनिका), हल्दी, दारुहल्दी, सेंधानमक, तिल, भूकदम्ब (मुण्डतिका), सुवहा (गोपदी), शुकाख्या (चर्मकारवटः), कलिहारी (कलिकारिका), मैनसिल (नैपाली), तुरई (जालनी = कोशातकी), मेंहदी (मदयन्ती = मल्लिका), मृगादनी (इन्द्रवारुणी), सेहुण्ड (स्नुही), मूर्वा (चोरस्नायुः), आक, विडंग (कीटारिः), हरताल और करञ्जफल— इनमें से जितने मिल जायें उनसे तैल, घृत या कल्क तैयार कर रोगी के शरीर, काल आदि का विचार करने के बाद प्रयोग में लायें॥ ८९-९२॥

विमर्श—तैल का प्रयोग 'उत्सन्नमांसानस्निग्धान्' आदि में घृत का प्रयोग 'पित्तप्रदुष्टान् गम्भीरान्' आदि में तथा कल्क का प्रयोग 'पूतिमांसप्रतिच्छन्नान्' आदि में किया जाता है।

सैन्धवत्रिवृदेरण्डपत्रकल्कस्तु वातिके। त्रिवृद्धरिद्रामधुककल्कः पैत्ते तिलैर्युतः॥ ९३॥
कफजे तिलतेजोह्वादन्तीस्वर्जिकचित्रकाः। दुष्टव्रणविधिः कार्यो मेहकुष्ठव्रणेष्वपि॥ ९४॥

कल्क द्रव्यों का दोषानुसार प्रयोग—वातिक व्रण में सेंधानमक, निशोथ और एरण्डपत्र कल्क; पैत्तिक व्रण में निशोथ, हल्दी, तिल और मुलहठी का कल्क और श्लैष्मिक व्रण में तिल, मालकांगनी, दन्ती, सज्जीखार तथा चित्रक का कल्क शोधनार्थ प्रयुक्त करें। प्रमेहपिडकाओं के व्रण तथा कुष्ठ के व्रणों में भी शोधनार्थ दुष्टव्रणविधि का प्रयोग करें॥ ९३-९४॥

षड्विधः प्राक् प्रदिष्टो यः सद्योव्रणविनिश्चयः। नातः शक्यं परं वक्तुमपि निश्चितवादिभिः॥

जो बहुत निश्चितवादी (Very definitive) हैं वे भी जो छः प्रकार के सद्योव्रण पूर्व में वर्णित किये गये हैं, उनसे अधिक का वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं॥ ९५॥

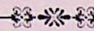
उपसर्गैर्निपातैश्च तत्तु पण्डितमानिनः। केचित्संयोज्य भाषन्ते बहुधा मानगर्विताः॥ ९६॥
बहु तद्भाषितं तेषां षट्स्वेष्वेवावतिष्ठते। विशेषा इव सामान्ये षट्त्वं तु परमं मतम्॥ ९७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सद्योव्रणचिकित्सितं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

यहाँ उपरोक्त श्लोक मे जो कहा गया है उसी का विस्तार है—बहुत-से मानगर्वित (Proud) और पण्डितमानी (Self-styled experts) उपसर्ग (प्रपरादयः/Prefixes) और निपात (Suffixes) लगा कर उपरोक्त छः प्रकार के सद्यो व्रणों की संख्या को अधिक बताते हैं। किन्तु उनके इस प्रकार के बहु कथन का समावेश सद्योव्रणों के इन छः भेदों में ही हो जाता है; जिस प्रकार सामान्य में विशेष का समावेश होता है। अतः सद्योव्रण छः ही हैं (अधिक नहीं) ॥ ९६-९७॥

विमर्श— उपसर्ग लगाकर जैसे—संच्छिन्न, विच्छिन्न, आच्छिन्न आदि ('तथा छेदसामान्ये सर्वेषामेव संच्छिन्न-परिच्छिन्न-अतिच्छिन्नादीनां छेदविशेषाणामवरोधः, एवं शेषेष्वपि पञ्चसु'–ड.) का समावेश षट् प्रकार के सद्योव्रणों मे ही हो जाता है।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'सद्योव्रणचिकित्सा' नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ २॥



अध्याय-सारांश

'सद्योव्रण-चिकित्सित' नामक इस अध्याय में—सद्योव्रणों की भिन्न-भिन्न आकृतियों के हेतु, व्रणाकृतियों के भेद, आकृतियों को जानने का लाभ, आगन्तुज व्रण के छः भेद, छिन्न-भिन्न आदि के लक्षण, भिन्न व्रण के हेतु (११)।

कोष्ठों की गणना, कोष्ठभेदों के लक्षण, कोष्ठभेदों का विशेष वर्णन—आमाशय भेदन-पक्वाशय-भेदन, रक्तस्राव अन्त्रपूरण (१२-१७)।

विद्ध का लक्षण, पिच्चित सद्योव्रण का लक्षण, घृष्ट का लक्षण (१८), छिन्न-भिन्न-क्षत की चिकित्सा, पिच्चित-घृष्ट की चिकित्सा (२६), विशेष चिकित्सा (३०), कर्णाभिघात, कृकाटिका छिन्न (३२), शाखाओं के छिन्न होने का उपचार (३४-३५), पृष्ठव्रण, उरसिज व्रण-उपचार (३६), निःशेषतः छिन्न शाखा-उपचार (३७), रोपण तैल (३८-४०)।

भिन्न व्रण का विशिष्ट उपचार—नेत्रभेदन (४२), सर्वनेत्रामय के लिए घृत (४४), मेदसोवर्ति-उपचार (४५-४८), आमाशयस्थ रुधिर का उपचार (५२), निष्क्रान्त-अन्त्र के अन्तः प्रवेश की विधियाँ (५६-६५), निरस्त मुष्क का उपचार (६६-६७), रोपण तैल (६८)।

शिर के विद्ध व्रण का उपचार—बालवर्ति (६९-७०), सद्योव्रण में स्नेहवर्ति का प्रयोग (७१), चक्र तैल का उपयोग (७२), विश्लिष्ट देह, पतित, मथित, हत की उपचार-व्यवस्था (७८), घृतादि के प्रयोग में शरीर-प्रकृति, ऋतु का महत्त्व(७९), सद्योव्रण में घृत प्रयोग (८१), तैल प्रयोग (८२-८४)।

सद्योव्रण में तैल-घृतादि का सात दिन तक उपयोग (८५), दुष्ट (अशुद्ध) व्रणचिकित्सा, शोधन तैल (८८)।

सभी दुष्ट व्रणों में घृत, तैल, कल्क प्रयोग (८९-९२), सद्योव्रणों का दोषानुसार उपचार, कल्कप्रयोग (९३-९४), सद्योव्रण 'षट्' ही हैं, अधिक नहीं (९५-९७)।



तृतीयोऽध्यायः

अथातो भग्नानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'भग्नानां चिकित्सितम्' (Treatment of Fractures and Dislocations) का वर्णन किया जायेगा। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च। उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ३ ॥

भग्न के विलम्बित रोहण के कारक (Factors of delayed union)—उन व्यक्तियों का अस्थिभग्न कठिनाई से जुड़ता है जो—(१) अल्पाशी अर्थात् भग्नरोहण के लिए जिस प्रकार के आहार का जितनी मात्रा में लेना आवश्यक है उस तरह का आहार उतनी मात्रा में नहीं लेते हैं। (२) अनात्मवान् अर्थात् दृढ इच्छाशक्ति का जिनमें अभाव है (Intemperate in habits) और अपथ्य सेवी हैं। (३) जो वातिक प्रकृति (Predominance of *Vāta*) के हैं ('अधृतिरदृढसौहृदः····कृशपरुष'-सु.शा. ४।६५) और (४) भग्न के उपद्रवों ('ज्वराध्मानमूत्रपुरीषसङ्गादयः'–ड.) से ग्रस्त हैं ॥ ३ ॥

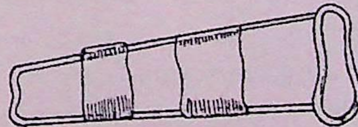
लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम्। व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षान्नमेव च ॥ ४ ॥
शालिर्मांसरसः क्षीरं सर्पिर्यूषः सतीनजः। बृंहणं चान्नपानं स्याद्देयं भग्नाय जानता ॥ ५ ॥

भग्न में पथ्यापथ्य—अपथ्य (Contraindicated diets and habits) इस प्रकार है—भग्नपीडित को लवण और कटुरस, क्षार और अम्ल पदार्थ, मैथुन, आतप (Exposure to sun) और व्यायाम (Physical exercise) तथा रूक्षान्न का सेवन नहीं करना चाहिए। **पथ्य** (Recommended diet)—शालिचावल और मांसरस, दूध, घृत, वर्तुल कलाय यूष (Soup) और बृंहण (Nourishing food) अन्न-पान जानकार वैद्य द्वारा भग्नपीड़ित को देना चाहिए ॥ ४-५ ॥

मधूकोडुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः। वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत् ॥ ६ ॥

कुशाओं (Splints) **का वर्णन**—महुआ, गूलर, पीपल, ढाक और अर्जुन की छाल (Barks), बाँस (Bamboo), सर्ज और बड़ को कुशा बनाने के लिए लेना (संग्रह) करना चाहिए ॥ ६ ॥

विमर्श— 'कुशशब्देन भग्नबन्धनार्थं वंशादिकं प्रोच्यते, अन्ये कुश्यमिति पठन्ति, तत्रापि स एवार्थः'।



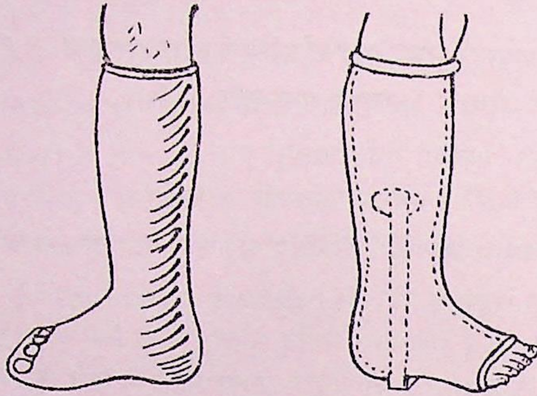
चित्र सं० ११ : टामस की कुशा
('कुशार्थं समाचरेत्')

आलेपनार्थं मञ्जिष्ठां मधुकं रक्तचन्दनम्। शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च संहरेत् ॥ ७ ॥

मंजिष्ठादि आलेपन—आलेपन करने (स्थानिक योग/Local applications) के लिए मंजीठ, मुलहठी, लालचन्दन और शालीपिष्ट (शाली चावल का सूक्ष्म चूर्ण) को शतधौत घृत में मिलाकर संग्रह करें ॥ ७ ॥

सप्ताहादथ सप्ताहात् सौम्येष्वृतुषु बन्धनम्। साधारणेषु कर्तव्यं पञ्चमे पञ्चमेऽहनि ॥ ८ ॥
आग्नेयेषु त्र्यहात् कुर्याद्भग्नदोषवशेन वा।

भग्न में बन्धन (Bandaging) **की अवधि**—सौम्य (Cold) ऋतुओं में यह भग्न-बन्धन सप्ताह में एक बार साधारण (Temperate) ऋतुओं में पाँच दिन में एक बार और आग्नेय (Hot) ऋतुओं में तीन दिन में एक बार बदलना चाहिए अथवा भग्नबन्धन को भग्न में जिस दोष की प्रधानता हो उसके अनुसार बदलें॥ ८॥



चित्र सं० १२ : प्लास्टर कुशा
('…ककुभत्वचः।…कुशार्थमुपसंहरेत्')

तत्रातिशिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते॥ ९॥

गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च। तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः॥ १०॥

भग्नबन्धन के गुण-दोष—(इस सूत्र में तीन प्रकार—गाढ, सम, शिथिल के भग्नबन्धनों के गुण-दोषों का उल्लेख है—) अतिशिथिल (Very loose) बन्धन से भग्न भाग दृढ़ता से स्थिर न होने के कारण सन्धि में स्थिरता नहीं आ पाती है, गाढबन्ध (Very tight bandage) से त्वचा आदि में शोफ (Inflammation), वेदना और पाक (Suppuration) हो जाते हैं। अतः अस्थिभग्नविशेषज्ञ भग्न में साधारण बन्ध बान्धने (Moderately tight bandaging) को प्रशस्त मानते हैं॥ ९-१०॥

विमर्श—वस्तुतः यही उपयुक्त पाया गया है कि भग्न के सम्यक् रोहण के लिए बन्धन 'साधारण' ही होना चाहिए।

'Excessive movement at the site of fracture during healing phage may produce delayed union because the callus bridging at fracture site is constantly 're-fractured' by the movement occuring in the healing tissue.'—B.& L.

न्यग्रोधादिकषायं तु सुशीतं परिषेचने। पञ्चमूलीविपक्वं तु क्षीरं कुर्यात् सवेदने॥ ११॥

दोष-ऋतु के अनुसार परिषेक—पित्तप्रकृति और उष्ण ऋतु में परिषेक (Irrigation) के लिए शीतल न्यग्रोधादि कषाय को (सन्धानार्थ और पाकादिपरिहारार्थ) प्रयुक्त करें। (वाताधिक पैत्तिक शूल हो तो) लघु-पञ्चमूल से सिद्ध दुग्ध से भग्न स्थल का परिषेचन ('पञ्चमूली स्वल्पा तस्याः शीतवीर्यत्वात्') हितकर है॥ ११॥

सुखोष्णमवचार्यं वा चक्रतैलं विजानता।

वात-कफ प्रकृति में चक्रतैल का परिषेक—वात-कफ प्रकृति में तथा वेदना युक्त भग्न में और शीत ऋतु में बुद्धिमान् चिकित्सक सुखोष्ण (Lukewarm) चक्रतैल से परिषेक करते हैं।

विमर्श—चक्रतैल—'सद्यःपीडितोद्धृत एके वदन्ति, अन्ये तु पुनरणुतैलकल्पेन गृहीतमपक्वं तैलं चक्रतैलमाहुः' (ड.)।

विभज्य कालं दोषं च दोषघ्नौषधसंयुतम्॥ १२॥
परिषेकं प्रदेहं च विदध्याच्छीतमेव च।

ऋतु के अनुसार शीत-उष्ण परिषेक—दोषघ्न औषधियों से युक्त परिषेक (Irrigation) और प्रदेह (Pastes) शीतल (अथवा उष्ण, 'चकारात् दोषाद्यपेक्षया उष्णमपि'–ड.) का प्रयोग दोष और ऋतुओं का विचार कर करना चाहिए॥ १२॥

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम्॥ १३॥
शीतलं लाक्षया युक्तं प्रातर्भग्नः पिबेन्नरः।

लाक्षाचूर्ण और दुग्ध का आभ्यन्तर प्रयोग—भग्न में आभ्यन्तर प्रयोग के लिए भग्न (Fracture and dislocation) से पीड़ित व्यक्ति को प्रातः काल मधुरौषधियों (काकोल्यादि) से सिद्ध और घृत युक्त प्रथम-प्रसूता गाय (Primiparous cow) के शीतल दूध को लाक्षा चूर्ण मिलाकर पिलावें॥ १३॥

विमर्श— कल्पना चेयम्—'काकोल्यादीनां मधुराणां कर्षमात्रद्रव्यमष्टगुणं क्षीरं चतुर्गुणोदकसिद्धं क्षीरशेषं सर्पिर्लाक्षाकर्षमात्रप्रक्षेपान्वितं, तच्च लघौ कोष्ठे देयं, इयं च दिनं प्रति मात्रा' (ड.)।

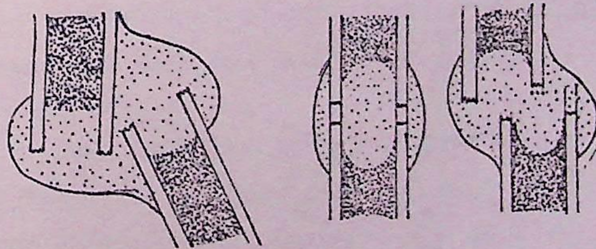
सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः॥ १४॥
प्रतिसार्य कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत्।

सव्रण भग्न (Compound fracture) **का उपचार**—यदि अस्थिभग्न सव्रण (Open) हो तो घृत और मधु युक्त (सर्पिर्मधूत्तरैः = घृतमधुप्रधानैः) न्यग्रोधादि के कषायों से प्रतिसारण करें। शेष उपचार (आहारादिक) भग्न की चिकित्सा सदृश करें॥ १४॥

विमर्श—सव्रण भग्न के उपचार में संक्रमण के फैलने का सर्वाधिक भय रहता है। उपरोक्त उपचार में घृतमधूत्तर न्यग्रोधादि के कल्क को भग्नव्रण पर लगाने का उद्देश्य संक्रमण को न फैलने देना है। यहाँ कषाय से प्रतिसारण करने का उल्लेख है, जो कल्क से सम्भव है ('प्रतिसार्य = लेपयित्वा'–ड.)।

प्रथमे वयसि त्वेवं भग्नं सुकरमादिशेत्॥ १५॥
अल्पदोषस्य जन्तोस्तु काले च शिशिरात्मके।

आयु के अनुसार भग्नरोहण—प्रथम आयु अर्थात् बाल्य काल में भग्न सुखसाध्य होते हैं यदि— १. उपरोक्त वर्णन के अनुसार आहारादि के नियमों का पालन किया जाय (उक्ताहाराचारेणेत्यर्थः), २. व्यक्ति अल्प दोष युक्त हो और ३. समय भी शिशिर ऋतु (Winter season) हो॥ १५॥



चित्र सं० १३ : अस्थि धातु
('भग्नं सुकरमादिशेत्')

प्रथमे वयसि त्वेवं मासात् सन्धिः स्थिरो भवेत्॥ १६॥
मध्यमे द्विगुणात्कालादुत्तरे त्रिगुणात् स्मृतः।

भग्नरोहण की अवधि—इस प्रकार बालकों में अस्थिभग्न और सन्धिमुक्त एक मास की अवधि में स्थिर (Becomes stable) हो जाते हैं, मध्यम आयु में यह समय दो मास और उत्तर अर्थात् वृद्धावस्था में ये तीन मास के समय में स्थिर होते हैं॥ १६॥

विमर्श—भग्नरोहण सामान्यतः १. रोगी की आयु, २. भग्न हुई अस्थि और ३. ऋतु इन तीन पर निर्भर करता है। ऋतु के सम्बन्ध में तो ऊपर बताया गया है कि शिशिर ऋतु भग्नरोहण में सहायक है। शेष दो की विवरण तालिका इस प्रकार है—

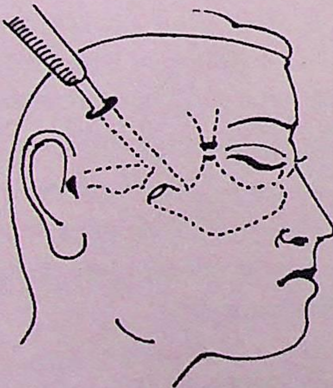
भग्नरोहण में अस्थि और आयु

(बेली एण्ड लव (B.& L.) के सौजन्य से)

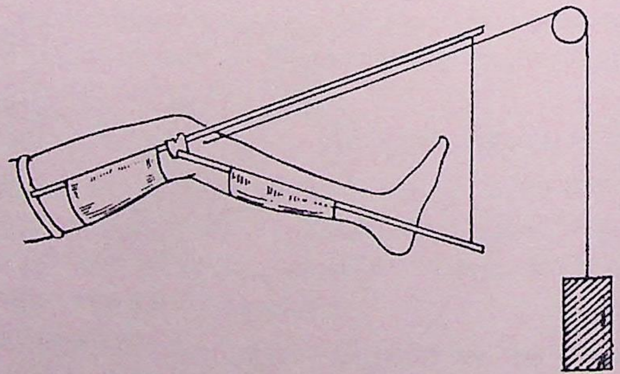
अस्थि	आयु
१. अधःशाखा के भग्नरोहण में ऊर्ध्वशाखा के भग्नरोहण की अपेक्षा दुगुना समय लगता है।	१. बालकों की प्रगण्डास्थि (Humerus) का ऑबलिक भग्न जुड़ने में तीन सप्ताह का समय लेता है।
२. बालकों में भग्नरोहण के समय की अपेक्षा वयस्क व्यक्तियों के भग्नरोहण में दुगुना समय लगता है।	२. यही भग्न वयस्क व्यक्तियों (Adults) में छः सप्ताह में जुड़ता है।
३. ट्रांसवर्स भग्न का रोहण समय आबलिक भग्न के रोहण समय की अपेक्षा दुगुना होता है।	३. वयस्क व्यक्तियों की अन्तर्जंघिका (Tibia) का ट्रांसवर्स भग्न बारह सप्ताह में जुड़ता है जब कि,
४. कोई भी भग्न तीन सप्ताह से पूर्व नहीं जुड़ता है।	४. इसी अस्थि का इसी आयु के कम्मिन्यूटेड भग्न हो तो १२-२४ सप्ताह का समय भग्नरोहण में ले सकता है।

अवनामितमुन्नह्येदुन्नतं चावपीडयेत्॥ १७॥
आञ्छेदतिक्षिप्तमधो गतं चोपरि वर्तयेत्।

भग्न भागों को यथास्थान लाने की विधि (Reduction of fractures)—जो भग्न भाग नीचे को दब गये हैं (Depressed fractures) उन्हें ऊपर को उठाकर (Should be elevated); जो ऊपर को उठे (Elevated) हैं उन्हें नीचे को दबाकर (Pressed down) तथा अतिक्षित (Widely separated) का आञ्छन (खेंच/Traction) कर पास में लायें। इसी प्रकार गहरे में चले गये (Gone in deep) भग्न भागों को ऊपर की ओर लायें॥ १७॥



चित्र सं० १४ : अवनामित भग्न को ठीक करना
('अवनामितमुन्नह्येत्')



चित्र सं० १५ : अस्थि द्वारा आञ्छन
('आञ्छेदतिक्षिप्तम्')

आञ्छनैः पीडनैश्चैव सङ्क्षेपैर्बन्धनैस्तथा॥ १८॥
सन्धीञ्छरीरे सर्वांस्तु चलानप्यचलानपि। एतैस्तु स्थापनोपायैः स्थापयेन्मतिमान् भिषक्॥

भग्नस्थापनोपायों का संक्षेप में उल्लेख—शरीर की सभी चल (Movable) और अचल (Non-movable) सन्धियों (तथा अस्थियों/'सन्धीन् इति बाहुल्येन निर्देशः, तेन काण्डभग्नानामपि') के भग्नों की स्थापना मतिमान् चिकित्सक आञ्छन (Traction), पीड़न ('पीडनग्रहणेन नमनोन्नमनपरिवर्तनानि गृह्यन्ते'/Pressure), संक्षेप ('सम्यक् प्रेरणमित्यर्थः'/Compression) और बन्धनों (Bandaging) द्वारा (सम्यक् स्थापना के इन उपायों द्वारा) करे ॥ १८-१९ ॥

उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत्। तस्य शीतान् परीषेकान्, प्रदेहांश्चावचारयेत् ॥

उत्पिष्टादि भग्नों में शीतल परिषेक—यदि सन्धि उत्पिष्ट (चूर्णितम्/Fracture dislocation) या विश्लिष्ट (विघटितम् = स्वस्थानात् च्युतमित्यर्थः/Subluxated joints) हो तो चिकित्सक को चाहिए कि वह सन्धि को चलाये नहीं (न घट्टयेत् = न चालयेत्/Not be disturbed) और वहाँ पर शीतल परिषेक और प्रदेहों (Cold irrigation and pastes) का प्रयोग करें ॥ २० ॥

अभिघाते हृते सन्धिः स्वां याति प्रकृतिं पुनः। घृतदिग्धेन पट्टेन वेष्टयित्वा यथाविधि ॥ २१ ॥
पट्टोपरि कुशान् दत्त्वा यथावद् बन्धमाचरेत्।

भग्न-स्थापना के बाद उपचार—अभिघात के पश्चात् सम्यक् स्थापना करने पर सन्धि अपनी सही स्थिति में आ जाती है। इसको घृत से तर पट्टी से यथाविधि लपेट कर पट्टी के ऊपर कुशा (Splint) लगाकर भली प्रकार बाँध दें ॥ २१ ॥

प्रत्यङ्गभग्नस्य विधिरत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते ॥ २२ ॥

प्रत्यंग भग्न की चिकित्सा—अब इसके उपरान्त प्रत्यङ्गभग्न (अङ्गमङ्गं प्रति प्रत्यङ्गम्, नखादीनारभ्य यावत् शिर इति; Individual skeletal [Fracture and dislocation] injuries) की चिकित्सा विधि का वर्णन किया जायेगा ॥ २२ ॥

नखसन्धिं समुत्पिष्टं रक्तानुगतमारया। अवमथ्य स्रुते रक्ते शालिपिष्टेन लेपयेत् ॥ २३ ॥

अवनख रक्तसंचयार्बुद (Subungual haematoma) जब नखसन्धि (Nail-skin junction) चूर्णित (Crushing) हो जाने से (आघात के कारण) रक्तसंचयार्बुद बन गया हो तो उसमें आरा नामक शस्त्र से छेद कर (चर्मकारास्त्रेण/Shoemaker's Awl/अवमथ्य) रक्त निकाल दें और उसके बाद व्रण स्थान पर चावल की पीठी (Paste of rice) का लेप कर दें ॥ २३ ॥

भग्नां वा सन्धिमुक्तां वा स्थापयित्वाऽङ्गुलीं समाम्। अणुनाऽऽवेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥

अंगुलिभग्न-चिकित्सा—यदि अंगुली की अस्थि का भग्न या सन्धिच्युति हो तो सम्यक्-स्थापना (Correctly reduced) कर सूक्ष्म (अणुना/Fine) वस्त्र से लपेटें और घृत से परिषेक करें ॥ २४॥

अभ्यज्य सर्पिषा पादं तलभग्नं कुशोत्तरम्। वस्त्रपट्टेन बध्नीयान्न च व्यायाममाचरेत् ॥ २५ ॥

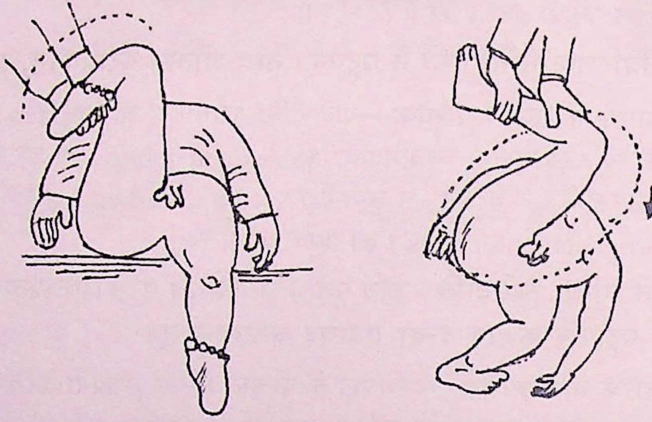
पादास्थिभग्न की चिकित्सा—पैर की अस्थि का भग्न हो तो पैर को घृत से मल कर कुशा का प्रयोग करे और कपड़े से बाँध दें (Splinted and bandaged)। पीड़ित अंग में किसी प्रकार का व्यायाम (Physiotherapy) न करें ॥ २५ ॥

अभ्यज्यायामयेज्जङ्गामूरुं च सुसमाहितः। दत्त्वा वृक्षत्वचः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ॥ २६ ॥

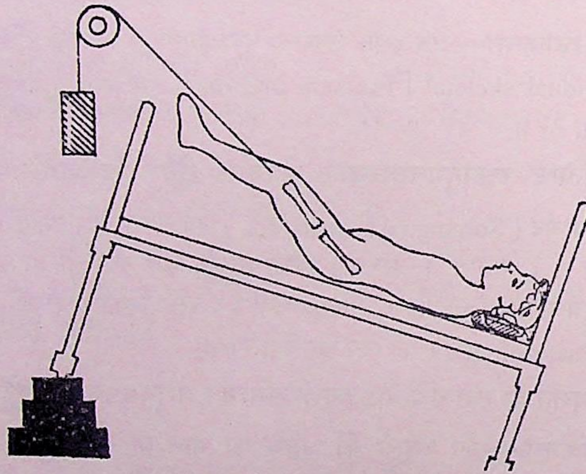
जंघा-ऊरुभग्न चिकित्सा—जंघा और ऊरु (Thigh) की अस्थि का भग्न हो तो ('जङ्घा = पादस्योपरि नलकाश्रया'-ड.) सावधानी के साथ अभ्यंग कर आञ्छन करें (Carefully reduced by traction) तथा न्यग्रोधादि शीतवीर्य वृक्षों से बनी कुशा का प्रयोग कर वस्त्रपट्ट से बाँध दें ॥ २६ ॥

मतिमांश्चक्रयोगेन ह्याञ्छेदूर्वस्थि निर्गतम्। स्फुटितं पिच्चितं चापि बध्नीयात् पूर्ववद्भिषक् ॥

श्रोणि-सन्धिच्युति (Dislocation of hip joint) **में चक्रयोग**—बुद्धिमान् शल्यचिकित्सक चक्रयोग (Circular motion) से श्रोणिसन्धि मुक्त को ठीक करे अथवा आञ्छन (Traction) कर मुक्त हुए अस्थिशिर को उसके सही स्थान पर लाये। यदि अभिघात से अस्थि या सन्धि स्फुटित (Fissured) या पिच्चित (Compressed) हो गयी हो तो पूर्व वर्णित के अनुसार बाँध दें॥ २७॥



चित्र सं० १६ : नितम्बसन्धिच्युति
('मतिमांश्चक्रयोगेन')



चित्र सं० १७ : कर्षण विधि
('आञ्छेदूर्वस्थि')

विमर्श—इस श्लोक की डल्हण ने दो व्याख्याएँ की हैं—एक अपनी और एक गयी की; यथा—१. 'वर्तुलान् कुशान् दत्वा नामयित्वा चक्रवत् आञ्छेत् बध्नीयात् इत्यर्थः' (डल्हणः); २. गयी तु—'बलवत्तरपुरुषहस्तद्वयोपरि गृहीतपार्ष्णिपादद्वयत्वात् भ्रमणजवेन निरन्तरभ्रान्तस्य भग्नवतः पुरुषकायस्य चक्राकारोपलम्भत्वात् युक्तश्चक्रयोग इत्याह'।

इस श्लोक में 'चक्रयोगेन' और 'आञ्छेत्' इन दो शब्दों से श्रोणीसन्धि मुक्त को ठीक करने की दो प्रचलित विधियों का संकेत मिलता है—१. प्रत्यावर्तन (Circumduction) चक्रयोग और २. आञ्छन (खेंचना/Traction)। गयी द्वारा वर्णित विधि प्रत्यावर्तन या Circumduction है जो C.F. Bigelow द्वारा १८४५ में पुनरुज्जीवित हुई है। **प्रत्यावर्तन-विधि** में रोगी को पीठ के सहारे लिटाकर उसकी भग्न

हुई अधःशाखा की ऊरु को उदर पर और जंघा को ऊरु पर मोड़ते हैं। तदनन्तर घुटने को गोलाकार इस प्रकार घुमाते हैं कि स्थानच्युत हुआ ऊर्वस्थिशिर अपने पूर्व स्थान में आ टिकता है। **आञ्छन-विधि में** भी रोगी को पीठ के सहारे लिटाते हैं और चिकित्सक रोगी के सामने इस प्रकार झुकता है कि रोगी की पीड़ित हुई अधःशाखा की जंघा चिकित्सक के मूलाधार (Perineum) से लगी होती है। चिकित्सक अपनी भुजाओं को जंघा के नीचे से आर-पार कर ऊपर ऊठाता है। इस प्रकार किये गये आञ्छन से ऊर्वस्थिशिर अपने पूर्व स्थान में आ जाता है। ये दोनों विधियाँ शारीरिक संज्ञाहरण के उपरान्त की जाती हैं[1]।

आञ्छेदूर्ध्वमधो वाऽपि कटिभग्नं तु मानवम्। ततः स्थानस्थिते सन्धौ बस्तिभिः समुपाचरेत्॥

कटिभग्न-चिकित्सा—कटिभग्न (Fracture pelvis) होने पर यदि अस्थि नीचे की ओर हो तो उसे ऊपर की ओर और ऊपर की ओर को हुई हो तो उसे नीचे की ओर करके, भग्न भागों के यथास्थान आने पर वस्त्रपट्ट से बाँध दें। तदनन्तर बस्तियों (Enemas) से चिकित्सा करे॥ २८॥

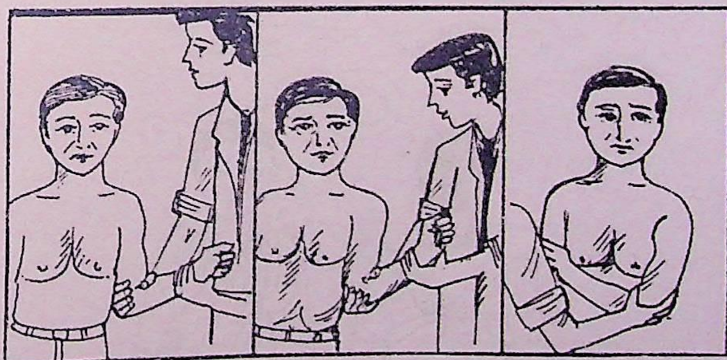
विमर्श—यद्यपि कटिभग्न को असाध्य बताया है तथापि यहाँ चिकित्साविधान (चकार से—'पिष्टं वर्जयित्') याप्य होने से है।

पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः। दक्षिणास्वथवा वामास्वनुमृज्य निबन्धनीः॥ २९॥
ततः कवलिकां दत्त्वा वेष्टयेत् सुसमाहितः। तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम्॥ ३०॥

पर्शुकाभग्न-चिकित्सा—पर्शुकाओं (Ribs) के भग्न होने पर खड़े-खड़े रोगी के (In the standing posture) भग्न भाग को घृत से अभ्यक्त कर जिस ओर (दाहिनी या वाम) भग्न हो उस ओर की निबन्धनियों (Fleshy cords) को हलके हाथ से अभ्यंग करे। तदनन्तर कपड़े की बनी गद्दी (कवलिका) रखकर (या 'कवलिका वंशादिविदलशकला, वस्त्रमयीत्यन्ये') भली प्रकार बाँध दे। अथवा सावधान चिकित्सक रोगी की तैलपूर्ण द्रोणी (काष्ठनिर्मिता नौरिव) या कटाह (Cauldron) में लिटायें॥ २९-३०॥

मुसलेनोत्क्षिपेत् कक्षामंससन्धौ विसंहते। स्थानस्थितं च बध्नीयात् स्वस्तिकेन विचक्षणः॥

स्कन्धसन्धिमुक्त (Dislocation of shoulder) **को ठीक करने की विधि**—स्कन्धसन्धिमुक्त में मुद्गर (Club) को कक्षा में रखकर ऊपर की ओर को उठावें (Be lifted up); जब सन्धि यथास्थित हो जाय तो बुद्धिमान् चिकित्सक इसे स्वस्तिक बन्ध (Cross Bandage) से बाँध दे॥ ३१॥



चित्र सं० १८ : स्कन्धसन्धिच्युति को ठीक करना
('अंससन्धौ विसंहते')

---

१. विशेष विवरण के लिए लेखक का 'शल्यविज्ञान' द्वितीय भाग देखें।

विमर्श— स्कन्धसन्धिमुक्त को ठीक करने की यह विधि हिप्पोक्रेट (Hippocrates) (४६० से ३७० ई० पूर्व) ने वर्णित की है कि सर्जन रोगी को इस प्रकार अपनी पीठ पर उठाता है कि उसका कन्धा रोगी की कक्षा के नीचे होता है और दूसरा सहायक रोगी को नीचे की ओर खेंचता है।

कौर्परं तु तथा सन्धिमङ्गुष्ठेनानुमार्जयेत्। अनुमृज्य ततः सन्धिं पीडयेत् कूर्पराच्च्युतम्॥ ३२॥
प्रसार्याकुञ्चयेच्चैनं स्नेहसेकं च दापयेत्।

(यह कूर्पर/Elbow, जानु/Knee, गुल्फ/Ankle और मणिबन्ध/Wrist सन्धि के मुक्त होने को ठीक करने की विधि का वर्णन है—) कूर्पर सन्धि के स्थान से च्युत होने पर उसे अंगूठे से मलें। तदनन्तर इस कूर्परच्युत सन्धि को दबावे (Should be pressed)। इस प्रकार आञ्छन करने पर स्थापना हो जाने के बाद सन्धि को मोड़ दें (Be flexed) और स्नेहसेक (Oily irrigation) करें॥ ३२॥

एवं जानुनि गुल्फे च मणिबन्धे च कारयेत्॥ ३३॥

यही विधि जानुसन्धि, गुल्फसन्धि और मणिबन्धसन्धि के च्युत (Dislocate) होने पर अपनानी चाहिए॥ ३३॥

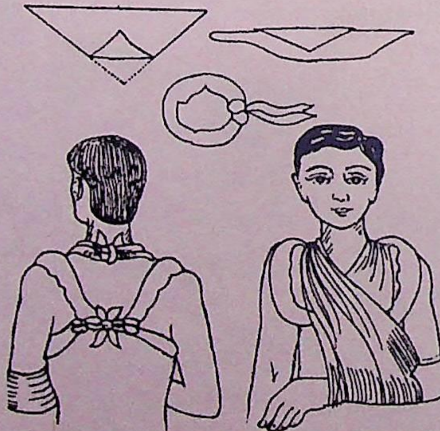
विमर्श— 'गुल्फः पाष्र्ण्युपरि ग्रन्थिः, मणिबन्धो हस्ततलस्य उपरितनः सन्धिः' (ड.)।

उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः। बध्नीयादामतैलेन परिषेकं च कारयेत्॥ ३४॥
मृत्पिण्डं धारयेत् पूर्वं लवणं च ततः परम्। हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम्॥ ३५॥

तलभग्न (Fracture of the bones of the hand) **की चिकित्सा** (भौतिक चिकित्सा /Physiotherapy)—एक हाथ की अस्थियों के भग्न होने पर दोनों हाथों को (एक हाथ काष्ठनिर्मित होता है; गयी तु—'उभेऽपि हस्ततले, तत्रैकस्य भग्ने वामं दक्षिणेन, दक्षिणं वामेन, उभयोस्तु भग्ने तत्समेन काष्ठमयेन कृत्वा द्वे अपि बध्नीयात् एवं दार्ढ्यं भवतीति'–ड.) परस्पर बाँधकर आम (Fresh) तैल से परिषेक करें और आत्मकर्म-प्राप्ति (Restoration of function) के लिए आरम्भ में मृण्मय (मिट्टी का) पिण्ड, फिर लवणपिण्ड और उसके बाद हाथ में कुछ बल आ जाने पर पाषाण धारण करें॥ ३४-३५॥

सन्नमुन्नमयेत् स्विन्नमक्षकं मुसलेन तु। तथोन्नतं पीडयेच्च बध्नीयाद्गाढमेव च॥ ३६॥

अक्षक भग्न (Fracture clavicle) **को ठीक करने की विधि**—यदि भग्न होने पर अक्षकास्थि का भाग (Fragment) दब गया हो (Depressed) तो स्वेदन के बाद उसे मुसल (Club) की सहायता

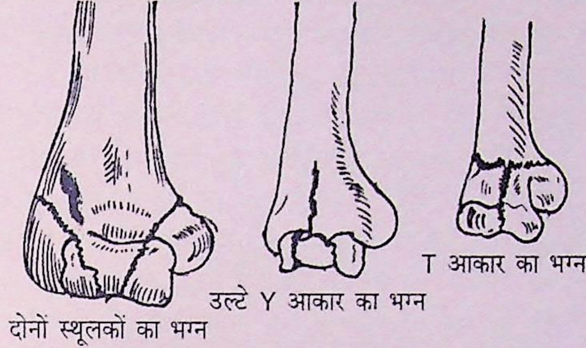


चित्र सं० १९ : अक्षक भग्न में बन्धनविधि
('बध्नीयात् गाढमेव च')

से ऊपर को उठा दें (Elevated) और ऊपर उठे हुए भाग को मुसल से नीचे को दबा दें। तत्पश्चात् गाढ़ बन्ध (Tight bandage) बाँध दे (जिससे भग्न भाग रोहण होने तक परस्पर मिले रहें)॥ ३६॥

ऊरुवच्चापि कर्तव्यं बाहुभग्नचिकित्सितम्।

बाहुभग्न (Fracture humerus) की चिकित्सा ऊरु के भग्न (Femur fracture) की तरह करनी चाहिए।

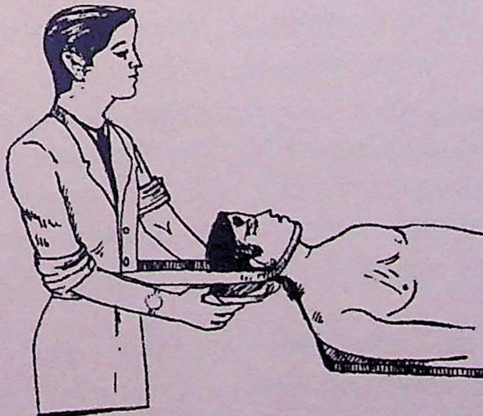


चित्र सं० २० : प्रगण्डास्थि के भग्न

('बाहुभग्नचिकित्सितम्')

ग्रीवायां तु विवृत्तायां प्रविष्टायामधोऽपि वा॥ ३७॥
अवटावथ हन्वोश्च प्रगृह्योन्नमयेन्नरम्। ततः कुशाः समं दत्त्वा वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्॥ ३८॥
उत्तानं शाययेच्चैनं सप्तरात्रमतन्द्रितः।

ग्रीवा के भग्न : सन्धिमुक्त (Cervical fracture dislocation) **की चिकित्सा**—यदि भग्न सन्धिमुक्त होकर ग्रीवा विवृत (विवृत्तायाम् = वक्रायाम्/Oblique and downward displacement of the neck) हो गयी हो या अधः प्रविष्ट हो तो उसे ठीक करने के लिए रोगी को अवटु (कृकाटिकाभागसन्धौ गर्तः अवटुः/By the nape of the neck) और हनु (मुखसन्धि/Both sides of the jaw) से पकड़कर ऊपर को उठावें (गयी तु—'अधःप्रविष्टायाम् अवटौ गृहीत्वा, विवृत्तायां हन्वोरिति क्रममाह'); तत्पश्चात् उपयुक्त कुशा का प्रयोग कर वस्त्रपट्ट से लपेट दें। रोगी को सात दिन तक ऊर्ध्वमुख आसन (Supine position) में लिटाये रखें॥ ३७-३८॥



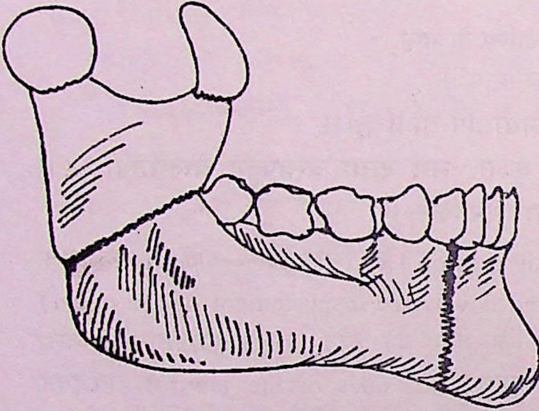
चित्र सं० २१ : ग्रीवासन्धिमुक्त की सौश्रुत विधि द्वारा चिकित्सा

('ग्रीवायां तु विवृत्तायाम्')

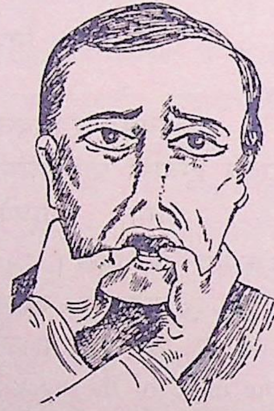
हन्वस्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंहते।। ३९।।
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चाङ्गीं वितरेद्भिषक्। वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम्।।

हनुसन्धिच्युति (Dislocation of jaw) **की चिकित्सा**—यदि हनुसन्धि अपने स्थान से किसी कारणवश हट गयी हो तो उसे अपने स्थान पर लाने के लिए स्वेदन करने के उपरान्त हन्वस्थियों को पकड़कर यथास्थान स्थापित करें और पञ्चाङ्गी बन्ध (Five-tailed bandage) से बाँध दे। तदनन्तर वातहर और मधुर गण की (वातघ्नानि भद्रदार्वादीनि मधुराणि काकोल्यादीनि) औषधियों से सिद्ध घृत (मधुरादि औषधियों के कल्क-चूर्ण से सिद्ध) का नस्य (Snuffs) लाभकर है।। ३९-४०।।

विमर्श—चरक में हनुसन्धिच्युति को ठीक करने की विधि विस्तार से वर्णित है—'व्यत्तानने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च। प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम्'।। (चि. २८।१०३) अर्थात् स्वेदन के उपरान्त चिकित्सक के अपने हाथों पर कपड़ा लपेटकर कुर्सी पर बैठे हुए रोगी के चर्वणक (Molar) दाँतों को नीचे और पीछे की ओर को हनुमुण्ड (Condyle) के पृथक् होने तक दबाता है ('अंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च'–च.) तथा उसके बाद अधोहनु को दोनों ओर से ऊपर उठाता है ('प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य'–च.); कभी-कभी व्यापक संज्ञाहरण (General anaesthesia) की आवश्यकता भी होती है।



चित्र सं० २२ : अधोहन्वस्थि का भग्न
('हन्वस्थिनी समानीय')



चित्र सं० २३ : च्युत हुई हनुसन्धि को ठीक करना
('...अङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च...'-च.)

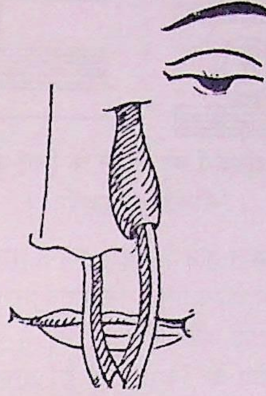
अभग्नांश्चलितान् दन्तान् सरक्तानवपीडयेत्। तरुणस्य मनुष्यस्य शीतैरालेपयेद्बहिः।। ४१।।
सिक्त्वाऽम्बुभिस्ततः शीतैः सन्धानीयैरुपाचरेत्। उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते।। ४२।।
जीर्णस्य तु मनुष्यस्य वर्जयेच्चलितान् द्विजान्।

दन्ताभिघात (Injuries to the teeth) **की चिकित्सा**—तरुण व्यक्ति (Young person) के भग्नरहित (Unbroken) और हिलते हुए दाँतों को जिनसे रुधिर आ रहा हो उनके स्थान में दबा दें (Should be pressed) और बाहर शीतल लेप (Cold pastes) लगा दें। तदनन्तर शीतल जल से सिंचित (Sprinkled) कर मधु-घृतादि सन्धानीय (Adhesive) द्रव्यों का प्रयोग करें। कमलनाल (Lotus stem) से दुग्धपान करावें। यदि व्यक्ति वृद्ध हो तो उसके हिलते हुए दाँतों की चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं है।। ४१-४२।।

नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया।। ४३।।
पृथङ्नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ सम्प्रवेशयेत्। ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत्।। ४४।।

नासाभग्न (Nasal fracture) **की चिकित्सा**—अभिघात से नासिका अन्त:प्रविष्ट (Depressed) या टेढी हुई (Curved) हो तो उसे शलाका की सहायता से ऊँचा उठाकर और टेढ़ी हो तो सीधा कर (नि:श्वास,

उच्छ्वास और सिंहाणकादि के निर्गमन के लिए) दो मुख वाली नाड़ी (Tubes open at both ends) को नासिका में अन्तः प्रविष्ट कर दें और वस्त्रपट्ट से बाँध दें तथा घृत का परिषेक (Irrigation) करें।



चित्र सं० २४ : नासास्थियों को शलाका की सहायता से यथास्थान लाना
('ऋज्वीं कृत्वा शलाकया')

भग्नं कर्णं तु बध्नीयात् समं कृत्वा घृतप्लुतम्। सद्यःक्षतविधानं च ततः पश्चात्समाचरेत्॥ ४५॥

कर्णभग्न (Ear pinna injury) **की चिकित्सा**—यदि बाह्य (External) कर्ण का अपदारण (Avulsion) हो तो उसे यथावत् ठीक कर घृतप्लुत (Smeared with) कर दें और उसके उपरान्त सद्यःक्षत विधान (Freshly inflicted wound) की तरह उपचार करें॥ ४५॥

मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी। दत्त्वा ततो निबध्नीयात् सप्ताहं च पिबेद्घृतम्॥ ४६॥

शिरोभग्न (Fracture skull) **की चिकित्सा**—यदि शिरोभग्न होने पर मस्तुलुंग (Brain matter) बाहर न आया हो तो कपाल में (व्रण में) घृत और मधु रखकर वस्त्रपट्ट से बाँध दे और रोगी को सात दिन तक घृतपान करावें (मस्तुलुंग के बाहर निकल आने पर बालवर्ति से उपचार पहले बताया जा चुका है)॥ ४६॥

पतनादभिघाताद्वा शूनमङ्गं यदक्षतम्। शीतान् प्रदेहान् सेकांश्च भिषक् तस्यावचारयेत्॥ ४७॥

पतनादि में शीतल लेपादि—गिरने (Fall) अथवा चोट लगने (Injury) से यदि शरीर का कोई हिस्सा कटा न हो पर सूज गया हो तो चिकित्सक उस स्थान पर शीतल लेप एवं शीतल परिषेक कर उपचार करे ('नोष्णान् कथमपि, अतिस्रुतरक्तत्वेन पाकभयात्')॥ ४७॥

विमर्श—चोट लगने पर छोटी-बड़ी रक्तवाहिनियों के फट जाने से निकले रक्त से सूजन हो जाती है। यदि इसमें उष्ण लेप एवं परिषेक किये जायें तो रक्तस्राव अधिक होना सम्भव है, क्योंकि उष्णता से रक्तवाहिनियाँ फैलती हैं ('नोष्णान् कथमपि'–ड.), दूसरी ओर शीतल उपचार रक्तवाहिनियों को सिकोड़ता है। अत: वेदना-सूजन आदि में तुरन्त लाभ होता है।

अथ जङ्घोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम्। कीलका बन्धनार्थं च पञ्च कार्या विजानता॥ ४८॥
यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा। सन्धेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः॥ ४९॥

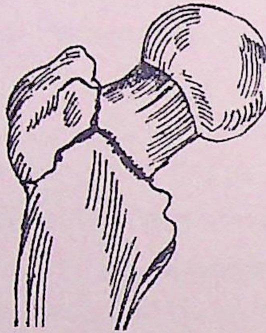
भग्न में कपाटशयन—जंघा (Leg) और ऊरु (Thigh) के भग्न होने पर रोगी को कपाटशयन (Immobilization on a fracture bed) लाभकर होता है ('कपाटशयनमवश्यं कार्यम्। चलनं कपाटशयनेनैव सह देशान्तरनयनार्थम्'–ड.)। शल्यचिकित्साविशेषज्ञ इन भग्न भागों में गति न होने देने के लिए पाँच कीलों (Five pegs) को बन्धनार्थ प्रयुक्त करता है। ये कीलें भग्न भाग में रोहण होने तक गति को रोकने

के लिए ('आधेयभूतशरीरावयवचलनपरिहारार्थं कीलाः') लगायी जाती है ('यथा न चलनं तस्य भग्नस्य')। इन कीलों को सन्धि के दोनों ओर दो-दो और एक कील तल में लगाते हैं॥ ४८-४९॥



चित्र सं० २५ : अस्थियों को जोड़ने के लिए कीलों का प्रयोग
('कीलका बन्धनार्थम्')

विमर्श— इस वर्णन से दो संकेत प्राप्त होते हैं—(१) भग्न भागों की सीमित गतिहीनता ('ईषदर्थे नञ्' –पा.), क्योंकि अल्प गति से भग्न प्रान्तों में अस्थिधातु के निर्माणार्थ प्रेरणा प्राप्त होती है तथा (२) स्थिरीकरणार्थ कीलों का प्रयोग। भग्न में स्थिरीकरण बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। बाह्यस्थिरीकरण वस्त्रपट्ट से बाँध कर और कुशाओं का प्रयोग कर किया जाता है। आभ्यन्तर स्थिरीकरण के लिए कीलें (Nails or pegs) अथवा धात्विक तारों का प्रयोग किया जाता है।



चित्र सं० २६ : ऊर्वस्थि के शिखरान्तरिक
('अथ जङ्घोरुभग्नानाम्')

यहाँ जंघा और ऊरु के भग्न में स्थिरीकरण के लिए कपाटशयन और कीलों के प्रयोग की सलाह दी गयी है। कीलों का प्रयोग अंग (अधःशाखा) के स्थिरीकरण के लिए जानुसन्धि के दोनों ओर दो-दो और पादतल के पास एक कील प्रयुक्त करने का आदेश है।

यहाँ सुश्रुत का यह कथन कि—'यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा' विशेष विचार की अपेक्षा करता है। कीलों द्वारा उपरोक्त स्थिरीकरण अंग (अधःशाखा) का है, जब कि 'यथा न चलनं' वाली पंक्ति में भग्न को स्थिरीकरण की बात कही गयी है। हमारी सम्मति में कीलों द्वारा भग्न के स्थिरीकरण का उल्लेख आधुनिकों का 'Internal fixation' ही है।

श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा। भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत्॥ ५०॥

श्रोणिभग्नादि का उपचार—यही 'जङ्घोरुभग्नकपाटशयनादि' विधि पृष्ठवंश (Spine), श्रोणि (कटि/Pelvis), वक्ष (Chest) और अक्षक (अंससन्धेरुपरिभागः/Shoulder) के भग्न एवं सन्धि-विमोक्ष (Dislocation) में भी अपनानी चाहिए ('विधिमेनं कपाटशयनकीलनियमनादिकम्'–ड.)॥ ५०॥

सन्धींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान् स्विन्नान् मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च सम्यक् प्रकृतिमानयेत्॥ ५१॥

चिरविमुक्त सन्धि की चिकित्सा—सन्धियों की पुरानी विच्युति (Old dislocation of joints) हो तो उनकी स्नेहन और स्वेदन (Oily applications and fomentations) के द्वारा मृदु करने के उपरान्त ऊपर वर्णित विधियों एवं अपनी बुद्धि के अनुसार सम्यक् स्थापना करनी चाहिए॥ ५१॥

काण्डभग्ने प्ररूढे तु विषमोल्बणसंहिते। आपोथ्य समयेद्भग्नं ततो भग्नवदाचरेत्॥ ५२॥

कुसंयोजन की चिकित्सा—(यह गलत ढंग से जुड़ी हुई हड्डी (Malunited fracture) को दुबारा तोड़कर (अस्थिभञ्जन/Osteoclasis) ठीक करने की विधि है—) यदि अस्थिभग्न का कुसंयोजन (Malunion or united in a crooked position) हुआ हो तो उसे आपोथ्य (विश्लेष्य/Refractured) अर्थात् तोड़कर पुनः सही स्थिति में लावें और शेष चिकित्सा सामान्य भग्न की तरह करें॥ ५२॥

कल्पयेन्निर्गतं शुष्कं व्रणान्तेऽस्थि समाहितः। सन्ध्यन्ते वा क्रियां कुर्यात् सव्रणे व्रणभग्नवत्॥

अस्थि बाहर आ गयी हो तो उपचार—यदि भग्न होने के उपरान्त अस्थि बाहर निकल कर सूख गयी हो तो उसे व्रण के स्तर पर काट दें (Debridement of compound fracture)। अथवा यदि सव्रण भग्न सन्धि के समीप हो तो अस्थि के शुष्क भाग को सावधानीपूर्वक सन्धि स्तर पर अलग कर दें और शेष चिकित्सा व्रण युक्त भग्न के सदृश करें॥ ५३॥

ऊर्ध्वकाये तु भग्नानां मस्तिष्क्यं कर्णपूरणम्। घृतपानं हितं नस्यं प्रशाखास्वनुवासनम्॥ ५४॥

भग्न में तैलादि का उपयोग—शरीर के ऊर्ध्व भाग (Upper parts) के भग्नों में मस्तिष्क्य और तैल से कर्णपूर्ण करना चाहिए। यदि शाखाओं (Extremities) का भग्न हो तो नस्य तथा घृतपान लाभकर है। अनुवासन (Enemas of medicated oils) सभी भग्नों में उपयोगी होता है॥ ५४॥

विमर्श— मस्तिष्क्यम्—यह स्नेहसिक्त वस्त्रखण्ड है जिसे शिर के व्रणस्थान पर रखकर व्रणबन्धन कर दिया जाता है ('मस्तिष्क्यम् = शिरोबस्तिप्रकारः'–ड.)।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलं भग्नप्रसाधकम्॥ ५५॥
रात्रौ रात्रौ तिलान् कृष्णान् वासयेदस्थिरे जले। दिवा दिवा शोषयित्वा गवां क्षीरेण भावयेत्॥
तृतीयं सप्तरात्रं तु भावयेन्मधुकाम्बुना। ततः क्षीरं पुनः पीतान् सुशुष्कांश्चूर्णयेद्भिषक्॥ ५७॥
काकोल्यादिं सयष्ट्याह्वं मञ्जिष्ठां सारिवां तथा। कुष्ठं सर्जरसं मांसीं सुरदारु सचन्दनम्॥ ५८॥
शतपुष्पां च सञ्चूर्ण्य तिलचूर्णेन योजयेत्। पीडनार्थं च कर्तव्यं सर्वगन्धशृतं पयः॥ ५९॥
चतुर्गुणेन पयसा तत्तैलं विपचेद्भिषक्।
एलामंशुमतीं पत्रं जीवकं तगरं तथा। रोध्रं प्रपौण्डरीकं च तथा कालानुसारिवा॥ ६०॥
सैरेयकं क्षीरशुक्लामनन्तां समधूलिकाम्। पिष्ट्वा शृङ्गाटकं चैव पूर्वोक्तान्यौषधानि च॥ ६१॥
एभिस्तद्विपचेत्तैलं शास्त्रविन्मृदुनाऽग्निना। एतत्तैलं सदा पथ्यं भग्नानां सर्वकर्मसु॥ ६२॥
आक्षेपके पक्षघाते तालुशोषे तथाऽर्दिते। मन्यास्तम्भे शिरोरोगे कर्णशूले हनुग्रहे॥ ६३॥
बाधिर्ये तिमिरे चैव ये च स्त्रीषु क्षयं गताः। पथ्यं पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये बस्तिषु भोजने॥ ६४॥
ग्रीवास्कन्धोरसां वृद्धिरसुनैवोपजायते। मुखं च पद्मप्रतिमं ससुगन्धिसमीरणम्॥ ६५॥
गन्धतैलमिदं नाम्ना सर्ववातविकारनुत्। राजार्हमेतत्कर्तव्यं राज्ञामेव विचक्षणैः॥ ६६॥

रोहण तैल का योग (Healing oil recipes)—अब इसके उपरान्त 'भग्न को ठीक करने वाले' तैल का वर्णन किया जायेगा—

गन्ध तैल—वैद्य तिलों को सात दिन तक रात्रि में बहते पानी में रखे और दिन में सुखा ले। उसके बाद सात दिन तक रात्रि में गोदुग्ध में रखे और दिन में सुखा ले। तदनन्तर सात दिन तक रात को मधुयष्टि

क्वाथ में रखे और दिन में सुखा ले, पुनः दूध में सात दिन तक रात्रि में रखे (भावना दें) और दिन में सुखाकर चूर्ण बना ले। तत्पश्चात् वैद्य काकोल्यादि गण, मुलेठी, मंजीठ, सारिवा, कूठ, राल, जटामांसी, देवदारु, चन्दन और सौंफ का चूर्ण कर तिलों के चूर्ण के साथ मिला ले तथा सर्वगन्ध अर्थात् एलादि द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध में (उष्ण में) काकोल्यादि गण आदि औषधियों के चूर्ण को (तिलचूर्ण को भी) भिगोकर तथा चक्र (कोल्हू) में पीडन कर तैल निकाल ले। इस तैल में चतुर्गुण गोदुग्ध मिला कर पकावें और शास्त्रज्ञ भिषक् इलायची, शालिपर्णी, तेजपात, जीवक, तगर, लोध्र, प्रपौण्डरीक, सैरेयक (कटशैलूकः), क्षीरविदारी, अनन्तमूल, मधूलिका (मर्कटतृणविशेषः) और सिंघाड़ा (त्रिकण्टकं जलजं फलम्) तथा पूर्वोक्त काकोल्यादि गण तथा अन्य औषधियों को पीसकर कल्क तैयार कर ले।

इस प्रकार शास्त्र को जानने वाला चिकित्सक मृदु अग्नि में तैलपाक करे। यह तैल भग्न में सभी कार्यों में (पानाभ्यङ्गादिषु) सदा पथ्य है। आक्षेप (Convulsion), पक्षघात (Hemiplegia), तालुशोष (Dryness of the palate), अर्दित (Facial paralysis), मन्यास्तम्भ (Wry neck), शिरोरोग, कर्णशूल (Earache), हनुग्रह (Lock jaw), बाधिर्य (Deafness), तिमिर (Errors of refraction) और स्त्री-प्रसंग से क्षीण व्यक्तियों में पान, अभ्यङ्ग, नस्य, बस्तिकर्म एवं भोजन में इसका प्रयोग हितकर होता है। इस तैल के प्रयोग से ग्रीवा, कन्धे, वक्षःस्थल की वृद्धि अर्थात् ये बलिष्ठ होते हैं। मुख कमल जैसा सुगन्धित वायुयुक्त होता है।

इसका 'गन्धतैल' नाम है और यह सभी प्रकार के वातविकारों को दूर करता है। यह तैल राजाओं के योग्य है और पण्डितों द्वारा इसका निर्माण राजाओं के लिए ही किया जाना चाहिए॥ ५५-६६॥

विमर्श— क्षीरपाक-परिभाषा—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात् तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं कर्तव्यं क्षीरपाके त्वयं विधिः'॥

तैलपाक काल में सावधानी—'शास्त्रवित्तु भिषक् तेन मृदुना वह्निना शनैः। पचेत्स्नेहमधश्चोर्ध्वं चालयित्वा निरन्तरम्॥ भवत्येवं पाकसिद्धिरन्यथा दग्धतां व्रजेत्'।

त्रपुसाक्षप्रियालानां तैलानि मधुरैः सह। वसां दत्त्वा यथालाभं क्षीरे दशगुणे पचेत्॥ ६७॥
स्नेहोत्तममिदं चाशु कुर्याद्भग्नप्रसाधनम्। पानाभ्यञ्जननस्येषु बस्तिकर्मणि सेचने॥ ६८॥

त्रपुसादि तैल—त्रपुस (कर्कटीभेदः) के बीज, अक्ष (बहेड़ा), प्रियाल (चिरौंजी)—इनके तेल को काकोल्यादि मधुर द्रव्यों के कल्क से दस गुना दूध में वसा (यदि उपलब्ध हो जाय तो) मिलाकर तैलपाक करें। यह उत्तम तैल भग्न को ठीक करने में श्रेष्ठ है और इसका प्रयोग पान, अभ्यंग, नस्य, बस्तिकर्म और परिषेक में करें॥ ६७-६८॥

भग्नं नैति यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक्। पक्वमांससिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति॥ ६९॥

भग्न में संक्रमण से खतरा (Dangers of infection in fracture)—शल्यचिकित्सक को चाहिए कि वह ऐसा प्रयत्न करे जिससे भग्न में संक्रमण न होने पाय ('बाह्याभ्यन्तराणां च पाककरिणां परिहाराय') क्योंकि संक्रमण से मांस, सिरा, स्नायु यदि ग्रस्त हो जाते हैं तो भग्न कठिनाई से ठीक होता है॥ ६९॥

विमर्श— भग्न के विलम्बित रोहण (Delayed union) और अरोहण (Non-union) में उसका संक्रमणग्रस्त होना प्रमुख हेतु है।

भग्नं सन्धिमनाविद्धमहीनाङ्गमनुल्बणम्। सुखचेष्टाप्रचारं च संहितं सम्यगादिशेत्॥ ७०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भग्नचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥



भग्न का आदर्श रोहण (Ideal union)—उस भग्न को अच्छी तरह जुड़ा हुआ (United well) समझा जाता है जो अनाविद्ध (वेदना रहित/Painless), अहीनांग (भग्न अंग छोटा/Shortening न हो), अनुल्बण अर्थात् अस्वाभाविक रूप से ऊँचा न हो (अनुन्नतम्/Without uneverness) और जिसमें आकुंचन-प्रसारणादि गतियाँ करने में बाधा न हों॥ ७०॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्यायुक्त 'भग्नचिकित्सा' नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥

अध्याय-सारांश

'भग्नचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—भग्नरोहण में आहार, मानसिक दशा, भग्नपीड़ित की प्रकृति और उपद्रवों का महत्त्व (३), पथ्यापथ्य (४-५)।

बन्धनार्थ कुशा (Splint) द्रव्य (६), भग्न भाग पर लेपन द्रव्य (७), बन्धन काल-अवधि ऋतु, भग्नदोषों के अनुसार (८), बन्धन में अतिगाढ़, अतिशिथिल से हानि, साधारण बन्ध की उपयोगिता का वर्णन (१०)।

पित्त प्रकृति में शीतल परिषेक, वात-कफ प्रकृति में चक्रतैल, परिषेक, प्रदेह, दोषानुसार शीत, उष्ण (१२)।

भग्न में आभ्यन्तर औषध—गृष्टिक्षीर, घृत, मधुरौषध, लाक्षायुक्त (१३), सव्रण (Open) भग्न का उपचार (१४), सुखसाध्य भग्न (१५), भग्न के जुड़ जाने की अवधि, आयु के अनुसार (१६), भग्न को ठीक करने (Reduction) की विधि (१७), स्थापनोपाय (१८-१९)।

सन्धि-विश्लेष (Dislocation) की चिकित्सा-सामान्यतः (२०-२१), प्रत्यंग भाग के उपचार में नखसन्धि, अंगुलिभग्न, तलभग्न, जंघा-ऊरुभग्न की चिकित्सा (२०-२६)।

निर्गत ऊर्वस्थि को ठीक करने के लिए 'चक्रयोग' (२७), कटिभग्न का उपचार, पर्शुकाभग्न, द्रोणीशयन, तैलपूर्ण कटाह (३०), कक्षा में मुसल-प्रयोग से अंससन्धिच्युति का उपचार (३१), कौर्पर सन्धिच्युति, जानु, गुल्फ, मणिबन्ध, तल भग्न आदि की चिकित्सा-व्यवस्था, पाषाणधारण (३५), अक्षक-सन्धिच्युति, बाहुभग्न, विवृत्ता ग्रीवा, हनुसन्धिच्युति-उपचार (४०), दन्तभग्न-उपचार (४३), सन्नानासा-उपचार, द्विमुखी नाड़ी, उत्पालनाल से क्षीरपान (४२), कर्णभग्न-उपचार, कपालभग्न, जंघोरुभग्न में कपाटशयन, कील (Nails) का प्रयोग (४९), चिरविमुक्त सन्धि का उपचार (५१), कुसंयोजन (Malunion) की चिकित्सा, आपोथ्य (Refracture) की आवश्यकता (५२)।

बाहर निकली और शुष्क अस्थि को काटकर उपचार (५३), कर्णपूरण, घृतपान, नस्य, अनुवासन का प्रयोग (५४)।

गन्धतैल की निर्माण-विधि, इसके विविध उपयोग (५५-६६)।

भग्न को पकने न देने के लाभ-हानि (७०), सम्यक् रूढभग्न के उत्तम लक्षण (Classical signs) (७१)।

चतुर्थोऽध्यायः

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'वातव्याधिचिकित्सितम्' (The Management of *Vātika* Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

आमाशयगते वाते च्छर्दयित्वा यथाक्रमम्। देयः षड्धरणो योगः सप्तरात्रं सुखाम्बुना ॥ ३ ॥

चित्रकेन्द्रयवे पाठा कटुकाऽतिविषाऽभया। वातव्याधिप्रशमनो योगः षड्धरणः स्मृतः ॥ ४ ॥

आमाशयगत प्रकुपित वात की चिकित्सा—आमाशय (Stomach/कफस्थान होने से) में प्रकुपित वात हो तो छर्दन (वमन) करावें (छर्दन उत्क्लेश होने पर बलवान् रोगी में कराना चाहिए), तदनन्तर षड्धरण नामक योग ('षण्णां चित्रकादीनां धारणा मानविशेषा यत्र योगे स षड्धरणो ज्ञेयः'–ड.) सात दिन तक कोष्ण जल से दें ॥ ३ ॥

षड्धरण योग—चित्रक, इन्द्रयव, पाठा, कुटकी, अतीस और हरड़; षड्धरण नामक यह योग वातिक विकारों को शान्त करता है ॥ ४ ॥

विमर्श— यथाक्रमम्—'अत्र यथाक्रमशब्देन पूर्वकालापरकालकर्तव्यता सर्वा एवाक्षिप्ता स्नेहनस्वेदनपानलैङ्गिकवेगानिलकायशुद्धिसंसर्जनभोजनादयः' (ड.)।

षड्धरण—'माषैश्चतुर्भिः शाणः स्यात् धरणः स निगद्यते' (शार्ङ्गधरः)। 'तत्र धरणप्रमाणं मध्यमैरेकविंशतिभिर्निष्पावैर्भवति'।

धरण प्रमाण इस चूर्ण को सात दिन में लिया जाता है। इस प्रकार इसकी प्रतिदिन की मात्रा तीन निष्पाव है।

पक्वाशयगते चापि देयं स्नेहविरेचनम्। बस्तयः शोधनीयाश्च प्राशाश्च लवणोत्तराः ॥ ५ ॥

पक्वाशयगत प्रकुपित वात—पक्वाशय (Intestine) में प्रकुपित वात हो तो तिल्वक-सर्पिरादि स्नेहविरेचन (Oily purgatives) और शोधनीय ('शोधनद्रव्यनिष्क्वाथास्तत्कल्कस्नेहसंयुताः'–इत्याद्याः) बस्तियाँ (Cleansing enemas) तथा लवण-बहुल प्राश ('लेहाः अथवा स्नेहलवणकल्याणकलवणादयः') दें ॥ ५ ॥

विमर्श—यहाँ डल्हण ने गयी के विचार व्यक्त किये हैं जो इस प्रकार हैं; गयी त्वत्राह—'पक्वाशयः पुनरिह द्विविधः—पित्तवाताशयभेदेन, तयोर्मध्ये पित्ताशयगते वायौ स्नेहविरेचनं तिल्वकसिद्धम् एरण्डतैलादिभिर्वा, वाताशयगतस्य तु वायोः मलकफपित्तैरावृतस्य यथादोषं कषायकल्कस्नेहबस्तयः'।

कार्यो बस्तिगते चापि विधिर्बस्तिविशोधनः।

बस्तिगत प्रकुपित वात—बस्ति (Urinary bladder) गत प्रकुपित वात में बस्तिविशोधन ('अश्मरीचिकित्सितोक्तो मूत्राघाताद्युक्तश्च') विधि वर्णित के अनुसार करनी चाहिए।

श्रोत्रादिषु प्रकुपिते कार्यश्चानिलहा क्रमः ॥ ६ ॥

श्रोत्रादिगत प्रकुपित वात—श्रोत्रादि (Ears etc.) में प्रकुपित वात हो तो वायु को शान्त करने वाले उपाय करने चाहिए ('आदिशब्दात् त्वग्घ्राणजिह्वानेत्राणीन्द्रियाणि गृह्यन्ते') ॥ ६ ॥

विमर्श— क्रमः— 'स्नेहः स्वेदस्तथाभ्यङ्ग इत्यादिकः दोषदूष्यप्रत्यनीकः यथायथं कार्यः; स च इन्द्रियसात्म्यमपेक्ष्य कर्तव्यः तेन स्नेहशब्दसामान्येऽपि चक्षुषोः क्षीरसर्पिस्तर्पणम्, तैलतर्पणं पुनः कर्णादिष्विति' (ड.)।

स्नेहाभ्यङ्गोपनाहाश्च मर्दनालेपनानि च। त्वङ्मांसासृक्सिराप्राप्ते कुर्यात् चासृग्विमोक्षणम्॥

धातूपधातुगत प्रकुपित वात-चिकित्सा— यदि प्रकुपित वायु त्वक्, मांस, रक्त, सिरा आदि में उपस्थित हो तो उसके उपचार में स्नेहन, अभ्यंग, उपनाहन, मर्दन और आलेपन तथा रक्तमोक्षण कराये जाते हैं॥ ७॥

विमर्श— जब वायु रक्तगत हो तो रक्तमोक्षण करना होता है ('रक्तगते वायौ रक्तस्रावो रक्ताधिष्ठानवातनिवृत्त्यर्थः') अथवा रक्तमोक्षण की आवश्यकता उस समय भी होती है जब त्वगादि में स्थित प्रकुपित वात स्नेहनादि से शान्त न हो। 'त्वगत्र रसः' (ड.) अर्थात् यहाँ 'त्वक्' शब्द का अर्थ 'रस' है।

स्नेहोपनाहाग्निकर्मबन्धनोन्मर्दनानि च। स्नायुसन्ध्यस्थिसम्प्राप्ते कुर्याद् वायावतन्द्रितः॥ ८॥

स्नायु आदिक प्रकुपित वात की चिकित्सा— स्नायु (Ligaments), सन्धि (Joints) और अस्थिगत प्रकुपित वात हो तो उसके उपचार के लिए चिकित्सक अनलस होकर ('एतेन चिरकालं निरन्तरक्रियेति दर्शयति'–ड.) स्नेहन (Oleation), उपनाह (Poultic application), अग्नि (Cautery) कर्म, बन्धन (Bandaging) और मर्दन (Massage) का उपयोग करे॥ ८॥

निरुद्धेऽस्थनि वा वायौ पाणिमन्थेन दारिते। नाडीं दत्त्वाऽस्थनि भिषक् चूषयेत्पवनं बली॥ ९॥

अस्थिगत प्रकुपित वात की चिकित्सा— अस्थि में अवरुद्ध (Obstructed) प्रकुपित वात की चिकित्सा में विकारग्रस्त स्थल की त्वचा एवं मांस को भेदन कर पाणिमन्थ (आरा शस्त्र) से अस्थि में छेद कर दें (Drilled by a hand drill) और इस छिद्र में नाडी (द्विमुखी नाडी/Tubular instrument) को प्रविष्ट कर (Triphining) सशक्त चिकित्सक अस्थिगत प्रकुपित वात को चूस ले॥ ९॥

शुक्रप्राप्तेऽनिले कार्यं शुक्रदोषचिकित्सितम्।

शुक्र (Semen) में प्रकुपित वात की चिकित्सा— एतदर्थ वाजीकरण तथा मूत्रदोषप्रकरण में वर्णित चिकित्सा करनी चाहिए ('तेष्वाद्यान् शुक्रदोषान् त्रीनित्यादिकम्')।

अवगाहकुटीकर्षूप्रस्तराभ्यङ्गबस्तिभिः ॥ १०॥

जयेत्सर्वाङ्गजं वातं शिरामोक्षैश्च बुद्धिमान्। एकाङ्गगं च मतिमाञ्छृङ्गैश्चावस्थितं जयेत्॥ ११॥

सर्वाङ्गगत (Generalised) प्रकुपित वात की चिकित्सा— एतदर्थ अवगाह ('तत्र वातहरक्वाथपूर्णद्रोण्यादिषु अवगाहः द्रवस्वेदः'/Immersion bath), कुटी ('चतुर्द्वारा भूमावारोपिता अपनीतविधूमाङ्गारवातहरद्रवसिक्ता, सा च ऊष्मस्वेदः'), कर्षू ('पुरुषायाममात्रनिखातदग्धावनीप्रदेशे वातहरद्रवसिक्ते शयनम्, स चोष्मस्वेदविशेषः'), प्रस्तर ('स्विन्नतुषधान्यादिभिरास्तृतायां भूमौ परिशयनं प्रस्तरः, सोऽपि चोष्मस्वेदविशेष एव'), अभ्यङ्ग और बस्तियों का प्रयोग कर तथा बुद्धिमान् चिकित्सक सिरामोक्षण (Venepuncture) द्वारा सर्वाङ्गगत वात का उपचार करे। यदि प्रकुपित वात एकाङ्गगत और एक स्थान पर स्थित हो तो उसे शृंग-प्रयोग द्वारा रक्तनिर्हरण कर चिकित्सा करे ('अवगाहादिभिरेकाङ्गगतम् अनवस्थितमेव वातं जयेत्, अवस्थितं तु शृङ्गैरेव')॥ १०-११॥

विमर्श— 'यद्यपि सर्वाङ्गगो वातप्रकोपः प्रायो धातुक्षयनिमित्तः तथापि शोणिताधिष्ठानत्वात् रक्तमोक्षोऽपि युक्तः' (ड.); 'सिराणां मोक्षणं स्नेहादिभिरप्रशाम्यति वाते' (ड.)।

बलासपित्तरक्तैस्तु संसृष्टमविरोधिभिः।

वातादि के कुपित होने की चिकित्सा—यदि प्रकुपित वात के साथ कफ, पित्त और रक्त भी सम्मिलित हों तो इस प्रकार उपचार करें जो एक-दूसरे के विरुद्ध न हो।

सुप्तिवाते त्वसृङ्मोक्षं कुर्यात्तु बहुशो भिषक्॥ १२॥
दिह्याच्च लवणागारधूमैस्तैलसमन्वितैः।

सुप्तवात-चिकित्सा—सुप्तवात ('रक्तावरणक्रियया सुप्ततया लक्षितो वातः सुप्तवातः'; सुप्तिः = स्पर्शाज्ञानम्/Anaesthetic patches) हो तो चिकित्सक को अनेक बार रक्तमोक्षण करना होता है और चाटने के लिए तैलयुक्त आगारधूम (House-soot) तथा सैंधव लवण (Rock salt) मिलाकर दें॥ १२॥

विमर्श— यह रक्तावरण कृत सुप्तता की चिकित्सा है। यदि सुप्तता रसावरण कृत हो तो उसकी चिकित्सा स्नेहोपनाहादि है। उसमें रक्तमोक्षण नहीं किया जाता है ('अन्यधातुगतवायौ रक्तापकर्षणस्यायुक्तत्वात्' –ड.)।

पञ्चमूलीशृतं क्षीरं फलाम्लो रस एव च॥ १३॥
सुस्निग्धो धान्ययूषो वा हितो वातविकारिणाम्।

वातविकारों में पथ्य—सभी प्रकार के वातविकारों में भोजन के लिए पञ्चमूल (लघु या बृहत्) से सिद्ध दुग्ध (शृतम्/Processed), दाडिमादि अम्ल रस वाले फल (Citrous fruits), रस (मांसरस/Meat juice) और घृतादि से स्निग्ध धान्ययूष (कुलत्थादि वातहरो धान्ययूषः/Gruel) दें। यह वातविकार से पीड़ितों के लिए हितकर है॥ १३॥

काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः॥ १४॥
सानूपौदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः। सुखोष्णः स्पष्टलवणः शाल्वणः परिकीर्तितः॥ १५॥
तेनोपनाहं कुर्वीत सर्वदा वातरोगिणाम्।

उपनाह (शाल्वण) स्वेद—भद्रदारु, विदारिगन्धादि वातहर द्रव्यों से युक्त काकोल्यादि गण की औषधियाँ, सभी प्रकार के शुक्त, काञ्जिक, सुरा, सौवीरक, दधिमस्त्वादि अम्ल द्रव्य, आनूप (कूलचर प्राणी) तथा औदक (मत्स्यादि) प्राणियों का मांस, सभी प्रकार के स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) और सैन्धवादि लवणों से युक्त को कुछ गरम कर सर्वदा वातरोगियों में उपनाहन (Fomentation by the above recipe) करे। यह योग 'शाल्वण' कहलाता है॥ १४-१५॥

विमर्श— एषां च भागमानमाह—'मांसेनात्रौषधं तुल्यं यावताम्लेन चाम्लता। तावन्तश्च चतुःस्नेहाः स्निग्धत्वं च यथा भवेत्'॥ इति।

कुञ्च्यमानं रुजार्तं वा गात्रं स्तब्धमथापि वा॥ १६॥
गाढं पट्टैर्निबध्नीयात् क्षौमकार्पासिकौर्णिकैः। बिडालनकुलेन्द्राणां चर्मगोण्यां मृगस्य वा॥
प्रवेशयेद्वा स्वभ्यक्तं साल्वणेनोपनाहितम्।

अनग्निस्वेद—यदि शरीर का कोई भाग सिकुड़ गया हो (Contracted), वेदना युक्त हो अथवा स्तब्ध (Rigid) हो तो उसे क्षौम (Silk), कार्पासिक (Cotton) या और्णिक (Woollen) वस्त्र से कसकर बाँध दें तथा उस अंग को स्निग्ध कर और साल्वण से स्वेदन कर (After fomentation) बिल्ली की खाल, नेवला (Mongoose) और ऊन्द्र (पानीयबिडालः) या मृग के चमड़े की गोणी (चर्मगोणी/चर्मप्रसेवक या प्रवेशकः) में रखें॥ १६-१७॥

स्कन्धवक्षस्त्रिकप्राप्तं वायुं मन्यागतं तथा॥ १८॥
वमनं हन्ति नस्यं च कुशलेन प्रयोजितम्।

स्कन्धादि के कुपित वात की चिकित्सा—अवयव-विशेष जैसे—स्कन्ध (Shoulder), वक्ष (Chest), त्रिक (Secral) और मन्या (Jugular region) में प्रकुपित वात हो तो कुशल चिकित्सक वमन एवं नस्य के प्रयोग से ('नस्यमत्र शिरोविरेचनम्') उसे दूर करे ('कुशलेन क्रियाविदा अवस्थाविदा भिषजा इत्यर्थः') ॥ १८॥

शिरोगतं शिरोबस्तिर्हन्ति वाऽसृग्विमोक्षणम् ॥ १९ ॥
स्नेहं मात्रासहस्रं तु धारयेत्तत्र योगतः ।

शिरोगत कुपित वात की चिकित्सा—यदि प्रकुपित वात शिरोगत हो तो शिरोबस्ति या रक्तमोक्षण कराना चाहिए। शिरोबस्ति को धारण करने की कालावधि सहस्र मात्रा है। शिरोबस्ति का धारण उत्तरतन्त्र क्रियाकल्प में वर्णित विधि से युक्तिपूर्वक किया जाता है॥ १९॥

विमर्श— मात्रा—मात्रा = कालविशेषः, तथाहि—'निमिषोन्मेषणे पुंसां स्फोटनं वा तथाङ्गुलेः। अक्षरस्य लघोर्वाऽपि मात्रा तूच्चारणं भवेत्' ॥ इति। आँख झपकने या चुटकी बजाने अथवा लघु-अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है वह 'एकमात्रा' काल है।

सर्वाङ्गगतमेकाङ्गस्थितं वाऽपि समीरणम् ॥ २० ॥
रुणद्धि केवलो बस्तिर्वायुवेगमिवाचलः ।

बस्ति उत्तम वातहर है—जिस प्रकार वायु के वेग को पर्वत रोक देता है उसी प्रकार प्रकुपित वात चाहे सारे शरीर में (Generalised) स्थित हो अथवा शरीर के किसी अंग में (Localised to a limb) केवल बस्ति उसे रोकने में समर्थ होती है॥ २०॥

स्नेहस्वेदस्तथाऽभ्यङ्गो बस्तिः स्नेहविरेचनम् ॥ २१ ॥
शिरोबस्तिः शिरःस्नेहो धूमः स्नैहिक एव च। सुखोष्णः स्नेहगण्डूषो नस्यं स्नैहिकमेव च ॥ २२ ॥
रसाः क्षीराणि मांसानि स्नेहाः स्नेहान्वितं च यत्। भोजनानि फलाम्लानि स्निग्धानि लवणानि च॥
सुखोष्णाश्च परीषेकास्तथा संवाहनानि च। कुङ्कुमागुरुपत्राणि कुष्ठैलातगराणि च ॥ २४ ॥
कौशेयौर्णिकरोमाणि कार्पासानि गुरूणि च। निवातातपयुक्तानि तथा गर्भगृहाणि च ॥ २५ ॥
मृद्वी शय्याऽग्निसन्तापो ब्रह्मचर्यं तथैव च। समासेनैवमादीनि योज्यान्यनिलरोगिषु ॥ २६ ॥

वातप्रकोप को दूर करने के सामान्य उपाय—१. स्नेहस्वेदन ('न रूक्षस्वेदः, तस्य वातकारित्वात्' /Oleation and sudation), २. अभ्यंग (Anointment), ३. बस्ति (Enema), ४. स्नेहविरेचन (Oily purgatives), ५. शिरोबस्ति, ६. शिरःस्नेह (Application of oil to the head), ७. धूम (स्नैहिक/Oily fumigation), ८, कुछ गरम स्नेहगण्डूष (Gargling with luke warm oily substances), ९. स्नैहिक नस्य (Oily snuffs), १०. रस (मांसरसाः/Meat juice), ११. दुग्ध, १२. मांस, १३. स्नेह (घृतादयः, स्नेहयुक्त द्रव्य, 'स्नेहान्वितं च यदिति यत्किञ्चित् वस्तु घृतादियुक्तमित्यर्थः'), १४. दाडिमादि से अम्लीकृत भोज्य पदार्थ (फलाम्लानि दाडिमाद्यम्लीकृतानि), १५. स्निग्ध और लवण युक्त पदार्थ, १६. कोष्ण परिषेक (Sprinkling with lukewarm liquids) और १७. संवाहन (सुखकर स्पर्श/Gentle massage), १८. कुंकुम, अगुरु, कूठ, इलायची और तगर के पत्रों का प्रयोग, १९. कौशय (Silken), और्णिक (मेषादि जातानि/Woolen), कपास के बने तथा भारी वस्त्रों का प्रयोग, २०. ऐसे गर्भगृह (आभ्यन्तर गृह) जिनमें वायु और धूप का अल्प प्रवेश हो उनमें निवास, २१. मृदु (Soft) शय्या, २२. अग्निसन्ताप (Warming infront of fire) और २३. ब्रह्मचर्य (Sexual abstinence)—ये तथा इसी तरह के अन्य उपायों का वातप्रकोपपीड़ित रोगियों को सेवन करना चाहिए॥ २१-२५॥

प्रकुपित वात और चिकित्सा

प्रकुपित वात	चिकित्सा
आमाशयगत वात	छर्दन के उपरान्त षड्धरण योग, सात दिन तक
पक्वाशयगत वात	स्नेहविरेचन, शोधनीय बस्तियाँ, लवणोत्तर प्राश
बस्तिगत वात	बस्तिशोधन विधि, अश्मरी प्रकरण में वर्णित
श्रोत्रादि गतवात	वातहर उपाय
त्वक्, मांस, सिरारक्त गत वात	स्नेह, अभ्यंग, उपनाह, मर्दन, आलेपन, रक्तमोक्षण
स्नायु, सन्धि, अस्थिगत वात	स्नेहन, उपनाहन, अग्निकर्म, बन्धन, मर्दन
अस्थिगत वात	पाणिमन्थ से दारण, द्विमुखी नाड़ी से आचूषण
शुक्रगत वात	वाजीकरणोक्त शुक्रदोष-चिकित्सा
सर्वांग वात	अवगाहन, कुटी, कर्षू, प्रस्तर स्वेद, अभ्यंग, बस्ति, रक्तमोक्षण
एकांग स्थित वात	शृङ्ग के प्रयोग द्वारा रक्तमोक्षण
कफ, पित्त, रक्तगत वात	परस्पर अविरोधी चिकित्सा
सुप्तिवात	बार-बार रक्तमोक्षण, लवण, गृहधूम, तैल का प्रयोग (आभ्यन्तर)
सभी प्रकार के वातरोगों में	पञ्चमूलसिद्ध क्षीर, फलाम्ल, मांसरस, स्निग्ध धान्ययूष
संकोचयुक्त, रुजार्त स्तब्ध	क्षौमादि वस्त्र से बाँधकर साल्वण स्वेद, चर्मगोणी में रखना
स्कन्ध, वक्ष, त्रिक, मन्यागत वात	वमन, नस्य का प्रयोग
शिरोगत वात	शिरोबस्ति, रक्तमोक्षण, स्नेहमात्रा सहस्र
सर्वांग या एकांगगत वात	केवल बस्ति सर्वोत्तम
वातरोगों में सामान्य उपचार	स्नेहन, स्वेदन, अभ्यंगादि
वातहर प्रमुख योग	तिल्वक घृत, अणुतैल, सहस्रपाक तैल, कल्याणक लवण
वातहर सामान्य उपाय	स्नेहन, स्वेदन, अभ्यंग, बस्ति आदि

त्रिवृद्दन्तीसुवर्णक्षीरीसप्तलाशङ्खिनीत्रिफलाविडङ्गानामक्षसमा भागाः, बिल्वमात्रः कल्कस्तिल्वकमूलकम्पिल्लकयोः, त्रिफलारसदधिपात्रे द्वे द्वे, घृतपात्रमेकं, तदैकध्यं संसृज्य विपचेत्; तिल्वकसर्पिरेतत् स्नेहविरेचनमुपदिशन्ति वातरोगिषु। तिल्वकविधिरेवाशोकरम्यकयोर्द्रष्टव्यः ॥ २७ ॥

तिल्वक घृत—निशोथ, दन्ती, सुवर्णक्षीरी (कंकुष्ठम्), सप्तला (यवतिक्ताभेदः), शंखिनी (यवतिक्ताभेदः), त्रिफला और विडंग—इनका (प्रत्येक का) कर्षप्रमाण; तिल्वक (पट्टिकालोध्र) मूल

और कबीले का (प्रत्येक का) कल्क एक पल; त्रिफला क्वाथ २ आढक, दही २ आढक, घी १ आढक ('चतुष्प्रस्थैस्तथाढकम्'–शा.) इन सबको इकट्ठा कर पकावें (घृतपाक करें)। यह 'तिल्वकघृत' कहलाता है। यह स्नेहविरेचन है और वातरोगियों में प्रयुक्त होता है। इस (तिल्वक) विधि से अशोक और रम्यक (''रम्यको द्रेक्का पर्वतनिम्बः 'राजनिम्ब' इति लोके''–ड.) से भी घृतपाक करें॥ २७॥

विमर्श— 'पात्रमाढकः चतुष्षष्टि पलानि। स च द्रवत्वात् द्विगुणो ज्ञेयः, घृतपात्रमप्येवम्' (ड.)।

तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालं तैलपरिपीतान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वाऽवक्षुद्य महति कटाहे पानीयेनाभिप्लाव्य क्वाथयेत्, ततः स्नेहमम्बुपृष्ठाद्यदुदेति तत् सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघ्नौषधप्रतीवापं स्नेहपाककल्पेन विपचेत्, एतदणुतैलमुपदिशन्ति वातरोगिषु; अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पाद्यते इत्यणुतैलम्॥ २८॥

अणु तैल ('अणुभ्यस्तैलद्रव्येभ्यो निष्पीड्यते इत्यणुतैलम्')—तिलपरिपीडन उपकरण काष्ठ अर्थात् कोल्हू के काम आने वाले काष्ठ (कोल्हू की लकड़ियों) को जिन्होंने काफी समय तक तेल पीया है, उनके छोटे-छोटे टुकड़े कर चूर्ण बना लें ('चक्रयष्टिमर्कटिकाप्रभृतीनि, चिरकालं तैलभावितानि')। फिर इस चूर्ण को बड़े कड़ाहे में पानी में उबालें। इस पानी के ऊपर जो तेल तैरता है उसे सरक (Earthen saucer) या हाथ से इकठ्ठा कर लें और स्नेहपाक विधि से वातहर औषधियों का कल्क डालकर तैलपाकविधि से पकायें। यह 'अणुतैल' कहलाता है और वातरोगों में इसका उपयोग होता है। अणु तैल इस कारण से कहलाता है कि इसको तैल द्रव्यों को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त कर बनाते हैं॥ २८॥

विमर्श— 'स्नेहपाककल्पेन विपचेदिति, स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः, स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रव इत्यर्थः'।

अथ महापञ्चमूलकाष्ठैर्बहुभिरवदह्याऽवनिप्रदेशमसितमुषितमेकरात्रमुपशान्तेऽग्नावपोह्य भस्म निवृत्तां भूमिं विदारिगन्धादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाऽभिषिच्यैकरात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात् तामादायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिञ्चेत्, तत्र यत्तैलमुत्तिष्ठेत् तत्पाणिभ्यां पर्यादाय स्वनुगुप्तं निदध्यात्; ततस्तैलं वातहरौषधक्वाथमांसरसक्षीराम्लभागसहस्रेण सहस्रपाकं विपचेद् यावता कालेन शक्नुयात् पक्तुं, प्रतिवापश्चात्र हैमवता दक्षिणापथगाश्च गन्धा वातघ्नानि च, तस्मिन् सिध्यति शङ्खानाध्मापयेद्दुन्दुभीनाघातयेच्छत्रं धारयेद्वालव्यजनैश्च वीजयेद् ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्, तत् साधु सिद्धमवतार्य सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, तदेतत् सहस्रपाकमप्रतिवारवीर्यं राजार्हं तैलम्, एवं भागशतविपक्वं शतपाकम्॥ २९॥

सहस्रपाक तैल—महापञ्चमूल की बहुत सारी लकड़ियों को कृष्णवर्ण की भूमि में जलायें और एक रात रहने के उपरान्त अग्नि के शान्त होने पर भस्म को वहाँ से हटा दें तथा उस स्थान पर ताप के शान्त होने के उपरान्त विदारिगन्धादि द्रव्यों से सिद्ध तैल के सौ घड़े और इतने ही दूध के घड़े डालकर, उस भूमि पर छिड़क कर एक रात रहने दें। तत्पश्चात् जितनी भूमि स्निग्ध हुई है उतनी को निकालकर गरम पानी वाले कड़ाहे में डालकर डुबो दें। ऐसा करने पर जो तैल पानी में ऊपर आये उसे हाथ से इकट्ठा कर सुरक्षित रख लें।

इस तैल को भद्रदार्वादि वातहर द्रव्यों के क्वाथ, मांसरस, क्षीर और अम्ल द्रव्यों के प्रत्येक को भाग सहस्र मात्रा में लेकर हजार बार, जब तक पका सकें, पकावें। प्रक्षेप के लिए उत्तरापथ में उत्पन्न (हैमवता/ कस्तूरी-शठी-कुष्ठ-मांसी-सरल-सुरदारु-मुरादयः) तथा दक्षिणापथ में उत्पन्न (चन्दन, जातीफल, कंकोल, लवंगादि) सुगन्धित द्रव्य और वातहर द्रव्य (शतपुष्पादि) का कल्क बनाकर प्रयुक्त करें।

तैलपाक के समय शंख ध्वनि करें, ढोल बजावें, छत्र धारण करें (अचिन्त्यशक्तित्वात्), पंखे से हवा करें तथा हजार ब्राह्मणों को भोजन करावें। इस प्रकार अच्छी तरह सिद्ध हुए तैल को सोने, चाँदी या मिट्टी के पात्र में डालकर सुरक्षित रखें। यह 'सहस्रपाक' नामक तैल अप्रतिवार (कभी असफल न होने वाला) वीर्य है तथा राजाओं के योग्य है।

इसी प्रकार भागसहस्र के स्थान पर भागशत लेकर शतपाक तैल भी तैयार किया जाता है।। २९ ।।

गन्धर्वहस्तमुष्ककनक्तमालाटरूषकपूतीकारग्वधचित्रकादीनां पत्राण्यार्द्राणि लवणेन सहोदूखलेऽवक्षुद्य स्नेहघटे प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्; एतत्पत्रलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु ।। ३० ।।

पत्रलवण—गन्धर्वहस्तक (एरण्ड), मुष्कक (काले फूलों वाला मोखा), नक्तमाल (करञ्ज), अडूसा, पूतीक (चिरबिल्व), अमलतास और चित्रक आदि के गीले पत्रों में लवण मिलाकर ('सर्वपत्रसमं लवणं सैन्धवं देयमिति वृद्धवैद्याः'–ड.) कूट लें और चिकने (स्निग्ध) घड़े में रखकर कपड़मिट्टी कर उपलों से ढककर जला दें। यह पत्रलवण कहलाता है और (कफप्राय) वातरोगों में प्रयुक्त होता है।। ३० ।।

एवं स्नुहीकाण्डवार्ताकुशिग्रुलवणानि सङ्क्षुद्य घटं पूरयित्वा सर्पिस्तैलवसामज्जभिः प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्; एतत् स्नेहलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु (इति काण्डलवणम्) ।। ३१ ।।

काण्डलवण—स्नुहीकाण्ड (सेहुण्डयष्टिः), वार्ताकु (बड़ी कटेरी), सहिजना और सेंधानमक—इनको कूट कर मिलाकर घृत, तैल, वसा और मज्जा के साथ सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर घड़े में भर लें तथा घड़े पर कपड़मिट्टी कर उपलों में रखकर जला दें। यह स्नेहलवण वातरोगों में प्रशस्त है। इसे 'काण्डलवण' कहते हैं।। ३१ ।।

विमर्श— वार्ताकु—यह बैंगन (*Solanum melongena*) का नाम है और 'वार्ताकी' बड़ी कटेरी (*Solanum indicum*) है। प्रसंग वातव्याधि का है और वार्ताकी वातहर प्रसिद्ध औषधि है। अतः यहाँ बड़ी कटेरी का ही ग्रहण करना चाहिए। मूल में वार्ताकु है। अतः वार्ताकु ही ग्राह्य है।

गण्डीरपलाशकुटजबिल्वार्कस्नुह्यपामार्गपाटलापारिभद्रकनादेयीकृष्णगन्धानीपनिम्बनिर्दहन्यटरूषकनक्तमालकपूतिकबृहतीकण्टकारिकाभल्लातकेङ्गुदीवैजयन्तीकदलीबाष्पद्वयेक्षुरकेन्द्रवारुणीश्वेतमोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखमार्द्रमाहृत्य लवणेन सह संसृज्य पूर्ववदग्ध्वा क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, प्रतिवापश्चात्र हिङ्ग्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वा। इत्येतत् कल्याणकलवणं वातरोगगुल्मप्लीहाग्निषङ्गाजीर्णार्शोऽरोचकार्तानां कासादिभिः कृमिभिरुपद्रुतानां चोपदिशन्ति पानभोजनेष्वपीति ।। ३२ ।।

कल्याणक लवण—गण्डीर (गण्डीर के सम्बन्ध में डल्हण का कथन—'सारप्रधानस्तरुविशेषः। सारस्त्वन्तर्गतः प्रधानभूतोऽवयवः'-सु.सू. ४५।१२३), ढाक, कुड़ा, बेल, आक, थोहर, अपामार्ग, पाढ़ल, पारिभद्र, नादेयी (जलजम्बूः), शोभाञ्जन, नीप (महाकदम्बः), निम्ब (नीम), निर्दहनी (मोरट), अटरूषक (अडूसा), नक्तमाल, पूतिकरञ्ज, छोटी-बड़ी कटेरी, भल्लातक, इंगुदी (हिंगोट), वैजयन्ती (अरणिका), केला, बाष्पद्वय ('तत्र लोहितं कृष्णं च सिन्धुविषये, केचिद्वर्षाभूद्वयमिति पठन्ति'–ड.), इक्षुर (तालमखाना), इन्द्रवारुणी, सफेद फूलवाला मोखा और अशोक—इन सब द्रव्यों को मूल, पत्र, शाखा सहित गीलों (हरों) को लेकर, लवण मिलाकर जला दें और क्षार निर्माण की तरह पका लें। इसमें प्रक्षेप के लिए हिंग्वादि या पिप्पल्यादि द्रव्यों के चूर्ण को लें। यह 'कल्याणक लवण' है जो वातरोगों, गुल्म, प्लीहा, अग्निमान्द्य, अजीर्ण (अलसकविसूचिकादिः), अर्श, अरोचक से पीड़ितों और कासादि उपद्रवग्रस्तों में पान-भोजनादि के रूप में प्रयुक्त होता है।। ३२।।

भवति चात्र—

विष्यन्दनादुष्णभावाद्दोषाणां च विपाचनात्। संस्कारपाचनाच्चेदं वातरोगेषु शस्यते॥ ३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वातव्याधिचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥



लवण फल—यह 'कल्याणक लवण' विष्यन्दन (स्रवणात्/Solubility), उष्ण (Hot properties), दोषपाचन तथा विशेष प्रकार से तय्यार किये जाने के कारण वातरोगों को दूर करने में श्रेष्ठ है॥ ३३॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'वातव्याधिचिकित्सा' नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ॥ ४॥



अध्याय-सारांश

'वातव्याधिचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—प्रकुपित वात आमाशयगत होने पर छर्दन फिर षड्धरणयोग (३-४), पक्वाशयगत प्रकुपित वात के उपचार में स्नेहविरेचन, स्निग्ध बस्तियाँ, लवणोत्तर प्राश (५), बस्तिगत वात में बस्तिविशोधन विधियाँ, श्रोत्रादि गत प्रकुपित वात में अनिलहा क्रम (६)।

त्वक्, मांस, रक्त, सिरा गत में स्नेहन, अभ्यंग, उपनाह, मर्दन, आलेपन, रक्तमोक्षण (७), स्नायु, सन्धि, अस्थिगत में स्नेह, उपनाहन, अग्निकर्म, बन्धन, मर्दन आदि (८), अस्थि में अवरुद्ध कुपित वात में पाणिमन्थ से दारण और नाड़ी से वात का आचूषण (९), शुक्रगत प्रकुपित वात हो तो शुक्रदोषहर चिकित्सा तथा सर्वांगज वात में अवगाहन, कुटी, कर्षू, प्रस्तर स्वेद, अभ्यंग, बस्ति प्रयोग (१०), सिरामोक्ष और एकांगगत वात में शृंग से रक्तनिर्हरण (११), कफ, पित्त और रक्तगत वात में अविरोधी चिकित्सा, सुप्तिवात हो तो रक्तमोक्षण और चाटने को लवण, गृहधूम, तैल (१२)।

वातविकारियों के लिए हितकर—पञ्चमूलीसिद्ध क्षीर, फलाम्ल, मांसरस, सुस्निग्ध धान्ययूष (१३), शा(सा)ल्वण स्वेद विधि (१४-१५), अनग्नि स्वेद में—क्षौमादि वस्त्रों से गाढबन्ध, अंग को 'चर्मगोणी' में रखना, फिर साल्वण स्वेद (१६-१७); स्कन्ध, वक्ष, त्रिक गत वात में, मन्यागत वात में वमन, नस्य (१८), शिरोगत वात में—शिरोबस्ति, असृक्-मोक्षण, स्नेहमात्रा सहस्र तक धारण (१९)।

प्रकुपित वात सर्वांग या एकांगगत होने पर—बस्ति सर्वोत्तम उपाय (२०), स्नेहन, स्वेदन, अभ्यंग, बस्ति, स्नेहविरेचनादि वातहर विधियाँ (२१-२६), तिल्वक सर्पिः (२७), अणुतैल (२८) सहस्रपाक तैल (२९), पत्रलवण (३०), काण्डलवण (३१), कल्याणक लवण (३२) और लवणों की उत्तमता में हेतु (३३)।



पञ्चमोऽध्यायः

अथातो महावातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'महावातव्याधिचिकित्सितम्' (The Management of Serious *Vātika* Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते; तत्तु न सम्यक्, तद्धि कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढीभवति, तस्मान्न द्विविधम् ॥ ३ ॥

वातरक्त का एक ही प्रकार—वात-रक्त (Gout ?) उत्तान और अवगाढ भेद से दो प्रकार का होता है (उत्तानम्/Superficial/त्वङ्मांसाश्रयम्; अवगाढम्/Deep,अन्तराश्रयम्)—ऐसा कुछ आचार्यों का मत है; यह ठीक नहीं है, क्योंकि वातरक्त रोग कुष्ठरोग की तरह पहले उत्तान होता है और फिर कुछ काल के पश्चात् अवगाढ हो जाता है। इस प्रकार वातरक्त नामक रोग को दो प्रकार का मानना ठीक नहीं है ॥ ३ ॥

तत्र बलवद्विग्रहादिभिः प्रकुपितस्य वायोर्गुरूष्णाध्यशनशीलस्य प्रदुष्टं शोणितं मार्गमावृत्य वातेन सहैकीभूतं युगपद्वातरक्तनिमित्तां वेदनां जनयतीति वातरक्तं; तत्तु पूर्वं हस्तपादयोरवस्थानं कृत्वा पश्चाद्देहं व्याप्नोति। तस्य पूर्वरूपाणि तोददाहकण्डूशोफस्तम्भत्वक्पारुष्यसिरास्नायुधमनीस्पन्दन-सक्थिदौर्बल्यानि श्यावारुणमण्डलोत्पत्तिश्चाकस्मात्पाणिपादतलाङ्गुलिगुल्फमणिबन्धप्रभृतिषु। तत्रा-प्रतिकारिणोऽपचारिणश्च रोगो व्यक्ततरः, तस्य लक्षणमुक्तं; तत्राप्रतिकारिणो वैकल्यं भवति ॥ ४ ॥

वातरक्त की सम्प्राप्तिपूर्वक निरुक्ति (Pathogenesis)—'व्रणप्रश्न' नामक अध्याय २१ (सू.स्था.) में बलवद् विग्रहादि कारणों से प्रकुपित वात गुरु-उष्ण और अध्यशन ('अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते'-सु.सू. ४६।५०९) करने वाले व्यक्ति का दुष्ट हुआ रक्त मार्ग को अवरुद्ध कर तथा वायु के साथ मिलकर एक ही समय वात और रक्त जन्य वेदना उत्पन्न करता है। इसी कारण यह 'वात-रक्त' कहलाता है। यह वातरक्त पहले हाथों और पैरों में अवस्थान (स्थिति/Localised) करता है। तदनन्तर शरीर में फैलता है (Pervades the whole body)।

वातरक्त के पूर्वरूप (Pre-monitory symptoms)—तोद (सूचीवेधवत् वेदना/Pricking pain), दाह (Burning sensation), कण्डू (Itching), शोफ (Swelling), स्तम्भ (Rigidity), त्वक्पारुष्य (त्वचा का रूखापन/Roughness), सिरा, स्नायु और धमनियों में स्पन्दन (Throbbing), सक्थिदौर्बल्य (Weakness of the thighs) और पाणितल (Palms), पादतल (Soles), अँगुलियों, गुल्फ (Ankles), मणिबन्ध (Wrists) आदि में श्याव (Blackish), रक्त (Red), मण्डल (Circular patches) की अकस्मात् उत्पत्ति होती है। इस समय उपचार न करने तथा अपथ्य सेवन करने वालों में रोग के लक्षण अधिक प्रकट हो जाते हैं। उन लक्षणों का वर्णन किया जा चुका है। चिकित्सा न करने पर अंगों में विकलता आ जाती है (Crippling of the limbs) ॥ ४ ॥

भवति चात्र—

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम्। स्थूलानां सुखिनां चापि वातरक्तं प्रकुप्यति ॥ ५ ॥

वातरक्त के हेतु—प्रायः वातरक्त का प्रकोप उन व्यक्तियों में होता है जो सुकुमार (Delicate) प्रकृति के हैं, मिथ्या (Wrongful) आहार एवं विहार (Habits) का सेवन करते हैं, स्थूल (Obese) हैं और सुखी (आरामतलब) जीवन व्यतीत करते हैं॥ ५॥

तत्र प्राणमांसक्षयपिपासाज्वरमूर्च्छाश्वासकासस्तम्भारोचकाविपाकविसरणसङ्कोचनैरनुपद्रुतं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत्॥ ६॥

वातरक्त का चिकित्सासूत्र (Indications of treatment)—जो वातरक्त का रोगी प्राणक्षय (Loss of vitality), मांसक्षय (Muscular wasting), पिपासा, ज्वर, मूर्च्छा (Fainting), श्वास (Dyspnoea), कास, स्तम्भ (Rigidity), अरोचक (Anorexia), अविपाक (Indigestion) और विसरण (Flaccidity) तथा अंगों के संकोचन (Spasticity) जैसे उपद्रवों से रहित है एवं बलवान् (Strong), आत्मवान् (Conscientious) तथा साधनसम्पन्न (Resourceful) हैं उनकी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ६॥

तत्र आदावेव बहुवातरूक्षम्लानाङ्गादृते मार्गावरणाद्दुष्टशोणितमसकृदल्पाल्पमवसिञ्चेद्वातकोपभयात्; ततो वमनादिभिरुपक्रमैरुपपाद्य प्रतिसंसृष्टभक्तं वातप्रबले पुराणघृतं पाययेत्; अजाक्षीरं वाऽर्धतैलं मधुकाक्षयुक्तं, शृगालविन्नासिद्धं वा शर्करामधुमधुरं, शुण्ठीशृङ्गाटककशेरुकसिद्धं वा, श्यामारास्नासुषवीशृगालविन्नापीलुशतावरीश्वदंष्ट्राद्विपञ्चमूलीसिद्धं वा; द्विपञ्चमूलीक्वाथाष्टगुणसिद्धेन पयसा मधुकमेषशृङ्गीश्वदंष्ट्रासरलभद्रदारुवचासुरभिकल्कप्रतीवापं तैलं पाचयित्वा पानादिषूपयुञ्जीत, शतावरीमयूरककिणिह्यजमोदामधुकक्षीरविदारीबलातिबलातृणपञ्चमूलीक्वाथसिद्धं वा काकोल्यादिप्रतीवापं, बलातैलं शतपाकं वेति, वातहरमूलसिद्धेन च पयसा परिषेचनमम्लैर्वा कुर्वीत। यवमधुकैरण्डतिलवर्षाभूभिर्वा प्रदेहः कार्यः। तत्र चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु प्रत्येकशः काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकबलातिबलाबिसमृणालशृगालविन्नामेषशृङ्गीप्रियालशर्कराकशेरुकसुरभिवचाकल्कमिश्रेषूपनाहार्थं सर्पिस्तैलवसामज्जदुग्धसिद्धाः पञ्च पायसा व्याख्याताः स्नैहिकफलसारोत्कारिका वा, चूर्णितेषु यवगोधूमतिलमुद्गमाषेषु मत्स्यपिशितवेशवारो वा, बिल्वपेशिकातगरदेवदारुसरलारास्नाहरेणुकुष्ठशतपुष्पैलासुरादधिमस्तुयुक्त उपनाहः, मातुलुङ्गाम्लसैन्धवघृतमिश्रम्; मधुशिग्रुमूलमालेपस्तिलकल्को वेति वातप्रबले॥ ७॥

वायु की प्रधानता (Predominance) **वाले वातरक्त की चिकित्सा**—आरम्भ में ही मार्गावरोध के कारण यदि अंग वायु की अधिकता से रूक्ष (अस्निग्धम्) और म्लान (शुष्यदङ्गम्) नहीं है तो दूषित रक्त को वातप्रकोप के भय से अनेक बार थोड़ा-थोड़ा करके निकाले। तत्पश्चात् वमनादि ('आदिशब्दात् विरेचनानुवासनास्थापनादिभिः') उपक्रमों द्वारा चिकित्सा कर पेया, विलेपी आदि का संसर्जन क्रम से प्रयोग करें ('प्रतिसंसृष्टभक्तमिति प्रतिसंसृष्टं पेयादिक्रमेण त्यक्तं भक्तं यस्य पुरुषस्येति') और वातप्राबल्य में पुराणघृत पिलावें; अथवा बकरी का दूध, आधा तैल और एक कर्ष मुलहठी का चूर्ण मिलाकर दें; या बकरी के दूध को शृगालविन्ना (पृश्निपर्णी) से सिद्ध कर तथा शर्करा और मधु से मीठाकर पिलावें; अथवा सोंठ, शृंगाटक (सिंघाड़ा) और कशेरु से सिद्ध (अर्ध-तैलमिश्रित बकरी का दूध) पीने को दें; अथवा श्यामा (त्रिवृत् विशेषः), रास्ना, सुषवी (पानीयवल्ली), पृश्निपर्णी, पीलु, शतावरी, गोक्षुर और दशमूल से सिद्ध (अर्धतैलमिश्रित) बकरी का दूध पिलावें ('अजाक्षीरमर्धतैलं यष्टिमधुककर्षयुक्तम्, तदेव पृश्निपर्ण्यादिसिद्धं, शुण्ठ्यादिसिद्धं, श्यामादिसिद्धं वेत्येवं त्रिषु योगेषु अजाक्षीरमर्धतैलं अभिसम्बध्यते')।

द्विपञ्चमूली (दशमूल) क्वाथ आठ गुना लेकर दुग्ध सिद्ध करें। फिर उसमें मुलहठी, मेढासिंगी, गोखरू, चीड़, देवदारु, वचा और सुरभि (रास्ना) के कल्क का प्रतीवाप (प्रक्षेप) देकर तैलपाक करें और रोगी को पान आदि के लिए प्रयुक्त करें (दें)।

इसी प्रकार शतावरी, मयूरक (अपामार्ग), किणिही (अपामार्ग), अजमोद, मुलहठी, क्षीरविदारी (दीर्घकन्दा भृशं मधुरा), बला, अतिबला और तृणपञ्चमूली ('कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञा') के क्वाथ तथा काकोल्यादि गण की औषधियों के प्रक्षेप से सिद्ध तैल या सौ बार पकाया हुआ बलातैल प्रयोग में लायें ('बलाक्वाथकल्काभ्याम्'–ड.)।

वातहर मूल (दशमूल) से सिद्ध दुग्ध से परिषेचन करे अथवा अम्ल द्रव्यों को (सुरासौवीरकतुषोदकादिभिः) एतदर्थ प्रयुक्त करें। प्रदेह के लिए जौ, मुलहठी, एरण्ड, तिल और वर्षाभू (पुनर्नवा) के कल्क को प्रयुक्त करें। यव, गेहूँ, तिल, मूँग और उड़द—इन पाँचों का अलग-अलग चूर्ण बनाकर प्रत्येक को काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, बला, अतिबला, बिस, कमलनाल, पृश्निपर्णी, मेढासिंगी, चिरौंजी, शर्करा, कशेरु, रास्ना और वचा के कल्क में मिला लें और घृत, तैल, वसा, मज्जा तथा दूध में पायस (पयसा संस्कृताः पायसाः) बना लें। इस प्रकार तैयार किये गये पञ्च पायसों का प्रदेहार्थ प्रयोग करें ('ते तु नातिद्रवा नातिसान्द्राः प्रदेहयोग्याः')।

स्नेहफलों (तिलैरण्डातसीबिभीतकादीनि) की यथासम्भव मज्जा के कल्क से उत्कारिका (लप्सिका) तैयार कर प्रयुक्त करें; या यव, गोधूम, तिल, मुद्ग और माष (उड़द) के चूर्ण में (विचित्र) मछली के मांस को पीसकर वेसवार ('निरस्थिपिशितं मांसं वेसवारः') बनाये और प्रयोग में लायें; या बेलगिरि, तगर, देवदारु, चीड़, रास्ना, हरेणु, कूठ, सौंफ, सुरा, दधि और मस्तु ('दध्नो मण्डस्तु मस्त्विति') को मिलाकर उसमें बिजौरानिम्बू, अम्ल द्रव्य तथा सैंधव एवं घृत को मिला लें और उपनाहन करें। आलेपन के लिए मधु और सहिजन के मूल के कल्क का प्रयोग करें अथवा तिलकल्क का लेप करें॥ ७॥

वात-प्रधान वातरक्त-चिकित्सा

चिकित्सा-प्रकार	द्रव्य
१. शोणितमोक्षण	वातप्रकोप न हो, अतः थोड़ा-थोड़ा रक्त कई बार निकालें।
२. पानार्थ घृत	पुराण घृत पीने को दें।
३. पानार्थ तैल	दशमूल सिद्ध दुग्ध से मधुकादि के प्रक्षेप से तैलपाक कर दें।
४. परिषेकार्थ	वातहर मूल सिद्ध दुग्ध या अम्लद्रव्यसिद्ध दुग्ध से।
५. प्रदेह	जौ, मुलहठी, एरण्ड, तिल, पुनर्नवा का प्रदेह।
६. उपनाहन	यव-गोधूमादि को काकोल्यादि द्रव्यों में मिलाकर वसादि से।
७. आलेप	मधु, शिग्रुमूल या तिलकल्क।

पित्तप्रबले द्राक्षारेवतकट्फलपयस्यामधुकचन्दनकाश्मर्यकषायं शर्करामधुमधुरं पाययेत्, शतावरीमधुकपटोलत्रिफलाकटुरोहिणीकषायं गुडूचीकषायं वा, पित्तज्वरहरं वा चन्दनादिकषायं शर्करामधुमधुरं; मधुरतिक्तकषायसिद्धं वा सर्पिः; बिसमृणालभद्रश्रियपद्मकषायेणार्धक्षीरेण परिषेकः; क्षीरेक्षुरसैर्मधुशर्करातण्डुलोदकैर्वा द्राक्षेक्षुकषायमिश्रैर्वा मस्तुमद्यधान्याम्लैः; जीवनीयसिद्धेन वा सर्पिषाभ्यङ्गः, शतधौतघृतेन वा, काकोल्यादिकल्ककषायविपक्वेन वा सर्पिषा; शालिषष्टिक-नलवञ्जुलतालीशशृङ्गाटकगलोड्यगौरीगैरिकशैवलपद्मकपद्मपत्रप्रभृतिभिर्धान्याम्लपिष्टैः प्रदेहो घृत-मिश्रः, वातप्रबलेऽप्येष सुखोष्णः प्रदेहः कार्यः॥ ८॥

पित्त की प्रधानता में—यदि वातरक्त नामक विकार में पित्तदोष की प्रधानता हो तो रोगी को पीने के लिए द्राक्षा, अमलतास, कायफल, पयस्या (क्षीरविदारी या अर्कपुष्पी), मुलहठी, चन्दन और गम्भारी—इनके क्वाथ को शर्करा और मधु से मधुर कर दें; अथवा शतावरी, मुलहठी, पटोल, त्रिफला, कटुरोहिणी (कुटकी/*Picrorrhiza kurrooa*) का कषाय पीने को दें या गिलोय का काढ़ा पिलावे; अथवा पित्तज्वरहर चन्दनादि कषाय को शर्करा और मधु से मधुर कर दें; अथवा पटोलादि तिक्त तथा त्रिफलादि कषाय द्रव्यों से सिद्ध घृत पिलावें; अथवा बिस (भिषण्टकमिति लोके), मृणाल (पद्मनालम्), सफेद चन्दन, पद्मक (पद्माख) के क्वाथ में आधा दूध मिला कर परिषेक (सर्वतो धारासेचनम्/Irrigation) करें; अथवा दूध, गन्ने का रस, मधूदक, शर्करोदक और तण्डुलोदक से अथवा द्राक्षा और गन्ने के कषाय में मस्तु, मद्य तथा धान्याम्ल मिलाकर परिषेक करें; अथवा जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध घृत से अभ्यङ्ग करें या शतधौत घृत से अभ्यङ्ग करें; अथवा काकोल्यादि द्रव्यों के कल्क एवं कषाय से सिद्ध घृत से अभ्यंग करें।

प्रदेह के लिए—शालि, षष्टिक धान्य, नल, बेंत, तालीसपत्र, सिंघाड़ा, पद्मबीज (गलोड्य), हरिद्रा (गौरी), गेरू, शैवाल, पद्माख और कमलपत्र आदि को धान्याम्ल (काँजी) में पीसकर तथा घृत मिलाकर प्रयुक्त (प्रदेह) करें। वात की प्रबलता में इसी प्रदेह को कोष्ण कर प्रदेह करना चाहिए॥ ८॥

रक्तप्रबलेऽप्येवं, बहुशश्च शोणितमवसेचयेत्, शीततमाश्च प्रदेहाः कार्या इति॥ ९॥

रक्त की प्रधानता में—यदि वातरक्त में रक्त की प्रबलता (Predominance) में बार-बार या अधिक मात्रा में रक्तविस्रावण करना और प्रदेह (Pastes) अत्यन्त शीतल प्रयुक्त करना चाहिए॥ ९॥

श्लेष्मप्रबले त्वामलकहरिद्राकषायं मधुमधुरं पाययेत्, त्रिफलाकषायं वा; मधुकशृङ्गवेरहरीतकीतिक्तरोहिणीकल्कं वा सक्षौद्रं मूत्रतोययोरन्यतरेण गुडहरीतकीं वा भक्षयेत्; तैलमूत्रक्षारोदकसुराशुक्तकफघ्नौषधनिःक्वाथैश्च परिषेकः, आरग्वधादिकषायैर्वोष्णैः; मस्तुमूत्रसुराशुक्तमधुकसारिवापद्मकसिद्धं वा घृतमभ्यङ्गः; तिलसर्षपातसीयवचूर्णानि श्लेष्मातककपित्थमधुशिग्रुमिश्राणि क्षारमूत्रपिष्टानि प्रदेहः; श्वेतसर्षपकल्कः, तिलाश्वगन्धाकल्कः, प्रियालसेलुकपित्थकल्कः, मधुशिग्रुपुनर्नवाकल्कः, व्योषतिक्तापृथक्पर्णीबृहतीकल्क इत्येतेषां पञ्च प्रदेहाः सुखोष्णाः क्षारोदकपिष्टाः, शालिपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वा क्षीरपिष्टास्तर्पणमिश्राः॥ १०॥

श्लेष्मा की प्रधानता में—यदि वातरक्त विकार में श्लेष्मदोष की प्रबलता हो तो आमलक और हल्दी का कषाय मधु से मधुर कर पिलावें; अथवा तृफला कषाय का पान करावें या मधु के साथ मुलहठी, सोंठ, हरड़, कुटकी इनके कल्क को गोमूत्र या जल के साथ पानार्थ दें; अथवा गुड़ और हरड़ को खाये। **परिषेक** के लिए तैल, गोमूत्र, क्षारोदक, सुरा, काँजी और कफहर औषधियों के क्वाथ को या कोष्ण आरग्वधादि कषाय का प्रयोग करें। **अभ्यङ्गार्थ** मस्तु, गोमूत्र, सुरा, शुक्त, मुलहठी, सारिवा तथा पद्माख से सिद्ध घृत को प्रयोग में लावें। **प्रदेह** के लिए तिल, सरसों, अतसी, जौ—इनके चूर्ण को श्लेष्मातक (लिसोड़ा), कपित्थ, मधु, सहिजना के साथ मिलाकर क्षार और गोमूत्र में पीसकर प्रयुक्त करें; प्रदेह के लिए—१. सफेद सरसों का कल्क, २. तिल और अश्वगन्धा का कल्क, ३. चिरौंजी, सेलु ('लिसोडा' इति लोके), कपित्थ (कैथ) का कल्क, ४. मधुशिग्रु (सहिजना), पुनर्नवा का कल्क तथा ५. सोंठ, मरिच, पीपल (व्योष–'त्र्यूषणं व्योष उच्यते'), कुटकी, शालिपर्णी और बड़ी कटेरी का कल्क; इन पाँच प्रकार के प्रदेहों को कोष्ण ही क्षारोदक में पीसकर प्रयुक्त करें; अथवा शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी और बड़ी कटेरी को दूध में पीसकर या जौ के सत्तू के साथ मिलाकर ('तर्पणमिश्राः = यवशक्तुमिश्राः') प्रदेहार्थ प्रयुक्त करें॥ १०॥

संसर्गे सन्निपाते च क्रियापथमुक्तं मिश्रं कुर्यात्॥ ११॥

द्वन्द्वज या सन्निपात की चिकित्सा—दो दोषों का संसर्ग अथवा सन्निपात में उक्त चिकित्साविधि के अनुसार तथा मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिए॥ ११॥

सर्वेषु च गुडहरीतकीमासेवेत; पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टा वारिपिष्टा वा पञ्चाभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत् क्षीरौदनाहारो दशरात्रं भूयश्चापकर्षयेत्, एवं यावत् पञ्च दश वेति; तदेतत् पिप्पलीवर्धमानकं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शःकासश्वासशोफशोषाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति; जीवनीयप्रतीवापं सर्पिः पयसा पाचयित्वाऽभ्यज्यात्; सहासहदेवाचन्दनमूर्वामुस्ताप्रियालशतावरी-कशेरुपद्मकमधुकशतपुष्पाविदारीकुष्ठानि क्षीरपिष्टः प्रदेहो घृतमण्डयुक्तः, सैरेयकाटरूषकबलाति-बलाजीवन्तीसुषवीकल्को वा छागक्षीरपिष्टः, गोक्षीरपिष्टः काश्मर्यमधुकतर्पणकल्को वा; मधूच्छिष्ट-मञ्जिष्ठासर्जरससारिवाक्षीरसिद्धं पिण्डतैलमभ्यङ्गः; सर्वेषु च पुराणघृतमामलकरसविपक्वं वा पानार्थे; जीवनीयसिद्धं परिषेकार्थे, काकोल्यादिक्वाथकल्कसिद्धं वा, सुषवीक्वाथकल्कसिद्धं वा, कारवेल्लक-क्वाथमात्रसिद्धं वा; बलातैलं वा परिषेकावगाहबस्तिभोजनेषु; शालिषष्टिकयवगोधूमान्नमनवं भुञ्जीत पयसा जाङ्गलरसेन वा मुद्गयूषेण वाऽनम्लेन; शोणितमोक्षं चाभीक्ष्णं कुर्वीत; उच्छ्रितदोषे च वमनविरेचनास्थापनानुवासनकर्म कर्तव्यम्॥ १२॥

पिप्पली-वर्धमान योग—सभी प्रकार के वातरक्त में गुड़ और हरड़ को मिलाकर सेवन करें। पिप्पली (*Piper longum*) को दूध या जल में पीसकर पाँच या दस पिप्पली बढ़ाकर, दस दिन के बाद इसी क्रम से घटाकर दस या पाँच होने तक पिलावें। खाने को दूध और चावल दें। यह 'पिप्पलीवर्धमानक' योग कहलाता है। यह योग वातरक्त, विषमज्वर, अरोचक, पाण्डुरोग, प्लीहोदर, अर्श, कास, श्वास, शोफ, शोष, अग्निमान्द्य, हृद्रोग और उदररोगों को नष्ट करता है। जीवनीय गण की औषधियों के कल्क से सिद्ध दुग्ध में घी पकाकर उससे अभ्यङ्ग करें। प्रदेह के लिए सहा (माषपर्णी), सहदेवा (गांगेरुकी), चन्दन, मूर्वा, नागरमोथा, चिरौंजी, शतावरी, कशेरु, पद्माख, मधुयष्टि, सौंफ और कूठ को दूध में पीसकर तथा घृतमण्ड ('घृतस्योपरि अच्छो भागः') मिलाकर प्रयुक्त करें अथवा सैरेयक ('कटशेलुवाकः, कटसरैया'), वासा (अडूसा), बला, अतिबला, जीवन्ती और सुषवी (कारवेल्लक या उपकुञ्चिका) के कल्क को बकरी के दूध में पीसकर प्रलेप करें; अथवा गम्भारी, मुलहठी और तर्पणकल्क (लाजशक्तु) का गोदुग्ध में पीसकर लेप करें अथवा मोम, मंजीठ, राल, सारिवा से सिद्ध दुग्ध में तैयार किया गया 'पिण्डतैल' (अपरिस्रुतं किट्टयुक्तम्) का अभ्यङ्ग करें।

सभी प्रकार के वातरक्त में पीने के लिए आमलकी रस में पकाये गये पुराणघृत को दे और परिषेक के लिए जीवनीय गण सिद्ध पुराण घृत या काकोल्यादि क्वाथ-कल्कसिद्ध पुराण घृत या सुषवी (उपकुंचिका) कल्कक्वाथसिद्ध पुराण घृत या करेलाक्वाथसिद्ध पुराण घृत अथवा बस्ति, परिषेक, अवगाह, भोजनादि के लिए बलातैल का प्रयोग करें।

भोजन के लिए शालि, षष्टिक धान्य और गेहूँ (जो नया न हो) को दूध या जांगल प्राणियों का मांसरस या मुद्गयूष या अम्लता रहित द्रव्यों के साथ दें अथवा बार-बार रक्तमोक्षण करें। यदि दोष अत्यधिक बढ़े हों तो वमन (कफोत्कटे), विरेचन (पित्तरक्तोत्कटे), आस्थापन और अनुवासन बस्तियों का (वातोत्कटे) प्रयोग करें॥ १२॥

(पटोलत्रिफलाभीरुगुडूचीकटुकाकृतम्। क्वाथं पीत्वा जयत्याशु वातशोणितजां रुजम्॥ १३॥)

पटोलादि कषाय—पटोलपत्र, हरड़, बहेड़ा, आँवला, शतावरी, गूडूची तथा कुटकी—इनके क्वाथ को पीने से वातरक्तज व्याधियाँ शीघ्र दूर होती हैं॥ १३॥

भवन्ति चात्र—

एवमाद्यैः क्रियायोगैरचिरोत्पतितं सुखम्। वातासृक् साध्यते वैद्यैर्याप्यते तु चिरोत्थितम्॥ १४॥

इन उपरोक्त उपायों द्वारा वातरक्तविकार यदि पुराना न हो तो सुखपूर्वक ठीक हो जाता है और पुराना होने पर याप्य हो जाता है॥ १४॥

उपनाहपरीषेकप्रदेहाभ्यञ्जनानि च। शरणान्यप्रवातानि मनोज्ञानि महान्ति च॥ १५॥
मृदुगण्डोपधानानि शयनानि सुखानि च। वातरक्ते प्रशस्यन्ते मृदुसंवाहनानि च॥ १६॥

वातरक्त में विहार—उपनाहन (Poultices), परिषेक (Irrigation), प्रदेह (Pastes), अभ्यञ्जन (Anointing), शरण (गृहाणि/Living specious and luxurious buildings), जहाँ तेज हवा न हो वहाँ निवास, मनोज्ञ तथा विस्तृत आवासस्थल, शय्या, गण्डोपधान ('गण्डोपधानानि—गण्डपदेन मस्तकादीनामपि उपधानानि बोध्यानि'/Soft pillows for the head and cheeks/नरम तकिये) युक्त तथा आरामदेह और मृदु संवाहन (Gentle massage) वातरक्त में हितकर होते हैं॥ १५-१६॥

व्यायामं मैथुनं कोपमुष्णाम्ललवणाशनम्। दिवास्वप्नमभिष्यन्दि गुरु चान्नं विवर्जयेत्॥ १७॥

निषिद्ध आहाराचार—वातरक्तपीड़ित व्यक्ति को चाहिए कि वह व्यायाम, मैथुन (व्यायाममैथुने = कायकर्माणि), क्रोध (मानसं कर्म), उष्णवीर्य द्रव्य ('तेनानूपमांसं मधुरतिक्तं च काकमाच्यादि कटु च यत्किञ्चित् उष्णवीर्यं तद् गृह्यते'), अम्ल तथा लवण पदार्थ, दिवास्वप्न, अभिष्यन्दि और भारी अन्न का सेवन नहीं करना चाहिए॥ १७॥

अपतानकिनमप्रस्ताक्षमवक्रभ्रुवमस्तब्धमेढ्रमस्वेदनमवेपनमप्रलापिनमखट्वापातिनमबहिरायामिनं चोपक्रमेत्।

अपतानक-चिकित्सा—अपतानक नामक वातव्याधि से पीड़ित उस व्यक्ति की चिकित्सा करनी चाहिए—१. जिसकी आँखें बाहर को न निकली हों (Not protruding eyes), २. आँखों की भौंहें (Eye-brows) टेढ़ी न हों, ३. पुरुषजननेन्द्रिय (Penis) अकड़ी हुई (स्तब्ध/Rigid) न हो, ४. पसीना न आ रहा हो और जो ५. काँप न रहा हो (Not shivering), ६. प्रलाप न कर रहा हो (Not delirious), ७. जो खाट पर से न गिर पड़ता हो तथा जो ८. बहिरायाम (Opisthotonos) से पीड़ित न हो।

तत्र प्रागेव स्नेहाभ्यक्तं स्विन्नशरीरमवपीडनेन तीक्ष्णेनोपक्रमेत शिरःशुद्ध्यर्थम्; अनन्तरं च विदारिगन्धादिक्वाथमांसरसक्षीरदधिपक्वं सर्पिरच्छं पाययेत्, तथा हि नातिमात्रं वायुः प्रसरति; ततो भद्रदार्वादिवातघ्नगणमाहृत्य सयवकोलकुलत्थं सानूपौदकमांसं पञ्चवर्गमेकतः प्रक्वाथ्य तमादाय कषायमम्लक्षीरैः सहोन्मिश्र्य सर्पिस्तैलवसामज्जभिः सह विपचेन्मधुरकप्रतीवापं, तदेतत् त्रैवृतमपतानकिनां परिषेकावगाहाभ्यङ्गपानभोजनानुवासननस्येषु विदध्यात्; यथोक्तैश्च स्वेदविधानैः स्वेदयेत्;

ऐसे रोगी को आरम्भ में स्नेहन (Annointing) करे और स्वेदन के उपरान्त तीक्ष्ण अवपीड़न नस्य ('शिरोविरेचनद्रव्याणि पिष्ट्वा अवपीड्य दीयते इत्यवपीडः') शिरः शुद्धि के लिए दें ('शुद्धवातापतानकेऽप्यत्र शिरोविरेचनं वायोः कफस्थानगतत्वेन सद्यःसंज्ञाप्रबोधनार्थम्'–ड.)। तत्पश्चात् विदारिगन्धादि क्वाथ, मांसरस, दूध और दही से पक्व स्वच्छ घृत का पान करावे ('घृतं न विदारिगन्धादिक्वाथादिभिश्चतुर्भिर्द्रवैः विदारिगन्धादि कल्कपादिकं साधनीयमिति')। ऐसा करने से वायुदोष अधिक प्रसृत नहीं (May not spread further) होता है। तदनन्तर भद्रदार्वादि वातहर द्रव्यों को लेकर जौ, बेर, कुलथी तथा पाँच आनूपोदक मांस ('आनूपोदकमांसं पञ्चवर्गमिति कूलचराः, प्लवाः, कोशस्थाः, पादिनः, मत्स्याश्च इति जेज्जटः') का क्वाथ

बना लें और इसमें सुरासौवीरकधान्याम्लादि तथा दूध को मिलाकर घृत, तैल, वसा एवं मज्जा के साथ पकावें और कोकाल्यादि द्रव्यों के कल्क का प्रक्षेप डालें। इस प्रकार तैयार किये गये इस त्रैवृत ('त्रिभिर्वृतत्वात् त्रैवृतम्') घृत को अपतानक से ग्रस्त रोगी (अपतानकी) को परिषेक, अवगाह (Immersion), अभ्यंग, पान, भोजन, अनुवासन तथा नस्य के लिए प्रयुक्त करें। पूर्व वर्णित स्वेदन विधि से स्वेदन करावें।

बलीयसि वाते सुखोष्णतुषबुसकरीषपूर्णे कूपे निदध्यादामुखात्, तप्तायां वा रथकारचुल्ल्यां तप्तायां वा शिलायां सुरापरिषिक्तायां पलाशदलच्छन्नायां शाययेत्, कृशरावेशवारपायसैर्वा स्वेदयेत्;

तीव्र प्रकोप में उपचार—वायु के तीव्र प्रकोप में रोगी को मुख तक सुखोष्ण भूसा, पराल और उपलों से भरे गर्त (कूप) में रखें; या लोहकार की गरम भट्टी (Furnace) पर सुलायें या उस गरम शिला पर सुलायें जिस पर सुरा का छिड़काव कर ढाक के पत्रों से ढक दिया गया हो, अथवा रोगी का कृशरा (खिचड़ी), वेशवार (अन्नमिश्रित मांस) या पायस (खीर) से स्वेदन करें;

मूलकोरुबूकस्फूर्जार्जकार्कसप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धं तैलमपतानकिनां परिषेकादिषूपयोज्यम्; अभुक्तवता पीतमम्लं दधिमरिचवचायुक्तमपतानकं हन्ति; तैलसर्पिर्वसाक्षौद्राणि वा। एतच्छुद्ध-वातापतानकविधानमुक्तं, संसृष्टे संसृष्टं कर्तव्यं; वेगान्तरेषु चावपीडं दद्यात्; ताम्रचूडकर्कटकृष्ण-मत्स्यशिशुमारवराहवसाश्चासेवेत, क्षीराणि वा वातहरसिद्धानि, यवकोलकुलत्थमूलकदधिघृत-तैलसिद्धा वा यवागूः;

परिषेकार्थ स्नेह—परिषेकादि के लिए मूली, शुक्ल-एरण्ड, स्फूर्जक (*Diospyros tomentosa*/ विषतेन्दो; फणिज्जकाकारः प्रायशः पारियात्रे भवति), अर्जक (कुठेरकः, तुलसीभेदः) आक, सप्तला, शंखिनी (यवतिक्ताभेदः) इनके स्वरस से सिद्ध तैल को अपतानक में परिषेकादि में प्रयुक्त करें। यदि खाली पेट खट्टे दही को मरिच और वचा के चूर्ण को मिलाकर पिलावें तो अपतानक नष्ट होता है। इसी प्रकार तैल, घृत, वसा और मधु का खट्टे दही के साथ पान अपतानकी को लाभ पहुँचाता है। यह शुद्ध वात से पीड़ित अपतानकी की चिकित्सा का विधान है। मिले-जुले दोषों में मिली-जुली चिकित्सा की जाती है। रोग के वेग के शान्त होने पर (वेगों के मध्य में) अवपीड नस्य दें। ताम्रचूड (मुर्गा), केंकड़ा, कृष्णमत्स्य ('कुलीरमत्स्याकारोऽशल्ककः'), शिशुमार (मगर), सूअर—इनकी वसा का सेवन करायें या वातहर औषधियों से सिद्ध दुग्ध पिलावें। जौ, बेर, कुलथी, मूली, घृत और तैल से सिद्ध यवागू खाने को दें।

स्नेहविरेचनास्थापनानुवासनैश्चैनं दशरात्राहृतवेगमुपक्रमेत; वातव्याधिचिकित्सतं चावेक्षेत, रक्षाकर्म च कुर्यादिति॥ १८॥

बस्ति-प्रयोग—इसी प्रकार दस दिन तक रोग का वेग शान्त न होने पर स्नेह, विरेचन, आस्थापन एवं अनुवासन द्वारा चिकित्सा करें। इसके अतिरिक्त वातव्याधि की चिकित्सा एवं रक्षाकर्म की व्यवस्था भी करें॥ १८॥

विमर्श— अयमर्थः—'अपतानकवेगेन पतन्नेव पाणिभ्यां भूतलमवलम्बते हस्तपादद्वयेन खट्वापाती, न एतादृग्विधः इत्यर्थः'।

'ताम्रचूडादिवसासेवा भोजनम्, तदुक्तं वृद्धवाग्भटे—कर्कटकुलीरशिशुमारवराहवसाः पाययेत्'।

पक्षाघातोपद्रुतमम्लानगात्रं सरुजमात्मवन्तमुपकरणवन्तं चोपक्रमेत्। तत्र प्रागेव स्नेहस्वेदोपपन्नं मृदुना शोधनेन संशोध्यानुवास्यास्थाप्य च यथाकालमाक्षेपकविधानेनोपचरेत्; वैशेषिकश्चात्र मस्तिष्क्यः शिरोबस्तिः, अणुतैलमभ्यङ्गार्थे, साल्वणमुपनाहार्थे, बलातैलमनुवासनार्थे; एवमतन्द्रित-स्त्रींश्चतुरो वा मासान् क्रियापथमुपसेवेत॥ १९॥

पक्षाघात (Hemiplegia) **की चिकित्सा**——पक्षाघात से पीड़ित उस रोगी की चिकित्सा करें जो——१. अम्लानगात्र (अहीनगात्रम्/जिसका शरीर सूख न गया) हो, २. शरीर में वेदना हो, ३. जो आत्मवान् (Self-restrained) हो तथा ४. जो साधनसम्पन्न (Resourceful) हो। ऐसे रोगी को पहले स्नेहन-स्वेदन करावें, फिर मृदु शोधन से शुद्धकर समय का पालन करते हुए ('वान्तस्य पक्षाद् विरेचनम्, विरिक्तस्य सप्तरात्रादनुवासनम्, अनुवासितस्य स्नेहलक्षणे सति आस्थापनम्, आस्थापितस्य सद्यः पुनरनुवासनमिति') अपतानक विधान से अनुवासन एवं आस्थापन कर चिकित्सा करें।

पक्षाघात की चिकित्सा में विशेषता यह है कि इसमें मस्तिष्क्य शिरोबस्ति ('मस्तिष्क्यः शिरोबस्ति-विशेषः। स च स्नेहाक्तपिचुप्लोतादिधारणेन योजनीयः') करते हैं; अभ्यंग के लिए अणु तैल का प्रयोग होता है; उपनाहन के लिए शाल्वण का और अनुवासन के लिए बलातैल प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार आलस्य रहित होकर तीन-चार मास तक चिकित्सा करें॥ १९॥

मन्यास्तम्भेऽप्येतदेव विधानं, विशेषतो वातश्लेष्महरैर्नस्यै रूक्षस्वेदैश्चोपचरेत्॥ २०॥

मन्यास्तम्भ (Wry neck) **की चिकित्सा** भी इसी प्रकार की जाती है। विशेषता यह है कि इसमें वातश्लेष्महर नस्य और रूक्षस्वेद किये जाते हैं॥ २०॥

अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत्, वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत, वातश्लेष्मोपरुद्धोच्छ्वासं तीक्ष्णैः प्रध्मापनैर्मोक्षयेत्, तुम्बुरुपुष्कराह्वहिङ्ग्वम्लवेतसपथ्यालवणत्रयं यवक्वाथेन पातुं प्रयच्छेत्, पथ्याशतार्धे सौवर्चलद्विपले चतुर्गुणे पयसि सर्पिःप्रस्थं सिद्धं, वातश्लेष्मापनुच्च कर्म कुर्यात्॥ २१॥

अपतन्त्रक (Epileptic fits) **की चिकित्सा**——इसमें रोगी को अपतर्पण न करावें (अभोजनम्/No fast) और न वमन, अनुवासन एवं आस्थापन ही करावें। वायु और श्लेष्मा से श्वास के अवरुद्ध हो जाने पर तीक्ष्ण प्रधमन नस्यों द्वारा अवरोध को दूर करें। नैपाली धनियाँ, पुष्करमूल, हींग, अम्लवेतस, हरीतकी और तीनों नमक (विड, सौवर्चल, सैन्धव) को जौ के काढ़े से पिलावें। पचास हरीतकी, सौवर्चल दो पल तथा चतुर्गुण दूध में सिद्ध एक प्रस्थ घृत पिलावें और साथ में वात-श्लेष्मनाशक कर्म (उपाय) भी करें॥ २१॥

विमर्श——तुम्बरु——यह हिमालय में २ से ५ हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाने वाला काँटेदार वृक्ष है। यह तेजबल कहलाता है और इसके फल को तुम्बरु कहते हैं। तुम्बरु 'नैपाली धनियाँ' भी कहलाता है।

अर्दितातुरं बलवन्तमात्मवन्तमुपकरणवन्तं च वातव्याधिविधानेनोपचरेत्, वैशेषिकैश्च मस्तिष्क्यशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहस्नेहनाडीस्वेदादिभिः; ततः सतृणं महापञ्चमूलं काकोल्यादिं विदारिगन्धादिमौदकानूपमांसं तथैवौदककन्दांश्चाहृत्य द्विगुणोदके क्षीरद्रोणे निःक्वाथ्य क्षीरावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य तैलप्रस्थेनोन्मिश्र्य पुनरग्नावधिश्रयेत्, ततस्तैलं क्षीरानुगतमवतार्य शीतीभूतमभिमथ्नीयात्, तत्र यः स्नेह उत्तिष्ठेत् तमादाय मधुरौषधसहाक्षीरयुक्तं विपचेत्, एतत् क्षीरतैलमर्दितातुराणां पानाभ्यङ्गादिषूपयोज्यम्; तैलहीनं वा क्षीरसर्पिरक्षितर्पणमिति॥ २२॥

अर्दित (Facial paralysis) **की चिकित्सा**——जो व्यक्ति बलवान् एवं साधनसम्पन्न है उस अर्दित-पीड़ित रोगी की वातव्याधि में वर्णित विधि से चिकित्सा करें। विशेषकर मस्तिष्क शिरोबस्ति, नस्य, धूम, उपनाहन, स्नेहन और नाड़ी स्वेदादि से उपचार करें। तदनन्तर तृण ('कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञा') के साथ महापञ्चमूल (बिल्वादि), काकोल्यादि द्रव्य, विदारिगन्धादि द्रव्य, औदकानूप मांस ('औदकमांसं कर्कटक-शिशुमारप्रभृतीनाम्, आनूपमांसं प्रधानकल्पनया वराहादीनाम्') और औदक कन्दों ('कशेरुशृङ्गाटकशालूकादयः') को एकत्रित कर दुगने (दो द्रोण) जल तथा एक द्रोण दूध में पकावें और

दूध शेष रहने पर उतार कर छान लें। इसमें एक प्रस्थ तैल मिलाकर पुनः पकावें। जब तैल और दूध एक रूप हो जायें तो उतार लें तथा ठण्डा होने पर उसे मथें। इस प्रकार स्नेह को अलग कर लें और उसे काकोल्यादि मधुरौषधि, माषपर्णी (सहा) तथा दूध (चतुर्गुण) में मिलाकर पकावें। यह क्षीरतैल अर्दित रोगियों में पान, अभ्यंग आदि के लिए प्रयुक्त किया जाता है। नेत्रों में तर्पण के लिए तैल रहित तथा दुग्ध में सिद्ध घृत को प्रयोग में लायें॥ २२॥

गृध्रसीविश्वाचीक्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातकण्टकपाददाहपादहर्षावबाहुकबाधिर्यधमनीगतवातरोगेषु यथोक्तं यथोद्देशं च सिराव्यधं कुर्यात्, अन्यत्रावबाहुकात्; वातव्याधिचिकित्सितं चावेक्षेत॥ २३॥

वातिक रोगों में सिराव्यध (Venepuncture)—गृध्रसी (Sciatica), विश्वाची (Brachial neuralgia), क्रोष्टुशीर्षक (Arthritis of the knee), खञ्ज (Monoplegia), पंगु (Diplegia of lower extremities) वातकण्टक (Heel pain), पाददाह (Burning feet syndrome), पादहर्ष, अवबाहुक (Wasting of the shoulder joint), बाधिर्य (Deafness) और धमनियों के वातरोगों में सिराव्यध पूर्व वर्णित विधि एवं उद्देश्य के अनुसार करें किन्तु अवबाहुक में न करें और वातव्याधि में वर्णित चिकित्सा भी करें॥ २३॥

विमर्श— 'चकारेण क्रोष्टुशीर्षकवातशोणितचिकित्सावेक्षणं च। धातुक्षयनिमित्तवातकोपजनितोऽवबाहुकः, अतोऽन्यत्रावबाहुकादिति वाक्येन सिराव्यधो निषिध्यते' (ड.)।

इन रोगों में सिराव्यध की आवश्यकता वातव्याधि-चिकित्सा से सफलता न मिलने के उपरान्त होती है ('गृध्रस्यादिषु वातव्याधिचिकित्सिते कृते पश्चात् शोणितावचारणं निश्चित्य सिराव्यधो विधेय इति')

गृध्रसी का लक्षण—'पार्ष्णि प्रत्यंगुलीनां तु कण्डरायाऽनिलार्दिता। सक्थ्नोः क्षेपं निगृह्णीयात् गृध्रसीति हि सा स्मृता'॥ (सु.नि.१)

कर्णशूले तु शृङ्गवेररसं तैलमधुसंसृष्टं सैन्धवोपहितं सुखोष्णं कर्णे दद्यात्, अजामूत्रमधुतैलानि वा, मातुलुङ्गदाडिमतिन्तिडीकस्वरसमूत्रसिद्धं तैलं, शुक्तसुरातक्रमूत्रलवणसिद्धं वा; नाडीस्वेदैश्च स्वेदयेत्, वातव्याधिचिकित्सां चावेक्षेत; भूयश्चोत्तरे वक्ष्यामः॥ २४॥

कर्णशूल (Earache) **चिकित्सा**—कर्णशूल होने पर—१. आर्द्रकरस, तैल, मधु और सैन्धव लवण मिलाकर कुछ गरम (कोष्ण/Lukewarm) कर डालें; २. अजा (बकरी का) मूत्र, मधु और तैल मिलाकर (कोष्ण कर) कान में डालें; ३. बिजौरानिम्बू (मातुलुंग), दाडिम, तिन्तडीक—इनका स्वरस और गोमूत्र से सिद्ध तैल कोष्ण कर डालें; ४. शुक्त (चुक्र), सुरा, तक्र, मूत्र और लवण से सिद्ध तैल कोष्ण कर कान में डाले; ५. नाडीस्वेद ('नलादिसुषिरनाडीस्वेदः') से स्वेदन करें और वातव्याधि की चिकित्सा भी करें ('चकारेण पित्तरक्तावरणेषु वातरक्तचिकित्सितमनुक्तं समुच्चिनोति')। कर्णशूल की चिकित्सा का वर्णन उत्तरतन्त्र में पुनः किया जायेगा॥ २४॥

तूनीप्रतून्योः स्नेहलवणमुष्णोदकेन पाययेत्, पिप्पल्यादिचूर्णं वा, हिङ्गुयवक्षारप्रगाढं वा, सर्पिर्बस्तिभिश्चैनमुपक्रमेत्॥ २५॥

तूनी-प्रतितूनी चिकित्सा—तूनी और प्रतितूनी (Bladder pain and proctalgia) में स्नेह और लवण को गरम जल से पिलावें, पिप्पल्यादि चूर्ण को हींग और यवक्षार तथा घृत मिलाकर कोष्ण जल से दें। बस्तियों का प्रयोग भी करें॥ २५॥

विमर्श— **स्नेहलवण**—'एतत् स्नेहलवणमुपदिशन्ति वातरोगेषु। इति काण्डलवणम्' (सु.चि. ४।३१)। **तूनी**—'अधो या वेदना याति वर्चो मूत्राशयोत्थिता। भिन्दन्तीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः'॥ **प्रतितूनी**—'गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी। वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता'॥ (सु.नि. १।८६-८७)

आध्माने त्वपतर्पणपाणिताप(दीपनचूर्ण)फलवर्तिक्रियापाचनीयदीपनीयबस्तिभिरुपाचरेत्। लङ्घनानन्तरं चान्नकाले धान्यकजीरकादिदीपनसिद्धान्यन्नानि। प्रत्याध्माने छर्दनापतर्पणदीपनानि कुर्यात्॥ २६॥

आध्मान (Tympanitis) **चिकित्सा**—आध्मानपीड़ित रोगी की अपतर्पण (अभोजन/Fasting), पाणिताप (Fomentation by warm hands), दीपन (Appetising) चूर्ण, फलवर्तियाँ (Application of suppositories), पाचनीय (Digestive) एवं दीपनीय (Appetising) औषधियाँ तथा बस्तियों का प्रयोग कर चिकित्सा करनी चाहिए। लंघन के पश्चात् धान्यक, जीरक आदि दीपनीय द्रव्यों से सिद्ध अन्न दें। **प्रत्याध्मान** (Central abdominal distension) होने पर छर्दन (Vomiting), अपतर्पण, दीपन आदि का प्रयोग करें॥ २६॥

अष्ठीलाप्रत्यष्ठीलयोर्गुल्माभ्यन्तरविद्रधिवत् क्रियाविभाग इति॥ २७॥

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला (Benign and malignant prostatic enlargement) की चिकित्सा गुल्म (Abdominal swelling) और आभ्यन्तर विद्रधि (Internal abscess) की तरह करनी चाहिए॥ २७॥

विमर्श—'नाभेरधस्तात्सञ्जातः सञ्चारी यदि वाऽचलः। अष्ठीलावत् घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमागत उन्नतः। वाताष्ठीलां विजानीयात् बहिर्मार्गविरोधिनीम्'॥ (सु.नि. १); 'एतामेव रुजोपतां वातविण्मूत्ररोधिनीम्। प्रत्यष्ठीलामिति वदेत् जठरे तिर्यगुत्थिताम्'॥ (सु.नि. १)

हिङ्गुत्रिकटुवचाजमोदाधान्याजगन्धादाडिमतिन्तिडीकपाठाचित्रकयवक्षारसैन्धवविड्सौर्वचलस्वर्जिकापिप्पलीमूलाम्लवेतसशटीपुष्करमूलहपुषाचव्याजाजीपथ्याश्चूर्णयित्वा मातुलुङ्गाम्लेन बहुशः परिभाव्याक्षमात्रा गुटिकाः कारयेत्, ततः प्रातरेकैकां वातविकारी भक्षयेत्, एष योगः कासश्वासगुल्मोदरारोचकहृद्रोगाध्मानपार्श्वोदरबस्तिशूलानाहमूत्रकृच्छ्रप्लीहार्शस्तूनीप्रतूनीरपहन्ति॥ २८॥

हिंग्वादि गुटिका (या चूर्ण)—हींग, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पीपल), वच, अजमोद, धनियाँ, अजगन्धा ('चोवका' इति भाषा, गयी तु—'अजगन्धा क्षेत्रयवानीत्याह') अनार, तितिडीक (इमली), पाठा, चित्रक, यवक्षार, सैन्धव, विड और सौवर्चल नमक, सज्जीखार, पीपलामूल, अम्लवेतस, कचूर, पुष्करमूल, हाऊबेर, चव्य, जीरा और हरड़—इनको इकट्ठा कर चूर्ण बना लें। इसे मातुलुंग रस (बिजौरा निम्बू का रस) में अनेक बार भावित करें और चूर्ण या गुटिका एक-एक अक्ष (कर्ष) की बना लें ('अक्षं पिचुः पाणितलं···कर्ष एव निगद्यते'-शा.)। इसकी एक गुटिका वातविकारी प्रतिदिन प्रातःकाल लें। यह श्वास, कास, गुल्म, उदर, अरोचक, हृद्रोग, आध्मान, पार्श्वशूल, उदरशूल, बस्तिशूल, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, प्लीहारोग, अर्श, तूनी और प्रतितूनी को नष्ट करती है॥ २८॥

विमर्श—इस गुटिका में क्षार, हिंगु, अम्लवेतस द्विगुण लिये जाते हैं। उक्तं च—'यच्चूर्णं गुटिकायाश्च कर्तव्या वातगुल्मिनाम्। द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसास्ता हिता इति'॥

भवन्ति चात्र—

केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिलः।
विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्स्यश्चाऽविरोधतः॥ २९॥

संसृष्ट दोषों तथा आवृत दोषों की चिकित्सा—वातदोष अकेला या अन्य दोषों से संयुक्त हुआ अथवा धातुओं से आवृत ('धातुभिरिति रसरक्तमांसमेदोमज्जशुक्राणि स्वेदविण्मूत्राणि वातपित्तकफाश्चोच्यन्ते, तेषामपि शरीरधारकत्वात्, तैरावृतः') हो तो उसको लक्षणों एवं ऊह (ऊहः पुनरश्रुतस्य परिकल्पना/Logical deductions) से जानकर इस प्रकार चिकित्सा करे जो एक-दूसरे की विरोधी न हो॥ २९॥

विमर्श—लक्षणों से दोषों को पहचानना; जैसे—वातस्य लक्षणम्—'तोदादिकम्, कृष्णारुणत्वं कम्पादिकं' (च.); पित्तस्य—'चोषादिकं, पीतादिदाहादिकम्'; कफस्य—कट्वादि शुक्लादि प्रसेकादिकम्'।

आवृतोऽनिलः—चरक ने (चि.अ. २८ में) पाँच प्रकार के वायु के आवरणों का विवरण विस्तार से दिया है और बताया है कि वायु के परस्पर २० आवरण होते हैं, जैसे—प्राणवायु से आवृत व्यानवायु, व्यानवायु से आवृत प्राणवायु, प्राणवायु से आवृत समानवायु और समानवायु से आवृत प्राणवायु आदि।

रुजावन्तं घनं शीतं शोफं मेदोयुतोऽनिलः। करोति यस्य तं वैद्यः शोथवत् समुपाचरेत्॥ ३०॥

मेदोयुत वात के लक्षण एवं चिकित्सा—जब वायु मेदोवृत होती है तो वेदनायुक्त, घन (Hard), शीत शोथ उत्पन्न करती है। अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह इस अवस्था का उपचार शोथवत् करे॥ ३०॥

कफमेदोवृतो वायुर्यदोरू प्रतिपद्यते । तदाऽङ्गमर्दस्तैमित्यरोमहर्षरुजाज्वरैः॥ ३१॥
निद्रया चार्दितौ स्तब्धौ शीतलावप्रचेतनौ। गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते॥ ३२॥
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ।

ऊरुस्तम्भ या आढ्यवात के लक्षण—जब कफ और मेद से आवृत वायु ऊरुओं (Thigh region) में प्राप्त होता है तो अङ्गमर्द (Bodyache), स्तैमित्य (गीले कपड़े से लिपटा हुआ-सा प्रतीत होना), रोमहर्ष (Horripilation), वेदना, ज्वर, नींद का अधिक आना तथा रोगी को ऐसा प्रतीत होना कि उसके ऊरु जकड़े हुए, शीतल, अचेतन (Benumbed). भारी, अस्थिर (Unsteady) हैं और जैसे उसके नहीं है। इस विकार को ऊरुस्तम्भ या अन्य आढ्यवात कहते हैं॥ ३१-३२॥

स्नेहवर्जं पिबेत्तत्र चूर्णं षड्धरणं नरः॥ ३३॥
हितमुष्णाम्बुना तद्वत् पिप्पल्यादिगणैः कृतम्। लिह्याद्वा त्रैफलं चूर्णं क्षौद्रेण कटुकान्वितम्॥
मूत्रैर्वा गुग्गुलं श्रेष्ठं पिबेद्वाऽपि शिलाजतु। ततो हन्ति कफाक्रान्तं समेदस्कं प्रभञ्जनम्॥ ३५॥
हृद्रोगमरुचिं गुल्मं तथाऽभ्यन्तरविद्रधिम्।

ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा—ऊरुस्तम्भ से पीड़ित रोगी चार प्रकार के स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) के बिना षड्धरण योग का तथा इसी तरह पिप्पल्यादि गण की औषधियों को कोष्ण जल से लें या त्रिफलाचूर्ण को कुटकी चूर्ण के साथ मधु से चाटें। गुग्गुल का गोमूत्र के साथ सेवन भी उत्तम है। शिलाजीत का गोमूत्र के साथ लेना भी लाभकर है। इस प्रकार इन योगों का सेवन कफ-मेद युक्त वायु को नष्ट करता है। हृद्रोग, अरुचि, गुल्म तथा आभ्यन्तर विद्रधि भी नष्ट होते हैं॥ ३३-३५॥

सक्षारमूत्रस्वेदांश्च रूक्षाण्युत्सादनानि च॥ ३६॥
कुर्याद्दिह्याच्च मूत्राढ्यैः करञ्जफलसर्षपैः।

ऊरुस्तम्भ की बहिराश्रय चिकित्सा—क्षार (Alkalies), गोमूत्र और स्वेदन (Sudation) सहित रूक्ष उत्सादन (उद्वर्तन/Rubbing) करें और करञ्जफल तथा सरसों को गोमूत्र में पीसकर एवं गरम कर लेप करें॥ ३६॥

भोज्याः पुराणश्यामाककोद्रवोद्दालशालयः॥ ३७॥
शुष्कमूलकयूषेण पटोलस्य रसेन वा। जाङ्गलैरघृतैर्मांसैः शाकैश्चालवणैर्हितैः॥ ३८॥

ऊरुस्तम्भ में भोजन—पुराना श्यामाक (सांवक), कोदों, उद्दालक (अरण्यकोद्रव) तथा शालिधान्य को सूखी मूली का यूष या पटोलरस के साथ लें। इसी प्रकार घृत रहित जांगल प्राणियों का मांसरस और लवण रहित शाक हितकर होते हैं॥ ३७-३८॥

यदा स्यातां परिक्षीणे भूयिष्ठे कफमेदसी। तदा स्नेहादिकं कर्म पुनरत्रावचारयेत्॥ ३९॥

यदि कफ और मेद अत्यधिक क्षीण हो गये हों तो स्नेहादि को पुनः प्रयुक्त करना चाहिए॥ ३९॥

सुगन्धिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसे। कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वपकर्षणः। तैक्ष्ण्यौष्ण्यात्कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्तनुत्॥ ४१॥
सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः। तं प्रातस्त्रिफलादार्वीपटोलकुशवारिभिः॥
पिबेदावाप्य वा मूत्रैः क्षारैरुष्णोदकेन वा। जीर्णे यूषरसैः क्षीरैर्भुञ्जानो हन्ति मासतः॥ ४३॥
गुल्मं मेहमुदावर्तमुदरं सभगन्दरम्। कृमिकण्ड्वरुचिश्वित्राण्यर्बुदं ग्रन्थिमेव च॥ ४४॥
नाड्याढ्यवातश्वयथून् कुष्ठदुष्टव्रणांश्च सः। कोष्ठसन्ध्यस्थिगं वायुं वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महावातव्याधिचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥



ऊरुस्तम्भ में गुग्गुलुकल्प—गुग्गुलु सुगन्ध युक्त (Fragrant), सुलघु (Very light), सूक्ष्म (सूक्ष्ममार्गविगाहित्वात् सूक्ष्मः/शरीर की सूक्ष्म रचनाओं में भी प्रविष्ट होने वाला), तीक्ष्ण (Sharp), उष्ण, रस में कटु, कटुपाकी (Bitter in final taste after digestion), सर, हृदय के लिए हितकर, स्निग्ध और पिच्छिल (Slimy) होता है॥ ४०॥

नवीन गुग्गुल बृंहण (Promotes growth), वृष्य (Spermatogenic) है और पुराना गूगल अपकर्षण (Fat reducing) होता है। यह तीक्ष्ण और उष्ण होने से कफ और वायु को नष्ट करता है, सर होने से मल एवं पित्तहर है, सौगन्ध्य (Fragrant) होने के कारण कोष्ठ की दुर्गन्धि को दूर करता है और सूक्ष्म होने से जठराग्नि को दीप्त करता है॥ ४१॥

गुग्गुलु का सेवन प्रातःकाल त्रिफला, दारुहल्दी, परवल, कुशा के क्वाथ के साथ या गोमूत्र के साथ या क्षार अथवा उष्णोदक के साथ करायें और औषध का पाचन होने पर यूष, मांसरस तथा दूध से आहार दें। इससे एक मास में गुल्म, प्रमेह, उदावर्त, उदररोग, भगन्दर, कृमिरोग, कण्डू, अरुचि, श्वित्र, अर्बुद, ग्रन्थि, नाड़ीव्रण, आढ्यवात, शोथ, कुष्ठ, दुष्टव्रण और कोष्ठ-सन्धिगत वातविकार उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे इन्द्र के वज्र से वृक्ष (बिजली गिरने पर पेड़) नष्ट होते हैं॥ ४२-४५॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'महावातव्याधिचिकित्सा' नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५॥



अध्याय-सारांश

'महावातव्याधिचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—सर्वप्रथम दो प्रकार के वातरक्त नामक विकार की सम्प्राप्ति-निरुक्ति का उल्लेख है (४), यह विकार सुकुमार, मिथ्याहार-विहार, स्थूल और सुखी रोगियों में अधिक होता है (५)।

चिकित्सा के योग्य वातशोणित की पहचान (६), चिकित्सा में रक्तमोक्षण, वमनादि के उपरान्त घृत (पुराण), पान, द्विपञ्चमूली आदि से सिद्ध तैल का पानादि में प्रयोग, वातहर द्रव्य सिद्ध दुग्ध से परिषेक, यवमधुकादि का प्रदेह, काकोल्यादिसिद्ध दुग्ध उपनाहनार्थ, बिल्वपेशी आदि से उपनाहन, मधुशिग्रुमूल का लेपनार्थ प्रयोग (७)।

पित्त प्रबल होने पर वातशोणित में द्राक्षादि का कषायपान, तिलकषायसिद्ध घृत, बिसमृणालादि से सिद्ध दुग्ध से परिषेक, इसी प्रकार घृताभ्यंग, प्रदेहादि का प्रयोग (८)।

रक्त की प्रधानता में रक्तमोक्षण, शीतल प्रदेह (९), श्लेष्म दोष की प्रधानता में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के कषाय, परिषेक, अभ्यंग, प्रदेह, मिश्रित दोषों में मिश्रित चिकित्सा (११)।

सामान्य चिकित्सा—गुड़-हरीतकी, पिप्पलीवर्धमानक, जीवन्ती कल्कसिद्ध घृतपान, अभ्यंग, प्रदेह, पिण्डतैल, पुराण घृतपान, बलातैल का परिषेक, अवगाहन, बस्ति, भोजनादि में प्रयोग (१२), वातरक्त में प्रशस्त उपनाह, परिषेक, मृदुगण्डोपधान, शयनसुखादि (१६), अप्रशस्त—व्यायामादि (१७), अपतानक चिकित्सा—चिकित्स्य, घृतपान, तप्त शिला आदि शयनार्थ प्रयोग, अवपीड, ताम्रचूडादि का सेवन (१८)।

पक्षाघात-चिकित्सा—चिकित्स्य, संशोधन, अनुवासनादि, शिरोबस्ति, साल्वणोपनाहन, बलातैलानुवासनादि (१९)।

मन्यास्तम्भ, अपतन्त्रक, आर्दित आदि की उपचार विधि (२०-२२)।

गृध्रसी विश्वाची की चिकित्सा—कर्णशूल उपचार (२३-२४)।

तूनी-प्रतितूनी में स्नेह लवणपान, आध्मान में—अपतर्पणादि, अष्ठीला-प्रत्यष्ठीला उपचार, हिंग्वादि चूर्ण, गुटिका (२८), शुद्धवात, आवृत वात की उपचार-विधि (२९), मेदोवृत वात की चिकित्सा (३४-३५), आहार (३७-३८), ऊरुस्तम्भ में गुग्गुलु का प्रयोग, गुग्गुलु गुण, भिन्न-भिन्न रोगों में अनुपान भेद से उपयोग (४०-४५)।



षष्ठोऽध्यायः

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'अर्शसां चिकित्सितम्' (The Management of Piles) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श— अर्शोरोग के कारण, भेद, लक्षणादि सु.नि. २ में विस्तार से वर्णित हैं।

चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथा—भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति। तत्र अचिरकालजातान्यल्पदोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि, मृदुप्रसृतावगाढान्युच्छ्रितानि क्षारेण, कर्कशस्थिरपृथुकठिनान्यग्निना, तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण। तत्र भेषजसाध्यानामर्शसामदृश्यानां च भेषजं भवति, क्षाराग्निशस्त्रसाध्यानां तु विधानमुच्यमानमुपधारय ॥ ३ ॥

चतुर्विध उपाय—अर्शोरोग को ठीक करने के उपाय (Methods) चार प्रकार के हैं—१. भेषज (Medicinal treatment), २. क्षार प्रयोग (Caustics), ३. अग्नि (Fire, cautery) और ४. शस्त्रप्रयोग (Surgery)।

(१) इनमें से जो अर्श सालभर से पुराना नहीं है और जिसके दोष, लक्षण तथा उपद्रव अल्प हैं वे भेषज साध्य (Curable by medicinal treatment) होते हैं। (२) क्षार-प्रयोग की आवश्यकता उस अर्शोरोग में होती है जो मृदु, प्रसृत (Extensive), अवगाढ़ (गहरे स्थित/Deaply situated) और ऊपर को उठे हुए (Projecting) हों। (३) अग्निकर्मसाध्य वह अर्श है जो कर्कश (Rough), स्थिर (Firm), पृथु (Thick) और कठिन (Hard) होते हैं। (४) तनुमूल (Narrow pedicle), उच्छ्रित (Projecting) और क्लेदयुक्त (Moist) अर्श में शस्त्र प्रयोग करना होता है। भेषज प्रयोग से ठीक होने वाले और अदृश्य (Which are not visible) अर्श में औषध-प्रयोग किया जाता है। क्षार, अग्नि और शस्त्र-प्रयोग से ठीक होने वाले अर्श की चिकित्सा का विधान (Management) सुनो ॥ ३ ॥

तत्र बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपस्निग्धं परिस्विन्नमनिलवेदनाभिवृद्धिप्रशमार्थं स्निग्धमुष्णमल्पमन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तमुपवेश्य संवृ(भृ)ते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काले समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानं किञ्चिदुन्नतकटिकं वस्त्रकम्बलकोपविष्टं यन्त्रणशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थिं परिकर्मिभिः सुपरिगृहीतमस्पन्दनशरीरं कृत्वा ततोऽस्मै घृताभ्यक्तगुदाय घृताभ्यक्तं यन्त्रमृज्वनुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय, प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य, शलाकयोत्पीड्य, पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य क्षारं पातयेत्, पातयित्वा च पाणिना यन्त्रद्वारं पिधाय वाक्च्छतमात्रमुपेक्षेत, ततः प्रमृज्य क्षारबलं व्याधिबलं चावेक्ष्य पुनरालेपयेत्, अथार्शः पक्वजाम्बवप्रतीकाशमभिसमीक्ष्यावसन्नमीषन्नतमुपावर्तयेत्, क्षारं प्रक्षालयेद्धान्याम्लेन दधिमस्तुशुक्तफलाम्लैर्वा, ततो यष्टीमधुकमिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य यन्त्रमपनीयोत्थाप्यातुरमुष्णोदकोपविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिञ्चेत्, अशीताभिरित्येके, ततो निर्वातमागारं प्रवेश्याऽऽचरिकमादिशेत्; सावशेषं पुनर्दहेत्, एवं सप्तरात्रात् सप्तरात्रादेकैकमुपक्रमेत्; तत्र बहुषु पूर्वं दक्षिणं साधयेत्, दक्षिणाद्वामं, वामात्पृष्ठजं, ततोऽग्रजमिति ॥ ४ ॥

अर्श की चिकित्सा—(इस सूत्र में अर्श की चिकित्सा में क्षारपातन, अग्निकर्म और शस्त्रप्रयोग द्वारा चिकित्सा का वर्णन है—) अब अर्शोरोग से पीड़ित बलवान् (शारीरिक दृष्टि से उपयुक्त) रोगी को स्नेहन (Oleation) और स्वेदन (Sudation) के उपरान्त वायु की विविध वेदनाओं की शान्ति के लिए स्निग्ध, उष्ण, मात्रा में अल्प और द्रवबहुल (Consisting mostly of liquids) भोजन करावें। तदनन्तर रोगी को ढके हुए स्वच्छ स्थान पर बादल रहित साधारण समय (नातिशीतोष्णे/In moderate climate conditions) में लकड़ी के एक समान फट्टे (काष्ठफलके) पर या शय्या पर बिठावें और रोगी के गुद (Anus) स्थान को सूर्य की ओर कर, अन्य परिचारक की गोद में, पीठ के सहारे (Supine position) पूर्वकाय को ऊपर उठाकर तथा कटिभाग को वसनोन्दुक के सहारे (वस्त्रकम्बलोपविष्टम् = वसनोन्दुकविष्टम्) कुछ ऊँचा उठाकर रखें। फिर रोगी की ग्रीवा और टाँगों पर यन्त्रणशाटक (Strap of cloth) डालकर सहायकों द्वारा इस प्रकार पकड़ायें कि रोगी हिल न सके। फिर छोटे मुख वाले यन्त्र (गुदयन्त्र/Rectal speculum) को घृताभ्यक्त कर (Well lubricated) रोगी की पायु (गुद/Rectum/मलाशय) में सीधे उस समय धीरे-धीरे प्रविष्ट करें जब वह प्रवाहण (Straining) कर रहा हो।

यन्त्र द्वारा अर्शोऽकुर-परीक्षा—यन्त्र के प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त उसके माध्यम से अर्श का परीक्षण करें और शलाका की सहायता से अर्श को दबायें, रुई के फाये (Cotton swab) या वस्त्रखण्ड से उसे साफ कर उस पर क्षार (Caustic) को लगायें। क्षारप्रयोग के पश्चात् हाथ से यन्त्र के मुख को ढक दें और सौ मात्रा उच्चारण करने तक प्रतीक्षा करें। तदनन्तर अर्श को पोंछ दें और क्षारबल (Strength of the caustic) तथा व्याधिबल (Severity of the disease) का विचार कर पुनः क्षार-प्रलेप करें।

क्षार-प्रयोग का निषेध—यदि अर्श पके जामुन सदृश (Bluish black), कुछ झुका हुआ (Depressed) और सिकुड़ा हुआ (Shriwelled) हो तो क्षार-प्रयोग न करें। अर्श को धान्याम्ल (Sour gruel), दधिमस्तु (जल), शुक्त या फलाम्ल ('धान्याम्लं काञ्जिकाम्, भुक्तं चुक्रं, फलाम्लबीजपूररसः') से प्रक्षालित कर उस पर मुलहठी चूर्ण युक्त घृत का लेप कर दें और यन्त्र को हटा लें। रोगी को उठने दें तथा उसे गरम जल में बिठायें और उस पर शीतल जल छिड़कें। कुछ आचार्यों की सम्मति है कि उष्ण जल छिड़कें। तत्पश्चात् रोगी को निर्वात (अल्पवात) भवन में रखें और परिचारक को रोगी की देख-भाल के बारे में आदेश दें।

क्षार का पुनः प्रयोग—यदि रोग शेष रह गया हो तो क्षार का पुनः प्रयोग करें। इस प्रकार सप्ताह में एक-एक अर्श की चिकित्सा करें। बहुत अर्श (Piles) एक साथ हों तो पहले दाहिनी ओर के फिर बाईं ओर के, फिर पीछे की ओर के अन्त में सामने की ओर के अर्श पर क्षार का प्रयोग करें॥ ४॥

विमर्श— बलवन्तम्—अर्शपीड़ित व्यक्ति बलवान् कैसे हो सकता है? का उत्तर डल्हण के शब्दों में; अत्रोच्यते—'बलवानत्र वृद्धत्वरहितो नात्यन्तं हीनप्राणः सत्त्वभूयिष्ठो वा'।

भुक्तवन्तम्—सूत्रस्थान में यह बताया गया है कि अर्शोरोग में 'अभुक्तवतः कर्म कुर्वीत'; यहाँ 'भुक्तवन्तम्' क्यों? इसका उत्तर—'यत् पुनरभुक्तवतः कर्मेत्युक्तं सूत्रस्थाने तन्मुखाश्रितानामर्शसां कर्मणि भोजनप्रतिषेधार्थमिति'। अर्थात् ओष्ठादि स्थानों के अर्श में भोजन न करने को कहा है।

क्षारमात्रा—'क्षारमात्रा नखोत्सेधप्रमाणाद्या प्रकीर्तिता। द्विगुणा मध्यमा मात्रा त्रिगुणा महती मता॥ पित्ते श्लेष्मणि वाते च यथासंख्यं प्रयोजयेत्'।

उष्णोदकोपविष्टम्—'कफवातानुबन्धे उष्णोदकावगाहः, केवलयोस्तु रक्तपित्तयोः शीतोदकावगाहः'।

तत्र वातश्लेष्मनिमित्तान्यग्निक्षाराभ्यां साधयेत्, क्षारेणैव मृदुना पित्तरक्तनिमित्तानि॥ ५॥

अर्श में क्षार-प्रयोग—वातिक और श्लैष्मिक कारणों से उत्पन्न अर्श की चिकित्सा अग्नि (Fire cautery) और क्षार (Caustics) से तथा पित्त और रक्तज अर्श की चिकित्सा मृदुक्षार से ही करें॥ ५॥

तत्र वातानुलोम्यमन्नरुचिरग्निदीप्तिर्लाघवं बलवर्णोत्पत्तिर्मनस्तुष्टिरिति सम्यग्दग्धलिङ्गानि, अतिदग्धे तु गुदावदरणं दाहो मूर्च्छा ज्वरः पिपासा शोणितातिप्रवृत्तिस्तन्निमित्ताश्चोपद्रवा भवन्ति, श्यामाल्पव्रणता कण्डूरनिलवैगुण्यमिन्द्रियाणामप्रसादो विकारस्य चाशान्तिर्हीनदग्धे॥ ६॥

सम्यक्दग्ध (Proper cauterization) **के लक्षण**—१. वातानुलोमन (Normal movements of *Vāyu*), २. अन्नरुचि (Desire for food), अग्निदीप्ति (Increase of appetite), ४. लाघव (शरीर में हलकापन/Feeling of lightness), ५. बल और वर्ण (Complexion) की उत्पत्ति और ६. मन की प्रसन्नता (Mental satisfaction) आदि हैं।

अतिदग्ध (Excessive cauterization) **के लक्षण**—१. गुदावदरण (Anal tear), २. दाह (Burning sensation), ३. मूर्च्छा (Fainting), ४. ज्वर, ५. पिपासा, ६. रक्त का अधिक निकल जाना (Excessive bleeding) और ७. रक्त के अधिक निकल जाने से होने वाले उपद्रवों की उपस्थिति आदि हैं।

हीनदग्ध (Inadequate cauterization) **के लक्षण**—१. व्रण का काला रंग और २. अल्पता (Blackish and small ulcer), ३. कण्डू (Itching), ४. अनिलवैगुण्य (वायु की विगुणता/Vitiation), ५. इन्द्रियों की अप्रसन्नता (Improper functioning of senses) तथा ६. रोग का शान्त न होना आदि होते हैं॥ ६॥

महान्ति च प्राणवतश्छित्त्वा दहेत्, निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यन्त्राद्विना स्वेदाभ्यङ्ग-स्नेहावगाहोपनाहविस्रावणालेपक्षाराग्निशस्त्रैरुपाचरेत्; प्रवृत्तरक्तानि च रक्तपित्तविधानेन, भिन्नपुरीषाणि चातीसारविधानेन, बद्धवर्चांसि स्नेहपानविधानेनोदावर्तविधानेन वा; एष सर्वस्थानगतानामर्शसां दहनकल्पः॥ ७॥

उपद्रुत (Complicated) **अर्श की चिकित्सा**—सशक्त रोगी के बड़े आकार का अर्श हो तो उसे काटकर (After excision) दहन कर दें। जो अर्श बाहर निकल आये (Protruding out) हों और दोषपूर्ण (वातपित्तरक्तैः पूरितानि) हों उन्हें यन्त्र के उपयोग के बिना स्वेदन (Fomentation), अभ्यंग (Anointment), स्नेहन (Oleation), अवगाहन (Immersion), विस्रावण (Blood letting), आलेप (Application of pastes), उपनाहन (Poultice), क्षार, अग्नि और शस्त्र कर्म द्वारा ठीक करें।

अधिक रक्त आने पर चिकित्सा—यदि रक्त अधिक आ रहा हो तो रक्तपित्त की चिकित्साविधि से उपचार करें। यदि पतले दस्त (Loose motions) हों तो अतिसार की चिकित्सा करें। कब्ज (बद्धवर्चांसि/Constipation) हो तो स्नेहपान या उदावर्त की चिकित्सा करें। दहन कर्म की यह विधि सभी स्थानों के अर्शों में उपयुक्त है ('अत्र सर्वशब्देन मेढ्रादिस्थानगतानामर्शसामवरोधः')॥ ७॥

विमर्श—यह विधि शस्त्रकर्म में भी व्यवहृत है ('दहनग्रहणोपलक्षणम्, तेन स्नेहादिशस्त्रं चानुक्तमुपलक्षयेत्' -ड.)

आसाद्य च दर्वीकूर्चकशलाकानामन्यतमेन क्षारं पातयेत्। भ्रष्टगुदस्य तु विना यन्त्रेण क्षारादिकर्म प्रयुञ्जीत। सर्वेषु च शालिषष्टिकयवगोधूमान्नं सर्पिःस्निग्धमुपसेवेत पयसा निम्बयूषेण पटोलयूषेण वा, यथादोषं शाकैर्वास्तूकतण्डुलीयकजीवन्त्युपोदिकाश्वबलाबालमूलकपालङ्क्यसनचिल्लीचुच्चूक-लायवल्लीभिरन्यैर्वा। यच्चान्यदपि स्निग्धमग्निदीपनमर्शोघ्नं सृष्टमूत्रपुरीषं च तदुपसेवेत॥ ८॥

क्षार-प्रयोग और भोजन-व्यवस्था—अर्श का पता लग जाने पर क्षार को उस पर दर्वी (Ladle), कूर्च (Brush) या शलाका (Rod) की सहायता से लगावें। यदि गुदभ्रंश (Rectum is prolapsed) हो गया हो तो यन्त्र की सहायता के बगैर क्षारादि कर्म करने चाहिए। सभी प्रकार के अर्शरोगियों में खाने

के लिए शालि, षष्टिक, जौ या गेहूँ को घृत से स्निग्ध कर दूध, निम्बयूष या पटोलयूष से दें। दोषानुसार शाक; जैसे—बथुआ, चौलाई, जीवन्ती, पोई, अश्वबला (मेथिकाभेदः), छोटी मूली, पालक, असन (विजयसार), चिल्ली (क्षेत्रवास्तूकः), चुन्चुक, मटर, लता (वल्ली) आदि का प्रयोग करें। इसी तरह अन्य भी जो स्निग्ध, अग्निदीपन, अर्शोहर, मूत्र-पुरीष को लाने वाले द्रव्य हों उनका भी प्रयोग करें॥ ८॥

विमर्श—अर्शोरोगी के पथ्य के सम्बन्ध में चरक की सम्मति है कि जो १. वायु का अनुलोमन करें, २. अग्नि और बल की वृद्धि करें ऐसे अन्न-पान और औषध का अर्श से पीड़ित रोगी सदा सेवन करें (चि. १४।२४७)।

दग्धेषु चार्शःस्वभ्यक्तोऽनलसन्धुक्षणार्थमनिलप्रकोपसंरक्षणार्थं च स्नेहादीनां सामान्यतः क्रियापथमुपसेवेत। विशेषतस्तु वातार्शःसु सर्पींषि च वातहरदीपनीयसिद्धानि हिङ्ग्वादिभिश्चूर्णैः प्रतिसंसृज्य पिबेत्। पित्तार्शःसु पृथक्पर्ण्यादीनां कषायेण दीपनीयप्रतीवापं सर्पिः, शोणितार्शःसु मञ्जिष्ठामुरुङ्ग्यादीनां कषाये पाचयेत्, श्लेष्मार्शःसु सुरसादीनां कषाये। उपद्रवांश्च यथास्वमुपाचरेत्॥ ९॥

पश्चात्कर्म (Post operative) **व्यवस्था**—अर्श को दग्ध करने के उपरान्त (चकारेण अदग्धेष्वपि विधिरयम्) रोगी अभ्यंग करे (Anoint himself) और सामान्यतः सर्वार्शोघ्न विधियों द्वारा जठराग्नि की प्रदीप्ति के लिए तथा वातप्रकोप से संरक्षण के लिए स्नेहादियों का सेवन करे। विशेषकर वातिक अर्श में पिप्पल्यादि दीपनीय द्रव्यों और भद्रदार्वादि वातहर द्रव्यों से सिद्ध घृत, जिसमें वातव्याधिपठित हिङ्ग्वादि चूर्ण मिला हो, का पान करे। **पित्तार्श** में पृथक्पर्ण्यादि के कषाय से सिद्ध एवं दीपनीय द्रव्यों के प्रक्षेप से बना घृत दें। **रक्तार्श** में मंजीठ, शिग्रु (मुरुङ्गी) आदि के कषाय से सिद्ध घृत दें। श्लैष्मिक अर्श में सुरसादि गण की औषधियों के कषाय से सिद्ध घृत का प्रयोग करें। यदि गुल्म, ज्वरादि उपद्रव उपस्थित हों तो उनका उपचार उनकी चिकित्सा के अनुसार ('तानात्मीयेनौषधेन प्रतिकुर्यात्') करें॥ ९॥

विमर्श—**उपद्रवांश्च**—चरक कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है। अतः औषधचिकित्सा का उसमें प्राधान्य है। उनका कहना है कि शस्त्र, क्षार और अग्नि से ठीक हुए अर्शोरोग में पुनः होने की प्रवृत्ति पायी जाती है और इनसे मृत्यु होने का भी भय है ('मरणं वा भवेत् शीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्'–चि. १४; और 'पुनर्विरोहो रूढानाम्'–चि. १४)। इनके अनुसार अर्श में गुदभ्रंश भयानकतम उपद्रव है ('क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः'–चि. १४।३४)।

परं च यत्नमास्थाय गुदे क्षाराग्निशस्त्राण्यवचारयेत्, तद्विभ्रमाद्धि षाण्ढ्यशोफदाहमदमूर्च्छाऽऽ-टोपानाहातीसारप्रवाहणानि भवन्ति मरणं वा॥ १०॥

शस्त्रादि के प्रयोग में सावधानी—गुद (Rectum) में शस्त्र, क्षार और अग्नि का प्रयोग नितान्त सावधानी के साथ करना चाहिए; क्योंकि इनके विभ्रम (Improper use) से षाण्ढ्य (Impotency), शोफ (Inflammation), दाह, मद (Intoxication), मूर्च्छा (Fainting), आटोप, आनाह, अतिसार और प्रवाहण तथा मृत्यु भी हो सकते हैं॥ १०॥

अत ऊर्ध्वं यन्त्रप्रमाणमुपदेक्ष्यामः। तत्र यन्त्रं लौहं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरङ्गुलायतं पञ्चाङ्गुलपरिणाहं पुंसां, षडङ्गुलपरिणाहं नारीणां तलायतं, तद् द्विच्छिद्रं दर्शनार्थम्, एकच्छिद्रं तु कर्मणि। एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीनामतिक्रमो न भवति। छिद्रप्रमाणं तु त्र्यङ्गुलायत-मङ्गुष्ठोदरपरिणाहं यदङ्गुलमवशिष्टं तस्यार्धाङ्गुलादधस्तादर्धाङ्गुलोच्छ्रितोपरिवृत्तकर्णिकम्; एष यन्त्राकृतिसमासः॥ ११॥

अर्शोयन्त्र (Rectal speculum)—अब इससे आगे 'यन्त्र' के प्रमाणादि का वर्णन किया जायेगा, यह यन्त्र लौह (सौवर्णरौप्यादिलोहमयम्), दाँत (हस्त्यादिदन्तमयम्/हाथी आदि के दाँत से बना हुआ), शार्ङ्ग (महिषादिशृङ्गमयम्) या वार्क्ष (वृक्षमयम्/ लकड़ी का बना हुआ) होता है (वृक्षाः सारवृक्षाः शिंशपाशाल्मल्यादयः)। इसका आकार गोस्तन सदृश होता है तथा पुरुषों के लिए यह चार अंगुल लम्बा (आयतम्/Length) और पाँच अंगुल चौड़ा (परिणाहम्/Circumference) होता है, किन्तु स्त्रियों के लिए इसकी चौड़ाई छः अंगुल होती है (आयतं दीर्घम्, परिणाहो वर्तुलता) तथा लम्बाई स्वहस्ततल सदृश होती है (केचिदत्र स्त्रियाः पृथक् यन्त्राभिधानग्रन्थमपठित्वा स्त्रीपुंसयोस्तुल्यमेव यन्त्रमित्याहुः)। इसमें दो छिद्र (Holes) होते हैं—एक व्याधि को देखने के लिए और दूसरा क्षारपातन आदि के लिए। यन्त्र में एक ही छिद्र हो तो शस्त्र, क्षार और अग्नि का अर्श पर प्रयोग भली प्रकार नहीं हो सकता है।

छिद्रों का प्रमाण—छिद्र का प्रमाण (Dimension of the openigs) तीन अंगुल लम्बा और चौड़ाई अंगुष्ठोदर सदृश (Thickness of the thumb) होती है। इस यन्त्र की लम्बाई में जो एक अंगुल शेष है उसमें से आधा अंगुल प्रमाण की नीचे की ओर उठी हुई गोल कर्णिका (Round ear-like elevation) होती है। यह संक्षेप में यन्त्र का वर्णन है॥ ११॥

विमर्श— अर्शोयन्त्र वाग्भट के शब्दों में—'अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरङ्गुलम्। नाहे पञ्चाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडंगुलम्॥ द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रं तु कर्मणि। मध्येऽस्य त्र्यंगुलं छिद्रमंगुष्ठोदरविस्तृतम्। अर्धाङ्गुलोच्छ्रितोदवृत्तकर्णिकं तु तदूर्ध्वतः'॥ (सू. २५।१६-१८)

इस अर्धांगुल कर्णिका का लाभ यह है कि यन्त्र इससे आगे अन्तःप्रविष्ट नहीं हो सकता है, अन्यथा गुदा में अधिक आगे चले जाने का भय रहता है।

अत ऊर्ध्वमर्शसामालेपान् वक्ष्यामः—स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेपः प्रथमः, कुक्कुटपुरीष-गुञ्जाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्रपित्तपिष्टो द्वितीयः, दन्तीचित्रकसुवर्चिकालाङ्गलीकल्को वा गोपित्तपिष्टस्तृतीयः, पिप्पलीसैन्धवकुष्ठशिरीषफलकल्कः स्नुहीक्षीरपिष्टोऽर्कक्षीरपिष्टो वा चतुर्थः, कासीसहरितालसैन्धवाश्वमारकविडङ्गपूतीककृतवेधनजम्ब्वर्कोत्तमारणीदन्तीचित्रकालर्कस्नुहीपयःसु तैलं विपक्वमभ्यञ्जनेनार्शः शातयति॥ १२॥

अर्शोघ्न आलेप—इससे आगे अर्शों पर लगाने के लिए लेपों (Pastes) का उल्लेख किया जायेगा; यथा—१. थोहर के दूध में हल्दी का चूर्ण मिलाकर लेप करें; यह प्रथम लेप है। २. मुर्गे की बीट, रत्ती, हल्दी और पीपल का चूर्ण इनको गोमूत्र और गोपित्त में पीसकर लेप करें; यह द्वितीय लेप है। ३. दन्ती, चित्रक, सुवर्चिका (?) एवं कलीहारी—इनके कल्क को गोपित्त में पीसकर लेप करें; यह तीसरा लेप है। ४. पीपल, सेंधानमक, कूठ और सिरस के फल का कल्क इनको थोहर के दूध में या आक के दूध में पीसकर अर्श पर लेप करें; यह चौथा लेप है ('आलेपयोगेषु प्रथमादिवचनं प्रत्येकमेव योगानां महाबलत्वसूचनार्थम्'–ड.)। कासीस, हरताल, सेंधानमक, कनेर, विडंग, पूतीकरंज, कोशातकी, भूमिजम्बु, आक, उत्तमारणी (योधावल्ली), दन्ती, चित्रक और श्वेत आक तथा थोहर के दूध में तेल पकावें और उस तैल को अर्शों पर लगाने (अभ्यंग) से अर्श नष्ट होते हैं॥ १२॥

अत ऊर्ध्वं भेषजसाध्येष्वदृश्येष्वर्शःसु योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः—प्रातः प्रातर्गुडहरीतकीमासेवेत, ब्रह्मचारी गोमूत्रद्रोणसिद्धं वा हरीतकीशतं प्रातः प्रातर्यथाबलं क्षौद्रेण, अपामार्गमूलं वा तण्डुलोदकेन, सक्षौद्रमहरहः, शतावरीमूलकल्कं वा क्षीरेण, चित्रकचूर्णयुक्तं वा सीधुं परार्ध्यं भल्लातचूर्णयुक्तं वा सक्तुमन्थमलवणं तक्रेण, कलशे वाऽन्तश्चित्रकमूलकल्कावलिप्ते निषिक्तं तक्र-मम्लमनम्लं वा पानभोजनेषूपयुञ्जीत, एष एव भार्ग्यास्फोतायवान्यामलकगुडूचीषु तक्रकल्पः, पिप्पली-

पिप्पलीमूलचव्यचित्रकविडङ्गशुण्ठीहरीतकीषु च पूर्ववदेव, निरन्नो वा तक्रमहरहर्मासमुपसेवेत, शृङ्गवेरपुनर्नवाचित्रककषायसिद्धं वा पयः, कुटजमूलत्वक्फाणितं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं क्षौद्रेण, महावातव्याध्युक्तं हिङ्ग्वादिचूर्णमुपसेवेत तक्राहारः क्षीराहारो वा, क्षारलवणांश्चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेत्, चित्रकमूलक्षारोदकसिद्धं वा पयः, पलाशतरुक्षारसिद्धान् वा कुल्माषान्, पाटलापामार्गबृहतीपलाशक्षारं वा परिस्रुतमहरहर्घृतसंसृष्टं, कुटजबन्दाकमूलकल्कं वा तक्रेण, चित्रकपूतीकनागरकल्कं वा पूतीकक्षारेण, क्षारोदकसिद्धं वा सर्पिः पिप्पल्यादिप्रतीवापं, कृष्णतिलप्रसृतं प्रकुञ्चं वा प्रातः प्रातरनुसेवेत शीतोदकानुपानम्; एभिरभिवर्धतेऽग्निरर्शांसि चोपशाम्यन्ति॥ १३॥

अदृश्य अर्श (Internal piles) **की औषध-चिकित्सा**—अब इससे आगे भेषजसाध्य अदृश्य अर्श के पातनार्थ औषध योगों (Recipes) का वर्णन किया जायेगा; यथा—१. प्रतिदिन प्रातः गुड़ और हरड़ का सेवन करें; अथवा—२. ब्रह्मचर्य (Celibacy) का पालन करने वाला अर्शोरोगी एक द्रोण गोमूत्र में सिद्ध सौ हरड़ों को प्रतिदिन प्रातः मधु के साथ यथाशक्ति सेवन करें; अथवा—३. अपामार्ग के मूल को चावलों के जल के साथ मधु मिलाकर प्रतिदिन लें; अथवा—४. शतावरीमूल कल्क को दूध से लें; अथवा—५. चित्रक चूर्ण युक्त सीधु (शस्यकः) का सेवन श्रेष्ठ है; अथवा—६. भल्लातक चूर्ण को लवण रहित सक्तुमन्थ के साथ तक्र से लें। ७. पान, भोजन आदि के लिए कलश के अन्दर चित्रकमूल के कल्क का लेप कर तक्र रखे। यह तक्र अम्ल हो या न हो इसका सेवन करें। ८. इसी विधि से भार्गी, आस्फोता (सारिवा), अजवायन, आँवला और गिलोय के कल्क का कलश के अन्दर लेप कर तक्र को रखें और प्रयोग में लें। ९. इसी प्रकार पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, विडंग, सोंठ और हरीतकी के कल्क लगे कलश में तक्र रखकर प्रयुक्त करें; अथवा—१०. निरन्न रहकर प्रतिदिन एक मास तक केवल तक्र का सेवन करें; अथवा—११. आर्द्रक, पुनर्नवा और चित्रक से सिद्ध दुग्ध का सेवन करें। १२. कुटजमूलत्वक् का फाणित (फाणित के सम्बन्ध में भावप्रकाशकार—'इक्षोरसस्तु यः पक्वः किञ्चित् गाढो बहुद्रवः। स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया') और पिप्पल्यादि चूर्ण के प्रतीवाप को मधु से सेवन करें। १३. तक्र का या क्षीर का ही सेवन करते हुए वातव्याधि में वर्णित हिंग्वादि चूर्ण को लें। १४. क्षार, लवण, चित्रकमूल और क्षारोदक से सिद्ध कुल्माष (यवोदनः) का सेवन करें; अथवा—१५. चित्रकमूल, क्षारोदकसिद्ध दुग्ध का पान करें। १६. पलाश वृक्ष के क्षार से सिद्ध कुल्माष खाये; अथवा—१७. पाढल, अपामार्ग, बड़ी कटेरी और पलाशक्षार को कपड़े में छानकर घृत के साथ प्रतिदिन सेवन करें; अथवा—१८. कुटज और बन्दाकीमूल के कल्क को तक्र से लें; अथवा—१९. चित्रक, पूतीक (करंज) और सोंठ से कल्क को करञ्जक्षार के साथ लें। २०. क्षारोदक से सिद्ध घृत को पिप्पल्यादि चूर्ण को साथ लें। २१. काले तिल एक या दो पल प्रतिदिन प्रातः काल शीतल जल से लें। इन योगों से जठराग्नि दीप्त होती है और अर्शोरोग शान्त होता है॥ १३॥

द्विपञ्चमूलीदन्तीचित्रकपथ्यानां तुलामाहृत्य जलचतुर्द्रोणे विपाचयेत्, ततः पादावशिष्टं कषायमादाय सुशीतं गुडतुलया सहोन्मिश्र्य घृतभाजने निःक्षिप्य मासमुपेक्षेत यवपल्ले, ततः प्रातः प्रातर्मात्रां पाययेत, तेनार्शोग्रहणीदोषपाण्डुरोगोदावर्तारोचका न भवन्ति दीप्तोऽग्निश्च भवति॥ १४॥

द्विपञ्चमूली योग—बृहत् और लघु पञ्चमूल, दन्ती, चित्रक और हरीतकी तुला (सौ पल) मात्रा में लेकर चार द्रोण जल में पकावें। चतुर्थांश शेष रहने पर तथा क्वाथ के ठण्डा हो जाने पर उसमें तुला प्रमाण गुड़ मिलाकर (अच्छी तरह घोलकर) घृतपात्र में भर लें और इस पात्र को यवराशि में एक मास तक रखें। इसे प्रतिदिन प्रातःकाल समुचित मात्रा में पान करायें। इससे अर्श, ग्रहणी, पाण्डु, उदावर्त और अरोचक नष्ट होते हैं तथा जठराग्नि दीप्त होती है॥ १४॥

विमर्श— तन्त्रान्तर में इस योग की 'दन्त्यरिष्ट' संज्ञा है।

पिप्पलीमरिचविडङ्गैलवालुकलोध्राणां द्वे द्वे पले, इन्द्रवारुण्याः पञ्च पलानि, कपित्थमध्यस्य दश, पथ्याफलानामर्धप्रस्थः, प्रस्थो धात्रीफलानाम्, एतदैकध्यं जलचतुर्द्रोणे विपाच्य, पादावशेषं परिस्राव्य, सुशीतं गुडतुलाद्वयेनोन्मिश्र्य, घृतभाजने निःक्षिप्य, पक्षमुपेक्षेत यवपल्ले; ततः प्रातः प्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत। एष खल्वरिष्टः प्लीहाग्निषङ्गार्शोग्रहणीहृत्पाण्डुरोगशोफकुष्ठगुल्मोदरकृमिहरो बलवर्णकरश्चेति॥ १५॥

पिप्पल्यादि योग—पीपल, मरिच, विडंग, एलवा (एलवालुक/*Prunus cerasus*?) और लोध, प्रत्येक दो-दो पल; इन्द्रायण पाँच पल, कपित्थ फल के बीच का गूदा दस पल, हरड़ के फल का छिलका आधा प्रस्थ और आँवला एक प्रस्थ—इनको एक साथ चार द्रोण जल में पकावें और चतुर्थांश शेष रहने पर छान लें। ठण्डा होने पर इसमें दो तुला प्रमाण गुड़ मिलाकर, घोलकर घृतपात्र में भर लें और जौ के ढेर में पन्द्रह दिन तक रखें। इसको रोगी के बल के अनुसार प्रातःकाल प्रतिदिन प्रयोग में लावें। यह अरिष्ट प्लीहा, अग्निमान्द्य, अर्श, ग्रहणी, हृद्रोग, पाण्डुरोग, शोफ, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग को नष्ट करता है; कृमिहर है और बल तथा वर्ण की वृद्धि करता है॥ १५॥

विमर्श— चरक में यह योग 'अभयारिष्ट' के नाम से वर्णित है। 'यवपल्ले = यवराशावित्यर्थः' (ड.)।

तत्र, वातप्रायेषु स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासनमप्रतिषिद्धं, पित्तजेषु विरेचनम्, एवं रक्तजेषु संशमनं, कफजेषु शृङ्गवेरकुलत्थोपयोगः, सर्वदोषहरं यथोक्तं सर्वजेषु, यथास्वौषधसिद्धं वा पयः सर्वेष्विति॥ १६॥

अर्श की दोषानुसार चिकित्सा—अर्शोरोग में वायु की प्रधानता (Predominance) होने पर स्नेहन (Oleation), स्वेदन (Sudation), वमन, विरेचन (Purgation), आस्थापन और अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए। पित्त प्राधान्य में विरेचन, रक्त की प्रधानता हो तो संशमन (Alleviating procedures), श्लेष्म दोष की प्रमुखता में अदरक और कुलथी का प्रयोग और त्रिदोषज अर्श में त्रिदोषोक्त सर्वदोषहर प्रयोग उपयोग में लावें। सभी प्रकार के अर्श में उपयुक्त औषधसिद्ध दुग्ध का प्रयोग करना चाहिए॥ १६॥

विमर्श— **संशमनम्**—'न वमयति नापि विरेचयति व्याधिना सह एकीभूय तमेव व्याधिं शमयेदिति संशमनम्' (ड.)। **वमनम्**—'तत्रार्शःसु वमनस्य निषिद्धस्यापि कफप्रसेकादिषु अवस्थासु कर्तव्यताप्रसङ्गः'।

अत ऊर्ध्वं भल्लातकविधानमुपदेक्ष्यामः—भल्लातकानि परिपक्वानि अनुपहतान्याहृत्य तत एकमादाय द्विधा त्रिधा चतुर्धा वा छेदयित्वा कषायकल्पेन विपाच्य तस्य कषायस्य शुक्तिमनुष्णां घृताभ्यक्ततालुजिह्वौष्ठः प्रातः प्रातरुपसेवेत, ततोऽपराह्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः; एवमेकैकं वर्धयेत् यावत् पञ्चेति, ततः पञ्च पञ्चाभिवर्धयेद्यावत् सप्ततिरिति, प्राप्य च सप्ततिमपकर्षयेद्भूयः पञ्च पञ्च यावत्पञ्चेति, पञ्चभ्यस्त्वेकैकं यावदेकमिति। एवं भल्लातकसहस्रमुपयुज्य सर्वकुष्ठार्शोभिर्विमुक्तो बलवान् अरोगः शतायुर्भवति॥ १७॥

भल्लातक-विधान—(नवीन अथवा पुरातन अल्प लिंग वाले अदृश्य अर्श की चिकित्सार्थ विशिष्ट योग—) अब इसके उपरान्त भल्लातक-विधान (Regimen) का उपदेश किया जायेगा। एतदर्थ पूरी तरह परिपक्व और अक्षत (Uninjured) भिलावों में से एक को लेकर दो, तीन या चार टुकड़ों में विभक्त कर कषाय (Decoction) विधि से पकायें। शीतल हो जाने के पश्चात् इस क्वाथ का शुक्ति प्रमाण ('स्यात्कर्षाभ्यामर्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा'-शा.सं.; दो तोला) में तालु, जीभ तथा होठों में घी लगाने के बाद प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करें। दोपहर के बाद दूध, घी और चावल का आहार करें।

इस प्रकार प्रतिदिन एक-एक भिलावा बढ़ कर पाँच होने तक, फिर पाँच-पाँच प्रतिदिन बढ़ाकर सत्तर होने तक लें। उसके उपरान्त इसी क्रम से पाँच-पाँच प्रतिदिन कम कर पाँच होने तक, फिर एक-एक प्रतिदिन कम कर एक भिलावा होने तक क्वाथ बनाकर लें। इस तरह लेने से भिलावों की संख्या एक हजार होती है। यह योग सभी प्रकार के कुष्ठ एवं अर्श को नष्ट कर सेवन करने वाले को बलवान्, रोगरहित और शतायु करता है।। १७।।

विमर्श— 'यथा चात्र भल्लातकानां क्वाथानां परिवृद्धिस्तथा क्वाथोदकस्यापि बुद्ध्या वृद्धिः परिकल्पनीया'। भल्लातकसहस्रम्—'एवमुक्तप्रमाणेन सप्ततिं यावत् उत्कर्षेण भल्लातकसहस्रं पञ्चत्रिंशता दिवसैः पूर्यते'।

सुश्रुत की तरह चरक (चि. १) और वाग्भट ने (उ.३९) में भी भल्लातक के प्रयोग का विवरण है। पर इनमें परस्पर अन्तर है। चारकीय वर्णन अधिक उपयुक्त है। इन तीनों संहिता-ग्रन्थों में भल्लातक की दैनिक मात्रा आजकल के मनुष्य के लिए अधिक लगती है ('हीनसत्त्वा नराः कलौ'–प.प्र.), अतः मात्रा घटाकर प्रयोग करना चाहिए।

द्विव्रणीयोक्तेन विधानेन भल्लातकनिश्च्युतितं स्नेहमादाय प्रातः प्रातः शुक्तिमात्रमुपयुञ्जीत, जीर्णे पूर्ववदाहारः फलप्रकर्षश्च। भल्लातकमज्जभ्यो वा स्नेहमादायापकृष्टदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तो निवातमागारं प्रविश्य यथाबलं प्रसृतिं प्रकुञ्चं वोपयुञ्जीत, तस्मिन् जीर्णे क्षीरं सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य मासत्रयमादिष्टाहारो रक्षेदात्मानम्। ततः सर्वोपतापानपहृत्य वर्णवान् बलवान् श्रवणग्रहणधारणशक्तिसम्पन्नो वर्षशतायुर्भवति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति, एवं दशमासानुपयुज्य वर्षसहस्रायुर्भवति।। १८।।

भल्लातक तैल—द्विव्रणीय (सु.चि. १) में वर्णित विधि के अनुसार भल्लातक से निकले स्नेह को लेकर प्रतिदिन प्रातः शुक्ति (दो कर्ष) प्रमाण में प्रयुक्त करें। इसके जीर्ण होने पर पूर्ववत् आहार-व्यवस्था करें (सु.चि. ६।१७); इस प्रकार सेवन करना पूर्ववत् लाभप्रद है। अथवा भिलावों की मज्जा से निकाले गये तेल को वमनादि से शुद्ध होकर तथा संसर्जन क्रम से भोजन का सेवन करता हुआ निवात गृह में प्रविष्ट होकर अपने बल के अनुसार प्रसृति (दो पल/'पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया'–शा.) या प्रकुञ्च (एक पल/'प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते'–शा.) मात्रा में सेवन करे। इसके जीर्ण हो जाने पर दूध, घृत और चावल का आहार करें। इस प्रकार एक मास तक करें और उपरोक्त आहार का सेवन तीन मास तक करें तथा क्रोधादि से अपने आपको बचाये।

भल्लातक तैल का गुण—भल्लातक स्नेह का सेवन करने वाला सभी विकारों से मुक्त होता है और उत्तम वर्ण एवं बलवाला तथा सुनने की शक्ति, ग्रहण-धारण शक्ति से सम्पन्न होता है। उसकी आयु भी सौ वर्ष की होती है। इस योग को एक-एक मास सेवन करने से सौ-सौ वर्ष की आयु की वृद्धि होती है और दस मास सेवन करने पर एक हजार वर्ष की आयु प्राप्त होती है।। १८।।

भवन्ति चात्र—

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः ख़दिरबीजकौ। तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः।। १९।।

अर्शोहर अन्य द्रव्य—जिस प्रकार खैर और विजयसार सभी प्रकार के कुष्ठों को नष्ट करते हैं उसी प्रकार कुटज और भल्लातक सभी प्रकार के अर्शोरोग को नष्ट करते हैं।। १९।।

विमर्श— वातिक और कफज अर्श को भल्लातक तथा रक्तज और पैत्तिक अर्श को कुटज नष्ट करता है।

हरिद्रायाः प्रयोगेण प्रमेहा इव षोडश। क्षाराग्नी नातिवर्तन्ते तथा दृश्या गुदोद्भवाः।। २०।।

अर्श में क्षार और अग्नि का प्रयोग—जिस प्रकार हरिद्रा के प्रयोग से सोलह प्रकार के प्रमेह नष्ट हाते हैं, उसी प्रकार क्षार और अग्नि के प्रयोग से दृश्य अर्श नष्ट होते हैं॥ २०॥

घृतानि दीपनीयानि लेहायस्कृतयः सुराः। आसवाश्च प्रयोक्तव्या वीक्ष्य दोषसमुच्छ्रितिम्॥ २१॥

घृतादि-प्रयोग में दोषादि पर विचार—घृत, कुटजादि अवलेह, नवायस आदि लोह के योग नाना प्रकार के आसव एवं सुरा का प्रयोग दोषोच्छ्राय (दोषप्रकोप) का विचार कर करना चाहिए॥ २१॥

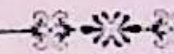
वेगावरोधस्त्रीपृष्ठयानान्युत्कटुकासनम्। यथास्वं दोषलं चान्नमर्शःसु परिवर्जयेत्॥ २२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥



अर्शोरोग में वर्ज्य—अर्शोरोग से पीड़ित व्यक्ति को चाहिए कि वह—१. वेगावरोध (Suppression of evacuatory processes/'वातमूत्रपुरीषादीनां स्वमार्गेण स्वभावतः प्रवृत्तिः वेगः तस्यावरोधः), २. स्त्री-सेवन, ३. पृष्ठयान (अश्वारोहणादि), ४. उत्कटुकासन (उत्कटिकस्य आसनस्थितिः/उकडू बैठना) और ५. दोषप्रकोपक अन्न का सेवन न करे॥ २२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'अर्शश्चिकित्सा' नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ॥ ६॥



अध्याय-सारांश

'अर्शश्चिकित्सित' नामक इस अध्याय में—अर्शोविकार की चिकित्सा के चार भेद, किस प्रकार के अर्श में कौन-सा उपचार व्यवहार्य है (३), रोगी का चयन, द्रवप्राय आहार, समुचित काल में रोगी का आसन (Posture), यन्त्रशाटक से नियन्त्रित करना, यन्त्रप्रयोगविधि, क्षारपातन, सम्यक् दग्ध की पहचान, क्षारप्रक्षालन, पुनर्दहन, अवधि, बहुत अर्श हों तो क्षारपातन विधि (४)।

वात-कफ अर्श में अग्निक्षार, सम्यक् दग्ध की पहचान, अतिदग्ध, हीन दग्ध, उपद्रव होने पर (७), क्षारपातन विधि, भ्रष्ट गुद में यन्त्र के विना, सभी में आहारविधि (८), दग्ध के उपरान्त स्नेहसेवन, विशेषकर घृत, विभिन्न द्रव्यों से सिद्ध (९), क्षार, अग्नि, शस्त्र प्रयोग में सावधानी, षाण्ढ्यादि उपद्रव मरण भी (१०)।

यन्त्र-निर्माण, शार्ङ्ग, वार्क्ष आदि, लम्बाई, चौड़ाई, एक छिद्र, दो छिद्र, कर्णिका-निर्माण (११), अर्श पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आलेप (१२), अदृश्य अर्श के पातनार्थ अनेक योग (१३), द्विपञ्चमूली योग (१४), पिप्पल्यादि योग (अभयारिष्ट) (१५), अर्श की दोषानुसार चिकित्सा-सिद्धान्त (१६), भल्लातक विधान (१७), इसकी निर्माण विधि, सेवन विधि, फलश्रुति (१८)।

अर्शश्चिकित्सा में भल्लातक और कुटज का महत्त्व (१९-२०), घृतादि के प्रयोग में दोषों पर विचार (२१), अर्शोरोग में वर्ज्य (२२)।



सप्तमोऽध्यायः

अथातोऽश्मरीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'अश्मरीचिकित्सितम्' (The Management of Urinary Calculi) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

अश्मरी दारुणो व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः। औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति ॥ ३ ॥

अश्मरी की साध्यता—अश्मरी यमराज (God of death) की तरह भयंकर व्याधि है। आरम्भ में (रोग की तरुणावस्था में) यह औषधियों द्वारा ठीक हो जाती है (साध्य है) पर बढ़ जाने पर शल्यकर्म कर निकाल देना ही एक मात्र उपाय है ॥ ३ ॥

तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते। तेनास्यापचयं यान्ति व्याधेर्मूलान्यशेषतः ॥ ४ ॥

पूर्वरूप में स्नेहादि कर्म—रोग की पूर्वरूप अवस्था (Prodromal stage) में स्नेहादि कर्मों द्वारा व्याधि समूल नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

विमर्श— एक आयरिश शल्यचिकित्सक कहा करता था—'Please God, when you take me, may it not be through the bladder.' 'अश्मरी दारुणो व्याधिः' (सु.)।

पाषाणभेदो वसुको वशिराश्मन्तकौ तथा। शतावरी श्वदंष्ट्रा च बृहती कण्टकारिका ॥ ५ ॥
कपोतवङ्काऽऽर्तगलः कच्चकोशीरकुञ्जकाः। वृक्षादनी भल्लुकश्च वरुणः शाकजं फलम् ॥ ६ ॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि कतकस्य फलानि च। ऊषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथैर्घृतं कृतम् ॥ ७ ॥
भिनत्ति वातसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु।

वातिक अश्मरीहर घृत—(यहाँ उन योगों का उल्लेख है जिनके प्रयोग से दोष-दूष्य रूप व्याधिमूल नष्ट हो जाते हैं—) वातिक अश्मरी को नष्ट करने वाला योग—पाषाणभेद, वसुक (बकपुष्पम्/ *Osmanthus fragrans*), वशिर ('मर्कटसंज्ञस्तृणजातिविशेषः, सूर्यावर्तभेद इत्यन्ये'), अश्मन्तक ('अम्ललोटः कोविदारसदृशपत्रकः'), शतावरी, गोखरू, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, कपोतवङ्का ('कटभीसदृशपत्रः विटपी मध्यदेशे प्रसिद्धः'), आर्तगल (''ककुभकः सुगन्धिमूलः 'कौहा' इति नाम्ना पूर्वदिशे प्रसिद्धः''), कच्चक (''मध्यरेखानिचितः ऋजुकपत्र ईषद्रक्तमूलः 'कवहक' इति मालवे प्रसिद्धः''), उशीर (खश), कुञ्जक (गुञ्जा), वृक्षादनी (बन्दाकः), सोनापाठा, वरुण, शाकज फल ('शाकः कर्कशमसृणपृष्ठोदरपत्रो वृक्षः तस्य फलम्'), जौ, कुलत्थ, बदर, कतक फल (अम्बुप्रसादनं शशकशुष्कपुरीषप्रतिमम्)—इन द्रव्यों का क्वाथ बना लें और ऊषकादि गण की औषधियों के कल्क (प्रतीवाप) से घृत सिद्ध करें। यह घृत वातोत्थ अश्मरी को शीघ्र नष्ट करता है ॥ ५-७ ॥

क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च ॥ ८ ॥
भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् वातनाशने।

वातज अश्मरी में क्षारादि का प्रयोग—वातिक अश्मरी को नष्ट करने वाले क्षार (Alkalies), यवागू (Gruels), यूष (Soups), कषाय (Decoctions), दूध तथा भोजन का, जो वातनाशन वर्ग की औषधियों से तैयार किये गये हैं, प्रयोग करना चाहिए ॥ ८ ॥

कुशः काशः सरो गुन्द्रा इत्कटो मोरटोऽश्मभित्॥ ९॥
वरी विदारी वाराही शालिमूलत्रिकण्टकम्। भल्लूकः पाटला पाठा पत्तूरोऽथ कुरुण्टिका॥ १०॥
पुनर्नवा शिरीषश्च क्वथितास्तेषु साधितम्। घृतं शिलाजमधुकबीजैरिन्दीवरस्य च॥ ११॥
त्रपुसैर्वारुकादीनां बीजैश्चावापितं शुभम्। भिनत्ति पित्तसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु॥ १२॥
क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च। भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् पित्तनाशने॥ १३॥

पैत्तिक अश्मरीहर योग—कुशा, कास, सरकण्डा, गुन्द्रा (गोंदपटेर/ *Typha elephantina*), इत्कट (महती खगाली), मोरट (इक्षुमूल), अश्मभित् (पाषाणभेद), शतावरी, विदारीकन्द, वाराहीकन्द, शालि(धान्य)मूल, गोखरू, सोनापाठा, पाढल, पाठा, पत्तूर (शरबालिका), कुरण्टिका (शरबालिकाभेद), पुनर्नवा, सिरस—इनके काढ़े से सिद्ध घृत जिसे शिलाजीत, मुलेठी, बीज (कमल के/ 'इन्दीवरं नीलोत्पलम्'-जेज्जटः), खीरा और ककड़ी के बीज आदि के कल्क से तैयार किया गया हो, पैत्तिक अश्मरी का शीघ्र भेदन करता है। पैत्तिक अश्मरी को नष्ट करने के लिए पित्तहर औषध वर्ग से तैयार किये गये क्षार, यवागू, यूष, कषाय, दूध और आहार का प्रयोग करना चाहिए॥ ९-१३॥

गणो वरुणकादिस्तु गुग्गुल्वेलाहरेणवः। कुष्ठभद्रादिमरिचचित्रकैः ससुराह्वयैः॥ १४॥
एतैः सिद्धमजासर्पिरूषकादिगणेन च। भिनत्ति कफसम्भूतामश्मरीं क्षिप्रमेव तु॥ १५॥
क्षारान् यवागूर्यूषांश्च कषायाणि पयांसि च। भोजनानि च कुर्वीत वर्गेऽस्मिन् कफनाशने॥ १६॥

कफज अश्मरीहर योग—वरुणादि गण की औषधियाँ, गूगल, इलायची, हरेणु (?), कूठ, भद्रदारु आदि औषधियाँ, मरिच, चित्रक और देवदारु इनके क्वाथ में ऊषकादि गण की औषधियों के कल्क से सिद्ध अजा (बकरी) घृत कफोत्पन्न अश्मरी का शीघ्र भेदन करता है॥ १४-१५॥

पथ्य—कफनाशन वर्ग की औषधियों से तैयार किये गये क्षार, यवागू, यूष, कषाय, दूध और भोजन श्लैष्मिक अश्मरी वालों को देना चाहिए॥ १६॥

पिचुकाङ्कोलकतकशाकेन्दीवरजैः फलैः। चूर्णितैः सगुडं तोयं शर्कराशमनं पिबेत्॥ १७॥

शर्कराहर योग—पिचु ('कार्पासफलम् इत्येके'), अंकोल (ढेरा/ *Alangium salvifolium*), निर्मलीबीज, नीलोत्पल फल—इनका चूर्ण बनाकर गुड़ मिलाकर पानी के साथ लेने पर शर्करा का शमन होता है॥ १७॥

क्रौञ्चोष्ट्ररासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका। अजमोदा कदम्बस्य मूलं नागरमेव च॥ १८॥
पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा।

अन्य शर्कराहर योग—क्रौंचपक्षी, ऊँट, गधा इनकी हड्डियाँ तथा गोखरू, तालमूली (मुसली), अजमोद, कदम्ब का मूल और शुण्ठी इनके चूर्ण को शर्करा मिलाकर उष्णजल या सुरा के साथ पीने से अश्मरी का भेदन होता है॥ १८॥

त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम्॥ १९॥
अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत्।

अश्मरीभेदन योग—गोखरू के बीजों का चूर्ण और मधु मिलाकर सात दिन तक भेड़ के दूध के अनुपान से लेने पर अश्मरी का भेदन होता है॥ १९॥

द्रव्याणां तु घृतोक्तानां क्षारोऽविमूत्रगालितः॥ २०॥
ग्राम्यसत्त्वशकृत्क्षारैः संयुक्तः साधितः शनैः। तत्रोषकादिरावापः कार्यस्त्रिकटुकान्वितः॥ २१॥
एष क्षारोऽश्मरीं गुल्मं शर्करां च भिनत्त्यपि।

अश्मरीहर क्षार—वातादि दोषों की अश्मरियों के भेदन के लिए जो घृत बताये हैं उनकी औषधियों के क्षार को भेड़ के मूत्र में छानकर गाय, भैंस आदि ग्राम्य पशुओं के पुरीष के क्षार को मिला लें और इसमें त्रिकटु युक्त ऊषकादि गण का कल्क डालकर पका लें ('ततस्तस्य क्षारोदकस्य पाकसिद्धिसमये चतुर्थांशेनोषकादि-त्रिकटुकयोः समभागेन मिश्रितयोः प्रक्षेपः') । यह क्षार अश्मरी, गुल्म और शर्करा का भेदन करता है ॥ २०-२१ ॥

तिलापामार्गकदलीपलाशयवकल्कजः ॥ २२ ॥
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः ।

अन्य अश्मरीहर क्षार—तिल, अपामार्ग, केला, पलाश (ढाक) और जो के कल्क से निर्मित क्षार को भेड़ के मूत्र के साथ पीने से शर्करा का नाश होता है ॥ २२ ॥

विमर्श— 'तिलादेर्कल्कजातस्य प्रत्येकं क्षारः समोऽविमूत्रपलद्वयेन पेयः । तिलादेः क्षारस्य कर्षद्वयं त्रयं वा अविमूत्रेण षड्गुणेन बहुशः स्रावितं पूतं पेयम्' (ड.) ।

पाटलाकरवीराणां क्षारमेवं समाचरेत् ॥ २३ ॥

पाढल और कनेर का क्षार—इसी प्रकार पाढल और कनेर के क्षार का प्रयोग भी करना चाहिए ॥ २३ ॥

विमर्श— 'एतेन वातकफसम्भूतायामश्मर्यां मधुरक्षीरघृताशिनः क्षारयोगा योज्याः' (ड.) ।

श्वदंष्ट्रायष्टिकाब्राह्मीकल्कं वाऽक्षसमं पिबेत् ।

गोक्षुरयोग—गोखरू, मुहलठी, ब्राह्मी का कल्क (भेड़ के मूत्र से) पीना चाहिए ।

सहैडकाख्यौ पेयौ वा शोभाञ्जनकमार्कवौ ॥ २४ ॥

शोभाञ्जनादि योग—सहिजन और मार्कव (भृंगारक) को एडक (चक्रमर्द) के साथ (भेड़ के मूत्र से) पीने पर अश्मरीभेदन होता है ॥ २४ ॥

कपोतवङ्कामूलं वा पिबेदम्लैः सुरादिभिः । तत्सिद्धं वा पिबेत् क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः ॥ २५ ॥

अश्मरीहर क्षीरपाक—कपोतवङ्का (अभी तक अज्ञात, पर डल्हण के अनुसार—'कपोतवङ्का प्रसिद्धैव') का मूल काञ्जिकादि अम्लद्रव्य या सुरादि (सुरासौवीरकमैरेयकभेदकैः) के साथ अथवा कपोतवंकादि से तैयार किये गये क्षीरपाक को वेदनादि उपद्रव होने पर दें ॥ २५ ॥

हरीतक्यादिसिद्धं वा वर्षाभूसिद्धमेव वा ।

पुनर्नवामूलसिद्ध दुग्ध—वेदनादि उपद्रवों से युक्त पित्तजाश्मरी में हरीतक्यादि सिद्ध अथवा वेदनादि उपद्रवों से युक्त वात-कफजाश्मरी में पुनर्नवामूल सिद्ध दुग्ध दें ।

सर्वथैवोपयोज्यः स्याद्गणो वीरतरादिकः ॥ २६ ॥

वीरतरादि गण की औषधियों के योग—क्षीर, घृत, कषाय, यवागू, भोजन, अवगाहन और स्वेदन आदि के लिए वीरतरादिक गण की औषधियों का प्रयोग करें ॥ २६ ॥

घृतैः क्षारैः कषायैश्च क्षीरैः सोत्तरबस्तिभिः । यदि नोपशमं गच्छेच्छेदस्तत्रोत्तरो विधिः ॥ २७ ॥

शल्यकर्म का प्रयोग—यदि घृतों, क्षारों, काढ़ों, दुग्धों और उत्तरबस्तियों (Bladder washes) से अश्मरी में लाभ न हो तो शल्यकर्म ही एक मात्र उपाय है ॥ २७ ॥

कुशलस्यापि वैद्यस्य यतः सिद्धिरिहाध्रुवा । उपक्रमो जघन्योऽयमतः सम्परिकीर्तितः ॥ २८ ॥

शल्यकर्म को जघन्य कर्म कहने में हेतु—अश्मरी के शल्यकर्म में कुशल शल्यहर्ता के लिए भी सफलता सन्दिग्ध होती है। इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण ही इसे जघन्य कर्म मानकर वर्णन किया जाता है ॥ २८ ॥

अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् । तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा ॥

शल्यकर्म के लिए राजा से आज्ञा—यदि अश्मरी की चिकित्सा न की जाय तो रोगी की मृत्यु निश्चित है और शल्यकर्म करने पर सफलता सन्दिग्ध है। अतः शुभचिन्तक को परिजनों या राजा से इन सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर (आजकल भी परिजनों से लिखवा लेते हैं) शल्यकर्म करना चाहिए॥ २९॥

अथ रोगान्वितमुपस्निग्धमपकृष्टदोषमीषत्कर्षितमभ्यक्तस्विन्नशरीरं भुक्तवन्तं कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनमग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपकल्पितसम्भारमाश्वास्य, ततो बलवन्तमविक्लवमाजानुसमे फलके प्रागुपविष्टान्यपुरुषस्योत्सङ्गे निषण्णपूर्वकायमुत्तानमुन्नतकटीकं वस्त्रधारकोपविष्टं सङ्कुचितजानुकूर्परमितरेण सहावबद्धं सूत्रेण शाटकैर्वा, ततः स्वभ्यक्तनाभिप्रदेशस्य वामपार्श्वं विमृद्य मुष्टिनाऽवपीडयेदधोनाभेर्यावदश्मर्यधः प्रपन्नेति, ततः स्नेहाभ्यक्ते क्लृप्तनखे वामहस्तप्रदेशिनीमध्यमे अङ्गुल्यौ पायौ प्रणिधायानुसेवनीमासाद्य प्रयत्नबलाभ्यां पायुमेढ्रान्तरमानीय, निर्व्वलीकमनायतमविषमं च बस्तिं सन्निवेश्य, भृशमुत्पीडयेत् अङ्गुलिभ्यां यथा ग्रन्थिरिवोन्नतं शल्यं भवति॥ ३०॥

पूर्वकर्म (Preoperative preparations) **का वर्णन**—अब अश्मरी रोगपीड़ित व्यक्ति को स्निग्ध (Oleated) कर तथा दोषों को शान्त कर एवं शरीर भार कुछ कम कर उसका अभ्यङ्ग करें और शरीर का स्वेदन करें। भोजन के उपरान्त बलि, मङ्गल, स्वस्तिवाचन करें तथा 'अग्रोपहरणीय' में बताये गये विधान का पालन करते हुए सभी आवश्यक उपकरणों को एकत्रित करें तथा रोगी को हर तरह से आश्वस्त करें। फिर सशक्त रोगी को जो घबराया हुआ (Nervous/विक्लव) न हो, उसे घुटने तक ऊँचे फलक (काष्ठनिर्मित चौकी) पर पूर्वदिशा की ओर मुँह कर बैठे अन्य पुरुष की गोद में इस प्रकार बिठावें कि उसके (रोगी के) शरीर का ऊर्ध्व भाग दूसरे व्यक्ति की गोद में टिका हो तथा रोगी का कटि भाग वस्त्रधारक (Cushions) पर से ऊपर को उठा हो। रोगी के मुड़े हुए जानु और कोहनियों को एक साथ डोरी या वस्त्र से बाँध दें। तदनन्तर रोगी के नाभिप्रदेश में तेल मलकर तथा वामपार्श्व को मलते हुए नाभि से नीचे की ओर को चिकित्सक अपनी मुट्ठी से तब तक निपीडन करे जब तक अश्मरी नीचे की ओर को न आ जाय। उसके उपरान्त चिकित्सक अपने बायें हाथ की प्रदेशिनी (Index) और मध्यम (Middle) अंगुली के नाखून कटवाकर तथा स्नेह लगा कर (Lubricated) रोगी की पायु (Rectum) में सेवनी के सहारे (Below the perinial raphe) प्रविष्ट कर कौशल और बल से अश्मरी को पायु और मूत्रेन्द्रिय के मध्य में लावें। फिर ब्रस्ति (Bladder) को त्वक्संकोच रहित, निम्नोन्नत रहित और अदीर्घ रखते हुए दोनों अँगुलियों से तीव्रता से अश्मरी को दबावे जिससे वह गाँठ की तरह उभर आवे॥ ३०॥

स चेद्गृहीतशल्ये तु विवृताक्षो विचेतनः। हतवल्लम्बशीर्षश्च निर्विकारो मृतोपमः॥ ३१॥
न तस्य निर्हरेच्छल्यं निर्हरेत्तु म्रियेत सः। विना त्वेतेषु रूपेषु निर्हर्तुं प्रयतेत वै॥ ३२॥

त्याज्य रोगी—इस प्रकार मूत्राशय की अश्मरी को निकालते समय यदि रोगी स्तब्धनेत्र (आँखों का पथरा जाना/Eye become protruding), विचेतन (चेतना रहित/Unconscious) हो जाता है, गर्दन लटक जाती है और निर्विकार (निर्व्यापार/Motionless) हो जाता है तथा मृत जैसा लगता है तो उसकी अश्मरी को न निकालें (Contraindications to surgery)। अगर निकालते हैं तो रोगी की मृत्यु हो जाती है। अन्यथा उपरोक्त लक्षणों के अभाव में अश्मरी निकालने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ३१-३२॥

ततः सव्ये पार्श्वे सेवनीं यवमात्रेण मुक्त्वाऽवचारयेच्छस्त्रमश्मरीप्रमाणं, दक्षिणतो वा क्रियासौकर्यहेतोरित्येके, यथा सा न भिद्यते चूर्ण्यते वा तथा प्रयतेत, चूर्णमल्पमप्यवस्थितं हि पुनः परिवृद्धिमेति, तस्मात् समस्तामग्रवक्त्रेणाददीत; स्त्रीणां तु बस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टः, तस्मात् तासामुत्सङ्गवच्छस्त्रं पातयेत्, अतोऽन्यथा खल्वासां मूत्रस्रावी व्रणो भवेत्; पुरुषस्य वा मूत्रप्रसेकक्षणनान्मूत्रक्षरणम्; अश्मरीव्रणादृते भिन्नो बस्तिरेकधाऽपि न भवति, द्विधा भिन्नबस्ति-

राश्मरिको न सिध्यति, अश्मरीव्रणनिमित्तमेकधाभिन्नबस्तिर्जीवति, क्रियाभ्यासाच्छस्त्रविहितच्छेदात् निःस्यन्दपरिवृद्धत्वाच्च शल्यस्येति। उद्धृतशल्यं तूष्णोदकद्रोण्यामवगाह्य स्वेदयेत्, तथा हि बस्तिरसृजा न पूर्यते, पूर्णे वा क्षीरवृक्षकषायं पुष्पनेत्रेण विदध्यात्॥ ३३॥

प्रधान कर्म (Operative procedure)—इसके पश्चात् सेवनी से बाईं ओर यवमात्र (Barley width) छोड़कर अश्मरी के प्रमाण के बराबर भेदन (Incision) करें। कुछ की सम्मति से यह भेदन दाहिनी ओर अथवा जिधर सुविधा हो करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करें कि अश्मरी न तो टुकड़े-टुकड़े हो और न उसका चूरा ही हो, क्योंकि चूर्ण थोड़ा भी मूत्राशय में रह जाय तो अश्मरी पुनः हो जाती है। अतः अग्रवक्र (Scoope like instrumet) से समस्त अश्मरी को निकालें।

स्त्रियों में शस्त्र-प्रयोग में सावधानी—स्त्रियों में मूत्राशय के समीप ही गर्भाशय होता है। अतः उनमें शस्त्रप्रयोग ऊपर की ओर (Upwards) को करें (पीछे की ओर को/Posteriorly नहीं) अन्यथा स्त्रियों में मूत्रस्रावी व्रण (Urine discharging ulcers) हो जाता है। पुरुषों में भी मूत्रप्रसेक (Trigone of the bladder) के भेदन से मूत्रक्षरण (Leakage of urine) होता रहता है। अश्मरी को निकालने के लिए किये गये भेदन के अतिरिक्त यदि मूत्राशय का भेदन होता है तो यह घातक है। इसी प्रकार दो स्थानों पर भिन्न बस्ति (बस्ति का भेदन) हो तो व्रण ठीक नहीं होता है।

मूत्राशय का एक ही स्थान पर भेदन करें—अश्मरी को निकालने के लिए किये मूत्राशय के एक स्थान पर भेदन से रोगी के जीवन को खतरा नहीं होता है, क्योंकि—१. क्रियाभ्यास (क्रियाणामुष्णोदक-स्वेदक्षीरवृक्षकषाययाजनादीनामभ्यसनं क्रियाभ्यासः तस्मात्') अर्थात् उष्णोदक, स्वेद, क्षीर आदि के प्रयोग के कारण, २. शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर छेदन करने के कारण ('अश्मरीप्रमाणमुखमात्रः सेवनीसव्यपार्श्वगः शास्त्रविहितच्छेदस्तस्मात्'–ड.) और ३. अश्मरी को निकाल देने पर मूत्र के न रुकने से ('निःस्यन्दो मूत्रं तेन परिवृद्धं शल्यं तस्मादित्यर्थः')।

पश्चात्कर्म—शल्य (अश्मरी के निकाल देने के उपरान्त रोगी को उष्णोदक द्रोणी में बिठाकर स्वेदन करायें। ऐसा करने से मूत्राशय में रुधिर एकत्रित नहीं होता है। यदि बस्ति में रक्त भर जाय तो पुष्पनेत्र (Catheter) के प्रयोग द्वारा क्षीरवृक्ष कषायों से मूत्राशय को धो दें॥ ३३॥

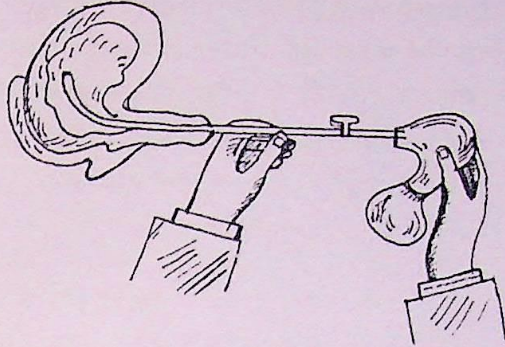
विमर्श— सूत्र (३०-३३) तक मूत्राशयाश्मरी के शल्यकर्म का वर्णन है। एतदर्थ जिस विधि का सुश्रुत ने वर्णन किया है उसका पाश्चात्य जगत् में भी 'Perineal lithotomy' नाम से कुछ समय तक प्रचलन रहा है। पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म की तकनीक में नये-नये सुधार होने, नयी-नयी जानकारी मिलने तथा नये-नये आविष्कारों के कारण यह सौश्रुत विधि छूटती चली गयी और संज्ञाहरण द्रव्यों की उपलब्धि से इसका स्थान मूत्राशय-अश्मरीहरण (Lithotomy) ने ले लिया जिसमें 'जघनसंधानक (Symphysis pubis) से ठीक ऊपर उदर में भेदन कर मूत्राशय से अश्मरी को निकाल लिया जाता है। यह विधि 'अधिजघन मूत्राशय-अश्मरीहरण (Suprapubic lithotomy) कहलाती है।

सम्प्रति इस विधि का भी परित्याग-सा हो गया है और अब 'बस्ति-अश्मरीभञ्जन' (Lithotrity = Lithotripsy = Litholapaxy) की जाने लगी है जिसमें 'बस्ति-अश्मरीभञ्जक (Tithotrite) नामक उपकरण को मूत्रमार्ग (मूत्रप्रसेक) से मूत्राशय में प्रविष्ट कर उसकी सहायता से अश्मरी को अतिसूक्ष्म कणों में चूर्णित कर दिया जाता है और Evacuating cannula के द्वारा उन कणों को आचूषित कर बाहर निकाल लिया जाता है। आचूषण कार्य Bigelow's evacuator' से करते हैं ('In most cases crushing the stone with a lithotrite is highly satisfactory—B.& L.)।

भवति चात्र—

क्षीरवृक्षकषायस्तु पुष्पनेत्रेण योजितः। निर्हरेदश्मरीं तूर्णं रक्तं बस्तिगतं च यत्॥ ३४॥

अश्मरी-चूर्ण को निकालने की विधि—क्षीरवृक्षों के कषाय को पुष्पनेत्र से मूत्राशय में प्रविष्ट कर मूत्राशय में अश्मरी के चूर्ण एवं रक्त को शीघ्र निकाल दें॥ ३४॥



चित्र सं० २७ : मूत्राशयाश्मरी चूर्ण को निकालने की विधि
('निर्हरेदश्मरीं तूर्णम्')

मूत्रमार्गविशोधनार्थं चास्मै गुडसौहित्यं वितरेत्; उद्धृत्य चैनं मधुघृताभ्यक्तव्रणं मूत्रविशोधन-द्रव्यसिद्धामुष्णां सघृतां यवागूं पाययेतोभयकालं त्रिरात्रं; त्रिरात्रादूर्ध्वं गुडप्रगाढेन पयसा मृद्वोदनमल्पं भोजयेत् दशरात्रं (मूत्रासृग्विशुद्ध्यर्थं व्रणक्लेदनार्थं च); दशरात्रादूर्ध्वं फलाम्लैर्जाङ्गलरसैरुपाचरेत्; ततो दशरात्रं चैनमप्रमत्तः स्वेदयेत् स्नेहेन द्रवस्वेदेन वा; क्षीरवृक्षकषायेण चास्य व्रणं प्रक्षालयेत्, रोध्रमधुकमञ्जिष्ठाप्रपौण्डरीककल्कैर्व्रणं प्रतिग्राहयेत्; एतेष्वेव हरिद्रायुतेषु तैलं घृतं वा विपक्वं व्रणाभ्यञ्जनमिति; स्त्यानशोणितं चोत्तरबस्तिभिरुपाचरेत्; सप्तरात्राच्च स्वमार्गमप्रतिपद्यमाने मूत्रे व्रणं यथोक्तेन विधिना दहेदग्निना, स्वमार्गप्रतिपन्ने चोत्तरबस्त्यास्थापनानुवासनैरुपाचरेन्मधुरकषायैरिति; यदृच्छया वा मूत्रमार्गप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसाऽपहरेत्, एवं चाशक्ये विदार्य वा नाडीं शस्त्रेण बडिशेनोद्धरेत्। रूढव्रणश्चाङ्गनाश्वनगनागरथद्रुमान्नारोहेत वर्षं, नाप्सु प्लवेत, भुञ्जीत वा गुरु॥ ३५॥

आहारादि व्यवस्था (Postoperative management)—मूत्रमार्ग के विशोधनार्थ गुड़सौहित्य (गुडयुक्त आहार/Treacle) दें। उष्णोदक द्रोणी में से उसे बाहर निकाल कर व्रण पर मधु-घृत लगावें और खाने को प्रातः-सायं तीन दिन तक मूत्रविशोधन द्रव्यों ('तृणपञ्चमूलीगोक्षुरककूष्माण्डकपाषाणभेद-प्रभृतीनि') से सिद्ध घृतयुक्त उष्ण यवागू दें। उसके बाद (मूत्रशुद्धि, रक्तशुद्धि और व्रणक्लेदन के लिए) दस दिन तक गुडबहुल दूध तथा मृदु-ओदन (चावल) थोड़ी मात्रा में दें। दस दिन के पश्चात् अम्ल फलों के साथ जांगल प्राणियों का मांसरस दें। उसके पश्चात् दस दिन तक रोगी का स्नेहन द्रव्यों या द्रव पदार्थों से सावधानीपूर्वक स्वेदन करें। व्रणप्रक्षालन के लिए क्षीरवृक्षकों ('वटोदुम्बराश्वत्थप्लक्षगर्दभाण्डाः') के कषाय (क्वाथ) का प्रयोग करें। लोध्र, मुलहठी, मंजीठ और प्रपोण्डरीक (?) के कल्क से व्रण का लेपन करें। इन्हीं लोध्रादि द्रव्यों में हरिद्रा मिलाकर तैल या घृत में पकाकर व्रण का अभ्यंग करें। यदि मूत्राशय में जमा हुआ रक्त हो तो उसे उत्तरबस्ति से निकाल दें। यदि सात दिन तक मूत्र अपने मार्ग से न आ रहा हो तो व्रण का पूर्व वर्णित विधि के अनुसार अग्नि (Fire cautery) से दहन कर दें। यदि मूत्र अपने स्वाभाविक मार्ग से आ रहा हो तो मधुर द्रव्यों (काकोल्यादि) के कषायों से उत्तरबस्ति, आस्थापन और अनुवासन बस्तियों द्वारा उपचार करें। यदि अश्मरी या शर्करा स्वतः ही स्वमार्ग में फँस गयी (Get impacted) हो तो उसे स्रोतोमार्ग (Through the natural passage) से निकालें। यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो नाड़ी (मूत्रमार्ग) का भेदन कर बडिश (Hook) से उन्हें निकाल लें।

त्याज्य—व्रण के रोहण हो जाने से लेकर एक वर्ष तक स्त्रीप्रसंग (Sexual intercourse); घोड़ा, हाथी, रथ की सवारी, वृक्ष पर चढ़ना, पहाड़ पर चढ़ना, पानी में तैरना और भारी अन्न का सेवन न करे॥ ३५॥

मूत्रवहशुक्रवहमुष्कस्रोतोमूत्रप्रसेकसेवनीयोनिगुदबस्तीनष्टौ परिहरेत्। तत्र मूत्रवहच्छेदान्मरणं मूत्रपूर्णबस्तेः, शुक्रवहच्छेदान्मरणं क्लैब्यं वा, मुष्कस्रोतउपघाताद् ध्वजभङ्गः, मूत्रप्रसेकक्षणनात् मूत्रप्रक्षरणं, सेवनीयोनिच्छेदात् रुजः प्रादुर्भावः, बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति॥ ३६॥

मूत्राशय-अश्मरीहरण के शल्यकर्म के समय सावधानियाँ (Precautions)—शल्यकर्म करते समय निम्नलिखित आठ रचनाओं को बचाना चाहिए—१. मूत्रवह स्रोत (Urinary passages), २. शुक्रवह स्रोत (Seminal passages), ३. मुष्कवह स्रोत (Testicular channels), ४. मूत्रप्रसेक (Urethra), ५. सेवनी (Perineal raphe), ६. योनि (Vagina), ७. गुद (Rectum) और ८. बस्ति (Urinary bladder); इनके क्षतिग्रस्त होने पर निम्नलिखित व्यापत्तियाँ आती हैं—१. मूत्रवह स्रोत के क्षतिग्रस्त होने पर बस्ति के मूत्र से पूर्ण होने से मृत्यु। २. शुक्रवह स्रोत के क्षतिग्रस्त होने पर मृत्यु या क्लैब्य (Impotency)। ३. मुष्कवह स्रोत के क्षतिग्रस्त होने पर ध्वजभङ्ग होता है। ४. मूत्रप्रसेक के क्षतिग्रस्त होने पर मूत्रक्षरण होते रहना। ५. सेवनी के क्षतिग्रस्त होने पर वेदना तथा ६. योनि के क्षतिग्रस्त होने पर भी वेदना होती है। ७. बस्ति और ८. गुद के क्षतिग्रस्त होने पर इनके विद्ध होने के लक्षण पूर्व में वर्णित किये जा चुके हैं॥ ३६॥

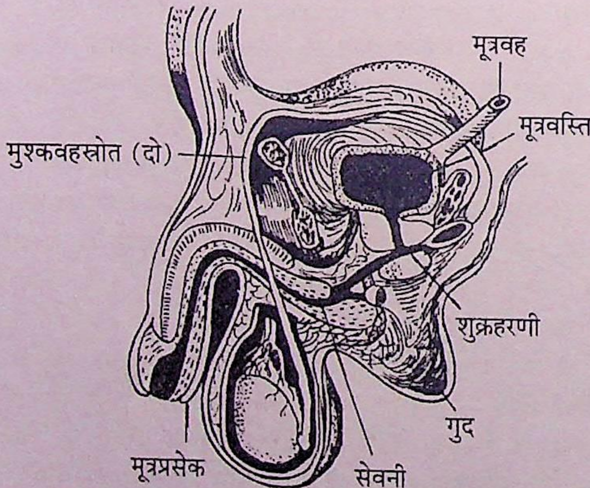
भवतश्चात्र—

मर्माण्यष्टावसम्बुध्य स्रोतोजानि शरीरिणाम्। व्यापादयेद्बहून्मर्त्यान् शस्त्रकर्मापटुर्भिषक्॥ ३७॥
सेवनी शुक्रहरणी स्रोतसी फलयोर्गुदम्। मूत्रसेकं मूत्रवहं योनिर्बस्तिस्तथाऽष्टमः॥ ३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽश्मरीचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥



मर्माष्टक की सुरक्षा—शस्त्रकर्म में अकुशल शल्यचिकित्सक मनुष्यों के स्रोतों के इन आठ मर्मों को न जानने के कारण बहुत लोगों को मार देता है। ये आठ मर्म हैं—१. सेवनी, २. शुक्रहरणी, ३. फलस्रोत, ४. गुदस्रोत, ५. मूत्रप्रसेक, ६. मूत्रवह स्रोत, ७. योनि और ८. बस्ति॥ ३७-३८॥



चित्र सं० २८ : मूत्राशयाश्मरी के शल्यकर्म में आठ अवयवों की सुरक्षा
('सेवनी शुक्रहरणी·······योनिर्बस्तिस्तथाष्टमः')

मूत्राशयाश्मरी का सौश्रुत शल्यकर्म
(Perineal Lithotomy)

पूर्वकर्म (Pre-operative preparations)	प्रधानकर्म (Operative procedure)	पश्चात्कर्म (Postoperative management)
उपस्निग्ध, अपकृष्ट दोष, कुछ कर्षित, अभ्यक्त रोगी, भुक्तवान्, स्वस्तिवाचन के बाद, उपकल्पित सम्भार, बलवान् परिचारक की गोद में इस प्रकार बिठावें कि उत्तान, उन्नतकटिक, शाटक से कूर्पर, जानु को बाँध दें, नाभि के नीचे अभ्यंग-पीड़न जिससे अश्मरी नीचे आ जाय, पायु में तर्जनी, मध्यमा को प्रविष्ट कर अश्मरी को पायु-मेढ्र के मध्य ग्रन्थि की तरह उठावें।	सेवनी के पार्श्व में यवमात्र छोड़कर भेदन, अश्मरी टूटने न पाये, अग्रवक्र से निकालें, थोड़ा कण रहने मात्र से अश्मरी पुनः स्त्रियों में गर्भाशय समीप अतः शस्त्र सामने की ओर को चलावें, अन्यथा मूत्रस्रावी व्रण, मूत्रप्रसेक क्षणन से पुरुषों में भी मूत्रस्रावी व्रण, बस्ति दो स्थानों पर न काटें नहीं तो रोहण नहीं, रोगी विवृताक्ष, विचेतन, निर्विकार, मृतवत् हो जाय तो शल्यकर्म न करें। सेवनी, शुक्रहरणी आदि आठ मर्मों को शल्यकर्म के समय बचावें।	शल्यकर्म के बाद रोगी को उष्णोदक द्रोणी में बिठावें, स्वेदन करें, द्रोणी से निकाल कर व्रण पर घृत-मधु लगावें, तीन दिन तक उष्ण यवागू, गुड़ प्रगाढ़ दूध आदि दस दिन तक, तत्पश्चात् मांसरस दस दिन तक, रोगी का स्नेहन, स्वेदन, क्षीरवृक्षकषाय से व्रण-प्रक्षालन, लोध्रादि का व्रण पर लेप, इनसे सिद्ध तैल का अभ्यंग, मूत्राशय में रक्त जम जाय तो उत्तरबस्ति, व्रण से सात दिन के बाद भी मूत्र आवे तो व्रण का अग्नि से दहन, स्वमार्ग से मूत्र आने लगे तो मधुर कषायों से उत्तरबस्ति आदि।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'अश्मरीचिकित्सा' नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ७॥

अध्याय-सारांश

'अश्मरीचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—अश्मरी की औषधसाध्य और शल्यकर्मसाध्य अवस्थाएँ (३), प्रशमनार्थ पूर्वरूप में स्नेहादि क्रम (४), वातिक अश्मरीभेदक घृत (५-७), वातहर क्षार, यवागू, यूषादि का प्रयोग (८), पित्तज अश्मरीभेदक घृत, क्षार, यवागू, यूषादि (१३), कफाश्मरीहर वरुणादि घृत, क्षार, यवागू, यूष, कषायादि (१६), पिचुकादि चूर्ण—शर्करानाशन योग (१७), क्रौंचादि की अस्थियाँ अजमोदादि का सुरा, उष्णोदक से सेवन, शर्कराहर योग (१८), सप्ताह में अश्मरीहर योग (१९), क्षार-घृतोक्त द्रव्यों से बना अश्मरी, गुल्म, शर्करा नाशन (२१), श्वदंष्ट्रादि कल्क अश्मरीहर (२४), कपोतवंकामूलसिद्ध दूध वेदनाहर (२५), वीरतरवादि गण का सेवन सभी में (२६), घृत, क्षीर, कषाय, क्षार, उत्तरबस्तियों आदि से लाभ न हो तो छेदस्तत्रोत्तरो विधिः (२७), शल्यकर्म एक नितान्त कठिन कार्य अतः जघन्य (२८), शल्यकर्म राजा, अभिभावकों को पूछ कर करे (२९), रोगी की शल्यकर्म के लिए तैयारी (३०), शल्यकर्म के लिए अयोग्य अवस्थाएँ (३१-३२), प्रधान कर्म का विवरण (३३), पुष्पनेत्र द्वारा अश्मरीचूर्ण को निकालने की विधि (३४), पश्चात्कर्म का विस्तार से वर्णन (३५), शल्यकर्म के समय आठ मर्मों की रक्षा अन्यथा भिन्न-भिन्न उपद्रव (३६), शस्त्रकर्म में अपटु भिषक् द्वारा इस मर्माष्टक को हानि पहुँचाकर बहुतों की मृत्यु (३७), इन आठ मर्मों के नाम (३८)।

●

अष्टमोऽध्यायः

अथातो भगन्दराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'भगन्दराणां चिकित्सितम्' (The Management of Fistula-in-ano) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

पञ्च भगन्दरा व्याख्याताः, तेष्वसाध्यः शम्बूकावर्तः शल्यनिमित्तश्च; शेषाः कृच्छ्रसाध्याः ॥

भगन्दर-भेद और साध्यासाध्यता—निदानस्थान (अ.४) में भगन्दर पाँच प्रकार के बताये हैं। उनमें शम्बूकावर्त और शल्यनिमित्तजा (Caused by foreign bodies) भगन्दर असाध्य होते हैं और शेष कृच्छ्रसाध्य (Curable with difficulty) हैं ॥ ३ ॥

विमर्श— भगन्दर के पाँच भेद—१. वातिक (शतपोनक), २. पैत्तिक (उष्ट्रग्रीव), ३. श्लैष्मिक (परिस्रावी), ४. त्रिदोषज (शम्बूकावर्त) और ५. आगन्तुज (उन्मार्गी)।

तत्र भगन्दरपिडकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादशविधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापक्वपिडकं, पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाहस्विन्नं शय्यायां सन्निवेश्यार्शसमिव यन्त्रयित्वा, भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा, ततः प्रणिधायैषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेच्छस्त्रेण। अन्तर्मुखे चैवं सम्यग्यन्त्रं प्रणिधाय प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासाद्यैषणीं दत्त्वा शस्त्रं पातयेत्। आसाद्य वाऽग्निं क्षारं चेति; एतत्सामान्यं सर्वेषु। विशेषतस्तु—॥ ४ ॥

पक्वापक्व भगन्दर की चिकित्सा—जो व्यक्ति भगन्दरपिड़का (Ano-rectal abscess) से पीड़ित हो उसकी पिड़का के पकने से पहले (In unsuppurated stage) व्रणचिकित्सा (अ. १ सूत्र १०) में बताये गये अपतर्पण से विरेचन तक के ग्यारह उपक्रमों से चिकित्सा करनी चाहिए। यदि पिड़का पक गयी हो ('चकारेण भिन्नेषु चेति द्रष्टव्यम्'–ड.) तो रोगी को स्नेहन कर (Oleation) और उष्ण जल में बिठाकर (Immersion in warm water) अवगाह स्वेदन करने के बाद बिस्तर पर लिटाकर अर्शःप्रकरण में वर्णित विधि से अर्शोरोगी की तरह यन्त्रित करें (लिथोटोमी स्थिति) और भगन्दर की परीक्षा करे कि वह पराचीन (बहिर्मुख/Opens externally) है या अर्वाचीन (अन्तर्मुख/Opens internally); तत्पश्चात् एषणी नामक शलाका (Probe) को पराचीन भगन्दर में प्रविष्ट कर तथा पूयमार्ग को ऊपर उठाकर तेजधार वाले शस्त्र से सम्पूर्ण विकारग्रस्त भाग को काटकर निकाल दें। यदि भगन्दर अर्वाचीन (अन्तर्मुख) हो तो भगन्दरयन्त्र (Rectal speculum) से प्रवाहण करते हुए (When straining) रोगी की गुदा में प्रविष्ट कर भगन्दर के मुख (Opening) का पता लगावें तथा एषणी का प्रयोग कर शस्त्रपातन करें; अथवा अग्नि और क्षार का प्रयोग करें। यह सभी भगन्दरों के लिए सामान्य विधि (General treatment) है। भगन्दर की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं (प्रकारों) की विशिष्ट चिकित्सा का वर्णन आगे किया गया है ॥ ४ ॥

विमर्श—एकदशविधेन—'षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफः तस्यैकादशोपक्रमा भवन्ति अपतर्पणादयो विरेचनान्ताः, ते च विशेषेण शोथप्रतिकारा वर्तन्ते, व्रणमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते' (सु.चि. १।१०)। ये ग्यारह उपक्रम हैं—१. अपतर्पण, २. आलेप, ३. परिषेक, ४. अभ्यंग, ५. स्वेद, ६. विम्लापन, ७. उपनाह, ८. पाचन, ९. विस्रावण, १०. स्नेह, ११. वमन और १२. विरेचन (अपतर्पण सर्वशोफ सामान्य है)।

नाड्यन्तरे व्रणान्कुर्याद्भिषक्तु शतपोनके। ततस्तेषूपरूढेषु शेषा नाडीरुपाचरेत् ॥ ५ ॥

शतपोनक में नाड़ीभेदन क्रम—शतपोनक नामक भगन्दर में पूयमार्गों के मध्य भाग में भेदन करे और उनके भर जाने के बाद शेष नाड़ियों में भी इसी चिकित्साविधि को अपनायें॥५॥

विमर्श— शतपोनक—'शूकदोषपरिपठितो व्याधिः। चालनिकेति जेज्जटाचार्यः। अश्वपुच्छबालरचितं शतपोनकमित्यन्ये'। शतपोनक वातिक भगन्दर है। यह 'अणुमुखैः छिद्रैः आपूर्यते'। **शतपोनकवत्**—'तितउवत्सूक्ष्मद्वारैः छिद्रैः' (अरुणदत्तः; वा.उ. २८।१२)।

गतयोऽन्योऽन्यसम्बद्धा बाह्याश्छेद्यास्त्वनेकधा। नाडीरनभिसम्बद्धा यश्छिनत्त्येकधा भिषक्॥
स कुर्याद्विवृतं जन्तोर्व्रणं गुदविदारणम्। तस्य तद्विवृतं मार्ग विण्मूत्रमनुगच्छति॥७॥
आटोपं गुदशूलं च करोति पवनो भृशम्। तत्राधिगततन्त्रोऽपि भिषङ्मुह्येदसंशयम्॥८॥
तस्मान्न विवृतः कार्यो व्रणस्तु शतपोनके।

शतपोनक की नाड़ियों का अलग-अलग भेदन—शतपोनक भगन्दर के अनेक बाह्य पूयमार्ग जो एक-दूसरे से जुड़े हुए हों (External fistula interconnected with one another) उनका छेदन अलग-अलग करना चाहिए। जो शल्यचिकित्सक आपस में न जुड़े हुए अनेक पूयमार्गों को एक ही भेदन (Incision) से छेदन कर देता है उससे व्रण बहुत चौड़ा (Extensive wound) हो जाता है और गुदा फैल जाती है (Anus being torn open), फिर इस चौड़े मार्ग से मल और मूत्र आने लगते हैं॥ ६-७॥

शतपोनक के शल्यकर्म में व्रण को विवृत न करें—इस (गुदविदारण) से वात प्रकुपित होकर आटोप (आध्मानम्/Meteorism) और गुदशूल (Pain in the anal region) उत्पन्न करता है। इस प्रकार निष्णात शल्यशास्त्री (अधिगततन्त्रः/Experienced surgeon) भी ऐसी अवस्था में निश्चित रूप से मोह को प्राप्त हो जाता है। अतः शतपोनक भगन्दर के शल्यकर्म मे व्रण को विवृत (Open wide) नहीं करना चाहिए (अर्थात् बहुत चौड़ा न करें)॥८॥

व्याधौ तत्र बहुच्छिद्रे भिषजा वै विजानता॥९॥
अर्धलाङ्गलकश्छेदः कार्यो लाङ्गलकोऽपि वा। सर्वतोभद्रको वाऽपि कार्यो गोतीर्थकोऽपि वा॥
सर्वतः स्रावमार्गांस्तु दहेद्वैद्यस्तथाऽग्निना। सुकुमारस्य भीरोर्हि दुष्करः शतपोनकः॥११॥

शतपोनक के विविध शल्यकर्म—शतपोनक नामक व्याधि में जिसमें पूयमार्गों के अनेक छिद्र होते हैं उसमें शल्यकर्म में कुशल विद्वान्—१. अर्धलांगलक, २. लांगलक, ३. सर्वतोभद्रक और ४. गोतीर्थक प्रकार के भेदन करता है। इस स्थान के स्राव मार्गों का पूरी तरह निरीक्षण करने के बाद शल्यचिकित्सक अग्नि से दहन कर देता है। (इस प्रकार की कष्टप्रद चिकित्सा के कारण) सुकुमार (Delicate) और भीरु (Timid) व्यक्तियों के शतपोनक भगन्दर की चिकित्सा करना कठिन कार्य है॥ ९-११॥

विमर्श— १. अर्धलांगलक—लांगल 'हल' का नाम है। आधे हल की आकृति का भेदन 'अर्धलाङ्गलक' कहलाता है। २. **लांगलक** नामक भेदन पूरे हलके आकार जैसा होता है (Plough shaped); ३. **सर्वतोभद्रक** नामक भेदन वह है जिसकी आकृति आसन या पर्यंक जैसी होती है (मण्डलाकारो वा/Circular incision) और ४. **गोतीर्थक** भेदन टेढ़ा-मेढ़ा (Semicircular/'गच्छतो गोर्मूत्रगतिसदृशः') होता है। डल्हण ने तन्त्रान्तर का उद्धरण दिया है—'द्वाभ्यां समाभ्यां पार्श्वाभ्यां छेदो लाङ्गलकोमतः। ह्रस्वमेकतरं यच्च सोऽर्धलाङ्गलकः स्मृतः॥ सेवनी वर्जयित्वा तु चतुर्धा दारिते गुदे। सर्वतोभद्रकं छेदमाहुः छेदविदो जनाः॥ पार्श्वागतेन छिद्रेण छेदो गोतीर्थको भवेत्'।

रुजास्रावापहं तत्र स्वेदमाशु प्रयोजयेत्। स्वेदद्रव्यैर्यथोद्दिष्टैः कृशरापायसादिभिः॥१२॥
ग्राम्यानूपौदकैर्मांसैर्लावाद्यैर्वाऽपि विष्किरैः। वृक्षादनीमथैरण्डं बिल्वादिं च गणं तथा॥१३॥
कषायं सुकृतं कृत्वा स्नेहकुम्भे निषेचयेत्। नाडीस्वेदेन तेनास्य तं व्रणं स्वेदयेद्भिषक्॥१४॥

पश्चात्कर्म—प्रधान कर्म के पश्चात् वेदना और स्राव को दूर करने वाला स्वेदन (Fomentation) तुरन्त करना चाहिए। एतदर्थ पूर्व वर्णित स्वेदन द्रव्य, कृशरा, पायसादि का प्रयोग करें। इसी प्रकार ग्राम्य (Domestic), आनूप (Swampy) तथा औदक (Aquatic) प्राणियों का मांस, लावा आदि या विष्किर श्रेणी के पक्षियों का मांस स्वेदनार्थ प्रयुक्त करें; अथवा वृक्षादनी (बन्दाकः), एरण्ड, बिल्वादि गण की औषधियों के क्वाथ को तेल पीये हुए घड़े (Oily pitcher) में भरकर शल्यचिकित्सक नाड़ीस्वेद (Through the tubular instrument) से व्रण का स्वेदन करे॥ १२-१४॥

तिलैरण्डातसीमाषयवगोधूमसर्षपान्। लवणान्यम्लवर्गं च स्थाल्यामेवोपसाधयेत्॥ १५॥
आतुरं स्वेदयेत्तेन तथा सिध्यति कुर्वतः।

स्वेदन द्रव्य—रोगी का स्वेदन तिल, एरण्ड, अतसी, माष, जौ, गेहूँ, सरसों, पाँच लवण तथा अम्लवर्ग के द्रव्यों को खुले बर्तन में पका कर करें। इससे सफलता मिलती है॥ १५॥

स्विन्नं च पाययेदेनं कुष्ठं च लवणानि च॥ १६॥
वचाहिङ्ग्वजमोदं च समभागानि सर्पिषा। मार्द्वीकेनाथवाऽम्लेन सुरासौवीरकेण वा॥ १७॥
ततो मधुकतैलेन तस्य सिञ्चेद्भिषग् व्रणम्। परिषिञ्चेद्गुदं चास्य तैलैर्वातरुजापहैः॥ १८॥
विधिनाऽनेन विण्मूत्रं स्वमार्गमधिगच्छति। अन्ये चोपद्रवास्तीव्राः सिद्ध्यन्त्यत्र न संशयः॥

पानीय द्रव्य—इस प्रकार स्वेदन के उपरान्त रोगी को कूठ, पाँचों नमक, वचा, हींग, अजमोद इन्हें समान मात्रा में लेकर (चूर्ण कर) द्राक्षासव, काँजी, घृत, सुरा या सौवीरक से पीने को दें। तदनन्तर मुलहठी से सिद्ध तैल से रोगी के व्रण का सिंचन करें और गुदा का सिंचन वातिक वेदनाओं को दूर करने वाले तैलों से करें॥ १६-१८॥

पश्चात्कर्म का लाभ—इस प्रकार किये गये पश्चात्कर्म से रोगी के मल-मूत्र अपने मार्ग से आने लगते हैं और अन्य तीव्र उपद्रव भी निःसन्देह ठीक हो जाते हैं॥ १९॥

शतपोनक आख्यात उष्ट्रग्रीवे क्रियां शृणु।

यह शतपोनक (वातिक) भगन्दर की चिकित्सा है। उष्ट्रग्रीव (पैत्तिक) भगन्दर की चिकित्सा का वर्णन इसके बाद किया जा रहा है।

शतपोनक-शल्यकर्म विवरण

पूर्वकर्म	प्रधानकर्म	पश्चात्कर्म
रोगी का स्नेहन और अवगाह स्वेदन करने के उपरान्त शय्या पर अर्शो विधि से यन्त्रित करें और यह जाने कि भगन्दर पराचीन है या अर्वाचीन	पूयमार्गों के मध्य भाग का भेदन करें और व्रणरोहण के बाद अन्य नाड़ियों का भेदन करें पर एक ही लम्बे भेदन से गुदा का व्रण विवृत हो जाता है जिससे गुद विदारण होकर उसमें से मूत्र-पुरीष आने लगते हैं। वायुप्रकोप से आटोप, शूल होते हैं। यहाँ चार प्रकार के भेदन—१. लांगलक, २. अर्धलांगलक, ३. सर्वतोभद्र और ४. गोतीर्थक आवश्यकतानुसार लगाये जाते हैं।	रुजा-स्राव में कृशरादि से स्वेदन, नाड़ीस्वेद (व्रण का), स्थाली स्वेद (रोगी का), तदनन्तर सुरादि से वचादि चूर्ण दें, मधुक तैल से व्रण का सिंचन करें, वातरुजाहर तैल से गुदसिञ्चन करें, ऐसा करने पर मल-मूत्र स्वमार्ग से आने लगते हैं, अन्य भीषण उपद्रव भी ठीक हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

अथोष्ट्रग्रीवमेषित्वा छित्त्वा क्षारं निपातयेत्॥ २०॥
पूतिमांसव्यपोहार्थमग्निरत्र न पूजितः। अथैनं घृतसंसृष्टैस्तिलैः पिष्टैः प्रलेपयेत्॥ २१॥
बन्धं ततोऽनुकुर्वीत परिषेकं तु सर्पिषा। तृतीये दिवसे मुक्त्वा यथास्वं शोधयेद्भिषक्॥ २२॥
ततः शुद्धं विदित्वा च रोपयेत्तु यथाक्रमम्।

ऊष्ट्रग्रीव (पैत्तिक) भगन्दर की चिकित्सा—एषणी द्वारा उष्ट्रग्रीव भगन्दर की स्थिति जानकर शस्त्रप्रयोग से उसका छेदन करें और (गले हुए मांस को नष्ट करने के लिए) क्षारपातन करें। पूतिमांस (Putrid tissues) को अलग करने के लिए यहाँ अग्निकर्म नहीं करना चाहिए। क्षार-प्रयोग के पश्चात् व्रणस्थान पर तिलों को पीसकर तथा घृत मिला कर लेप करें। तदनन्तर बाँध दें ('बन्धोऽप्यत्र चर्मणामन्तश्छिद्रेण गोफणकः') और घी से सिंचन करें। तीसरे दिन बन्धन को हटाकर पित्तापहरण द्रव्यों द्वारा व्रण का शोधन करें और 'व्रण शुद्ध हो गया है' यह जानकर क्रमानुसार रोपण करें ('अस्य चैकनाडीत्वात् छेदविशेषानभिधानम्'–ड.)॥ २०-२२॥

विशेष—उष्ट्रग्रीव में एक ही पूयमार्ग होता है। अतः लांगलक आदि का उल्लेख नहीं है।

उत्कृत्यास्रावमार्गं तु परिस्राविणि बुद्धिमान्॥ २३॥
क्षारेण वा स्रावगतिं दहेद्धुतवहेन वा। सुखोष्णेनाणुतैलेन सेचयेद्गुदमण्डलम्॥ २४॥
उपनाहाः प्रदेहाश्च मूत्रक्षारसमन्विताः। वामनीयौषधैः कार्याः परिषेकाश्च मात्रया॥ २५॥

परिस्रावी (कफज) भगन्दर की चिकित्सा—परिस्रावी ('परितः सर्वतः स्रोतुं शीलं यस्य स परिस्रावी, सर्वतः स्रावमुखः') भगन्दर में स्रावमार्गों को खुरचकर (After scraping the discharging sinuses) बुद्धिमान् चिकित्सक स्रावमार्गों के अनुसार क्षार या अग्नि से दहन करे और सुखोष्ण अणु तैल से गुदमण्डल (Perineal region) का सिञ्चन करे तथा गोमूत्रक्षार युक्त द्रव्यों से उपनाह एवं प्रलेप करे। मदनफलादि वमनीय द्रव्यों के क्वाथ से व्रणस्थान का थोड़ा-थोड़ा सिंचन करे॥ २३-२५॥

मृदुभूतं विदित्वैनमल्पस्रावरुगन्वितम्। गतिमन्विष्य शस्त्रेण छिन्द्यात् खर्जूरपत्रकम्॥ २६॥
चन्द्रार्धं चन्द्रचक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम्। छित्त्वाऽग्निना दहेत् सम्यगेवं क्षारेण वा पुनः॥ २७॥
ततः संशोधनैरेवं मृदुपूर्वैर्विशोधयेत्।

परिस्रावी भगन्दर के शल्यकर्म—जब उपरोक्त उपायों से व्रण मृदु हो जाय तथा स्राव एवं वेदना अल्प हो जायें तो मध्यस्थ प्रधानभूत पूयमार्ग को आवश्यकतानुसार—१. खर्जूरपत्रक (खजूर के पत्र सदृश भेदन/An incision of the shape of a palm-leaf), २. चन्द्रार्ध (आधे चाँद जैसा भेदन/Semilunar), ३. चन्द्रचक्र (पूरे चाँद जैसा भेदन/Circular like a full moon), ४. सूचीमुख (सुई के मुख जैसा सूक्ष्म भेदन/Pin-pointed) तथा ५. अवाङ्मुख (अधोमुख/Like an inverted cone) में से आवश्यकतानुसार छेदन कर अग्नि से दहन कर दें या वहाँ क्षारपातन करें। तदनन्तर पहले मृदुशोधनों का प्रयोग करना चाहिए, तत्पश्चात् तीक्ष्ण शोधन करें॥ २६-२७॥

बहिरन्तर्मुखश्चापि शिशोर्यस्य भगन्दरः॥ २८॥
तस्याहितं विरेकाग्निशस्त्रक्षारावचारणम्।यद्यन्मृदु च तीक्ष्णं च तत्तत्तस्यावचारयेत्॥ २९॥

बालकों के भगन्दर का क्रियासूत्र—बालकों में भगन्दर बहिर्मुख हो या अन्तर्मुख उनमें विरेचन, अग्नि, शस्त्र और क्षार का प्रयोग अहितकर होता है। अतः उनमें उस विधि का प्रयोग करना चाहिए जो न अतिमृदु हो और न अतितीक्ष्ण ('मृदु च तीक्ष्णं चेति परस्परविरोधवचनेन नातिमृदु नातितीक्ष्णं चावचारणीयम्, नात्युष्णशीता यथा काकमाची')॥ २८-२९॥

आरग्वधनिशाकालाचूर्णं मधुघृताप्लुतम्। अग्रवर्तिप्रणिहितं व्रणानां शोधनं हितम्॥ ३०॥
योगोऽयं नाशयत्याशु गतिं मेघमिवानिलः।

व्रणशोधन वर्ति—अमलतास, हलदी और काला ('अहिंस्रा, काकादनी, वायसतुण्डिका'–ड.) के चूर्ण को मधु और घृत से तर कर अग्रवर्ति (Suppository) बना लें। इसे व्रण में रखने से व्रण की शुद्धि होती है। यह योग पूयमार्गों को उसी तरह शीघ्रता से नष्ट करता है जैसे हवा के चलने से बादल मिट जाते हैं॥ ३०॥

आगन्तुजे भिषङ्नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नतः॥ ३१॥
जाम्ब्वोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया। दहेद्यथोक्तं मतिमांस्तं व्रणं सुसमाहितः॥ ३२॥
कृमिघ्नं च विधिं कुर्याच्छल्यानयनमेव च।

आगन्तुज (उन्मार्गी) भगन्दर की चिकित्सा—आगन्तुज भगन्दर (Fistula due to foreign bodies) हो तो चिकित्सक यत्नपूर्वक शस्त्र से व्रण (नाडी) को खुरच (Scrape) कर जाम्ब्वोष्ठ या शलाका को आग की तरह लाल कर पूर्ववर्णित विधि के अनुसार उससे व्रण का दहन कर देता है। तत्पश्चात् कृमियों (Organisms) को नष्ट करने तथा शल्य हो तो उसे निकालने की व्यवस्था करे॥ ३१-३२॥

प्रत्याख्यायैष चारभ्यो वर्ज्यश्चापि त्रिदोषजः॥ ३३॥

भगन्दर की साध्यासाध्यता—आगन्तुज भगन्दर की असाध्यता जताकर चिकित्सा करे किन्तु त्रिदोषज भगन्दर को चिकित्सा की दृष्टि से त्याज्य जाने॥ ३३॥

एतत् कर्म समाख्यातं सर्वेषामनुपूर्वशः। एषां तु शस्त्रपतनाद् वेदना यत्र जायते॥ ३४॥
तत्राणुतैलेनोष्णेन परिषेकः प्रशस्यते।

भगन्दरों की वेदना की शान्ति के लिए सर्वसामान्य उपाय—यह चिकित्सा कर्म सामान्य रूप से सभी प्रकार के भगन्दरों में व्यवहृत है। भगन्दर में शस्त्रप्रयोग के पश्चात् होने वाली वेदना की शान्ति के लिए कुछ गरम किये अणु तैल से सिंचन करना चाहिए॥ ३४॥

वातघ्नौषधसम्पूर्णां स्थालीं छिद्रशराविकाम्॥ ३५॥
स्नेहाभ्यक्तगुदस्तप्तामध्यासीत सबाष्पिकाम्। नाड्या वाऽस्याहरेत् स्वेदं शयानस्य रुजापहम्॥
उष्णोदकेऽवगाह्यो वा तथा शाम्यति वेदना।

बाष्प स्वेदन एवं अवगाहन—भद्रदारु, एरण्ड आदि वातहर औषधियों के क्वाथ को एक छिद्रवाले ढक्कन से ढक दें। फिर रोगी की गुद में वातहर तैल लगाकर उसे इस प्रकार बिठावें कि छिद्र में से निकलने वाली भाप से व्रण का स्वेदन हो सके (Steam fomentation) अथवा रोगी को (कपड़ा ओढवाकर) लिटा दें और उपरोक्त क्वाथ की भाप को नाड़ी (Tube) की सहायता से व्रण तक ले जाकर स्वेदन करें। अथवा गरम जल के टब में रोगी को बिठाकर 'उष्णोदक-अवगाहन' (Sitz bath) करावें। इस प्रकार शस्त्र-निपातजन्य वेदना शान्त हो जाती है ('वाष्पस्वेदस्तु कर्तव्यो वायौ रक्तपित्तसमन्वितौ'–ड.)॥ ३५-३६॥

कदलीमृगलोपाकप्रियकाजिनसम्भृतान्॥ ३७॥
कारयेदुपनाहांश्च शाल्वणादीन् विचक्षणः।

उपनाह स्वेदन—विद्वान् चिकित्सक वात-कफज वेदना में कदली मृग ('पूर्वदिशे प्रायशः शबलो दृष्टः, स तु बृहत्तमबिडालसमो व्याघ्राकारो बिलेशयः'), लोपाक (लोमड़ी/लांगलक = शृगालभेदः), प्रियक ('अजगरप्रायः श्लक्ष्णो दीर्घः')—इनकी खाल से या शाल्वण से व्रण का उपनाहन करें॥ ३७॥

कटुत्रिकं वचाहिङ्गुलवणान्यथ दीप्यकम्। पाययेच्चाम्लकौलत्थसुरासौवीरकादिभिः॥ ३८॥

वेदनाहर शुण्ठ्यादि चूर्ण—शुण्ठी, मरिच, पिप्पली (त्रिकटु), वच, हींग, लवण, अजमोद (दीप्यकम्)—इनके चूर्ण को काञ्जिक, कुलत्थ क्वाथ, सुरा और सौवीरकादि से पिलाने पर गुद-कोष्ठगत वेदना शान्त होती है॥ ३८॥

ज्योतिष्मतीलाङ्गलकीश्यामादन्तीत्रिवृत्तिलाः। कुष्ठं शताह्वा गोलोमी तिल्वको गिरिकर्णिका॥
कासीसं काञ्चनक्षीर्यौ वर्गः शोधन इष्यते।

भगन्दरक्षत के लिए शोधन (Purification of fistulae) **वर्ग**—ज्योतिष्मती (मालकांगनी/कुंकुम-मर्दनिका), लांगली (कलिहारी/कलिकारिका), श्यामा (निशोथ/त्रिवृद्विशेषः), दन्ती, त्रिवृत्, तिल, कूठ, सौंफ, गोलोमी (दूर्वा), पठानी लोध (पट्टिकालोध्र), अपराजिता (श्वेतस्यन्दा), कासीस, कांचन क्षीरियाँ ('एकं कंकुष्ठं, अन्या यवतिक्ता पीतदुग्धा') यह 'शोधनवर्ग' है (इसका कषायादि के रूप में व्रणप्रक्षालनादि में प्रयोग होता है)॥ ३९॥

त्रिवृत्तिला नागदन्ती मञ्जिष्ठा पयसा सह॥ ४०॥
उत्सादनं भवेदेतत् सैन्धवक्षौद्रसंयुतम्।

त्रिवृत् आदि लेप—निशोथ, तिल, नागदन्ती (दन्तिनी) और मंजीठ के चूर्ण को दूध, लवण और मधु के साथ पीसकर व्रण पर लेप करने से व्रण का उत्सादन (Filling up the wound) होता है ('पयसा सह इत्यत्र सर्पिषा सहेति केचित्पठन्ति')॥ ४०॥

रसाञ्जनं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठानिम्बपल्लवाः॥ ४१॥
त्रिवृत्तेजोवतीदन्तीकल्को नाडीव्रणापहः। कुष्ठं त्रिवृत्तिला दन्ती मागध्यः सैन्धवं मधु॥ ४२॥
रजनी त्रिफला तुत्थं हितं स्याद्व्रणशोधनम्।

शोधन योग—(निम्न दोनों योग व्रण का शोधन-रोपण करते हैं—) **(१) नाड़ीव्रणहर योग**—रसौत, दोनों हल्दियाँ, मंजीठ, नीम के पत्र, निशोथ, तेजोवती (तेजबल) और दन्ती का कल्क (कल्को दृशदि पेषितः) नाड़ीव्रण को ठीक करता है। **(२) कुष्ठादि शोधन योग**—कूठ, निशोथ, तिल, दन्ती, पीपल, सेंधानमक और मधु, हल्दी, त्रिफला, नीलाथोथा इनका कल्क व्रणशोधन करता है॥ ४१-४२॥

मागध्यो मधुकं रोध्रं कुष्ठमेलाहरेणवः॥ ४३॥
समङ्गा धातकी चैव सारिवा रजनीद्वयम्। प्रियङ्गवः सर्जरसः पद्मकं पद्मकेसरम्॥ ४४॥
सुधा वचा लाङ्गलकी मधूच्छिष्टं ससैन्धवम्। एतत् सम्भृत्य सम्भारं तैलं धीरो विपाचयेत्॥
एतद्धि गण्डमालासु मण्डलेष्वथ मेहिषु। रोपणार्थं हितं तैलं भगन्दरविनाशनम्॥ ४६॥

भगन्दरनाशन तैल—पीपल, मुलहठी, पठानीलोध, कूठ, एला, हरेणु, समंगा (मंजीठ/गणिकारिका, वराहक्रान्तेत्यपरे), धाय, सारिवा, दोनों हल्दियाँ, प्रियंगु, राल, पद्माख, पद्मकेसर, सेहुण्ड, वच, कलिहारी, मोम और सेंधानमक—इनसे विद्वान् वैद्य तैलपाक करें (''स्नेहचतुर्थांशो भेषजकल्कः, स्नेहचतुर्गुणो द्रवः; द्रवोऽत्र पानीयम्—'अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्' इत्युक्तत्वात्'')। यह तैल गण्डमाला (Cervical adenitis), मण्डल और भगन्दर तथा प्रमेह व्रणों (पिडका) के रोपण के लिए हितकर है॥ ४३-४६॥

न्यग्रोधादिगणश्चैव हितः शोधनरोपणे। तैलं घृतं वा तत्पक्वं भगन्दरविनाशनम्॥ ४७॥

न्यग्रोधादिगण की औषधियों से बने कषायादि व्रण के शोधन एवं रोपण के लिए हितकर हैं। इन औषधियों से सिद्ध घृत तथा तैल भगन्दरहर हैं॥ ४७॥

त्रिवृद्दन्तीहरिद्रार्कमूलं लोहाश्वमारकौ। विडङ्गसारं त्रिफला स्नुह्यर्कपयसी मधु॥ ४८॥
मधूच्छिष्टसमायुक्तैस्तैलमेतैर्विपाचयेत्। भगन्दरविनाशार्थमेतद्योज्यं विशेषतः॥ ४९॥

भगन्दरहर त्रिवृदादि तैल—निशोथ, दन्ती, हलदी, आक की जड़, अगुरु, कनेर, विडंग, त्रिफला, थोहर और आक का दूध, मधु तथा मोम इनको मिलाकर तैलपाक करें। यह तैल विशेष रूप से भगन्दरहर है॥ ४८-४९॥

चित्रकार्कौ त्रिवृत्पाठे मलपूं हयमारकम्। सुधां वचां लाङ्गलकीं सप्तपर्णं सुवर्चिकाम्॥ ५०॥
ज्योतिष्मतीं च सम्भृत्य तैलं धीरो विपाचयेत्। एतद्धि स्यन्दनं तैलं भृशं दद्याद्भगन्दरे॥ ५१॥
शोधनं रोपणं चैव सवर्णकरणं तथा। द्विव्रणीयमवेक्षेत व्रणावस्थासु बुद्धिमान्॥ ५२॥

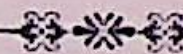
स्यन्दन तैल—चित्रक, आक, निशोथ, पाठा, काकोदुम्बर, कनेर, थोहर, वच, कलिहारी, सप्तपर्ण, स्वर्जिक्षार (सज्जीखार), मालकांगनी—इन्हें इकट्ठा कर विद्वान् वैद्य तैल सिद्ध करे। इस 'स्यन्दन' तैल को भगन्दर में प्रचुरता से प्रयुक्त करें। यह व्रण का शोधन एवं रोपण करता है और व्रण रोहण होने पर क्षतांक का रंग समीपस्थ त्वचा के समान (सवर्णकरण) करता है। व्रणचिकित्सा में द्विव्रणीय नामक अध्याय (चि.१) में वर्णित विधि के अनुसार व्रणों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का विचार कर विद्वान् वैद्य को व्यवस्था करनी चाहिए॥ ५०-५२॥

छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठमर्शोयन्त्रस्य यन्त्रवित्। ततो भगन्दरे दद्यादेतदर्धेन्दुसन्निभम्॥ ५३॥

भगन्दर और अर्श के यन्त्रों में भेद—अर्शोयन्त्र के छिद्र से ऊपर के ओष्ठभाग (Lip) को हटा देने से जो अर्धचन्द्राकार (Semilunar in shape) यन्त्र बनता है वह यन्त्रवेत्ताओं के अनुसार भगन्दर यन्त्र है। उसका भगन्दर में आवश्यकतानुसार प्रयोग करें॥ ५३॥

व्यायामं मैथुनं कोपं पृष्ठयानं गुरूणि च। संवत्सरं परिहरेदुपरूढव्रणो नरः॥ ५४॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने भगन्दरचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥



भगन्दर में सावधानियाँ (Precautions)—व्रण के भर जाने के बाद एक वर्ष तक भगन्दरपीड़ित व्यक्ति व्यायाम, मैथुन, क्रोध, घोड़े आदि की सवारी और भारी अन्न का सेवन न करे॥ ५४॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'भगन्दरचिकित्सा' नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ८॥



अध्याय-सारांश

'भगन्दरचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—पाँच प्रकार के भगन्दर में शम्बूकावर्त तथा शलनिमित्तज को असाध्य बताकर शेष को कृच्छ्रसाध्य कहा है (३), अपतर्पणादि विरेचनान्त ग्यारह उपक्रमों का पक्व एवं अपक्व भगन्दरी पिड़का में उपयोग, बहिर्मुख भगन्दर की शल्यकर्म विधि, अन्तर्मुख में यन्त्रप्रणिधान, एषणी की सहायता से शस्त्रपातन, अग्नि, क्षार प्रयोग, सर्वसामान्य उपचार (४), शतपोनक में शस्त्रपातन विधि (५), भगन्दर के शतपोनक (वातिक) भेद में बहुत बड़े भेदन से गुदविदारण का भय (६-७), इससे मल-मूत्र का आना, अर्धलांगलक, लांगलक आदि चार प्रकार के भेदन (९-१०)।

वेदना और स्राव रोकने के उपाय, व्रण का कृशरादि से स्वेदन, नाड़ीस्वेद, स्थाली (Tub) में गरम क्वाथ डालकर आतुर का स्वेदन (१२-१५), स्वेदनोपरान्त कुष्ठादि को सुरा, काँजी से पिलाना (१७), व्रणसिंचन (१८)।

उष्ट्रग्रीव में—भेदन कर क्षारपातन, अग्निकर्म, तिलादि का लेप, घृतपरिषेक, शोधन फिर रोपण (२०-२२)।

परिस्रावी में—क्षारपातन या अग्निकर्म, सुखोष्ण अणुतैल से सिंचन, उपनाह, प्रदेह, परिषेक (२५), खर्जूरपत्रक आदि भेदनों (Incisions) का विवरण (२७), शिशुओं के भगन्दर की चिकित्सा में मृदु-तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग (२९), व्रणशोधन के लिए अग्रवर्ति प्रणिधान (३०)।

आगन्तुज भगन्दर में शल्य हो तो उसके निकालने के बाद अग्निकर्म कृमिघ्न विधि (३२)।

शस्त्रपातन के उपरान्त वेदना की शान्ति के लिए उष्ण अणु तैल सिंचन, नाड़ीस्वेद, उष्णोदक अवगाहन (३४-३६), लोपाकादि की खाल से स्वेदन या शाल्वण स्वेद (३७), भगन्दर शोधन ज्योतिष्मती आदि द्रव्य, त्रिवृत्तिलादि से उत्सादन, रसांजनादि मागध्यादि व्रणशोधन (४३-४६), शोधन रोपणार्थ न्यग्रोधादिगण (४७), स्यन्दन तैल (५०-५२), भगन्दर यन्त्र वर्णन (५३)।

व्रणरोहण के उपरान्त एक वर्ष तक व्यायामादि का परित्याग (५४)।



नवमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'कुष्ठचिकित्सितम्' (The Management of the Skin Diseases/Including Leprosy) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विरुद्धाध्यशनासात्म्यवेगविघातैः स्नेहादीनां च अयथारम्भैः पापक्रियया पुराकृतकर्मयोगाच्च त्वग्दोषा भवन्ति ॥ ३ ॥

त्वक्-दोषों के हेतु—त्वक्-दोष (Diseases of the skin) निम्नलिखित कारणों से होते हैं—१. विरुद्ध-आहार (Contraindicatory diets) का सेवन, २. अध्यशन (पहले भुक्त आहार के पाक से पूर्व पुनः आहार करना), ३. असात्म्य (Incompatible/जो अपने अनुकूल न हो) आहार, ४. मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना, ५. स्नेहादि का विधिपूर्वक उपयोग न करना, ६. पूर्वजन्मकृत कर्म तथा ७. पापकर्म (Sinful actions) ॥ ३ ॥

तत्र त्वग्दोषी मांसवसादुग्धदधितैलकुलत्थमाषनिष्पावेक्षुपिष्टविकाराम्लविरुद्धाध्यशनाजीर्ण-विदाह्यभिष्यन्दीनि दिवास्वप्नं व्यवायं च परिहरेत् ॥ ४ ॥

निषिद्ध (Contraindications) **आहार एवं विहार** (Regimen)—त्वग्रोगपीड़ित व्यक्ति को चाहिए कि वह मांस, वसा, दूध, दही, तैल, कुलत्थ, उड़द, निष्पाव (राजशिम्बी), गन्ने की बनी भोज्य वस्तुएँ, पिष्टविकार (आटे के बने पदार्थ), अम्ल पदार्थ, विरुद्धाहार, अध्यशन, अजीर्ण, विदाही एवं अभिष्यन्दी भोजन, दिवास्वप्न और व्यवाय (मैथुन) का सेवन न करे ॥ ४ ॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोरदूषश्यामाकोद्दालकादीननवान् भुञ्जीत मुद्गाढक्योरन्यतरस्य यूषेण सूपेन वा निम्बपत्रारुष्करव्यामिश्रेण, मण्डूकपर्ण्यवल्गुजाटरूषकरूपिकापुष्पैः सर्पिःसिद्धैः सर्षपतैलसिद्धैर्वा, तिक्तवर्गेण वाऽभिहितेन; मांससात्म्याय वा जाङ्गलमांसममेदस्कं वितरेत्, तैलं वज्रकमभ्यङ्गार्थे; आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे; पानपरिषेकावगाहादिषु च खदिरकषायम्, इत्येष आहाराचारविभागः ॥ ५ ॥

सेवनीय (Beneficial) **आहार-विहार**—शालि चावल, साठी के चावल, जौ, गेहूँ, कोरदूष (कोदों), साँवक, उद्दालक (अरण्यकोद्रवः) आदि का मूँग या अरहर के यूष या सूप के साथ सेवन करे; या नीम और भिलावे के पत्रों के चूर्ण के साथ लें; या मण्डूकपर्णी (ब्राह्मीभेदः), अवल्गुज (वाकुची), अडूसा, और आक (रूपिका) के फूलों से सिद्ध घृत या सरसों के तैल से प्रयोग करें; या (प्रपुन्नाटावल्गुजपटोलवार्ताकादि पूर्व वर्णित) तिक्तवर्ग के साथ शालिषष्टिकादि का सेवन करे।

जिस रोगी को मांस सात्म्य हो (यद्यपि त्वक्-दोषी को मांससेवन निषिद्ध है) उसे मेद रहित जांगल प्राणियों का मांस दे। अभ्यंगार्थ सप्तपर्ण-करञ्जादि से बना वज्रक तैल का प्रयोग करें। उत्सादनार्थ (निम्नव्रणस्योन्नतिकरणम्) आरग्वधादि कषाय (कल्कश्चूर्णं वा योग्यतया) को प्रयोग में लायें। खदिर कषाय का उपयोग पान, परिषेक और अवगाहन (Irrigation and immersion) के लिए करें। यह त्वग्दोषी के आहाराचार का विवरण है ॥ ५ ॥

तत्र पूर्वरूपेषूभयतः संशोधनमासेवेत। तत्र त्वक्सम्प्राप्ते शोधनालेपनानि, शोणितप्राप्ते संशोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनानि, मांसप्राप्ते शोधनालेपनकषायपानशोणितावसेचनारिष्टमन्थप्राशाः, चतुर्थकर्मगुणप्राप्तं याप्यमात्मवतः संविधानवतश्च, तत्र संशोधनाच्छोणितावसेचनाच्चोर्ध्वं भल्लातशिलाजतुगुग्गुल्वगुरुतुवरकखदिरासनायस्कृतिविधानमासेवेत; पञ्चमं नैवोपक्रमेत् ॥ ६ ॥

पूर्वरूपावस्था में उपचार—पूर्वरूपावस्था (Prodromal stage) में दोनों ओर (वमन और विरेचन) का संशोधन करें। यदि दोष त्वक् (अर्थात् रस; त्वग्सम्प्राप्ते रसप्राप्ते रसस्य तात्स्थ्यात्) स्थित हो तो शोधन-लेपनादि से उपचार करें। यदि दोष रक्तगत हो गये हों तो संशोधन, आलेपन, कषायपान और शोणित-मोक्षण करें। मांसगत होने पर शोधन, आलेपन, कषायपान, रक्तमोक्षण, मन्थ, आसवारिष्ट, अवलेहों के द्वारा चिकित्सा करें। यदि दोष (रस, रक्त, मांस के बाद) चतुर्थ कर्म गुण प्राप्त अर्थात् मेदोधातुगत हैं और रोगी आत्मवान् ('आत्मगुणोत्पन्नस्य, आत्मगुणाश्च सर्वमते पुंसां निरन्तररूपाः शौचाचाराः अमङ्गलकार्येषु अपस्पृहा इति, अथवा आत्मवतः अपथ्यपरिहारपरायणस्य सम्यक् आहाराचारस्य इत्यर्थः') तथा संविधानवान् ('परिच्छदवतः कर्मानुष्ठानपरस्य') है तो रोग याप्य है। ऐसे रोगी को संशोधन एवं रक्तावसेचन के पश्चात् भिलावा, शिलाजीत, गूगल, अगर, तुवरक, खदिर, असन का सेवन और 'अयस्कृतिविधान' (आगे वर्णित, चि.अ. १० का ११वाँ सूत्र) का पालन करें। अस्थि आदि में स्थित दोषों की चिकित्सा न करें॥ ६॥

विमर्श— चतुर्थकर्मगुणप्राप्तम्—'चतुर्थमेदसि स्थितं कुष्ठं चतुर्थं, तस्य कुष्ठस्य कर्माणि गुणाश्च दौर्गन्ध्योपदेहपूयादयस्तैः प्राप्तं युक्तं याप्यम्' (ड.)।

भल्लातादि—'तत्र भल्लातकमर्शो निर्दिष्टम्, शिलाजतुमाक्षिकधातुतुवरकविधानं प्रमेहापिडकाचिकित्सितनिर्दिष्टम्, खदिरासनायस्कृतिविधानं महाकुष्ठविधावुपदिष्टम्' (ड.)।

तत्र प्रथममेव कुष्ठिनं स्नेहपानविधानेनोपपादयेत्। मेषशृङ्गीश्वदंष्ट्राशार्ङ्गेष्टागुडूचीद्विपञ्चमूली-सिद्धं तैलं घृतं वा वातकुष्ठिनां पानाभ्यङ्गयोर्विदध्यात्, धवाश्वकर्णककुभपलाशपिचुमर्दपर्पटकमधुकरोध्रसमङ्गासिद्धं सर्पिः पित्तकुष्ठिनां, पियालशालारग्वधनिम्बसप्तपर्णचित्रकमरिचवचाकुष्ठसिद्धं श्लेष्मकुष्ठिनां भल्लातकाभयाविडङ्गसिद्धं वा, सर्वेषां तुवरकतैलं भल्लातकतैलं वेति॥ ७॥

कुष्ठ की वातादि के अनुसार चिकित्सा—कुष्ठपीड़ित को आरम्भ में ही स्नेहपान विधि से उपचार करना चाहिए ('वमनादिशोधनाङ्गस्यैव स्नेहस्य पानविधानेन न पुनः स्वतन्त्रस्य, कुष्ठस्य रूक्षणीयत्वात्')। मेढासिंगी, गोखरू, शार्ङ्गेष्टा (काकतिक्ता/'भभुरटा' इति लोके), गिलोय, बृहत् और लघु पञ्चमूल से सिद्ध तैल या घृत का वातिक कुष्ठियों में पान और अभ्यंग के लिए प्रयोग करें। पैत्तिक कुष्ठियों में धव (बाकली), अश्वकर्ण (पूर्व देशे गन्धमुण्डः अश्वत्थसदृशः), ककुभ (अर्जुन/डल्हण ने 'सुगन्धमूलो विटपी' कहा है), ढाक, निम्ब, पर्पटक (पित्तपापड़ा), मुलहठी, लोध्र, समंगा (मंजीठ/'स्पृष्टरोदनिका, लज्जालुरिति लोके'-ड.) इनसे सिद्ध घृत का प्रयोग करें। श्लैष्मिक कुष्ठ में प्रियाल (चिरौंजी, चारः), शाल, अमलतास, नीम, सप्तपर्ण, चित्रक, मरिच, वच और कूठ से सिद्ध घृत (सर्पिरिति पूर्वयोगादनुवर्तते) का या भिलावा, हरीतकी और विडंग से सिद्ध घृत का प्रयोग करें। सभी प्रकार के कुष्ठों में तुवरक तैल अथवा भल्लातक तैल को प्रयोग में लाना चाहिए॥ ७॥

सप्तपर्णारग्वधातिविषेक्षुरपाठाकटुरोहिण्यमृतात्रिफलापटोलपिचुमर्दपर्पटकदुरालभात्रायमाणामुस्ताचन्दनपद्मकहरिद्रोपकुल्याविशालामूर्वाशतावरीसारिवेन्द्रयवाटरूषकषड्ग्रन्थामधुकभूनिम्बगृष्टिका इति समभागाः कल्कः स्यात्, कल्काच्चतुर्गुणं सर्पिः प्रक्षिप्य तद्द्विगुणो धात्रीफल-

रसस्तच्चतुर्गुणा आपस्तदैकध्यं समालोड्य विपचेत्, एतन्महातिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वररक्तपित्तहृद्रोगोन्मादापस्मारगुल्मपिडकासृग्दरगलगण्डगण्डमालाश्लीपदपाण्डुरोगविसर्पषाण्ढ्यकण्डूपामादींश्च शमयेदिति॥ ८॥

महातिक्तक घृत—सप्तपर्ण, अमलतास, अतीस, इक्षुर, पाठा, कुटकी (कटुरोहिणी), गिलोय, त्रिफला, परवल, नीम, पित्तपापड़ा, दुरालभा (धन्वयास), त्रायमाणा (त्रामान), नागरमोथा, चन्दन, पद्माख, हलदी, उपकुल्या (पीपली), इन्द्रायण, मूर्वा, शतावर, सारिवा, इन्द्रयव, अडूसा, वच, मुलहठी, चिरायता और गृष्टिका (गेंठी/*Dioscorea bulbfera*)—इनको समभाग लेकर कल्क कर लें। कल्क से चार गुना घी, से दोगुना आँवलों का रस और इस रस से चौगुना जल मिलाकर पकावें। तैलपाक विधि से तैयार 'महातिक्तक' नामक यह घृत कुष्ठ, विषम ज्वर, रक्तपित्त, हृद्रोग, उन्माद, अपस्मार, गुल्म, पिडका, रक्तप्रदर, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, पाण्डुरोग, विसर्प, षाण्ढ्य (षण्ढभावः), कण्डू, पामा आदि रोगों को शान्त करता है॥ ८॥

त्रिफलापटोलपिचुमन्दाटरूषककटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणापर्पटकाश्चैतेषां द्विपलिकान् भागान् जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भेषजान्यर्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेन्द्रयवचन्दनकिराततिक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, एतत् तिक्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुरोगविसर्पषाण्ढ्यशमनमूर्ध्वजत्रुगतरोगघ्नं चेति॥ ९॥

तिक्तक घृत—त्रिफला, परवल, नीम, अडूसा, कुटकी, धन्वयास, त्रायमाणा, पित्तपापड़ा—ये प्रत्येक दो-दो पल एक द्रोण जल में मिलाकर पकावें और चतुर्थांश शेष रहने पर बने इस कषाय में त्रायमाणा, नागरमोथा, इन्द्रजौ, चन्दन, चिरायता और पीपल प्रत्येक आधा पल का कल्क बनाकर मिला लें और इससे एक प्रस्थ घृत का पाक करे। इस प्रकार बना 'तिक्तक' नामक यह घृत कुष्ठ, विषम ज्वर, गुल्म, अर्श, ग्रहणी दोष, शोफ, पाण्डुरोग, विसर्प और षाण्ढ्य को शान्त करता है और ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों को नष्ट करता है॥ ९॥

अतोऽन्यतमेन घृतेन स्निग्धस्विन्नस्यैकां द्वे तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा सिरा विध्येत्; मण्डलानि चोत्सन्नान्यवलिखेदभीक्ष्णं प्रच्छयेद्वा, समुद्रफेनशाकगोजीकाकोडुम्बरिकापत्रैर्वाऽवघृष्यालेपयेत् लाक्षासर्जरसरसाञ्जनप्रपुन्नाडावल्गुजतेजोवत्यश्वमारकार्ककुटजारेवतमूलकल्कैर्मूत्रपिष्टैः पित्तपिष्टैर्वा, स्वर्जिकातुत्थकासीसविडङ्गागारधूमचित्रककटुकसुधाहरिद्रासैन्धवकल्कैर्वा, एतान्येवावाप्य क्षारकल्पेन निःस्रुते पालाशे क्षारे ततो विपाच्य फाणितमिव सञ्जातमवतार्य लेपयेत्, ज्योतिष्कफललाक्षामरिचपिप्पलीसुमनःपत्रैर्वा, हरितालमनःशिलार्कक्षीरतिलशिग्रुमरिचकल्कैर्वा, स्वर्जिकाकुष्ठतुत्थकुटजचित्रकविडङ्गमरिचरोध्रमनःशिलाकल्कैर्वा, हरीतकीकरञ्जिकाविडङ्गसिद्धार्थकलवणरोचनावल्गुजहरिद्राकल्कैर्वा॥ १०॥

सिरावेधादि का उपयोग—तत्पश्चात् उपरोक्त किसी एक घृत से रोगी का स्नेहन (Oleation) और स्वेदन (Fomentation) करने के उपरान्त एक, दो, तीन, चार या पाँच सिराओं का वेध (Venepuncture) करें। ऊपर उठे मण्डलों (Raised circular patches) को खुरचें या बहुशः पछने लगावें।

विविध लेप—(१) समुद्र झाग, शाक, (सागवान/महाखरपत्रः), गोजी (गोजिह्वा), काकोदुम्बर (कठगूलर) के पत्रों से इन्हें खुरच कर निम्नलिखित द्रव्यों का लेप करें—लाख, राल, रसौत, पनवाड के बीज, अवल्गुज, तेजोवती ('ज्योतिष्मती'-ड.), कनेर, अर्क, कुटज और आरग्वध को गोमूत्र या गोपित्त

में पीस कर लेप करें। अथवा (२) सज्जीखार, नीलाथोथा, कासीस, विडंग, गृहधूम, चित्रक, कुटकी, थोहर, हल्दी और सेंधानमक का कल्क बनाकर लेप करें। (३) इन्हीं द्रव्यों का क्षारविधि से क्षार बनाकर छानकर तथा पलाश क्षार मिलाकर ('क्षारकल्पादिदेशेन तिलनालादिभिरादीपनं षड्गुणोदकस्रावणं च सुवर्चिकातुत्थकासीसादिचूर्णं परिवाप्य क्षारात् द्वात्रिंशत्तमभागप्रमाणेन'–ड.) फाणित (राब) की तरह होने तक पकावें। फिर उतार कर (शीतल होने पर) लेप करें। अथवा (४) ज्योतिष्क (काकमर्दनिका/मालकांगनी) के फल, लाख, मरिच, पीपल और जाती (चमेली) के पत्रों के कल्क का लेप करें। अथवा (५) हरताल, मैनसिल, आक का दूध, तिल, सहिजन और मरिच के कल्क का लेप करें। या (६) सज्जीखार, कूठ, नीलाथोथा, कुडा, चित्रक, विडंग, मरिच, पठानीलोध, मैनसिल इनके कल्क का लेप करें। अथवा (७) हरड़, वृक्षकरंज, विडंग, सफेद सरसों, लवण, गोरोचन, अवगुल्ज (बाकुची) और हलदी के कल्क का लेप करें॥ १०॥

सर्वे कुष्ठापहाः सिद्धा लेपाः सप्त प्रकीर्तिताः।

सभी प्रकार के कुष्ठों को नष्ट करने वाले सफल सात लेपों का वर्णन किया गया है।

वैशेषिकानतस्तूर्ध्वं दद्रूश्वित्रेषु मे शृणु॥ ११॥
लाक्षा कुष्ठं सर्षपाः श्रीनिकेतं रात्रिर्व्योषं चक्रमर्दस्य बीजम्।
कृत्वैकस्थं तक्रपिष्टः प्रलेपो दद्रूघ्नोक्तो मूलकाद्बीजयुक्तः॥ १२॥

दद्रुहर लेप—इसके उपरान्त दद्रु (Ringworm) और श्वित्र के (Leucoderma) लिए विशेष प्रकार के लेपों (Pastes) के बारे में मुझसे सुनो। लाख, कूठ, सरसों, श्रीनिकेत (बिरोजा/नवनीतधूपः, सरलनिर्यास इति) और पनवाड़ के बीजों को समान मात्रा में लेकर रात को पानी में भिगो दें। इनको मट्ठे (Butter milk) में पीसकर तथा मूली के बीजों को भी साथ में पीसकर लेप बनाकर दाद पर लगावें॥ ११-१२॥

सिन्धूद्भूतं चक्रमर्दस्य बीजमिक्षूद्भूतं केशरं तार्क्ष्यशैलम्।
पिष्टो लेपोऽयं कपित्थाद्रसेन दद्रूस्तूर्णं नाशयत्येष योगः॥ १३॥

सिन्धूद्भूतादि लेप—सेंधानमक, पनवाड़ के बीज, गुड़, नागकेशर, रसौत—इनको कपित्थ (कैथ) के रस में पीसकर लेप करने से यह सम्पूर्ण दाद को शीघ्र नष्ट करता है॥ १३॥

हेमक्षीरी व्याधिघातः शिरीषो निम्बः सर्जो वत्सकः साजकर्णः।
शीघ्रं तीव्रा नाशयन्तीह दद्रूः स्नानालेपोद्घर्षणेषूपयुक्ताः॥ १४॥

हेमक्षीर्यादि लेप—स्वर्णक्षीरी, आरग्वध (अमलतास), सिरस, नीम, राल, कुटज, अजकर्ण (महासर्जः)—इनके क्वाथ से स्नान करने, कल्क का लेप करने और सूक्ष्मचूर्ण को तक्र आदि में मिलाकर उद्घर्षण (Rubbing) करने से ये दद्रु को नष्ट करते हैं॥ १४॥

भद्रासंज्ञोडुम्बरीमूलतुल्यं दत्त्वा मूलं क्षोदयित्वा मलप्वाः।
सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं स्फोटाञ्छ्वित्रे पुण्डरीके च कुर्यात्॥ १५॥

भद्रासंज्ञादि सिद्ध जल—भद्रासंज्ञक (बड़ी काकोदुम्बारिका) और मलपू (छोटी काकोदुम्बरिका/कठगूलर) के मूल को पल प्रमाण लेकर छोटे-छोटे टुकड़े कर सोलह गुना जल में पका लें और चतुर्थांश शेष रहने पर उसे उष्णकाल में कोष्ण कर पिलाने से श्वित्र और पुण्डरीक नामक कुष्ठों में स्फोट (Blisters) उत्पन्न हो जाते हैं॥ १५॥

द्वैपं दग्धं चर्म मातङ्गजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः।

द्वैपत्वगादि सिद्ध तैल—द्वैप (चीते या तेंदुए/Panther or Leopard) की खाल अथवा हाथी की खाल की भस्म को विषाणिका से सिद्ध तैल में मिलाकर लेप करें ('तैलमत्र विषाणिकासिद्धम्'–ड.)।

पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन क्षारेणाक्तः श्वित्रमेको निहन्ति।। १६।।

पूतिकीटादि लेप—पूतिकीट को ('शस्यादः वर्षाकाले कर्बुरकः नलिनीति प्रसिद्धः'–ड.; पूर्वदेशे पुण्डालिकेति) अमलतास (वृक्ष) से उत्पन्न क्षार के साथ मिलाकर लेप करने से श्वित्र नष्ट होता है।। १६।।

कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा वैभीतकं तैलमथ द्वितीयम्।
एतत् समस्तं मृदितं प्रलेपाच्छ्वित्राणि सर्वाण्यपहन्ति शीघ्रम्।। १७।।

कृष्णसर्प भस्म लेप—काले रंग के सर्प की भस्म (Ashes) को बहेड़े के तेल में मिलाकर लेप करने से सभी प्रकार के श्वित्र शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।। १७।।

विमर्श— 'कृष्णसर्पो यदि दह्यमानोऽतिकृष्णत्वं गच्छति तदा तच्चूर्णं मसीत्युच्यते, स एव अग्निदह्यमानो यदा शुक्लत्वं गच्छति तदा क्षार इत्युच्यते' (ड.)। अर्थात् जलाने पर यदि कृष्णसर्प का रंग काला हो जाय तो 'मसी' तथा सफेद हो जाय तो 'क्षार' कहलाता है।

अध्यर्धतोये सुमतिस्रुतस्य क्षारस्य कल्पेन तु सप्तकृत्वः।
तैलं शृतं तेन चतुर्गुणेन श्वित्रापहं म्रक्षणमेतदग्र्यम्।। १८।।

कृष्णसर्प भस्मसिद्ध तैल—कृष्णसर्प की भस्म (श्वेत) को डेढ़ गुना जल में घोलकर क्षार की तरह सात बार कपड़े से छान लें। इसे तैल से चार गुना अधिक लेकर दोनों को पकाकर तैल सिद्ध करें। यह तैल उपलेपन (म्रक्षण) करने पर उत्तम (अग्र्य) श्वित्रहर है।। १८।।

घृतेन युक्तं प्रपुनाडबीजं कुष्ठं च यष्टीमधुकं च पिष्ट्वा।
श्वेताय दद्याद्गृहकुक्कुटाय चतुर्थभक्ताय बुभुक्षिताय।। १९।।
तस्योपसंगृह्य च तत् पुरीषमुत्पाचितं सर्वत एव लिम्पेत्।
अभ्यन्तरं मासमिमं प्रयोगं प्रयोजयेच्छ्वित्रमथो निहन्ति।। २०।।

श्वित्रहर कुक्कुटपुरीष लेप—पनवाड़ (चक्रमर्द) के बीज, कूठ और मुलहठी को घी में पीसकर सफेद रंग के घरेलू मुर्गे को खिलावें जो चार समय के आहार के न मिलने से भूखा हो। उसकी विष्ठा को एक मास तक अभ्यन्तर धातुगत तथा स्फोट युक्त पाक को प्राप्त श्वित्र के चारों ओर लेप करने से रोग नष्ट होता है।। १९-२०।।

क्षारे सुदग्धे जलगण्डजे तु गजस्य मूत्रेण बहुस्रुते च।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजस्य।। २१।।
एतद्यदा चिक्कणतामुपैति तदा समस्तं गुटिका विदध्यात्।
श्वित्रं प्रलिम्पेदथ सम्प्रघृष्य तया व्रजेदाशु सवर्णभावम्।। २२।।

श्वित्रहर गुटिका—गजलेण्ड (गजगण्डीरक; नदीपिप्पलिका इत्यन्ये) को अच्छी तरह जलाकर उसकी भस्म को गजमूत्र में घोलकर तथा कई बार छानकर एक द्रोण मात्रा में लें। फिर दसवाँ भाग बाकुचीबीज मिलाकर तब तक पकावें जब तक चिकना (Slimy) और गाढ़ा हो जाय तो इसकी गुटिकाएँ (Pills) बना लें। इस गोली को श्वित्र को अच्छी तरह रगड़ने के बाद लगावें। इससे श्वित्र का रंग पार्श्वस्थ त्वचा के समान (सवर्णभावम्) हो जाता है।। २१-२२।।

कषायकल्पेन सुभावितां तु जलं त्वचा चूतहरीतकीनाम्।
तां ताम्रदीपे प्रणिधाय धीमान् वर्तिं वटक्षीरसुभावितां तु।। २३।।

आदीप्य तज्जातमसीं गृहीत्वा तां चापि पथ्यार्म्भसि भावयित्वा।
सम्प्रच्छितं तद्बहुशः किलासं तैलेन सिक्तं कटुना प्रयाति॥ २४॥

किलासहर लेप—आम और हरड़ के पेड़ की छाल के काढ़े में तथा विद्वान् चिकित्सक बड़ के दूध में रूई की की बत्ती को अच्छी तरह भिगोकर फिर कटु तैल में भिगोवें। तदनन्तर इस बत्ती को ताम्रदीप में रखकर जलावें। इससे जो काजल (मसी/Soot) बनता है उसे इकट्ठा कर हरड़ के काढ़े में भावित करें। इसको कटु तैल में भिगोकर किलास को कई बार खुरचने के बाद उस पर लेप करें॥ २३-२४॥

आवल्गुजं बीजमग्र्यं नदीजं काकाह्वानोडुम्बरी या च लाक्षा।
लौहं चूर्णं मागधी तार्क्ष्यशैलं तुल्याः कार्याः कृष्णवर्णास्तिलाश्च॥ २५॥
वर्तिं कृत्वा तां गवां पित्तपिष्टां लेपः कार्यः श्वित्रिणां श्वित्रहारी।
लेपात् पित्तं शैखिनं श्वित्रहारि ह्रीबेरं वा दग्धमेतेन युक्तम्॥ २६॥

श्वित्रहर लेप द्वय—अवल्गुजा (बाकुची/*Psoralea corylifolia*) के बीज, नदीज (तापीनदी-समुत्थो माक्षिकधातुः/सोनामाखी), काकाह्वानोडुम्बरी (काकसंज्ञोडुम्बरिका/कठगूलर), लाख, लोहभस्म, पीपल, तार्क्ष्यशैल (रसाञ्जन) तथा इन सबके बराबर काले तिल—इन सबको गोपित्त से पीसकर बत्ती बना लें और श्वित्र पर लेप करें। यह श्वित्रहारी लेप है। अथवा ह्रीबेर (सुगन्धबाला) की भस्म को मोर के पित्त में पीसकर लेप करने से भी श्वित्र नष्ट होता है॥ २५-२६॥

तुत्थालकटुकाव्योषसिंहार्कहयमारकाः। कुष्ठावल्गुजभल्लातक्षीरिणीसर्षपाः स्नुही॥ २७॥
तिल्वकारिष्टपीलूनां पत्राण्यारग्वधस्य च। बीजं विडङ्गाश्वहन्त्रोर्हरिद्रे बृहतीद्वयम्॥ २८॥
आभ्यां श्वित्राणि योगाभ्यां लेपान्नश्यन्त्यशेषतः।

तुत्थादि और तिल्वकादि लेप—(१) तुत्थ (नीलाथोथा/Blue vitriol), आल (हरताल), कुटकी, व्योष (सोंठ-मरिच-पीपल), लाल सहिजना (सिंहः), आक, कनेर, कूठ, बाकुची, भिलावा, क्षीरिणी ('अर्कपुष्पम्'–ड.), सरसों, थोहर तथा (२) तिल्वक, नीम, पीलू, आरग्वध के पत्र, विडंग और कनेर के बीज, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, लघु और बृहत् कटेरी (तुत्थ से लेकर थोहर तक तथा तिल्वक से लेकर बृहतीद्वय तक) इन दो योगों का लेप करने से श्वित्र पूर्णतः नष्ट हो जाता है॥ २७-२८॥

वायसीफल्गुतिक्तानां शतं दत्त्वा पृथक् पृथक्॥ २९॥
द्वे लोहरजसः प्रस्थे त्रिफलात्र्याढकं तथा। त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावद्भागौ द्वावसनादपि॥ ३०॥
शिष्टौ च विपचेद्भूय एतैः श्लक्ष्णप्रपेषितैः। कल्कैरिन्द्रयवव्योषत्वग्दारुचतुरङ्गुलैः॥ ३१॥
पारावतपदीदन्तीबाकुचीकेशराह्वयैः। कण्टकार्या च तत्पक्वं घृतं कुष्ठिषु योजयेत्॥ ३२॥
दोषधात्वाश्रितं पानादभ्यङ्गात्त्वग्गतं तथा। अप्यसाध्यं नृणां कुष्ठं नाम्ना नीलं नियच्छति॥

नीलघृत—वायसी (काकमाची), कठगूलर और कुटकी–प्रत्येक सौ प्रस्थ; लोहभस्म दो प्रस्थ, त्रिफला चूर्ण तीन आढक और असन (विजयसार/*Pterocarpus marsupium*) दो आढक—इनको तीन द्रोण ('अपां द्विगुणमात्रा' के अनुसार छः द्रोण) जल में पकावें। जब दो भाग जल शेष रह जाय तब उसमें इन्द्रजौ, त्र्यूषण, दालचीनी, दारु (देवदारु), अमलतास, पारावतपदी ('ईषत् लोहितो हंसपदीभेदः', दन्ती, बाकुची, नागकेसर और कण्टकारी—इनके सूक्ष्म चूर्ण के कल्क को डालकर घृतपाक करें। इस घृत के पान एवं अभ्यंग से दोषाश्रित, धात्वाश्रित असाध्य कुष्ठ भी ठीक हो जाता है। यह 'नीलघृत' कहलाता है॥ २९-३३॥

विमर्श—इस घृतपाक में जल तीन द्रोण बताया है जो 'द्रवद्वैगुण्य' से छः द्रोण लेना चाहिए। असन दो भाग, घृत चार भाग, घी से चतुर्थांश इन्द्रयवादि कल्क डालकर घृत तैयार करें।

त्रिफलात्वक् त्रिकटुकं सुरसा मदयन्तिका। वायस्यारग्वधश्चैषां तुलां कुर्यात् पृथक् पृथक्॥ ३४॥
काकमाच्यर्कवरुणदन्तीकुटजचित्रकात्। दार्वीनिदिग्धिकाभ्यां तु पृथग्दशपलं तथा॥ ३५॥
त्रिद्रोणेऽपां पचेद्यावत् षट्प्रस्थं परिशेषितम्। शकृद्रसदधिक्षीरमूत्राणां पृथगाढकम्॥ ३६॥
तद्वद्घृतस्य तत्साध्यं भूनिम्बव्योषचित्रकैः। करञ्जफलनीलिकाश्यामावल्गुजपीलुभिः॥ ३७॥
नीलिनीनिम्बकुसुमैः सिद्धं कुष्ठापहं घृतम्।
म्रक्षणादङ्गसावर्ण्यं श्वित्रिणां जनयेन्नृणाम्। भगन्दरं कृमीनर्शो महानीलं नियच्छति॥ ३८॥

महानील घृत—त्रिफला की छाल, त्रिकटु, तुलसी, मेंहदी (मदयन्तिका नखादिरागजननी), काकमाची (वायसी) और आरग्वध—प्रत्येक एक तुला प्रमाण; मकोय, आक, वरुण, दन्ती, कुटज, चित्रक, दारुहल्दी और बड़ी कटेरी—प्रत्येक दस पल; इनको तीन द्रोण जल में पकावें जब तक छः प्रस्थ शेष रह जाय। पश्चात् इसमें गोबर का रस, दही, दूध, गोमूत्र और घृत प्रत्येक एक आढक मिलाकर चिरायता, सोंठ, मरिच, पीपल, चित्रक, करञ्जफल, नील, काली निशोथ, अवल्गुज (बाकुची), पीलु, नीलिनी और नीम के फूल इनके कल्क से सिद्ध घृत कुष्ठनाशक है। इस घृत के अभ्यंग से श्वित्र का रंग (व्रण आदि का भी) त्वचा के समान हो जाता है। यह 'महानील' नामक घृत भगन्दर, कृमि और अर्शो रोग को भी नष्ट करता है॥ ३४-३८॥

मूत्रं गव्यं चित्रकव्योषयुक्तं सर्पिःकुम्भे क्षौद्रयुक्तं स्थितं हि।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिभिः पेयमेतत् कुर्याच्चास्मिन् कुष्ठदिष्टं विधानम्॥ ३९॥

श्वित्रहर गोमूत्रादि लेप—गोमूत्र, चित्रक, सोंठ, मरिच, पीपल को मिलाकर घी के घड़े में मधु मिलाकर (मूत्रमधुनी तुल्ये) पन्द्रह दिन रखने के बाद श्वित्रपीड़ित रोगी को पिलावें और (किलास) कुष्ठोक्त नियमों का पालन करावें॥ ३९॥

पूतीकार्कस्नुग्नरेन्द्रद्रुमाणां मूत्रैः पिष्टाः पल्लवाः सौमनाश्च।
लेपः श्वित्रं हन्ति दद्रूव्रणांश्च दुष्टान्यर्शांस्येष नाडीव्रणांश्च॥ ४०॥

श्वित्रहर पूतीकादि लेप—पूतीक (चिरबिल्व या करंज), आक, थोहर, आरग्वध इनके पत्रों को तथा जाती के पत्रों को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से श्वित्र (Leucoderma), दाद, व्रण, दुष्ट अर्श और नाड़ीव्रण ठीक होते हैं॥ ४०॥

अस्मादूर्ध्वं निःस्रुते दुष्टरक्ते जातप्राणं सर्पिषा स्नेहयित्वा।
तीक्ष्णैर्योगैश्छर्दयित्वा प्रगाढं पश्चाद्दोषं निर्हरेच्चाप्रमत्तः॥ ४१॥

दोषनिर्हरणोपाय—इसके बाद इन सामान्य क्रियाओं से लाभ न होने पर दुष्ट रुधिर को निकाल दें तथा रोगी में बलाधान होने पर उसे घृत से स्निग्ध करें और तीक्ष्ण योगों से खूब वमन कराकर सावधानी के साथ शेष दोषों का निर्हरण करें॥ ४१॥

दुर्वान्तो वा दुर्विरिक्तोऽपि वा स्यात् कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्तदेहः।
निःसन्दिग्धं यात्यसाध्यत्वमाशु तस्मात् कृत्स्नान्निर्हरेत्तस्य दोषान्॥ ४२॥

दोषनिर्हरण की आवश्यकता—वमन एवं विरेचन ('अपिशब्दाद् दुष्टशोणितमनिर्ह्रियमाणमपि') के सम्यक् प्रयोग न करने से दोषप्रकोप बढ़कर रोगी के शरीर में फैल जाता है और कुष्ठी शीघ्र ही निःसन्देह असाध्य हो जाता है। अतः कुष्ठी के दोषों का निर्हरण पूरी तरह करें॥ ४२॥

पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान्मासान्मासात् स्रंसनं चापि देयम्।
स्राव्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरल्पं नस्यं दद्याच्च त्रिरात्रात् त्रिरात्रात्॥ ४३॥

शोधन-शोणितावसेचन क्रम—कुष्ठी में वमन प्रति पन्द्रहवें दिन, विरेचन प्रति मास, रक्तावसेचन प्रति छः मास और नस्य प्रति तीसरे दिन कराना चाहिए॥ ४३॥

पथ्या व्योषं सेक्षुजातं सतैलं लीढ्वा शीघ्रं मुच्यते कुष्ठरोगात्।
धात्रीपथ्याक्षोपकुल्याविडङ्गान् क्षौद्राज्याभ्यामेकतो वाऽवलिह्यात्॥ ४४॥

पथ्यादि योग—हरड़, सोंठ, मरिच, पीपल, गुड़—इनको तैल में मिला कर चाटने से कुष्ठरोगों से शीघ्र मुक्ति मिलती है। इसी प्रकार आँवला, हरड़, अक्ष (बहेड़ा), पिप्पली, विडंग इनके चूर्ण को मधु या घृत के साथ चाटने से भी कुष्ठ से मुक्ति मिलती है॥ ४४॥

विमर्श—गुड़-तैल कुष्ठ के हेतु माने गये हैं परन्तु संयोग शक्ति अचिन्त्य होती है। अतः हरीतकी, त्रिकटु के संयोग से गुड़-तैल कुष्ठहर है।

पीत्वा मासं वा पलांशां हरिद्रां मूत्रेणान्तं पापरोगस्य गच्छेत्।
एवं पेयश्चित्रकः श्लक्ष्णपिष्टः पिप्पल्यो वा पूर्ववन्मूत्रयुक्ताः॥ ४५॥

हरिद्रादि का गोमूत्र के साथ प्रयोग—एक पल की मात्रा में हल्दी को गोमूत्र के साथ एक मास तक लेने से पापरोग (कुष्ठ) से छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार चित्रक या पिप्पली के सूक्ष्म चूर्ण को (एक पल मात्रा में एक मास तक) गोमूत्र से लेने पर कुष्ठरोग दूर होता है॥ ४५॥

तद्वत्तार्क्ष्यं मासमात्रं च पेयं तेनाजस्रं देहमालेपयेच्च।
आरिष्टत्वक् साप्तपर्णी च तुल्या लाक्षा मुस्तं पञ्चमूल्यौ हरिद्रे॥ ४६॥
मञ्जिष्ठाक्षौ वासको देवदारु पथ्यावह्नी व्योषधात्रीविडङ्गाः।
साभान्यांशं योजयित्वा विडङ्गैश्चूर्णं कृत्वा तत्पलोन्मानमश्नन्॥ ४७॥
कुष्ठाज्जन्तुर्मुच्यते त्रैफलं वा सर्पिर्द्रोणं व्योषयुक्तं च युञ्जन्।
गोमूत्राम्बुद्रोणसिद्धेऽक्षपीडे सिद्धं सर्पिर्नाशयेच्चापि कुष्ठम्॥ ४८॥
आरग्वधे सप्तपर्णे पटोले सवृक्षके नक्तमाले सनिम्बे।
जीर्णं पक्वं तद्धरिद्राद्वयेन हन्यात् कुष्ठं मुष्कके चापि सर्पिः॥ ४९॥

कुष्ठहर अन्य योग—इसी तरह तार्क्ष्य (रसौत) को (एक पल मात्रा में एक मास तक) गोमूत्र से लेने पर तथा इसका देह पर लेप करने से कुष्ठ में लाभ होता है। • नीम की छाल, सप्तपर्ण, लाख, नागरमोथा, बृहत् तथा लघु पञ्चमूल, हल्दी और दारुहल्दी, मंजीठ, बहेड़ा, वासा, देवदारु, हरड़, चित्रक, त्र्यूषण (सोंठ-मरिच-पीपल), आँवला, विडंग—इनको समान मात्रा में लें और इन सबके बराबर विडंग लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को एक पल की मात्रा में गोमूत्र के साथ एक मास तक सेवन करने से कुष्ठरोग नष्ट होता है। • इसी प्रकार 'त्रैफलं सर्पिः' अर्थात् त्रिफला घृत एक द्रोण में त्रिकटु मिलाकर (समुचित मात्रा में) लेना भी कुष्ठहर है। • एक द्रोण गोमूत्र में यवतिक्ता के कल्क से सिद्ध घृत कुष्ठनाशक है। • आरग्वध, सप्तपर्ण, पटोलपत्र, कुटज, करंज, नीम, हल्दी एवं दारुहल्दी और मोखा इनके कल्क से सिद्ध घृत कुष्ठहर है॥ ४६-४९॥

रोध्रारिष्टं पद्मकं रक्तसारः सप्ताह्वाक्षौ वृक्षको बीजकश्च।
योज्याः स्नाने दह्यमानस्य जन्तोः पेया वा स्यात् क्षौद्रयुक्ता त्रिभण्डी॥ ५०॥

स्नानार्थ योग—लोध्र, नीम, पद्माख, रक्तसार (लालचन्दन), सप्ताह (सप्तपर्ण), बहेड़ा, कुड़ा, विजयसार—इनके शीतल क्वाथ से (अबल और दाहयुक्त बहुपित्तरोगी) को नहलावे। पीने के लिए त्रिभण्डी (त्रिवृता, निशोथ) का क्वाथ मधु मिलाकर दें॥ ५०॥

खादेत् कुष्ठी मांसशा(पा)ते पुराणान् मुद्गान् सिद्धान्निम्बतोये सतैलान्।
निम्बक्वाथं जातसत्त्वः पिबेद्वा क्वाथं वाऽर्कालर्कसप्तच्छदानाम्॥५१॥

मांसक्षरण पर मुद्ग-निम्ब योग—मांससात (मांसक्षरण/Falling of flesh) होने पर कुष्ठी पुराने मूँग को निम्ब क्वाथ में सिद्ध कर तथा तैल मिलाकर खायें (षडङ्गकल्पेन निम्बतोयं परिकल्प्य मुद्गानां साधनम्)। षडंग-विधि—(एक कर्ष द्रव्य को एक प्रस्थ पानी में पकावें और आधा रहने पर प्रयोग में लावें); अथवा जातसत्त्व (जातकृमिः/On the appearance of organisms/कीड़े पड़ गये हों तो) में नीम का क्वाथ पीवे या आक (श्वेत), अलर्क (रक्तपुष्प आक) और सप्तपर्ण के पत्तों का काढ़ा पीवे॥५१॥

जग्धेष्वङ्गेष्वश्वमारस्य मूलं लेपो युक्तः स्याद्विडङ्गैः समूत्रैः।
मूत्रैश्चैनं सेचयेद्भोजयेच्च सर्वाहारान् सम्प्रयुक्तान् विडङ्गैः॥५२॥

कृमिभक्षित अंग पर लेप—कृमियों द्वारा अंग के खाये जाने पर कनेर का मूल और विडंग को गोमूत्र में पीसकर लेप करें। सिंचन के लिए भी गोमूत्र का प्रयोग करें और सभी प्रकार के आहार में विडंग का प्रयोग करें॥५२॥

कारञ्जं वा सार्षपं वा क्षतेषु क्षेप्यं तैलं शिग्रुकोशाम्रयोर्वा।
पक्वं सर्वैर्वा कटूष्णैः सतिक्तैः शेषं च स्याद्दुष्टवत् संविधानम्॥५३॥

कुष्ठहर तैल—कुष्ठव्रण पर लगाने के लिए—१. करञ्जतैल या २. सरसों का तैल या ३. सहिजना और कोशाम्र का तैल प्रयुक्त करें; या ४. सभी कटु, उष्ण और तिक्त द्रव्यों से सिद्ध तैल लगावें। शेष उपचार दुष्ट व्रण की तरह करें॥५३॥

विमर्श— 'करञ्जसर्षपशोभाञ्जनकोशाम्रबीजतैलानि स्वभावतो दुष्टव्रणयोगीनि तानि चापक्वानि एव'।

सप्तपर्णकरञ्जार्कमालतीकरवीरजम्। स्नुहीशिरीषयोर्मूलं चित्रकास्फोतयोरपि॥५४॥
विषलाङ्गलवज्राख्यकासीसालमनःशिलाः। करञ्जबीजं त्रिकटु त्रिफलां रजनीद्वयम्॥५५॥
सिद्धार्थकान् विडङ्गानि प्रपुन्नाडं च संहरेत्। मूत्रपिष्टैः पचेदेतैस्तैलं कुष्ठविनाशनम्॥५६॥
एतद्वज्रकमभ्यङ्गान्नाडीदुष्टव्रणापहम्।

वज्रक तैल—सप्तपर्ण, करञ्ज, अर्क, मालती (जाती), कनेर, थोहर और सिरस की जड़, चित्रक और सारिवा (आस्फोता), विष, कलिहारी, वज्र (द्वितीयसेहुण्डः अभ्रं वा), हीराकसीस, हरताल, मैनसिल, करञ्जबीज, त्रिकटु, त्रिफला, दारुहल्दी और हल्दी, सफेद सरसों, विडंग और पनवाड़ के बीज—इनको इकट्ठा कर गोमूत्र में पीसकर कल्क बना लें। इससे तैलपाक करें। यह 'वज्रक' नामक तैल अभ्यंग करने पर कुष्ठ तथा नाड़ीव्रण एवं दुष्ट व्रणों को नष्ट करता है॥५४-५६॥

सिद्धार्थकः करञ्जौ द्वौ द्वे हरिद्रे रसाञ्जनम्॥५७॥
कुटजश्च प्रपुन्नाडसप्तपर्णौ मृगादनी। लाक्षा सर्जरसोऽर्कश्च सास्फोतारग्वधौ स्नुही॥५८॥
शिरीषस्तुवराख्यस्तु कुटजारुष्करौ वचा। कुष्ठं कृमिघ्नं मञ्जिष्ठा लाङ्गली चित्रकं तथा॥५९॥
मालती कटुतुम्बी च गन्धाह्वा मूलकं तथा। सैन्धवं करवीरश्च गृहधूमं विषं तथा॥६०॥
कम्पिल्लकं ससिन्दूरं तेजोह्वातुत्थकाह्वये। समभागानि सर्वाणि कल्कपेष्याणि कारयेत्॥६१॥
गोमूत्रं द्विगुणं दद्यात्तिलतैलाच्चतुर्गुणम्। कारञ्जं वा महावीर्यं सार्षपं वा महागुणम्॥६२॥
अभ्यङ्गात् सर्वकुष्ठानि गण्डमालाभगन्दरान्। नाडीदुष्टव्रणान् घोरान् नाशयेन्नात्र संशयः॥
महावज्रकमित्येतन्नाम्ना तैलं महागुणम्।

महावज्रक तैल—सफेद सरसों, दोनों करञ्ज (करञ्ज और पूतिकरञ्ज), हल्दी, दारुहल्दी, रसौत, कुड़ा, चक्रमर्द, सप्तपर्ण, मृगादनी (इन्द्रायण), लाख, राल, आक, सारिवा, अमलतास, थोहर, सिरस, तुवरी, कुड़ा, भिलावा, वच, कूठ, विडंग, मंजीठ, कलिहारी, चित्रक, मालती, कड़वी तुम्बी, गन्धाह्वा (शटी, कचूर), मूली, सेंधानमक, कनेर, गृहधूम, विष, कमीला, सिन्दूर, तेजोवती (ज्योतिष्मती), नीलाथोथा—इन सबको समान मात्रा में लेकर पीस लें तथा कल्क बना लें। इस कल्क से दुगुना गोमूत्र और चौगुना तिलतैल या महावीर्य करंज तैल या महागुण सरसों का तैल लें। इस प्रकार सिद्ध किया गया तैल 'महावज्रक' कहलाता है। इससे अभ्यंग करने पर सभी प्रकार के कुष्ठ, गण्डमाला, भगन्दर और भयंकर नाड़ीव्रण नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह तैल महागुणों वाला है॥ ५७-६३॥

पित्तावापैर्मूत्रपिष्टैस्तैलं लाक्षादिकैः कृतम्॥ ६४॥
सप्ताहं कटुकालाब्वां निदधीत चिकित्सकः। पीतवन्तं ततो मात्रां तेनाभ्यक्तं च मानवम्॥ ६५॥
शाययेदातपे तस्य दोषा गच्छन्ति सर्वशः।

कुष्ठहर लाक्षादि तैल—लाक्षा, आरेवत (अमलतास), कुटज, अश्वमार, कट्फलादि आदि औषधियों को (सू. ३८।६४) गोमूत्र में पीसकर और गोपित्त का प्रक्षेप देकर तैल सिद्ध करें; फिर इस तैल को कड़वी तुम्बी में भरकर सात दिन तक रहने दें। तत्पश्चात् चिकित्सक रोगी को उसके अग्निबल के अनुसार मात्रा में इस तैल का पाक करावे और शरीर पर अभ्यंग करावे और धूप में रोगी को तेल के शुष्क होने तक सुलायें। इस प्रकार दोष पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं॥ ६४-६५॥

स्रुतदोषं समुत्थाप्य स्नातं खदिरवारिणा॥ ६६॥
यवागूं पाययेदेनं साधितां खदिराम्बुना।

स्नानार्थ खदिर क्वाथ—इस प्रकार दोषों के बाहर निकल जाने के उपरान्त रोगी को उठावें और खदिर क्वाथ से स्नान करावें तथा खाने को खदिर क्वाथ से सिद्ध यवागू दें॥ ६६॥

एवं संशोधने वर्गे कुष्ठघ्नेष्वौषधेषु च॥ ६७॥
कुर्यात्तैलानि सर्पींषि प्रदेहोद्धर्षणानि च। प्रातः प्रातश्च सेवेत योगान् वैरेचनान् शुभान्॥ ६८॥
पञ्च षट् सप्त चाष्टौ वा यैरुत्थानं न गच्छति।

प्रदेह एवं घर्षणार्थ द्रव्य—इस प्रकार जो संशोधन वर्ग की औषधियों से ('संशोधने वर्गे इति संशोधनशमनीयाध्यायोक्तानि त्रिवृदादीनि कुष्ठघ्नान्यष्टौ') तथा कुष्ठघ्न औषधियों से तैल, घृत आदि तैयार कर उनका विकृत स्थान पर प्रदेह, घर्षण के लिए प्रयोग करें। प्रतिदिन प्रातः उत्तम विरेचन लाने वाले योगों का सेवन करें जिससे पाँच, छः, सात, आठ बार मलत्याग हो। इससे दोष प्रकुपित नहीं होते हैं॥ ६७-६८॥

कारभं वा पिबेन्मूत्रं जीर्णे तत्क्षीरभोजनम्॥ ६९॥
जातसत्त्वानि कुष्ठानि मासैः षड्भिरपोहति।

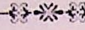
कुष्ठहर योग—करभा (उष्ट्री = ऊँटनी) के मूत्र को पीने से तथा जीर्ण होने पर उसके दूध में बने भोजन का छः मास तक सेवन करने से कृमियुक्त कुष्ठ भी ठीक हो जाता है॥ ६९॥

दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः॥ ७०॥
सर्वथैव प्रयुञ्जीत स्नानपानाशनादिषु।
यथा हन्ति प्रवृद्धत्वात् कुष्ठमातुरमोजसा। तथा हन्त्युपयुक्तस्तु खदिरः कुष्ठमोजसा॥ ७१॥

स्नान-पानादि के लिए खदिर का प्रयोग—यदि कुष्ठी कुष्ठ का अन्त देखना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह खदिर का स्नान, पान, भोजन में पूरी तरह प्रयोग करे। जैसे कुष्ठरोग बढ़कर अपनी तीव्रता से रोगी का अन्त कर देता है उसी प्रकार खदिर अपने प्रभाव ('ओजःशब्देन प्रभावो वीर्यं शक्तिरुच्यते') से कुष्ठ को नष्ट कर देता है॥ ७०-७१ ॥

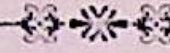
नीचरोमनखः श्रान्तो हिताश्यौषधतत्परः। योषिन्मांससुरावर्जी कुष्ठी कुष्ठमपोहति॥ ७२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने कुष्ठचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥



कुष्ठ को नष्ट करने के उपाय—उस कुष्ठी का कुष्ठ नष्ट हो जाता है, जो नाखूनों और बालों को छोटा रखता है, जो थकान नहीं होने देता है ('प्राक् श्रमात् व्यायामवर्जी स्यात्'–च.), पथ्य का सेवन करता है, कुष्ठहर औषधियों का विधिपूर्वक सेवन करने को तत्पर रहता है और स्त्रीप्रसंग, मांस और मदिरा का सेवन नहीं करता है॥ ७२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'कुष्ठचिकित्सा' नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ९॥



अध्याय-सारांश

'कुष्ठचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—त्वग्दोष के कारण (३), त्वग्दोषी के लिए त्याज्य (४) तथा आहाराचार का विवरण (५), पूर्वरूपावस्था में ही संशोधन की सलाह, आलेपन, रक्तमोक्षण, अरिष्ट, मन्थ, प्राश का सेवन, मेदोगत याप्य, इसके आगे अस्थ्यादिगत असाध्य (६), कुष्ठी को स्नेहपान, सिद्ध तैलों से अभ्यंगादि, सभी के लिए भल्लातक तैल, तुवरक तैल (७), महातिक्तक घृत, तिक्तक घृत (८-९), रक्तमोक्षण, घर्षण, लेपन, विभिन्न प्रकार के लेप (१०), दद्रु, श्वित्र में विशेष प्रकार का लेप (१२), दैप आदि की चर्मभस्म का तैल के साथ लेप (१६), श्वित्र में कृष्णसर्प मसी का प्रयोग (१७), कुक्कुटविष्टा प्रयोग (१९), श्वित्र में लेपार्थ गजलेण्डज गुटिका (२१), दीपमसी योग (२४), वायसी आदि से सिद्ध घृत का पान-अभ्यंगार्थ उपयोग (३०-३३)।

श्वित्र में अंगसावर्ण्य के लिए त्रिफलात्वक्सिद्ध घृत (३८), कुष्ठ में दोषों के पूर्णतः निर्हरण का महत्त्व (४२), छर्दन, स्रंसन, विस्रावण और नस्य में समय का अन्तर (४३), मांसशात होने पर रोगी के लिए आहार (५१), कृमि पड़ गयी हो तो पानीय क्वाथ (५१), जग्धांग होने पर लेप (५३), वज्रक तैल (५६), महावज्रक तैल (६३), स्रुतदोषरोगी को खदिरक्वाथ से स्नान (६६), कारभ (उष्ट्री) मूत्र और दूध का सेवन (६८), स्नान, पान, भोजन आदि में खदिर का बहुलता से प्रयोग कुष्ठहर (७०-७१), कुष्ठप्रतिषेध विधि (७२)।



दशमोऽध्यायः

अथातो महाकुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'महाकुष्ठचिकित्सितम्' (The Management of Serious Skin Diseases Including Serious Types of Leprosy) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श— महाकुष्ठचिकित्सितम्— 'धात्वनुप्रविष्टानि सप्तकुष्ठानि महान्तीति अतो महतां धात्वनुप्रविष्टानां कुष्ठानां चिकित्सितमिति। गयी तु महतां सप्तानां काकणकवर्जितानामित्याह'।

कुष्ठेषु मेहेषु कफामयेषु सर्वाङ्गशोफेषु च दारुणेषु।
कृशत्वमिच्छत्सु च मेदुरेषु योगानिमानग्र्यमतिर्विदध्यात् ॥ ३ ॥

भयंकर त्वग्रोगी, कुष्ठी (Skin diseases and leprosy), दारुण प्रमेहपीड़ित (Urinary disorders), कफ के तीव्र आक्रमण से ग्रस्त, दारुण सर्वांगशोथ (Generalised anasarca) युक्त तथा वे स्थूल (Obese) रोगी जो पतला (Slimy) होना चाहते हैं उनमें अग्र्यमति चिकित्सक (Intelligent clinician/'अग्र्यमतिः = कुशाग्रीयमतिः, प्रकृतिवयोबलशरीरादीनामवस्थान्तराणि यो जानातीत्यर्थः') इन आगे वर्णित योगों का प्रयोग करे ॥ ३ ॥

क्षुण्णान् यवान्निःपूतान् रात्रौ गोमूत्रपर्युषितान् महति किलिञ्जे शोषयेत्, एवं सप्तरात्रं भावयेत् शोषयेच्च; ततस्तान् कपालभृष्टान् शक्तून् कारयित्वा, प्रातः प्रातरेव कुष्ठिनं प्रमेहिणं वा सालसारादिकषायेण कण्टकिवृक्षकषायेण वा पाययेत् भल्लातकप्रपुन्नाडावल्गुजार्कचित्रकविडङ्ग-मुस्तचूर्णचतुर्भागयुक्तान्;

मन्थयोग— यवों (जौ) को कूटकर छिलके रहित (Without husk) कर लें और इन्हें रात को गोमूत्र में भिगोकर दिन में किलिञ्ज (वंशादित्वग्ग्रथितपेटकाकारः/ बाँस की टोकरी) में रखकर सुखा लें। इस प्रकार सात बार करें (भिगोयें और सुखायें), फिर उन्हें कपाल (ठीकरा/Earthen ware) में भूनकर सत्तू बना लें। इन्हें प्रतिदिन प्रातः कुष्ठ या प्रमेह से पीड़ित व्यक्ति को सालसारादि कषाय अथवा कण्टकीवृक्ष कषाय में ('खदिरबदरारिमेदस्नुग्दारुप्रभृतयः') भिलावा, पनवाड़, बाकुची, मदार (अर्क = आक), चित्रक, विडंग, नागरमोथा के चूर्ण को चतुर्थांश मात्रा में मिलाकर पिलायें।

एवमेव सालसारादिकषायपरिपीतानामारग्वधादिकषायपरिपीतानां वा गवाश्वाशकृद्गतानां वा यवानां शक्तून् कारयित्वा भल्लातकादीनां चूर्णान्यावाप्य खदिराशननिम्बराजवृक्षरोहितकगुडूची-नामन्यतमस्य कषायेण शर्करामधुमधुरेण द्राक्षायुक्तेन दाडिमामलकवेतसाम्लेन सैन्धवलवणान्वितेन पाययेत्; एष सर्वमन्थकल्पः ॥ ४ ॥

इसी प्रकार गाय के गोबर में से या घोड़े की लीद में से निकाले गये जौ को सालसारादि गण के क्वाथ या आरग्वधादि गण के क्वाथ में भावना दें। फिर इनके सत्तू तैयार कर लें। इनमें भल्लातकादि के चूर्ण का प्रक्षेप देकर शर्करा एवं मधु से मधुर बना लें और खैर, असन, नीम, अमलतास, रुहेड़ा और गुडूची से किसी एक के क्वाथ में, शर्करा और मधु से मधुर कर द्राक्षा एवं दाडिम, आमलक, वेतसादि अम्ल द्रव्य और सैन्धव नमक मिलाकर पिलावें ('यावताम्ललवणता तावती प्रक्षेपपरिमाणमात्रा')। यह मन्थ बनाने की सर्वसामान्य विधि है ॥ ४ ॥

विमर्श— मन्थ—सत्तू में घी मिलाकर (भूनकर) उसे शीतल जल में इस प्रकार घोलें कि न बहुत गाढ़ा और न बहुत पतला हो। यह मन्थ है।

यावकांश्च भक्ष्यान्धानोलुम्बककुल्माषापूपपूर्णकोशोत्कारिकाशष्कुलिकाकुणावीप्रभृतीन् सेवेत। यवविधानेन गोधूमवेणुयवानुपयुञ्जीत॥५॥

जौ से बनाये गये भोज्य (भक्ष्य) पदार्थ; यथा—धान (शुष्कं भृष्टयवाः/Dried fried barley), उलुम्बक = कच्चे भुने जौ (सरसा भृष्टयवाः/Moist fried barley), कुल्माष (यवपिष्टमयाः अम्लरसस्विन्नाः सगुडादयः), अपूप (स्थूलपूपाः), पूर्णकोश (यवपिष्टमया एव कुष्ठहितशमीधान्यस्विन्नविदलादि-पूर्णकोष्ठाः), उत्कारिका (संयावप्रकाराः), शष्कुली (यवप्रकारेण संस्कृतैस्तिलैर्यवपिष्टेन शष्कुलीकल्पेन विधेयाः) तथा कुणावी (यवपर्पटी) आदि का सेवन करायें। जौ की तरह गेहूँ एवं वेणुयवों (वंशफल) का भी प्रयोग करें॥५॥

विमर्श— कुल्माष = अम्लरस, गुड़ मिली जौ की पिष्टी (पिट्ठी), पूर्णकोश = कचौड़ी। कुणावी = जौ की बनी पपड़ी।

अरिष्टानतो वक्ष्यामः—पूतीकचव्यचित्रकसुरदारुसारिवादन्तीत्रिवृत्त्रिकटुकानां प्रत्येकं षट्पलिका भागा बदरकुडवस्त्रिफलाकुडव इत्येतेषां चूर्णानि; ततः पिप्पलीमधुघृतैरन्तःप्रलिप्ते घृतभाजने प्राक्कृतसंस्कारे सप्तोदककुडवानयोरजोऽर्धकुडवमर्धतुलां च गुडस्याभिहितानि चूर्णान्यावाप्य स्वनुगुप्तं कृत्वा यवपल्ले सप्तरात्रं वासयेत्, ततो यथाबलमुपयुञ्जीत, एषोऽरिष्टः कुष्ठमेहमेदःपाण्डुरोगश्वयथूनपहन्ति। एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ चारिष्टान् कुर्वीत॥६॥

अरिष्ट-वर्णन—इसके उपरान्त कुष्ठहर अरिष्टों का वर्णन किया जायेगा। करञ्ज, चव्य, चित्रक, देवदारु, सारिवा, दन्ती, निशोथ और सोंठ, मरिच, पीपल (त्रिकटु)—प्रत्येक छः पल लें। बेर और त्रिफला प्रत्येक एक कुडव; इनका चूर्ण बना लें। फिर घृतपात्र के अन्दर पिप्पली, मधु और घृत का लेप करें तथा (पात्र को धूप में रखकर) संस्कृत कर लें। तत्पश्चात् सात कुडव जल, लोहभस्म आधा कुडव, गुड़ आधा तुला तथा ऊपर बताये गये द्रव्यों के चूर्ण को परस्पर मिला कर पात्र में भरकर उसे सुरक्षित स्थान में-जौ के ढेर में—सात दिन तक दबाकर रखें। यह अरिष्ट है और इसका उपयोग रोगी के बल आदि के अनुसार करें। यह कुष्ठ, मेह, मेदोरोग, पाण्डुरोग और शोथ को नष्ट करता है। इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि से भी अरिष्ट बनायें॥६॥

आसवानतो वक्ष्यामः—पलाशभस्मपरिस्रुतस्योष्णोदकस्य शीतीभूतस्य त्रयो भागा द्वौ फाणितस्यैकध्यमरिष्टकल्पेन विदध्यात्। एवं तिलादीनां क्षारेषु; शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ मूत्रेषु चासवान् विदध्यात्॥७॥

आसव-वर्णन—इसके बाद आसवों का वर्णन किया जायेगा। पलाश (ढाक) की भस्म को उष्णोदक में घोलकर छान लें और शीतल होने पर इसके तीन भाग तथा फाणित (राब) दो भाग—इसको अरिष्ट विधि से तैयार कर लें (करञ्जादि तथा बदरादि के चूर्ण को घृतभाजन में रखकर गुड़ मिलाकर यवपल्ल में सात दिन रखें)। इसी प्रकार तिलादि क्षारों, शालसारादि, न्यग्रोधादि द्रव्यों से गोमूत्रों में आसव तैयार करें॥७॥

विमर्श— तिलादीनामित्यादि— 'तिलादिरश्मरीपठितः तिलापामार्गकदलीपलाशेत्यादिकः'।

अथ सुरा वक्ष्यामः—शिंशपाखदिरयोः सारमादायोत्पाट्य चोत्तमारणीब्राह्मीकोशातकी-स्तत्सर्वमेकतः कषायकल्पेन विपाच्योदकमाददीत मण्डोदकार्थं किण्वपिष्टमभिषुणुयाच्च यथोक्तम्। एवं सुराः शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च विदध्यात्॥८॥

सुरा-वर्णन—अब सुरा का वर्णन किया जायेगा। शीशम और खदिर का सारभाग (Inner wood), उत्तमारणी (उत्तमकरणी/उतरन/*Pergularia extensa*), ब्राह्मी, कोशातकी (देवदाली)—इनको इकट्ठा कर कषायविधि से पकावें। फिर इस जल (क्वाथ) में सुराबीज (किण्व/Yeast) को पीसकर पूर्ववर्णित (सूत्रस्थान के 'विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय' नामक ४४वाँ अध्याय, श्लोक ३२-३३) विधि के अनुसार सुरा तैयार करें। इसी प्रकार शालसारादि गण न्यग्रोधादि गण और आरग्वधादि गण की औषधियों से भी सुरा तैयार करें॥ ८॥

विमर्श—शीशम और खदिर इनका सार दो भाग, उत्तमारणी आदि एक भाग; इन सबको तुला प्रमाण लेकर चार द्रोण जल में कषाय बनायें। इसमें आवश्यकतानुसार किण्व मिलाकर सुरा का निर्माण करें।

अतोऽवलेहान् वक्ष्यामः—खदिरासननिम्बराजवृक्षशालसारक्वाथे तत्सारपिण्डाच्छ्लक्ष्ण-पिष्टान् प्रक्षिप्य विपचेत्, ततो नातिद्रवं नातिसान्द्रमवतार्य तस्य पाणितलं पूर्णमप्रातराशो मधुमिश्रं लिह्यात्; एवं शालसारादौ न्यग्रोधादावारग्वधादौ च लेहान् कारयेत्॥ ९॥

अवलेह-वर्णन—इसके उपरान्त अवलेहों (Electuaries) का वर्णन किया जायेगा। खदिर, असन, निम्ब, अमलतास और शाल—इनके सारभाग से क्वाथ बनायें। इसमें इन्हीं वृक्षों के सारभाग के सूक्ष्म चूर्ण का प्रक्षेप डालकर इतना पकायें कि न अधिक पतला न अधिक गाढ़ा हो। इसे उतार कर पाणितल प्रमाण (Handful/'यद्यपि पाणितलं कर्षमित्युक्तम्, तथापि पूर्णशब्दात् पाणितलं हस्ततलम् अंगुलिरहितं व्याख्यातम्'–ड.) लेकर अप्रातः अर्थात् सायंकाल मधु मिलाकर चाटें। इसी प्रकार शालसारादि, न्यग्रोधादि, आरग्वधादि गण की औषधियों से भी अवलेह तैयार करें॥ ९॥

अतश्चूर्णक्रियां वक्ष्यामः—शालसारादीनां सारचूर्णप्रस्थमाहृत्यारग्वधादिकषायपरिपीतमने-कशः शालसारादिकषायेणैव पाययेत्; एवं न्यग्रोधादीनां फलेषु, पुष्पेष्वारग्वधादीनां चूर्णक्रियां कारयेत्॥ १०॥

चूर्णक्रिया—अब चूर्णक्रिया का वर्णन किया जायेगा—शालसारादि गण की औषधियों के सारभाग को लेकर उसका चूर्ण बना लें। इस एक प्रस्थ चूर्ण को आरग्वधादि कषाय से अनेक बार भावित करें और शालसारादि के कषाय से रोगी को पिलायें। इसी प्रकार न्यग्रोधादि के फलों और आरग्वधादि के पुष्पों से चूर्ण निर्मित करें॥१०॥

अत ऊर्ध्वमयस्कृतीर्वक्ष्यामः—तीक्ष्णलोहपत्राणि तनूनि लवणवर्गप्रदिग्धानि गोमयाग्निप्रतप्तानि त्रिफलाशालसारादिकषायेण निर्वापयेत् षोडशवारान्, ततः खदिराङ्गारतप्तान्युपशान्ततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेद्घनतान्तवपरिस्रावितानि, ततो यथाबलं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्यनम्लमलवणमाहारं कुर्वीत, एवं तुलामुपयुज्य कुष्ठमेहमेदःश्वयथुपाण्डुरोगोन्मादाप-स्मारानपहत्य वर्षशतं जीवति, तुलायां तुलायां वर्षशतमुत्कर्षः, एतेन सर्वलौहेष्वयस्कृतयो व्याख्याताः॥ ११॥

अयस्कृति-वर्णन—इसके उपरान्त अयस्कृतियों (Iron preparations) का वर्णन किया जायेगा। तीक्ष्णलोह (Hard steel) के पतले पत्र तैयार कर उन पर लवण वर्ग ('सैन्धवसौवर्चलोद्भिदविड-समुद्रलवणादिकल्केन लिप्तानि') का लेप कर उपलों पर रखकर लाल अग्नितप्त (Red hot) कर लें और त्रिफलाशालसारादि कषाय में सोलह बार बुझावें। तदनन्तर उन पत्रों को खैर के अंगारों पर लाल गरम करें और ठण्डा होने के बाद उनका सूक्ष्म चूर्ण बना लें तथा इस चूर्ण को गाढ़े कपड़े में छान लें। इसे रोगी के बल आदि का विचार कर समुचित मात्रा में मधु-घृत के साथ भली प्रकार मिलाकर ('सम्यक् सृष्टिस्तु लौहमयपात्रे लौहदण्डमर्दनेन मधुघृतलोहैः सम्यगेकीभावः') रोगी को चाटने के लिए दें। जीर्ण हो

जाने पर व्याधि के अनुसार अम्ल और लवण रहित आहार दें। इस प्रकार इस चूर्ण को एक तुला प्रमाण प्रयुक्त कर लिया जाय तो कुष्ठ, प्रमेह, मेदोरोग, श्वयथु, पाण्डुरोग, उन्माद, अपस्मार रोगों से छुटकारा मिलता है और सौ वर्ष की आयु होती है। जितने तुला इस चूर्ण का सेवन किया जाता है उतने ही सौ वर्ष की आयु होती है। इसी तरह अन्य लोहों ('त्रपुसीसताम्रसुवर्णेषु अयस्कृतयः') की अयस्कृतियाँ समझनी चाहिए॥ ११॥

विमर्श—तीक्ष्णलोह के पतले पत्र पर लवण वर्ग का लेप कर तथा आग पर लाल कर औषध द्रव्यों के कषाय में बुझाना आदि क्रियाओं से ये इतने भंगुर हो जाते हैं कि इनका कपड़छन चूर्ण मधु से लेने पर आँतों द्वारा आसानी से चूषित हो जाता है।

त्रिवृच्छ्यामाग्निमन्थसप्तलाकेवुकशङ्खिनीतिल्वकत्रिफलापलाशशिंशपानां स्वरसमादाय पालाश्यां द्रोण्यामभ्यासिच्य खदिराङ्गारतप्तमयःपिण्डं त्रिसप्तकृत्वो निर्वाप्य तमादाय पुनरासिच्य स्थाल्यां गोमयाग्निना विपचेत्, ततश्चतुर्थभागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य भूयोऽग्नितप्तान्ययःपत्राणि प्रक्षिपेत्, सिध्यति चास्मिन् पिप्पल्यादिचूर्णभागं द्वौ मधुनस्तावद्घृतस्येति दद्यात्, ततः प्रशान्तमायसे पात्रे स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं शुक्तिं प्रकुञ्चं चोपयुञ्जीत, जीर्णे यथाव्याध्याहारमुपसेवेत। एषौषधायस्कृतिरसाध्यं कुष्ठं प्रमेहं वा साधयति, स्थूलमपकर्षति, शोफमुपहन्ति, सन्नमग्निमुद्धरति, विशेषेण चोपदिश्यते राजयक्ष्मिणां, वर्षशतायुश्चानया पुरुषो भवति। शालसारादिक्वाथमासिच्य पालाश्यां द्रोण्यामयोघनांस्तप्तान् निर्वाप्य कृतसंस्कारे कलशेऽभ्यासिच्य पिप्पल्यादिचूर्णभागं क्षौद्रं गुडमिति च दत्त्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, एतां महौषधायस्कृतिं मासमर्धमासं वा स्थितां यथाबलमुपयुञ्जीत। एवं न्यग्रोधादावारेवतादिषु च विदध्यात्॥ १२॥

औषधायस्कृति—निशोथ, श्यामा (वृद्धदारकः/विधारा), अरनी, सप्तला (यवतिक्ता), केबुक (केबु/*Costus speliosus*), शंखिनी (यवतिक्ताभेदः), तिल्वक (पट्टिकालोध्र), त्रिफला, पलाश और शीशम—इनके स्वरस ('वृद्धवैद्यास्तु क्वाथेऽपि स्वरसशब्दं मन्यन्ते'–ड.) को पलाश की बनी द्रोणी (नौकाकार) में रखें। इसमें खैर के अंगारों पर गरम किये गये लोहपिण्ड (Iron ball) को इक्कीस बार बुझावें। फिर इस स्वरस को पात्र में रख कर उपलों की अग्नि पर पकावें। जब चतुर्थांश शेष रह जाय तो इसे उतार कर छान लें और इसमें गरम किये गये लोहपत्रों (Iron leaves) को बुझावें। तदनन्तर शीतल होने पर इसमें दो भाग पिप्पली चूर्ण और इतना ही मधु एवं घृत मिला दें। इस प्रकार पाक तैयार हो जाने पर उसे लोहपात्र में सुरक्षित रखें। इसको आवश्यकतानुसार शुक्ति (अर्धपलम्) या प्रकुञ्च (पलम्) मात्रा में प्रयुक्त करें। इसके पच जाने पर व्याधि के अनुसार रोगी को आहार दें। यह 'औषधायस्कृति' असाध्य कुष्ठ और प्रमेह को भी ठीक कर देती है। शरीर के स्थौल्य को कम कर देती है, शोथ को शान्त करती है, मन्दाग्नि को दूर करती है, यह राजयक्ष्मियों के लिए विशेष उपयोगी है। इसके सेवन से मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है।

महौषधायस्कृति—इसी प्रकार पलाशद्रोणी में शालसारादि गण की औषधियों के क्वाथ में लोहपिण्ड को गरम कर बुझावें। फिर इसे संस्कार किये हुए कलश में डालकर पिप्पल्यादि चूर्ण, मधु और गुड़ मिलाकर दें तथा सुरक्षित स्थान में कलश को रख दें। इसे पन्द्रह दिन या एक मास तक रखे रहने के बाद रोगी के बलानुसार प्रयोग में लायें। यह महौषधायस्कृति है।

इसी प्रकार न्यग्रोधादि, अमलतास आदि से भी अयस्कृति बनावें॥ १२॥

अतः खदिरविधानमुपदेक्ष्यामः—प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं खदिरं परितः खानयित्वा तस्य मध्यमं मूलं छित्त्वाऽयोमयं कुम्भं तस्मिन्नन्तरे निदध्याद्यथा रसग्रहणसमर्थो भवति, ततस्तं गोमय-

मृदाऽवलिप्तमवकीर्येन्धनैर्गोमयमिश्रैरादीपयेत्, यथाऽस्य दह्यमानस्य रसःस्रवत्यधस्तात्, तद्यदा जानीयात् पूर्णं भाजनमिति, अथैनमुद्धृत्य परिस्राव्य रसमन्यस्मिन् पात्रे निधायानुगुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगं मात्रामामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च, प्रस्थे चोपयुक्ते शतं वर्षाणामायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। खदिरसारतुलामुदकद्रोणे विपाच्य षोडशांशावशिष्टमवतार्यानुगुप्तं निदध्यात्, तमामलकरसमधुसर्पिर्भिः संसृज्योपयुञ्जीत। एष एव सर्ववृक्षसारेषु कल्पः। खदिरसारचूर्णतुलां खदिरसारक्वाथमात्रां वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, खदिरसारक्वाथसिद्धमाविकं वा सर्पिः। अमृतवल्लीस्वरसं क्वाथं वा प्रातः प्रातरुपसेवेत, तत्सिद्धं वा सर्पिः। अपराह्णे ससर्पिष्कमोदनमामलकयूषेण भुञ्जीत; एवं मासमुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुच्यत इति।। १३।।

खदिर-विधान—इसके उपरान्त खदिर-विधान (Procedure of preparing *khadir* compounds) का वर्णन किया जायेगा। अच्छी भूमि में उत्पन्न, कृमियों आदि द्वारा न खाया हुआ और मध्यम आयु के खदिर (खैर) के वृक्ष को चारों ओर से खोदकर उसके बीच की जड़ (मध्यम मूल) को काट दें और उसके नीचे लोहे का पात्र रख दें, जिससे खैर का पानी (रस) पात्र में इकट्ठा होता रहे। तदनन्तर खदिर को मिट्टी और गोबर से लीप दें तथा लकड़ियों और उपलों (Cow dung) से ढककर आग लगा दें। जलते हुए खैर का रस लोहपात्र में एकत्रित होता रहता है। जब पात्र रस से पूर्ण हो जाय तो उसे निकाल कर छानकर दूसरे पात्र में सुरक्षित रख लें। फिर नियमानुसार समुचित मात्रा में आमलक रस, मधु, सर्पिः (घृत) मिलाकर रोगी को दें। इसके जीर्ण हो जाने पर भल्लातक विधान के अनुसार आहार-विहार का सेवन करायें। इस रस का एक प्रस्थ तक सेवन कर लेने पर आयु में सौ वर्ष की वृद्धि होती है। रस के अभाव में खदिर के सारभाग को एक तुला प्रमाण लेकर एक द्रोण जल में सोलहवाँ भाग शेष रहने तक पकावें और उतार कर सुरक्षित रख लें। इसको आमलक रस, मधु, घृत के साथ सेवन करें। यही विधि सभी वृक्षों के सारभाग से रस तैयार करने की है।

खदिरसार चूर्ण एक तुला या खदिरसार क्वाथ की मात्रा को प्रातःकाल सेवन करें। अथवा भेड का घी जिसे खदिरसार क्वाथ से सिद्ध किया गया हो, लें। या गुडूची स्वरस या क्वाथ का प्रातःकाल सेवन करें अथवा इसी से सिद्ध घृत लें। अपराह्न में घृत युक्त ओदन (भात) आमलक यूष से लें। ऐसा एक मास तक करने पर सभी प्रकार के कुष्ठों से मुक्ति मिल जाती है।। १३।।

कृष्णतिलभल्लातकतैलामलकरससर्पिषां द्रोणं शालसारादिकषायस्य च, त्रिफलात्रिकटुकपरूषफलमज्जविडङ्गफलसारचित्रार्कावल्गुजहरिद्राद्वयत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीन्द्रयवयष्टीमधुकातिविषारसाञ्जनप्रियङ्गूनां पालिका भागास्तानैकध्यं स्नेहपाकविधानेन पचेत्, तत्साधुसिद्धमवतार्य परिस्राव्यानुगुप्तं निदध्यात्, तत उपसंस्कृतशरीरः प्रातः प्रातरुत्थाय पाणिशुक्तिमात्रं क्षौद्रेण प्रतिसंसृज्योपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन सर्पिष्मन्तं खदिरोदकसिद्धं मृद्वोदनमश्नीयात् खदिरोदकसेवी, इत्येवं द्रोण मुपयुज्य सर्वकुष्ठैर्विमुक्तः शुद्धतनुः स्मृतिमान् वर्षशतायुररोगो भवति।। १४।।

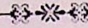
कृष्णतिलपाक—काले तिलों का तैल, भिलावे का तैल, आँवलों का रस और घृत—प्रत्येक द्रोण परिमाण; शालसारादि गण का कषाय एक द्रोण और हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, मरिच, पीपल, परूषक (फालसा) फलमज्जा, विडंगफलसार, चित्रक, अर्क (आक), बाकुची, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, दन्ती, द्रवन्ती, इन्द्रजौ, मुलहठी, अतीस, रसौत तथा प्रियंगु—प्रत्येक एक पल। इनको एकत्रित कर स्नेहपाक विधि से पकावें। ठीक पाक होने पर उतार कर तथा छान कर सुरक्षित रख लें। तत्पश्चात् इसे वमनादि से संस्कृत शरीर वाले रोगी को प्रातःकाल उठाकर पाणिशुक्ति (पलमित्यर्थः) प्रमाण में मधु मिलाकर दें। इसके भली प्रकार पच जाने के उपरान्त मूँग और आँवले के यूष से जिसमें नमक न हो तथा घी मिलाकर

खदिर क्वाथ में बने मृदु चावल खाने को दें और खदिर क्वाथ ही पीवे। इस प्रकार एक द्रोण प्रयुक्त करने पर सभी प्रकार के कुष्ठों से मुक्ति मिल जाती है, शरीर शुद्ध हो जाता है, स्मरणशक्ति बढ़ती है और रोग रहित सौ वर्ष की आयु प्राप्त होती है॥ १४॥

भवति चात्र—

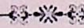
सुरामन्थासवारिष्टांल्लेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः। सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान्॥ १५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने महाकुष्ठचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥



श्लोक भी है—बुद्धिमान् चिकित्सक खदिरसार के प्रसंग में वर्णित सारस्नेह के अनुसार इस बीज (सूत्र/Formulae) का अनुसरण करते हुए हजारों सुरा, मन्थ, आसव, अरिष्ट, लेह, चूर्ण और अयस्कृति तैयार करें॥ १५॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'महाकुष्ठचिकित्सा' नामक दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १०॥



अध्याय-सारांश

'महाकुष्ठचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—दारुण कुष्ठ, प्रमेह, कफामय, सर्वांग शोफ और स्थौल्य को कम करने वाले श्रेष्ठ योग (३), जौ के सत्तू बनाकर सेवन करना, गोशकृद्भूत यवशक्तु भिन्न-भिन्न अनुपानों से कुष्ठ-प्रमेहहर (४), गोधूम, वेणुयव का इसी विधि से सेवन, कुष्ठहर (५)।

अरिष्ट-विधान—पूतीक-चव्यादि के चूर्ण को जल अयोरज गुड़ आदि मिलाकर यवपल्ल में सात दिन रखें; यथाबल, यथामात्रा से सेवन (६)।

आसव-विधान—पलाश भस्म, फाणित अरिष्ट विधि से, तिलक्षारादि से भी अरिष्ट (७)।

सुरा-विधान—शिंशपा-खदिरादि से कषाय, किण्व मिलाकर सुराविधि से (८)।

अवलेह-विधान—खदिरासननिम्बादि का क्वाथ, इन्हीं का चूर्ण मिलाकर नातिद्रव, नातिसान्द्र अवलेह बना लें (९)।

चूर्ण-विधान (१०), अयस्कृति (११), औषधायस्कृति, महौषधायस्कृति (१२), न्यग्रोध, अमलतास आदि से भी इसी प्रकार अयस्कृति बनायें।

खदिर-विधान—मध्यम मूल को काटकर रस इकट्ठा करे, पेड़ के मूल को गोबर से लीप दे, लकड़ी और उपलों से ढककर आग लगा दें, लोहपात्र में रस इकट्ठा करें, इसका यथायोग उपयोग करें (१३); कृष्णतिलतैलादि, शालसारादि कषाय, त्रिफलादि का चूर्ण मिलाकर स्नेहपाक करें। इसके प्रयोग से नीरोग, शुद्धतनु शतायु होता है (१४); इसी विधि से सुरामन्थादि हजारों योग तैयार करें (१५)।



एकादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान्धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'प्रमेहचिकित्सितम्' (The Menagement of Urinary Abnormalities) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

द्वौ प्रमेहौ भवतः—सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति, उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति। तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत, स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः ॥ ३ ॥

प्रमेह-वर्णन—प्रमेह दो प्रकार के होते हैं—सहज (Hereditary) और २. अपथ्यनिमित्तज (Due to insolubrious activities)। सहज प्रमेह का हेतु माता-पिता का बीजदोष है (Defects in the paternal and maternal germinal seeds) और अपथ्यनिमित्तज प्रमेह का हेतु अहितकर आहार का सेवन है।

सहज प्रमेह से पीड़ित व्यक्ति प्रायः—१. कृश (दुबले-पतले/Thin), २. रूक्ष (रूखे शरीर वाले/Dry-skinned), ३. अल्पाशी (अल्प खाने वाले/Eats less), ४. अतिपिपासु (अधिक प्यास वाले/Has polydipsia) और परिसरणशील (क्रियाशील/Active habits) होता है।

अपथ्यनिमित्तज प्रमेह से पीड़ित व्यक्ति प्रायः—१. स्थूल (भारी शरीर के/Obese) २. बह्वाशी (बहुत खाने वाले/Polyphagia), ३. स्निग्ध (चिकने शरीर वाले/Smooth-skinned) और ४. शय्यासन-स्वप्नशील (आरामतलब, सोते रहना/Sits idle, lies down and sleeps) होता है। इनमें कृश रोगी की चिकित्सा अन्न, पान और विशेष प्रकार की विधियों द्वारा तथा स्थूल रोगी की अपतर्पण (Fasting etc) से की जाती है ॥ ३ ॥

प्रमेह

भेद	१. सहज (Hereditary)	२. अपथ्यनिमित्तज (Caused by insolubrious activities)
कारण	१. माता पिता का बीजदोष	२. अहितकर आहारादि का सेवन
लक्षण	१. कृश (Thin) २. रूक्ष (Dry-skinned) ३. अल्पाशी (Eats less) ४. अतिपिपासु (Has polydipsia) ५. परिसरणशील (Active habits)	६. स्थूल (Obese) ७. बह्वाशी (Polyphagia) ८. स्निग्ध (Smooth skinned) ९. शय्यासनस्वप्नशील (Sits idle, lies down and sleeps)
चिकित्सा	१. अन्न, पान तथा विशेष प्रकार की चिकित्सा	२. अपतर्पण (Fasting etc.)

विमर्श— प्रमेह में आनुवंशिकता की चर्चा निदानस्थान (अध्याय ६) में की जा चुकी है। डल्हण ने 'केचिदाहुः' का प्रसंग देकर स्त्रियों में प्रमेह न होने की चर्चा की है (अत्र केचिदाहुः स्त्रीणां प्रमेहा न भवन्तीति, तथाहि तन्त्रान्तरे—'रजःप्रसेकात् नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः' ॥ इति। और अपनी सम्मति दी है—'एतत्तु न युक्तं सर्वतन्त्राप्रसिद्धेः प्रत्यक्षविरोधाच्च'। तथ्य भी यही है कि प्रमेह पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी होता है। आयुर्वेद के अनुसार सभी प्रमेहों की चिकित्सा न करने पर चरम परिणाम मधुमेह होता है ('सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि'–वा.) जो स्त्रियों में भी बहुतायत से पाया जाता है।

सर्व एव च परिहरेयुः सौवीरकतुषोदकशुक्तमैरेयसुरासवतोयपयस्तैलघृतेक्षुविकारदधिपिष्टान्नाम्लयवागूपानकानि ग्राम्यानूपौदकमांसानि चेति ॥ ४॥

प्रमेह में अपथ्य— (Contraindicated diet)—इन दोनों तरह के प्रमेहपीड़ित व्यक्तियों को निम्नलिखित का परित्याग करना चाहिए—सौवीरक (सूत्रस्थान अध्याय ४४ के श्लोक ३५-३९ में वर्णित), तुषोदक (सूत्रस्थान, अध्याय ४४, श्लोक ४०-४४ में वर्णित), शुक्त (काञ्जिकं शुक्तमुक्तम्), मैरेय ('सुरासवयोः प्रत्येकनिष्पादितयोरेकीकृत्य पुनः सन्धानं मैरेयम्'), सुरा (पिष्टमयी), आसव (द्रवप्रधानः), जल, दूध, तैल, घृत, गुड़ आदि इक्षुविकार, दही, पिष्ट (पीठी), अन्न, अम्लपानक, यवागू, ग्राम्य-आनूप (महिषादयः) और औदक (मत्स्यादि) प्राणियों का मांस ॥ ४॥

ततः शालिषष्टिकयवगोधूमकोद्रवोद्दालकाननवान् भुञ्जीत चणकाढकीकुलत्थमुद्गविकल्पेन, तिक्तकषायाभ्यां च शाकगणाभ्यां निकुम्भेङ्गुदीसर्षपातसीतैलसिद्धाभ्यां, बद्धमूत्रैर्वा जाङ्गलैर्मांसैरपहृतमेदोभिरनम्लैरघृतैश्चेति ॥ ५॥

उपयुक्त (Recommonded) **आहार—** शालि चावल, साठी के चावल, जौ, गेहूँ, कोदों, उद्दालक (अरण्यकोद्रवः) दें जो पुराने होने चाहिए। चना, अरहर, कुलथ और मूंग को बारी-बारी से दन्ती (निकुम्भ), इंगुदी (हिंगोट/ *Balanites agyptiaca*), सरसों और अतसी के तेल में सिद्ध तिक्त (प्रपुन्नाटपटोलादिकः) और कषाय (वटशुङ्गादिकः) रस वाले शाकवर्ग के साथ दें। अथवा मूत्र की मात्रा को कम करने वाले (Anti-diuretic) जांगल प्राणियों एणादि के मेदोरहित मांस दें जिसमें अम्लद्रव्य और घृत न हो ॥ ५॥

तत्रादित एव प्रमेहिणं स्निग्धमन्यतमेन तैलेन प्रियङ्ग्वादिसिद्धेन वा घृतेन वामयेत प्रगाढं विरेचयेच्च, विरेचनादनन्तरं सुरसादिकषायेणास्थापयेन्महौषधभद्रदारुमुस्तावापेन मधुसैन्धवयुक्तेन, दह्यमानं च न्यग्रोधादिकषायेण निस्तैलेन ॥ ६॥

प्रमेह में वमनादि प्रयोग— रूक्ष प्रमेही में वमन का निषेध है परन्तु बलवान् रोगी को निकुम्भादि किसी तैल से अथवा प्रियंग्वादिसिद्ध घृत से स्निग्ध कर वमन करायें और तीव्र विरेचन करायें। विरेचन के उपरान्त शुण्ठी, देवदारु और नागरमोथा मिलाकर तथा मधु एवं सैन्धव लवण युक्त सुरसादि गण की औषधियों के क्वाथ से आस्थापन बस्ति दें। यदि जलन हो रही हो तो तैल रहित न्यग्रोधादि कषाय की आस्थापन बस्ति दें ॥ ६॥

विमर्श— प्रगाढं विरेचयेच्च— 'कफमेहे वामयेत्, पित्तमेहे विरेचयेत्'।

ततः शुद्धदेहमामलकरसेन हरिद्रां मधुसंयुक्तां पाययेत्, त्रिफलाविशालादेवदारुमुस्तकषायं वा, शालकम्पिल्लकमुष्ककल्कमक्षमात्रं वा, मधुमधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतम्, कुटजकपित्थरोहीतकबिभीतकसप्तपर्णपुष्पकल्कं वा, निम्बारग्वधसप्तपर्णमूर्वाकुटजसोमवृक्षपलाशानां वा त्वक्पत्रमूलफलपुष्पकषायाणि, एते पञ्च योगाः सर्वमेहानामपहन्तारो व्याख्याताः ॥ ७॥

प्रमेहहर पाँच योग—शरीर के इस प्रकार शुद्ध हो जाने के उपरान्त रोगी को—(१) हरिद्राचूर्ण को मधु मिलाकर आमलकी रस से पिलावें (आमलकी रस ४ पल, हरिद्रा कर्ष प्रमाण और मधु कर्ष प्रमाण); अथवा (२) त्रिफला, इन्द्रायण, देवदारु और नागरमोथा का क्वाथ पिलावें (इन्हें पल प्रमाण लेकर सोलह गुना जल में चतुर्थांश रहने तक पकावें)। (३) शाल, कमीला, मुष्कक (कालामोखा/*Elaeodindron glaucum*) का कल्क एक कर्ष, मधु और आमलकी रस तथा हरिद्राचूर्ण मिलाकर दें; अथवा (४) कुड़ा, कैथ, रुहेड़ा, बहेड़ा और सप्तपर्ण के पुष्पकल्क को मधु आदि के साथ दें; अथवा (५) नीम, अमलतास, सप्तपर्ण, मूर्वा, कुड़ा, सोमवृक्ष और ढाक की छाल, इनके पत्र, मूल, फल और फूलों का काढा पिलावें। ये पाँच योग (Recipes) सभी प्रमेहों को नष्ट करने वाले वर्णित किये गये हैं॥ ७॥

विमर्श— क्वाथ की परिभाषा—'द्रव्यमापोत्थितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिकं जलम्। पादशेषं च कर्तव्यमेष क्वाथविधिः स्मृतः'॥

विशेषतश्चात ऊर्ध्वं—तत्रोदकमेहिनं पारिजातकषायं पाययेत्, इक्षुमेहिनं वैजयन्तीकषायं, सुरामेहिनं निम्बकषायं, सिकतामेहिनं चित्रककषायं, शनैर्मेहिनं खदिरकषायं, लवणमेहिनं पाठाऽगुरुहरिद्राकषायं, पिष्टमेहिनं हरिद्रादारुहरिद्राकषायं, सान्द्रमेहिनं सप्तपर्णकषायं, शुक्रमेहिनं दूर्वाशैवलप्लवहठकरञ्जकसेरुककषायं ककुभचन्दनकषायं वा, फेनमेहिनं त्रिफलारग्वधमृद्वीकाकषायं मधुमधुरमिति; पैत्तिकेषु नीलमेहिनं शालसारादिकषायमश्वत्थकषायं वा पाययेत्, हरिद्रामेहिनं राजवृक्षकषायम्, अम्लमेहिनं न्यग्रोधादिकषायं, क्षारमेहिनं त्रिफलाकषायं, मञ्जिष्ठामेहिनं मञ्जिष्ठाचन्दनकषायं, शोणितमेहिनं गुडूचीतिन्दुकास्थिकाश्मर्यखर्जूरकषायं मधुमिश्रम्;

प्रमेहहर विशिष्ट योग—इससे आगे विशेष (Specific) योगों का वर्णन किया जायेगा—१. उदकमेही को पारिभद्र (फरहद/*Erythrina indica*) का क्वाथ दें। २. इक्षुमेही को अरणिका (अग्निमन्थ) का काढा पिलावें। ३. सुरामेही को नीम का क्वाथ पिलावें। ४. सिकतामेही को चित्रक कषाय पीने को दें। ५. शनैर्मेही को खैर का कषाय पिलावें। ६. लवणमेही को पाठा, अगुरु और हरिद्रा का क्वाथ दें। ७. पिष्टमेही को हल्दी और दारुहल्दी का कषाय पिलावें। ८. सान्द्रमेही को सप्तपर्ण कषाय पिलावें। ९. शुक्रमेही को दूर्वा, शैवाल, प्लव (गोपालदमनक), हठ (जलकुम्भिका), करञ्ज और कसेरू इनका क्वाथ दें अथवा अर्जुन और चन्दन का क्वाथ दें। १०. फेनमेही को त्रिफला, आरग्वध, मुनक्का के कषाय में मधु मिलाकर पिलावें।

पित्तदोषजन्य प्रमेहों में निम्नलिखित योग दें—१. नीलमेही को शालसारादि गण या पीपल की छाल का काढ़ा दें। २. हरिद्रामेही में अमलतास का क्वाथ प्रयुक्त करें। ३. अम्लमेही में न्यग्रोधादि कषाय मधु मिलाकर प्रयोग में लायें। ४. क्षारमेही को त्रिफला कषाय पिलावें। ५. मञ्जिष्ठामेही को मंजीठ और चन्दन का काढ़ा दें। ६. शोणित (रक्त) मेही को गुडूची, तिन्दुक (मकरतेंद/*Diospyros tomentosa*) की गुठली, गम्भारी और खजूर का क्वाथ मधु मिलाकर दें।

अत ऊर्ध्वमसाध्येष्वपि योगान् यापनार्थं वक्ष्यामः, तद्यथा—सर्पिर्मेहिनं कुष्ठकुटज-पाठाहिङ्गुकटुरोहिणीकल्कं गुडूचीचित्रककषायेण पाययेत्, वसामेहिनमग्निमन्थकषायं शिंशपाकषायं वा, क्षौद्रमेहिनं खदिरक्रमुककषायं, हस्तिमेहिनं तिन्दुककपित्थशिरीषपलाशपाठामूर्वादुःस्पर्शाकषायं मधुमधुरं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति, दह्यमानमौदककन्दक्वाथसिद्धां यवागूं क्षीरेक्षुरसमधुरां पाययेत्॥ ८॥

यापनार्थ योग—इसके उपरान्त असाध्य मेहों के लिए यापनार्थ (For the palliation) योगों का उल्लेख किया जायेगा; यथा—१. सर्पिर्मेही को कूठ, कुड़ा, पाठा, हींग, कुटकी के कल्क को गुडूची और

चित्रक के क्वाथ से दें। २. वसामेही को अरणी का क्वाथ या शीशम का काढ़ा दें। ३. क्षौद्रमेही को खैर और सुपारी का क्वाथ पिलावें। ४. हस्तिमेही को तिन्दुक, कपित्थ, सिरस, ढाक, पाठा, मूर्वा और दुःस्पर्शा (धन्वयास/दुरालभा) के कषाय में मधु तथा हाथी, घोड़ा, सूअर और ऊँट की अस्थि का क्षार मिला कर दें। जलन हो रही हो तो शालूकादि जल में होने वाले कन्दों के क्वाथ से सिद्ध यवागू को दूध और गन्ने के रस से मधुर कर पिलावें॥ ८॥

विमर्श— क्षीरेक्षुरस से मधुर यवागू का पान पैत्तिक प्रमेहों में ही करायें। वात-श्लेष्म प्रमेहों में यवागू पान निषिद्ध है (यवागूः श्लेष्मवर्धनी'–च.)।

ततः प्रियङ्ग्वनन्तायूथिकापद्मात्रायन्तिकालोहितिकाम्बष्ठादाडिमत्वक्शालपर्णीपद्मतुङ्ग-केशरधातकीबकुलशाल्मलीश्रीवेष्टकमोचरसेष्वरिष्टानयस्कृतीर्लेहानासवांश्च कुर्वीत; शृङ्गाटक-गिलोड्यबिसमृणालकाशकसेरुकमधुकाम्रजम्ब्वसनतिनिशककुभकट्वङ्गरोध्रभल्लातकपलाशचर्मवृक्ष-गिरिकर्णिकाशीतशिवनिचुलदाडिमाजकर्णहरिवृक्षराजादनगोपघोण्टाविकङ्कतेषु वा; यवान्नविका-रांश्च सेवेत। यथोक्तकषायसिद्धां चास्मै यवागूं प्रयच्छेत्, कषायाणि वा पातुम्॥ ९॥

प्रमेहहर सामान्य योग—(अब तक सभी प्रकार के प्रमेहों में सामान्य और विशेष योगों का वर्णन किया गया है। अब इस सूत्र में सामान्य अरिष्टादि का उल्लेख किया जा रहा है—) प्रियंगु, अनन्ता (उत्पलसारिवा), यूथिका (जूही), पद्मा (भार्गी), त्रायन्तिका (मदयन्तिका/मेहन्दी), लोहितिका (मंजीठ), अम्बष्ठा (माचिका, 'साकुर' इति लोके), अनार की छाल, शालपर्णी, तुंग (पुन्नाग/नागकेसर), केसर, धाय, मौलश्री, सेमल, श्रीवेष्टक (नवनीतधूपः = सरलनिर्यासः) और मोचरस—इनसे अरिष्ट, अयस्कृति, लेह, आसव तैयार करें। अथवा—शृंगाटक (सिंघाड़ा), गिलोड्य (भूतुम्बी/कन्दः प्रावृट्जातः शणपत्राकारः वल्लीयुक्तः चर्मण्वतीनदीभवश्वेतवर्तुलपाषाणसदृशः 'गुगिलोटः' इति लोके), बिस (पद्ममूल), मृणाल (तस्य स्थूलप्ररोहो मृणालम्), काश, कसेरु, मुलेठी, आम, जामुन, असन, तिनिश (स्यन्दन, सांधन), अर्जुन, कट्वंग (अरलुकः, अरलू), पठानी लोध, भिलावा, ढाक, चर्मिवृक्ष (चर्मलोहः/लकुचद्रुमाकारः महावृक्षः), गिरिकर्णिका (श्वेतस्यन्दः), शीतशिव (शतपुष्पाभेदः), निचुल (जलवेतस), अनार, अजकर्ण (सर्जः, पूर्वदेशप्रसिद्धः), हरिवृक्ष (इन्द्रवृक्षः, धवाकारः) राजादन (क्षीरिका, खुमानी), गोपघोण्टा (घोटाबदरी) और विकंकत (कण्टकिका)—इनसे अरिष्ट, अयस्कृति, लेह, आसव आदि तैयार करें। जौ के बने भक्ष्य सेवन करें। इन रोगियों को यथोक्त प्रियंग्वादि गण या शृंगाटकादि वर्ग के कषायों से सिद्ध यवागू दें। पीने के लिए इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ दें॥ ९॥

विमर्श— यवान्नविकारान्—'यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही'–च.।

महाघनमहिताहारमौषधद्वेषिणमीश्वरं वा पाठाभयाचित्रकप्रगाढमनल्पमाक्षिकमन्यतममासवं पाययेत्, अङ्गारशूल्योपदंशं वा माध्वीकमभीक्ष्णम्। क्षौद्रकपित्थमरिचानुविद्धानि चास्मै पानभोज-नान्युपहरेत्। उष्ट्राश्वतरखरपुरीषचूर्णानि चास्मै दद्यादशनेषु। हिङ्गुसैन्धवयुक्तैर्यूषैः सार्षपैश्च रागैर्भोजयेत्। अविरुद्धानि चास्मै पानभोजनान्युपहरेद्रसगन्धवन्ति च; प्रवृद्धमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्री-डागजतुरगरथपदातिचर्यापरिक्रमणान्यस्त्रोपास्त्रे वा सेवेरन्॥ १०॥

धनी आदि के प्रमेहहर योग—यदि प्रमेहपीड़ित व्यक्ति महाधन (विपुल धनशाली) अहितकर आहार-विहार करने वाला और औषध सेवन से द्वेष करने वाला या ईश्वर (ईशिता राजा/Royal patient) हो तो उसे पाठा, हरीतकी, चित्रक—इनमें से किसी एक से बने गाढे आसव में प्रभूत मात्रा में मधु मिलाकर पिलावें या शूल्यमांस (अंगारशूल्यम् = अङ्गारोपरि शूलेन पक्वं मांसम्, अवदंशं = मद्योपरि चर्वणद्रव्यम्/Meat

roasted on burning coal) और माध्वीक (मधुयोनिमद्यम्) बार-बार पिलावें। ऐसे रोगी को आहार एवं पान में मधु, कपित्थ और काली मिर्च मिला कर देना चाहिए। अन्न में ऊँट, खच्चर (Mules) और गधे की लीद का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर दें। भोजन में हींग और सेंधानमक युक्त यूष, सरसों का यूष राई का संस्कार देकर पिलावें। रस एवं गन्ध युक्त स्वादिष्ट पान, भोजन आदि ऐसे होने चाहिए जो हानिकर न हों। यह ऊपर वर्णित विधि कृश प्रमेही के लिए है (इससे आगे स्थूल प्रमेही की चिकित्सा का वर्णन किया गया है—'निर्दिष्टः कृशस्य प्रायशो विधिः। अतः परं स्थूलस्यापकर्षणविधानम्'–ड.)।

स्थूल प्रमेही के लिए व्यायाम—(स्थौल्य के कारण) बढ़े हुए (Advanced) प्रमेह में रोगी को व्यायाम (Exercise/तथा चोक्तम्—'तुलाभ्रमगुणाकर्षधनुराकर्षणादिभिः। आयामो विविधोऽङ्गानां व्यायाम इति कीर्तितः'), नियुद्ध (बाहुयुद्धम्/Wrestling), क्रीडा (Play), गजारोहण, घोड़े की सवारी, रथ पर बैठकर सफर करना, पैदल चलना (Walking), चर्या (Touring/'सर्वदिग्भागभागेषु हस्त्यश्वरथपत्तिषु। शस्त्रास्त्रैर्यस्तु संयोगः स चर्येति प्रकीर्त्यते'), परिक्रमण (चंक्रमणं गतागतमित्यर्थः) तथा शस्त्रास्त्रादि अभ्यास करावें ('शस्त्रम् = शस्त्रितं धनुः, उपास्त्रम् = शास्त्रनियमवर्जितं धनुः'–ड.)॥ १०॥

अधनस्त्वबान्धवो वा पादत्राणातपत्रविरहितो भैक्ष्याशी ग्रामैकरात्रवासी मुनिरिव संयतात्मा योजनशतमधिकं वा गच्छेत्, महाधनो वा श्यामाकनीवारवृत्तिरामलककपित्थतिन्दुकाश्मन्तकफलाहारो मृगैः सह वसेत्, तन्मूत्रशकृद्भक्षः सततमनुव्रजेद्गाः, ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिर्भूत्वा ब्रह्मरथमुद्धरेत्, कृषेत् सततम्, इतरः खनेद्वा कूपं, कृशं तु सततं रक्षेत्॥ ११॥

निर्धन प्रमेही के लिए व्यायाम—यदि रोगी निर्धन या बन्धु-बान्धव रहित हो तो उसको नंगे पैर, बिना छतरी के, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता हुआ, गाँव में भी एक रात से अधिक न रहता हुआ, मुनियों की तरह आत्मा को नियन्त्रित कर सौ योजन या अधिक चले। धनाढ्य हो तो वह प्रमेही भी श्यामाक (सामक) एवं नीवार ('उलिकाधान्यम्, तद्द्विविधम्—एकं धान्यसदृशविटपधान्यं क्षेत्रजम्, द्वितीयं महादलकाण्डं तत्तु सलिलजम्') का आहार करे और आमलक, कपित्थ, तिन्दुक और अश्मन्तक के फलों का सेवन करे तथा मृगों के साथ निवास करे। गौओं के शकृत्-मूत्र का भक्षण करता हुआ निरन्तर उनकी सेवा में रहे। या ब्राह्मण रोगी हो तो शिलोञ्छवृत्ति ('भूमिपतितस्योत्सृष्टस्य कणशो शस्यग्रहणं शिलः, कणशो धान्यग्रहणं इत्यर्थः। भूमिष्ठमात्रस्य शस्यग्रहणं उञ्छः') रहकर वेदों को धारण करे और उन्हें निरन्तर पढ़े। ('पापरोगप्रायः प्रमेहः वेदाध्ययनान्नाशमुपैति'), किसान खेती करे, रोगी शूद्र हो तो (परोपकारार्थ) कुआँ खोदे। दुर्बल (कृश) रोगी की निरन्तर रक्षा करनी चाहिए॥ ११॥

भवति चात्र—

अधनो वैद्यसन्देशादेवं कुर्वन्नतन्द्रितः। संवत्सरादन्तराद्वा प्रमेहात्प्रतिमुच्यते॥ १२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥



वैद्य में आस्था—निर्धन रोगी चिकित्सक के आदेशा का आलस्य रहित होकर उपरोक्त विधियों से सेवन करता है तो एक वर्ष या उससे भी कम समय में प्रमेह से मुक्त हो जाता है॥ १२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'प्रमेहचिकित्सा' नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ११॥



अध्याय-सारांश

'प्रमेहचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—दो प्रकार के प्रमेहों के हेतु, लक्षण, दोनों का चिकित्सासूत्र (३), प्रमेहियों के लिए अपथ्य एवं पथ्य (४-५), स्निग्ध रोगी को वमन, विरेचन का विधान, तदनन्तर औषधोपचार (६), कषाय, रस, कल्क आदि पाँच सर्वमेहहर योग (७), प्रत्येक प्रमेह की औषधचिकित्सा, श्लैष्मिक, पैत्तिक तथा असाध्य प्रमेहों में यापनार्थ योग (८), प्रमेहियों के लिए आसवारिष्टादि कुछ विशिष्ट योग, प्रियंग्वादि द्रव्यों से अरिष्ट, अयस्कृति, लेह, आसव बनाकर प्रयोग में लाना (९)।

धनाढ्य व्यक्तियों (रोगियों) के लिए पाठा, अभयादि से आसव बनाकर प्रयोग, माध्वीक, अंगारशूल्यावदंश, मधुकादि पान, हींग, सैन्धव, सरसों आदि के यूष, अविरुद्ध पान-भोजन का प्रयोग, प्रवृद्ध मेही में व्यायामादि सेवन (१०), निर्धन रोगियों (प्रमेहियों) में भैक्ष्याशी, मुनिवृत्ति, योजनशत चलना आदि। धनाढ्य प्रमेहियों को भी श्यामाकादि का सेवन, शिलोञ्छवृत्ति से रहना आदि (११)।

अन्त में वैद्यवाक्य में आस्था, अतन्द्रित रहकर औषध सेवन से साल भर या उससे पहले रोगमुक्ति (१२)।



द्वादशोऽध्यायः

अथातः प्रमेहपिडकाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके उपरान्त 'प्रमेहपिडकाचिकित्सितम्' (Management of Boils Associated the Urinary Abnormalities) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

शराविकाद्या नव पिडकाः प्रागुक्तास्ताः प्राणवतोऽल्पास्त्वङ्मांसप्राप्ताः मृद्व्योऽल्परुजः क्षिप्रपाकभेदिन्यश्च साध्याः। ताभिरुपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्॥ ३॥

साध्य प्रमेहपिडकाएँ—निदानस्थान अध्याय छः (सूत्र १४) में जो शराविका, सर्षपिका आदि नौ पिडकाएँ वर्णित की हैं वे चिकित्सा की दृष्टि से साध्य हैं यदि—१. रोगी प्राणवान् (Strong patient) हो, २. पिडकाएँ अल्प (Small) हों, ३. त्वचा और मांस तक सीमित हो (Involvement of skin and muscles), ४. मृदु (Soft) हों, ५. जिनमें वेदना अल्प (Mild) हो और ६. जो शीघ्र पककर फूट गयी हों (Suppurate and burst soon)। इस प्रकार की प्रमेहपिडकाओं से पीड़ित रोगी की चिकित्सा करें॥ ३॥

तत्र पूर्वरूपेष्वपतर्पणं वनस्पतिकषायं बस्तमूत्रं चोपदिशेत्। एवमकुर्वतस्तस्य मधुराहारस्य मूत्रं स्वेदः श्लेष्मा च मधुरीभवति प्रमेहश्चाभिव्यक्तो भवति; तत्रोभयतः संशोधनमासेवेत। एवमकुर्वतस्तस्य दोषाः प्रवृद्धा मांसशोणिते प्रदूष्य शोफं जनयन्त्युपद्रवान् वा कांश्चित्, तत्रोक्तः प्रतीकारः सिरामोक्षश्च। एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्रं रुजो विदाहमापद्यते, तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च। एवमकुर्वतस्तस्य पूयोऽभ्यन्तरमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवत्यसाध्यः। तस्मादादित एव प्रमेहिणमुपक्रमेत्॥ ४॥

पूर्वरूपावस्था में उपचार—इन साध्य (Curable) पिडकाओं की पूर्वरूपावस्था (Premonitary stage) में अपतर्पण (अभोजनम्/उपवासादि/Fasting), वनस्पति कषाय (वनस्पतयः वटादयः/Vegetable decoctions) और बस्त (Goat) मूत्र का सेवन करायें। जो व्यक्ति (रोगी) इस प्रकार नहीं करते हैं और मधुर आहार करते रहते हैं उनका मूत्र, स्वेद (Sweat) तथा श्लेष्मा (Sputum) मधुर रस वाले हो जाते हैं और प्रमेहरोग भी अधिक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में दोनों ओर से संशोधन (वमन एवं विरेचन) कराना चाहिए। यदि संशोधन न किया जाय तो प्रकुपित दोष और अधिक बढ़कर मांस और रक्त को दूषित कर शोफ तथा अन्य उपद्रव उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में द्विव्रणीय अध्याय (सूत्रस्थान) में वर्णित प्रतीकार (अपतर्पणादिरेकादशविधो विरेकान्तः) और सिराव्यध (Venepuncture) कराना चाहिए ('न जलौकापातनमधःकायस्य पिडकाधिष्ठानस्य विपुलत्वात्'–ड.)। यदि इन उपायों को न किया जाय तो शोफ और अधिक बढ़कर अत्यधिक वेदना एवं विदाह (Burning sensation) उत्पन्न कर देता है। ऐसी दशा का उपचार शस्त्रप्रणिधान (छेदन-भेदनादि/Operative treatment) बताया गया है तथा व्रणक्रियोपसेवा अर्थात् व्रणचिकित्सा (षष्टिव्रणोपक्रमों) के अन्य उपायों को आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाना चाहिए।

यदि इस दशा में इन उपरोक्त उपायों को न किया जाय तो पूय अन्दर के भाग को विदीर्ण कर उत्संग (कोटर/Cavity) बनांकर बड़े भाग को खाली कर देती है और रोग इस प्रकार बढ़कर असाध्य हो जाता है। अतः प्रमेही की चिकित्सा रोगारम्भ से ही करनी चाहिए॥ ४॥

विमर्श—उत्सङ्गम्—'उत्सङ्ग इव उत्सङ्गः, व्रणाशये हि चिरकालपूयावस्थानेऽवदारितमन्तःप्रदेशान्तरं निम्नमुत्सङ्गतुल्यत्वात् उत्सङ्ग उच्यते। उत् ऊर्ध्वं पूयस्य सङ्ग उत्सङ्ग इत्यन्ये'।

आदित एव—'आद्यं पूर्वरूपमेव वीक्ष्य प्रमेहिणम् उपक्रमेदित्यर्थः' (ड.)।

भल्लातकबिल्वाम्बुपिप्पलीमूलोदकीर्यावर्षाभूपुनर्नवाचित्रकशटीस्नुहीवरुणकपुष्करदन्तीपथ्या दशपलोन्मितान् यवकोलकुलत्थांश्च प्रास्थिकान् सलिलद्रोणे निःक्वाथ्य चतुर्भागावशिष्टेऽवतार्य वचात्रिवृत्कम्पिल्लकभार्गीनिचुलशुण्ठीगजपिप्पलीविडङ्गरोध्रशिरीषाणां भागैरर्धपलिकैर्घृतप्रस्थं विपाचयेन्मेहश्वयथुकुष्ठगुल्मोदरार्शःप्लीहविद्रधिपिडकानां नाशनं नाम्ना धान्वन्तरम्॥ ५॥

धान्वन्तर घृत—भिलावा, बेल, अम्बु (सुगन्धबाला), पीपलामूल, उदकीर्या (करञ्ज), पुनर्नवा (श्वेत), पुनर्नवा (रक्त), चित्रक, कचूर, सेहुण्ड, वरुण, पुष्करमूल, दन्ती, हरीतकी—ये प्रत्येक दश पल; यव (जौ), बेर और कुलथी—एक-एक प्रस्थ; इनको एक द्रोण जल में चतुर्थांश रहने तक पकावें और उतार लें। इस क्वाथ में वच, निशोथ, कमीला, भार्गी, निचुल (हिज्जल, समुद्रफल/*Barringtonia acutangula*), सोंठ, गजपीपल, विडंग, लोध्र और सिरस—प्रत्येक आधा पल का प्रक्षेप डालकर एक प्रस्थ घृत का पाक करें। 'धान्वन्तर' नामक यह घृत प्रमेह, शोथ, कुष्ठ, गुल्म, उदर, अर्श, प्लीहरोग, विद्रधि और पिडकाओं का नाश करता है॥ ५॥

दुर्विरेच्या हि मधुमेहिनो भवन्ति मेदोऽभिव्याप्तशरीरत्वात्, तस्मात् तीक्ष्णमेतेषां शोधनं कुर्वीत। पिडकापीडिताः सोपद्रवाः सर्व एव प्रमेहा मूत्रादिमाधुर्ये मधुगन्धसामान्यात्पारिभाषिकीं मधुमेहाख्यां लभन्ते॥ ६॥

मधुमेही दुर्विरेच्य है—मेदो धातु के सारे शरीर में व्याप्त होने के कारण मधुमेही दुर्विरेच्य (विरेचन कराने में कठिनाई होना/Very difficult to induce purgation) होते हैं। अतः शोधनार्थ इनमें तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग करें। सभी प्रमेही पिडकाओं (Boils) और अन्य उपद्रवों से पीड़ित होने पर मधुर मूत्रादि वाले तथा मधु के समान गन्ध वाले होने के कारण मधुमेही कहलाते हैं ('सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमाप्नोति तदासाध्या भवन्ति हि'–वा.)॥ ६॥

न चैतान् कथञ्चिदपि स्वेदयेत्, मेदोबहुत्वादेतेषां विशीर्यते देहः स्वेदेन॥ ७॥

मधुमेही अस्वेद्य है—प्रमेही का कभी भी स्वेदन नहीं करना चाहिए। इनका शरीर मेदोबहुल होता है जिससे स्वेदन करने पर वह विदीर्ण हो जाता है (Body gets emaciated by sudation)॥ ७॥

रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः, ततो मधुमेहिनामधःकाये पिडकाः प्रादुर्भवन्ति॥ ८॥

पिडकाओं का शरीर के अधो भाग में होने में कारण—रस (पित्त-कफ-शोणित) का वहन करने वाले स्रोतों (रसायनीनाम्) की दुर्बलता के कारण प्रमेहपीड़ितों के दोष शरीर के ऊर्ध्व भाग को प्राप्त नहीं हो पाते हैं ('दौर्बल्यादिति सर्वशरीरगतस्य सर्वद्रवधातोरपानव्यानाभ्यामधोऽनुलोम्यमानत्वात् रसादिवहानामपि धमनीनामध एव बलवत्त्वं न तूर्ध्वमित्यर्थः'–ड.)। यही कारण है कि मधुमेहियों की पिडकाएँ शरीर के अधोभाग में होती हैं॥ ८॥

अपक्वानां पिडकानां शोफवत् प्रतीकारः पक्वानां व्रणवदिति। तैलं तु व्रणरोपणमेवादौ कुर्वीत, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, शालसारादिकषायं परिषेचने, पिप्पल्यादिकषायं पानभोजनेषु, पाठाचित्रकशार्ङ्गेष्टाक्षुद्रबृहतीसारिवासोमवल्कसप्तपर्णारग्वधकुटजमूलचूर्णानि मधुमिश्राणि प्राश्नीयात्॥ ९॥

पिडकोपचार—प्रमेहपिडका अपक्व (Unsuppurated boils) हो तो शोथ (Inflammation) की तरह और पकने पर व्रण की तरह चिकित्सा करनी चाहिए। व्रणरोपण (Healing) के लिए तैलों का ही प्रयोग करें ('आदौ तैलमेव नान्यात्कषायादिकम्, सर्वेष्वेव मेहेष्वतिप्रवृत्त्या वातवृद्धे, तैलस्य वातदोषप्रत्यनीकत्वात्')। व्रण के उत्सादन (निम्नस्य उन्नतिकरणम्/Filling up) के लिए आरग्वधादि कषाय और परिषेचन (Irrigation) के लिए शालसारादि कषाय प्रयोग में लाना चाहिए। पान एवं भोजन में पिप्पल्यादि कषाय का उपयोग करें। मधु मिला कर चाटने के लिए पाठा, चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकतिक्ता, 'भुम्भुरुदाक' इति लोके), छोटी-बड़ी कटेरी, सारिवा, सोमवल्क (वाक्कलः), सप्तपर्ण, आरग्वध और कुटजमूल इनका चूर्ण दें ('कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुटिकानां च सर्वशः। द्रवशुक्त्यावलेढव्यः पातव्यश्च चतुर्द्रवः')॥ ९॥

प्रमेहपिडका-उपचार

दशा	उपचार
अपक्व पिडका	शोफवत् उपचार
पक्व पिडका	व्रणवत् उपचार
रोपणार्थ	तैल (औषधसिद्ध) का प्रयोग
उत्सादनार्थ	आरग्वधादि कषाय
परिषेचनार्थ	शालसारादि कषाय
पान-भोजनादि	पिप्पल्यादि कषाय
प्राशनार्थ	पाठादि चूर्ण

शालसारादिवर्गकषायं चतुर्भागावशिष्टमवतार्य परिस्राव्य पुनरुपनीय साधयेत्, सिद्ध्यति चामलकरोध्रपियङ्गुदन्तीकृष्णायस्ताम्रचूर्णान्यावपेत्, एतदनुपदग्धलेहीभूतमवतार्यागुप्तं निदध्यात्, ततो यथायोगमुपयुञ्जीत; एष लेहः सर्वमेहानां हन्ता॥ १०॥

शालसारादि अवलेह—शालसारादि वर्ग की औषधियों (पलशत) का क्वाथ (षोडशगुण जल में) बनायें और चतुर्थांश रहने पर छानकर पुनः पकायें और उसमें आँवला, लोध्र, प्रियंगु, दन्ती, कृष्णलोह और ताम्रभस्म का प्रक्षेप देकर जब अवलेह (चाटने योग्य/Electuary) हो जाय तो सुरक्षित रख लें। इसका समुचित मात्रा में प्रयोग करायें। यह सभी प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है॥ १०॥

त्रिफलाचित्रकत्रिकटुविडङ्गमुस्तानां नव भागास्तावन्त एव कृष्णायश्चूर्णस्य; तत्सर्वमैकध्यं कृत्वा यथायोगं मात्रां सर्पिर्मधुभ्यां संसृज्योपयुञ्जीत; एतन्नवायसम्; एतेन जाठर्यं न भवति, सन्नोऽग्निराप्यायते, दुर्नामशोफपाण्डुकुष्ठरोगविपाककासश्वासप्रमेहाश्च न भवन्ति॥ ११॥

नवायस योग (Ricipe)—हरड़, बहेड़ा, आँवला, चित्रक, सोंठ, मरिच, पीपल, विडंग, नागरमोथा—ये सम्मिलित नौ भाग और इनके बराबर कृष्णलोहभस्म—इन सबको चूर्णित कर इकट्ठा कर लें और समुचित मात्रा में घृत-मधु के साथ मिलाकर लें। यह 'नवायस' योग है। इसके सेवन से जाठर्य (स्थौल्य या जठर रोग/Abdominal disease) नहीं होते हैं और जठराग्नि दीप्त होती है। दुर्नाम (अर्श), शोथ, पाण्डुरोग, कुष्ठ, अन्न का भली प्रकार न पचना, कास, श्वास और प्रमेह भी नहीं होते हैं॥ ११॥

शालसारादिनिर्यूहे चतुर्थांशावशेषिते। परिस्रुते ततः शीते मधु माक्षिकमावपेत्॥ १२॥
फाणितीभावमापन्नं गुडं शोधितमेव च। श्लक्ष्णपिष्टानि चूर्णानि पिप्पल्यादिगणस्य च॥ १३॥
ऐकध्यमावपेत् कुम्भे संस्कृते घृतभाविते। पिप्पलीचूर्णमधुभिः प्रलिप्तेऽन्तःशुचौ दृढे॥ १४॥
श्लक्ष्णानि तीक्ष्णलोहस्य तत्र पत्राणि बुद्धिमान्। खदिराङ्गारतप्तानि बहुशः सन्निपातयेत्॥
सुपिधानं तु तं कृत्वा यवपल्ले निधापयेत्। मासांस्त्रींश्चतुरो वाऽपि यावदालोहसंक्षयात्॥ १६॥
ततो जातरसं तं तु प्रातः प्रातर्यथाबलम्। निषेवेत यथायोगमाहारं चास्य कल्पयेत्॥ १७॥
कार्श्यकृद्वलिनामेष सन्नस्याग्नेः प्रसाधकः। शोफनुद्गुल्महृत् कुष्ठमेहपाण्ड्वामयापहः॥ १८॥
प्लीहोदरहरः शीघ्रं विषमज्वरनाशनः। अभिष्यन्दापहरणो लोहारिष्टो महागुणः॥ १९॥

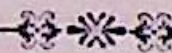
लोहारिष्ट—शालसारादि गण की औषधियों का काढ़ा बनायें और चतुर्थांश रहने पर उतार कर ठण्डा कर लें, फिर छानकर उसमें माक्षिक मधु ('मक्षिकाः पिङ्गवर्णास्तु महत्यो मधुमाक्षिकाः। ताभिः कृतं तैलवर्णं माक्षिकं परिकीर्तितम्'—भा.प्र.) मिला दें। तत्पश्चात् शोधित गुड़ डालकर राब (Molasses) बना लें और पिप्पल्यादि गण की औषधियों के सूक्ष्म चूर्ण का प्रक्षेप दें। सबको मिलाकर धूपादि में रखकर संस्कृत, घृतभावित, अन्तःशुचि, दृढ और जिसके अन्दर पिप्पली चूर्ण तथा मधु का लेप किया गया हो उस कुम्भ में इसे रखें। उसके उपरान्त तीक्ष्ण लोह के पतले पत्रों (पञ्चविंशतिपलानि) को खैर के अंगारों पर गरम कर इसमें कई बार बुझावें और पत्रों को इसी कुम्भ में डालकर मुख को अच्छी तरह बन्द कर घड़े को जौ के ढेर में दबा दें। कुम्भ को इस यवपल्ल में तीन या चार मास अथवा लोहपत्रों के गल जाने तक रखें। जब समुचित रस (Taste) युक्त हो जाय तो इसे प्रातःकाल रोगी के बल के अनुसार इसका सेवन करावें और आहार भी रोगानुसार कल्पना कर दें। यह लोहारिष्ट मोटापे को दूर करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, शोथ, गुल्म, कुष्ठ, मेह, पाण्डु, प्लीहोदर, विषमज्वर और अभिष्यन्द को नष्ट करता है। यह लोह-अरिष्ट महागुण है॥ १२-१९॥

विमर्श—मधुमाक्षिकम्—'मधु मद्यं माक्षिकस्येदं माक्षिकम्, मध्वासवं प्रक्षिपेत्' (ड.)।

गुडं शोधितम्—'गुडं शोधितमेव चेति गुडस्तस्मिन्नेव कषाये विलायितः पूतः शोधित उच्यते' (ड.)।

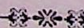
प्रमेहिणो यदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम्। विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते॥ २०॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने प्रमेहपिडकाचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥



प्रमेहमुक्ति के लक्षण—प्रमेही व्यक्ति का मूत्र जब पिच्छिलता रहित हो जाय (No longer slimy), अनाविल (प्रसन्नम्/Clear) हो, विशद (रूक्षम्/Thin) तथा तिक्त (Bitter) एवं कटु (Acrid) रस हो तो उसे (रोगी को) नीरोग समझें ('मूत्रस्य कटुतिक्तत्वं पिपीलिकामक्षिकादीनामपसर्पणेन ज्ञातव्यम्'–ड.)॥ २०॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'प्रमेहपिडकाचिकित्सा' नामक बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १२॥



अध्याय-सारांश

'प्रमेहपिडकाचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—प्रमेहपिडकाओं से पीड़ित चिकित्स्य है यदि पिडकाएँ अल्प, मृदु आदि गुणों से युक्त हों (३), साध्य पिडकाओं की पूर्वरूपावस्था में ही अपतर्पण, कषाय आदि का सेवन आरम्भ कर देना चाहिए, अन्यथा सभी प्रमेहों की चरम परिणति मधुमेह हो जाता है, ऐसी दशा में वमन-विरेचन करने होते हैं। पिडका का व्रण बन जाने पर व्रणवत् उपचार करना होता है (४), धान्वन्तर घृत का विधिपूर्वक समुचित मात्रा में सेवन सर्वमेहहर होता है (५)।

मधुमेही दुर्विरेच्य होते हैं। अतः तीव्र विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना होता है (६), इनका स्वेदन कभी नहीं (७), पिडकाएँ प्रायः अधो भाग में स्रोतोदौर्बल्य के कारण (८)।

अपक्व पिडकाओं की शोथवत् चिकित्सा करें, लोहारिष्ट स्थौल्यहर, अग्निदीपक, प्रमेहादि को दूर करता है (१२-१९), शालसारादि अवलेह और कषाय सर्वमेहहर हैं; प्रमेह के ठीक हो जाने की पहचान (२०)।



त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो मधुमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'मधुमेहचिकित्सितम्' (The Management of Glycosuria) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

मधुमेहित्वमापन्नं भिषग्भिः परिवर्जितम्। योगेनानेन मतिमान् प्रमेहिणमुपाचरेत् ॥ ३ ॥

परित्यक्त मधुमेही का उपचार—जिस मधुमेही का (असाध्य होने के कारण) चिकित्सकों ने परित्याग कर दिया है बुद्धिमान् चिकित्सक उसका उपचार निम्नलिखित योग से करें ॥ ३ ॥

मासे शुक्रे शुचौ चैव शैलाः सूर्यांशुतापिताः। जतुप्रकाशं स्वरसं शिलाभ्यः प्रस्रवन्ति हि ॥ ४ ॥
शिलाजत्विति विख्यातं सर्वव्याधिविनाशनम्।

शिलाजतु और उसका उत्पत्तिस्थान—जेठ (शुक्र) और अषाढ़ (शुचि) मास में सूर्य की किरणों से तप्त पर्वतशिलाओं (Rocks) से लाख की तरह (Shellac जैसा) स्वरस (Liquid) स्रवित (Exude) करते हैं, उसका प्रसिद्ध नाम शिलाजतु है। यह शिलाजतु सभी प्रकार की व्याधियों को नष्ट करता है ॥ ४ ॥

विमर्श—'यद्यपि अन्यस्मिन् काले शिलाजतु प्रस्रवं दृश्यते तथापि शुचिशुक्रमासपरिगृहीतं खरतरतरणिकिरणतापिताभ्यः शिलाभ्यो गुणवत्तरं भवति' (ड.)। चरक के अनुसार संसार में ऐसा कोई साध्य रोग नहीं है जो शिलाजीत से ठीक न होता हो।

त्रप्वादीनां तु लोहानां षण्णामन्यतमान्वयम् ॥ ५ ॥
ज्ञेयं स्वगन्धतश्चापि षड्योनिप्रथितं क्षितौ।

शिलाजतु के छः प्रकार—शिलाजतु में त्रपु (Tin) आदि छः धातुओं (त्रपुसीसताम्ररूप्यसुवर्ण-कृष्णलौहानि षट्) में से कोई एक धातु होती है। शिलाजतु में उपस्थित इन धातुओं को इनकी विशिष्ट गन्ध (Specific odour) से जाना जा सकता है। पृथ्वी में छः उत्पत्तिस्थल होने से यह (शिलाजतु) षड्योनि है ॥ ५ ॥

लोहाद्द्रवति तद्यस्माच्छिलाजतु जतुप्रभम् ॥ ६ ॥
तस्य लोहस्य तद्वीर्यं रसं चापि बिभर्ति तत्।

'शिलाजतु' नामकरण का हेतु—यह लौहादि से उत्पन्न होती है और देखने में लाखसदृश है, अतः शिलाजतु कहलाती है। यह जिस धातु से होती है उसके रस, वीर्य आदि को भी धारण करती है ('रसं चापीति चकारेण वर्णप्रभावं च बिभर्तीत्यनुक्तं समुच्चीयते') ॥ ६ ॥

विशेष—सूत्रस्थान के अन्नपानविधि नामक ४६वें अध्याय के अन्त में सुवर्णादि के गुण वर्णित हैं।

त्रपुसीसायसादीनि प्रधानान्युत्तरोत्तरम् ॥ ७ ॥
यथा तथा प्रयोगेऽपि श्रेष्ठे श्रेष्ठगुणाः स्मृताः।

शिलाजतु की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता—जिस प्रकार त्रपु (Tin), सीस (Lead) और आयस (Iron) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं उसी प्रकार इन धातुओं से युक्त शिलाजतु भी इसी क्रम से श्रेष्ठ होती है ॥ ७ ॥

तत्सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम्॥ ८॥
कटुपाक्युष्णवीर्यं च शोषणं छेदनं तथा।

शिलाजतु के सामान्य गुण—सभी प्रकार की शिलाजतु तिक्त (Bitter) और कटु (Pungent) रस वाली, कषायानुरस (Astringent after taste), सर (Laxative), कटुपाकी (Final taste after digestion is acrid), उष्णवीर्य (Hot potency), शोषण (दुष्टरक्तादेः/Absorbing properties) और छेदन (कफग्रन्थ्यादिच्छेदकृत्) होती है॥ ८॥

तेषु यत् कृष्णमलघु स्निग्धं निःशर्करं च यत्॥ ९ ॥
गोमूत्रगन्धि यच्चापि तत् प्रधानं प्रचक्षते।

प्रधान (Ideal) शिलाजतु—जो शिलाजतु काले रंग की और भारी, स्निग्ध (Smooth), निःशर्कर (कण रूप न हो/Without crystals) और जिसमें से गोमूत्र की गन्ध (Odour of cow's urine) आती हो वह 'प्रधान' है॥ ९॥

विमर्श— तन्त्रान्तर में (चरक में) शिलाजतु को जो चार प्रकार का बताया है, वह श्रेष्ठता के कारण है। 'चार ही प्रकार की शिलाजतु होती है' यह उद्देश्य नहीं है (डल्हण)।

तद्भावितं सारगणैर्हृतदोषो दिनोदये॥ १०॥
पिबेत् सारोदकेनैव श्लक्ष्णपिष्टं यथाबलम्। जाङ्गलेन रसेनान्नं तस्मिञ्जीर्णे तु भोजयेत्॥ ११ ॥
उपयुज्य तुलामेवं गिरिजादमृतोपमात्। वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः॥ १२॥
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः। शतं शतं तुलायां तु सहस्रं दशतौलिके॥ १३॥
भल्लातकविधानेन परिहारविधिः स्मृतः। मेहं कुष्ठमपस्मारमुन्मादं श्लीपदं गरम्॥ १४॥
शोषं शोफार्शसी गुल्मं पाण्डुतां विषमज्वरम्। अपोहत्यचिरात्कालाच्छिलाजतु निषेवितम्॥
न सोऽस्ति रोगो यं चापि निहन्यान्न शिलाजतु। शर्करां चिरसम्भूतां भिनत्ति च तथाऽश्मरीम्॥
भावनालोडने चास्य कर्तव्ये भेषजैर्हितैः।

शिलाजतु-उपयोग विधि—शिलाजतु को शालसारादि गण की भावना दें और सूक्ष्म चूर्ण कर इन्हीं औषधियों के क्वाथ से वमन-विरेचनादि से शुद्ध देहवाले व्यक्ति को प्रातःकाल (रोगी का) बलाबल देखकर पिलावें। इसके जीर्ण हो जाने पर जांगल प्राणियों के मांसरस से भोजन करावे ('जाङ्गलेन रसेन भोजयेत्, अन्यथा शोषणच्छेदनत्वात् वातकोपः स्यात्')॥ १०-११॥

इस विधि से सुधा सदृश गुण वाली शिलाजीत को एक तुला प्रमाण सेवन करने पर रोगी मधुमेह से मुक्त होकर हृष्ट-पुष्ट शरीर, उत्तम वर्ण और बल वाला हो जाता है तथा जरारहित और अमर (देव) के समान होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है। प्रति एक तुला सेवन करने पर सौ वर्ष की आयु बढ़ती है और दस तुला तक सेवन करने से हजार वर्ष की आयु प्राप्त होती है। पथ्यापथ्य का सेवन भल्लातक-सेवन के अनुसार करें। शिलाजतु के सेवन से प्रमेह, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, श्लीपद, विष, शोष, शोथ, अर्श, गुल्म, पाण्डु और विषमज्वर अल्पकाल में ही दूर हो जाते हैं। ऐसा कोई रोग नहीं जिसे शिलाजतु नष्ट न कर सकती हो। शर्करा (Gravel) और अश्मरी (Urinary calculi) जो लम्बे समय से हों उन्हें भी यह छिन्न-भिन्न (Disintegrate) कर देती है। शिलाजतु को भावना देना तथा आलोडन (घोलना) रोगहितकर औषधियों से करना चाहिए॥ १२-१६॥

विमर्श— 'तत्र भाव्यद्रव्यसमं क्वथनीयमष्टगुणे जले निःक्वाथ्याष्टभागावशिष्टेन कषायमानम्। दशाहं विंशतिदिनानि त्रिंशद्दिनानि वा भावयेत्' (ड.)।

शिलाजतु : अभिनव परिप्रेक्ष्य में—शिलाजीत गिलगित, तिब्बत, भूटान, गढ़वाल आदि के पहाड़ों में पायी जाती है। लाख जैसी और शिलाओं से निकलने के कारण इसका शिलाजतु नाम है। आरम्भ में कोलतार की तरह की काली, गाढ़ी होती है पर सूखने पर चमकीली एवं भंगुर हो जाती है। वह पानी में विलेय है और पानी में तार छोड़ती है। अल्कोहल एवं क्लोरोफार्म में अविलेय है। इसे शिलाजतु, अश्मजतु, शैलनिर्यास, गिरिज और 'Black bitumen' भी कहते हैं। शिलाजीत में पाये जाने वाले तत्त्वों का अनुपात इस प्रकार है—जल ९.५ प्रतिशत, नाइट्रोजन युक्त पदार्थ १.३ प्रतिशत, कार्बनिक पदार्थ ३६.२० प्रतिशत, चूना ७.८० प्रतिशत, पार्थिव द्रव्य ३४.६५ प्रतिशत तथा अभ्रक १.३५ प्रतिशत। इसमें कुछ खनिज तेलों की उपस्थिति भी पायी जाती है जो पैट्रोल जाति के होते हैं। इसी से यह निर्धूम होकर जलती है तथा पानी में घोलने पर तेल सदृश सतह पर तैरती है। गन्ध की दृष्टि से १. गोमूत्रगन्धी और २. कर्पूरगन्धी ये दो भेद हैं। गोमूत्रगन्धी शिलाजीत रसायन गुण युक्त होती है। दूसरे भेद को शोरा (KnO3) माना जाता है। स्वर्ण, रजत, ताम्र और लोह युक्त भूमि में होने से यह स्वर्णयुक्त आदि चार प्रकार की होती है। इनके स्वरूप एवं गुण निम्नलिखित तालिका में दिये गये हैं—

शिलाजतु-भेद	स्वरूप एवं गुण
१. स्वर्णयुक्त	रक्तवर्ण, भारी, मधुर, तिक्तरस, वातपित्तनाशक एवं श्रेष्ठ रसायन।
२. रजतयुक्त	पाण्डुवर्ण, भारी, मधुर-तिक्तरस, पाण्डुहर एवं वात-पित्तनाशन।
३. ताम्रयुक्त	नीलवर्ण, भारी, तिक्तरस, उष्ण, क्षय एवं कफनाशक, वातहर।
४. लोहयुक्त	कृष्ण वर्ण, भारी, लवण-कषायरस, शीतवीर्य, सर्वश्रेष्ठ एवं त्रिदोषनाशक।

नोट—यह तालिका चरक-चिकित्सास्थान, प्रथम अध्याय (रसायनपाद ३) के अनुसार है।

एवं च माक्षिकं धातुं तापीजममृतोपमम्॥ १७॥
मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम्। पिबन् हन्ति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान्॥ १८॥
तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थांश्च विवर्जयेत्।

माक्षिक धातु का प्रयोग—इसी प्रकार शिलाजतु की तरह प्रयुक्त होने वाली माक्षिक धातु है जो गुणों में अमृत सदृश, स्वाद में मधुर एवं अम्ल है तथा तापी नदी में पायी जाती है। इसके दो भेद हैं—१. स्वर्णमाक्षिक—यह रंग में स्वर्ण सदृश, २. रजतमाक्षिक—यह रंग में चाँदी जैसी होती है। इनके सेवन से ये शरीर में व्याप्त होकर बुढ़ापा, कुष्ठ, मेह, पाण्डु और क्षय को नष्ट करती है। इनके सेवनकाल में कपोत और कुलत्थ का सेवन वर्जित है॥ १७-१८॥

विमर्श—यह ताम्र, लोह और गन्धक का मिश्रयोग है। देखने में सोने जैसा होने से इसे स्वर्णमाक्षिक और चाँदी जैसा होने से रजतमाक्षिक कहते हैं, जब कि इनमें न सोना होता है और न चाँदी। रजतमाक्षिक (रूपामाखी) विमललोह और गन्धक से निर्मित 'Pyrite' है।

पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम्॥ १९॥
योगेतानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्।

इस योग का कुष्ठ में प्रयोग—बुद्धिमान् चिकित्सक उस कुष्ठरोगी की चिकित्सा भी इस योग से करे जो पञ्चकर्मगुणातीत (जिसे पञ्चकर्म का कोई लाभ न हो) एवं श्रद्धावान् (चिकित्सा पर विश्वास करने वाला) हो और जिसमें जीने की उत्कट अभिलाषा हो॥ १९॥

विमर्श— पञ्चकर्मगुणातीतम्—इसके कई अर्थ किये गये हैं। लगभग अभिप्राय सबका वही है जो ऊपर हिन्दी रूपान्तरण में दिया गया है।

डल्हण के शब्दों में—''पञ्चकर्मगुणातीतमित्यत्र वमनादीनां पञ्चकर्मगुणानामप्राप्तफलमित्येके, तत्तु न सम्यक्, यतः पञ्चमधात्वस्थिस्थितं कुष्ठमुक्तम्, तत्र कर्माणि संशोधनसंशमनाभ्यङ्गगुग्गुलुशिलाजतुप्रभृतीनि, तेषां गुणाः फलानि, तान्यतीतम्, एतदुक्तं भवति–'अस्थिगतं कुष्ठं संशोधनादिभिः अप्राप्तविशेषं साधयेत्' इति। अन्ये तु पूर्वरूपक्रियया सह रसादिधातूनां चतुर्णां क्रियासमूहः पञ्चकर्माणि इति मन्यन्ते''।

वृक्षास्तुवरका ये स्युः पश्चिमार्णवभूमिषु ॥ २० ॥
वीचीतरङ्गविक्षेपमारुतोद्धूतपल्लवाः। तेषां फलानि गृह्णीयात् सुपक्वान्यम्बुदागमे ॥ २१ ॥
मज्जां तेभ्योऽपि संहृत्य शोषयित्वा विचूर्ण्य च। तिलवत् पीडयेद्द्रोण्यां स्रावयेद्वा कुसुम्भवत् ॥
तत्तैलं संहृतं भूयः पचेदातोयसंक्षयात्। अवतार्य करीषे च पक्षमात्रं निधापयेत् ॥ २३ ॥

तुवरक रसायनकल्प—तुवरक के वृक्ष (*Hydnocarpus wightiana*) पश्चिम समुद्र भूमि (Western coast) में पाये जाते हैं जिनके पत्र समुद्र की लहरों से उठी हवा से हिलते रहते हैं ('समुद्रोदकस्यात्यासन्ना इत्यर्थः')। उनके भली प्रकार पके फलों को वर्षर्तु के आरम्भ से इकट्ठा कर लें। फिर उनमें से फलमज्जा (Pulp) को निकालकर सुखा लें और चूर्ण कर द्रोणी में तिल की तरह पीडन कर तेल निकालें या कुसुम्भ कुसुम की तरह तेल प्राप्त करें ('कुसुम्भकुसुमवत् तैलं वा गालयेत्। तत्तैलगालनं सलिलापचयं यावत्')। फिर इस तैल को उसमें उपस्थित जलांश के सूखने तक पुनः पकावें। तत्पश्चात् इसे उपलों के ढेर (Heap of cow dung) में पन्द्रह दिन तक रखें ('विशिष्टतमशक्त्युत्पादनार्थम्') ॥ २०-२३ ॥

विमर्श—तुवरक वृक्ष का तथा उसके फलों में पाये जाने वाले पदार्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—'तुवरक के सुन्दर वृक्ष दक्षिण कोंकण से मालाबार तक के प्रदेश में जंगलों में होते हैं। पत्ते लम्बे सीताफल (शरीफा) के पत्ते जैसे, कोमल और चमकदार, फूल सफेद और गुच्छों में, फल कैथ जितने बड़े तथा फलों में छोटे बदाम जैसे पुष्कलबीज होते हैं'।

नव्यमत—तुवरक तैल कृमिघ्न, व्रणशोधन-रोपण, कण्डूघ्न, वेदनास्थापन, त्वग्दोषहर और रक्तशोधन है। बड़ी मात्रा में देने से मितली आकर उलटी और दस्त आते हैं। मात्रा ५-१० बूँद, धीरे-धीरे बढ़ाकर ६० बूँद देते हैं। इस तैल को नवनीत या मलाई अथवा घी में मिलाकर देना चाहिए। यह क्षयज व्रणों में भी खाने और लगाने पर लाभकर होता है। तुवरक तैल का अन्तःपेशीय सूचीवेध ३० मिनिम्स से धीरे-धीरे बढ़ाकर ७५ मिनिम्स तक भी देते हैं।

'Hydnocarpus oil or chaulmogra oil or their ethyl esters are efficient remedies for leprosy'—Materia Medica by Ghosh.

स्निग्धः स्विन्नो हृतमलः पक्षादूर्ध्वं प्रयत्नवान्। चतुर्थभक्तान्तरितः शुक्लादौ दिवसे शुभे ॥ २४ ॥
मन्त्रपूतस्य तैलस्य पिबेन्मात्रां यथाबलम्। तत्र मन्त्रं प्रवक्ष्यामि येनेदमभिमन्त्र्यते ॥ २५ ॥

तुवरक तैल का पान—पन्द्रह दिन के पश्चात् प्रयत्नपूर्वक स्नेहन एवं स्वेदन से जो हृतमल ('हृतं मलं पुरीषं कफादयोऽपि यस्य स तथा') हो गया है ('तत्र कफे वमनमेव, वमनात् पक्षादेव विरेचनम्, यदाहुः—पक्षाद् विरेको वान्तस्येति, विरेचनादपि पक्षादेव तौवरकं तैलम्') उस रोगी को चतुर्थ भक्तान्तरित होने पर शुक्लपक्ष के शुभ दिन में मन्त्रों से पवित्र किये गये तुवरक तैल को रोगी के बलानुसार समुचित मात्रा में पिलावें ('पाणितलप्रमां कर्षप्रमाणमित्यर्थः') ॥ २४-२५ ॥

विमर्श— चतुर्थभक्तान्तरितः—इसका अभिप्राय है कि तुवरक तैल के के सेवन से पहले रोगी एक दिन दोनों समय प्रातः-सायं सामान्य भोजन करे। दूसरे दिन प्रातःकाल सामान्य भोजन करें पर उस दिन

सायंकाल भोजन न कर फल, अम्लपदार्थ एवं उष्ण जल ही पीवे। उसके पश्चात् तीसरे दिन प्रातःकाल लघु कोष्ठ रोगी को तैलपान करायें ('एवं चतुर्थभक्तान्तरितं भवति'–ड.)।

मज्जसार! महावीर्य सर्वान् धातून् विशोधय। शङ्खचक्रगदापाणिस्त्वामाज्ञापयतेऽच्युतः॥

अब उस मन्त्र को बताते हैं जिससे तैल को अभिमन्त्रित करते हैं। हे मज्जसार! तुम महावीर्य हो, सब धातुओं को शुद्ध कर दो। शंख, चक्र, गदा जिनके हाथ में है वह अच्युत (भगवान् विष्णु) का आपको आदेश है॥ २६॥

तेनास्योर्ध्वमधश्चापि दोषा यान्त्यसकृत् ततः। अस्नेहलवणां सायं यवागूं शीतलां पिबेत्॥ २७॥
पञ्चाहं प्रपिबेत् तैलमनेन विधिना नरः। पक्षं परिहरेच्चापि मुद्गयूषौदनाशनः॥ २८॥
पञ्चभिर्दिवसैरेवं सर्वकुष्ठैर्विमुच्यते।

पथ्य-सेवन—इस तैल के प्रयोग से वमन एवं विरेचन द्वारा ('ऊर्ध्वमधश्चापि') रोगी के दोष शनैः-शनैः बाहर निकल जाते हैं। तदनन्तर रोगी सायंकाल स्नेह और लवणरहित शीतल यवागू पीवे। इस विधि से पाँच दिन तक रोगी तुवरक तैल का पान करें और पन्द्रह दिन तक (क्रोधादि का) परित्याग करता हुआ मूँग का यूष और चावल का आहार करे। ऐसा करने पर रोगी पाँच दिन में सभी कुष्ठरोगों से मुक्त हो जाता है॥ २७-२८॥

तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम्॥ २९॥
निहितं पूर्ववत् पक्षात् पिबेत् मासमतन्द्रितः। तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वीताहारमीरितम्॥ ३०॥
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम्। अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्॥ ३१॥
सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराम्बुना। पक्षिमांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम्॥ ३२॥
तदेव नस्ये पञ्चाशद्दिवसानुपयोजितम्। वपुष्मन्तं श्रुतिधरं करोति त्रिशतायुषम्॥ ३३॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया। महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः॥ ३४॥

तुवरक तैल और अनुपान—इसी तैल को तिगुने खदिर क्वाथ से सिद्ध करे और पूर्ववत् (पन्द्रह दिन तक उपलों के ढेर में रखे) फिर एक मास तक आलस्य रहित होकर पीयें। शरीर पर भी इस तैल का अभ्यंग करे। भल्लातक-विधान में वर्णित आहार का सेवन करे। चिकित्सक ऐसे रोगी जो भिन्नस्वर (Hoarse voice) वाला, लाल नेत्रों वाला, विशीर्ण (Emaciated) शरीर वाला और जिसके व्रण कृमियों (Worms) ने खा लिये हों, की चिकित्सा इस तैल से विधिपूर्वक करे। तुवरक तैल को घृत और मधु मिलाकर खदिर के क्वाथ से पीयें और पक्षियों के मांसरस का आहार करें तो दो सौ वर्ष की आयु होती है॥ २९-३२॥

तुवरक तैल का नस्य—इस तैल का पचास दिन तक नस्य लेने पर मनुष्य का शरीर हृष्ट-पुष्ट, सुनी हुई बात को याद रखने वाला और तीन सौ वर्ष की आयु होती है॥ ३३॥

तुवरक तैलपान के लाभ—तुवरक तैल के पीने से मनुष्य का शरीर शुद्ध हो जाता है। यह महाशक्ति वाला है और कुष्ठ तथा प्रमेह को नष्ट करने में श्रेष्ठ है॥ ३४॥

सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च।
पैल्ल्यं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान् नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन॥ ३५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मधुमेहचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

तुवरक तैल का नेत्ररोगों में प्रयोग—तुवरक मज्जा (Pulp) को अन्तर्धूम (Closed vessels) जलाकर (दो कसोरों में रखकर इस प्रकार जलावें कि धूम अन्दर ही रहे) तिलतैल, सेंधानमक और स्रोतोऽञ्जन (Collyrium) मिलाकर अंजन की तरह आँखों में लगाने से अर्म (Pterygium), रतौंधी (Night blindness), काच, नीलीरोग और तिमिर नष्ट होते हैं॥ ३५॥

विमर्श— डल्हण के अनुसार—'मज्जादिकं त्रितयमन्तर्धूमेन दग्धम्'। तुवरक तैल के इस प्रकार छः योग बताये गये हैं—१. इस तेल का कुष्ठहर के रूप में पाँच दिन तक सेवन, २. इसका खदिराम्बु के साथ सेवन, ३. फिर घृत, मधु और खदिर कषाय से, ४. पन्द्रह दिन तक नस्य में, ५. मज्जप्रयोग और ६. अंजन।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त
'मधुमेहचिकित्सा' नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १३॥

अध्याय-सारांश

'मधुमेहचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—ऐसे मधुमेही की चिकित्सा का वर्णन है जिसका चिकित्सकों ने 'असाध्य' मानकर परित्याग कर दिया है (३), एतदर्थ ज्येष्ठ या आषाढ मास की सूर्य-ऊष्मा से लाक्षानिभ, तरलसम द्रव्य जो शिलाओं के पिघलने से टपकता है तथा जो शिलाजतु नाम से जाना जाता है (A bitumenous liquid) उसके उपयोग की सलाह दी गयी है (४), यह शिलाजतु जो स्वगन्ध से ज्ञेय है सीसा, सोना, चाँदी, कृष्णलोहादि भेद से छः प्रकार की होती है (५), इसके गुणादि भी तद्-तद् धातु के अनुसार ही होते हैं (६), कृष्णलोह शिलाजतु को श्रेष्ठ बताया है (७)।

इसके रस, अनुरस एवं शोषण-भेदनादि गुणों का उल्लेख कर उत्तम शिलाजतु की पहचान का उल्लेख भी किया है (९), यह (उत्तम शिलाजीत) कृष्णवर्ण, गोमूत्रगन्धि एवं भारी होती है।

शिलाजतु के सेवन-प्रसंग में इसे शालसारादि गण की औषधियों से भावित कर तथा इसके सेवन करने की विधि का भी विस्तार से विवरण दिया है (१०-११) और यह भी बताया है कि यह मधुमेह के अतिरिक्त अन्य किन-किन रोगों के लिए रामबाण हैं (१४), यह उत्तम रसायन भी है तथा कहा है कि पृथ्वी पर ऐसा कोई रोग नहीं है जो शिलाजीत के विधिपूर्वक सेवन करने से दूर न होता हो (१५)।

शिलाजतु के अन्य भेदों के गुणों का उल्लेख भी किया गया है (१७-१८)।

इस अध्याय में तुवरक वृक्ष, उसके फलों, फलमज्जा आदि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके तैल (Hydnocarpus oil) को प्राप्त करने की विधि, कुष्ठरोग में इसके उपयोग का वर्णन, कुष्ठ में इसका स्थानिक एवं आभ्यन्तर प्रयोग तथा नेत्ररोगों में उपयोगी होने का उल्लेख भी किया गया है (३५)।

चतुर्दशोऽध्याय:

अथात उदराणां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'उदराणां चिकित्सितम्' (The Management of the Abdominal Enlargements) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

अष्टावुदराणि पूर्वमुद्दिष्टानि। तेष्वसाध्यं बद्धगुदं परिस्रावि च, अवशिष्टानि कृच्छ्रसाध्यानि; सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपक्रमेत। तेष्वाद्यश्चतुर्वर्गो भेषजसाध्यः, उत्तरः शस्त्रसाध्यः, कालप्रकर्षात् सर्वाण्येव शस्त्रसाध्यानि वर्जयितव्यानि वा ॥ ३ ॥

उदररोगों की साध्यासाध्यता—निदानस्थान के 'उदाराणां निदानम्' नामक सातवें अध्याय में यह बताया जा चुका है कि उदररोग आठ प्रकार के होते हैं ('पुनरष्टसंख्याख्यापनं प्लीहोदरयकृद्दाल्युदर-योश्चिकित्सितैकत्वप्रत्याख्यापनाय') उनमें बद्धगुद और परिस्राव्युदर असाध्य हैं। शेष छः उदररोग कृच्छ्रसाध्य (Curable with difficulty) हैं। इन सभी की प्रत्याख्येय कहकर चिकित्सा करें। इन आठ भेदों में आरम्भ के चार ('वातपित्तकफदूषीविषनिमित्तानि') औषधसाध्य (Manageable by medicines) हैं और शेष चार शस्त्रसाध्य हैं। समय बीत जाने पर ('भेषजसाध्यकालातिक्रमात् शस्त्रसाध्यकालातिक्रमाच्च') सभी उदररोग शस्त्रसाध्य (Curable by surgery) होते हैं अथवा त्याज्य (Incurable) हो जाते हैं ॥ ३ ॥

विमर्श— सर्वाण्येव प्रत्याख्यायोपचरेत्—सुश्रुत का यह कथन कि सभी उदररोग कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होते हैं, सही है। ऐसा निर्णय करना सदा कठिन होता है कि अमुक उदररोग शल्यकर्मसाध्य है या नहीं ('अग्निदोषान्मनुष्याणां दोषसङ्घाः पृथक् विधाः। मलवृद्धया प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु'–च.चि. १३; और भी—'सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम्'-अ.हृ.चि. १५)। चरक के काल से चली आ रही यह रोगनिर्णय सम्बन्धी समस्या आज भी बनी हुई है—"There is no rule of thumb by which a 'surgical abdomen' may be distinguised from a non-surgical one"—Illing Worth. यही कारण है कि सुश्रुत सभी उदररोगों को कृच्छ्रसाध्य बताते हैं।

उदरी तु गुर्वभिष्यन्दिरूक्षविदाहिस्निग्धपिशितपरिषेकावगाहान् परिहरेत्; शालिषष्टिकयवगोधूमनीवारान् नित्यमश्नीयात् ॥ ४ ॥

उदरी का पथ्यापथ्य—उदरी भारी, अभिष्यन्दी ('दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम्'–ड.), रूक्ष, विदाही, स्निग्ध (Fatty), मांस (पिशित), परिषेक और जल में अवगाहन (Immersion) का परित्याग करे। प्रतिदिन शालि चावल, साठी के चावल, जौ, गेहूँ और नीवार (उलिधान्यम्) का सेवन करें ॥ ४ ॥

तत्र वातोदरिणं विदारिगन्धादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, तिल्वकविपक्वेनानुलोम्य, चित्राफल-तैलप्रगाढेन विदारिगन्धाकषायेण आस्थापयेदनुवासयेच्च, शाल्वणेन चोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन क्षीरेण जाङ्गलरसेन च, स्वेदयेच्चाभीक्ष्णम् ॥ ५ ॥

वातोदर-चिकित्सा—वातोदर से पीड़ित व्यक्ति को विदारिगन्धादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत से स्निग्ध कर तिल्वक (पट्टिकालोध्र) से सिद्ध घृत से अनुलोमन अर्थात् विरेचन करायें। तदनन्तर दन्तीफल तैल से संयुक्त (प्रगाढ) विदारिगन्धादि द्रव्यों के कषाय से आस्थापन बस्ति दे तथा अनुवासन बस्ति दे। उदर का शाल्वण से उपनाहन करें ('बध्नीयात् स्वेदयेच्चाभीक्ष्णमिति')। रोगी को विदारिगन्धादि से सिद्ध दुग्ध से और जांगल प्राणियों के मांसरस से भोजन करायें तथा उदर का बार-बार स्वेदन करें ॥ ५ ॥

पित्तोदरिणं तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा, श्यामात्रिफलात्रिवृद्धिपक्वेनानुलोम्य, शर्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, पायसेनोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन पयसा ॥ ६ ॥

पित्तोदर-चिकित्सा—पित्तोदर से पीड़ित व्यक्ति को काकोल्यादि मधुर गण की औषधियों से सिद्ध घृत से स्निग्ध कर श्यामा (वृद्धदारकः), हरड़, बहेड़ा, आँवला, निशोथ से सिद्ध घृत से अनुलोमन (विरेचन) करायें। तदनन्तर शर्करा, मधु और घृत से युक्त (प्रगाढ़) न्यग्रोधादि गण की औषधियों के कषाय से आस्थापन एवं अनुवासन बस्तियाँ दें। पायस (खीर/'क्षीरसिद्धास्तण्डुलाः पायसः'–ड.) से पेट को सेंके तथा रोगी को विदारिगन्धादि द्रव्यों से सिद्ध दूध से भोजन करायें ॥ ६ ॥

श्लेष्मोदरिणं तु पिप्पल्यादिकषायसिद्धेन सर्पिषोपस्नेह्य, स्नुहीक्षीरविपक्वेनानुलोम्य, त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्ककादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च, शणातसीधातकीकिण्वसर्षप-मूलकबीजकल्कैश्चोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा, स्वेदयेच्चा-भीक्ष्णम् ॥ ७ ॥

श्लेष्मोदर-चिकित्सा—श्लेष्मोदर से पीड़ित व्यक्ति को पिप्पल्यादि कषाय से सिद्ध घृत से स्निग्ध कर थोहर के दूध से सिद्ध घृत से अनुलोमन (विरेचन) करें। तदनन्तर शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, गोमूत्र, क्षार, और तैलयुक्त (प्रगाढ) मुष्कक पलाशादि के कषाय से आस्थापन और अनुवासन बस्तियाँ दें। उदर का शण, अलसी, धाय के फूल, किण्व (सुराबीजम्), सरसों, मूली के बीज—इनके कल्क से उपनाहन करें। ('बध्नीयात् स्वेदयेच्च'); रोगी को सोंठ, मिरिच, पीपल से युक्त (प्रगाढ़) कुलथी के यूष अथवा खीर से भोजन करायें तथा पेट को निरन्तर सेकें ॥ ७ ॥

दूष्योदरिणं तु प्रत्याख्याय सप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्धं मासं वा, महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा; शुद्धकोष्ठं तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्; इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत् वल्लीफलानि वा, मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत्, तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते ॥ ८ ॥

दूष्योदर-चिकित्सा—दूष्योदर से पीड़ित रोगी को प्रत्याख्याय कर (रोग के दुष्परिणाम के बारे में बताकर) सप्तला, शंखिनी (यवतिक्ताभेदः) के स्वरस से सिद्ध घृत से अथवा सेहुण्ड का दूध, सुरा और गोमूत्र से सिद्ध घृत से पन्द्रह दिन या एक मास तक विरेचन करायें। इस प्रकार कोष्ठ (Bowels) के शुद्ध (Clean) हो जाने के उपरान्त कनेर, गुञ्जा (रत्ती) और काकादनी (वायसतिन्दुका) के मूल के कल्क को मद्य से पिलायें या गन्ने को काले साँप से कटवाकर चूसने को दे अथवा साँप से कटवाकर वल्लीफल (कर्कटीप्रभृतीनि) या मूलविष, कन्दविष खिलावें। इससे रोगी ठीक हो जाता है अथवा रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

विमर्श— विषमासेवयेत्—'कर्मेदं दारुणम्, अक्रियायां ध्रुवं मरणं क्रियायां संशये सत्येव कुर्यात्। तत्रापीश्वरानुज्ञातेनैव कार्यम्' (ड.); 'तथा व्रजत्यगदतां शरीरान्तरमेव वा' (वा.चि.)। चरक त्रिदोषज (दूष्य) उदर में सर्वविध चिकित्सा करने की सलाह देते हैं। (सन्निपातोदरे सर्वास्तथोक्ताः कारयेत् क्रियाः'–च.चि.)।

भवति चात्र—

कुपितानिलमूलत्वात् सञ्चितत्वान्मलस्य च। सर्वोदरेषु शंसन्ति बहुशस्त्वनुलोमनम् ॥ ९ ॥

उदररोगों में वातानुलोमन का महत्त्व—सभी प्रकार के उदररोगों का मूल कारण प्रकुपित वातदोष और मलसंचय है। अतः सभी उदरों में बार-बार अनुलोमन (संशोधनम्/Repeated purgation) को बहुत ठीक समझा जाता है॥ ९॥

अत ऊर्ध्वं सामान्ययोगान् वक्ष्यामः। तद्यथा—एरण्डतैलमहरहर्मासं द्वौ वा केवलं मूत्रयुक्तं क्षीरयुक्तं वा सेवेतोदकवर्जी, माहिषं वा मूत्रं क्षीरेण निराहारः सप्तरात्रम्, उष्ट्रीक्षीराहारो वाऽन्नवारिवर्जी, पिप्पलीं वा मासं पूर्वोक्तेन विधानेनासेवेत, सैन्धवाजमोदायुक्तं वा निकुम्भतैलम्, आर्द्रशृङ्गवेररसपात्रशतसिद्धं वा वातशूलेऽवचार्य, शृङ्गवेररसविपक्वं क्षीरमासेवेत, चव्यशृङ्गवेरकल्कं वा पयसा, सरलदेवदारुचित्रकमेव वा, सुरङ्गीशालपर्णीश्यामापुनर्नवाकल्कं वा, ज्योतिष्कफलतैलं वा क्षीरेण स्वर्जिकाहिङ्गुमिश्रं पिबेत्, गुडद्वितीयां वा हरीतकीं भक्षयेत्, स्नुहीक्षीरभावितानां वा पिप्पलीनां सहस्रं कालेन, पथ्याकृष्णाचूर्णं वा स्नुहीक्षीरभावितामुत्कारिकां पक्वां दापयेत्; हरीतकीचूर्णं प्रस्थमाढके घृतस्यावाप्याङ्गारेष्वभिविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वाऽर्धमासं यवपल्ले वासयेत्, ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीक्वाथाम्लदधीन्यावाप्य विपचेत्, तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्; गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरमावाप्य विपचेत्, विपक्वं चावतार्य शीतीभूतं मन्थानेनाभिमथ्य नवनीतमादाय भूयो महावृक्षक्षीरेणैव विपचेत्, तद्यथायोगं मासं मासार्धं वा पाययेत्; चव्यचित्रकदन्त्यतिविषाकुष्ठसारिवात्रिफलाजमोदाहरिद्राशङ्खिनीत्रिवृत्त्रिकटुकानामर्धकार्षिका भागा राजवृक्षफलमज्जामष्टौ कर्षाः, महावृक्षक्षीरपले द्वे, गवां क्षीरमूत्रयोरष्टावष्टौ पलानि, एतत् सर्वं घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत्, तद्यथायोगं मासमर्धमासं वा पाययेत्; एतानि तिल्वकघृतचतुर्थानि सर्पींष्युदरगुल्मविद्रध्यष्ठीलानाहकुष्ठोन्मादापस्मारेषूपयोज्यानि विरेचनार्थम्; मूत्रासवारिष्टसुराश्चाभीक्ष्णं महावृक्षक्षीरसम्भृताः सेवेत; विरेचनद्रव्यकषायं वा शृङ्गवेरदेवदारुप्रगाढम्॥ १०॥

उदररोगहर सामान्य योग—अब सामान्य योगों (General recipes) का वर्णन किया जायेगा—(१) एरण्ड तैल को गोमूत्र या दूध के साथ प्रतिदिन एक या दो महीने तक सेवन करें पर जल का सेवन न करें; अथवा (२) निराहार रहकर भैंस के मूत्र को दूध के साथ सात दिन तक पीवें; अथवा (३) ऊँटनी का दूध पन्द्रह दिन तक पीवें और अन्न तथा जल का परित्याग करें; अथवा (४) पूर्वोक्त विधान (वातशोणितोक्त; सु.चि. ४।१२) के अनुसार पिप्पली का एक मास तक सेवन करें (वर्धमानपिप्पली योग)। (५) सेंधानमक और अजमोदा के साथ निकुम्भ (द्रन्ती) तैल का सेवन करें; अथवा (६) वातिक शूल युक्त उदर में सौ आढक आर्द्रक रस में सिद्ध निकुम्भ तैल का प्रयोग करें (तिलतैल लेने का विधान भी है); अथवा (७) आर्द्रक रस से सिद्ध दुग्ध को प्रयोग में लावें; अथवा (८) चव्य और आर्द्रक कल्क का दूध से सेवन करे; अथवा (९) चीड़, देवदारु और चित्रक कल्क का दूध से सेवन करें। (१०) मु(सु)रंगी (सहिजन), शालपर्णी, वृद्धदारुक (श्यामा) और पुनर्नवा के कल्क को दूध से लें; अथवा (११) काकमर्दनिका (मालकांगनी) के तैल को सज्जीखार और हींग मिलाकर दूध के साथ प्रयुक्त करें; अथवा (१२) हरड़ को गुड़ के साथ लें। (१३) थोहर के दूध में भावित पिप्पली को एक, दो, तीन या चार अथवा यथाबल लेता हुआ एक हजार तक सेवन करें या जब तक ले सकें ('कालेनेति यावता कालेन शक्नुयात् भक्षयितुम्'–ड.)। (१४) हरड़ और पीपल को मिलाकर दें; अथवा (१५) थोहर के दूध में बनी लप्सिका (उत्कारिका) दें; अथवा (१६) हरीतकी चूर्ण एक प्रस्थ को एक आढक घी में डाल कर अंगारों पर रखें और खज (कौंचे) से चलाते रहें। फिर उतार कर पात्र में भरकर और जौ के ढेर में पन्द्रह दिन तक दबाकर रखें। तदनन्तर निकाल कर छान लें और हरीतकी के क्वाथ में अम्ल द्रव्य और दही का प्रक्षेप देकर पकावें। इसको आदेशानुसार पन्द्रह दिन या एक मास तक सेवन करें; अथवा (१७) गाय के दूध में थोहर का दूध मिलाकर (महावृक्षः,

सेहुण्डः) पकावें, फिर उतार कर ठण्डा होने पर मथनी से मथें और मक्खन निकालकर उसमें पुनः थोहर का दूध मिलाकर पकावें। इसे नियमानुसार मास, अर्धमास तक पिलावें। (१८) चव्य, चित्रक, दन्ती, अतीस, कूठ, सारिवा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अजमोद, हलदी, शंखिनी (यवतिक्ता), निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपल—प्रत्येक आधा कर्ष, अमलतास की फली का गूदा (Pulp) आठ कर्ष, थोहर का दूध दो पल, गोदुग्ध आठ पल, गोमूत्र आठ पल—इन सबको मिलाकर एक प्रस्थ घी पकावें। इसे यथायोग मास, अर्धमास तक पिलावें।

ये तीन घृत (हरीतकीचूर्णादि, चव्य-चित्रकादि और महावृक्षक्षीरादि) और चौथा वातव्याधि में पठित तिल्वक घृत—ये चारों उदर, गुल्म, विद्रधि, अष्ठीला (Prostatic enlargements), आनाह, कुष्ठ, उन्माद और अपस्मार रोगों में विरेचनार्थ प्रयुक्त करने चाहिए। इसी प्रकार गोमूत्र, आसव, अरिष्ट और सुरा का थोहर का दूध मिलाकर बार-बार सेवन करें अथवा आर्द्रक एवं देवदारु मिले विरेचन द्रव्यों के कषायों को प्रयोग में लावें॥ १०॥

वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याणां पालिका भागाः पिप्पल्यादिवचादिहरिद्रादिपरिपठितानां च द्रव्याणां श्लक्ष्णपिष्टानां यथोक्तानां च लवणानां, तत्सर्वं मूत्रगणे प्रक्षिप्य महावृक्षक्षीरप्रस्थं च मृद्वग्निना अवघट्टयन् विपचेदप्रदग्धकल्कं, तत्साधुसिद्धमवतार्य शीतीभूतमक्षमात्रा गुटिका वर्तयेत्, तासामेकां द्वे तिस्रो वा गुटिका बलापेक्षया मासांस्त्रींश्चतुरो वा सेवेत, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया विशेषेण महाव्याधिषूपयुज्यते कोष्ठजांश्च कृमीनपहन्ति कासश्वासकृमिकुष्ठप्रतिश्यायारोचकाविपाकोदावर्तांश्च नाशयति॥ ११॥

आनाहवर्ति—संशोधनसंशमनीय अध्याय (सू.३९) में वर्णित मदनफलादि वमन द्रव्य और त्रिवृदादि विरेचन द्रव्य तथा द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय (सू.३८) में पठित पिप्पल्यादि, वचादि एवं हरिद्रादि गण के द्रव्य और अन्नपानविध्यध्याय (सू.४६) में बताये गये सैन्धवादि लवण—इनमें से प्रत्येक एक-एक पल लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें और इनको 'द्रवद्रव्यविध्यध्याय' (सू. ४५) में उल्लिखित मूत्रगण के द्रव्य में मिला लें तथा थोहर का दूध एक प्रस्थ डालकर मन्दाग्नि से इस प्रकार चलाते हुए पकायें कि कल्क जलने न पावे। अच्छी तरह पक जाने पर उतार कर तथा ठण्डा हो जाने पर अक्षप्रमाण गोली बना लें। इनमें से एक, दो या तीन गुटिकाएँ बलानुसार तीन या चार मास तक सेवन करें। यह 'आनाहवर्ति' बनाने की क्रिया है जो महाव्याधियों में विशेष रूप से प्रयुक्त होती है, कोष्ठगत कृमियों को नष्ट करती है; कास, श्वास, कुष्ठ, कृमि, प्रतिश्याय, अरोचक, अविपाक और उदावर्त का नाश करती है॥ ११॥

विमर्श— आटोप, आध्मान और आनाह उदरविकार हैं जिनमें दोष, स्थान और लक्षणों में परस्पर अन्तर है। **आटोपः**—'चल चलनमि'ति गयदासः; 'गुडगुडाशब्द' इति कार्तिकः, 'आटोपं सञ्चलनम्'–डल्हणः। आटोप समस्त उदर में होता है और सपित्तदोषद्वयज है। **आध्मान**—आटोप के साथ उदर में तीव्र वेदना और उदर का बहुत अधिक तन जाना तथा वात-निरोध से उत्पन्न घोर व्याधि 'आध्मान' है (सु.नि. १।८८)। प्रत्याध्मान—'विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्। प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्'॥ **आनाह**—कब्ज (Constipation) का दूसरा नाम आनाह है। ''अपक्व अन्नरस या पुरीष क्रमशः संचित हो जायें तथा प्रतिलोम वायु की क्रिया से अवरुद्ध होकर अपने मार्ग से न प्रवृत्त हों (गुदमार्ग से न निकलें) तो उस रोग को 'आनाह' कहते हैं'' (सु.उ. ५६।२०)।

मदनफलमज्जकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवत्रिवृत्त्रिकटुसर्षपलवणानि महावृक्षक्षीरमूत्रयोरन्यतरेण पिष्ट्वाऽङ्गुष्ठमात्रां वर्तिं कृत्वोदरिण आनाहे तैललवणाभ्यक्तगुदस्यैकां द्वे तिस्रो वा पायौ निदध्यात्, एषाऽऽनाहवर्तिक्रिया वातमूत्रपुरीषोदावर्ताध्मानानाहेषु विधेया॥ १२॥

मदनादि फल(गुद)वर्ति—मैनफल की मज्जा, कुटज (इन्द्रजौ), जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी), धामार्गव (महाकोशातकी), निशोथ, सोंठ, मरिच, पीपल, सरसों और लवण—इन सबको बराबर मात्रा में लेकर ('भागानुक्तेः समं यत:'-परि. प्र.) थोहर के दूध या गोमूत्र में पीसकर अंगुष्ठ प्रमाण वर्ति बना लें। इस वर्ति (Rectal suppository) को उदररोगपीड़ित के आनाह में गुदा में तेल और लवण लगाने के बाद एक या दो वर्तियाँ गुदा के अन्दर रखें। यह 'आनाहवर्ति' बनाने की विधि है। इसका उपयोग वात, मूत्र, पुरीष के उदावर्त (Obstruction to the passage), आध्मान और आनाह में करें॥ १२॥

प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः सिरां विध्येत्, विमर्दयेच्च पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थं; ततः संशुद्धदेहं समुद्रशुक्तिकाक्षारं पयसा पाययेत, हिङ्गुसौवर्चिके वा क्षीरेण, स्रुतेन पलाशक्षारेण वा यवक्षारं, किंशुकक्षारोदकेन वा बहुशः स्रुतेन यवक्षारं, पारिजातकेक्षुरकापामार्गक्षारं वा तैलसंसृष्टम्। शोभाञ्जनकयूषं वा पिप्पलीसैन्धवचित्रकयुक्तं, पूतिकरञ्जक्षारं वाऽम्लस्रुतं विड्लवणपिप्पलीप्रगाढम्॥ १३॥

प्लीहोदर-चिकित्सा (Management of splenomegaly)—स्नेहन और स्वेदन के उपरान्त रोगी को दही के साथ भोजन करायें ('दधिभोजनं रक्तक्लेशाय कफव्याधौ वमने कर्तव्ये प्राक् कफोत्क्लेशकर-द्रवोपयोगवत्')। फिर वाम भुजा की कोहनी के अन्दर की ओर की सिरा का वेध करें ('विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकाऽनामिकयोर्मध्ये वा'-सु.शा. ८।१७) और हाथ से प्लीहा का मर्दन करें जिससे रुधिरस्पन्दन (रक्त का निकलना/Flow of blood) हो। तदनन्तर (वमन-विरेचन से) शरीर के शुद्ध होने पर रोगी को समुद्रशुक्ति का क्षार (Alkalies made from sea-shells) दूध से पिलायें अथवा हींग और सज्जीखार को मिलाकर दूध से दें या यवक्षार को छने हुए पलाशक्षारोदक से अथवा बार-बार छाने हुए पलाशक्षारोदक से यवक्षार को पानार्थ दें। या पारिजात (हरश्रृंगार), इक्षुरक (कोकिलाक्षकः, तालमखाना) और अपामार्ग के क्षार को तेल मिलाकर दें। अथवा पीपल, सेंधानमक और चित्रक मिलाकर शोभाञ्जन कषाय पिलायें। या बड़ी मात्रा में विडंग, लवण और पिप्पली चूर्ण मिलाकर पूतिकरञ्ज (चिरबिल्वः) के क्षार को अम्ल द्रवों में घोल-छानकर पिलावें॥ १३॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः, घृतप्रस्थं तत्तुल्यं च क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत्, एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निसङ्गगुल्मोदरोदावर्तश्वयथुपाण्डुरोगकास-श्वासप्रतिश्यायोर्ध्ववातविषमज्वरानपहन्ति। मन्दाग्निर्वा हिङ्ग्वादिकं चूर्णमुपयुञ्जीत॥ १४॥

षट्पलक घृत—पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, यवक्षार और सेंधानमक—प्रत्येक एक-एक पल, घृत एक प्रस्थ और दूध एक प्रस्थ—इनको एक साथ पकाकर घृत सिद्ध करें। यह 'षट्पलक' घृत है। इसके प्रयोग से प्लीहा, अग्निमान्द्य, गुल्म, उदर, उदावर्त, शोथ, पाण्डुरोग, कास, श्वास, प्रतिष्याय, ऊर्ध्ववात, विषमज्वर नष्ट होते हैं; अथवा मन्दाग्निपीड़ित रोगी हिंग्वादिक चूर्ण का सेवन करे॥ १४॥

यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः। विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ सिराव्यधः॥ १५॥

यकृद्दाली-चिकित्सा (Management of hepatomegaly)—यकृद्दाल्युदर की चिकित्सा प्लीहोदर सदृश है। विशेषता यह है कि इसमें सिरावेध दाहिनी ओर की भुजा में किया जाता है॥ १५॥

मणिबन्धं सकृन्नाम्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम्। दहेत् सिरां शरेणाशु प्लीह्नो वैद्यः प्रशान्तये॥ १६॥

प्लीहोदर में अग्निकर्म (Use of fire cautery)—प्लीहोदर की शान्ति के लिए चिकित्सक वाम मणिबन्ध (Wrist) को झुकाकर बायें अंगूठे के पास की उभरी हुई सिरा का आग में गरम किये गये बाण से दहन करे॥ १६॥

बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणान्यन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वाऽपोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्। परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य, तच्छिद्रमात्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्, दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि, ततः पूर्ववत् सीव्येत्, सन्धानं च यथोक्तं कारयेत्, यष्टीमधुकमिश्रया च कृष्णमृदाऽवलिप्य बन्धेनोपचरेत्, ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेद्वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति॥ १७॥

बद्धोदर और परिस्रावी उदर की चिकित्सा में शल्यकर्म (Laparotomy for intestinal obstruction and perforation)—बद्धोदर से पीड़ित रोगी और परिस्रावी-उदरी व्यक्ति (Case of intestinal obstruction and intestinal perforation) का स्नेहन (Oleation), स्वेदन (Sudation) और अभ्यंग (Annointed) करने के उपरान्त नाभि से नीचे रोमराजि (Hairy line, midline) से बाईं ओर चार अँगुल छोड़कर उदर का पाटन कर्म कर (Abdomen should incised) चार अँगुल लम्बी अन्त्र को बाहर निकाल लें और उसका निरीक्षण करें। अन्त्र में रुकावट पैदा करने वाले पत्थर, बाल आदि या मलादि जो भी हो उसे दूर कर अन्त्र को मधु-घृत से अभ्यंग कर पुनः यथास्थान स्थापित कर दें और उदरबाह्य व्रण (External abdominal wound) का सीवन कर दें।

परिस्रावी उदर का शल्यकर्म—परिस्रावी (Perforation) उदर में भी शस्त्रकर्म इसी प्रकार करें और शल्य को निकाल कर अन्त्रस्रावों (Intestinal discharges) को साफ कर दें। तदनन्तर आँतों के छिद्र को समाधाय अर्थात् पास-पास मिलाकर कृष्ण वर्ण की चींटियों से कटवायें ('मर्कोटैर्दंशयेत् छिद्रम्'—वा.चि. १५।११०) और उन्हें ग्रीवा पर से काट दें ('लग्नेषु चाऽहरेत् कायम्'-वा.) तथा शिरों को वहीं लगा रहने दें। तत्पश्चात् व्रण का पूर्ववत् सीवन कर्म कर दें तथा अन्य सन्धान कार्य (Reparative measures) भी पूर्व वर्णित के अनुसार करें। फिर व्रण को मुलहठी चूर्णमिश्रित काली मिट्टी से लेप कर दें और पट्टी बाँध दें। तदनन्तर रोगी को तेज हवा रहित भवन में रखें और पश्चात् कर्म से सम्बन्धित आदेश दें। रोगी को तैलद्रोणी या घृतद्रोणी में रखें तथा दुग्ध-आहार दें॥ १७॥

विमर्श—बद्धोदर और परिस्राव्युदर की शल्यकर्म-चिकित्सा का यह स्वल्पतम स्वरूप है। ये दोनों ही भयंकर व्याधियाँ हैं। रोगी या चिकित्सक की थोड़ी-सी भी लापरवाही प्राणलेवा हो सकती है। शल्यकर्म से पूर्व रोगी की भली प्रकार परीक्षा, पूर्वकर्म में वर्णित विधियों का पूर्णतः पालन, प्रधान कर्म के समय संज्ञाहरण आदि की सम्यक् व्यवस्था और पश्चात्कर्म में रोगी की अच्छी तरह परिचर्या किये जाने पर ही रोगी को बचाया जा सकता है। उदरभेदन (Laparotomy) जैसे शल्यकर्म और अन्त्र को सीने के लिए कर्कोटदंश, केवल बाहर के व्रण को सीना ('बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्'—सु.चि. १४) और व्रण पर काली मिट्टी का लेप आदि चिन्त्य हैं।

दकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याप्तैः सुपरिगृहीतस्याकक्षात्परिवेष्टितस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्, तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत्, ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धेनोपचरेत्, न चैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत्, सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातीसारश्वासकासपाददाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरमसञ्जातप्राणस्य, तस्मात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिञ्चेत्। निःसृते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरं, तथा नाध्मापयति वायुः;

षण्मासांश्च पयसा भोजयेत् जाङ्गलरसेन वा, ततस्त्रीन्मासानर्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वा, अवशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत; एवं संवत्सरेणागदो भवति॥ १८॥

शल्यकर्म द्वारा जलोदर की चिकित्सा (Management of ascites; पारवेधन/Paracentesis)— जलो(उदको)दर से पीड़ित रोगी को वातहर तैलों से अभ्यंग और उष्णोदक से स्वेदन कर बिठा दें। तत्पश्चात् आप्तजन (विज्ञ या स्वजन) उसे पकड़े रखें तथा रोगी की बगलों तक (आकक्षात्) कपड़ा लपेट दें। फिर नाभि से नीचे बाईं ओर रोमराजि से चार अँगुल छोड़कर व्रीहिमुख (Trocar) नामक शस्त्र से अंगुष्ठोदर प्रमाण (Thumb breadth) गहरा भेदन (Puncture) करें। उसके बाद उस भेदन (छिद्र) में त्रपु (Tin) आदि या पक्षनाड़ी (Made of quill) जिसके दोनों ओर छिद्र हों (Canula—tubular instrument) को प्रविष्ट कर दोषोदक को निकाल दें। जल के निकल जाने पर नाड़ी (Canula) को निकाल लें और व्रण का तैल-लवण से अभ्यंग कर व्रणबन्धन कर दें।

उदरावरण गुहा में संचित इस समस्त जल को एक ही दिन में न निकालें। सहसा समस्त जल को एक ही बार में निकाल देने से तृष्णा, ज्वर, अंगमर्द, अतिसार, श्वास, पाददाह हो जाते हैं या दुर्बल रोगी के उदर में भयंकर जलसंचय हो जाता है। अतः तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, आठवें, दसवें, बारहवें या सोलहवें दिन में से किसी का भी अन्तर कर उदर में संचित तरल को थोड़ा-थोड़ा कर निकालें। जल निकाल देने के उपरान्त ऊन, रेशम के कपड़े या चमड़े से पेट को कसकर लपेट दें जिससे वायु अन्दर प्रविष्ट होकर पेट को फुला न दे। रोगी को छः मास तक दूध से भोजन करायें या जांगल प्राणियों के मांसरस से भोजन दें। इसमें तीन मास तक आधा पानी मिला दूध, फलाम्ल या जांगल प्राणियों का मांसरस दें और शेष तीन-तीन मास में लघु एवं हितकर अन्न दें। ऐसा करने पर रोगी एक साल में रोग रहित हो जाता है॥ १८॥

विमर्श— स्थितस्य—उदरावरण गुहा में संचित तरल को निकालने के लिए रोगी को बिठाना अधिक सुविधाकर होता है (The usual plan is to seat the patient on a chair—R.&C.)।

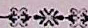
आप्तसुगृहीतस्य—ऐसी ही सम्मति पाश्चात्य शल्यशास्त्रियों की भी है—'The unslit portion is placed over abdominal wall in front and the devided portions cross behind and are held by assistants so as to maintain continuous pressure'—R.& C.।

न चैकस्मिन्नेव दिवसे—सम्प्रति भी ऐसी ही सम्मति है—'To prevent the shock often experienced from its rapid removal' (R.& C.) जल को बड़ी मात्रा में सहसा निकाल देने से अधिक रक्त रिक्त स्थान की ओर को जाने से मूर्च्छादि होते हैं।

भवति चात्र—

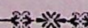
आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाऽऽहारविधिक्रियासु।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं शृतं जाङ्गलजो रसो वा॥ १९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥



उदररोग में पथ्य—कुशल चिकित्सक को सभी प्रकार के उदररोगियों के आस्थापन, विरेचन, पान तथा आहारविधिक्रियाओं में उबला हुआ दूध तथा जांगल प्राणियों के मांसरस का प्रयोग करना चाहिए॥ १९॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'उदरचिकित्साध्याय' नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १४॥



अध्याय-सारांश

'उदररोगचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—उदररोगों की कृच्छ्रसाध्यता एवं असाध्यता का उल्लेख, औषधकर्मसाध्य तथा शस्त्रकर्मसाध्य उदरविकार (३), उदरी के लिए नित्य सेवनीय द्रव्य (पथ्य) तथा अपथ्य (४), वातोदर में स्नेहन, अनुलोमन, आस्थापन एवं अनुवासन, उपनाहन, भोजन और स्वेदन (५), पित्तोदर में स्नेहन, अनुलोमन, अनुवासन, उपनाहन, भोजन (६), कफोदर में स्नेहन द्रव्य, अनुलोमन, आस्थापन, अनुवासन, उपनाहन, आहार और स्वेदन (७), दूष्योदर में विरेचन, कल्कपान, कृष्णसर्पदष्ट इक्षुकाण्ड का प्रयोग, मूलज-कन्दज विषसेवन (८), उदरविकारहर विविध सामान्य योग (१०), आनाहवर्ति क्रिया, फलवर्ति निर्माण एवं प्रयोग (११)।

प्लीहोदर-चिकित्सा—सिरावेध, क्षारदुग्ध योग, प्लीहविकारनाशन विविध योग (१२), षट्पलक घृत (१३), यकृद्दाल्युदर-चिकित्सा प्लीहचिकित्सा की तरह, सिरावेध दाहिनी ओर (१४-१५), बद्धोदर में उदर-भेदन, कारणों को दूर करना, व्रणसीवन, व्रणोपचार, परिस्राव्युदर में कारणभूत शल्य को हटाकर कालपिपीलिकाओं से अन्त्र के व्रण में कटवाकर उसके सिर को अलग कर देना, व्रणवद् उपचार (१६), परिस्राव्युदरी को तैलद्रोणी या घृतद्रोणी में लिटाना (१६), उदकोदरी का पूर्वकर्म कर व्रीहिमुख नाड़ीयन्त्र के प्रयोग से तरल निकालना तथा पश्चात्कर्म का विवेचन (१७), शृत, क्षीर और जांगल प्राणियों के मांसरस का प्रयोग (१८)।



पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो मूढगर्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'मूढगर्भचिकित्सितम्' (The Management of the Foetal Malpresentation) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

नातोऽन्यत् कष्टतममस्ति यथा मूढगर्भशल्योद्धरणम्; अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्पर्शेन, उत्कर्षणापकर्षणस्थानापवर्तनोत्कर्तनभेदनच्छेदनपीडनर्जूकरणदारणानि चैकहस्तेन गर्भं गर्भिणीं चाऽहिंसता, तस्मादधिपतिमापृच्छ्य परं च यत्नमास्थायोपक्रमेत ॥ ३ ॥

गर्भिणी के शल्योद्धरण में सावधानी—मूढ़गर्भ रूपी शल्य को निकालने से अधिक कष्टप्रद और कुछ नहीं है। यहाँ (दोनों) हाथों द्वारा (Bimanual pressure) स्पर्श कर योनि, यकृत्, प्लीहा, अन्त्रविवर (Intestinal canal) और गर्भाशय के बीच (शल्योद्धरण के लिए) स्पर्श अर्थात् हस्तकौशल से कार्य करना होता है। (शल्यहर्ता को) एक हाथ से उत्कर्षण (नीचे स्थित को ऊपर लाना/Pushing up), अपकर्षण (ऊर्ध्व. स्थित को नीचे लाना/Pulling down of the foetus), स्थानापवर्तन ('स्थानेषु सक्तस्य गर्भशय्यात उत्तानस्यावाङ्मुखीकरणम्/पलटना/Version), उत्कर्तन (काटना/Cutting up) (उद्वर्तन—पाठान्तर में 'अवाङ्मुखस्योत्तानीकरणम्' अर्थ है), भेदन ('गर्भकोष्ठादेराध्मानस्य विदारणं भेदनम्'/Incision), छेदन (Excsion), पीडन (बलनम्/Pressure), ऋजूकरण (सीधा करना/Straightening) और दारण (Tearing of the foetus) कर्म करने होते हैं तथा वह गर्भ एवं गर्भिणी की रक्षा भी करता है। अतः राजा से आज्ञा प्राप्त कर नितान्त सावधानी से गर्भशल्योद्धरण का कार्य करें ॥ ३ ॥

तत्र समासेनाष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा; स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गाः भवन्ति—शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा ॥ ४ ॥

प्रसव में तीन संग (रुकावटें)—निदानस्थान अध्याय आठ में मूढ़गर्भ आठ प्रकार के वर्णित किये गये हैं। स्वाभाविक रूप से भी (Naturally) प्रसव में तीन प्रकार की रुकावटें शिर (Head), अंस (Shoulders) और जघन (Hips) की विगुणता (Malpositions) के कारण आती हैं ('शिरसो वैगुण्योपादानात् अंसयोर्जघनस्य वैगुण्यमनुवर्तते। अंशो बाहुशिरः, तस्य जघनं अग्रभागः'–ड.) ॥ ४ ॥

जीवति तु गर्भे सूतिकागर्भनिर्हरणे प्रयतेत। निर्हर्तुमशक्ये च्यावनान् मन्त्रानुपश्रृणुयात्; तान् वक्ष्यामः ॥ ५ ॥

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि!। उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥ ६ ॥

इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥ ७ ॥

मुक्ताः पशोर्विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येण रश्मयः। मुक्तः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि विरमावितः ॥ ८ ॥

सुखप्रसव के लिए मन्त्र—यदि गर्भ जीवित है तो ऐसा प्रयत्न करें कि गर्भ जीवित ही बाहर आ अन्यथा (एतदर्थ प्रयत्न सफल न हो तो) जीवित प्रसव के लिए गर्भनिर्हरण मन्त्रों का श्रवण करायें। म प्रकार हैं—

'हे सुभगे! (O beautiful lady!) तेरे मन्दिर (Abode) में अमृत, सोम, चित्रभानु, उच्चैःश्रवा तुरग निवास करे। हे स्त्रि! यह अमृत जो समुद्रमन्थन कर प्राप्त किया गया है वह इस तेरे लघु गर्भ का मोचन करे। अग्नि, वायु, सूर्य और इन्द्र तथा समुद्र तुझे शान्ति प्रदान करें। पशु बन्धनमुक्त हो गये हैं, सूर्य ने भी अपनी किरणें मुक्त कर (बिखेर) दी हैं। हे गर्भ! तू भी सभी प्रकार के भयों से मुक्त हो, आओ! आओ! देर न करो! स्वाहा' ॥ ५-८॥

औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि। मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वननगवृत्तिकाशाल्मलीमृत्स्नघृताभ्यां म्रक्षयित्वा हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमुपहरेत्। तत्र सक्थिभ्यामागतमनुलोममेवाऽञ्छेत्, एकसक्थ्ना प्रतिपन्नस्येतरसक्थि प्रसार्यापहरेत्, स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं प्रपीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य सक्थिनी प्रसार्यापहरेत्, तिर्यगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य पश्चादर्धमूर्ध्वमुत्क्षिप्य पूर्वार्धमपत्यपथं प्रत्यार्जवमानीयापहरेत्; पार्श्वापवृत्तशिरसमंसं पीड्योर्ध्वमुत्क्षिप्य शिरोऽपत्यपथमानीयापहरेत्, बाहुद्वयप्रतिपन्नस्योर्ध्वमुत्पीड्यांसौ शिरोऽनुलोममानीयापहरेत्, द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ; एवमशक्ये शस्त्रमवचारयेत्॥ ९॥

मूढ़गर्भ-चिकित्सा—(इस सूत्र में प्रसूतिहस्तोपचार/Obstetric manipulations का वर्णन किया गया है—) इसमें शारीरस्थान अध्याय दस (सूत्र १६-२०) में वर्णित के अनुसार औषध-व्यवस्था करें। यदि गर्भ मृत हो गया हो (अथवा—'चकारात् अफलीभूतेषु मन्त्रव्यापारेषु, जीवत्यपि इति अनुक्तं समुच्चीयते'-ड.) तो स्त्री को पीठ के सहारे (उत्ताना/On her back) लिटाकर उसकी टांगों को मोड़ दें और वस्त्राधारक (Pad of cloths) से उसके कटिभाग को ऊँचा कर लें। तदनन्तर शल्यहर्ता (Surgeon) अपने हाथ को धन्वन (धनुर्वृक्ष), नगवृत्तिका (शल्लकी), सेमल, मिट्टी और घृत से स्निग्ध (Lubricated) कर स्त्री की योनि में प्रविष्ट करे और गर्भ को बाहर निकाल ले। यदि सक्थियाँ (दोनों टाँगें) बाहर आयी हुई हों (Presentation of legs) तो उन्हें खेंचकर गर्भ को बाहर निकाल ले। अगर गर्भ की एक ही टाँग बाहर आयी हो तो दूसरी टाँग को भी हस्तकौशल से सीधा कर (इतरसक्थिप्रसार्यापहरेत्) प्रसव करा दे। नितम्बों के बाहर आने की स्थिति (Breech presentation) में गर्भ के नितम्बों को दबाकर ऊपर कर तथा टाँगों को बाहर निकाल और कुशलता से खींचकर प्रसव सम्पन्न करें। यदि गर्भ तिरछा होकर (Transverse presentation) परिघा की तरह (Transverse iron bar; 'परिघः परिघातनः'-अमरसिंह) फँसा हो तो उसे बाहर निकालने के लिए गर्भ के निचले तथा पीछे के आधे भाग को ऊपर की ओर को करें और ऊपर के आधे भाग को नीचे की ओर लाकर प्रसवमार्ग में सीधा (Straight) कर निकालें। यदि शिर एक पार्श्व (One side) की ओर को मुड़ा हुआ हो तो कन्धों को दबाकर और ऊपर की ओर को कर शिर को प्रजनन मार्ग (अपत्यपथ/Parturient passage) में नीचे लाकर प्रसव करायें। जब प्रसवकाल में भुजाएँ पहले बाहर आयी हों (Arms presentation) तो कन्धों को ऊपर की ओर को दबाकर (ऊर्ध्वमुत्पीड्यांसौ') तथा शिर को प्रसव के प्राकृत मार्ग में सीधा लाकर बाहर निकाल लें। अन्त के दो मूढ़गर्भ (Malpresentation) असाध्य हैं। अतः ऊपर वर्णित उपायों से सफलता न मिलने पर शस्त्रप्रयोग करे॥ ९॥

सचेतनं च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्। दार्यमाणो हि जननीमात्मानं चैव घातयेत्॥ १०॥

जीवित गर्भ के दारण का निषेध—गर्भ जीवित हो तो शस्त्र से उसका दारण (Cutting with sharp instrument) कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर गर्भ तथा माता दोनों की मृत्यु हो जाती है॥ १०॥

अविषह्ये विकारे तु श्रेयो गर्भस्य पातनम्। न गर्भिण्या विपर्यासस्तस्मात्प्राप्तं न हापयेत्॥ ११॥

गर्भ के कारण यदि गर्भिणी की दशा बिगड़ रही हो तो उसके जीवन को बचाने के लिए गर्भपात करा देना चाहिए। प्राप्त का परित्याग नहीं होना चाहिए॥ ११॥

ततः स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेण अङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य, शिरःकपालान्याहृत्य, शङ्कुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वाऽपहरेत्; अभिन्नशिरसमक्षिकूटे गण्डे वा, अंससंसक्तस्यांसदेशे बाहू छित्त्वा, दृतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य निरस्यान्त्राणि शिथिलीभूतमाहरेत्, जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति॥ १२॥ किंबहुना—

मूढगर्भ में शल्यकर्म—(इस बारहवें सूत्र में गर्भ का कपालछेदन (Craniotomy), आशयनिष्कासन (Evisceration) आदि का वर्णन है—) तत्पश्चात् (गर्भिणी) स्त्री को भली प्रकार आश्वस्त कर गर्भ के शिर को मण्डलाग्र शस्त्र (Circular knife) या अंगुलीशस्त्र (Finger-knife) से विदारण (Cut open) कर कपालास्थियों (Cranial bones) को निकाल दें। तदनन्तर शंकु (Hook) से गर्भ की छाती या कक्षा (Axillae) को पकड़ कर बाहर निकाल लें। यदि शिर का भेदन न किया जा सके तो गर्भ के अक्षिकूट (Orbital regions) या गण्ड (गाल/Cheeks : Malar bones) को शंकु से पकड़कर गर्भ को बाहर ले आयें। यदि गर्भ के कन्धे प्रसवकाल में फँस गये हों (Shoulder presentation) तो भुजाओं को काटकर कन्धों को शंकु से खींचकर गर्भ को बाहर निकालें। यदि गर्भ का पेट दृति (मशक/Leather bag) की तरह फूल (हवा से या किसी अन्य कारण से) गया हो तो उदर भेदन कर आँतें निकाल लें और शिथिल हो जाने पर शेष गर्भ को भी बाहर खींच लें। अगर जघन (Buttocks) भाग फँसा हो तो पहले जघन (Hip) की अस्थियों को निकालें॥ १२॥

यद्यदङ्गं हि गर्भस्य तस्य सज्जति तद्भिषक्। सम्यग्विनिर्हरेत् छित्त्वा रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥ १३॥

अवरोधक अंग का छेदन—(संक्षेप में) गर्भ का जो भाग (अंग) प्रसव में बाधा उत्पन्न करता है शल्यहर्ता को चाहिए कि वह भली प्रकार उस अंग को काटकर गर्भ को बाहर निकाल दे और इस प्रकार नारी की यत्नपूर्वक रक्षा करे॥ १३॥

गर्भस्य गतयश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः। तत्रानल्पमतिर्वैद्यो वर्तेत विधिपूर्वकम्॥ १४॥

मूढगर्भ की चिकित्सा में सावधानी—वायु के प्रकोप के कारण गर्भ की गतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। अतः बुद्धिमान् शल्यचिकित्सक विधिपूर्वक सावधानी से (मूढगर्भ की) चिकित्सा करे॥ १४॥

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः। स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा॥ १५॥

मृतगर्भ की उपेक्षा हानिकर—विद्वान् चिकित्सक मृतगर्भ (Intra-uterine death) की एक क्षण भर भी प्रतीक्षा न करे, क्योंकि जिस प्रकार श्वासावरोध से पशु की मृत्यु (Asphyxiated animal) हो जाती है उसी प्रकार मृतगर्भ से माता की तत्काल मृत्यु हो जाती है॥ १५॥

विमर्श— अन्तर्गर्भाशय मृत्यु के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैद्यक के विचार इस प्रकार हैं—

'In the majority of cases labour soon follows death of the foetus. There are, however, cases in which the signs of foetal death are clearly present. But labour does not occur spontaneously even after several weaks, In these cases there is no urgent call for interference, unless the complication of hypofibrinogenaemia develops'—Obstetrics by T.T.।

मण्डलाग्रेण कर्तव्यं छेद्यमन्तर्विजानता। वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन॥ १६॥

गर्भिणी के शल्यकर्म में वृद्धिपत्र के प्रयोग का निषेध—प्रसव सम्बन्धी शरीररचना को जानने वाला (अन्तर्विजानता) बुद्धिमान् शल्यहर्ता को मण्डलाग्र (Circular knife) से छेदन (Excision) कर्म

करना चाहिए। तीक्ष्णाग्र होने के कारण वृद्धिपत्र (Scalpel) शस्त्र से नारी को घातक हानि पहुँच सकती है॥ १६॥

अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक्। हस्तेनापहरेद्वाऽपि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा॥ १७॥
धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद् वांऽसपिण्डिकाम्। तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक्॥
एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा। ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत्॥ १९॥
एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति।

अपरा के बाहर न आने की चिकित्सा—निदानस्थान (अध्याय १० सूत्र २१) में वर्णित के अनुसार प्रसव के उपरान्त अपरा बाहर न आ रही हो तो उसे निकालने का प्रयत्न करें अथवा माता के पार्श्वों का पीडन कर निकालें या हाथ से (Manually) पकड़कर बाहर ले आये; या नारी को बार-बार झटके (धुनुयात्/Repeatedly be shaken) अथवा नारी के कन्धों का पीड़न करें। इस प्रकार मतिमान् चिकित्सक नारी की योनि को तेल लगाकर स्निग्ध कर अपरा को निकाले। इस प्रकार शल्यरूपी अपरा के निकल जाने के उपरान्त नारी का कोष्णजल से सिंचन (Sprinkling) करे और तैल से अभ्यंग करे तथा योनि में ही स्नेह का प्रयोग करे। इस तरह करने पर योनि मृदु हो जाती है और शूल भी शान्त हो जाता है॥ १७-१९॥

कृष्णातन्मूलशुण्ठ्येलाहिङ्गुभार्गीः सदीप्यकाः॥ २०॥
वचामतिविषां रास्नां चव्यं सञ्चूर्ण्य पाययेत्। स्नेहेन दोषस्यन्दार्थं वेदनोपशमाय च॥ २१॥
क्वाथं चैषां तथा कल्कं चूर्णं वा स्नेहवर्जितम्। शाकत्वग्धिङ्ग्वतिविषापाठाकटुकरोहिणीः॥
तथा तेजोवतीं चापि पाययेत् पूर्ववद्भिषक्। त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिबेत्॥ २३॥
पाययेतासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम्। शिरीषककुभाभ्यां च तोयमाचमने हितम्॥ २४॥
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्वमुपाचरेत्। सर्वतः परिशुद्धा च स्निग्धपथ्याल्पभोजना॥ २५॥
स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् क्रोधविवर्जिता। पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम्॥ २६॥
रसं दशाहं शेषे तु यथायोगमुपाचरेत्। व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च वरवर्णिनीम्॥ २७॥
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत् परिहारतः। योनिसन्तर्पणेऽभ्यङ्गे पाने बस्तिषु भोजने॥ २८॥
बलातैलमिदं चास्यै दद्यादनिलवारणम्।

दोषनिर्हरण एवं वेदनाहर योग—दोषों के निर्हरण और वेदना की शान्ति के लिए पीपल, पीपलामूल, सोंठ, इलायची, हींग, भार्गी, अजमोद, वच, अतीस, रास्ना और चव्य—इनके सूक्ष्म चूर्ण को स्नेह (घृत) से पान करायें अथवा इनके क्वाथ, कल्क या चूर्ण को बिना स्नेह के प्रयुक्त करें। या शाक (सागवान/ *Tectona grandis*) की छाल, हींग, अतीस, पाठा, कुटकी और तेजोवती (तेजबल, इसका फल तुम्बरु या नैपाली धनियाँ कहलाता है) को पूर्ववत् अर्थात् घृत से पान करायें तथा तीन, पाँच या सात दिन के बाद पुनः स्नेहपान करायें। रात्रि के समय भली प्रकार तैयार किया गया आसव या अरिष्ट का पान करायें। सिरस और ककुभ (अर्जुन, डल्हण के अनुसार—'सुगन्धिमूलो विटपः') के क्वाथ को थोड़ा-थोड़ा करके देना हितकर है॥ २०-२४॥

यदि कोई उपद्रव (Complications) हों तो उनका उपचार समुचित तरीके से करें और प्रसूता की सभी प्रकार की स्वच्छता (Utmost cleanliness) का ध्यान रखें तथा भोजन भी वह स्निग्ध (Demulcent), पथ्य (Salutary) एवं मात्रा में अल्प (Moderate quantity) ले। स्वेदन एवं अभ्यंग प्रसूता को प्रतिदिन कराना चाहिए और वह क्रोध से दूर रहे। उसे दस दिन तक वातहर द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध देना हितकर है। तदनन्तर शेष दस दिन तक मांसरस (Meat juice) विधिपूर्वक दें और जब प्रसूता इस प्रकार उपद्रव रहित और शुद्ध हो जाय तो बल एवं उत्तम वर्ण वाली हो जाने पर चार मास के पश्चात्

उपरोक्त परहेज (Restrictive regimen) की आवश्यकता नहीं रहती है। योनि-सन्तर्पण (Vaginal douching), अभ्यंग, पान (Drinking), बस्ति (Enemas), भोजन आदि में प्रसूता के लिए वातहर (आगे वर्णित) बलातैल का प्रयोग करना चाहिए॥ २५-२८॥

बलामूलकषायस्य दशमूलीशृतस्य च॥ २९॥
यवकोलकुलत्थानां क्वाथस्य पयसस्तथा। अष्टावष्टौ शुभा भागास्तैलादेकस्तदेकतः॥ ३०॥
पचेदावाप्य मधुरं गणं सैन्धवसंयुतम् । तथाऽगुरुं सर्जरसं सरलं देवदारु च॥ ३१॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं कुष्ठमेलां कालानुसारिवाम्। मांसीं शैलेयकं पत्रं तगरं सारिवां वचाम्॥ ३२॥
शतावरीमश्वगन्धां शतपुष्पां पुनर्नवाम्। तत्साधुसिद्धं सौवर्णे राजते मृण्मयेऽपि वा॥ ३३॥
प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् स्वनुगुप्तं निधापयेत्। बलातैलमिदं ख्यातं सर्ववातविकारनुत्॥ ३४॥
यथाबलमतो मात्रां सूतिकायै प्रदापयेत्। या च गर्भार्थिनी नारी क्षीणशुक्रश्च यः पुमान्॥ ३५॥
वातक्षीणे मर्महते मथितेऽभिहते तथा । भग्ने श्रमाभिपन्ने च सर्वथैवोपयुज्यते॥ ३६॥
एतदाक्षेपकादीन् वै वातव्याधीनपोहति। हिक्कां कासमधीमन्थं गुल्मं श्वासं च दुस्तरम्॥ ३७॥
षण्मासानुपयुज्यैतदन्त्रवृद्धिमपोहति । प्रत्यग्रधातुः पुरुषो भवेच्च स्थिरयौवनः॥ ३८॥
राज्ञामेतद्धि कर्तव्यं राजमात्राश्च ये नराः। सुखिनः सुकुमाराश्च धनिनश्चापि ये नराः॥ ३९॥

बलातैल—बला (*Sida cordifolia*) के मूल का क्वाथ , दशमूल क्वाथ, यव (जौ), कोल (बेर) और कुलथी का क्वाथ तथा दूध प्रत्येक आठ-आठ भाग, तेल एक भाग—इनमें काकोल्यादि गण की औषधियाँ तथा लवण मिलाकर (लवणे सैन्धवं मतम्) सबको पकावें। इसमें अगर, राल, गन्धविरोजा (सरलनिर्यास), देवदारु, मंजीठ, चन्दन, कूठ, एला, कालानुसारिवा (कृष्णसारिवा), जटामांसी, छैड़ छबीला, तेजपात, तगर, सारिवा, वच, शतावरी, असगन्ध, सौंफ, पुनर्नवा—इनके चूर्ण का प्रक्षेप देकर तैलपाक करें और सोने, चाँदी या मिट्टी के पात्र में भरकर भली प्रकार सुरक्षित रख लें। यह बलातैल है जो सभी प्रकार के वातविकारों को नष्ट करने में ख्यात है॥ २९-३४॥

इस बलातैल को प्रसूता को उसका बल और तैल की मात्रा का विचार कर दें। गर्भ की इच्छा वाली स्त्री, क्षीणशुक्र पुरुष, वायु के क्षीण होने पर, मर्म पर चोट लगने पर, मथित (Crush injury), अभिहत (Trauma) होने पर, भग्न, श्रम से थकान होने पर आदि सभी में इसका प्रयोग उपयोगी है। यह आक्षेपक (Convulsions) आदि वातविकारों को नष्ट करता है; हिक्का, कास, अधिमन्थ (Glaucoma), गुल्म, तीव्रश्वास को भी बलातैल दूर करता है। यदि बलातैल का छः मास तक सेवन किया जाय तो अन्त्रवृद्धि को नष्ट करता है, पुरुष पुष्टधातु वाला तथा सदा युवा बना रहता है। इस तैल का निर्माण राजाओं तथा राजा जैसे लोगों, सुखी एवं सुकुमार तथा धनवान् जनों के लिए करना चाहिए॥ ३५-३९॥

विमर्श— 'मधुरः काकोल्यादिगणः' (ड.)।

बलाकषायपीतेभ्यस्तिलेभ्यो वाऽप्यनेकशः। तैलमुत्पाद्य तत्क्वाथशतपाककृतं शुभम्॥ ४०॥
निवाते निभृतागारे प्रयुञ्जीत यथाबलम्। जीर्णेऽस्मिन् पयसा स्निग्धमश्नीयात् षष्टिकौदनम्॥
अनेन विधिना द्रोणमुपयुज्यान्नमीरितम्। भुञ्जीत द्विगुणं कालं बलवर्णान्वितस्ततः॥ ४२॥
सर्वपापैर्विनिर्मुक्तः शतायुः पुरुषो भवेत्। शतं शतं तथोत्कर्षो द्रोणे द्रोणे प्रकीर्तितः॥ ४३॥

शतपाक बलातैल—बला के काढ़े में तिलों को सात बार भावित कर उनका तेल निकाल लें और उस तिलतैल को बला के काढ़े में सौ बार पकावें। इस तेल को निवातस्थान में सुरक्षित गृह में बल के अनुसार सेवन करे तथा जीर्ण हो जाने पर साठी के स्निग्ध (स्नेहयुक्त) चावलों को दूध से दें। इस विधि से यदि एक द्रोण तैल का सेवन कर लिया जाता है और यथोक्त भोजन एक वर्ष तक किया जाय तो

व्यक्ति बल तथा वर्ण से युक्त होता हुआ सब पापों से मुक्त होकर सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करता है। जितने द्रोण तैल का प्रयोग किया जाता है उतने ही सौ वर्ष आयु में वृद्धि होती है॥ ४०-४३॥

विमर्श—भुञ्जीत द्विगुणं कालम्—उपरोक्त 'बलातैल' को छः मास तक और इस शतपाक तैल को द्विगुण काल (एक साल तक) सेवन करने को कहा है।

बलाकल्पेनातिबलागुडूच्यादित्यपर्णिषु । सैरेयके वीरतरौ शतावर्यां त्रिकण्टके॥ ४४॥
तैलानि मधुके कुर्यात् प्रसारिण्यां च बुद्धिमान्।

बुद्धिमान् चिकित्सक इस बलातैल की तरह अतिबला, गिलोय, आदित्यपर्णी (सूर्यावर्तः), सैरेयक, वीरतरु (अर्जुन), शतावरी, त्रिकण्टक (गोखरू), मुलेठी और प्रसारणी से भी तैल सिद्ध करें॥ ४४॥

नीलोत्पलं वरीमूलं गव्ये क्षीरे विपाचयेत्॥ ४५॥
शतपाकं ततस्तेन तिलतैलं पचेद्भिषक्। बलातैलस्य कल्कांस्तु सुपिष्टांस्तत्र दापयेत्॥ ४६॥
सर्वेषामेव जानीयादुपयोगं चिकित्सकः । बलातैलवदेतेषां गुणांश्चैव विशेषतः॥ ४७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मूढगर्भचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥



शतावरी शतपाक तैल—बुद्धिमान् चिकित्सक नीलकमल और शतावरी को गोदुग्ध में पकावें (क्षीरपाक करें—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः')। फिर इस दूध में तिलतैल को सौ बार पकावें और पाककाल में उन कल्क द्रव्यों को अच्छी तरह पीसकर डालें जो बलातैल में डाले गये हैं। इस तैल में वे सब गुण हैं जो बलातैल में बताये गये हैं, ऐसा जानें॥ ४५-४७॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'मूढगर्भचिकित्सा' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १५॥



अध्याय-सारांश

'मूढगर्भचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—मूढगर्भरूपी शल्य का निकलना सबसे अधिक कष्टप्रद यकृत्प्लीहा–अन्त्र आदि के मध्य कार्य करना होता है और एक हाथ से शस्त्रकर्म एवं गर्भ तथा गर्भिणी की रक्षा का कार्य, अतः राजाज्ञा प्राप्त कर यत्न करें (३);

शिर, अंस और जघन के फँसने से आठ प्रकार का मूढ़गर्भ, सुखपूर्वक प्रसव के लिए अनेक मन्त्र (८), सुखप्रसवार्थ अनेक औषधयोग, मृतगर्भ को निकालने के लिए शस्त्रप्रयोग, प्रजनयिष्य माता को पीठ के सहारे लिटाकर, टाँगें सिकोड़कर योनि में हाथ डालकर मृतगर्भ को निकालना, मूढगर्भ की भिन्न पोजिशनें होती हैं, उन सभी में गर्भ को इस प्रकार हस्तकौशल से घुमाना कि जिससे अपत्यपथ में सीधा आकर आसानी से निकाला जा सके (९), गर्भ के जीवित होने पर उसके अंगछेदन के लिए शस्त्रप्रयोग कभी न करें (१०), गर्भ के शिर का भेदन करने के लिए मण्डलाग्र शस्त्र का प्रयोग करें, फिर शिर की अस्थियाँ निकालकर शंकु को छाती या कक्षा में फँसाकर शेष गर्भ को निकालें (११), अपरापातन के उपाय, शल्याहरण के बाद का उपचार (१८), वेदना की शान्ति के उपाय, बलातैल का विविध रूपों में उपयोग, नीलोत्पलादि से सिद्ध तैल (४६)।



षोडशोऽध्यायः

अथातो विद्रधीनां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।। १ ।।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ।। २ ।।

अब इसके उपरान्त 'विद्रधीनां चिकित्सितम्' (The Management of Abscesses) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ।। १-२ ।।

उक्ता विद्रधयः षड्ये तेष्वसाध्यस्तु सर्वजः । शेषेष्वामेषु कर्तव्या त्वरितं शोफवत् क्रिया ।। ३ ।।

विद्रधि की असाध्यता एवं चिकित्सा—(निदानस्थान अध्याय ९ में) छः प्रकार की जो विद्रधियाँ वर्णित की गयी हैं उनमें त्रिदोषज विद्रधि असाध्य होती है। शेष पाँच प्रकार की विद्रधियाँ जब आमावस्था (Inflammation) में होती हैं तभी उनकी शोफ की चिकित्सा की तरह तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिए ('शेषेषु पञ्चसु शोफवत् क्रियेति सा पुनरपतर्पणाद्या विरेचनान्तैकादशविधाः'–ड.) ।। ३ ।।

वातघ्नमूलकल्कैस्तु घृततैलवसायुतैः । सुखोष्णो बहलो लेपः प्रयोज्यो वातविद्रधौ ।। ४ ।।
सानूपौदकमांसस्तु काकोल्यादिः सतर्पणः । स्नेहाम्लसिद्धो लवणः प्रयोज्यश्चोपनाहने ।। ५ ।।
वेशवारैः सकृशरैः पयोभिः पायसैस्तथा । स्वेदयेत् सततं चापि निर्हरेच्चापि शोणितम् ।। ६ ।।

वातिक विद्रधि (Abscess) की चिकित्सा—वातघ्न ('भद्रदार्वादीनि; अन्ये तु वातघ्नः शोभाञ्जनकः') द्रव्यों के मूल के कल्क में घृत, तैल और वसा मिलाकर वातविद्रधि में मोटा और कोष्ण (बहल/Thick and lukewarm) लेप का प्रयोग करना चाहिए। उपनाहन (Poultices) के लिए आनूप (Swampy/महिषादि) और औदक (Aquatic) प्राणियों का मांस, काकोल्यादि गण की औषधियाँ और विदारिगन्धादि तर्पणद्रव्य तथा घृत, तैलादि स्नेह तथा अम्ल पदार्थों से सिद्ध लवण (लवणैः संस्कृतः) का प्रयोग करना चाहिए। स्वेदन (Sudation therapy) के लिए खिचड़ी के साथ वेशवार (संस्कृतमांसविशेष), दूध और खीर से निरन्तर स्वेदन कराना चाहिए, लाभ न होने पर रक्तमोक्षण करायें ।। ४-६ ।।

स चेदेवमुपक्रान्तः पाकायाभिमुखो यदि । तं पाचयित्वा शस्त्रेण भिन्द्याद्भिन्नं च शोधयेत् ।। ७ ।।

विद्रधि का भेदन एवं शोधन—यदि अपक्व वातिक विद्रधि का इस प्रकार उपचार करने पर भी वह पाकाभिमुख (Tendency for suppuration) हो जाय तो उसे पकाकर शस्त्र से भेदन कर दें और शोधन करें ।। ७ ।।

पञ्चमूलकषायेण प्रक्षाल्य लवणोत्तरैः । तैलैर्भद्रादिमधुकसंयुक्तैः प्रतिपूरयेत् ।। ८ ।।

शोधनार्थ कषाय—फिर इसको पञ्चमूलक कषाय से धोकर इसे भद्रदार्वादि द्रव्यों एवं मधुक के साथ लवणबहुल तैलों से भर दें ।। ८ ।।

वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च । पृथक्पर्ण्यादिसिद्धेन त्रैवृतेन च रोपयेत् ।। ९ ।।

रोपण योग—वैरेचनिक युक्त (निशोथादि विरेचन द्रव्यों से युक्त) त्रैवृत (घृत-तैल-वसा) से व्रण का शोधन कर उसका पृथक्पर्ण्यादि द्रव्यों से सिद्ध त्रैवृत से रोपण करें ।। ९ ।।

पैत्तिकं शर्करालाजामधुकैः सारिवायुतैः । प्रदिह्यात् क्षीरपिष्टैर्वा पयस्योशीरचन्दनैः ।। १० ।।

पैत्तिक विद्रधि की चिकित्सा—अपक्व पैत्तिक विद्रधि के प्रशमन के लिए शर्करा, धान की खील, मुलेठी एवं सारिवा को दूध में पीसकर लेप करें अथवा क्षीरकाकोली, खस तथा चन्दन को दूध में पीसकर लगावें॥ १०॥

पाक्यैः शीतकषायैर्वा क्षीरैरिक्षुरसैस्तथा । जीवनीयघृतैर्वाऽपि सेचयेच्छर्करायुतैः॥ ११॥
त्रिवृद्धरीतकीनां च चूर्णं लिह्यान्मधुद्रवम्। जलौकोभिर्हरेच्चासृक् पक्वं चापाटय्य बुद्धिमान्॥

सिञ्चनार्थ शीतकषाय—सिञ्चन (छिड़काव) के लिए कोष्ण क्वाथ या शीतकषायों या दूध, गन्ने का रस अथवा जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध शर्करायुक्त घृतों को प्रयुक्त करें॥ ११॥

जलौकापातन एवं पाटन कर्म—निशोथ और हरड़ के चूर्ण को मधु मिलाकर चाटने को दें। जलौकापातन द्वारा रक्त निकालें और पक जाने पर बुद्धिमान् चिकित्सक विद्रधि का पाटन कर्म (Incision) करे॥ १२॥

क्षीरवृक्षकषायेण प्रक्षाल्यौदकजेन वा । तिलैः सयष्टीमधुकैः सक्षौद्रैः सर्पिषा युतैः॥ १३॥
उपदिह्य प्रतनुना वाससा वेष्टयेद्व्रणम्।

व्रणप्रक्षालन एवं रोपण योग—विद्रधि के भेदन के पश्चात् प्लक्षादि क्षीर वृक्षों के क्वाथ या जल में होने वाले कमलादि के क्वाथ से व्रण का प्रक्षालन कर तिल, मुलैठी के चूर्ण में मधु एवं घृत मिलाकर पतला लेप करें और वस्त्र (पट्टी) से व्रण को लपेट दें॥ १३॥

प्रपौडण्रीकमञ्जिष्ठामधुकोशीरपद्मकैः ॥ १४॥
सहरिद्रैः कृतं सर्पिः सक्षीरं व्रणरोपणम्। क्षीरशुक्लापृथक्पर्णीसमङ्गारोध्रचन्दनैः॥ १५॥
न्यग्रोधादिप्रवालेषु तेषां त्वक्ष्वथवा कृतम्।

व्रणरोपण घृत—व्रण के रोपण (Healing) के लिए प्रपौण्डरीक ('स्वनामख्यातं यष्टिमधुद्रव्यादीषत्स्थूलं मधुररसं नेत्राश्च्योतनार्थं द्रव्यम्, अन्ये श्रीपुष्पमाहुः'–डल्हणः), मंजीठ, मुलेठी, खस, पद्मकाष्ठ, हरिद्रा और दुग्ध से सिद्ध घृत उपयुक्त है। अथवा क्षीरविदारी (या क्षीरकाकोली), पृथक्पर्णी (पिठवन), मंजीठ, लोध्र, चन्दन और न्यग्रोधादि के पत्र या छाल से सिद्ध घृत व्रणरोपण करता है॥ १४-१५॥

नक्तमालस्य पत्राणि तरुणानि फलानि च॥ १६॥
सुमनायाश्च पत्राणि पटोलारिष्टयोस्तथा। द्वे हरिद्रे मधूच्छिष्टं मधुकं तिक्तरोहिणी॥ १७॥
प्रियङ्गुः कुशमूलं च निचुलस्य त्वगेव च। मञ्जिष्ठाचन्दनोशीरमुत्पलं सारिवे त्रिवृत्॥ १८॥
एतेषां कार्षिकैर्भागैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् । दुष्टव्रणप्रशमनं नाडीव्रणविशोधनम्॥ १९॥
सद्यश्छिन्नव्रणानां च करञ्जाद्यमिदं शुभम्। दुष्टव्रणाश्च ये केचिद्ये चोत्सृष्टक्रिया व्रणाः॥ २०॥
नाड्यो गम्भीरिका याश्च सद्यश्छिन्नास्तथैव च। अग्निक्षारकृताश्चैव ये व्रणा दारुणा अपि॥ २१॥
करञ्जाद्येन हविषा प्रशाम्यन्ति न संशयः।

करञ्जादि घृत—नक्तमाल (करञ्ज/ *Pongamia glabra*) के तरुण (नवीन) पत्र और फल (कच्चे), चमेली के पत्ते, पटोल और रीठे के पत्र, हल्दी और दारुहल्दी, मोम, मुलेठी, कुटकी, प्रियंगु, कुशमूल, निचुल ('वेतस'–ड.; समुद्रफल) की छाल, मंजीठ, चन्दन, खस, कमल, सारिवाद्वय और निशोथ—ये प्रत्येक एक-एक कर्ष, घृत एक प्रस्थ—इन्हें मिलाकर घृतपाक करें। 'करंजादि' नामक यह घृत व्रणों को शान्त करता है। यह नाड़ीव्रणों का शोधक है और सद्यश्छिन्न व्रणों (Recently excised wounds) के लिए शुभ (उत्तम) है। दुष्ट व्रण, असाध्य व्रण (उत्सृष्टक्रिया व्रण), नाड़ीव्रण, गम्भीर धातुओं में स्थित व्रण, सद्योव्रण (छिन्नव्रण), अग्निदग्ध या क्षारदग्ध व्रण और दारुण व्रण करञ्जादि घृत से निःसन्देह शान्त हो जाते हैं॥ १६-२१॥

इष्टकासिकतालोष्टगोशकृत्तुषपांशुभिः ॥ २२॥

मूत्रैरुष्णैश्च सततं स्वेदयेच्छ्लेष्मविद्रधिम् । कषायपानैर्वमनैरालेपैरुपनाहनैः ॥ २३ ॥
हरेद्दोषानभीक्ष्णं चाप्यलाब्वाऽसृक् तथैव च। आरग्वधकषायेण पक्वं चापाट्य धावयेत् ॥ २४ ॥
हरिद्रात्रिवृताशक्तुतिलैर्मधुसमायुतैः । पूरयित्वा व्रणं सम्यग् बध्नीयात्कीर्तितं यथा ॥ २५ ॥
ततः कुलत्थिकादन्तीत्रिवृच्छ्यामार्कतिल्वकैः। कुर्यात्तैलं सगोमूत्रं हितं तत्र ससैन्धवम् ॥ २६ ॥

कफज विद्रधि-चिकित्सा—श्लैष्मिक विद्रधि के स्वेदन के लिए गरम ईंट, रेता, पत्थर, गाय का उपला (Cow dung), तुष (धान का छिलका/Chafe), धूल (मिट्टी/Clay) या गोमूत्र को गरम कर निरन्तर प्रयोग में लायें। इसी प्रकार श्लेष्महर कषाय, पान, वमन, आलेपन, उपनाहनों के प्रयोग से दोषों को दूर करें। सफलता न मिलने पर अलाबू से रक्त निकालें। यदि विद्रधि पक गयी हो तो उसका पाटन-भेदन कर आरग्वध कषाय से व्रण का प्रक्षालन करें। तदनन्तर हल्दी, निशोथ, सत्तु और तिल—इनके चूर्ण के साथ मधु मिलाकर व्रण को भर दें और पूर्व वर्णित के अनुसार ('घनेन वाससा श्लैष्मिकं गाढतरम्' इत्यादिः) बन्धन कर दें। उसके बाद कुलथी, दन्ती, निशोथ, श्यामा (श्यामालता/कृष्णसारिवा, 'एकं वा सारिवामूलं सर्वव्रणविशोधनम्'-च.द.), आक और तिल्वक, सैन्धव नमक और गोमूत्र इनसे सिद्ध तैल कफज व्रण में हितकर है॥ २२-२६ ॥

पित्तविद्रधिवत् सर्वाः क्रिया निरवशेषतः। विद्रध्योः कुशलः कुर्याद्रक्तागन्तुनिमित्तयोः ॥ २७॥

रक्तज और आगन्तुज विद्रधि का चिकित्सासूत्र—कुशल चिकित्सक को चाहिए कि वह रक्तज और आगन्तुज विद्रधि की चिकित्सा पित्तज विद्रधि की सम्पूर्ण चिकित्सा की तरह करे॥ २७॥

वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरोत्थिते । ऊषकादिप्रतीवापं पिबेत् सुखकरं नरः ॥ २८ ॥
अनयोर्वर्गयोः सिद्धं सर्पिर्विरेचनेन च। अचिराद्विद्रधिं हन्ति प्रातः प्रातर्निषेवितम् ॥ २९ ॥

आभ्यन्तर विद्रधि (Internal abscess) **की चिकित्सा**—अपक्व आभ्यन्तर विद्रधि की शान्ति के लिए वरुणादि क्वाथ में ऊषकादि गण की औषधियों का सुखकर प्रतीवाप (प्रक्षेप) डालकर पिलावें। उपरोक्त दोनों वर्गों (वरुणादि गण तथा ऊषकादि गण) के द्रव्यों तथा विरेचन द्रव्यों से सिद्ध किये गये घृत को प्रतिदिन प्रातःकाल (१० से २० ग्राम की मात्रा में) पान करने से विद्रधि अचिर काल में ही नष्ट हो जाती है॥ २८-२९ ॥

एभिरेव गणैश्चापि संसिद्धं स्नेहसंयुतम्। कार्यमास्थापनं क्षिप्रं तथैवाप्यनुवासनम् ॥ ३० ॥

बस्ति-प्रयोग—इन्हीं गणों की औषधियों से सिद्ध स्नेह (तैल) से शीघ्र आस्थापन तथा अनुवासन बस्तियाँ दें॥ ३० ॥

पानालेपनभोज्येषु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा। दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ॥ ३१ ॥

मधुशिग्रुयोग—इसी प्रकार अपक्व आभ्यन्तर विद्रधि के दोषानुसार शमनार्थ मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) का पान (कषाय), आलेपन (कल्क) और भोज्य पदार्थों में आवाप के साथ उपयोग करें॥ ३१ ॥

तोयधान्याम्लमूत्रैस्तु पेयो वाऽपि सुरादिभिः। यथादोषगणक्वाथैः पिबेद्वाऽपि शिलाजतु ॥ ३२ ॥
प्रधानं गुग्गुलं चापि शुण्ठीं च सुरदारु च। स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च सदा चाप्यनुलोमनम् ॥ ३३ ॥

शिलाजतु-प्रयोग—अथवा मीठे सहिजन के चूर्णादि को जल, काँजी, गोमूत्र या सुरादि के साथ दें या तत्तद् दोषहर क्वाथ से शिलाजतु का सेवन करायें। उत्तम श्रेणी का (महिषाक्ष) गुग्गुलु, शुण्ठी और

देवदारु का सेवन भी करायें (वातिके देवदारुं, श्लैष्मिके शुण्ठीम्) तथा स्नेहन, उपनाहन एवं अनुलोमन भी सदा दोषानुसार कराने चाहिए॥ ३२-३३॥

यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ भिषक्। रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्बाहौ वदन्ति तु॥ ३४॥

विद्रधि में सिरावेध (Venepuncture)—शल्यचिकित्सक कफज विद्रधि में यथोद्दिष्टा अर्थात् पूर्वकृत वर्णन के अनुसार (शारीरस्थान अध्याय ८ में कथित—'वामपार्श्वे कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च') सिरा का वेध करें। किन्हीं के मतानुसार रक्तपित्त तथा वायु से होने वाली विद्रधि में बाहु के मध्य की सिरा का वेध करना चाहिए॥ ३४॥

पक्वं वा बहिरुन्नद्धं भित्त्वा व्रणवदाचरेत्। स्रुतेषूर्ध्वमधो वाऽपि मैरेयाम्लसुरासवैः॥ ३५॥
पेयो वरुणकादिस्तु मधुशिग्रुद्रुमोऽपि वा। शिग्रुमूलजले सिद्धं ससिद्धार्थकमोदनम्॥ ३६॥
यवकोलकुलत्थानां यूषैर्भुञ्जीत मानवः। प्रातः प्रातश्च सेवेत मात्रया तैल्वकं घृतम्॥ ३७॥
त्रिवृतादिगणक्वाथसिद्धं वाऽप्युपशान्तये।

पक्व (Suppurated) **आभ्यन्तर विद्रधि की चिकित्सा**—पक्व अथवा उभर कर बाहर को आयी हुई (Pointing externally) आभ्यन्तर विद्रधि का भेदन कर व्रणवत् चिकित्सा करें। जिस आभ्यन्तर विद्रधि में पककर फट जाने के बाद ऊर्ध्व या अधोमार्ग (स्रोतों) से दोषनिर्हरण हो रहा है उसमें वरुणादि गण की औषधियों या मीठे सहिजन के चूर्ण को मैरेय ('सुरासवयोः प्रत्येकं निष्पादितयोरेकीकृत्य पुनः सन्धानं मैरेयः'), अम्ल (काञ्जिकम्), सुरा या आसव से पिलायें। रोगी शिग्रुमूल के क्वाथ में सिद्ध सरसों के साथ चावलों का जौ, बेर और कुलथी के यूष के साथ भोजन करे। अथवा प्रतिदिन प्रातःकाल समुचित मात्रा में तैल्वक घृत का, जो त्रिवृतादि गण की औषधियों से सिद्ध किया गया हो, वायु की शान्ति के लिए सेवन करें॥ ३५-३७॥

नोपगच्छेद्यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक्॥ ३८॥
पर्यागते विद्रधौ तु सिद्धिर्नैकान्तिकी स्मृता।

आभ्यन्तर विद्रधि को पकने न देना—शल्यहर्ता को चाहिए कि वह इस प्रकार प्रयत्न करे कि आभ्यन्तर विद्रधि पके नहीं, क्योंकि इसके पक जाने के उपरान्त चिकित्सा में सफलता अनिश्चित (नैकान्तिकी/Uncertain) होती है॥ ३८॥

प्रत्याख्याय तु कुर्वीत मज्जजाते तु विद्रधौ॥ ३९॥
स्नेहस्वेदोपपन्नानां कुर्याद्रक्तावसेचनम्। विद्रध्युक्तां क्रियां कुर्यात् पक्वे वाऽस्थि तु भेदयेत्॥

मज्जविद्रधि (Osteomyelitis) **की चिकित्सा**—यदि अस्थिमज्जा में विद्रधि है तो इसके ठीक होने में सन्देह बताकर चिकित्सा (प्रत्याख्याय/Its bad prognosis) करनी चाहिए। स्नेहन-स्वेदन करने के उपरान्त रक्तावसेचन (Blood letting) करें और विद्रधि की जो चिकित्सा बतायी गयी है (अपक्व में एकादश उपक्रम आदि) उसे करें। यदि अस्थि (मज्ज) गत विद्रधि पक गयी है तो उसका भेदन करें॥ ३९-४०॥

निःशल्यमथ विज्ञाय कर्तव्यं व्रणशोधनम्। धावेत् तिक्तकषायेण तिक्तं सर्पिस्तथा हितम्॥ ४१॥

शोधनार्थ तिक्तकषाय—भेदन के उपरान्त पूय के निकल जाने पर शल्य रहित स्थिति में व्रण का शोधन करना चाहिए। एतदर्थ तिक्त द्रव्यों के कषाय से व्रण का प्रक्षालन तथा तिक्त घृत हितकर हैं॥ ४१॥

यदि मज्जपरिस्रावो न निवर्तेत देहिनः। कुर्यात् संशोधनीयानि कषायादीनि बुद्धिमान्॥ ४२॥

शोधन कषायों का प्रयोग—यदि भेदन के उपरान्त (या स्वत: भेदन होने पर) मज्जपरिस्राव (मज्जा का निकलते रहना/Discharge of marrow) न रुके तो बुद्धिमान् चिकित्सक शोधनीय कषायों का प्रयोग करें॥ ४२॥

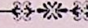
प्रियङ्गुधातकीरोध्रकट्फलं तिनिसैन्धवम् । एतैस्तैलं विपक्तव्यं विद्रधिव्रणरोपणम्॥ ४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विद्रधिचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥



रोपणार्थ प्रियंग्वादि तैल—विद्रधि के व्रणरोपण (Healing up of the ulcer) के लिए प्रियंगु, धाय, लोध्र, कायफल, तिनिस (स्यन्दन) और सेंधानमक इनसे सिद्ध तैल हितकर है॥ ४३॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'विद्रधिचिकित्सा' नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १६॥



अध्याय-सारांश

'विद्रधिचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—यह बताकर कि साध्यासाध्य विद्रधि कौन-सी है, अपक्व विद्रधि की शोफवत् चिकित्सा तुरन्त करने का सुझाव (३), एतदर्थ दोषानुसार लेप, उपनाहन, स्वेदन, शोणितावसेचनादि से शान्त न हो तो शस्त्र से भेदन, शोधन एवं रोपण का वर्णन (९), करञ्जादि घृत का दारुण व्रणों में उपयोग (२१), रक्तज एवं आगन्तुज विद्रधि का उपचार पित्तज विद्रधि की तरह करने का सुझाव (२७)।

आभ्यन्तर विद्रधि की चिकित्सा, शान्त्यर्थ वरुणादि कषाय का पान, आस्थापन, अनुवासन तथा पान, आलेपन एवं भोज्य पदार्थों में मधुशिग्रु का उपयोग (३०), आभ्यन्तर विद्रधि की शान्ति के लिए तत्तद् दोषहर द्रव्यों के कषाय से शिलाजतु का सेवन, गुग्गुलु, शुण्ठी, देवदारु आदि का उपयोग (३२), कफज विद्रधि में सिरावेध, मतान्तर से वातज तथा रक्तज एवं पित्तज विद्रधि में सिरावेध का उल्लेख (३३), बहिर्मुख अन्तर्विद्रधि का उपचार तथा वरुणादि कषाय मैरेयादि के साथ प्रयोग, भोजनार्थ जौ, बैर, कुलत्थ, यूष, तैल्वक घृत का सेवन (३६), आभ्यन्तर विद्रधि को पकने न देने का सुझाव (३७), मज्जगत विद्रधि की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, रक्तावसेचन, भेदन, शोधन, रोपण द्रव्य (४१), विद्रधि-व्रणरोपण के लिए प्रियंगु आदि तैल (४२)।



सप्तदशोऽध्यायः

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके उपरान्त 'विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितम्' (The Management of Spreading Cellulitis, Sinuses and Breast Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

साध्या विसर्पास्त्रय आदितो ये न सन्निपातक्षतजौ हि साध्यौ।
साध्येषु तत्पथ्यगणैर्विदध्याद्घृतानि सेकांश्च तथोपदेहान्॥ ३॥

विसर्प (Spreading cellulitis) **की साध्यासाध्यता** (Prognosis)—(निदानस्थान अध्याय दस में वर्णित) विसर्प के आदि के तीन भेद (वातिक-पैत्तिक-श्लैष्मिक) साध्य (Curable) हैं और शेष दो (सान्निपातिक तथा क्षतज विसर्प) असाध्य हैं। विसर्प के साध्य भेदों की चिकित्सा में वातादि दोषों को दूर करने वाले औषधगणों से सिद्ध घृतों से सिंचन (Irrigation) और उपदेह (लेप/Plasters) करना चाहिए॥ ३॥

मुस्ताशताह्वासुरदारुकुष्ठवाराहिकुस्तुम्बुरुकृष्णगन्धाः।
वातात्मके चोष्णगणाः प्रयोज्याः सेकेषु लेपेषु तथा शृतेषु॥ ४॥
यत्पञ्चमूलं खलु कण्टकाख्यमल्पं महच्चाप्यथ वल्लिजं च।
तच्चोपयोज्यं भिषजा प्रदेहे सेके घृते चापि तथैव तैले॥ ५॥

वातिक विसर्प की चिकित्सा—वातज विसर्प में परिसिंचन, लेप और कषाय के रूप में नागरमोथा, सौंफ, देवदारु, कूठ, वाराहीकन्द, कुस्तुम्बरु (धनियाँ), कृष्णगन्धा (शोभांजन) तथा भद्रदार्व्यादि, पिप्पल्यादि उष्ण गण की औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार चिकित्सक द्वारा प्रदेह, परिषेक, घृत तथा तैल के रूप में कण्टकपञ्चमूल, लघुपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल तथा वल्लीपञ्चमूल के द्रव्यों को प्रयोग में लाना चाहिए॥ ४-५॥

कसेरुशृङ्गाटकपद्मगुन्द्राः सशैवलाः सोत्पलकर्दमाश्च।
वस्त्रान्तराः पित्तकृते विसर्पे लेपा विधेयाः सघृताः सुशीताः॥ ६॥

पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा—कसेरु, सिंघाड़ा (शृंगाटकं = जलमध्ये त्रिकण्टकम्), पद्म, भद्रमुस्ता, सैवाल और कमल तथा उसका कर्दम (कीचड़)—इनको घृत में मिलाकर तथा शीतल का ही लेप करें और बीच में वस्त्र रख लें (कपड़े में रख कर लेप करें)॥ ६॥

विमर्श— वस्त्रान्तराः—कसेरु आदि का घृत में मिलाकर लेप कपड़े पर रखकर विकृत स्थल पर लगाना अथवा विकृत स्थल पर कपड़ा रखकर लेप लगाना। इस सम्बन्ध में 'वस्त्रान्तराः' का डल्हणानुसार अर्थ—'वस्त्रान्तराः वस्त्रेणान्तरीकृताः, तेन हि सुखेनापनेतुं शक्यते' अर्थात् विकृत स्थल पर कपड़ा रखकर घृतादि का लेप लगाने से उसे अलग करने में आसानी होती है।

ह्रीबेरलामज्जकचन्दनानि स्रोतोजमुक्तामणिगैरिकाश्च।
क्षीरेण पिष्टाः सघृताः सुशीता लेपाः प्रयोज्यास्तनवः सुखाय॥ ७॥

ह्रीबेरादि लेप—ह्रीबेर (हाऊबेर), लामज्जक (उशीरमूलम्), चन्दन, सौवीराञ्जन, मोती, मणि, गैरिक—इनको दूध में पीसकर घृत मिलाकर पतला एवं शीतल लेप करना हितकर है॥ ७॥

विमर्श— श्रीवाग्भट के अनुसार—'श्लक्ष्णमुष्णघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्। शरीरस्यापि चोष्माणं रोधाच्छीतं करोति च'॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पयस्या मञ्जिष्ठिका पद्मकचन्दने च।
सुगन्धिका चेति सुखाय लेपः पैत्ते विसर्पे भिषजा प्रयोज्यः॥ ८॥
न्यग्रोधवर्गैः परिषेचनं च घृतं च कुर्यात् स्वरसेन तस्य।
शीतैः पयोभिश्च मधूदकैश्च सशर्करैरिक्षुरसैश्च सेकान्॥ ९॥

प्रपौण्डरीकादि लेप—चिकित्सक को चाहिए कि वह पैत्तिक विसर्प में प्रपौण्डरीक, मुलहठी, क्षीरविदारी, मंजीठ, पद्मकाठ, चन्दन और उत्पलसारिवा (सुगन्धिका) का सुखार्थ लेप करे॥ ८॥

परिषेचन—पैत्तिक विसर्प में परिषेचन के लिए न्यग्रोधादि वर्ग की औषधियों का कषाय (शीतल), इनके स्वरस से सिद्ध घृत, शीतल दुग्ध, मधुयुक्त जल, शर्कराजल तथा गन्ने का शीतल रस प्रयोग में लायें॥ ९॥

विमर्श— प्रपौण्डरीकम्—'स्वनामख्यातं यष्टिमधुद्रव्यादिवत् स्थूलं मधुरसं नेत्राश्च्योतनार्थं द्रव्यम्, अन्ये श्रीपुष्पमाहुः (ड.)।

घृतस्य गौरीमधुकारविन्दरोध्राम्बुराजादनगैरिकेषु।
तथर्षभे पद्मकसारिवासु काकोलिमेदाकुमुदोत्पलेषु॥ १०॥
सचन्दनायां मधुशर्करायां द्राक्षास्थिरापृश्निशताह्वयासु।
कल्कीकृतासूदकमत्र दत्त्वा न्यग्रोधवर्गस्य तथा स्थिरादेः॥ ११॥
गणस्य बिल्वादिकपञ्चमूल्याश्चतुर्गुणं क्षीरमथापि तद्वत्।
प्रस्थं विपक्वं परिषेचनेन पैत्तीर्निहन्यात् तु विसर्पनाडीः॥ १२॥
विस्फोटदुष्टव्रणशीर्षरोगान् पाकं तथाऽऽस्यस्य निहन्ति पानात्।
ग्रहार्दिते शोषिणि चापि बाले घृतं हि गौर्यादिकमेतदिष्टम्॥ १३॥

गौर्यादि घृत—गौरी (हरिद्रा), मुलेठी, कमल, लोध्र, अम्बु (बालकम् = सुगन्धबाला), राजादन (खिरनी), गेरू, ऋषभ (कूर्चशीर्षक), पद्माख, सारिवा, काकोली, मेदा, नीलकमल, कमल, चन्दन, मधुशर्करा (मधुनः शर्करा), द्राक्षा, स्थिरा (शालपर्णी), पिठवन (पृश्निपर्णी) और सौंफ—इनके कल्क के साथ न्यग्रोधादि गण का क्वाथ, सालपर्णी आदि का क्वाथ, बिल्वादिक पञ्चमूल का क्वाथ—इन्हें चतुर्गुण मिलाकर तथा चतुर्गुण दूध मिला एक प्रस्थ घृत सिद्ध करें। इससे परिषेचन (Irrigation) करने पर पैत्तिक विसर्प एवं नाडीव्रण ठीक होते हैं। पान करने पर यह (गौर्यादि नामक) घृत विस्फोट, दुष्टव्रण, शिरोरोग, मुखपाक सभी को ठीक करता है। ग्रहों (Evil asterism) से पीड़ित तथा शोष (Emaciation) से पीड़ित बालकों में भी यह घृत उपयोगी है॥ १०-१३॥

अजाऽश्वगन्धा सरला सकाला सैकैषिका चाप्यथवाऽजशृङ्गी।
गोमूत्रपिष्टो विहितः प्रदेहो हन्याद्विसर्पं कफजं सुशीघ्रम्॥ १४॥
कालानुसार्यागुरुचोचगुञ्जारास्नावचाशीतशिवेन्द्रपर्ण्यः।
पालिन्दिमुञ्जातमहीकदम्बा हिता विसर्पेषु कफात्मकेषु॥ १५॥

कफज विसर्प की चिकित्सा—असगन्ध, अजगन्ध, सरला (त्रिवृत्), कासमर्द, एकैषिका (शतावरी), मेढाश्रृंगी (छागलविषाणिका)—इनको गोमूत्र में पीसकर कफज विसर्प पर लेप करने से शीघ्र लाभ होता है। इसी प्रकार तगर, अगुरु, दालचीनी, गुञ्जा (रत्ती), रास्ना, वचा, शीतशिव (शतपुष्पाभेदः), इन्द्रवारुणी, पालिन्दी (कालवल्ली, कृष्णसारिवा), मुञ्जातक (उत्तरापथजः स्वल्पकन्दः, सालमपञ्जा/ *Eulophia comprestis*) तथा भूकदम्ब—इनका लेप करने पर ये कफज विसर्प में हितकर हैं॥ १४-१५॥

गणस्तु योज्यो वरुणप्रवृत्तः क्रियासु सर्वासु विचक्षणेन।
संशोधनं शोणितमोक्षणं च श्रेष्ठं विसर्पेषु चिकित्सितं हि॥ १६॥
सर्वांश्च पक्वान् परिशोध्य धीमान् व्रणक्रमेणोपचरेद्यथोक्तम्।

वरुणादि गण की श्रेष्ठता—कुशल चिकित्सक विसर्प की सभी चिकित्सा-क्रियाओं में वरुणादि गण की औषधियों का प्रयोग करते हैं। विसर्प की चिकित्सा में संशोधन क्रियाएँ और रक्तमोक्षण श्रेष्ठ हैं। पाक हो जाने पर बुद्धिमान् चिकित्सक सभी विसर्पों का संशोधन कर पूर्व वर्णित विधि के अनुसार व्रणोपचार करे॥ १६॥

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येच्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः॥ १७॥

नाडीव्रण (Sinuses) **की साध्यासाध्यता**—त्रिदोषज नाडीव्रण असाध्य होता है और शेष चार प्रकार के नाडीव्रण यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर ठीक होते हैं॥ १७॥

तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्वमशेषतः पूयगतिं विदार्य।
तिलैरपामार्गफलैश्च पिष्ट्वा ससैन्धवैर्बन्धनमत्र कुर्यात्॥ १८॥

वातिक नाडीव्रण की चिकित्सा—वातिक नाडीव्रण में सर्वप्रथम उपनाहन करें। तदनन्तर सम्पूर्ण पूयगतियों (Purulent sinus track) को विदीर्ण कर व्रण में तिल और अपामार्ग के बीजों को सैन्धव लवण के साथ मिलाकर लगावें और व्रणबन्धन कर दें॥ १८॥

प्रक्षालने चापि सदा व्रणस्य योज्यं महद्यत् खलु पञ्चमूलम्।
हिंस्रां हरिद्रां कटुकां बलां च गोजिह्विकां चापि सबिल्वमूलाम्॥ १९॥
संहृत्य तैलं विपचेद्व्रणस्य संशोधनं पूरणरोपणं च।

प्रक्षालनार्थ द्रव्य—वातिक नाडीव्रण के प्रक्षालन में सदा बृहत्पञ्चमूल के कषाय का प्रयोग करना चाहिए। व्रण के संशोधन, पूरण और रोपण के लिए हिंस्रा, हरिद्रा, कुटकी, बला, गोजिह्वा और बिल्वमूल—इनसे सिद्ध तैल का प्रयोग करें। इस तैल के उपयोग से व्रण का शोधन (Cleansing), पूरण (Filling) और रोपण (Healing) होते हैं॥ १९॥

पित्तात्मिकां प्रागुपनाह्य धीमानुत्कारिकाभिः सपयोघृताभिः॥ २०॥
निपात्य शस्त्रं तिलनागदन्तीयष्ट्याह्वकल्कैः परिपूरयेत्ताम्।
प्रक्षालने चापि ससोमनिम्बा निशा प्रयोज्या कुशलेन नित्यम्॥ २१॥

पैत्तिक नाडीव्रण-चिकित्सा—पैत्तिक नाडीव्रण में बुद्धिमान् चिकित्सक सर्वप्रथम दुग्ध-घृत युक्त उत्कारिकाओं (लप्सिकाभिः) से उपनाहन (Poultice) करे। तदनन्तर शस्त्रप्रयोग करे। इस प्रकार बने व्रण का तिल, नागदन्ती और मुलेठी के कल्क से पूरण कर दें (भर दें)। प्रक्षालन के लिए सोम (लता), नीम और हल्दी के क्वाथ का नित्य प्रयोग करें॥ २०-२१॥

श्यामात्रिभण्डीत्रिफलासु सिद्धं हरिद्रयो रोध्रकवृक्षयोश्च।
घृतं सदुग्धं व्रणतर्पणेन हन्याद्गतिं कोष्ठगताऽपि या स्यात्॥ २२॥

तर्पणार्थ श्यामादि घृत—यदि श्यामा (वृद्धदारुक), त्रिभण्डी (त्रिवृत्), त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, लोध्र और कुटजत्वक् से सिद्ध दुग्धयुक्त घृत से व्रण (नाडी) का तर्पण (Dressing) किया जाय तो कोष्ठगत (Body cavities) व्रण भी नष्ट हो जाते हैं॥ २२॥

नाडीं कफोत्थामुपनाह्य सम्यक् कुलत्थसिद्धार्थकशक्तुकिण्वैः।
मृदूकृतामेष्य गतिं विदित्वा निपातयेच्छस्त्रमशेषकारी॥ २३॥
दद्याद्व्रणे निम्बतिलान् सदन्तीन् सुराष्ट्रजासैन्धवसम्प्रयुक्तान्।
प्रक्षालने चापि करञ्जनिम्बजात्यक्षपीलुस्वरसाः प्रयोज्याः॥ २४॥
सुवर्चिकासैन्धवचित्रकेषु निकुम्भतालीतलरूपिकासु।
फलेष्वपामार्गभवेषु चैव कुर्यात् समूत्रेषु हिताय तैलम्॥ २५॥

उपनाहन एवं शस्त्रपातन—कफज नाडीव्रण में शल्यचिकित्सक कुलथी, सफेद सरसों, सत्तू और किण्व (सुराबीज/Yeast) से उपनाहन करे और नाडीव्रण के नरम हो जाने पर एषणी की सहायता से पूयमार्गों को भली प्रकार जानकर वैद्य (अशेषकारी) शस्त्रपातन (भेदन) करे। तत्पश्चात् व्रण में तिल और निम्ब, दन्ती, फिटकरी ('सुराष्ट्रजा = तुवरमृत्तिका'–ड.) और सेंधानमक मिलाकर तथा सबको पीसकर लगावें। व्रण के प्रक्षालन के लिए करञ्ज, नीम, चमेली, बहेड़ा और पीलु के स्वरस (क्वाथ) का प्रयोग करें॥ २३-२४॥

नाडीव्रणहर तैल—सज्जीखार, सेंधानमक, चित्रक, दन्ती, तालीतल (भूम्यामलकमूलम्), रूपिका (श्वेतार्क) और अपामार्ग के बीज—इन सबको गोमूत्र में मिलाकर तैलपाक करें। प्रयुक्त करने पर यह नाडीव्रणहर है॥ २५॥

नाडीं तु शल्यप्रभवां विदार्य निर्हृत्य शल्यं प्रविशोध्य मार्गम्।
संशोधयेत् क्षौद्रघृतप्रगाढैस्तिलैस्ततो रोपणमाशु कुर्यात्॥ २६॥

शल्योत्पन्न नाडी का भेदन एवं शोधन—शल्य (Foreign bodies) के कारण उत्पन्न नाडीव्रण में शल्यमार्ग को विदीर्ण कर शल्य निकाल दें और मार्ग का विशोधन करें। तदनन्तर मधु और घृत बहुल तिलकल्क के प्रयोग से व्रण का शोधन करें तथा व्रणरोपण का कार्य उसके बाद शीघ्र करना चाहिए॥ २६॥

कुम्भीकखर्जूरकपित्थबिल्ववनस्पतीनां च शलाटुवर्गैः।
कृत्वा कषायं विपचेत्तु तैलमावाप्य मुस्तासरलाप्रियङ्गूः॥ २७॥
सुगन्धिका मोचरसाहिपुष्पं रोध्रं विदध्यादपि धातकीं च।
एतेन शल्यप्रभवा तु नाडी रोहेद्व्रणो वा सुखमाशु चैव॥ २८॥

रोपणार्थ कुम्भीकादि तैल—इस प्रकार व्रण का शोधन हो जाने पर कुम्भीक (स्थलकुम्भिका), खजूर, कैथ, बिल्व तथा वनस्पतियों (पुष्पेण विना जायमानफला अश्वत्थादयः) इनके कच्चे फलों ('शलाटूनि = कोमलफलानि'–ड.) के क्वाथ में नागरमोथा, त्रिवृत्, प्रियंगु, उत्पलसारिवा, मोचरस (शाल्मलिचोचः) और नागकेसर, लोध्र तथा धातकी का प्रक्षेप डालकर तैल सिद्ध करें। इस तैल का व्रण में प्रयोग करने से शल्यनिमित्तज नाडीव्रण या व्रण सुखपूर्वक एवं शीघ्र रोहित (भर) हो जाता है॥ २७-२८॥

कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या। क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥ २९॥

क्षारसूत्र द्वारा नाडीच्छेदन—बुद्धिमान् शल्यचिकित्सक कृश (Emaciated), दुर्बल तथा भीरु (डरपोक/Timid) व्यक्तियों के नाडीव्रणों तथा मर्मस्थल (Vulnerable areas) के नाडीव्रणों का क्षारसूत्र (Thread impregnated with an alkali) से छेदन (Excision) करते हैं, शस्त्रप्रयोग द्वारा नहीं॥ २९॥

एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम्। सूचीं निदध्याद्गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत्॥ ३०॥
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्। ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत् प्रवेशयेत्॥ ३१॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः। भगन्दरेऽप्येष विधिः कार्यो वैद्येन जानता॥ ३२॥
अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्।
सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितान् वा समन्ततः। मूले सूत्रेण बध्नीयाच्छिन्ने चोपचरेद् व्रणम्॥ ३३॥

क्षारसूत्र-प्रयोगविधि—क्षारसूत्र द्वारा नाडीव्रण के छेदन के लिए पहले एषणी (Probe) की सहायता से पूयमार्ग की जानकारी प्राप्त कर ली जाती है। तत्पश्चात् एषणी में क्षारसूत्र को पिरोकर तथा पूयमार्ग (नाडी) से एषणी को ले जाकर नाडी के अन्त में छेद कर एषणी को शीघ्र बाहर निकाल लेते हैं और सूत्र को एषणी से अलग कर उसके दोनों प्रान्तों की कसकर गाँठ लगा दी जाती है। क्षारबल के अनुसार इसी प्रकर अन्य क्षारसूत्र की आवश्यकता हो सकती है। मतिमान् वैद्य पूयमार्ग (नाडी) के छिन्न होने तक क्षारसूत्र को बदलता रहता है॥ ३०-३१॥

क्षारसूत्र का अन्य प्रयोग—क्षारसूत्र के प्रयोग को जानने वाले चिकित्सक को भगन्दर में भी इस विधि का प्रयोग करना चाहिए। अर्बुद के तनुमूल (Base of the pedunculated tumour) में क्षारसूत्र को बाँधें। यदि अर्बुद का मूल तनु (पतला) न हो तो यववक्त्रा (जौ की तरह मुखवाली) सूई को अर्बुदमूल में चारों ओर प्रविष्ट कर मूल में सूत्र को कसकर बाँध दें। जब अर्बुद कट कर अलग हो जाय तो व्रणवत् चिकित्सा करें॥ ३२-३३॥

विमर्श— एषणी यन्त्र और शस्त्र दोनों है। यहाँ भेदनपूर्वक एषण कार्य करने वाली एषणी (शस्त्र) से अभिप्राय है ('एषण्येषणे भेदने च'-अ.सं.)।

या द्विव्रणीयेऽभिहितास्तु वर्त्यस्ताः सर्वनाडीषु भिषग् विदध्यात्।
घोण्टाफलत्वग्लवणानि लाक्षापूगीफलं चालवणं च पत्रम्॥ ३४॥
स्नुह्यर्कदुग्धेन तु कल्क एष वर्तीकृतो हन्त्यचिरेण नाडीः।
बिभीतकाम्रास्थिवटप्रवाला हरेणुकाशङ्खिनिबीजमस्य॥ ३५॥
वाराहिकन्दश्च तथा प्रदेयो नाडीषु तैलेन च मिश्रयित्वा॥ ३६॥
धुत्तूरजं मदनकोद्रवजं च बीजं कोशातकी शुकनसा मृगभोजिनी च।
अङ्कोटबीजकुसुमं गतिषु प्रयोज्यं लाक्षोदकाहृतमलासु विकृत्य चूर्णम्॥ ३७॥
तथा च गोमांसमसीं हिताय कोष्ठाश्रितस्यादरतो दिशन्ति।
वर्तीकृतं माक्षिकसम्प्रयुक्तं नाडीघ्नमुक्तं लवणोत्तमं वा॥ ३८॥
दुष्टव्रणे यद्विहितं च तैलं तत्सर्वनाडीषु भिषग्विदध्यात्।
चूर्णीकृतैरथ विमिश्रितमेभिरेव तैलं प्रयुक्तमचिरेण गतिं निहन्ति॥ ३९॥
एष्वेव मूत्रसहितेषु विधाय तैलं तत्साधितं गतिमपोहति सप्तरात्रात्।
पिण्डीतकस्य तु वराहविभावितस्य मूलेषु कन्दशकलेषु च सौचहेषु॥ ४०॥
तैलं कृतं गतिमपोहति शीघ्रमेतत् कन्देषु चामरवरायुधसाह्वयेषु।
भल्लातकार्कमरिचैर्लवणोत्तमेन सिद्धं विडङ्गरजनीद्वयचित्रकैश्च॥ ४१॥
स्यान्मार्कवस्य च रसेन निहन्ति तैलं नाडीं कफानिलकृतामपचीं व्रणांश्च।

वर्ति-प्रयोग—चिकित्सास्थान के 'द्विव्रणीय' नामक प्रथम अध्याय में जिन वर्तियों (Wicks) का वर्णन किया गया है उनका सभी प्रकार के नाडीव्रणों में प्रयोग करें॥ ३४॥

घोण्टाफलादि वर्ति—बदरी फल की छाल, सैन्धवादि नमक, लाख, सुपारी, अलवणा (काकमर्दनिका) के पत्र—इनका थोहर के दूध में कल्क बनाकर वर्ति तैयार करें। यह शीघ्र ही नाडीव्रण को नष्ट करती है।

बिभीतकादि वर्ति—इसी प्रकार बहेड़ा और आम की गिरी, बड़ की जटा (Sprouts), हरेणुका और यवतिक्ता के बीज तथा वाराहीकन्द—इनको तेल में मिलाकर नाडीव्रणों में प्रयुक्त करें॥ ३६॥

धुत्तूरादि चूर्ण—धतूरा और मैनफल तथा कोदों के बीज, कोशातकी (तुरई), शुकनासा (चर्मकारवटः), इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण), अंकोठबीज और कुसुम (फूल)—इनके चूर्ण को व्रण को लाक्षादि गण क्वाथ से धोने के उपरान्त नाडीव्रणों में प्रयुक्त करें॥ ३७॥

अन्य वर्तियाँ—गोमांस मसी (Ashes prepared from beef) का कोष्ठाश्रित नाडीव्रणों में प्रयोग उत्तम बताया गया है अथवा लवण और मधु से तैयार की गयी वर्ति नाडीव्रणहर है॥ ३८॥

नाडीव्रणहर तैल—दुष्टव्रणों की चिकित्सा में जो तैल बताये गये हैं, चिकित्सक उनका उपयोग सभी प्रकार के नाडीव्रणों में करें। उपरोक्त धुस्तूर बीज आदि द्रव्यों को मिलाकर तथा चूर्ण कर तैयार (सिद्ध) किया गया तैल नाडीव्रणों को शीघ्र ठीक कर देता है॥ ३९॥

गोमूत्र मिलाकर इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल सात दिन में नाडीव्रणों को ठीक कर देता है।

पिण्डीतकादि तैल—वराहकन्द के रस में भावित मदन के मूल, सुवहकन्द तथा वज्रकन्द के टुकड़ों से सिद्ध तैल नाडीव्रणों को शीघ्र ठीक करता है॥ ४०॥

भल्लातकादि तैल—इसी प्रकार भिलावा, आक, मरिच, लवण ('लवणे सैन्धवं मतम्'–प.प्र.), विडंग, हल्दी, दारुहल्दी और चित्रक के कल्क तथा मार्कव (भृंगराज) के रस में सिद्ध तैल कफवात कृत नाडीव्रण, अपची तथा अन्य प्रकार के व्रणों को भी नष्ट करता है॥ ४१॥

विमर्श— ''पिण्डीतकस्त्रिविधः—कृष्णपुष्पः, श्वेतपुष्पः पीतपुष्पश्च। तेषु अत्र वराहभावितः कृष्णपुष्पो ग्राह्यः। सुवहा गन्धनाकुली, नापीणीति लोके, गोधापदीत्यपरे, कान्दालीत्यन्ये। 'कन्देषु चामरवरायुधसाह्वयेषु'–इत्यत्र अमरवर इन्द्रः तस्यायुधं वज्रं तेन समान आह्वयः संज्ञा येषां ते अमरायुधसाह्वया वज्रकन्दास्तेषु''–ड.)

स्तन्ये गते विकृतिमाशु भिषक् तु धात्रीं पीतां घृतं परिणतेऽहनि वामयेत्तु॥ ४२॥
निम्बोदकेन मधुमागधिकायुतेन वान्तागतेऽहनि च मुद्गरसाशना स्यात्।
एवं त्र्यहं चतुरहं षडहं वमेद्वा सर्पिः पिबेत् त्रिफलया सह संयुतं वा॥ ४३॥

स्तन्यविकार में वमन—दोषों की विकृति से दूध में विकार आ जाने पर चिकित्सक शीघ्र ही स्त्री (धात्री/Wet nurse) को घृत ('सामान्योक्तमपि कफघ्नद्रव्यसंस्कृतं घृतम्'–ड.) पिलाकर निम्बक्वाथ में मधु और पिप्पली चूर्ण मिलाकर सायंकाल वमन करावें। वमन के उपरान्त अगले दिन रुग्णा को मूँगरस (Soup) खाने को दें। इस प्रकार तीन, चार या छः दिन के अन्तर से वमन करावें और त्रिफला के साथ घृतपान करायें॥ ४२-४३॥

भार्गी वचामतिविषां सुरदारु पाठां मुस्तादिकं मधुरसां कटुरोहिणीं च।
धात्री पिबेत्तु पयसः परिशोधनार्थमारग्वधादिषु वरं मधुना कषायम्॥ ४४॥

स्तन्यशोधन कषाय—धात्री को दुग्ध की शुद्धि के लिए भार्गी, वचा, अतीस, देवदारु, पाठा, मुस्तादि गण की औषधियाँ, मधुरसा (मूर्वा, चोरस्नायुरिति लोके) और कुटकी के कषाय का पान करायें तथा आरग्वधादि गण के द्रव्यों का कषाय मधु के साथ पिलाना भी उत्तम है॥ ४४॥

सामान्यमेतदुपदिष्टमतो विशेषाद्दोषान् पयोनिपतितान् शमयेद्यथास्वम्।

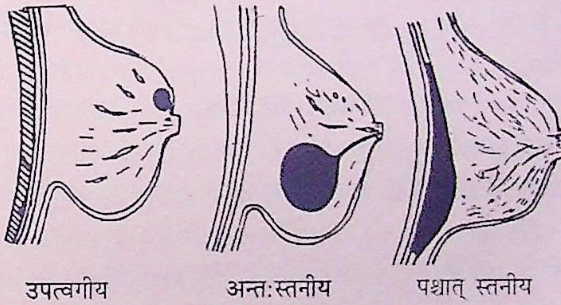
स्तन्यशोधन की दोषानुसार व्यवस्था—यह दुग्ध के सामान्य विकारों को दूर करने के उपायों का वर्णन है। दुग्ध के विशेष विकारों के प्रशमन के लिए दोषानुसार व्यवस्था करनी चाहिए।

रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग् विदध्याद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम्॥ ४५॥

स्तनविद्रधि की विद्रधिवत् चिकित्सा—चिकित्सक स्तनों की बीमारी का ज्ञान होते ही विद्रधि में जो अनेक प्रकार के विधान (चिकित्सोपाय) बताये हैं उनका उपयोग करे॥ ४५॥

सम्पच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः सम्भोजनेन खलु पाचयितुं यतेत।
शीघ्रं स्तनो हि मृदुमांसतयोपनद्धः सर्वं प्रकोथमुपयात्यवदीर्यते च॥ ४६॥

पच्यमान स्तनविद्रधि में उपनाहन का निषेध—स्तनशोथ में पाक आरम्भ होने पर (Mammary inflammation going on to suppuration) भी शीघ्र पकाने के लिए, बिना उपनाहन (Poultice) के भोजन द्वारा ही (विदाह्यादि अन्न-पान देकर) पकाने का यत्न करे, क्योंकि स्तन मृदु मांसवाली रचना होने (Abundant soft tissues) के कारण उपनाहन से शीघ्र सारा ही स्तन प्रकोथ (पूतिमांसताम्/Slough) को प्राप्त हो जाता है तथा विदीर्ण (Slough off) हो जाता है॥ ४६॥

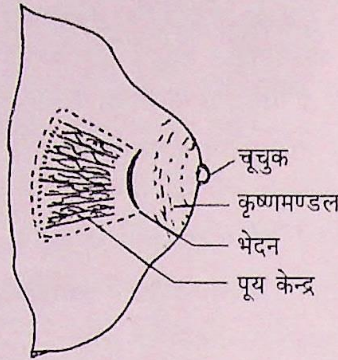


चित्र सं० २९ : स्तनविद्रधि
('शीघ्रं स्तनो हि····सर्वं प्रकोथम्')

पक्वे च दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम्।
आमे विदाहिनि तथैव गते च पाकं धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत॥ ४७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

स्तनविद्रधि के शस्त्रकर्म में सावधानी तथा दुग्ध-निर्हरण का आदेश—स्तनविद्रधि के पक जाने पर दुग्ध का वहन करने वाली नाड़ियों (Ducts), कृष्णमण्डल (Areola) और दोनों चूचुकों (Nipples) को बचाकर शस्त्र-प्रयोग करें। धात्री के स्तन की विद्रधि आम (Unripe/विदग्धतापरिहाराय) हो, विदाहयुक्त (Ripening/विपाकपरिहाराय) हो या पक गयी (Suppurated/नाडीव्रणपरिहाराय) हो—इन सभी अवस्थाओं में स्तन को दबाकर दूध को निरन्तर निकालते रहना चाहिए॥ ४७॥



चित्र सं० ३० : स्तनविद्रधि का भेदन
(‘कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम्’)

विमर्श— दुग्धहरिणी— ‘परिहृत्य नाडीः कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम्’ (सु.); ‘पाटयेत्पालयन् स्तन्यवाहिनीः कृष्णचूचुकौ’ (वा.)। इस शास्त्रीय वर्णन की तरह पाश्चात्य वैद्यक में भी कहा गया है—‘An incision following the cutaneo-alveolar margin has a high cosmetic value and permits access to the whole of the affected segmant’—B. & L.

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में ‘सुश्रुतविमर्शिनी’ हिन्दी व्याख्या युक्त ‘विसर्प-नाडीस्तनरोगचिकित्सा’ नामक सतरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १७॥



अध्याय-सारांश

‘विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सित’ नामक इस अध्याय में—साध्य विसर्प में पथ्य, घृत, सेंक, उपदेहादि (३), सेंक, लेप, कषाय के लिए वातिक विसर्प में मुस्तादि द्रव्य, पित्तज विसर्प में उपचार में कसेरु, शृंगाटकादि लेप, इक्षुरस आदि का सेक (९), गौर्य्यादि घृत परिषेचनार्थ, कफज विसर्प में—अजगन्धादि लेप, सभी विसर्पों में वरुणादि गण का प्रयोग, संशोधन, शोणितमोक्षण, शोधन के उपरान्त व्रणवत् उपचार (१७)।

वातिक नाडीव्रण के उपचार में उपनाहन, एषण, भेदन, शोधन और व्रणवत् उपचार (१९), पैत्तिक नाडीव्रण में उत्कारिकाओं से उपनाहन, शस्त्रपातन और बाद में यष्टयाह्वकल्क से व्रणपूरण (२१), कोष्ठगत नाडीव्रण में श्यामादि घृत (२२), कफज नाडीव्रण में उपनाहन, एषण, फिर शस्त्र से भेदन, करञ्जनिम्बादि कषाय से व्रणप्रक्षालन, शल्यज नाडीव्रण में विदीर्ण कर शल्यनिर्हरण, मार्गशोधन, घृत प्रगाढ तिलकल्क से रोपण (२६), कृश, दुर्बल, भीरु में क्षारसूत्र का प्रयोग, क्षारसूत्र-प्रयोगविधि, बड़े मूल वाले अर्बुद में यववक्त्रा सूची की सहायता से क्षारसूत्र का प्रयोग (३३), नाडीव्रणहर विविध वर्तियाँ, एतदर्थ विभिन्न तैल, भृंगराजरस से सिद्ध तैल अपचीव्रणहर (४१)।

धात्री दुग्ध के विकार को ठीक करने के उपचार, धात्री को वमन कराना आदि (४४), स्तनशोथ, विद्रधि का उपचार, उपनाहन का निषेध, पकने पर दुग्धहरिणी, कृष्णमण्डल और चूचुकों को बचाकर शस्त्र-प्रयोग, तत्पश्चात् व्रण शोधन-रोपण (४६), स्तनशोथ की सभी अवस्थाओं में स्तनों से निरन्तर दूध निकालते रहने की सलाह (४७)।

●

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितम्' (The Management of Glandular Swellings, Cervical Lymphadenopathy, Tumours and Goitres) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

ग्रन्थिष्वथामेषु भिषग्विदध्याच्छोफक्रियां विस्तरशो विधिज्ञः।
रक्षेद्बलं चापि नरस्य नित्यं तद्रक्षितं व्याधिबलं निहन्ति॥ ३॥

चिकित्सा में रोगी के बल का महत्त्व—आम (अपक्व/Non-suppurating) ग्रन्थि की चिकित्सा में बुद्धिमान् चिकित्सक उन्हीं क्रियाओं (Therapeutic procedures) का प्रयोग करे जिनका विस्तार से उल्लेख शोफचिकित्सा (चि. १) में किया गया है ('शोफक्रियायाम् अपतर्पणादिकं विरेचनान्तम्')। रोगी के बल की नित्य रक्षा करें, क्योंकि रोगी का बल व्याधिबल (Intensity of the disease) को नष्ट करता है॥ ३॥

तैलं पिबेत् सर्पिरथो द्वयं वा दत्त्वा वसां वा त्रिवृतं विदध्यात्।
अपेहिवातादशमूलसिद्धं वैद्यश्चतुःस्नेहमथो द्वयं वा॥ ४॥

चतुःस्नेह का स्नेहनार्थ उपयोग—अपक्व ग्रन्थि में रोगी को स्नेहनार्थ तैलपान या घृतपान अथवा दोनों का या तैल, घृत और वसा इन तीनों का ('त्रिभिस्तैलवसासर्पिर्भिर्वृतः व्याप्तः') पान करायें। अथवा प्रसारणी (अपेहितवाता) और दशमूल से सिद्ध चतुःस्नेह पिलायें ('घृततैलवसामज्जसंयोगजं वा पिबेत्') या इन चतुःस्नेहों में से किसी भी दो स्नेहों (तैलसर्पिषी, तैलवसे, तैलमज्जानौ, घृतमज्जानौ, वसामज्जानौ आदि) का पान करायें॥ ४॥

विमर्श— वातज अपक्व ग्रन्थि में वातहर क्वाथ कल्कसिद्ध तैल, पित्तज में पित्तहर क्वाथ कल्कसिद्ध घृत, कफज में कफहर क्वाथ कल्कसिद्ध तैल और सन्निपातज में सम्मिलित प्रयोग करें।

हिंस्राऽथ रोहिण्यमृताऽथ भार्गी श्योनाकबिल्वागुरुकृष्णगन्धाः।
गोजी च पिष्टा सह तालपत्र्या ग्रन्थौ विधेयोऽनिलजे प्रलेपः॥ ५॥
स्वेदोपनाहान् विविधांश्च कुर्यात्तथा प्रसिद्धानपरांश्च लेपान्।
विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं प्रक्षाल्य बिल्वार्कनरेन्द्रतोयैः॥ ६॥
तिलैः सपञ्चाङ्गुलपत्रमिश्रैः संशोधयेत् सैन्धवसम्प्रयुक्तैः।
शुद्धं व्रणं वाऽप्युपरोपयेत्तु तैलेन रास्नासरलान्वितेन॥ ७॥
विडङ्ग्यष्टीमधुकामृताभिः सिद्धेन वा क्षीरसमन्वितेन।

वातज ग्रन्थि-चिकित्सा—वातजनित ग्रन्थि में हिंस्रा (हंइसा/ *Capparis seriaria*), कुटकी, गिलोय, भार्गी, सोनापाठा, बेल, अगर, शोभाञ्जन, गोजिह्वा—इनको तालपत्री (मुसली) के साथ पीसकर लेप करना चाहिए। मिश्रक अध्याय (सू. ३७) में उल्लिखित मातुलुङ्गादि प्रसिद्ध विविध तथा अन्य लेपों, स्वेदन तथा उपनाहों को वातज ग्रन्थि की शान्ति के लिए प्रयुक्त करें। यदि ग्रन्थि पक जाती है तो उसे विदीर्ण (Open) कर पूय को निकाल दें और अर्क, बेल तथा आरग्वध के क्वाथ (नरेन्द्रतोयैः) से व्रण का प्रक्षालन करें। तदनन्तर व्रण के शोधन के लिए एरण्डपत्र, सेंधानमक मिलाकर तिलकल्क का प्रयोग करें।

शोधन के पश्चात् व्रण के रोपण के लिए रास्ना और सरला (त्रिवृत् या शालतरु) से सिद्ध तैल को प्रयोग में लायें अथवा विडंग, मुलेठी, गिलोय और दूध से सिद्ध तैल को लगायें॥ ५-७॥

विमर्श— नरेन्द्रतोयैः—'नरेन्द्रः = किरमालकः' (डल्हणः)।

जलौकसः पित्तकृते हितास्तु क्षीरोदकाभ्यां परिषेचनं च॥ ८॥
काकोलिवर्गस्य च शीतलानि पिबेत् कषायाणि सशर्कराणि।
द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि चूर्णं पिबेच्चापि हरीतकीनाम्॥ ९॥
मधूकजम्ब्वर्जुनवेतसानां त्वग्भिः प्रदेहानवचारयेत।
सशर्करैर्वा तृणशून्यकन्दैर्दिह्यादभीक्ष्णं मुचुकुन्दजैर्वा॥ १०॥

पित्तज ग्रन्थि-चिकित्सा—पित्तज ग्रन्थि में जलौकापातन (Application of leeches) हितकर है। इसी प्रकार दूध और पानी से परिषेचन (Irrigation) भी लाभकर है। काकोल्यादि गण की औषधियों का शर्करायुक्त शीतकषाय पिलायें या हरीतकी चूर्ण को द्राक्षारस या इक्षुरस से पान करायें। महुवा, जामुन, अर्जुन, बेंत—इनकी छाल का लेप करें या शर्करायुक्त केतकीमूल या मुचुकुन्द (मुचकुन/*Pterospermum aceriflium*, डल्हणानुसार—कण्टकायबदरः) का लेप करें॥ ८-१०॥

विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं धावेत् कषायेण वनस्पतीनाम्।
तिलैः सयष्टीमधुकैर्विशोध्य सर्पिः प्रयोज्यं मधुरैर्विपक्वम्॥ ११॥

पक्व पित्तज ग्रन्थि की चिकित्सा—पित्तज ग्रन्थि के पक जाने पर उसे विदीर्ण कर, पूय निकाल कर वनस्पतियों ('वटप्लक्षपिप्पलोदुम्बराणाम्') के क्वाथ से प्रक्षालन करें, तिल तथा मुलेठी के कल्क से शोधन करें और काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करें॥ ११॥

हृतेषु दोषेषु यथानुपूर्व्या ग्रन्थौ भिषक् श्लेष्मसमुत्थिते तु।
स्विन्नस्य विम्लापनमेव कुर्यादङ्गुष्ठलोहोपलवेणुदण्डैः॥ १२॥
विकङ्कतारग्वधकाकणन्तीकाकादनीतापसवृक्षमूलैः।
आलेपयेत्पिण्डफलार्कभार्गीकरञ्जकालामदनैश्च विद्वान्॥ १३॥

कफज ग्रन्थि-चिकित्सा—कफज ग्रन्थि में स्नेहन-स्वेदन के उपरान्त क्रमशः वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन और रक्तमोक्षण द्वारा दोषों के निर्हरण के पश्चात् ग्रन्थि का स्वेदन कर अंगुष्ठ, लोह, उपला या बाँस की लकड़ी से उसका विम्लापन (मर्दन/Rubbing) करें। तदनन्तर कण्टकारी, अमलतास, गुंजा, काकादनी (वायसतिन्दुका), इंगुदमूल, कड़वी तुम्बी (पिण्डफला), आक, भार्गी, करञ्ज, काला (कटुहिंम्रा) और मैनफल—इनके कल्क को विद्वान् चिकित्सक कफज ग्रन्थि पर लेप करे॥ १२-१३॥

अमर्मजातं शममप्रयान्तमपक्वमेवापहरेद्विदार्य।
दहेत् स्थिते चासृजि सिद्धकर्मा सद्यःक्षतोक्तं च विधिं विदध्यात्॥ १४॥

अपक्व ग्रन्थि को विदीर्ण करने का आदेश—यदि ग्रन्थि मर्मस्थल (Vital part) पर न हो और उपरोक्त चिकित्सा से शान्त न हो तो उसे (अपक्व को ही) विदीर्ण कर निकाल दें। तदनन्तर रक्त के रुक जाने पर कुशल (सफल) चिकित्सक उस स्थान का दहन (Fire cautery) कर दे तथा सद्यो व्रण की जो चिकित्सा पूर्व (चि. २ में) वर्णित है उसके अनुसार उपचार करें॥ १४॥

या मांसकन्द्यः कठिना बृहत्यस्तास्वेष योज्यश्च विधिर्विधिज्ञैः।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य सुपक्वमाशु प्रक्षालयेत् पथ्यतमैः कषायैः॥ १५॥

संशोधनैस्तं च विशोधयेत्तु क्षारोत्तरैः क्षौद्रगुडप्रगाढैः।
शुद्धे च तैलं त्ववचारणीयं विडङ्गपाठारजनीविपक्वम्॥ १६॥

कठोर ग्रन्थि का शस्त्रकर्म—विधिज्ञ (Specialists) चिकित्सकों द्वारा कठोर और बड़े आकार की मांसकन्दियों (मांसकन्द्यः = मांसप्ररोहाः/Fleshy tumours) की चिकित्सा में इसी उपरोक्त विधि को प्रयुक्त करना चाहिए अथवा अच्छी तरह पक जाने पर शस्त्र से शीघ्र ही पाटन कर्म कर कफोत्थ व्रणहर (पथ्यतमैः) कषायों से प्रक्षालन करें॥ १५॥

शोधन-रोपण द्रव्य—फिर यवक्षार-प्रधान और मधु एवं गुड़ बहुल शोधन द्रव्यों से व्रण का शोधन करें तथा शुद्ध हो जाने पर विडंग, पाठा और हरिद्रा से सिद्ध तैल का प्रयोग करें॥ १६॥

मेदःसमुत्थे तिलकल्कदिग्धं दत्त्वोपरिष्टाद् द्विगुणं पटान्तम्।
हुताशतप्तेन मुहुः प्रमृज्याल्लोहेन धीमानदहन् हिताय॥ १७॥
प्रलिप्य दार्वीमथ लाक्षया वा प्रतप्तया स्वेदनमस्य कार्यम्।
निपात्य वा शस्त्रमपोह्य मेदो दहेत् सुपक्वं त्वथवा विदार्य॥ १८॥
प्रक्षाल्य मूत्रेण तिलैः सुपिष्टैः सुवर्चिकाद्यैर्हरितालमिश्रैः।
ससैन्धवैः क्षौद्रघृतप्रगाढैः क्षारोत्तरैरेनमभिप्रशोध्य॥ १९॥
तैलं विदद्याद् द्विकरञ्जगुञ्जावंशावलेखेङ्गुदमूत्रसिद्धम्।

मेदोज ग्रन्थि में शस्त्र, दहन आदि का प्रयोग—मेदोज ग्रन्थि की चिकित्सा में तिलकल्क को कपड़े की तह (Between two folds of a cloth) में रखकर व्रण पर रखें और ऊपर से लोहे को गरम कर इस प्रकार सिकाई (Fomentation) करें कि शरीर जलने न पायें। या स्वेदन (Sudation) के लिए कर्छी (Ladle) में लाख (Shellac) लगाकर उसे गरम कर प्रयुक्त करें। अथवा शस्त्रप्रयोग कर ग्रन्थि का भेदन करें और मेद को हटा कर दहन कर दें या पक जाने पर भेदन करें और गोमूत्र से व्रण का प्रक्षालन कर दें।

शोधन द्रव्य—शोधन के लिए पिसे हुए तिल, सुवर्चिकादि द्रव्य, हरताल, सैन्धवनमक, मधु, घृत और क्षार का प्रयोग करें (सबको इकट्ठा पीस कल्क बनाकर व्रण पर लगायें)। अथवा करञ्ज, पूतिकरञ्ज, गुञ्जा, बाँस की छाल, इंगुदी और गोमूत्र—इनसे सिद्ध तैल का प्रयोग करें॥ १७-१९॥

जीमूतकैः कोशवतीफलैश्च दन्तीद्रवन्तीत्रिवृतासु चैव॥ २०॥
सर्पिः कृतं हन्त्यपचीं प्रवृद्धां द्विधा प्रवृत्तं तदुदारवीर्यम्।
निर्गुण्डिजातीबरिहिष्ठयुक्तं जीमूतकं माक्षिकसैन्धवाढ्यम्॥ २१॥
अभिप्रतप्तं वमनं प्रगाढं दुष्टापचीषूत्तममादिशन्ति।
कैडर्यबिम्बीकरवीरसिद्धं तैलं हितं मूर्धविरेचनं च॥ २२॥
शाखोटकस्य स्वरसेन सिद्धं तैलं हितं नस्यविरेचनेषु।
मधूकसारश्च हितोऽवपीडे फलानि शिग्रोः खरमञ्जरेर्वा॥ २३॥

अपची (Cervical lymphadenopathy) **की चिकित्सा**—जीमूतक (देवदाली, बन्दाल / *Luffa echinata*) तथा कोशातकी (कटुकोशातकी) के फलों तथा दन्ती, द्रवन्ती और निशोथ से सिद्ध घृत दोषों को दोनों मार्गों से निकाल कर तीव्र अपची को नष्ट करता है। यह उत्कट वीर्य वाला (Very potent) घृत है॥ २०॥

वामक योग—निर्गुण्डी (सम्भालू), चमेली, बर्हिष्ठ (बालक, सुगन्धबाला), देवदाली, मधु, सैन्धव लवण—इनको उष्ण जल से लेने पर (या निर्गुण्डी आदि के क्वाथ में मधु एवं सेंधा नमक मिलाकर पिलाने से) प्रगाढ़ (तीव्र) वमन होकर दुष्ट अपची में भी उत्तम लाभ होता है॥ २१॥

नस्यार्थ कैटर्यादि तैल—कैडर्य्य (पर्वतनिम्बः), बिम्बी (कूंदरु/*Coccinia indica*) तथा कनेर—इनसे सिद्ध तैल का नस्य तथा शिरोविरेचन के लिए हितकर है॥ २२॥

शाखोटक तैल—इसी प्रकार शाखोटक (सिहोर/*Streblus asper*) रस से सिद्ध तैल भी नस्य लेने पर शिरोविरेचन करता है। महुवा का सार (Extract), सहिजन के फल या अपामार्ग के बीज इनको गरम पानी में पीसकर अवपीड नस्य (अवपीड्य दीयते इत्यवपीडः) करने से शिरोविरेचन होता है॥ २३॥

ग्रन्थीनमर्मप्रभवानपक्वानुद्धृत्य चाग्निं विदधीत पश्चात्।
क्षारेण वाऽपि प्रतिसारयेत्तु संलिख्य शस्त्रेण यथोपदेशम्॥ २४॥

मर्मस्थ ग्रन्थि में शस्त्रकर्म और दहन—मर्मरहित स्थान पर होने वाली ग्रन्थि अपक्व हो तो उसे शस्त्र का प्रयोग कर निकाल दें और उस स्थान को अग्नि से दग्ध कर दें अथवा शस्त्र से खुरच (Scraping) कर, जैसा कि पूर्व वर्णन किया गया है, उस स्थान पर क्षार का प्रतिसारण (Rubbing) करें॥ २४॥

पार्ष्णिं प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि मित्वेन्द्रबस्तिं परिवर्ज्य धीमान्।
विदार्य मत्स्याण्डनिभानि वैद्यो निष्कृष्य जालान्यनलं विदध्यात्॥ २५॥

मत्स्याण्डजाल को निकालना—बुद्धिमान् शल्यहर्ता को चाहिए कि वह जंघा के पृष्ठ भाग में पार्ष्णि (एडी/Heel) से बारह अंगुल नाप कर, जो इन्द्रबस्ति नामक मर्म है उसे बचाकर शस्त्र से भेदन करे और वहाँ पर जो मछली के अण्डों की तरह के जाल हैं (Retinaculum similar to the spawn of fish) उन्हें निकाल दें तथा उस स्थान का अग्नि से दहन कर दें॥ २५॥

विमर्श— इन्द्रबस्ति— 'पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिर्नाम मर्म, तत्र शोणितक्षयेण मरणम्' (सु.शा. ६।२५)। यहाँ पर आये 'प्रति' शब्द के अन्य अर्थ भी किये गये हैं, जो डल्हण द्वारा विस्तार से उद्धृत हैं।

आ गुल्फकर्णात् सुमितस्य जन्तोस्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य।
घोणर्जुवेधः सुरराजबस्तेर्हित्वाक्षिमात्रं त्वपरे वदन्ति॥ २६॥

शल्यकर्म के सम्बन्ध में मतभेद—कुछ विद्वानों की सम्मति है कि गुल्फकर्णयुक्त खुडक (जंघा और पैर की सन्धि) से चरणहीन जंघा की लम्बाई २० अँगुल है। उसके आठवें भाग (२$\frac{१}{२}$ अंगुल) इन्द्रबस्ति नामक मर्म से परे नाक की सीध जैसा सीधा भेदन (Incision) करना चाहिए॥ २६॥

विमर्श— इस सम्बन्ध में वाग्भट की सम्मति भिन्न है—'इत्यशान्तौ गदस्यान्यपार्श्वजङ्घासमाश्रितम्। बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद्वा मेदो हृत्वाऽग्निना दहेत्'॥ (उ. ३०।२९) 'एवमप्यशान्तौ सत्यां रोगस्यापरपार्श्वजङ्घा-समाश्रितं बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद् वा मेदो हृत्वा ज्वलनेन दहेत्' (अरुणदत्तः)।

मणिबन्धोपरिष्टाद्वा कुर्याद्रेखात्रयं भिषक्। अङ्गुल्यन्तरितं सम्यगपचीनां निवृत्तये॥ २७॥

अपची में मणिबन्ध में त्रिरेखा दहन—अपची से छुटकारा पाने के लिए शल्यचिकित्सक मणिबन्ध (At the wrist) के ऊपर (अग्नितप्त शलाका से) तीन रेखाएँ बनायें जिनके मध्य एक-एक अँगुल का अन्तर हो॥ २७॥

चूर्णस्य काले प्रचलाककाकगोधाहिकूर्मप्रभवां मसीं तु।
दद्याच्च तैलेन सहेङ्गुदीनां यद्वक्ष्यते श्लीपदिनां च तैलम्॥ २८॥

विरेचनं धूममुपाददीत भवेच्च नित्यं यवमुद्गभोजी।

प्रचलाकादि भस्म योग—इसी प्रकार अपची के निवारण के लिए प्रचलाक (मोर), कौवा, गोह, सर्प, कछुवा—इनको जलाकर काले रंग की भस्म बना लें और इसका चूर्ण कर तथा हिंगोट (इंगुदी) के तेल में मिलाकर लगावें या श्लीपदरोग में जो तैल बतायेंगे उनका प्रयोग करें, विरेचन धूमों को उपयोग में लावें तथा रोगी को जौ और मूँग खाने को दें॥ २८॥

कर्कारुकैर्वारुकनारिकेलप्रियालपञ्चाङ्गुलबीजचूर्णैः ॥ २९॥
वातार्बुदं क्षीरघृताम्बुसिद्धैरुष्णैः सतैलैरुपनाहयेत्तु।
कुर्याच्च मुख्यान्युपनाहनानि सिद्धैश्च मांसैरथ वेसवारैः॥ ३०॥
स्वेदं विदध्यात् कुशलस्तु नाड्या शृङ्गेण रक्तं बहुशो हरेच्च।
वातघ्ननिर्यूहपयोऽम्लभागैः सिद्धं शताख्यं त्रिवृतं पिबेद्वा॥ ३१॥

वातज अर्बुद की चिकित्सा—ककड़ी, खीरा, नारियल, चिरौंजी, एरण्ड के बीज—इनके चूर्ण को दूध, घी और जल में तथा तेल में पकाकर इससे वातिक अर्बुद का उष्ण उपनाहन करें। इसके अतिरिक्त जो अन्य प्रमुख उपनाहन हैं उन्हें भी करें और कुशल चिकित्सक सिद्ध मांस तथा वेसवार का भी एतदर्थ उपयोग करे। नाडी (Tubular instrument) से स्वेदन करे और शृंग द्वारा बार-बार शोणित-विश्रावण करें या वातहर द्रव्यों का कषाय, दूध और काञ्जी से सौ बार पकाया गया त्रिवृत् (घृत-तैल-वसा) स्नेह पिलावें॥ २९-३१॥

स्वेदोपनाहा मृदवस्तु कार्याः पित्तार्बुदे कायविरेचनं च।
विघृष्य चोदुम्बरशाकगोजीपत्रैर्भृशं क्षौद्रयुतैः प्रलिम्पेत्॥ ३२॥
श्लक्ष्णीकृतैः सर्जरसप्रियङ्गुपत्तङ्गरोध्राञ्जनयष्टिकाह्वैः।
विस्राव्य चारग्वधगोजिसोमाः श्यामा च योज्याः कुशलेन लेपे॥ ३३॥
श्यामागिरिह्वाञ्जनकीरसेषु द्राक्षारसे सप्तलिकारसे च।
घृतं पिबेत् क्लीतकसम्प्रसिद्धं पित्तार्बुदी तज्जठरी च जन्तुः॥ ३४॥

पैत्तिक अर्बुद की चिकित्सा—इसमें उपयोगी स्वेदन (Sudation) और उपनाहन (Poultice) मृदु करने चाहिए और विरेचन (Purgation therapy) करायें। अर्बुद को गूलर, सागवान और गाजवाँ के पत्तों से रगड़कर उस पर राल, प्रियंगु, पतंग, लोध्र, अञ्जन, मुलेठी—इनके सूक्ष्म चूर्ण में मधु मिलाकर लेप करें। इसी प्रकार रक्तविस्रावण के उपरान्त कुशल चिकित्सक अर्बुद पर आरग्वध, गोजिह्वा, सोमलता और निशोथ का लेप करें। निशोथ, गिरिकर्णी (गिरिह्वा), अंजनकी, द्राक्षा और सप्तलिका (सातला, थोहर भेद)—इनके रस में तथा क्लीतनक (मुलेठी) के कल्क से सिद्ध घृत का पान पैत्तिक अर्बुद तथा पित्तज उदररोग में करायें॥ ३२-३४॥

शुद्धस्य जन्तोः कफजेऽर्बुदे तु रक्तेऽवसिक्ते तु ततोऽर्बुदं तत्।
द्रव्याणि यान्यूर्ध्वमधश्च दोषान् हरन्ति तैः कल्ककृतैः प्रदिह्यात्॥ ३५॥
कपोतपारावतविड्विमिश्रैः सकांस्यनीलैः शुकलाङ्गलाख्यैः।
मूत्रैस्तु काकादनिमूलमिश्रैः क्षारप्रदिग्धैरथ वा प्रदिह्यात्॥ ३६॥

कफज अर्बुद की चिकित्सा—वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध व्यक्ति के कफजार्बुद में रक्तावसेचन के उपरान्त अर्बुद पर ऊर्ध्व और अधो मार्ग से दोषों का निर्हरण करने वाले द्रव्यों का लेप करें॥ ३५॥

कफार्बुदहर लेप—कपोत (कबूतर), पारावत की विष्ठा (बीट), काँस्यनील (काँस्यमसी/Blue rust of copper), शुक (ग्रन्थिपर्ण), कलिहारी और काकादनी (वायसतिन्दुका) मूल को गोमूत्र में पीसकर अथवा क्षारयुक्त गोमूत्र में पीसकर कफजार्बुद पर लेप करें॥ ३६॥

निष्पावपिण्याककुलत्थकल्कैर्मांसप्रगाढैर्दधिमस्तुयुक्तैः ।
लेपं विदध्यात् कृमयो यथाऽत्र मूर्च्छन्ति मुञ्चन्त्यथ मक्षिकाश्च॥ ३७॥
अल्पावशिष्टे कृमिभक्षिते च लिखेत्ततोऽग्निं विदधीत पश्चात्।

कृमिजनक मांस-दधि लेप—कफजार्बुद के ऊपर निष्पाव (शिम्बः), पिण्याक (खलि/Oil cake) और कुलथी के कल्क को मांस के साथ दही और मस्तु मिलाकर लेप करें जिससे मक्खियाँ आकृष्ट होकर कृमियाँ (Warms) उत्पन्न कर दें। इस प्रकार ये कृमियाँ अर्बुद के बड़े भाग को खा जाती हैं। शेष भाग को खुरच कर अग्निकर्म द्वारा जला दें॥ ३७॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक में भी कुछ रोगों में इस प्रकार की चिकित्सा-व्यवस्था की जाती रही है जो 'Maggot therapy' कहलाती है (The treatment of osteomyelittis by the introduction of live larvae of the bluebottle fly into the open wound. The larvae clean the wound by eating the necrotic material. also called Baer's treatment.)।

यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा॥ ३८॥
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद्विदध्यात् प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः।
आस्फोतजातीकरवीरपत्रैः कषायमिष्टं व्रणशोधनार्थम्॥ ३९॥

अल्पमूल अबुर्द की शस्त्र-चिकित्सा—सावधान (अप्रमत्तः) शल्यहर्ता पतले मूल वाले (Smaller base) अर्बुद को त्रपु (Tin), ताम्र, सीसा (Lead) या लोहे की पट्टी से लपेट कर उस पर क्षार, अग्नि या शस्त्र का बार-बार रोगी के प्राणों की रक्षा करते हुए प्रयोग करें। व्रणशोधन के लिए आस्फोत (सारिवा), चमेली और कनेर के पत्तों का कषाय उत्तम है॥ ३८-३९॥

शुद्धे च तैलं विदधीत भार्गीविडङ्गपाठात्रिफलाविपक्वम्।
यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः॥ ४०॥

व्रण का रोपण—व्रणचिकित्सा की विधि का ज्ञाता चिकित्सक व्रण के शुद्ध हो जाने के उपरान्त (रोपणार्थ) भार्गी, विडंग, पाठा और त्रिफला से सिद्ध तैल का प्रयोग करें। यदि अर्बुद स्वतः ही पक जाय तो पाकक्रम (पके व्रण की तरह) से उपचार करे॥ ४०॥

मेदोऽर्बुदं स्विन्नमथो विदार्य विशोध्य सीव्येद्गतरक्तमाशु।
ततो हरिद्रागृहधूमरोध्रपतङ्गचूर्णैः समनःशिलालैः॥ ४१॥
व्रणं प्रतिग्राह्य मधुप्रगाढैः करञ्जतैलं विदधीत शुद्धे।
सशेषदोषाणि हि योऽर्बुदानि करोति तस्याशु पुनर्भवन्ति॥ ४२॥
तस्मादशेषाणि समुद्धरेत्तु हन्युः सशेषाणि यथा हि वह्निः।

मेदोज अर्बुद की चिकित्सा—स्वेदन के पश्चात् मेदोज अर्बुद को चीरा लगा (भेदन) कर निकाल दें और शोधन के बाद रक्त बन्द हो जाने पर व्रण का शीघ्र सीवन कर्म कर दें। तत्पश्चात् हल्दी, गृहधूम, लोध्र और पतंग (रक्तकाष्ठम्) का चूर्ण, मैनसिल, हरताल इनका प्रचुर मात्रा में मधु मिलाकर व्रण पर लेप करें। शुद्धि के पश्चात् विद्रधि प्रकरण में वर्णित करंज तैल लगायें॥ ४१॥

शेष दोष अर्बुद का पुनः हो जाना—यदि चिकित्सक द्वारा सम्पूर्ण अर्बुद न निकाला गया हो तो ऐसे अर्बुद पुनः हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण अर्बुद को निकाल देना चाहिए। शेष रह गये अर्बुद रोगी को अग्नि की तरह नष्ट कर देते हैं॥ ४२॥

संस्वेद्य गण्डं पवनोत्थमादौ नाड्याऽनिलघ्नौषधपत्रभङ्गैः॥ ४३॥
अम्लैः समूत्रैर्विविधैः पयोभिरुष्णैः सतैलैः पिशितैश्च विद्वान्।
विस्रावयेत् स्विन्नमतन्द्रितश्च शुद्धं व्रणं चाप्युपनाहयेत्तु॥ ४४॥
शणातसीमूलकशिग्रुकिण्वप्रियालमज्जानुयुतैस्तिलैस्तु।
कालामृताशिग्रुपुनर्नवार्कगजादिनामाकरहाटकुष्ठैः॥ ४५॥
एकैषिकावृक्षकतिल्वकैश्च सुराम्लपिष्टैरसकृत् प्रदिह्यात्॥ ४६॥

वातज गणगण्ड (Goitre) **की चिकित्सा एवं पश्चात्कर्म**—इसमें सर्वप्रथम विद्वान् वैद्य एरण्डादि वातहर औषध एवं पत्रों के क्वाथ, काञ्जी, विविध मूत्र एवं दुग्ध, तैल तथा मांसरस—इनसे गलगण्ड का उष्ण नाडीस्वेद (Vapour fomentation by tubular instrument) करे। इस प्रकार स्वेदन किये जाने के पश्चात् आलस्य रहित होकर शल्यचिकित्सक गलगण्ड का रक्तविस्रावण करे और शुद्ध व्रण का उपनाहन करे। रक्तादि हरण के उपरान्त शुद्ध गलगण्ड का शण, अतसी, मूलक, सहिजन, सुराबीज (किण्व), चिरौंजी (प्रियालमज्जा/Kernel), तिल (Sesanum), काला (हिंस्रा), गिलोय, सहिजन, पुनर्नवा, आक, गजपिप्पली, मैनफल (करहाट), कूठ, एकैषिका (सन्दिग्ध द्रव्य ?/पाठा), कुडा (वृक्षक), तिल्वक—इनको सुरा और काँजी में पीसकर निरन्तर प्रलेप करें॥ ४३-४६॥

विमर्श—यदि वातिक गलगण्ड पित्तावृत हो तो क्षीरादि से, कफावृत हो तो मूत्र-क्वाथादि से और रक्तावृत हो तो दुग्धादि से नाडी स्वेद करें।

तैलं पिबेच्चामृतवल्लिनिम्बहंसाह्वयावृक्षकपिप्पलीभिः।
सिद्धं बलाभ्यां च सदेवदारु हिताय नित्यं गलगण्डरोगे॥ ४७॥

पानार्थ अमृतादि तैल—इसी प्रकार गलगण्डरोग में गिलोय, नीम, हंसपदी, कुटज, पीपल (पिप्पली), बला-अतिबला (बलाभ्याम्) और देवदारु—इनसे सिद्ध तैल का नित्य पान करे॥ ४७॥

स्वेदोपनाहैः कफसम्भवं तु संस्वेद्य विस्रावणमेव कुर्यात्।
ततोऽजगन्धातिविषाविशल्याविषाणिकाकुष्ठशुकाह्वयाभिः॥ ४८॥
पलाशभस्मोदकपेषिताभिर्दिह्यात् सुगुञ्जाभिरशीतलाभिः।
दशार्धसङ्ख्यैर्लवणैश्च युक्तं तैलं पिबेन्मागधिकादिसिद्धम्॥ ४९॥
प्रच्छर्दनं मूर्द्धविरेचनं च धूमश्च वैरेचनिको हितस्तु।
पाकक्रमो वाऽपि सदा विधेयो वैद्येन पाकं गतयोः कथञ्चित्॥ ५०॥

कफज गलगण्ड की चिकित्सा—इसमें स्वेदन और उपनाहन के पश्चात् रक्तविस्रावण ही कराना चाहिए। तदनन्तर अजगन्धा, अतीस, विशल्या (अग्निशिखवृक्षः, श्वेतमोक्षकः), विषाणिका (काकड़ासिंगी या आवर्तनिका), कूठ, शुकाह्वया (चर्मकारवटः, शुकनासा) और गुञ्जा को पलाशभस्म के जल में पीसकर गलगण्ड पर उष्ण लेप करना चाहिए। अथवा पिप्पली आदि से सिद्ध और पञ्चलवण युक्त तेल का पान कराना चाहिए॥ ४८-४९॥

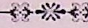
पक्व गलगण्ड का उपचार—कफज गलगण्ड में वमन, शिरोविरेचन और वैरेचनिक धूम्रपान कराना हितकर है। वातज और कफज गलगण्ड यदि किसी कारण से पक गये हों तो चिकित्सक को सदा पाक क्रम के अनुसार इसकी चिकित्सा (जैसा कि पूर्व वर्णित है) करनी चाहिए॥ ५०॥

कटुत्रिकक्षौद्रयुताः समूत्रा भक्ष्या यवान्नानि रसाश्च मौद्गाः।
सशृङ्गवेराः सपटोलनिम्बा हिताय देया गलगण्डरोगे॥ ५१॥

आहार द्रव्य—गलगण्ड से पीड़ित व्यक्ति को त्रिकटु (सोंठ-मरिच-पीपल), मधु, गोमूत्र, यवनिर्मित अन्न, मौद्गरस (मूँग का यूष), आर्द्रक, पटोल और नीम हितकर भक्ष्य पदार्थ हैं॥ ५१॥

मेदःसमुत्थे तु यथोपदिष्टां विध्येत् सिरां स्निग्धतनोर्नरस्य।
श्यामासुधालोहपुरीषदन्तीरसाञ्जनैश्चापि हितः प्रदेहः॥ ५२॥
मूत्रेण वाऽऽलोड्य हिताय सारं प्रातः पिबेच्छालमहीरुहाणाम्।
शस्त्रेण वाऽऽपाट्य विदार्य चैनं मेदः समुद्धृत्य हिताय सीव्येत्॥ ५३॥
मज्जाज्यमेदोमधुभिर्दहेद्वा दग्धे च सर्पिर्मधु चावचार्यम्।
कासीसतुल्ये च ततोऽत्र देये चूर्णीकृते रोचनया समेते॥ ५४॥
तैलेन चाभ्यज्य हिताय दद्यात् सारोद्भवं गोमयजं च भस्म।
हितश्च नित्यं त्रिफलाकषायो गाढश्च बन्धो यवभोजनं च॥ ५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥



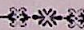
मेदोज गलगण्ड की चिकित्सा—इसमें रोगी का स्नेहन करने के उपरान्त पूर्व वर्णित सिरा ('यथोपदिष्टाम् = ऊरुसन्धिनिर्दिष्टाम्; ऊरुमूलसंश्रितां तु गलगण्डे'–सु.शा. ८) का वेध करें और त्रिवृत्, सेहुण्ड, लोहमल (मण्डूर/Ironore), दन्ती, रसौत—इनका लेप हितकर है॥ ५२॥

औषधोपयोग और शस्त्रकर्म—इसी प्रकार शालसारादि गण के सार (कल्क) को गोमूत्र में मिलाकर प्रातःकाल पीना हितकर है। अथवा शस्त्रप्रयोग द्वारा पाटन कर्म कर गलगण्ड की मेद को हटाकर रोगी के हित में सीवन कर्म कर दें॥ ५३॥

मेद आदि स्नेह द्रव्यों से दहन—अथवा मेद, घृत, मज्जा और मधु को गरम कर दग्ध कर दें और उसके बाद गलगण्ड पर मधु-घृत लगा दें। तत्पश्चात् कासीस (Green vitriol), नीला थोथा (Blue vitriol) तथा गोरोचन का चूर्ण व्रणस्थान पर लगायें॥ ५४॥

व्रणोपचार—तैल का अभ्यंग करने के पश्चात् व्रण पर शालसारादि द्रव्यों तथा उपलों की भस्म लगायें। व्रण के प्रक्षालन के लिए नित्य त्रिफला कषाय, व्रण का गाढ बन्ध और रोगी को खाने के लिए जौ का भोजन हितकर होते हैं॥ ५५॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'ग्रन्थ्य-'पच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सा' नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १८॥



अध्याय-सारांश

'ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—ग्रन्थि, अपचि, अर्बुद और गलगण्ड का वर्णन है। ग्रन्थि की आमावस्था में शोफवत् क्रिया, वातिक ग्रन्थि में प्रलेप, उपनाहन, पकने पर पाटन कर्म, व्रण शोधन-रोपण करने का सुझाव (१-७), पैत्तिक ग्रन्थि में जलौकापातन, परिषेचन, कषायपान, प्रदेह, पकने पर पाटन-प्रक्षालन, शोधन और रोपण योग (८-११), श्लैष्मिक ग्रन्थि में वमन-विरेचनादि, विम्लापन, लेप आदि (१२-१३)।

अमर्मजात ग्रन्थि को अपक्वावस्था में शस्त्र द्वारा निकालकर सद्यः क्षतवत् उपचार (१४), मांसकन्द को शस्त्र द्वारा भेदन कर निकाल दें तथा प्रक्षालन, संशोधन, तैल-प्रयोग (रोहणार्थ) (१५-१६), मेदोज ग्रन्थि, में दहन (अग्निकर्म द्वारा), लेपन, प्रक्षालन, शोधन तथा रोपण तैल प्रयोग (१७-१९), अपची में शिरोविरेचन, वमन, नस्यार्थ शाखोटक तैल का प्रयोग (२०-२३), अमर्मज ग्रन्थि में अपक्व होने पर चीरा लगाकर निकाल दें और अग्निकर्म, क्षारकर्म आदि का विधान (२४), इन्द्रबस्ति मर्म को बचाकर शस्त्र द्वारा एडी से ऊपर मत्स्याण्ड सदृश जाल को निकालना (२५), मतान्तर का उल्लेख (२६); मणिबन्ध के ऊपर अग्नितप्त शलाका से रेखात्रय करना, अपची को नष्ट करने के लिए भोजन में यव-मुद्ग का सेवन (२७)।

वातार्बुद में उपनाहन, नाडीस्वेद, शृंग से रक्तनिर्हरण, वसा, घृत, तैल (त्रिवृत्) का सौ बार पाक कर प्रयोग करें। पित्तार्बुद में विरेचन, घर्षण, लेप, घृतपान, कफार्बुद में कृमियों द्वारा भक्षण के लिए निष्पावादि लेप , लेखन, क्षाराग्नि शस्त्र का प्रयोग, पकने पर पाकक्रम से उपचार (२९-४०), मेदोज अर्बुद में स्वेदन, विदारण, शोधन, सीवन, करंज तैल का प्रयोग, अर्बुद पूरा निकालना अन्यथा पुनर्भवन (४२)।

वातिक गलगण्ड में स्वेदन, स्रावण, लेप; कफज गलगण्ड में स्वेदन, विस्रावण, तैलपान, वमन, शिरोविरेचन; मेदोज गलगण्ड में सिरावेध, शस्त्रकर्म, अग्निकर्म आदि का उल्लेख (५२-५५)।



एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'वृद्ध्युपदंशश्लीपदानां चिकित्सितम्' (The Management of the Inguino-scrotal Swellings, Venereal Diseases and Elephantiasis) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

वृद्धि

(Inguino-scrotal Swelling)

अन्त्रवृद्ध्या विना षड्या वृद्धयस्तासु वर्जयेत्। अश्वादियानं व्यायामं मैथुनं वेगनिग्रहम् ॥ ३ ॥
अत्यासनं चंक्रमणमुपवासं गुरूणि च।

वृद्धि में त्याज्य—अन्त्रवृद्धि को छोड़कर (Excepting hernia) अन्य छः प्रकार की वृद्धि (Inguino-scrotal swelling) में निम्नलिखित का परित्याग करना चाहिए—अश्वादि यान (घोड़े आदि की सवारी), व्यायाम, मैथुन (Sexual over-indulgence), वेगनिग्रह (With holding nature's urgence), अत्यासन (बहुत देर तक बैठे रहना), चंक्रमण (भ्रमणम्), उपवास और भारी भक्ष्य पदार्थों का सेवन ॥ ३ ॥

विमर्श— निदानस्थान (१२वाँ अध्याय) में वृद्धि के सात भेद बताये गये हैं, अन्य छः भेद हैं—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. रक्तज, ५. मेदोज तथा ६. मूत्रवृद्धि। वाग्भट के अनुसार—'स वृद्धिः सप्तधा गदः'।

तत्रादितो वातवृद्धौ त्रैवृतस्निग्धमातुरम् ॥ ४ ॥
स्विन्नं चैनं यथान्यायं पाययेत विरेचनम्। कोशाम्रतिल्वकैरण्डफलतैलानि वा नरम् ॥ ५ ॥
सक्षीरं वा पिबेन्मासं तैलमेरण्डसम्भवम्। ततः कालेऽनिलघ्नानां क्वाथैः कल्कैश्च बुद्धिमान् ॥
निरूहयेन्निरूढं च भुक्तवन्तं रसौदनम्। यष्टीमधुकसिद्धेन ततस्तैलेन योजयेत् ॥ ७ ॥
स्नेहोपनाहौ कुर्याच्च प्रदेहांश्चानिलापहान्। विदग्धां पाचयित्वा वा सेवनीं परिवर्जयेत् ॥ ८ ॥
भिन्द्यात् ततः प्रभिन्नायां यथोक्तं क्रममाचरेत्।

वातिक वृद्धि की चिकित्सा—इसमें सर्वप्रथम रोगी को त्रैवृत (घृत-तैल-वसा) से यथाविधि स्निग्ध करने के अपरान्त विधिपूर्वक अपतानकहर वातव्याधि में कथित विरेचक तैल का पान करायें या कोषाम्र (कुसुम/*Schleichera oleosa*), तिल्वक और एरण्डफल का तेल पिलायें। अथवा एक मास तक दूध मिलाकर एरण्डस्नेह पिलायें। तदनन्तर वातहर क्वाथों एवं कल्कों से समुचित समय पर बुद्धिमान् चिकित्सक निरूहण बस्ति दें और निरूहण के पश्चात् (निरूढ़) रोगी को मांसरस और चावल खाने को दें। मुलहठी से सिद्ध तैल का प्रयोग भी करें। वातहर स्नेहन (Oleation), उपनाहन (Poultices) और प्रदेह (Pastes) को भी प्रयोग में लायें। यदि वातवृद्धि पच्यमान (Suppurating) हो तो उसे पकाकर और सेवनी (Median raphe) को बचाते हुए भेदन कर दें तथा द्विव्रणीय नामक अध्याय (चि. १) में वर्णित के अनुसार चिकित्सा करें ॥ ४-८ ॥

पित्तजायामपक्वायां पित्तग्रन्थिक्रमो हितः ॥ ९ ॥

पक्वां वा भेदयेद्भिन्नां शोधयेत् क्षौद्रसर्पिषा। शुद्धायां च भिषग्दद्यात्तैलं कल्कं च रोपणम् ॥ १० ॥

पैत्तिक वृद्धि की चिकित्सा—यदि पित्तज वृद्धि पकी न हो तो पित्तज ग्रन्थि की तरह ('जलौकसः पित्तकृतः' आदि चि. १८) चिकित्सा करना हितकर है। पकने पर भेदन करें और शोधन के लिए मधु तथा घृत लगायें। इस प्रकार व्रण का शोधन हो जाने पर चिकित्सक रोपण तैल तथा कल्क को प्रयुक्त करे। ९-१०॥

रक्तजायां जलौकोभिः शोणितं निर्हरेद्भिषक्। पिबेद्विरेचनं वाऽपि शर्कराक्षौद्रसंयुतम्॥ ११॥
पित्तग्रन्थिक्रमं कुर्यादामे पक्वे च सर्वदा।

रक्तज वृद्धि की चिकित्सा—इसमें जलौकाओं का प्रयोग कर चिकित्सक रक्तनिर्हरण करे और विरेचन के लिए शर्करायुक्त मधु को प्रयोग में लाये। रक्तज वृद्धि की आम (Non-suppurated) और पक्व (Suppurated) अवस्था में पित्तज ग्रन्थि की तरह चिकित्सा-व्यवस्था करे॥ ११॥

वृद्धिं कफात्मिकामुष्णैर्मूत्रपिष्टैः प्रलेपयेत्॥ १२॥
पीतादारुकषायं च पिबेन्मूत्रेण संयुतम्। विम्लापनादृते वाऽपि श्लेष्मग्रन्थिक्रमो हितः॥ १३॥
पक्वायां च विभिन्नायां तैलं शोधनमिष्यते। सुमनारुष्कराङ्कोठसप्तपर्णेषु साधितम्॥ १४॥

कफज वृद्धि की चिकित्सा—इसमें उष्णवीर्य वचापिप्पल्यादि मुष्ककादि गण की औषधियों को गोमूत्र में पीसकर लेप करें। अथवा पीतदारु (दारुहरिद्रा) के क्वाथ को गोमूत्र के साथ पीयें। इसमें विम्लापन (Rubbing) को छोड़कर श्लैष्मिक ग्रन्थि की चिकित्सा करना हितकर है। पक्व कफज विद्रधि का भेदन कर सुमन (जाति), भिलावा, अंकोठ और सप्तपर्ण के कषाय-कल्क से सिद्ध तैल को शोधन के लिए लगायें॥ १२-१४॥

मेदःसमुत्थां संस्वेद्य लेपयेत् सुरसादिना। शिरोविरेकद्रव्यैर्वा सुखोष्णैर्मूत्रसंयुतैः॥ १५॥
स्विन्नां चावेष्ट्य पट्टेन समाश्वास्य तु मानवम्। रक्षन् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत्॥ १६॥
मेदस्ततः समुद्धृत्य दद्यात् कासीससैन्धवे। बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत्॥ १७॥
मनःशिलालवणैः सिद्धमारुष्करेषु च।

मेदोज वृद्धि की चिकित्सा—इस वृद्धि (Scrotal swelling) में स्वेदन करने के उपरान्त सुरसादि गण की औषधियों अथवा शिरोविरेचन करने वाली ('पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिरीषसिद्धार्थकादीनि संशोधनसंशमनीयोक्तानि') औषधियों को गोमूत्र में बारीक पीसकर तथा गरम कर लेप करें॥ १५॥

मेदोहर शस्त्रकर्म—स्वेदन के उपरान्त वृषण कोष को कपड़े से लपेट दें और रोगी को आश्वस्त कर फल (Testis) तथा सेवनी (Raphe) की रक्षा करते हुए वृद्धिपत्र (Scalpel) नामक शस्त्र से सूजन वाले भाग का भेदन (Incision) कर सावधानी से मेद को निकाल दें। व्रण पर कासीस (Green vitriol) एवं सेंधानमक लगाकर व्रणबन्धन, जैसा कि बताया गया है ('गोफणया स्थगिकाबन्धनेन वा'-ड.; गोफणाबन्ध = T. Bandage) करें। इस प्रकार के शुद्ध हो जाने के पश्चात् रोपण के लिए मनःशिला, लवण तथा भल्लातक से सिद्ध तैल का प्रयोग करें॥ १६-१७॥

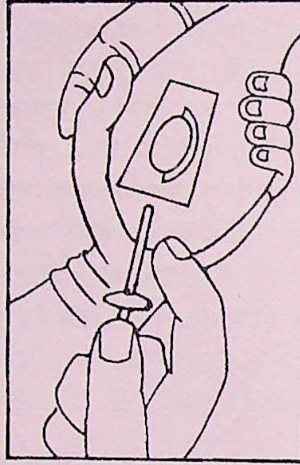
विमर्श—वृषणकोष का आकार में बढ़ना 'वृद्धि' है। मेदोज वृद्धि—सम्भवतः यह रोग पाश्चात्य वैद्यक में 'Filarial elephantiasis of the scrotum' है।

मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्॥ १८॥
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु। अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद्भिषक्॥
मूत्रं नाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्। शुद्धायां रोपणं दद्याद्वर्जयेदन्त्रहैतुकीम्॥ २०॥

मूत्रज वृद्धि में तरल निर्हरण—वृषणकोष को स्वेदन करने के उपरान्त वस्त्रपट्ट से आवेष्टित कर दिया जाता है। तत्पश्चात् सेवनी के पार्श्व और नीचे (Lateral to the raphe and lower) व्रीहिमुख (Trocar) नामक शस्त्र से वेधन (Puncture) करें। अब दो मुँह वाली नाडी (यन्त्र) (Canula)

को छिद्र में प्रविष्ट कर चिकित्सक संचित तरल को बाहर निकाल दे। नाडीयन्त्र को निकाल लेने के बाद स्थगिका (T.Bandage) बाँध दें। व्रण के शोधन के पश्चात् रोपण उपक्रम करें।

यदि वृषणकोष की सूजन (वृद्धि) का कारण अन्त्र का उतर आना (Hernia) हो तो यह उपरोक्त उपचार न करें (वर्जयेदन्त्रहेतुकीम्, कोषप्राप्तामिति वाक्यशेषः'-ड.) अथवा यह कोषप्राप्ता अन्त्रवृद्धि असाध्य है, अतः इसका परित्याग करें॥ १८-२०॥



चित्र सं० ३१ : मूत्रवृद्धितरलनिर्हरण विधि
('सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विन्ध्येद् व्रीहिमुखेन तु')

विमर्श—मूत्रज वृद्धि (Hydrocele) नामक विकार में यह भ्रम होता है कि क्या इस रोग में मूत्र की वृद्धि होती है जिससे वृषणकोष का आकार बढ़ जाता है। तथ्य यह है कि आयुर्वेद में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि 'अण्डधरपुटक (Tunica vaginalis) में संचित तरल मूत्र हैं। वास्तव में 'मूत्रधारणशीलस्य' से यह भ्रम हुआ है। भ्रम का एक कारण यह भी है कि मूत्रवृद्धि में जो तरल वेधन कर निकाला जाता है वह देखने में मूत्र सदृश होता है ('मूत्रस्य मूत्रसदृशतरलस्य वृद्धिः मूत्रवृद्धिः' /The fluid withdrawn from a vaginal hydrocele resembles normal urine—H. Bailey)।

सम्प्रति मूत्रवृद्धि या हाइड्रोसील की परिभाषा यह की जाती है—'वृषण या वृषणबन्धनी/'Spermatic cord' के पार्श्व में शोणित एवं पूय से भिन्न तरल के संचय को 'मूत्रवृद्धि' कहा जाता है'।

मूत्रवृद्धि-चिकित्सा के सम्बन्ध में आयुर्वेद-ग्रन्थों में दो प्रकार का वर्णन मिलता है—१. सौश्रुत विधि और २. चारकीय विधि।

१. सौश्रुत विधि का जो यहाँ वर्णन किया गया है वह पाश्चात्य वैद्यक में 'Tapping' कहलाती है। इसमें तरल सप्ताहों-महीनों के पश्चात् पुनः भर जाता है। बार-बार टेपिंग करने से उस स्थान की खाल मोटी हो जाती है। 'शमयेद्यो न कोपयेत्' (च.) के अनुसार उत्तम चिकित्सा किये जाने पर रोग का पुनर्भव नहीं होता है। अतः चरक ने पाटन-विधि का सुझाव दिया है।

२. चारकीय विधि—('स्यान्मूत्रमेदः कफजं विपाट्य विशोध्य सीव्येद् व्रणवच्च पक्वम्'-च.चि. १२।९५)। सम्प्रति यह शस्त्रकर्म 'Lord's operation' कहा जाने लगा है। इसमें वृषणकोष की दीवार यदि मोटी न हो तो भेदन कर तरल को निकाल देते हैं और ट्यूनिका को पलट देते हैं तथा सीवन कर्म कर देते हैं। कभी-कभी अव-पूर्ण (Sub-total) छेदन (Excision) करना पड़ता है जिसमें ट्यूनिका का बड़ा भाग काटना होता है।

**अप्राप्तफलकोषायां वातवृद्धिक्रमो हितः। तत्र या वङ्क्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया॥ २१॥
सम्यङ्मार्गाविरोधार्थं कोशप्राप्तां तु वर्जयेत्। त्वचं भित्त्वाऽङ्गुष्ठमध्ये दहेच्चाङ्गविपर्ययात्॥**

अन्त्रवृद्धि में दहन—अन्त्रवृद्धि (Hernia) यदि प्राप्तफलकोषा (Bubonocele) हो तो वातज वृद्धि में जिस प्रकार का उपचार बताया है वही यहाँ भी हितकर है। यदि अन्त्रवृद्धि वंक्षणस्था (In the inguinal region) हो गयी हो तो इस स्थान का अर्धेन्दुवक्त्रा (Semilunar) शलाका (Rod) से आगे बढ़ने के मार्ग को रोकने के लिए दहन करें ('सम्यक् मार्गाविरोधार्थम्'–सु.)। यदि अन्त्रवृद्धि कोषप्राप्ता (Complete descending to the scrotum) हो गयी हो तो वह असाध्य है (उसका परित्याग करें)। यदि अन्त्रवृद्धि दाहिनी ओर हो तो बाईं ओर के और बाईं ओर की अन्त्रवृद्धि में दाहिनी ओर के अंगूठे के मध्य त्वचा का भेदन कर दहन कर दें ('दहेदङ्गविपर्ययात्'–सु.)॥ २१-२२॥

अनेनैव विधानेन वृद्धी वातकफात्मिके। प्रदहेत् प्रयतः किन्तु स्नायुच्छेदोऽधिकस्तयोः॥ २३॥

अन्त्रवृद्धि में दहन—इसी प्रकार इसी विधि से वातकफात्मक वृद्धि में भी दहन करें। किन्तु इनमें स्नायुच्छेद (स्नायु का गहराई में काटना) भी करना होता है॥ २३॥

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्। व्यत्यासाद्वा सिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥ २४॥

अन्त्रवृद्धि में सिरावेध—या अन्त्रवृद्धि दाहिनी ओर हो तो बायीं ओर और बायीं ओर की अन्त्रवृद्धि में दाहिनी ओर की शंख (Temple) के ऊपर बाह्य कर्ण के अन्त तक की सेवनी को यत्नपूर्वक बचाते हुए सिरा का वेध (Venepuncture) करे॥ २४॥

विमर्श— अन्त्रवृद्धि—'अन्त्रस्य स्वस्थानादन्यत्र गमनेन य उत्सेधरूपो वृद्धिः स अन्त्रवृद्धिः'। 'हर्निया' शब्द का विस्तृत अर्थ में प्रयोग होता है जब कि अन्त्रवृद्धि अन्त्र के स्थान भ्रंश तक ही सीमित है। अन्त्रवृद्धि के उपरोक्त अर्थ से स्पष्ट है कि इस रोग में अन्त्र की किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती है। आयुर्वेद-ग्रन्थों में हर्निया वंक्षणीय भेदों मे से 'ऑबलिक इंग्वाइनल हर्निया' का वर्णन मिलता है। सम्प्रति इसकी चिकित्सा तीन प्रकार की होती है—१. प्रशामक (Palliative), २. समूल (Radical) चिकित्सा और ३. सूचीवेध चिकित्सा। **प्रशामक** चिकित्सा में लोहपट्ट या ट्रस का प्रयोग किया जाता है। **समूल** चिकित्सा मे पूर्वकर्म, प्रधान कर्म और पश्चात्कर्म की बड़ी सावधानीपूर्वक व्यवस्था करनी होती है। प्रधान (शल्य) कर्म कई तरह से किये जाते हैं। 'Bassini' का शल्यकर्म के परिणाम सर्वोत्तम हैं। सामान्यतः यह शल्यकर्म तीन प्रकार के हैं—1. Herniotomy (हर्नियोटामी), 2. Herniorrhaphy (हर्निया सीवनी) और 3. Hernio plasty (हर्निया सन्धान कर्म)। **सूचीवेध** चिकित्सा में जिंक सल्फेट और फीनाल के घोल का वंक्षणीय सुरंगा के चारों ओर सूचीवेध करते हैं। इसमें २५-३० सूचीवेध करने होते हैं। इससे काठिन्यकरण (Sclerosing) होता है। सुश्रुत द्वारा वर्णित दहन का परिणाम भी इसी प्रकार का है।

उपदंश
(Venereal Diseases)

उपदंशेषु साध्येषु स्निग्धस्विन्नस्य देहिनः। सिरां विध्येन्मेढ्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः॥ २५॥

उपदंश में सिरावेध—साध्य उपदंश रोग में रोगी का स्नेहन-स्वेदन करने के उपरान्त (यदि दोष प्रबल हों तो) शिश्नेन्द्रिय के मध्य की सिरा का वेध करें (Venepuncture of the dorsal vein of the penis) और अल्पदोषों में जलौकापातन (Leeches should be applied) करें॥ २५॥

**हरेदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्। सद्योऽपहृतदोषस्य रुक्शोफावुपशाम्यतः॥ २६॥
यदि वा दुर्बलो जन्तुर्न वा प्राप्तं विरेचनम्। निरूहेण हरेत्तस्य दोषानत्यर्थमुच्छ्रितान्॥ २७॥**

दोषनिर्हरणोपाय—दोषों की प्रबलता तीव्र हो तो रोगी को—यदि वह बलवान् हो तो—वमन एवं विरेचन करायें। इस प्रकार तत्काल दोषों का निर्हरण हो जाने से वेदना और शोफ शान्त हो जाते हैं॥ २६॥

निरूहण द्वारा दोषनिर्हरण—अथवा यदि रोगी दुर्बल हो और किन्हीं कारणों से विरेचन कराना सम्भव न हो तो अत्यधिक उच्छ्रित दोषों के निर्हरण के लिए निरूहण बस्तियों का प्रयोग करें॥ २७॥

विमर्श— 'यदि वेत्यादि दुर्बलाविरेच्ययोः पुनरत्यर्थोच्छ्रितदोषयोर्दोषहरणानुकूल्येन निरूहणे हरणम्' (ड.)।

प्रपौण्डरीकयष्ट्याह्ववर्षाभूकुष्ठदारुभिः । सरलागुरुरास्नाभिर्वातजं सम्प्रलेपयेत्॥ २८॥
निचुलैरण्डबीजानि यवगोधूमसक्तवः। एतैश्च वातजं स्निग्धैः सुखोष्णैः सम्प्रलेपयेत्॥ २९॥
प्रपौण्डरीकपूर्वैश्च द्रव्यैः सेकः प्रशस्यते।

वातिक उपदंश की चिकित्सा—प्रपौण्डरीक, मुलेठी, पुनर्नवा, कूठ, देवदारु, त्रिवृत्, अगर और रास्ना—इनका लेप वातिक उपदंश मे करें। इसी प्रकार निचुल (वेतसः, वेदमुष्कः) और एरण्ड के बीज, जौ और गेहूँ, सत्तू—इनके बारीक चूर्ण का स्निग्ध और उष्णकर लेप करें। प्रपौण्डरीकादि द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक करना हितकर है॥ २८-२९॥

गैरिकाञ्जनयष्ट्याह्वसारिवोशीरपद्मकैः॥ ३०॥
सचन्दनोत्पलैः स्निग्धैः पैत्तिकं सम्प्रलेपयेत्। पद्मोत्पलमृणालैश्च ससर्जार्जुनवेतसैः॥ ३१॥
सर्पिःस्निग्धैः समधुकैः पैत्तिकं सम्प्रलेपयेत्। सेचयेच्च घृतक्षीरशर्करेक्षुमधूदकैः॥ ३२॥
अथवाऽपि सुशीतेन कषायेण वटादिना।

पैत्तिक उपदंश की चिकित्सा—गेरू, रसाञ्जन, मुलेठी, सारिवा, उशीर (खश), पद्म (पद्मकाष्ठ), चन्दन, कमल—इन्हें स्निग्धकर लेप करें। इसी प्रकार पद्म (कमल), उत्पल (नीलकमल), मृणाल (पद्मनालम्), राल, अर्जुन और वेतस (वेदमुष्क)—इनको घृत से स्निग्धकर और मुलेठी चूर्ण मिला कर पैत्तिक उपदंश में लेप करें। घृत, दूध, शर्करा, गन्ने का रस और मधूदक (जल मिला शहद) से अथवा वटादि वर्ग की औषधियों के शीतल कषाय से परिषेक करना चाहिए॥ ३०-३२॥

शालाश्वकर्णाजकर्णधवत्वग्भिः कफोत्थितम्॥ ३३॥
सुरापिष्टाभिरुष्णाभिः सतैलाभिः प्रलेपयेत्। रजन्यतिविषामुस्तासुरसासुरदारुभिः॥ ३४॥
सपत्रपाठापत्तूरैरथ वा सम्प्रलेपयेत्। सुरसारग्वधाद्योश्च क्वाथाभ्यां परिषेचयेत्॥ ३५॥

श्लैष्मिक उपदंश की चिकित्सा—शाल, अश्वकर्ण (पूर्वदेशे प्रसिद्धः, अश्वत्थसदृशः), अजकर्ण (छागकर्ण/ *Dipterocarpus turbinatus*), धव (बाकली)—इनकी छाल को तेल मिलाकर तथा सुरा में पीस और गरम कर लेप करें। या हलदी, अतीस, नागरमोथा, सुरसा (तुलसी), देवदारु, पत्र (तेजपात), पाठा और पत्तूर (शिरबालिका, शालिञ्च–च.पा.)—इनको तैल मिलाकर सुरा में पीसकर लेप करें। सुरसादि गण और आरग्वधादि गण की औषधियों के क्वाथों से परिषेक करना चाहिए॥ ३३-३५॥

एवं संशोधनालेपसेकशोणितमोक्षणैः। प्रतिकुर्यात् क्रियायोगैः प्राक्स्थानोक्तैर्हितैरपि॥ ३६॥
न याति च यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्। विदग्धैस्तु सिरास्नायुत्वङ्मांसैः क्षीयते ध्वजः॥
शस्त्रेणोपचरेच्चापि पाकमागतमाशु वै। तदाऽपोह्य तिलैः सर्पिःक्षौद्रयुक्तैः प्रलेपयेत्॥ ३८॥
करवीरस्य पत्राणि जात्यारग्वधयोस्तथा। प्रक्षालने प्रयोज्यानि वैजयन्त्यर्कयोरपि॥ ३९॥

पाक रोकने के उपाय एवं पाक से होनेवाली हानियाँ—चिकित्सक (आम) उपदंश (Venereal diseases) की चिकित्सा संशोधन (Elimination therapy), आलेपन (Pastes), सेक (Irrigations), शोणितमोक्षण (Blood-letting) तथा उन क्रियायोगों (Measures) से जिनका उल्लेख पूर्व ही (सूत्रस्थान, मिश्रकोक्तैः तथा द्विव्रणीयोक्तैः) किया जा चुका है, इस प्रकार करें कि जिससे यह पकने न पावे। क्योंकि पकने पर सिरा, स्नायु, त्वचा और मांस के गल जाने (Necrosis) से ध्वज (शिश्न/Penis) भी नष्ट हो जाता है। यदि पक गया हो तो शीघ्र ही शस्त्र-प्रयोग कर चिकित्सा करनी चाहिए। इसमें गले भाग (Debris) को अलग कर उस पर तिलकल्क और घृत-मधु मिला कर लेप करना चाहिए॥ ३६-३८॥

प्रक्षालनार्थ क्वाथ—प्रक्षालन के लिए कनेर, जाती (मालती), आरग्वध, वैजयन्ती (अग्निमन्थवृक्षः/अरणी) और आक के पत्रों का क्वाथ प्रयुक्त करना चाहिए॥ ३९॥

सौराष्ट्रीं गैरिकं तुत्थं पुष्पकासीससैन्धवम्। रोध्रं रसाञ्जनं दार्वीं हरितालं मनःशिलाम्॥ ४०॥
हरेणुकैले च तथा सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। तच्चूर्णं क्षौद्रसंयुक्तमुपदंशेषु पूजितम्॥ ४१॥

सौराष्ट्री आदि लेप—फिटकरी (सौराष्ट्री, तुवरमृत्तिका), गेरु, नीलाथोथा (Blue vitriol), पुष्प (पुष्पाञ्जन), कासीस (Green vitriol), सेन्धानमक, लोध्र, रसौत, दारुहल्दी, हरताल, मैनसिल, हरेणुबीज और इलायची—इनका बारीक चूर्ण कर लें। मधु मिलाकर इस चूर्ण को उपदंशों में (लेपार्थ) प्रयुक्त करना प्रशस्त है॥ ४०-४१॥

जम्ब्वाम्रसुमनानिम्बश्वेतकाम्बोजिपल्लवाः। शल्लकीबदरीबिल्वपलाशतिनिशत्वचः॥ ४२॥
क्षीरिणां च त्वचो योज्याः क्वाथे त्रिफलया सह। तेन क्वाथेन नियतं व्रणं प्रक्षालयेद्भिषक्॥ ४३॥
अस्मिन्नेव कषाये तु तैलं धीरो विपाचयेत्। गोजीविडङ्गयष्टीभिः सर्वगन्धैश्च संयुतम्॥ ४४॥
एतत् सर्वोपदंशेषु श्रेष्ठं रोपणमिष्यते।

अन्य प्रक्षालन क्वाथ—जामुन, आम, जाती (चमेली), नीम, श्वेता (श्वेतश्यन्दः), काम्बोजिका ('माषपर्णी'-गयी)—इनके पत्र; शल्लकी, बेर, बेल, ढाक, तिनिश (स्यन्दनः)—इनकी छाल; क्षीरी वृक्ष वटादि की छाल और त्रिफला—इनके क्वाथ से चिकित्सक व्रण का नियमित रूप से प्रक्षालन करे। भिषक् इसी क्वाथ से तैल सिद्ध करे। तैलपाक करते समय गोजिह्वा, विडंग, मुलेठी और एलादि गन्ध द्रव्यों का प्रक्षेप डालें। यह तैल सभी प्रकार के उपदंशों में उत्तम रोपण करता है॥ ४२-४४॥

स्वर्जिकातुत्थकासीसं शैलेयं च रसाञ्जनम्॥ ४५॥
मनःशिलासमैश्चूर्णं व्रणवीसर्पनाशनम्। गुन्द्रां दग्ध्वा कृतं भस्म हरितालं मनःशिला॥ ४६॥
उपदंशविसर्पाणामेतच्छान्तिकरं परम्। मार्कवस्त्रिफला दन्ती ताम्रचूर्णमयोरजः॥ ४७॥
उपदंशं निहन्त्येष वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा।

सर्जिकादि चूर्ण—सज्जीखार, नीला थोथा, कासीस, शैलेय (शिलापुष्प, छैड-छडीला), रसाञ्जन, मैनसिल—इनका चूर्ण कर लगाने से व्रण एवं विसर्प रोग नष्ट होते हैं। **गुन्द्रादि लेप**—गुन्द्रों (गोंद पटेर/ *Typha elephantina*, भद्रमुस्त) को जलाकर भस्म बना लें और इसमें मैनसिल तथा हरताल मिलाकर प्रयोग करने से उपदंश एवं विसर्प में बहुत शान्ति मिलती है। **मार्कवादि योग**—इसी प्रकार भृंगराज (मार्कव), त्रिफला, दन्ती, ताम्रभस्म और लोहभस्म का प्रयोग उपदंश को उसी तरह नष्ट करता है जिस प्रकार इन्द्र का वज्र वृक्ष को॥ ४५-४७॥

उपदंशद्वयेऽप्येतां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्॥ ४८॥
तयोरेव च या योग्या वीक्ष्य दोषबलाबलम्।

दोषों के बलाबल का विचार—शेष दो प्रकार के उपदंश (सान्निपातिक और रक्तज) में भी यही चिकित्सा की जाती है, किन्तु प्रत्याख्याय (घातक परिणाम के सम्बन्ध में बता) कर चिकित्सा करनी चाहिए और दोषों के बलाबल का विचार कर इस चिकित्साविधि को, जहाँ जिस प्रकार उपयुक्त हो, प्रयोग में लाना चाहिए।। ४८।।

उपदंशे विशेषेण शृणु भूयस्त्रिदोषजे।। ४९।।

दुष्टव्रणविधिं कुर्यात् कुथितं मेहनं त्यजेत्। जम्ब्वौष्ठेनाग्निवर्णेन पश्चाच्छेषं दहेद्भिषक्।। ५०।।

सम्यग्दग्धं च विज्ञाय मधुसर्पिः प्रयोजयेत्। शुद्धे च रोपणं दद्यात् कल्कं तैलं हितं च यत्।। ५१।।

दहनकर्म—त्रिदोषज उपदंश की चिकित्सा का पुनः श्रवण करें। इसमें दुष्टव्रण की जो चिकित्सा-विधि बतायी है ('दुष्टव्रणेषु कर्तव्यं ऊर्ध्वं चाधश्च शोधनम्'–सु.चि. २।८६) उसे प्रयुक्त करना चाहिए और कुथित (शिश्न का गला हुआ भाग/Putrefying part of the penis) अंश को अलग कर शेष भाग का अग्निवर्ण किये गये जाम्बवौष्ठ शलाका से शल्यहर्ता को दहन कर देना चाहिए।। ४९-५०।।

पश्चात्कर्म—दग्ध भली प्रकार हो गया है, यह जानकर व्रणस्थान पर मधु-घृत का प्रयोग करें। व्रण के शुद्ध हो जाने के पश्चात् रोपण कल्क और रोपण तैल, जो हितकर हो, उसे प्रयुक्त करना चाहिए।। ५१।।

विमर्श— शुद्ध व्रण लक्षण—'त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः। अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते'।। (सु.सू. २३।१८)

जाम्बवौष्ठः—'जम्बूफलसदृशमुखाग्रः कृष्णपाषाणरचितः' (ड.)।

उपदंश-चिकित्सा की सम्प्रति रामबाण औषध पेनिसिलीन है जो नये-पुराने सभी प्रकार के उपदंश को विधिपूर्वक प्रयुक्त करने पर रोग को समूल नष्ट कर देती है। जिन रोगियों को यह औषध अनुकूल नहीं आती है उनकी इससे सहसा मृत्यु भी हो सकती है। अतः सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिए।

श्लीपद
(Elephantiasis)

स्नेहस्वेदोपपन्ने तु श्लीपदेऽनिलजे भिषक्। कृत्वा गुल्फोपरि सिरां विध्येत्तु चतुरङ्गुले।। ५२।।

समाप्यायितदेहं च बस्तिभिः समुपाचरेत्। मासमेरण्डजं तैलं पिबेन्मूत्रेण संयुतम्।। ५३।।

पयसौदनमश्नीयान्नागरक्वथितेन च। त्रैवृतं चोपयुञ्जीत शस्तो दाहस्तथाऽग्निना।। ५४।।

सिराव्यध—चिकित्सक वातिक श्लीपद में स्नेहन-स्वेदन के उपरान्त गुल्फ (Ankle) से चार अँगुल ऊपर की सिरा का वेध (Venepuncture in elephantiasis) करना चाहिए। तदनन्तर रोगी में बलाधान होने के पश्चात् बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए और एक मास तक एरण्डस्नेह गोमूत्र के साथ पिलावें। पथ्य के लिए चावलों को दूध और सोंठ के क्वाथ से दें तथा स्नेहन के लिए त्रैवृत (वातव्याधि में वर्णित) का प्रयोग करना चाहिए! अग्नि से दहन करना भी प्रशस्त है।। ५२-५४।।

गुल्फस्याधःसिरां विध्येच्छ्लीपदे पित्तसम्भवे। पित्तघ्नीं च क्रियां कुर्यात् पित्तार्बुदविसर्पवत्।।

पैत्तिक श्लीपद-चिकित्सा—पैत्तिक श्लीपद (Elephantiasis) में गुल्फ के नीचे की सिरा का वेध करना चाहिए और पित्तार्बुद तथा पित्तज विसर्प की चिकित्सा की तरह पित्तहर चिकित्सा करें।। ५५।।

सिरां सुविदितां विध्येदङ्गुष्ठे श्लैष्मिके भिषक्। मधुयुक्तानि चाभीक्ष्णं कषायाणि पिबेन्नरः।।

पिबेद्वाऽप्यभयाकल्कं मूत्रेणान्यतमेन च। कटुकाममृतां शुण्ठीं विडङ्गं दारु चित्रकम्।। ५७।।

हितं वा लेपने नित्यं भद्रदारु सचित्रकम्। विडङ्गमरिचार्केषु नागरे चित्रकेऽथवा।। ५८।।

भद्रदार्वेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च। तैलं पक्वं पिबेद्वाऽपि यवान्नं च हितं सदा।। ५९।।

श्लैष्मिक श्लीपद-चिकित्सा—श्लैष्मिक श्लीपद में चिकित्सा क्षिप्र नामक मर्म ('पादस्य अङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं नाम मर्म'—सु.शा. ६।२५) से चार अँगुल ऊपर की सुविदित (Prominent)

सिरा का वेध करें और रोगी को मधुयुक्त कषायों का बार-बार (अभीक्ष्णम् = पुनः पुनः) पान कराना चाहिए।

गोमूत्र-सेवन—रोगी आठ प्रकार के मूत्रों में से किसी एक के साथ हरीतकी के कल्क का पान करे। इसी प्रकार कुटकी, गिलोय, सोंठ, विडंग, देवदारु और चित्रक इनको गोमूत्र में पीसकर श्लीपद में लेप करें।

विडंगादि तैलपान—या विडंग, मरिच, आक, सोंठ, चित्रक, देवदारु, एलवालुक और सभी प्रकार के लवण से सिद्ध तैल का पान करें और सदा यवा(जौ)न्न भोजन हितकर होता है॥ ५६-५९॥

पिबेत् सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये। पूतीकरञ्जपत्राणां रसं वाऽपि यथाबलम्॥ ६०॥
अनेनैव विधानेन पुत्रञ्जीवकजं रसम्। प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः कालसात्म्यविभागवित्॥ ६१॥
केबुकाकन्दनिर्यासं लवणं त्वथ पाकिमम्। रसं दत्त्वाऽथ पूर्वोक्तं पेयमेतद्भिषग्जितम्॥ ६२॥

श्लीपदहर योग—इसी प्रकार श्लीपद की निवृत्ति (छुटकारा) के लिए सरसों के तेल का पान कराना चाहिए। अथवा रोगी के बल के अनुसार पूतीकरञ्ज ('कण्टकिकरञ्ज'–ड.) के पत्तों के रस का पान करायें। काल एवं सात्म्य के विधान को जानने वाला विद्वान् चिकित्सक इसी विधि से पुत्रञ्जीव (जियापोता/*Putranjiva roxburghii*) के रस को पिलावें। केबुककन्द का निर्यास (केबुक = केंऊ/Costus speciosus/लांगली के विकल्प में) और पाकिम (पाचितं लवणम् = विड्लवणम्) को पूतीकरंज या पुत्रञ्जीव के रस के साथ पिलावें॥ ६०-६२॥

काकादनीं काकजङ्घां बृहतीं कण्टकारिकाम्। कदम्बपुष्पीं मन्दारीं लम्बां शुकनसां तथा। ६३॥
दग्ध्वा मूत्रेण तद्भस्म स्रावयेत् क्षारकल्पवित्। तत्र दद्यात् प्रतीवापं काकोदुम्बरिकारसम्॥ ६४॥
मदनाच्च फलात् क्वाथं शुकाख्यस्वरसं तथा। एष क्षारस्तु पानीयः श्लीपदं हन्ति सेवितः॥ ६५॥
अपचीं गलगण्डं च ग्रहणीदोषमेव च। भक्तस्यानशनं चैव हन्यात् सर्वविषाणि च॥ ६६॥

पानीय क्षार का प्रयोग—क्षारनिर्माण विधि का ज्ञाता चिकित्सक काकादनी (काकहिंम्रेत्यर्थः), काकजंघा, बड़ी कटेरी, कण्टकारी, कदम्बपुष्पी (अलम्बुषा, मुण्डतिकेति लोके), मन्दारी (अर्क या पारिभद्र), लम्बा (कटुकालाबुः), शुकनासा (चर्मकारवटः)—इनकी भस्म को गोमूत्र में घोल-छान कर पकावें और इसमें काकोदुम्बरिका (अंजीर) का रस, मदनफल-क्वाथ तथा शुकनासा का स्वरस, प्रत्येक गोमूत्र की बराबर मात्रा में मिला लें और पानीयक्षार तैयार कर लें। यह सेवन करने पर श्लीपद को नष्ट करता है तथा अपची, गलगण्ड, ग्रहणीदोष और सभी प्रकार के विषों को दूर करता है एवं उत्तम अन्नपाचक है॥ ६३-६६॥

एष्वेव तैलं संसिद्धं नस्याभ्यङ्गेषु पूजितम्। एतानेवामयान् हन्ति ये च दुष्टव्रणा नृणाम्॥ ६७॥

सिद्ध तैल का नस्य—काकादनी आदि औषधियों के क्वाथ तथा काकोदुम्बरिका रस, मदनफल क्वाथ और शुकनासा स्वरस से सिद्ध तैल नस्य और अभ्यंग करने पर दुष्ट व्रणों तथा अपची, गलगण्ड आदि रोगों को नष्ट करने में हितकर है॥ ६७॥

द्रवन्तीं त्रिवृतां दन्तीं नीलीं श्यामां तथैव च। सप्तलां शङ्खिनीं चैव दग्ध्वा मूत्रेण गालयेत्॥ ६८॥
दद्याच्च त्रिफलाक्वाथमेष क्षारस्तु साधितः। अधो गच्छति पीतस्तु पूर्वैश्चाप्याशिषः समाः॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥



द्रवन्त्यादि क्षार—द्रवन्ती (सन्दिग्ध द्रव्य?), निशोथ, दन्ती (दन्तिनी/ *Baliospermum montanum*), नीली (शारदं फलम्, नील/ *Indigofera tinctoria*), श्यामा (वृद्धदारुकः), सप्तला, शङ्खिनी (यवतिक्ताभेदः)—इनको जलाकर भस्म बना लें और गोमूत्र में इसे घोलकर तथा छानकर एवं गोमूत्र के बराबर त्रिफलाक्वाथ मिलाकर क्षारनिर्माण विधि से क्षार तैयार कर लें। यह क्षार पीने पर रेचन करता है (अथवा शरीर के अधो भाग में स्थित विकारों को नष्ट करता है)। यह पूर्वोक्त काकादनी आदि द्रव्यों से निर्मित क्षार की तरह श्लीपद, अपची, गलगण्ड आदि रोगों का विनाश करता है॥ ६८-६९॥

विमर्श— श्लीपद (Elephantiasis) की आधुनिक चिकित्सा में रोग जीर्ण न हो तो 'Hetrazan' २ मि.ग्रा. प्रति किलोग्राम शरीर भार के अनुसार मुख द्वारा दिन में तीन बार तीन सप्ताह तक देते हैं तथा बढ़ने पर शल्यकर्म कर अनावश्यक भाग को काटकर अलग कर देते हैं।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सा' नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ १९॥



अध्याय-सारांश

'वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—वृद्धि में परहेज (अन्त्रवृद्धि के अतिरिक्त), वातिक वृद्धि में त्रैवृत्, स्निग्ध रोगी को एरण्ड तैल का मास तक पान, निरूहण एवं आहार में रसौदन का सेवन (७), स्नेहन, उपनाहन, पाचन, भेदन और व्रणवदुपचार (९); पैत्तिक वृद्धि में—पित्तज ग्रन्थिवदुपचार, पकने पर भेदन, शोधन-रोपणादि (११); श्लैष्मिक वृद्धि में—उष्ण मूत्रपिष्ट प्रलेप, दारुहरिद्रा कषाय एवं गोमूत्र का पान, श्लेष्मग्रन्थि सदृश उपचार, पकने पर भेदन, शोधन, रोपणादि (१४); मेदःसमुत्थ में—सुरसादि लेप, फल एवं सेवनी को बचा कर शस्त्रकर्म, मेद को अलग कर शोधन-रोपण द्रव्यों का, सिद्ध तैलों का उपयोग (१७); मूत्रज वृद्धि में—सेवनी के सामने नीचे व्रीहिमुख से वेधन और नाडीयन्त्र के द्वारा तरलर्निहरण, शोधन-रोपण और स्थगिकाबन्ध (T. Bandage) का प्रयोग (२०); अन्त्रवृद्धि में—असाध्य होने से परित्याग की सलाह, अप्राप्तफलकोषा में वातवृद्धि क्रम, वंक्षणस्था में अर्धेन्दुशलाका से दहन, कोषप्राप्ता का परित्याग (२२), अंगुष्ठमध्य की सिरा का अंगविपर्यय से दहन, सिरावेध (शंखोपरि कर्णान्ते) (२४)।

उपदंश—वातज में मेढ्रमध्य सिरा वेध, जलौकापातन, वमन, विरेचन, निरूहण, प्रपौण्डरीकादि लेप, सेक; पैत्तिक में—गैरिकादि लेप, घृतादि से सिंचन; कफोत्थ में—शालादि लेप, सुरसादि से सेक (३५), पकने पर सभी प्रकार के उपदंश में शोधन, प्रक्षालन, रोपण, दुष्टव्रणविधि, दहन, रोपण (५१)।

श्लीपद—वातज में स्नेहन-स्वेदन, गुल्फोपरि सिरावेध, बस्तिप्रयोग, गोमूत्र-एरण्डस्नेह का एक मास तक प्रयोग (५४); पित्तज में गुल्फाधः सिरावेध, पित्तार्बुद-विसर्पवत् चिकित्सा करें; श्लैष्मिक में अंगुष्ठ-सिरावेध, तीक्ष्ण कषायपान, आलेपन, सर्षपतैलपान, काकादनी आदि का क्षार बनाकर पिलावें। इनसे सिद्ध तैल का नस्य, अभ्यंग श्लीपदनाशक। इसी प्रकार द्रवन्ती आदि का क्षार भी इसी तरह गुणकारी है (६९)।

विंशोऽध्यायः

अथातः क्षुद्ररोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'क्षुद्ररोगचिकित्सितम्' (The Management of Minor Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

तत्राजगल्लिकामामां जलौकोभिरुपाचरेत्। शुक्तिश्रुघ्नीयवक्षारकल्कैश्चालेपयेद्भिषक् ॥ ३ ॥
श्यामालाङ्गलकीपाठाकल्कैर्वाऽपि विचक्षणः। पक्वां व्रणविधानेन यथोक्तेन प्रसाधयेत् ॥ ४ ॥

अजगल्लिका-चिकित्सा—यदि अजगल्लिका नामक विकार अपक्व हो तो जलौकापातन द्वारा उपचार करना चाहिए और शुक्ति (जलशुक्तिः), श्रुघ्नी (स्वर्जिका = सज्जीखार) तथा यवक्षार—इनके कल्क का लेप करें। अथवा बुद्धिमान् चिकित्सक श्यामा (त्रिवृत्), लांगली और पाठा—इनके कल्क का लेप करें। यदि अजगल्लिका पक जाय तो पूर्व वर्णित व्रणचिकित्सा की तरह उपचार करें ॥ ३-४ ॥

विमर्श— 'स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा ग्रन्थिसन्निभा। कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका' ॥

अन्धालजीं यवप्रख्यां पनसीं कच्छपीं तथा। पाषाणगर्दभं चैव पूर्वं स्वेदेन योजयेत् ॥ ५ ॥
मनःशिलातालकुष्ठदारुकल्कैः प्रलेपयेत्। परिपाकगतान् भित्त्वा व्रणवत् समुपाचरेत् ॥ ६ ॥

अन्धालजी आदि की चिकित्सा—अन्धालजी, यवप्रख्या, पनसी, कच्छपी और पाषाणगर्दभ की चिकित्सा में सर्वप्रथम स्वेदन करें। तदनन्तर मैनसिल, हरताल, कूठ और देवदारु के कल्क का लेप करें। यदि पक जाते हैं तो व्रणवत् चिकित्सा करें ॥ ५-६ ॥

विमर्श— 'घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्। अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात्कफवातजाम्' ॥

विवृतामिन्द्रवृद्धां च गर्दभीं जालगर्दभम्। इरिवेल्लीं गन्धनाम्नीं कक्षां विस्फोटकांस्तथा ॥ ७ ॥
पित्तजस्य विसर्पस्य क्रियया साधयेद्भिषक्। रोपयेत् सर्पिषा पक्वान् सिद्धेन मधुरौषधैः ॥ ८ ॥

विवृतादि की चिकित्सा—चिकित्सक विवृता, इन्द्रवृद्धा, गर्दभी, जालगर्दभ, इरिवेल्ली, गन्धनाम्नी, कक्षा और विस्फोटक—इनकी चिकित्सा पित्तज विसर्प की तरह करे और पक जाने पर इनके रोपण के लिए काकोल्यादि मधुरौषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग करें ॥ ७-८ ॥

विमर्श— 'विसर्पवत्सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः। अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः' ॥

चिप्पमुष्णाम्बुना सिक्तमुत्कृत्य स्रावयेद्भिषक्। चक्रतैलेन चाभ्यज्य सर्जचूर्णेन चूर्णयेत् ॥ ९ ॥
बन्धेनोपचरेच्चैनमशक्यं चाग्निना दहेत्। मधुरौषधसिद्धेन ततस्तैलेन रोपयेत् ॥ १० ॥
कुनखे विधिरप्येष कार्यो हि भिषजा भवेत्।

चिप्प की चिकित्सा—पक्व चिप्प(प्य) (Whitlow) का उष्ण जल से सिञ्चन कर चिकित्सक दुष्ट मांस को शस्त्र से काट दे और स्रावण (Drainage) के उपरान्त चक्रतैल ('चक्रतैलं चक्रपीडितं हस्तादिपीडितव्युदासार्थं चक्रतैलग्रहणम्'–ड.) से अभ्यंग (स्नेहन) कर व्रण को सर्ज (राल) चूर्ण से पूरित कर (भर) दे या ऊपर बुरक (Sprinkle) दे तथा व्रणबन्धन कर दे। इस प्रकार ठीक न हो तो अग्नि से दहन कर दे और काकोल्यादि मधुरौषधियों से सिद्ध तैल का रोपणार्थ प्रयोग करे। चिकित्सक कुनख (Paronychia) की चिकित्सा में इसी विधि का उपयोग करें ॥ ९-१० ॥

उपाचरेदनुशयीं श्लेष्मविद्रधिवद्भिषक्।

अनुशयी की चिकित्सा—चिकित्सक अनुशयी की चिकित्सा श्लैष्मिक विद्रधि की तरह करे।

विदारिकां समभ्यज्य स्विन्नां विम्लाप्य लेपयेत्॥ ११॥
नगवृत्तिकवर्षाभूबिल्वमूलैः सुपेषितैः। व्रणभावगतायां वा कृत्वा संशोधनक्रियाम्॥ १२॥
रोपणार्थं हितं तैलं कषायमधुरैः शृतम्।

विदारिका की चिकित्सा—विदारिका का भली प्रकार स्वेदन (Anointing, sudation) कर विम्लापन (अंगुल्यादि से मर्दन) करें और नगवृत्तिक (जिङ्गिनी = शल्लकी), पुनर्नवामूल और बिल्वमूल को खूब पीसकर लेप करें। यदि व्रण बन जाता है तो संशोधन करें और रोपण के लिए कषाय (न्यग्रोधादि) तथा मधुर (काकोल्यादि) औषधियों से सिद्ध तैल का प्रयोग हितकर है॥ ११-१२॥

प्रच्छानैर्वा जलौकोभिः स्राव्याऽपक्वा विदारिका॥ १३॥
अजकर्णैः सपालाशैर्मूलकल्कैः प्रलेपयेत्। पक्वां विदार्य शस्त्रेण पटोलपिचुमर्दयोः॥ १४॥
कल्केन तिलयुक्तेन सर्पिर्मिश्रेण लेपयेत्। बद्ध्वा च क्षीरवृक्षस्य कषायैः खदिरस्य च॥ १५॥
व्रणं प्रक्षालयेच्छुद्धां ततस्तां रोपयेत् पुनः।

अपक्व विदारिका की चिकित्सा—यदि विदारिका अपक्व है तो पछने लगाकर (Scarification) या जलौकापातन कर रक्तविस्रावण करना चाहिए। तत्पश्चात् अजकर्ण (सर्जः), पलाश (शठी) इनके मूल कल्क का लेप करना चाहिए। विदारिका के पक जाने पर तथा शस्त्र से भेदन करने के उपरान्त पटोल और निम्ब के कल्क को तैल तथा घृत में मिलाकर लेप करें और व्रण का बन्धन कर दें। व्रण के प्रक्षालन के लिए क्षीरवृक्ष (वटोदुम्बरप्लक्षपिप्पलगर्दभाण्डाः) और खदिर के क्वाथों का प्रयोग करना चाहिए तथा व्रण के शुद्ध हो जाने पर रोपण उपक्रम करें॥ १३-१५॥

विमर्श— 'विदारीकन्दवद्वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु। रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्'॥

मेदोऽर्बुदविधानेन साधयेच्छर्करार्बुदम्॥ १६॥
कच्छूं विचर्चिकां पामां कुष्ठवत् समुपाचरेत्। लेपश्च शस्यते सिक्थशताह्वागौरसर्षपैः॥ १७॥
वचादार्वीसर्षपैर्वा तैलं वा नक्तमालजम्। सारतैलमथाभ्यङ्गे कुर्वीत कटुकैः शृतम्॥ १८॥

शर्करार्बुदादि की चिकित्सा—शर्करार्बुद का उपचार मेदोऽर्बुद की चिकित्सा के समान करें। इसी प्रकार कच्छू, विचर्चिका, पामा की चिकित्सा कुष्ठवत् करें। इनमें सिक्थ (मोम), शताह्वा (सौंफ), सफेद सरसों, वचा, दारुहल्दी और सरसों का लेप करें अथवा नक्तमाल (करंज) का तेल लगायें और कटु रस वाली पिप्पली आदि से सिद्ध सारतैल ('सारतैलेन शिंशपागुरुसरलदेवदार्वादितैलेन) अभ्यंगार्थ प्रयुक्त करें॥ १६-१८॥

पाददार्यां सिरां विद्ध्वा स्वेदाभ्यङ्गौ प्रयोजयेत्। मधूच्छिष्टवसामज्जसर्जचूर्णघृतैः कृतः॥ १९॥
यवाह्वगैरिकोन्मिश्रैः पादलेपः प्रशस्यते।

पाददारी में सिरावेध एवं लेप—पाददारी (Rhagades = बिवाई) में पहले स्नेहन-स्वेदन करें, तत्पश्चात् सिरा का वेध करें। मोम, वसा, मज्जा, राल का चूर्ण, इनसे सिद्ध किये गये घृत में यवक्षार और गेरू को मिलाकर पैर (रोगयुक्त भाग) पर लेप करना श्रेष्ठ है॥ १९॥

विमर्श— 'परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः। पादयोः कुरुते दारीं सरुजां मूलसंश्रिताम्'॥ (सु.नि.)

पादौ सिक्त्वाऽऽरनालेन लेपनं ह्यलसे हितम्॥ २०॥

कल्कीकृतैर्निम्बतिलकासीसालैः ससैन्धवैः। लाक्षारसोऽभया वाऽपि कार्यं स्याद्रक्तमोक्षणम्॥
सिद्धं रसे कण्टकार्यास्तैलं वा सार्षपं हितम्। कासीसरोचनशिलाचूर्णैर्वा प्रतिसारणम्॥ २२॥

अलसहर लेप—अलस नामक रोग में काँजी से पैरों को सिंचित कर (धोकर) नीम, तिल, कासीस, आल (हरताल/Green vitriol) और सेंधानमक का कल्क बनाकर लेप करना हितकर है; अथवा लाख (Lac) और हरीतकी का लेप करें या रक्तमोक्षण करायें।

कासीसादि प्रतिसारण—कण्टकारी के रस में सिद्ध सरसों का तैल लगाना अथवा कासीस, गोरोचन और मनःशिला के चूर्ण का घर्षण (प्रतिसारणम् = Locally rubbed) करें॥ २०-२२॥

विमर्श— 'क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुगन्वितौ। दुष्टकर्दमसंस्पर्शात् अलसं तं विनिर्दिशेत्'॥ (सु.नि. १३-३०)

उत्कृत्य दग्ध्वा स्नेहेन जयेत् कदरसंज्ञकम्।

कदर में स्नेह-दहन—कदर (Corns) को शस्त्र से काटकर अग्नि में तप्त तैल से जलाना चाहिए (सूक्ष्ममार्गानुसारित्वात्तैलस्य)।

विमर्श— कदरः—'सकीलः कठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा। कोलमात्रः सरुक् स्रावो जायते कदरस्तु सः'॥ सु.नि. १३)।

इन्द्रलुप्ते सिरां मूर्ध्नि स्निग्धस्विन्नस्य मोक्षयेत्॥ २३॥
कल्कैः समरिचैर्दिह्याच्छिलाकासीसतुत्थकैः। कुटन्नटादारुकल्कैर्लेपनं वा प्रशस्यते॥ २४॥
प्रच्छयित्वाऽवगाढं वा गुञ्जाकल्कैर्मुहुर्मुहुः। लेपयेदुपशान्त्यर्थं कुर्याद्वाऽपि रसायनम्॥ २५॥
मालतीकरवीराग्निनक्तमालविपाचितम्। तैलमभ्यञ्जने शस्तमिन्द्रलुप्तापहं परम्॥ २६॥

इन्द्रलुप्त में सिरावेधादि—इन्द्रलुप्त (Alopecia) में स्नेहन-स्वेदन के उपरान्त माथे की सिरा का वेध (Venepuncture at the forehead) करें और मैनसिल, कासीस और नीला थोथा इनको मरिच के साथ कल्क बनाकर लेप करें या कुटन्नट (श्योनाक = सोनापाठा) और दारुहल्दी के कल्क का लेप प्रशस्त है या शस्त्र से गाढ़ा प्रच्छान कर (After deep scraping) गुञ्जाकल्क का बार-बार लेप करना चाहिए अथवा रसायन सेवन करायें ('दुःसाध्योऽयं व्याधिर्न शक्यते रसायनमन्तरेणापनेतुम्। रसायनमष्टादशदिव्यौषधयः सोमश्च औषधराजा'–ड.)। मालती, कनेर, चित्रक, नक्तमाल (करञ्ज) इनसे सिद्ध तैल इन्द्रलुप्त को दूर करने में परम प्रशस्त है॥ २३-२६॥

विमर्श— गंजापन इन्द्रलुप्त है ('रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसम्भवः। तमिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते'–सु.नि. २३।३२)।

अरूंषिका हृते रक्ते सेचयेन्निम्बवारिणा। दिह्यात् सैन्धवयुक्तेन वाजिविष्ठारसेन तु॥ २७॥
हरितालनिशानिम्बकल्कैर्वा सपटोलजैः। यष्टीनीलोत्पलैरण्डमार्कवैर्वा प्रलेपयेत्॥
इन्द्रलुप्तापहं तैलमभ्यङ्गे च प्रशस्यते॥ २८॥

अरूंषिका-चिकित्सा—अरूंषिका में रक्तनिर्हरण (Blood-letting) के उपरान्त निम्बक्वाथ से सिंचन करें और घोड़े की लीद के रस में सेंधानमक मिलाकर लेप करें। अथवा हरताल, हलदी, नीम और पटोल के कल्क का लेप करें या मुलेठी, नीलकमल या एरण्ड, भृंगराज कल्क का लेप करें। इन्द्रलुप्त रोग में पठित जात्यादि तैल का अभ्यंग अरूंषिका में भी प्रशस्त है॥ २७-२८॥

विमर्श— अरूंषिका—'अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदानि मूर्धनि। कफासृक् कृमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम्'॥ (सु.नि. १३)

सिरां दारुणके विद्ध्वा स्निग्धस्विन्नस्य मूर्धनि। अवपीडं शिरोवस्तिमभ्यङ्गं च प्रयोजयेत्॥ २९॥
क्षालने कोद्रवतृणक्षारतोयं प्रशस्यते।

दारुणक में माथे की सिरा का वेध एवं नस्य—दारुणक नामक विकार में स्नेहन-स्वेदन के उपरान्त माथे की सिरा का वेध करना चाहिए। तत्पश्चात् अवपीड (अवपीड्य दीयत इत्यवपीडः) नस्य, शिरोबस्ति और अभ्यंग करना चाहिए। प्रक्षालन के लिए कोदों के क्षारजल का प्रयोग करना चाहिए॥ २९॥

विमर्श— दारुणक—'दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते। कफवातप्रकोपेण विद्याद्दारुणकं तु तम्'॥ (सु.नि. १३।३३)

उपरिष्टात्प्रवक्ष्यामि विधिं पलितनाशनम्॥ ३०॥

पलित (बालों का सफेद होना) को नष्ट करने वाली विधि का वर्णन आगे (सु.चि. २५ में) में किया जायेगा॥ ३०॥

मसूरिकायां कुष्ठघ्नलेपनादिक्रिया हिता। पित्तश्लेष्मविसर्पोक्ता क्रिया वा सम्प्रशस्यते॥ ३१॥

मसूरिका-चिकित्सा—मसूरिका में कुष्ठनाशन लेपादि क्रिया हितकर है अथवा पित्तश्लेष्म विसर्प की जो चिकित्सा वर्णित की है वह उत्तम है॥ ३१॥

विमर्श—मसूरिका—'दाहज्वररुजावन्तस्ताम्राः स्फोटाः सपीतकाः। गात्रेषु वदने चान्तर्विज्ञेयास्ता मसूरिकाः'॥ (सु.नि. १३)

जतुमणिं समुत्कृत्य मषकं तिलकालकम्। क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या वह्निना वा शनैः शनैः॥ ३२॥

जतुमणि-चिकित्सा—जतुमणि, मशक और तिलकालक की चिकित्सा में उन्हें शस्त्र से काटकर (समुत्कृत्य/Surgically excised) क्षार या अग्नि से शनैः-शनैः दग्ध कर दें॥ ३२॥

विमर्श— जतुमणि—'नीरुजं सममुत्पन्नं मण्डलं कफरक्तजम्। सहजं रक्तमीषच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः'॥ (सु.चि. १३)

न्यच्छे व्यङ्गे सिरामोक्षो नीलिकायां च शस्यते। यथान्यायं यथाभ्यासं लालाटयादिसिराव्यधः॥
घृष्ट्वा दिह्यात् त्वचं पिष्ट्वा क्षीरिणां क्षीरसंयुताम्। बलातिबलयष्ट्याह्वरजनीर्वा प्रलेपनम्॥
पयस्यागुरुकालीयलेपनं वा सगैरिकम्। क्षौद्राज्ययुक्तया लिम्पेद्दंष्ट्रया शूकरस्य च॥ ३५॥
कपित्थराजादनयोः कल्कं वा हितमुच्यते।

न्यच्छ-चिकित्सा—न्यच्छ और व्यंग की चिकित्सा में तथा नीलिका में शस्त्रनिर्देश एवं अनुभव के अनुसार ललाट आदि की सिरा का वेध करें॥ ३३॥

क्षीरवृक्षत्वक्-लेप—क्षीरिवृक्षों की क्षीरयुक्त छाल को घिसकर लगावें अथवा बला, अतिबला, मुलेठी और हलदी का लेप करे या पयस्या (अर्कपुष्पी), अगुरु, कालीय (कृष्णचन्दनम्/पीतचन्दन) और गेरू का लेप करें। या सूअर की दाढ़ को घिसकर तथा घृत-मधु मिलाकर लेप करना चाहिए या कैथ और खिरनी के कल्क का लेप हितकर है॥ ३४-३५॥

विमर्श— न्यच्छ—'मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम्। सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते'॥ (सु.नि. १३)

यौवने पिडकास्वेष विशेषाच्छर्दनं हितम्॥ ३६॥
लेपनं च वचारोध्रसैन्धवैः सर्षपान्वितैः। कुस्तुम्बुरुवचालोध्रकुष्ठैर्वा लेपनं हितम्॥ ३७॥

युवानपिडकोपचार—युवानपिडकाओं (Acne vulgaris) के उपचार में छर्दन (वमन/Induction of emesis) विशेष रूप से उपयोगी होता है और लेपन (Paste) के लिए वचा, लोध्र, सेन्धानमक और सरसों का कल्क अथवा नेपाली धनियाँ (कुस्तुम्बुरु), वचा, लोध्र और कूठ हितकर हैं॥ ३६-३७॥

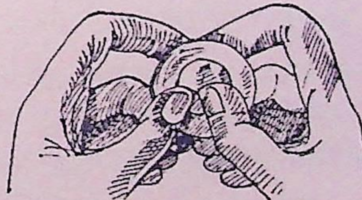
पद्मिनीकण्टके रोगे छर्दयेन्निम्बवारिणा। तेनैव सिद्धं सक्षौद्रं सर्पिःपानं प्रदापयेत्॥ ३८॥
निम्बारग्वधयोः कल्को हित उत्सादने भवेत्।

पद्मिनीकण्टक की चिकित्सा—पद्मिनीकण्टक नामक रोग में निम्बक्वाथ से वमन करायें और इसी क्वाथ से सिद्ध घृत पीने को देना चाहिए। उत्सादन (Rubbing) के लिए नीम और आरग्वध का कल्क उपयोगी है॥ ३८॥

विमर्श— पद्मिनीकण्टक—'कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम्। पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम्'॥ (सु.नि. १३)।

परिवृत्तिं घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत्॥ ३९॥
ततोऽभ्यज्य शनैश्चर्म चानयेत् पीडयेन्मणिम्। प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनैः॥ ४०॥
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा वातघ्नैः शाल्वणादिभिः। दद्याद्वातहरान् बस्तीन् स्निग्धान्यन्नानि भोजयेत्॥
वपाटिकां जयेदेवं यथादोषं चिकित्सकः।

परिवर्तिका और अवपाटिका की चिकित्सा—परिवृत्ति (परिवर्तिका) में घृत से स्नेहन, स्वेदन एवं उपनाहन के उपरान्त घृत लगाकर धीरे-धीरे मणि (Glans) का पीडन करते हुए चर्म (Free skin) को आगे लायें। मणि पर चर्म के आ जाने के उपरान्त दोषबल के हीन, मध्य एवं उत्तम होने के अनुसार साल्वणादि वातहर द्रव्यों से एक, तीन, पाँच रात्रि तक उपनाहन करें। इसी प्रकार वातहर बस्तियों का प्रयोग करें तथा भोजनार्थ स्निग्ध अन्न दें। चिकित्सक अवपाटिका (Prepucial tears) की चिकित्सा भी परिवर्तिका की तरह दोषानुसार करे॥ ३९-४१॥



चित्र सं० ३२ : परिवर्तिका चिकित्सा
('चानयेत्पीडयन् मणिम्')

निरुद्धप्रकशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्॥ ४२॥
दारवीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत्। परिषेके वसामज्जशिशुमारवराहयोः॥ ४३॥
चक्रतैलं तथा योज्यं वातघ्नद्रव्यसंयुतम्। त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ्नाडीं प्रवेशयेत्॥
स्रोतो विवर्धयेदेवं स्निग्धमन्नं च भोजयेत्। भित्त्वा वा सेवनीं मुक्त्वा सद्यःक्षतवदाचरेत्॥ ४५॥

निरुद्धमणि की शस्त्र-चिकित्सा—निरुद्धप्रकश (Phimosis) की चिकित्सा में उभयतोमुखी (Tubulary instrument) लोह, काष्ठ या जतु (लाख/Lac) की बनी हुई नाडी (यन्त्र) को घृत लगाकर शिश्न में प्रविष्ट करें। शिशुमार (मगर) और सूअर की चर्बी तथा मज्जा से शिश्नमणि का परिषेक करें या वातहर द्रव्यों से सिद्ध चक्रतैल का एतदर्थ प्रयोग करें। प्रति तीन दिन के अन्तर से पहली की अपेक्षा

बड़ी (आकार की) नाडी को प्रविष्ट कर मूत्रबहिर्द्वार को बड़ा करना (चौड़ा करना) चाहिए। भोजन में स्निग्ध अन्न दें। यदि इस प्रकार सफलता न मिले तो सेवनी (Raphe) को बचाकर शिश्नाग्रचर्म (Prepuce) को काटकर अलग कर देते हैं ('सेवनीं मुक्त्वा भित्त्वा वा शस्त्रेण मूत्रस्रोतः सङ्कोचकारणं चर्मविदारयेत्'–ड.) और सद्योव्रण में वर्णित विधि के अनुसार चिकित्सा करें (Like a recent traumatic wound) ॥ ४२-४५ ॥

विमर्श— **निरुद्धप्रकश—**'चर्म संश्रयते मणिम्'–सु.नि. १३; 'मणेर्विकासरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः' (अ.सं.उ. ३३)।

सन्निरुद्धगुदं रोगं वल्मीकं वह्निरोहिणीम्। प्रत्याख्याय यथायोगं चिकित्सितमथाचरेत् ॥ ४६ ॥
विसर्पोक्तेन विधिना साधयेदग्निरोहिणीम्। सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकशक्रिया ॥ ४७ ॥

सन्निरुद्ध गुद की चिकित्सा—सन्निरुद्ध गुद (Anal stenosis) रोग, वल्मीक (Actinomycosis) और अग्निरोहिणी नामक विकार की चिकित्सा की सफलता में सन्देह प्रकट कर (प्रत्याख्येय) चिकित्सा करनी चाहिए। अग्निरोहिणी की चिकित्सा विसर्पोक्त विधि से करनी चाहिए और सन्निरुद्धगुद नामक विकार की निरुद्धप्रकश के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ४६-४७ ॥

शस्त्रेणोत्कृत्य वल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत्। विधानेनार्बुदोक्तेन शोधयित्वा च रोपयेत् ॥ ४८ ॥
वल्मीकं तु भवेद्यस्य नातिवृद्धममर्मजम्। तत्र संशोधनं कृत्वा शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥ ४९ ॥
कुलत्थिकाया मूलैश्च गुडूच्या लवणेन च। आरेवतस्य मूलैश्च दन्तीमूलैस्तथैव च ॥ ५० ॥
श्यामामूलैः सपललैः शक्तुमिश्रैः प्रलेपयेत्। सुस्निग्धैश्च सुखोष्णैश्च भिषक् तमुपनाहयेत् ॥ ५१ ॥
पक्वं वा तद्विजानीयाद् गतीः सर्वा यथाक्रमम्। अभिज्ञाय ततश्छित्त्वा प्रदहेन्मतिमान् भिषक् ॥
संशोध्य दुष्टमांसानि क्षारेण प्रतिसारयेत्। व्रणं विशुद्धं विज्ञाय रोपयेन्मतिमान् भिषक् ॥ ५३ ॥
सुमना ग्रन्थयश्चैव भल्लातकमनःशिले। कालानुसारी सूक्ष्मैला चन्दनागुरुणी तथा ॥ ५४ ॥
एतैः सिद्धं निम्बतैलं वल्मीके रोपणं हितम्। पाणिपादोपरिष्टात्तु छिद्रैर्बहुभिरावृतम् ॥ ५५ ॥
वल्मीकं यत् सशोफं स्याद्वर्ज्यं तत्तु विजानता।

वल्मीक की चिकित्सा—वल्मीक को शस्त्र से काटकर क्षार एवं अग्नि कर्म द्वारा ठीक करें तथा अर्बुदोक्त विधान के अनुसार शोधन कर रोपण उपक्रम करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति का वल्मीक बहुत बड़ा न हो और मर्मस्थल पर भी न हो तो वहाँ चिकित्सक को संशोधन कर रक्तमोक्षण करना चाहिए ॥ ४८-४९ ॥

भिषक् कुलथीमूल, गिलोय, लवण, अमलतास का मूल, दन्तीमूल, श्यामा (त्रिवृद्विशेषः) मूल, तिलपिष्टि (पललैः) तथा सत्तू को घृतादि से स्निग्ध कर और उष्ण कर लेप करें एवं उपनाहन (उपनाहः पाचनम्) करें। पकने पर पूयमार्गों की भली प्रकार जानकारी प्राप्त कर बुद्धिमान् चिकित्सक उनका छेदन कर दें और उस स्थान का दहन कर्म करे। तदनन्तर संशोधन कर दुष्ट मांस का क्षार से घर्षण करे। व्रण शुद्ध हुआ जानकर विज्ञ चिकित्सक रोपण-उपक्रम करे ॥ ५०-५३ ॥

वल्मीक में रोपण तैल—सुमना (चमेली), ग्रन्थि (पीपलामूल), भिलावा, मैनसिल, कालानुसारी (कृष्णसारिवा), छोटी इलायची, चन्दन, अगुरु—इनसे सिद्ध निम्बतैल वल्मीक में रोपण के लिए हितकर है। हाथ और पैरों के ऊपर, बहुत से छेदों से युक्त तथा शोफयुक्त वल्मीक (Madura foot) का कुशल चिकित्सक परित्याग करे ॥ ५४-५५ ॥

विमर्श— असाध्येष्वपि वल्मीकारोहिणीप्रभृतिषु चिकित्सितं कार्यम्—'यावद् उच्छ्वसिति प्राणी तावत् कार्या प्रतिक्रिया। कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति' ॥ (डल्हण द्वारा उद्धृत उद्धरण)

धात्र्याः स्तन्यं शोधयित्वा बाले साध्याऽहिपूतना ॥ ५६ ॥

पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम्। पीतं घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम् ॥ ५७ ॥

अहिपूतना-चिकित्सा—अहिपूतना नामक विकार (अस्वच्छ रहने से शिशुओं के गुदप्रदेश में पिड़काएँ हो जाती हैं) धात्री के स्तन्य (दूध) को शुद्ध करने के उपरान्त साध्य होता है। पटोलपत्र, त्रिफला, रसाञ्जन में पकाकर सिद्ध किया गया घृत पिलाने से कृच्छ्रसाध्य अहिपूतना रोग भी ठीक हो जाता है ॥ ५६-५७ ॥

विमर्श—अहिपूतना—'कण्डूयनात् ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्' ॥ (सु.नि. १३)

त्रिफलाकोलखदिरकषायं व्रणरोपणम्।

त्रिफला, बेर और खैर का क्वाथ व्रण रोपण करता है।

कासीसरोचनातुत्थहरितालरसाञ्जनैः ॥ ५८ ॥

लेपोऽम्लपिष्टो बदरीत्वग्वा सैन्धवसंयुता। कपालतुत्थजं चूर्णं चूर्णकाले प्रयोजयेत् ॥ ५९ ॥

कासीसादि लेप—कासीस, गोराचन, तुत्थ, हरताल तथा रसौत को काँजी में पीसकर (अम्लपिष्टः) लेप करना चाहिए। अथवा बेर की छाल को सेंधानमक मिलाकर काँजी में पीसकर लेप करें। कपाल (घड़े आदि का टुकड़ा) और तुत्थ (नीला थोथा) का चूर्ण स्थानिक प्रयोग में लायें ॥ ५८-५९ ॥

चिकित्सेन्मुष्ककच्छ्रूं चाप्यहिपूतनपामवत्।

मुष्ककच्छ्रू (Scrotal dermatitis) की चिकित्सा अहिपूतना की चिकित्सा की तरह करें और जो पटोलादि घृतपान, लेप, चूर्ण उसमें बताये गये हैं उनका भी प्रयोग करें।

गुदभ्रंशे गुदं स्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत् ॥ ६० ॥

कारयेद्गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा। विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः ॥ ६१ ॥

गुदभ्रंश-चिकित्सा—गुदभ्रंश (Prolapse of rectum) में गुद का स्वेदन कर तथा स्नेह लगाने के उपरान्त उसे अन्दर प्रविष्ट कर दें और बीच में छेदवाला चर्मनिर्मित गोफणाबन्ध लगा दें जिससे वायु (Flatus) आसानी से निकल सके। गुदस्थान का बार-बार स्वेदन करना चाहिए ॥ ६०-६१ ॥

क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चान्त्रवर्जिताम्। पक्त्वा तस्मिन् पचेत्तैलं वातघ्नौषधसंयुतम् ॥
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यङ्गात् प्रसाधयेत् ॥ ६२ ॥

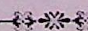
इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षुद्ररोगचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥



मूषकादि तैल—दूध, बृहत् पञ्चमूल, चुहिया जिसकी आँत निकाल दी गयी हो—इनका वातनाशक औषधियों के साथ तैलपाक करें। इस तैल के पीने और मलने से कृच्छ्रसाध्य गुदभ्रंश रोग दूर होता है ॥ ६२ ॥

विमर्श—'मूषिकां निर्जितान्त्रां कृत्वा महत्पञ्चमूलस्य प्रस्थं क्षीरप्रस्थे त्रिगुणितजले पचेत्, क्षीरप्रस्थे अवशिष्टे तैलकुडवं यथाबलं भद्रदार्वादिकल्कपाकं कृत्वा पानाभ्यङ्गाभ्यां गुदभ्रंशं साधयेत्' (ड.)।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'क्षुद्ररोगचिकित्सा' नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ २० ॥



अध्याय-सारांश

'क्षुद्ररोगचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—अजगल्लिका की चिकित्सा में जलौकापातन, लेप, पकने पर व्रणवत् उपचार (४); अन्धालजी, यवप्रख्या, पनसी आदि में स्वेदन, प्रलेप, पक्व का भेदन, व्रणवत् उपचार (६), इन्द्रवृद्धा, गर्दभी आदि में विसर्प (पित्तज) की तरह चिकित्सा (८), चिप्प में चक्रतैल, सर्जचूर्णपूरण, दहन, रोपणार्थ मधुरौषधसिद्ध तैल (१०)।

विदारिका में स्वेदन, विम्लापन, व्रण में शोधन-रोपण, अपक्वा में प्रच्छान, जलौका, पकने पर भेदन, शोधन, रोपण (१५)।

शर्करार्बुद की मेदोऽर्बुद की तरह, कच्छू की कुष्ठवत् चिकित्सा, पाददारी में स्वेदन-अभ्यंग, सिरावेध, मधूच्छिष्टादि पादलेप (१९), अलस में रक्तमोक्षण (२१), कदर में तप्त तैल से जलाना, इन्द्रलुप्त में माथे की सिरा का वेध, कल्कलेप, प्रच्छान, रसायन सेवन, मालती-करवीरादि सिद्ध तैल का अभ्यंग (२६), अरूंषिका में लेप, रक्तनिर्हरण, निम्बवारि से सेचन (२८), दारुणक में माथे की सिरा का वेध, अवपीड नस्य, शिरोबस्ति, मसूरिका में पित्तश्लेष्म विसर्पवत् चिकित्सा (३१), जतूमणि आदि में क्षार या अग्नि से दग्ध (३२), न्यच्छ, व्यङ्ग में सिरामोक्ष, बलादि प्रलेप, शूकरदंष्ट्रा लेप (३५), युवानपिडका में छर्दन, लेपन आदि, परिवर्तिका में स्नेहन, स्वेदन, उपनाहन आदि (३९), चर्म को आगे लाना, मणिपीडन (४१), निरुद्धप्रकश में द्विमुखी नाडी के प्रवेश द्वारा मार्ग को चौड़ा करना या भेदन कर शिश्नाग्रत्वचा को काट देना, व्रणवत् उपचार (४८), वल्मीक में शोधन, शोणितमोक्षण, लेपन, निम्बतैल प्रयोग (५५), अहिपूतना की चिकित्सा, धात्रीस्तन्यशोधन, घृतपान, लेप, शोधन, गुदभ्रंश में मध्य छिद्रवाले चर्मनिर्मित गोफणाबन्ध का प्रयोग, बार-बार स्वेदन, मूषिकादि तैल का पानाभ्यंग (६२)।



एकविंशोऽध्यायः

अथातः शूकदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'शूकदोषचिकित्सितम्' (The Management of *Śūka Doṣa*) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

विमर्श— 'शूकः सजन्तुजलमलः, लिङ्गवृद्धिकरो योगो वा, दोषोऽत्र दुष्टिः' (ड.)। 'शूकोऽत्र जलशूकः स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भवः सशूकः, तथा शूकप्रधानो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक उच्यते' (श्रीकण्ठः)। वाग्भट ने शूकरोगों को गुह्यरोगों में गिनाया है। आजकल भी लिंगवृद्धिकर (लिङ्गवृद्धिः = लिङ्गस्थूलीकरणम्, आयामपरिणाहाभ्याम्') योगों की माँग है। शेर की हड्डियाँ, गैंडे का सींग, वीरबहूटियों की एतदर्थ तलाश करने वाले पुरुष हर देश में पाये जाते हैं।

संलिख्य सर्षपीं सम्यक् कषायैरवचूर्णयेत्। कषायेष्वेव तैलं च कुर्वीत व्रणरोपणम्॥ ३॥

शूकरोग की **सर्षपिका** नामक पिडका (नि. १४) की चिकित्सा में उसे शस्त्र से भली प्रकार खुरचकर (सू. ३७ में वर्णित) कषाय द्रव्यों का अवचूर्णन करें और कषाय द्रव्यों (क्वाथ-कल्क) से सिद्ध तैल का रोपणार्थ प्रयोग करें॥ ३॥

विमर्श— सर्षपिका का लक्षण—'गौरसर्षपतुल्या तु शूकदुर्भग्नहेतुका। पिडका कफरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका बुधैः'॥ (नि. १४।४)।

अष्ठीलिकां जलौकोभिर्ग्राहयेच्च पुनः पुनः। तथा चानुपशाम्यन्तीं कफग्रन्थिवदुद्धरेत्॥ ४॥

अष्ठीलिका में कुशल भिषक् जलौकाओं का बार-बार प्रयोग करें। सफलता न मिलने पर कफज ग्रन्थि की तरह (शस्त्रप्रयोग कर निकालने की) चिकित्सा करे॥ ४॥

विमर्श— अष्ठीलिका—'कठिना विषमैरन्तैर्मारुतस्य प्रकोपतः। शूकैस्तु विषसंयुक्तैः पिडकाऽष्ठीलिका भवेत्'॥ (नि. १३)

स्वेदयेद् ग्रथितं शश्वन्नाडीस्वेदेन बुद्धिमान्। सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैरुपनाहयेत्॥ ५॥

ग्रथित नामक शूकविकार (नि. १३) में बुद्धिमान् चिकित्सक निरन्तर नाडीस्वेद करें और स्नेहयुक्त तथा कोष्ण उपनाहों का प्रयोग भी करें॥ ५॥

कुम्भीकां पाकमापन्नां भिन्द्याच्छुद्धां तु रोपयेत्। तैलेन त्रिफलालोध्रतिन्दुकाम्रातकेन तु॥ ६॥

कुम्भीका में पक जाने पर भेदन करना चाहिए और शोधन के उपरान्त त्रिफला, लोध्र, तिन्दुक (तेंद) तथा आम्रातक (अम्बाडा) से सिद्ध तैल का व्रणरोपण में प्रयोग करें॥ ६॥

विमर्श— 'कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा' (नि. १३)।

ग्राहयित्वा जलौकोभिरलजीं सेचयेत् ततः। कषायैस्तेषु सिद्धं च तैलं रोपणमिष्यते॥ ७॥

अलजी की चिकित्सा में जलौकापातन द्वारा रक्तनिर्हरण करें और प्लक्षादि कषाय वृक्षों के क्वाथ से परिषेक तथा इनके क्वाथ से सिद्ध तैल का रोपणार्थ प्रयोग करें॥ ७॥

विमर्श— 'अलजीलक्षणैर्युक्तामलजीं च वितर्कयेत्' (नि. १३)।

बलातैलेन कोष्णेन मृदितं परिषेचयेत्। मधुरैः सर्पिषा स्निग्धैः सुखोष्णैरुपनाहयेत्॥ ८॥

मृदित में कोष्ण बलातैल से सिंचन (Irrigation) करें और उपनाहन के लिए कोष्ण घृतस्निग्ध काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए (अथवा सुस्निग्ध एवं सुखोष्ण काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत का उपनाहनार्थ प्रयोग करें)॥ ८॥

विमर्श— 'मृदितं पीडितं यत्तु संरब्धं वायुकोपतः' (नि. १३)।

संमूढपिडकां क्षिप्रं जलौकोभिरुपाचरेत्। भित्त्वा पर्यागतां चापि लेपयेत् क्षौद्रसर्पिषा॥ ९॥

सम्मूढपिडका में शीघ्र जलौकापातन द्वारा उपचार करना चाहिए। पक गयी (पर्यगता = पक्वा/ Suppurated) हो तो भेदन कर मधु-घृत का लेप करें॥ ९॥

विमर्श— 'पाणिभ्यां भृशसम्मूढे सम्मूढपिडका भवेत्' (नि. १३)।

अवमन्थे गते पाकं भिन्ने तैलं विधीयते। धवाश्वकर्णपत्तङ्गसल्लकीतिन्दुकीकृतम्॥ १०॥

अवमन्थ नामक विकार पक गया हो तो उसका भेदन कर धव, अश्वकर्ण (पूर्वदेशे 'गन्धमुण्डा' इति ख्यातः अश्वत्थसदृशः), पतङ्ग (रक्तचन्दन), सल्लकी और तिन्दुक से सिद्ध तैल का प्रयोग करें॥ १०॥

विमर्श— 'दीर्घा बह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतश्च याः। सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत्'॥ (नि. १३)

क्रियां पुष्करिकायां तु शीतां सर्वां प्रयोजयेत्। जलौकोभिर्हरेच्चासृक् सर्पिषा चावसेचयेत्॥

पुष्करिका में सभी चिकित्सा-क्रियाएँ शीतल ही करनी चाहिए। जलौकाओं द्वारा रक्तनिर्हरण करें और परिषेक के लिए घृत हितकर है॥ ११॥

विमर्श— 'पित्तशोणितसम्भूता पिडका पिडकाचिता। पद्मपुष्करसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा'॥ (नि. १३)

स्पर्शहान्यां हरेद्रक्तं प्रदिह्यान्मधुरैरपि। क्षीरेक्षुरससर्पिर्भिः सेचयेच्च सुशीतलैः॥ १२॥

स्पर्शहानि में रक्तनिर्हरण, काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का प्रलेप और दूध-गन्ने का रस तथा घृत का शीतल परिषेक करना चाहिए॥ १२॥

विमर्श— 'जनयेत् स्पर्शहानिं तु शोणितं शूकदूषितम्' (नि. १३)।

पिडकामुत्तमाख्यां च बडिशेनोद्धरेद्भिषक्। उद्धृत्य मधुसंयुक्तैः कषायैरवचूर्णयेत्॥ १३॥

उत्तमा नामक पिडका को शल्यहर्ता बडिश (Hook) से निकाल ले और शोधनार्थ कषाय द्रव्यों के चूर्ण से मधु मिलाकर व्रण को अवचूर्णित (ढक) कर दे (तथा रोपण के लिए रोपण द्रव्यों के चूर्ण को मधु मिलाकर लगावे)॥ १३॥

विमर्श— 'मुद्गमाषोपमा रक्ता पिडका रक्तपित्तजा। उत्तमैषा तु विज्ञेया शूकाजीर्णनिमित्तजा'॥ (नि. १३)

रसक्रिया विधातव्या लिखिते शतपोनके। पृथक्पर्ण्यादिसिद्धं च देयं तैलमनन्तरम्॥ १४॥

शतपोनक नामक शूकज विकार में लेखन कर्म करें। शोधनार्थ शोधन द्रव्यों और रोपणार्थ रोपण द्रव्यों से बनी रसक्रिया (फाणिताकृतिः) का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर पृथक्पर्ण्यादि से सिद्ध तैल को उपयोग में लाना चाहिए॥ १४॥

विमर्श— 'छिद्रैरणुमुखैर्यत्तु चितं मेढ्रं समन्ततः। वातशोणितजो व्याधिर्विज्ञेयः शतपोनकः'॥ (नि. १३)

क्रियां कुर्याद्भिषक् प्राज्ञस्त्वक्पाकस्य विसर्पवत्।

त्वक्पाक में विद्वान् चिकित्सक को विसर्प सदृश चिकित्सा करनी चाहिए।

विमर्श— 'पित्तरक्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान्' (नि. १३)।

रक्तविद्रधिवच्चापि क्रिया शोणितजेऽर्बुदे॥ १५॥

कषायकल्कसर्पींषि तैलं चूर्णं रसक्रियाम्। शोधनं रोपणं चैव वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत्॥ १६॥

हितं च सर्पिषः पानं पथ्यं चापि विरेचनम्। हितः शोणितमोक्षश्च यच्चापि लघु भोजनम्॥ १७॥

शोणितार्बुद में रक्तज विद्रधि की तरह चिकित्सा करनी चाहिए। कषाय, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, शोधन और रोपण का प्रयोग द्विव्रणीय नामक अध्याय में वर्णित के अनुसार भलीभाँति विचार कर करना चाहिए। इसी प्रकार घृत का विधिपूर्वक पान, पथ्यसेवन, विरेचन, रक्तमोक्षण और लघु आहार हितकर हैं॥ १५-१७॥

अर्बुदं मांसपाकं च विद्रधिं तिलकालकम्। प्रत्याख्याय प्रकुर्वीत भिषक् सम्यक् प्रतिक्रियाम्॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शूकदोषचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः॥ २१॥



भिषक् को अर्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक की प्रत्याख्येय कर चिकित्सा करनी चाहिए॥ १८॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'शूकदोषचिकित्सा' नामक एकीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २१॥



अध्याय-सारांश

'शूकदोषचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—सर्षपिका में लेखन, शोधनार्थ अवचूर्णन और रोपणार्थ तैल (३), अष्ठीला में जलौकापातन या कफग्रन्थिवदुपचार (४), ग्रथित में नाडीस्वेद, उपनाहन; कुम्भिका में पकने पर भेदन, शोधन, रोपण, अलजी में—जलौकापातन, रोपणार्थ कषाय द्रव्यसिद्ध तैल का प्रयोग (७), मृदित में कोष्ण बलातेल परिषेक, काकोल्यादि से उपनाहन (८), सम्मूढपिडका में जलौका-प्रयोग, पक्व का भेदन कर क्षौद्रसर्पिः प्रलेप (९), अवमन्थ के पकने पर भेदन, धवादि सिद्धि तैल का प्रयोग (१०), पुष्करिका में सभी क्रियाएँ शीतल, जलौका-प्रयोग, घृतसिंचन (११), स्पर्शहानि में रक्तविस्रावण, क्षीर-इक्षुरस से शीतल परिषेक (१२), उत्तमाख्या पिडका में बडिश से निकालकर मधुयुक्त कषाय-अवचूर्णन (१३), शतपोनक का लेखन कर रसक्रिया, पृथक्पर्ण्यादि से सिद्ध तैल-प्रयोग (१४); त्वक्पाक में विसर्प की तरह उपचार। शोणितज अर्बुद में रक्तविद्रधि के समान चिकित्सा करें (१५), कषाय-कल्कादि का द्विव्रणीयोक्त विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। अर्बुद-मांसपाकादि की चिकित्सा प्रत्याख्येय कर करनी चाहिए (१८)।

द्वाविंशोऽध्यायः

अथातो मुखरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'मुखरोगचिकित्सितम्' (The Management of the Oral Cavity Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च। वातजेऽभ्यञ्जनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान् ॥ ३ ॥
विदध्यादोष्ठकोपे तु शाल्वणं चोपनाहने। मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम् ॥ ४ ॥

वातिक ओष्ठरोगों की चिकित्सा—बुद्धिमान् चिकित्सक वातिक ओष्ठरोगों में मधूच्छिष्ट (मोम/Bee-wax) युक्त चार प्रकार के स्नेहों (घृत, तैल, वसा और मज्जा) से अभ्यंग द्वारा स्नेहन (Anoint) कर नाडीयन्त्र से स्वेदन करे। मतिमान् चिकित्सक वातिक ओष्ठप्रकोप में शाल्वण उपनाहन करे और मस्तिष्क ('मस्तिष्कः शिरोबस्तिप्रकारः, 'बद्धचते ऊर्ध्वं शिरोबस्तिः, अनबद्धो मस्तिष्कः'-ड.) तथा नस्य के लिए वातहर द्रव्यों से सिद्ध तैल हितकर है ॥ ३-४ ॥

विमर्श—शाल्वण स्वेद में शा(सा)ल्वण शब्द का डल्हणानुसार अर्थ—'उल्वणेन सह वर्तत इति सा(श)ल्वणः'। सा(शा)ल्वण स्वेद का लक्षण सुश्रुत ने चि. ४।१५ में दिया है।

श्रीवेष्टकं सर्जरसं सुरदारु सगुग्गुलु। यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात् प्रतिसारणम् ॥ ५ ॥

प्रतिसारण (घर्षणम्/Rubbing) के लिए श्रीवेष्टक (सरलनिर्यासः, बिरोजा), राल, देवदारु, गुग्गुलु और मुलेठी का बारीक चूर्ण प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ५ ॥

पित्तरक्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत्। पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः ॥ ६ ॥

जलौकापातन—पित्त, रक्त और अभिघात से उत्पन्न ओष्ठरोगों में जलौकाओं का प्रयोग करना चाहिए और पित्तविद्रधि की सम्पूर्ण चिकित्सा का प्रयोग भी करें ॥ ६ ॥

शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च। हृते रक्ते प्रयोक्तव्यमोष्ठकोपे कफात्मके ॥ ७ ॥
त्र्यूषणं स्वर्जिकाक्षारो यवक्षारो विडं तथा। क्षौद्रयुक्तं विधातव्यमेतच्च प्रतिसारणम् ॥ ८ ॥

रक्तविस्रावण और प्रतिसारण—कफज ओष्ठरोगों में शिरोविरेचन (Errhines) धूम (Fumigation), स्वेद (Fomentation) और कवल (Gargling) का शोणित-विस्रावण (Blood-letting) के पश्चात् प्रयोग करना चाहिए ॥ ७ ॥

त्र्यूषणादि प्रतिसारण—त्र्यूषण (सोंठ-मरिच-पीपल), सज्जीखार, जवाखार, विडनमक—इनमें मधु मिलाकर श्लेष्मज आष्ठरोगों में प्रतिसारण (घर्षण/Rubbing) करना चाहिए ॥ ८ ॥

मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः। प्रियङ्गुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रं प्रतिसारणम् ॥ ९ ॥
एतदोष्ठप्रकोपानां साध्यानां कर्म कीर्तितम्।

मेदोज ओष्ठरोगों में अग्निकर्म—मेदोज ओष्ठरोगों में स्वेदन के पश्चात् शस्त्र द्वारा भेदन कर मेद को निकाल दें ('भित्त्वा मेदसोऽपकर्षणम्') और शोधन के उपरान्त अग्निकर्म करना हितकर है। प्रतिसारण के लिए प्रियंगु, त्रिफला, लोध्र में मधु मिलाकर प्रयुक्त करें। अब तक वर्णित चिकित्सा साध्य ओष्ठरोगों के लिए है ॥ ९ ॥

दन्तमूलगतानां तु रोगाणां कर्म वक्ष्यते॥ १०॥

शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान्। निःक्वाथ्य त्रिफलां मुस्तं गण्डूषः सरसाञ्जनः॥ ११॥

प्रियङ्ग्वश्च मुस्तं च त्रिफला च प्रलेपनम्। नस्यं च त्रिफलासिद्धं मधुकोत्पलपद्मकैः॥ १२॥

इसके उपरान्त दन्तमूल (Gums) में होने वाले रोगों का वर्णन किया जायेगा॥ १०॥

शीताद में रक्तविस्रावण और गण्डूष—शीताद (Spongy gums) नामक व्याधि में रक्तविस्रावण के उपरान्त शुण्ठी, सरसों, त्रिफला, नागरमोथा और रसौत इनके क्वाथ से गण्डूष (Gargles) करें और प्रियंगु, नागरमोथा तथा त्रिफला इनके कल्क का लेप करें। त्रिफला, मुलेठी, उत्पल और पद्मकाष्ठ का (चूर्ण कर या घृत या तैल सिद्ध कर) नस्य (Snuf) दें॥ ११-१२॥

दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम्। सपञ्चलवणः क्षारः सक्षौद्रः प्रतिसारणम्॥ १३॥

हितः शिरोविरेकश्च नस्यं स्निग्धं च भोजनम्।

दन्तपुप्पुट-चिकित्सा—दन्तपुप्पुट (Periodontitis) नामक रोग यदि नया हो तो रक्तमोक्षण करें और प्रतिसारण के लिए पाँचों नमक, क्षार और मधु मिलाकर प्रयुक्त करें। इसी प्रकार शिरोविरेचन, नस्य तथा स्निग्ध भोजन हितकर है॥ १३॥

विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणांस्तु प्रतिसारयेत्॥ १४॥

रोध्रपत्तङ्गयष्ट्याह्वलाक्षाचूर्णैर्मधूत्तरैः। गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः॥ १५॥

काकोल्यादौ दशक्षीरसिद्धं सर्पिश्च नस्यतः।

दन्तवेष्ट-चिकित्सा—दन्तवेष्ट (Pyorrhoea) में रक्त निकालने के बाद व्रण का लोध्र, पतंग, मुलेठी, लाख—इनके चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए और मधु, घृत तथा शर्करायुक्त क्षीर वृक्षों के कषाय से गण्डूष करें। नस्य के लिए काकोल्यादि गण की औषधियाँ तथा दस गुने दूध से सिद्ध घृत उत्तम है॥ १४-१५॥

शौषिरे हृतरक्ते तु रोध्रमुस्तरसाञ्जनैः॥ १६॥

सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः। सारिवोत्पलयष्ट्याह्वसावरागुरुचन्दनैः॥ १७॥

क्षीरे दशगुणे सिद्धं सर्पिर्नस्ये च पूजितम्।

शौषिर-चिकित्सा—शौषिर (Apical abscess, root abscess) में रक्तविस्रावण के उपरान्त लोध्र, नागरमोथा और रसौत को मधु में मिलाकर लेप करें। क्षीरवृक्षों का कषाय गण्डूष के लिए हितकर है। सारिवा, कमल, मुलेठी, सावर (लोध्रभेदः), अगर और चन्दन तथा दश गुना दूध में सिद्ध घृत नस्य के लिए श्रेष्ठ है॥ १६-१७॥

क्रियां परिदरे कुर्याच्छीतादोक्तां विचक्षणः॥ १८॥

परिदर-चिकित्सा—परिदर (Bleeding gums) की चिकित्सा विद्वान् चिकित्सक को शीताद की तरह करनी चाहिए॥ १८॥

संशोध्योभयतः कार्यं शिरश्चोपकुशे तथा। काकोदुम्बरिकागोजीपत्रैर्विस्रावयेदसृक्॥ १९॥

क्षौद्रयुक्तैश्च लवणैः सव्योषैः प्रतिसारयेत्। पिप्पलीः सर्षपाञ् श्वेतान्नागरं नैचुलं फलम्॥ २०॥

सुखोदकेन संसृज्य कवलं चापि धारयेत्। घृतं मधुरकैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः॥ २१॥

उपकुश-चिकित्सा—उपकुश (Suppurative gingivitis) में वमन-विरेचन द्वारा ऊर्ध्वाधः शोधन तथा शिरोविरेचन करने के पश्चात् काकोदुम्बरिका (अंजीर), गोजिह्वा, इनके पत्रों से रगड़ कर रक्त-निर्हरण करें और मधु, लवण तथा त्रिकटु (सोंठ-मरिच-पीपल) को मधु में मिलाकर प्रतिसारण (घर्षण) करना चाहिए। इसी प्रकार पिप्पली, श्वेत सरसों, सोंठ, नेचुल (वेतसः) फल—इनके चूर्ण (या क्वाथ) को कोष्ण जल में मिलाकर गडूष धारण कराना चाहिए। कवल और नस्य के लिए काकोल्यादि से सिद्ध घृत हितकर है॥ १९-२१॥

विमर्श—चक्रदत्त के अनुसार गण्डूषधारण और कवलधारण में अन्तर—'मुखं सञ्चार्यते या तु सा मात्रा कवले हिता। असञ्चार्या तु या मात्रा गण्डूषे सा प्रकीर्तिता'॥

शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत्। ततः क्षारं प्रयुञ्जीत क्रियाः सर्वाश्च शीतलाः॥ २२॥

दन्तवैदर्भ-चिकित्सा—दन्तवैदर्भ (Traumatic periodontitis) नामक विकार में शस्त्र द्वारा दन्तमूलों (Roots of the teeth) को खुरच कर (शोधयेत्) क्षार का प्रयोग करें और इसमें सभी क्रियाएँ शीतल करनी चाहिए॥ २२॥

उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत्। कृमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता॥ २३॥

अधिदन्त-चिकित्सा—अधिदन्त (Super numerary teeth) में जो अतिरिक्त दन्त (Extra tooth) है उसे निकाल कर उस स्थान का अग्नि द्वारा दहन (Fire cautery) कर देना चाहिए। विज्ञाता शल्यहर्ता को कृमिदन्त की जो चिकित्सा है वह यहाँ भी करनी चाहिए॥ २३॥

छित्त्वाऽधिमांसं सक्षौद्रैरेभिश्चूर्णैरुपाचरेत्। वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायावशूकजैः॥ २४॥
क्षौद्रद्वितीयाः पिप्पल्यः कवलश्चात्र कीर्तितः।
पटोलत्रिफलानिम्बकषायश्चात्र धावने। हितः शिरोविरेकश्च धूमो वैरेचनश्च यः॥ २५॥

अधिमांस-चिकित्सा—अधिमांस (Impacted tooth) को काटकर उस स्थान पर वचा, तेजोवती (कासमर्दनिका, ज्योतिष्मती), पाठा, सज्जीखार, जवाखार (यावशूकज)—इनके चूर्ण को मधु मिलाकर लगावें। पिप्पली चूर्ण और मधु का कवलधारण कराना चाहिए। प्रक्षालन के लिए पटोल, त्रिफला, निम्ब इनका कषाय प्रयुक्त करें। शिरोविरेचन और वैरेचन धूम का प्रयोग हितकर है॥ २४-२५॥

विमर्श—धूम्रपान पाँच प्रकार का है—१. प्रायोगिक धूम (नित्य पीने योग्य), २. स्नैहिक धूम (शिरःस्निग्धताजनक), ३. वैरेचन धूम (दोषविरेचक धूम), ४. कासहर धूम (खाँसी को दूर करने वाला धूम) और ५. वामन धूम (दोषवामक)।

सामान्यं कर्म नाडीनां विशेषं चात्र मे शृणु। नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत्॥ २६॥
यं दन्तमधिजायेत नाडी तं दन्तमुद्धरेत्। छित्त्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत्॥ २७॥
शोधयित्वा दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा। भिनत्त्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थि गतिर्ध्रुवम्॥ २८॥
समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद्भग्नमस्थिरम्।

दन्तनाडी-चिकित्सा—नाडियों (Sinuses) के सामान्य कर्मों का वर्णन निदान १० में किया जा चुका है। वह दन्तनाडी (Dental sinus) के लिए भी है। पर इस सम्बन्ध में विशेष कर्म मुझसे सुनो—

नाडीव्रण की चिकित्सा में व्रण को ठीक करने के जो उपाय बताये हैं उनका उपयोग दन्तनाडी में भी करें। जिस दाँत में नाडी (Sinus) बनी हो यदि वह दाँत ऊपर की दन्तपंक्ति का न हो (Not in the upper jaw) तो दन्तमांस को शस्त्र से काट कर उस दाँत को निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् उस स्थान का शोधन कर क्षार या अग्नि से जला देना चाहिए (अग्निकर्म या क्षारकर्म करना चाहिए)। दन्तनाडी (गतिः) की उपेक्षा करने पर यह हन्वस्थि (Jaw bone) को नष्ट कर देती है। अतः दाँत को समूल (With its root) निकाल देना चाहिए और यदि दाँत खण्डित हो गया हो या हिल रहा हो तो (अथवा अस्थि में विकार आ गया हो तो उसके गले हुए भाग को भी) निकाल देना चाहिए॥ २७-२८॥

उद्धृते तूत्तरे दन्ते समूले स्थिरबन्धने॥ २९॥
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि। काणः सञ्जायते जन्तुरर्दितं चास्य जायते॥ ३०॥
चलमप्युत्तरं दन्तमतो नापहरेद्भिषक्।

ऊपर का दाँत निकालने में सावधानी—यदि स्थिर बन्धन वाले (Firmly fixed) ऊर्ध्व हनु के दाँत को जड़ (मूल/Root) के साथ निकाल दिया जाय तो रक्तस्राव के अतियोग (Severe haemorrhage)

के परिणामस्वरूप भयंकर (Serious) व्याधियाँ हो जाती हैं जैसा कि पूर्व (सू. १४।३१) में वर्णित किया गया है। इससे रोगी काना और अर्दित (Facial paralysis) से पीड़ित हो जाता है। अतः चिकित्सक को ऊर्ध्व हनु के हिलते हुए दाँत को भी नहीं निकालना चाहिए॥ २९-३०॥

धावने जातिमदनस्वादुकण्टकखादिरम्॥ ३१॥

कषायं जातिमदनकटुकस्वादुकण्टकैः। यष्ट्याह्वरोध्रमञ्जिष्ठाखदिरैश्चापि यत् कृतम्॥ ३२॥
तैलं संशोधनं तद्धि हन्याद्दन्तगतां गतिम्।

प्रक्षालनार्थ क्वाथ—प्रक्षालन (धावन/For washing) के लिए जाती (चमेली), मैनफल और स्वादुकण्टक (गोखरू) तथा खदिर का क्वाथ उपयुक्त है। इसी प्रकार जाती, मदनफल, कुटकी, गोखरू, मधुयष्टि, लोध्र, मंजीठ और खैर—इनसे सिद्ध तैल संशोधन करता है और दन्तनाडी नामक रोग को नष्ट करता है॥ ३१-३२॥

कीर्तिता दन्तमूले तु क्रिया दन्तेषु वक्ष्यते॥ ३३॥

दन्तमूल (Gums) के रोगों की चिकित्सा का वर्णन यहीं तक है। आगे दन्तरोगों की चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा॥ ३३॥

स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रैवृतस्य वा। निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः॥ ३४॥

दन्तहर्ष की चिकित्सा—दन्तहर्ष (Dental hyperaesthesia) की चिकित्सा में चिकित्सक स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) या वातव्याध्युक्त त्रैवृत घृत को कोष्ण कर कवल धारण कराये। इसी प्रकार वातहर क्वाथों से कोष्ण कवल धारण करना दन्तहर्षनाशक है॥ ३४॥

स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्निग्धं च भोजनम्। रसो रसयवाग्वश्च क्षीरं सन्तानिका घृतम्॥ ३५॥
शिरोबस्तिर्हितश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः।

दन्तहर्ष में अन्य उपाय—स्नैहिक धूम (शिरःस्निग्धताजनक), नस्य, स्निग्ध भोजन, मांसरस, मांस-रस-यवागू, दूध, सन्तानिका ('सरः इति भाषा, क्षीरोत्था एव'/ मलाई) और घृत, शिरोबस्ति तथा वातहर चिकित्साक्रम हितकर होते हैं॥ ३५॥

अहिंसन् दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद्भिषक्॥ ३६॥

लाक्षाचूर्णैर्मधुयुतैस्ततस्ताः प्रतिसारयेत्। दन्तहर्षक्रियां चापि कुर्यान्निरवशेषतः॥ ३७॥

दन्तशर्करा-चिकित्सा—दन्तशर्करा (Tartar) की चिकित्सा में भिषक् (दन्तवैद्य) दन्तमांस की रक्षा करता हुआ दन्तमूल से शर्करा को (खुरच कर) निकाल दे और मधुयुक्त लाक्षाचूर्ण से वहाँ पर घर्षण करे तथा दन्तहर्षरोग में वर्णित सम्पूर्ण चिकित्सा भी करनी चाहिए॥ ३६-३७॥

कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया हिता।

कपालिका-चिकित्सा—कपालिका (Non-vital tooth) चिकित्सा की दृष्टि से कृच्छ्रतम है। उसकी भी यही चिकित्सा है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्॥ ३८॥

तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणैः। भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः॥ ३९॥

कृमिदन्त-चिकित्सा—कृमिदन्त (Dental caries) यदि हिलता न हो तो स्वेदन (Fomentation) कर रक्तविस्रावण करें और वातहर अवपीड नस्य (Snuff), स्नेह गण्डूषधारण (Oleous gargles), भद्रदार्वादि एवं वर्षाभू (पुनर्नवा) का लेप तथा स्निग्ध भोजन करना चाहिए॥ ३८-३९॥

विमर्श—अवपीड नस्य—नस्य पाँच प्रकार का है—'नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च। प्रतिमर्षश्च विज्ञेयं नस्तः कर्म तु पञ्चधा' (चरकसंहिता-सिद्धिस्थान)। अवपीड नस्य में औषध कल्क को नासा में निचोड़ा जाता है ('अवपीड्य दीयते यस्मात् अवपीडस्ततस्तु सः')।

चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेच्छुषिरस्य च। ततो विदारीयष्ट्याह्वशृङ्गाटककसेरुकैः ॥ ४० ॥
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत्।

चलदन्त-चिकित्सा—यदि कृमिदन्त चल हो तो उसे निकाल देना चाहिए और सुषिर स्थल (Hollow cavity) का दहन करना चाहिए। तदनन्तर विदारीकन्द, मुलेठी, सिंघाड़ा, कसेरु और इनसे दस गुना दूध में सिद्ध तैल का नस्य कृमिदन्त में हितकर है॥ ४० ॥

विमर्श—'उद्धृतस्य दशनस्य स्थानं दहेत् शुद्धचर्थं शोणितस्रावनिषेधार्थं, सुषिरस्य वायुकृतच्छिद्रस्य वा स्थानं दहेदित्यर्थः' (ड.)।

हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्याच्चार्दितवत् क्रियाम् ॥ ४१ ॥

हनुमोक्ष-चिकित्सा—हनुमोक्ष (Dislocation of jaw) में अर्दित (Facial paralysis) की जो चिकित्सा (वातव्याधि प्रकरण में) वर्णित की है उसका प्रयोग करें॥ ४१ ॥

विमर्श—'अर्दितोक्तामातिदेशिकीं वातव्याधिविधिनोपचरेदित्येवं रूपां वैशेषिकीं वातार्दितोक्तां मस्तकशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहादिकां द्विविधामपि क्रियां कुर्यादिति' (ड.)।

फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम्। तथाऽतिकठिनान् भक्ष्यान् दन्तरोगी विवर्जयेत् ॥
साध्यानां दन्तरोगाणां चिकित्सितमुदीरितम्।

दन्तरोगों में त्याज्य—दन्तरोगी को चाहिए कि वह अम्लफल (Sour fruits), शीतल जल, रूखा अन्न (Dry food), दन्तधावन (दातुन करना) और कठोर भक्ष्य पदार्थों का परित्याग करे। जो दन्तरोग साध्य हैं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है॥ ४२ ॥

विमर्श—साध्यानाम्—अर्थात् यहाँ साध्य दन्तरोगों की चिकित्सा का ही वर्णन किया गया है; श्यावदन्त दालन, भंजनादि असाध्य दन्तरोगों का नहीं (डल्हण)।

जिह्वागतानां साध्यानां कर्म वक्ष्यामि सिद्धये ॥ ४३ ॥
ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकित्सितम्। कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत् कार्यं भिषजा भवेत् ॥
पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्टशोणिते। प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम् ॥ ४५ ॥
कण्टकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृजः क्षये। पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे ॥ ४६ ॥
गृह्णीयात् कवलांश्चापि गौरसर्षपसैन्धवैः। पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत् ॥ ४७ ॥

जिह्वा के रोगों की चिकित्सा—अब जिह्वा के साध्य रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा। वातज ओष्ठप्रकोप में जो चिकित्सा वर्णित की है उसका उपयोग चिकित्सक को **वातिक कण्टक** नामक जिह्वारोग में भी करना चाहिए। **पैत्तिक कण्टक** नामक जिह्वारोग में कण्टकों को रगड़कर दूषित रुधिर को निकाल देना चाहिए। तत्पश्चात् (काकोल्यादि मधुर द्रव्यों के चूर्ण से) प्रतिसारण (Rubbing), गण्डूष (Gargles) और नस्य देना हितकर है। **श्लैष्मिक कण्टक** नामक जिह्वारोग में मण्डलादि (शस्त्र) से लेखन (Scraping) कर दूषित रुधिर को निकाल दें। तदनन्तर पिप्पल्यादि गण की औषधियों के चूर्ण में मधु मिलाकर प्रतिसारण (घर्षण) करना चाहिए और सफेद सरसों तथा सेंधानमक के कवल धारण करायें। पटोल, निम्ब, बैंगन (वार्ताकु/*Solanum melongena*) और यवक्षार युक्त यूष (Gruel) भोजनार्थ देना चाहिए॥ ४३-४७ ॥

उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्। शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् ॥ ४८ ॥
जिह्वागतानां कर्मोक्तं तालव्यानां प्रवक्ष्यते।

उपजिह्वा की चिकित्सा—उपजिह्वा नामक विकार में लेखन कर्म कर क्षार से प्रतिसारण करना चाहिए। शिरोविरेचन (Errhines), गण्डूष ('कफव्रणहरद्रव्येण कफकण्टकहरद्रव्येण वा') और धूमों (वैरेचनिकधूमैः/

Fumigation) से भी उपचार करना चाहिए। यह जिह्वागत रोगों का वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् तालव्य (तालु/Palate) के रोगों का वर्णन किया जायेगा॥ ४८॥

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसन्दंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम्॥ ४९॥

छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम्। नोत्कृष्टं चैव हीनं च त्रिभागं छेदयेद्भिषक्॥ ५०॥

गलशुण्डिका की चिकित्सा—गलशुण्डिका को अंगुष्ठ और अंगुली के मध्य पकड़कर या सन्दंश की सहायता से जीभ के ऊपर खींच लायें और मण्डलाग्र नामक शस्त्र (Hooked knief) से काट देना चाहिए ('भागद्वयमर्धं वा परित्यज्य भागेनैकेन छेदयेत्'–ड.)। चिकित्सक इस प्रकार गलशुण्डिका का न अधिक न कम, तीसरा हिस्सा काटे (त्रिभागं छेदयेत्)॥ ४९-५०॥

अत्यादानात् स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च। हीनच्छेदाद्भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्तमः॥ ५१॥

तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः। गलशुण्डीं तु सञ्छिद्य कुर्यात् प्राप्तमिमं क्रमम्॥ ५२॥

छेदन कर्म में सावधानी—गलशुण्डिका को अधिक काटने से अतिरक्तस्राव होकर मृत्यु हो जाती है और हीन छेदन से सूजन (Inflammation), लालास्राव की अधिकता (Excessive salivation), अधिक नींद, भ्रम (चक्रारूढस्येव भ्रमणम्), तम (अन्धकारदर्शनम्) होते हैं। अतः शल्यहर्ता जिसने इस प्रकार के शल्यकर्म देखे हैं (दृष्टकर्मा) तथा जो इस तरह के शल्यकर्मों में कुशल है (विशारदः) प्रयत्नपूर्वक गलशुण्डी का छेदन कर निम्नलिखित उपक्रम करें॥ ५१-५२॥

मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटन्नटैः। क्षौद्रयुक्तैः सलवणैस्ततस्तां प्रतिसारयेत्॥ ५३॥

प्रतिसारण द्रव्य—मरिच, अतीस, पाठा, वचा, कूठ, कुटन्नट (श्योनाक)—इनके चूर्ण को मधु और सेंधानमक मिलाकर व्रणस्थल पर मले (प्रतिसारण करे)॥ ५३॥

वचामतिविषां पाठां रास्नां कटुकरोहिणीम्। निःक्वाथ्य पिचुमन्दं च कवलं तत्र योजयेत्॥ ५४॥

कवलधारण द्रव्य—इसी प्रकार वचा, अतीस, पाठा, रास्ना, कटुरोहिणी (कुटकी) और नीम (पिचुमन्द) इनके क्वाथ के कवलधारण करायें॥ ५४॥

इङ्गुदीकिणिहीदन्तीसरलासुरदारुभिः। पञ्चाङ्गीं कारयेत् पिष्टर्वर्तिं गन्धोत्तरां शुभाम्॥ ५५॥

ततो धूमं पिबेज्जन्तुर्द्विरह्नः कफनाशनम्। क्षारसिद्धेषु मुद्गेषु यूषश्चाप्यशने हितः॥ ५६॥

पञ्चाङ्गी-वर्ति द्वारा कफहर धूम—इंगुदी (हिंगोट, तापस वृक्ष), किणिही (कटभी, श्वेत शिरीष), दन्ती, सरला (त्रिवृत्), देवदारु—इन पाँचों को कूट-पीस कर तथा सुगन्धि द्रव्य मिलाकर (पञ्चाङ्गी) वर्ति (Sticks) बना लें। इस वर्ति के कफनाशन धूम का दिन में दो बार पान करना चाहिए। क्षार में सिद्ध किये मूँग का यूष आहार के लिए हितकर है॥ ५५-५६॥

विमर्श—इंगुदी आदि पाँच द्रव्य होने से 'पंचांगी वर्ति' नाम है ('पञ्चभिरङ्गभूतैर्द्रव्यैः कृता')।

तुण्डिकेर्यध्रुषे कूर्मे सङ्गते तालुपुप्पुटे। एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि॥ ५७॥

तुण्डीकेरी आदि की चिकित्सा—तुण्डीकेरी, अध्रुष, कूर्म, मांससंघात और तालुपुप्पुट नामक विकारों में इसी प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिए, विशेषता (भेदः) शस्त्रकर्म में है॥ ५७॥

विशेष—'शस्त्रकर्मणि विशेषः भेदः। तत्र तुण्डीकेरी भेद्या, तालुपुप्पुटकोऽपि, अध्रुषः मांससङ्घातश्च छेद्यः, मांसोच्छ्रायत्वात् लेख्यः कूर्मो छेद्यो वा अवस्थया' (ड.)।

तालुपाके तु कर्तव्यं विधानं पित्तनाशनम्। स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः॥ ५८॥

तालुपाकादि का उपचार—तालुपाक में पित्तशामक (नाशक) क्रिया करनी चाहिए और तालुशोथ में स्नेहन, स्वेदन तथा वातहर विधि का विधान है॥ ५८॥

कीर्तितं तालुजानां तु कण्ठ्यानां कर्म वक्ष्यते।

यह तालुगत रोगों का वर्णन किया गया है। अब कण्ठ्य (गले के) रोगों का वर्णन किया जायेगा।

साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम्॥ ५९॥

छर्दनं धूमपानं च गण्डूषो नस्यकर्म च। वातिकीं तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत्॥ ६०॥

सुखोष्णान् स्नेहगण्डूषान् धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः। पतङ्गशर्कराक्षौद्रैः पैत्तिकीं प्रतिसारयेत्॥

द्राक्षापरूषकक्वाथो हितश्च कवलग्रहे। अगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत्॥ ६२॥

श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम्। नस्यकर्मणि योक्तव्यं तथा कवलधारणे॥ ६३॥

पित्तवत्साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसम्भवाम्।

रोहिणी की चिकित्सा—रोहिणी नामक कण्ठरोग यदि साध्य हो तो रक्तविस्रावण (Blood letting), वमन (Emesis), धूम्रपान (Smoking,), गण्डूष (Gargling) और नस्य (Snuffs) हितकर होते हैं। **वातिक** रोहिणी की चिकित्सा में रक्तविस्रावण के पश्चात् पंच लवण लगाकर रगड़ना लाभकर है और बार-बार कोष्ण स्नेह गण्डूष धारण कराना चाहिए। **पैत्तिक** रोहिणी में पतंग, शर्करा और मधु से प्रतिसारण करें और कवलग्रह के लिए द्राक्षाक्वाथ और परूषक (फालसा) का क्वाथ हितकर हैं। **श्लैष्मिक** रोहिणी में आगारधूम (घर का धूम/Household soot) और कुटकी के चूर्ण का प्रतिसारण (घर्षण) करना चाहिए। नस्य कर्म एवं कवल धारण के लिए श्वेता (श्वेतदूर्वा ?), विडंग तथा दन्ती और लवण से सिद्ध तैल का प्रयोग लाभकर है। वैद्य **रक्तज** रोहिणी की चिकित्सा पित्तज रोहिणी की तरह करे॥ ५९-६३॥

विमर्श—आयुर्वेद में त्रिदोष-सिद्धान्त पर आधारित रोगों के वर्णन को पाश्चात्य वैद्यक में वर्णित रोगों से समता कर वर्णन करने की प्रथा देखने में आती है, किन्तु ऐसा प्रयास 'दूरेणान्वयः' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः हमारा भी आयुर्वेद की शुद्धता को बनाये रखने में विश्वास है। यदि रोहिणी को डिफ्थेरिया माना जाता है तो इसकी विशिष्ट औषध 'डिफ्थीरिया एण्टिटोक्सीन' तीस हजार से २ लाख यूनिट्स तक है, पैनिसिलीन और सल्फाड्रग्स का भी प्रयोग होता है।

विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरिवत्॥ ६४॥

एककालं यवान्नं च भुञ्जीत स्निग्धमल्पशः। उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम्॥ ६५॥

कण्ठशालूक-चिकित्सा— कण्ठशालूक में रक्तविस्रावण करने के उपरान्त तुण्डिकेरी की तरह चिकित्सा करनी चाहिए। भोजन में एक समय जौ का स्निग्ध एवं अल्प आहार देना चाहिए। अधिजिह्वा की चिकित्सा उपजिह्विका की तरह करनी चाहिए॥ ६४-६५॥

एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत्। गिलायुश्चापि यो व्याधिस्तं च शस्त्रेण साधयेत्॥

एकवृन्द में विस्रावण (जलौकाभिः) कर शोधन-विधि को उपयोग में लायें ('शिरोविरेचनधूमलेपन-क्षारादिभिः शोधनम्')। **गिलायु** नामक व्याधि में शस्त्रप्रयोग कर ठीक करना होता है॥ ६६॥

अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद्गलविद्रधिम्।

यदि गलविद्रधि मर्मस्थल में न हो तो उसका पकने पर भेदन कर देना चाहिए।

वातात् सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत्॥ ६७॥

तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः। ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः॥ ६८॥

सर्वसर-चिकित्सा—**वातिक सर्वसर** में लवणपञ्चक से प्रतिसारण करना चाहिए। कवलधारण और नस्यार्थ (भद्रदार्वादि कषाय कल्कसिद्ध) वातहर द्रव्यों से सिद्ध तैल का प्रयोग हितकर है। तत्पश्चात् विद्वान् चिकित्सक अधोलिखित धूम का प्रयोग करे॥ ६७-६८॥

शालराजादनैरण्डसारेङ्गुदमधूकजाः ।

मज्जानो गुग्गुलुध्याममांसीकालानुसारिवाः । श्रीसर्जरसशैलेयमधूच्छिष्टानि चाहरेत् ॥ ६९ ॥

तत्सर्वं सुकृतं चूर्णं स्नेहेनालोडच युक्तितः । टिण्टूकवृन्तं सक्षौद्रं मतिमांस्तेन लेपयेत् ॥ ७० ॥

एष सर्वसरे धूमः प्रशस्तः स्नैहिको मतः । कफघ्नो मारुतघ्नश्च मुखरोगविनाशनः ॥ ७१ ॥

स्नैहिक धूम—शाल, राजादन (प्रियाल या खिरनी), एरण्ड, सारवृक्ष (खदिरादि), इंगुदी (हिंगोट), और महुआ—इनकी मज्जा (गिरि/Pulp), गुग्गुलु, ध्याम (गन्धतृण), जटामांसी, कालानुसारिवा (कालवल्ली या तगर), श्री (लवंग), राल ('सरलनिर्यासः'–ड.), शैलेय (छड़ीला) और मोम—इन सबका सूक्ष्म चूर्ण बनाकर इतना स्नेह (घृतादि) मिलाकर घोटें कि न बहुत गाढा न बहुत पतला लेप बन जाय। इसे मतिमान् चिकित्सक टुण्टुक (श्योनाक) वृन्त (Twig) पर मधु मिलाकर लगावें और जला दें। सर्वसर नामक विकार में यह स्नैहिक धूम प्रशस्त है। यह धूम कफनाशक, वातनाशक, मुखरोगों को नष्ट करने वाला है ॥ ६९-७१ ॥

पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः । सर्वः पित्तहरः कार्यो विधिर्मधुरशीतलः ॥ ७२ ॥

पित्तात्मक सर्वसर में वमनादि द्वारा शुद्ध हुए शरीर वाले रोगी में मधुर और शीतल तथा सभी पित्तहर क्रियाएँ करनी चाहिए ॥ ७२ ॥

प्रतिसारणगण्डूषौ धूमः संशोधनानि च । कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात् कफापहम् ॥ ७३ ॥

कफात्मक सर्वसर में प्रतिसारण, गण्डूष, धूम और संशोधन तथा कफनाशक क्रियाएँ करनी चाहिए ॥ ७३ ॥

पिबेदतिविषां पाठां मुस्तं च सुरदारु च । रोहिणीं कटुकाख्यां च कुटजस्य फलानि च ॥ ७४ ॥

गवां मूत्रेण मनुजो भागैर्धरणसम्मितैः । एष सर्वान् कफकृतान् रोगान् योगोऽपकर्षति ॥ ७५ ॥

सभी प्रकार के कफज (सर्वसर) रोगों को दूर करने वाला योग—अतिविषा (अतीस), पाठा, मुस्त (नागरमोथा), देवदारु, रोहिणी ('कटुका शाक'–च.पा.), कुटकी, इन्द्रजौ—इनके चूर्ण को मनुष्य गोमूत्र के अनुपान से धरण (चौबीस रत्ती) प्रमाण में प्रतिदिन पीयें ॥ ७४-७५ ॥

क्षीरेक्षुरसगोमूत्रदधिमस्त्वम्लकाञ्जिकैः । विदध्यात् कवलान् वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि ॥ ७६ ॥

कवलधारण—दूध, गन्ने का रस, गोमूत्र, दधि, मस्तु (दध्नो मण्डस्तु मस्त्विति/Butter milk), अम्ल (धान्याम्ल), काँजी (Sour gruel) तैल और घृत का प्रयोग रोगी के दोषादि का विचार कर कवल धारण के लिए करें ॥ ७६ ॥

रोगाणां मुखजातानां साध्यानां कर्म कीर्तितम् । असाध्या अपि वक्ष्यन्ते रोगा ये तत्र कीर्तिताः ॥

अब तक का चिकित्सा-वर्णन साध्य मुखरोगों के सम्बन्ध में है। इसके उपरान्त असाध्य मुखरोगों (Incurable oral diseases) की चिकित्सा के सम्बन्ध में बताया जायेगा ॥ ७७ ॥

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः । दन्तमूलेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगतिसौषिरौ ॥ ७८ ॥

वर्ज्य व्याधियाँ—मांसज, रक्तज और त्रिदोषज ओष्ठप्रकोप तथा दन्तमूल रोगों में त्रिदोषज नाडी एवं सौषिर रोग वर्ज्य (To be avoided from treatment) हैं ॥ ७८ ॥

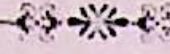
दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः । जिह्वागतेष्वलासस्तु तालव्येष्वर्बुदं तथा ॥ ७९ ॥

स्वरघ्नो वलयो वृन्दो विदार्यलस एव च । गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी च या ॥ ८० ॥

दन्तादि के असाध्य रोग—दन्तरोगों में श्यावदन्त, दालन और अवभञ्जन—ये तीन रोग असाध्य हैं। जिह्वारोगों में अलास नामक रोग और तालुरोगों में अर्बुद असाध्य हैं। गलरोगों में स्वरघ्न, वलय, वृन्द, विदारिका, अलस, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी और त्रिदोषज रोहिणी—ये नौ रोग असाध्य हैं ॥ ७९-८० ॥

असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव च। तेषां चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत्॥ ८१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मुखरोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥



प्रत्याख्याय कर चिकित्सा-विधान—इस प्रकार ये जो उन्नीस मुखज असाध्य रोग वर्णित किये हैं, चिकित्सक को चाहिए कि वह प्रत्याख्याय कर इनकी भी चिकित्सा-व्यवस्था करे॥ ८१॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'मुखरोगचिकित्सा' नामक बाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २२॥



अध्याय-सारांश

'मुखरोगचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—वातज मुखरोगों में अभ्यंग, नाडीस्वेद, शाल्वण, उपनाहन, नस्य, शिरोविरेचन, पित्तरक्तज में जलौकापातन, शिरोविरेचन, धूम, स्वेद, कवलधारण (३-६), कफज में शोणितविस्रावण, त्र्यूषणादि से प्रतिसारण, मेदोज में स्वेदन, भेदन, शोधन, दहन, प्रियंगु आदि से प्रतिसारण (९)।

दन्तमूल (Gums) के रोगों में—शीताद में रक्तनिर्हरण, गण्डूषधारण, प्रलेपन और नस्य (११), दन्तपुप्पुट में—तरुण में रक्तमोक्षण, प्रतिसारण, नस्य, शिरोविरेचन, स्निग्ध भोजन (१३), दन्तवेष्ट में—रक्तविस्रावण, प्रतिसारण, गण्डूष, नस्य, शौषिर में—रक्तनिर्हरण, लेप, गण्डूष, सारिवादि सर्पि नस्यार्थ। परिदर में—शीताद की चिकित्सा करें (१८); उपकुश में—वमन-विरेचन, गोजिह्वापत्रों से रक्तविस्रावण, प्रतिसारण, कवलधारण, नस्य (२१), दन्तवैदर्भ में—शस्त्र दन्तमूल शोधन, क्षारपातन, सभी क्रियाएँ शीतल, अधिदन्त को निकालकर दहन कर दें, कृमिदन्त की तरह चिकित्सा (२३); अधिमांस को काटकर चूर्ण का स्थानिक प्रयोग, कवलधारण, पटोलादि क्वाथ से प्रक्षालन, शिरोविरेचन, वैरेचन धूम (२५), दन्तनाड़ी में—दाँत निकालकर शोधन, दहन पर ऊपर का दाँत न हो तो, खाये हुए और हिलते हुए दाँत को निकाल देना, ऊपर के स्थिर दाँत को निकालने से अधिक रक्तस्राव, मृत्यु, जात्यादि से सिद्ध तैल दन्तनाडीनाशन (३३), दन्तहर्ष में कोष्ण घृत कवल, धूम, नस्य, स्निग्ध भोजन, मांसरस (३५), दन्तशर्करा को हटाकर लाक्षादि चूर्ण से प्रतिसारण, दन्तहर्ष क्रिया भी, कपालिका की भी यही चिकित्सा (३७), कृमिदन्त में स्वेदन के बाद रक्तविस्रावण, गण्डूष, हनुमोक्ष में अर्दितवत् क्रिया।

जिह्वाकण्टक में—वातजौष्ठववुपचार, उपजिह्वा में लेखन, गलशुण्डिका में—छेदन (५६)।

तालुपाक में—पित्तनाशन, तालुशोफ में वातनाशन उपाय करें। रोहिणी में—रक्तमोक्षण, छर्दन, धूमपान, गण्डूष, नस्य कर्म, प्रतिसारण, गण्डूष, गिलायु में—शस्त्रप्रयोग (६६), सर्वसर में—शालादि धूम, कवल (७६)।



त्रयोविंशोऽध्यायः

अथातः शोफानां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः॥ १॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

अब इसके उपरान्त 'शोफानां चिकित्सितम्' (The Management of the Oedemas) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

षड्विधोऽवयवसमुत्थः शोफोऽभिहितो लक्षणतः प्रतीकारतश्च; सर्वसरस्तु पञ्चविधः, तद्यथा—वातपित्तश्लेष्मसन्निपातविषनिमित्तः।

सर्वसर शोफ के भेद—शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में होने वाले छः प्रकार के शोफ (Regional swellings) के लक्षणों (Signs & symptoms) तथा चिकित्सा का वर्णन (सु.सू. अ. १७ में) किया जा चुका है। सर्वसर (सारे शरीर में फैलने वाले/Generalised swellings/anasarca) 'शोफ' पाँच प्रकार का है—१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सान्निपातिक और ५. विषनिमित्तज (विष से होने वाला)।

विमर्श—चरक (सू. १८) ने त्रिशोथीय नामक अध्याय में शोथ को वातादि भेद से तीन प्रकार का मानने के बाद प्रकारान्तर से दो भेद भी किये हैं ('ते पुनर्द्विविधा निजागन्तुभेदेन'), परन्तु चक्रपाणि का कहना है कि भले ही शोफ के निज और आगन्तुज भेद भी बताये हों पर प्राधान्य वातादि तीन भेदों का ही है; यथा—'वक्ष्यमाणद्विविधादिभेदे विद्यमानेऽपि वातादिकृतत्रित्वाभिधानमग्रे वातादिकृतस्यैव प्राधान्यख्यापनार्थम्'।

तत्रापतर्पितस्याध्वगमनादतिमात्रमभ्यवहरतो वा पिष्टान्नहरितकशाकलवणानि क्षीणस्य वाऽतिमात्रमम्लमुपसेवमानस्य मृत्पक्वलोष्टकटशर्करानूपौदकमांससेवनादजीर्णिनो वा ग्राम्यधर्मसेवनाद्विरुद्धाहारसेवनात् वा हस्त्यश्वोष्ट्ररथपदातिसङ्क्षोभणाद्दोषा धातून् प्रदूष्य श्वयथुमापादयन्त्यखिले शरीरे॥ ३॥

शोफ के हेतु—(Aetiological factors)—१. अपतर्पित (लंघन, व्यायाम, वमनादि रूक्ष आहार-विहार से अतिकृश हुए) व्यक्ति का अतिमार्गगमन (Long journey) करना; या २. पिष्टान्न (पीठी), हरित शाक और लवण का अधिक सेवन करना; ३. क्षीण (Weak) व्यक्ति द्वारा अम्ल पदार्थों का अधिक सेवन; ४. मृत् (मृत्तिका/मिट्टी), पक्व लोष्ट (अग्निपक्वलोष्ट/Baked clay), कटशर्करा (अग्निदग्धशर्करा), आनूप (जलप्राय स्थान के, महिषादि) तथा औदक (मत्स्यादि/Aquatic) प्राणियों का मांस खाने से अथवा ६. अजीर्ण होने पर; ७. ग्राम्यधर्म (ग्राम्यधर्मः मैथुनं तस्य सेवनात्/Excessive sexual intercourse) का अधिक सेवन; ८. विरुद्ध आहार का सेवन (सूत्रस्थान अ. २० में वर्णित); ९. हाथी, घोड़ा, ऊँट, रथ की सवारी और पैदल चलना आदि से हुए संक्षोभ से दोष प्रकुपित होकर धातुओं को प्रदूषित कर सारे शरीर में शोफ (Generalised oedema) उत्पन्न कर देते हैं॥ ३॥

विमर्श—सारे शरीर में शोफ (Oedema) का होना पाश्चात्य वैद्यक में 'Anasarca' कहलाता है। अवटुग्रन्थि की अल्पक्रियता के कारण भी सारे शरीर में सूजन हो जाती है, पर वह कठोर होती है और दबाने पर उसमें गढ़ा नहीं पड़ता है!

सर्वांग शोफ (Generalised oedema) के तीन प्रमुख हेतु माने जाते हैं—१. हृज्ज (Cardiac) शोफ—इसमें होने वाली सूजन शरीर के दूरवर्ती भागों में; जैसे–टाँगों में होती है, यदि रोगी चलता-फिरता रहता है। इसमें श्वासकाठिन्य भी होता है। २. याकृत (Hepatic) शोफ—इसका आरम्भ उदर (Ascites/

दकोदर) से होता है। याकृत वृद्धि भी साथ में हो सकती है। श्वासकाठिन्य हृज्ज शोफ में पहले और सूजन बाद में पर याकृत शोफ में उदरवृद्धि पहले और श्वासकाठिन्य बाद में होता है। ३. वृक्कविकारजन्य (Renal) शोफ—इसमें सूजन टांगों (Legs) और पलकों (Eyelids) में एक साथ होती है। मूत्र में एल्ब्यूमिन उपस्थित होती है। रोगी का शरीर (Appearance) मोमी (Waxy) लगता है।

तत्र वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषाः (१);

वातिक शोफ के लक्षण (Clinical features)—अरुण (ईषद्रक्तः/Pink या कृष्णवर्ण), मृदु (Soft, pitting oedema) कभी-कभी होने वाली (अनवस्थित/In constant) तोदादि (Pricking) विशेष वेदनाएँ वातिक शोफ में होती हैं (१);

पित्तश्वयथुः पीतः सरक्तो वा मृदुः शीघ्रानुसार्यूषादयश्चात्र वेदनाविशेषाः (२);

पैत्तिक शोफ के लक्षण—इनमें शोफ का रंग पीत या रक्त (Reddish) युक्त, मृदु, शीघ्र फैलने वाला (Fast spreading) और ओष-चोषादि विशेष प्रकार की वेदनाओं से युक्त होता है (Specific pain of burning character) (२);

श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः शुक्लो वा स्निग्धः कठिनः शीतो मन्दानुसारी, कण्ड्वादयश्चात्र वेदना-विशेषाः (३);

श्लैष्मिक शोफ के लक्षण—इसमें शोफ का रंग पाण्डु (Pale) या श्वेत, स्निग्ध, शोफ कठोर (Non-pitting oedema), शीत, धीमे-धीमे बढ़ने वाला (मन्दानुसारी/Develops slowly) और कण्डू आदि वेदना-विशेषों (Pain of itching nature) से युक्त होना—ये लक्षण पाये जाते हैं (३);

सन्निपातश्वयथुः सर्ववर्णवेदनः (४);

सान्निपातिक शोफ के लक्षणों में उपरोक्त सभी वर्ण एवं वेदनाएँ पायी जाती हैं (४);

विषनिमित्तस्तु गरोपयोगाद्दुष्टतोयसेवनात् प्रकुथितोदकावगाहनात् सविषसत्त्वदिग्धचूर्णेनाव-चूर्णनाद्वा सविषमूत्रपुरीषशुक्रस्पृष्टानां वा तृणकाष्ठादीनां संस्पर्शनात्; स तु मृदुः क्षिप्रोत्थानोऽवलम्बी चलोऽचलो वा दाहपाकरागप्रायश्च भवति ।। ४ ।।

विष के कारण होने वाला सर्वांग शोफ—१. गरविष (Slow accumulative poison) का उपयोग करने से; २. दूषित जल (Polluted water) के सेवन से; ३. गन्दे पानी (प्रकोथः = पूतिभावः/Putrid watter) में अवगाहन (Emmersion) करने से; ४. जहरीले प्राणियों से युक्त चूर्ण को शरीर पर छिड़कने से या ५. विषैले प्राणियों के मूत्र, पुरीष, शुक्र युक्त तृण-काष्ठादि के संस्पर्श से होता है। यह विषनिमित्तज शोफ मृदु, शीघ्र होने वाला, अवलम्बी (लटक जाने वाला), चलायमान या स्थिर और प्रायः दाह-पाक युक्त होता है ।। ४ ।।

विमर्श—गरविष—'नानाप्राण्यङ्गसमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्। विषाणां चाल्पवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ।। कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधौषधैः। (अ.सं.) सविषसत्त्वचूर्णम्—'वृश्चिकाली नामकं क्षुपभेदं केचित् कथयन्ति' (ड.)।

भवन्ति चात्र—

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः। पक्वाशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।।
कृत्स्नं देहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा।

शोफ की सम्प्राप्ति (Pathogenesis)—श्लोक भी है—यदि दोष आमाशय में स्थित हों तो शोफ शरीर के ऊर्ध्व भाग, मुख आदि में होता है; यदि पक्वाशय में स्थित हों तो शरीर के मध्य भाग में तथा वर्चःस्थान (Rectum) में स्थित दोष शरीर के अधोभाग में शोफ उत्पन्न करते हैं। सर्वशरीरव्यापी दोष सर्वांगव्यापी शोफ (सर्वसर/Generlised oedema) उत्पन्न करते हैं ।। ५ ।।

श्वयथुर्मध्यदेशे यः स कष्टः सर्वगश्च यः॥ ६॥

अर्धाङ्गेऽरिष्टभूतश्च यश्चोर्ध्वं परिसर्पति। श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः॥ ७॥

हिक्कातीसारकासाश्च शूनं सङ्क्षपयन्ति हि। सामान्यतो विशेषाच्च तेषां वक्ष्यामि भेषजम्॥ ८॥

शोफ की साध्यासाध्यता—शरीर के मध्य भाग (उदरादि) में होने वाला शोफ और सर्वशरीरव्यापी शोफ कष्टसाध्य होता है ('मध्यदेशे श्वयथुः सन्निपातज्वरवत् विरुद्धोपक्रमत्वात् कष्टः'–ड.)। जो शोफ आधे अंग में अरिष्टभूत है, पैरों से आरम्भ होकर शरीर के ऊर्ध्वभाग की ओर या शिर से आरम्भ होकर नीचे की ओर जाता है ('चकारो भिन्नक्रमे, तेन यश्चाधः परिसर्पति उत्तमाङ्गात् सोऽप्यरिष्टभूतः। उक्तं च–'ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यां अधोगामी मुखात् स्त्रियाम्'–ड.) वह असाध्य है। इसी प्रकार श्वास (Dysponea), प्यास, दौर्बल्य (Debility), ज्वर, छर्दि (Vomiting), अरोचक (Anorexia), हिक्का, अतिसार और कास से युक्त शोफ रोगी को नष्ट कर देता है। इन सब प्रकार के शोफों की सामान्य (General) और विशेष (Specific) चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा॥ ६-८॥

शोफिनः सर्व एव परिहरेयुरम्ललवणदधिगुडवसापयस्तैलघृतपिष्टमयगुरूणि॥ ९॥

शोफी के लिए त्याज्य—शोफ (Oedema) पीड़ित सभी रोगियों को अम्ल (Sour) पदार्थ, लवण, दधि, गुड़, वसा, दूध, तैल, घृत और आटे के बने भारी पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए॥ ९॥

तत्र वातश्वयथौ त्रैवृतमैरण्डतैलं वा मासमर्धमासं वा पाययेत्, न्यग्रोधादिककषायसिद्धं सर्पिः पित्तश्वयथौ, आरग्वधादिसिद्धं सर्पिः श्लेष्मश्वयथौ, सन्निपातश्वयथौ स्नुहीक्षीरपात्रं द्वादशभिरम्लपात्रैः प्रतिसंसृज्य दन्तीद्रवन्तीप्रतीवापं सर्पिः पाचयित्वा पाययेत्, विषनिमित्तेषु कल्पेषु प्रतीकारः॥ १०॥

शोफ-चिकित्सा—**वातज शोफ** में त्रैवृत (घृत-तैल-वसा) स्नेह या एरण्डस्नेह का पन्द्रह दिन या एक मास तक (रोगी के बलाबल का विचार कर) पान कराना चाहिए। **पैत्तिक शोफ** में न्यग्रोधादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत पिलाना चाहिए। **श्लैष्मिक शोफ** में आरग्वधादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए। **सान्निपातिक शोफ** में थोहर का दूध (Latex) आढक प्रमाण ('चतुष्प्रस्थैस्तथाऽऽढकम्'–शा.) और अम्ल (काँजी) बारह आढक (अड़तालीस प्रस्थ)—इसमें दन्ती और द्रवन्ती का प्रक्षेप डालकर घृतपाक करें और इसका पान करायें। **विषज शोफ** की चिकित्सा का वर्णन आगे कल्पस्थान में किया जायेगा॥ १०॥

अत ऊर्ध्वं सामान्यचिकित्सितमुपदेक्ष्यामः—तिल्वकघृतचतुर्थानि यान्युक्तान्युदरेषु ततोऽन्यतममुपयुज्यमानं श्वयथुमपहन्ति, मूत्रवर्तिक्रियां वा सेवेत, नवायसं वाऽहरहर्मधुना, विडङ्गातिविषाकुटजफलभद्रदारुनागरमरिचचूर्णं वा धरणमुष्णाम्बुना, त्रिकटुक्षारायश्चूर्णानि वा त्रिफलाकषायेण, मूत्रं वा तुल्यक्षीरं, हरीतकीं वा तुल्यगुडामुपयुञ्जीत, देवदारुशुण्ठीं वा, गुग्गुलुं वा मूत्रेण वर्षाभूकषायानुपानं वा, तुल्यगुडं शृङ्गवेरं वा, वर्षाभूकषायं मूलकल्कं वा सशृङ्गवेरं पयोऽनुपानमहरहर्मासं, व्योषवर्षाभूकषायसिद्धेन वा सर्पिषा मुद्गोलुम्बान् भक्षयेत्, पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकमयूरकवर्षाभूसिद्धं वा क्षीरं पिबेत्, सहौषधमुरङ्गीमूलसिद्धं वा, त्रिकटुकैरण्डमूलश्यामामूलसिद्धं वा, वर्षाभूशृङ्गवेरसहादेवदारुसिद्धं वा, तथाऽलाबूबिभीतकफलकल्कं वा तण्डुलाम्बुना; क्षारपिप्पलीमरिचशृङ्गवेरानुसिद्धेन च मुद्गयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन भोजयेद्यवान्नं गोधूमान्नं वा; वृक्षकार्कनक्तमालनिम्बवर्षाभूक्वाथैश्च परिषेकः; सर्षपसुवर्चलासैन्धवशार्ङ्गेष्टाभिश्च प्रदेहः कार्यः; यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानि तीक्ष्णान्यजस्रमुपसेवेत, स्नेहस्वेदोपनाहांश्च, सिराभिश्चाभीक्ष्णं शोणितमवसेचयेदन्यत्रोपद्रवशोफादिति॥ ११॥

अब इससे आगे सामान्य चिकित्सा (General management) का वर्णन किया जायेगा—उदर रोग (चि. १४) की चिकित्सा में वर्णित तिल्वक घृत आदि चार घृतों में से ('हरीतकीचूर्णप्रस्थेत्यादिना

एकम्, गव्ये पयसि महावृक्षक्षीरेत्यादि द्वितीयम्, चव्यचित्रकेत्यादि तृतीयम्, तिल्वकं वातव्याध्युक्तं चतुर्थम्') किसी एक घृत का प्रयोग करने से शोफ नष्ट होता है अथवा मूत्रवर्ति क्रिया ('वमनविरेचनेत्यादिना उदरोक्ता एव मूत्रवर्ति क्रिया') का सेवन करें।

अथवा—प्रमेहपिडकाचिकित्सा (चि. १२।११) में पठित 'नवायस' को प्रतिदिन मधु से लें। अथवा वायविडंग, अतीस, कुटज (कुड़ा) के फल (इन्द्रजौ), देवदारु, सोंठ और मरिच के चूर्ण को धरण प्रमाण ('माषैश्चतुर्भिः शाणः स्यात् धरणं तन्निगद्यते'–शा.) में गरम जल से लें। या सोंठ, मरिच, पीपल, क्षार (यवक्षारः) और लोहभस्म को त्रिफला के क्वाथ से लेना चाहिए।

अथवा—गोमूत्र (पलद्वयम्) तथा समान मात्रा में (द्विपलम्) दूध पिलाये या हरीतकी चूर्ण को समान मात्रा में गुड मिलाकर सेवन करें। इसी प्रकार देवदारु चूर्ण और शुण्ठी चूर्ण को या गुग्गुलु को गोमूत्र या पुनर्नवा कषाय के अनुपान से प्रयुक्त करें। गुड़ और शृंगवेर (अदरक या शुण्ठी) को बराबर मात्रा में रक्तपुनर्नवा कषाय के अनुपान से पिलायें। या पुनर्नवामूल कल्क और शुण्ठी चूर्ण को दूध के अनुपान से प्रतिदिन एक मास तक सेवन करायें।

अथवा—सोंठ, मरिच, पीपल, वर्षाभू (लाल पुनर्नवा) के क्वाथ से सिद्ध घृत के साथ मुद्गोलुम्ब ('अत्र केचित् मुद्गान् भृष्टान् वदन्ति'–ड.) खाने को दें। या पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, मयूर (अपामार्ग) और पुनर्नवा से सिद्ध दूध का सेवन करायें। सोंठ, मुरङ्गी (शोभाञ्जन) मूल से सिद्ध दुग्ध पिलायें या त्रिकटु, एरण्डमूल, श्यामा (निशोथ) मूल से सिद्ध दूध दें या पुनर्नवा, शुण्ठी, सहा (माषपर्णी) और देवदारु से सिद्ध दुग्ध का पान करायें।

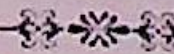
अथवा—लौकी (घीया) तथा बहेड़े के फल के कल्क को चावल के जल से सेवन करायें। इसी प्रकार क्षार (यवक्षार), पीपल, मरिच, शुण्ठी—इनसे सिद्ध, लवण रहित और अल्प स्नेह युक्त मूँग के यूष को या जौ अथवा गेहूँ के भोज्य पदार्थों (गोधूमान्नम्) को खाने को देना चाहिए।

परिषेक के लिए कुटज, आक, करञ्ज, नीम और पुनर्नवा के क्वाथ को प्रयोग में लायें। प्रदेह के लिए सरसों, सोंचर और सेन्धानमक तथा काकजंघा (शार्ङ्गेष्टा) का प्रयोग करना चाहिए। दोषानुसार तीव्र वमन, विरेचन, आस्थापन का निरन्तर सेवन करें। इसी प्रकार स्नेहन, स्वेदन एवं उपनाहन का भी बार-बार प्रयोग करना चाहिए और यदि शोफ उपद्रव रहित हो तो सिराव्यध द्वारा रक्तविस्रावण भी बार-बार करना चाहिए॥ ११॥

भवति चात्र—

पिष्टान्नमम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमजाङ्गलं च।
स्त्रियो घृतं तैलपयोगुरूणि शोफं जिघांसुः परिवर्जयेत्तु॥ १२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने शोफचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥



शोफी के लिए त्याज्य—पीठी के बने अन्नपदार्थ, अम्ल द्रव्य (Acidic substances), लवण, मद्य (Wines), मिट्टी (Earthen clay), दिन में सोना, जांगल प्राणियों (Wild animals) के अतिरिक्त अन्य प्राणियों का मांस, स्त्रीसेवन, घृत, तैल, दूध और भारी पदार्थ—इनका शोफ से छुटकारा पाने वाले व्यक्ति को परित्याग करना चाहिए॥ १२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'शोफचिकित्सा' नामक तेईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २३॥



अध्याय-सारांश

'शोफचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—आरम्भ में एकदेशोत्थ शोथ और सर्वांग शोथ(फ) की चर्चा कर सर्वांग शोफ के कारणों का उल्लेख किया गया है (३); वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और विषज भेद से सर्वांगशोफ के पृथक्-पृथक् लक्षण वर्णित किये गये हैं (८)।

आमाशयस्थ दोषों से शरीर के ऊर्ध्वभाग, मध्यदेहस्थों से मध्य शरीर में, अन्त्रस्थ दोषों से शरीर के अधोभाग में और सर्वशरीरव्यापी दोषों से सर्वांगशोफ होता है (९)।

अरिष्टभूत शोफ ऊपर की ओर जाने वाला तथा श्वासादि से युक्त शोफ असाध्य होता है। मध्यदेहस्थ शोफ कष्टसाध्य है (१२)।

शोफी को अम्ल-लवणादि का परित्याग करना चाहिए। वातिक शोफ में त्रैवृत या एरण्ड स्नेह का एक मास या पन्द्रह दिन तक सेवन कराना चाहिए। सान्निपातिक शोफ में स्नुहीक्षीरादि घृत पा पान करावें, पैत्तिक में न्यग्रोधादि से सिद्ध घृत का पान और श्लैष्मिक शोफ में आरग्वधादि से सिद्ध घृत पानार्थ दें। विषनिमित्तज शोफ की चिकित्सा का वर्णन कल्पस्थान में (१४)।

शोफ की सामान्य चिकित्सा में अनेकों योगों का उल्लेख है— तिल्वकादि घृतपान, मूत्रवर्ति क्रिया का सेवन, नवायस, विडंगादि चूर्ण उष्ण जल से, गोमूत्र-दुग्ध के अनुपान से हरीतकी चूर्ण, व्योषादि सिद्ध सर्पिः, पिप्पल्यादि से सिद्ध क्षीरपान, भोजनार्थ मुद्गयूष, यवान्न, गोधूमान्न, वृक्षकादि के क्वाथ से परिषेक, प्रदेहार्थ सर्षपादि द्रव्य कल्क, तीक्ष्ण विरेचन, आस्थापनादि का पौनःपुन्येन प्रयोग, स्नेहन, स्वेदन, उपनाहन और सिरावेध द्वारा पुनः रक्तविस्रावण आदि (१५)।

अन्त में शोफी के लिए पुनः पिष्टान्नाम्लादि के परित्याग की सलाह दी गयी है (१६)।



चतुर्विंशोऽध्यायः

अथातोऽनागताबाधाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'अनागताबाधाप्रतिषेधम्' (The Prevention of Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

उत्थायोत्थाय सततं स्वस्थेनारोग्यमिच्छता। धीमता यदनुष्ठेयं तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यते ॥ ३ ॥

विषय-प्रवेश (Introduction)—अब उस सब कुछ का वर्णन किया जायेगा जो स्वस्थ एवं मतिमान् व्यक्ति को प्रातःकाल उठकर स्वस्थ रहने के लिए प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्श—आयुर्वेदिक स्वस्थवृत्त प्रमुख रूप से व्यक्तिपरक है। पाश्चात्य वैद्यक में सामूहिक स्वस्थवृत्त की प्रमुखता है। स्वस्थ जीवन की दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति स्वस्थ समाज के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

तत्रादौ दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमायतम् । कनिष्ठिकापरीणाहमृज्वग्रन्थितमव्रणम् ॥ ४ ॥
अयुग्मग्रन्थि यच्चापि प्रत्यग्रं शस्तभूमिजम्। अवेक्ष्यर्तुं च दोषं च रसं वीर्यं च योजयेत् ॥ ५ ॥
कषायं मधुरं तिक्तं कटुकं प्रातरुत्थितः। निम्बश्च तिक्तके श्रेष्ठः कषाये खदिरस्तथा ॥ ६ ॥
मधूको मधुरे श्रेष्ठः करञ्जः कटुके तथा। क्षौद्रव्योषत्रिवर्गाक्तं सतैलं सैन्धवेन च ॥ ७ ॥
चूर्णेन तेजोवत्याश्च दन्तान्नित्यं विशोधयेत्। एकैकं घर्षयेद्दन्तं मृदुना कूर्चकेन च ॥ ८ ॥
दन्तशोधनचूर्णेन दन्तमांसान्यबाधयन् । तद्दौर्गन्ध्योपदेहौ तु श्लेष्माणं चापकर्षति ॥ ९ ॥
वैशद्यमन्नाभिरुचिं सौमनस्यं करोति च।

उत्कृष्ट दन्तधावन—सबसे पहले (प्रातः उठकर शय्या त्यागने के पश्चात्) दन्तधावन (Brushing of teeth) करे। एतदर्थ वृक्ष के शाखा की बनी बारह अंगुल लम्बी, कनिष्ठिका अंगुली (Little finger) के बराबर मोटी (In thickness) लेनी चाहिए जो ऋजु (सीधी/Straight), गाँठ (Knot) रहित और व्रण रहित (कोटरादिरहितम्/No break in the surface) हो। जो अयुग्म ग्रन्थि अर्थात् जिसका अग्रभाग (दो भागों में) फटा न हो और न कोई गाँठ हो, जो अच्छी स्वच्छ भूमि में उत्पन्न हुई हो ऐसी दातुन को ऋतु, दोष, रस और वीर्य का विचार कर प्रयोग में लावें ॥ ४-५ ॥

रस की दृष्टि से दातुन का चयन—प्रातः उठकर कषाय (Astringent), मधुर, तिक्त (Bitter) और कटु (Pungent) रस वाली दातुन लेनी चाहिए। तिक्त रसवाली दातुन नीम की, कषाय रस वाली खैर की, मधुर रसवाली महुवे की और कटु रस वाली दातुन करञ्ज की उत्तम होती है ('दन्तान्पुनातीति दन्तपवनं दन्तकाष्ठम्'–च.पा.) ॥ ६ ॥

दातुन करने की विधि—दातुन मधु, सोंठ, मरिच, पीपल (व्योष), त्रिवर्गोक्त अर्थात् त्रिसुगन्धि द्रव्यों ('त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्'–भा.प्र.) से लिप्त, तैल, सैन्धव और तेजोवती (तुम्बरु, नैपाली धनियाँ) के चूर्ण के साथ दातुन से प्रतिदिन दाँतों को साफ रखें। दातुन की मृदु कूची (Soft brush) से प्रत्येक दाँत को अलग-अलग रगड़ना चाहिए। दन्तमांस को हानि न पहुँचाते हुए दन्तशोधन चूर्ण से दाँतों को घर्षण कर शुद्ध करें। प्रातः प्रतिदिन दातुन करने से मुख की दुर्गन्ध (Foul smell) और दाँतों पर चढ़ी हुई मैल (Dirty coating over the teeth) दूर होती है तथा यह श्लेष्मा को भी दूर करती है तथा निर्मलता (वैशद्यम्/Cleanliness), अन्न में रुचि (Relish for food) एवं प्रसन्नचित्तता (Cheerfulness) लाती है ॥ ७-९ ॥

न खादेद्गलताल्वोष्ठजिह्वारोगसमुद्भवे ॥ १० ॥

अथास्यपाके श्वासे च कासहिक्कावमीषु च। दुर्बलोऽजीर्णभक्तश्च मूर्च्छार्तो मदपीडितः ॥ ११ ॥
शिरोरुजार्तस्तृषितः श्रान्तः पानक्लमान्वितः। अर्दिती कर्णशूली च दन्तरोगी च मानवः ॥ १२ ॥

दातुन का निषेध (Contraindications of tooth brushing)—गला, तालु, ओष्ठ, जिह्वा के रोगों में; मुखपाक, श्वास, कास, हिक्का, वमन, दौर्बल्य, भुक्त अन्न के न पचने पर, मूर्च्छा होने पर, मदार्तावस्था (Under the influence of alcohol), शिरोरोग से पीड़ित होने पर, प्यास की अवस्था में, थकान में, मदिरापान से थका होने पर (Depressed after excessive drinking), अर्दित (Facial paralysis) से पीड़ित, कर्णशूली और जो दन्तरोग से पीड़ित है उन्हें दातुन नहीं करनी चाहिए ॥ १०-१२ ॥

विमर्श—वा.सू. २ में दन्तधावन के सम्बन्ध में कहा है कि 'प्रातर्भुक्त्वा च' अर्थात् दातुन प्रातःकाल और कुछ खाने के बाद करनी चाहिए। यहाँ 'भुक्त्वा' से अभिप्राय कुछ भी खाने के बाद कुल्ला कर दाँतों को स्वच्छ रखने से है। रात को सोते समय दाँतों को ब्रश कर साफ कर लेना चाहिए। उसके बाद दूध आदि कोई चीज न लें। स्वच्छता की दृष्टि से ब्रश की अपेक्षा दातुन कहीं अधिक उत्तम है। दातुन की कूची बनाने से पहले दातुन को चबाने में जो दाँतों को प्रयास करना पड़ता है उससे दाँत अधिक दृढ़ होते हैं। ब्रश करने में ऐसा कुछ नहीं होता है। एक ही ब्रश को प्रतिदिन प्रयोग में लाना अस्वास्थ्यकर भी है।

चरक (सू. ५।७१) में दो बार दातुन करने का स्पष्ट उल्लेख है—'आपोथिताग्रं द्वौ कालौ'। यहाँ 'द्वौ कालौ' का अर्थ स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं—'द्विकालं सायं प्रातरिति'।

क्षेमकुतूहल में कहा गया है कि दातुन न मिले तो अथवा जिन अवस्थाओं में दातुन करना निषिद्ध बताया है उनमें भी शुद्ध जल से 'द्वादश गण्डूष' करने से मुखशुद्धि हो जाती है। वृद्ध वाग्भट ने निषिद्ध दन्तकाष्ठों का उल्लेख भी किया है ('नैव श्लेष्मातकारिष्टबिभीतधवधन्वजान्' आदि)।

जिह्वानिर्लेखनं रौप्यं सौवर्णं वार्क्षमेव च। तन्मलापहरं शस्तं मृदु श्लक्ष्णं दशाङ्गुलम् ॥ १३ ॥
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यशोफजाड्यहरं सुखम्। दन्तदार्ढ्यकरं रुच्यं स्नेहगण्डूषधारणम् ॥ १४ ॥

जिह्वानिर्लेखन और गण्डूषधारण—जिह्वानिर्लेखन (Foil) चाँदी, सोना या काष्ठ का बना होना चाहिए जो मृदु (कोमल), श्लक्ष्ण (मसृण/Smooth) तथा दश अँगुल लम्बा हो। जीभ के मैल को दूर करने में (To remove sordes) ऐसा जिह्वानिर्लेखन प्रशस्त होता है ॥ १३ ॥

स्नेहगण्डूष के लाभ—स्नेहगण्डूष (Gargling) करने से मुख की विरसता (Bad taste), दौर्गन्ध्य (Bad smell), शोफ (Inflammation), जाड्य (जड़ता/Feeling of numbness of the mouth) दूर होती है, सुख मिलता है और इससे दाँत मजबूत होते हैं तथा भोजन में रुचि बढ़ती है ॥ १४ ॥

विमर्श—चरक (सू.५) के अनुसार—'जिह्वामूलगतं यच्च मलमुच्छ्वासरोधि च। सौगन्ध्यं भजते तेन तस्मात् जिह्वां विनिर्लिखेत्' ॥

क्षीरवृक्षकषायैर्वा क्षीरेण च विमिश्रितैः। भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा ॥ १५ ॥
प्रक्षालयेन्मुखं नेत्रे स्वस्थः शीतोदकेन वा। नीलिकां मुखशोषं च पिडकां व्यङ्गमेव च ॥ १६ ॥
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत्। मुखं लघु निरीक्षेत दृढं पश्यति चक्षुषा ॥ १७ ॥

मुखमण्डल (चेहरे) का प्रक्षालन (Washing the face)—एतदर्थ क्षीरवृक्ष कषाय ('उदुम्बरो वटोऽश्वत्थो वेतसः प्लक्ष एव च। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षाः') से या दूध मिलाकर इनके क्वाथ से अथवा भिल्लोदक कषाय ('बिम्बीलोटाख्यो हिमाद्रिजो वृक्षः' ड./सु.उ. १२।११; 'भिल्लोदकं पर्वते केदारभूमौ प्रसिद्धम्'–ड./सु.चि. २४।१५ तथा 'भिल्लोटको हिमवदासन्नभूमिजः ककुभानुकारिफलो वृक्षविशेषः'–सु.उ. १७।४०) या आमलक कषाय से चेहरे तथा नेत्रों का प्रक्षालन करें या केवल शीतल जल से धोवें।

प्रक्षालन का लाभ—इससे चेहरे की नीलिका ('श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं वक्त्रादन्यत्र नीलिका'–वा. उ. ३१।२८), मुखशोष (Dryness of mouth), पिडका (Boils), व्यंग और रक्तपित्तकृत (Haemorrhagic) व्याधियाँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। मुख और नेत्रों के प्रक्षालन से मुख (चेहरे) में हलकेपन (लघुता) की प्रतीति होती है और नेत्रदृष्टि (Eye sight) दृढ़ होती है॥ १५-१७॥

मतं स्रोतोऽञ्जनं श्रेष्ठं विशुद्धं सिन्धुसम्भवम्। दाहकण्डूमलघ्नं च दृष्टिक्लेदरुजापहम्॥ १८॥
तेजोरूपावहं चैव सहते मारुतातपौ। न नेत्ररोगा जायन्ते तस्मादञ्जनमाचरेत्॥ १९॥

नेत्राञ्जन (Collyrium)—मुख (चेहरे) के प्रक्षालन के पश्चात् नेत्रों में अंजन लगाना चाहिए। एतदर्थ सिन्धुसम्भव (सिन्धुरत्र नदोऽभिप्रेतः/सिन्धु नदी में पाया जाने वाला) अंजन (स्रोतोञ्जन) विशुद्ध श्रेष्ठ होता है। यह नेत्रों के दाह, कण्डू और मल को नष्ट करता है, दृष्टिक्लेद (आँखों से पानी आना/Discharge from the eyes) तथा वेदना को दूर करता है, नेत्रों को सुन्दर बनाता है और अंजन लगाने से आँखें तेज हवा तथा सूर्य के तेज प्रकाश (Glare of the sun) को सहन करने में समर्थ होती हैं। अंजन लगाने से नेत्ररोग (Ocular diseases) भी नहीं होते हैं। अतः नेत्रों में अञ्जन लगाना चाहिए॥ १८-१९॥

विमर्श—'अक्ष्णो रूपावहं चैव' के स्थान पर 'तेजोरूपावहं चैव' पाठ कुछ पुस्तकों में है। 'तेजोरूपावहं चैव' पाठ ठीक लगता है। क्योंकि डल्हण ने 'तेजोरूपावहम्' की टीका 'तेजोरूपकरम्' की है।

भुक्तवाञ्छिरसा स्नातः श्रान्तश्छर्दनवाहनैः। रात्रौ जागरितश्चापि नाञ्ज्याज्ज्वरित एव च॥

अञ्जन का निषेध (Contraindication)—भुक्तवान् (जिसने अभी भोजन किया है), शिर भिगोकर जिसने स्नान किया है, उल्टियों से तथा वाहनों (Riding) से जो थका हुआ है, जो रात को जागा है एवं ज्वरपीड़ित व्यक्ति को अञ्जन नहीं लगाना चाहिए॥ २०॥

कर्पूरजातीकक्कोललवङ्गकटुकाह्वयैः। सचूर्णपूगैः सहितं पत्रं ताम्बूलजं शुभम्॥ २१॥

ताम्बूल (Betel) **भक्षण**—कपूर, जायफल, कङ्कोल (कबाब चीनी या शीतल चीनी/*Piper cubeba*), लौंग, कुटकी, सुपारी—इनके चूर्ण के साथ ताम्बूल (पान) पत्र का सेवन शुभकर होता है॥ २१॥

विमर्श—चरक पान के इस मसाले के साथ छोटी इलायची डालने की सलाह देते हैं ('सूक्ष्मैलायाः फलानि च'–सू. ५।७७)।

मुखवैशद्यसौगन्ध्यकान्तिसौष्ठवकारकम्। हनुदन्तस्वरमलजिह्वेन्द्रियविशोधनम्॥ २२॥
प्रसेकशमनं हृद्यं गलामयविनाशनम्। पथ्यं सुप्तोत्थिते भुक्ते स्नाते वान्ते च मानवे॥ २३॥

ताम्बूलभक्षण के गुण—यह मुखवैशद्यकर (स्वच्छता लाने वाला), सौगन्ध्यकर (मुख में सुगन्ध लाने वाला), कान्ति और सौष्ठवकर (चेहरे को सुन्दर बनाने वाला) है। इसी प्रकार हनु (Jaws), दाँत, स्वर (Throat), जीभ आदि इन्द्रियों का शोधन करता है। लालास्राव को शान्त करने वाला और हृद्य (Cardiotonic) है। गले के रोगों को नष्ट करता है और नींद से जागने पर भोजन के बाद, नहाने के पश्चात् तथा उल्टियाँ आने पर लेने से यह उत्तम पथ्य है॥ २२-२३॥

रक्तपित्तक्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छापरीतिनाम्। रूक्षदुर्बलमर्त्यानां न हितं चास्यशोषिणाम्॥ २४॥

ताम्बूलभक्षण का निषेध (Contraindications)—रक्तपित्त (Haemorrhagic diseases), क्षत, क्षीण, तृष्णा, मूर्च्छा (Fainting), रूक्ष (Dehydrated), दुर्बल और जो मुखशोष (Dryness of mouth) से पीड़ित हैं, उन्हें ताम्बूल का सेवन नहीं करना चाहिए॥ २४॥

शिरोगतांस्तथा रोगाञ्छिरोऽभ्यङ्गोऽपकर्षति। केशानां मार्दवं दैर्घ्यं बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्॥
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्कमपि चाननम्। सन्तर्पणं चेन्द्रियाणां शिरसः प्रतिपूरणम्॥ २६॥

शिरोऽभ्यङ्ग (शिर में तैल का अभ्यंग करना/Anointing of the head) करने से शिर के रोग नष्ट होते हैं; शिर के बाल मृदु, लम्बे, घने (Thick), चिकने (Glossy) और रंग में काले हो जाते हैं। शिर की (मानसिक) तृप्ति, चेहरे की त्वचा सुन्दर होती है, इन्द्रियाँ प्रसन्न होती हैं तथा शिर में ताजगी आती है (शिरसः प्रतिपूरणम् = शून्यभूतस्य शिरसः पुनः पूरणम्)॥ २५-२६॥

विमर्श—शिरोऽभ्यंग के सम्बन्ध में चरक (सू.५) में 'नित्यं स्नेहार्द्रशिरसः' आदि विस्तृत विवरण दिया गया है।

मधुकं क्षीरशुक्ला च सरलं देवदारु च। क्षुद्रकं पञ्चनामानं समभागानि संहरेत्॥ २७॥
तेषां कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत्। सदैव शीतलं जन्तोर्मूर्ध्नि तैलं प्रदापयेत्॥ २८॥

शिरोऽभ्यङ्ग के लिए तैल—मुलेठी, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारिका, विदारीकन्द या क्षीरकाकोली), चीड़, देवदारु और लघु पंचमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहतीद्वय और गोखरू) इनको सम भाग लेकर एकत्रित करें। तत्पश्चात् इनके क्वाथ और कल्क से चक्रतैल (यन्त्रपीडिततैलम्/कोल्हू से निकला तैल) का पाक करें। इस तैल को सदा शीतल ही शिर पर अभ्यंगार्थ प्रयुक्त करें॥ २७-२८॥

केशप्रसाधनी केश्या रजोजन्तुमलापहा।

कंघी करने (Combing of hairs) **के गुण**—बालों में कंघी करना केशों के लिए हितकर है। इससे धूल, जन्तु (यूका) और मल (Dirt) दूर होते हैं।

विमर्श—चरक (सू. ५ में) कंघी (कंकातिका) करने को 'सम्प्रसाधन' कहते हैं ('सम्प्रसाधनम् = मण्डनम्, एतच्च यथायोग्यतया योजनीयम्, केशानां प्रसाधनं सम्यक् बन्धनादि'–च.पा.)। कंघी किये हुए बाल सभ्यता की निशानी भी है ('साधुवेशः = प्रसाधितकेशः'–च.सू.)।

हनुमन्याशिरःकर्णशूलघ्नं कर्णपूरणम्॥ २९॥

तैल से कर्णपूरण (Pouring oil into the ears)—इससे हनु (Jaw), मन्या (मन्ये = गलपार्श्वसिरे) और कर्ण का शूल दूर होते हैं॥ २९॥

विमर्श—कर्णपूरण के सम्बन्ध में वाग्भट का आदेश—'धारयेत्पूरणं कर्णे कर्णमूलं बिमर्दयन्। रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने'॥ चरक ने (सू. ५ में) कुछ विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया है—'न कर्णरोगा वातोत्था न मन्याहनुसंग्रहः। नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णतर्पणात्'॥

अभ्यङ्गो मार्दवकरः कफवातनिरोधनः। धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः॥ ३०॥

अभ्यङ्ग के गुण—अभ्यङ्ग (Massage/'अभ्यङ्गोऽत्र सकलशरीरकर्णादिगतः स्नेहस्य सिरामुखादिभिः' –ड.) से शरीर में मृदुता (Softness) आती है। यह वात और कफ को प्रकुपित होने से रोकता है (Prevents aggravation)), शरीर की धातुओं (Tissues) को पोषण प्रदान करता है और इससे मृजा (शुद्धप्रभा = Lust), बल, वर्ण प्राप्त होता है॥ ३०॥

विमर्श—अभ्यंग—चरक के अनुसार—'भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा। तथा शरीरमभ्यङ्गात् दृढं सुत्वक् च जायते'॥ और भी—'त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः'। (उपाङ्गस्नेहदानात्, अक्षोरथस्य चक्रनिबन्धनकाष्ठम्'–च.पा.; च.सू. ५।८५) अर्थात् जैसे धुरी तैल लगाने से दृढ रहती है उसी प्रकार अभ्यंग से शरीर दृढ रहता है।

सेकः श्रमघ्नोऽनिलहृद्भग्नसन्धिप्रसाधकः। क्षताग्निदग्धाभिहतविघृष्टानां रुजापहः॥ ३१॥

परिषेक के लाभ—सेक (सर्वाङ्ग परिषेक) थकान (Fatigue) को दूर करता है, वातहर है, सन्धिभग्न (Dislocation) को ठीक करता है; क्षत (व्रण होना), अग्निदग्ध (Burns), अभिहत (चोट लगना) और घृष्ट (रगड़ लगना) से होने वाली वेदना को दूर करता है॥ ३१॥

जलसिक्तस्य वर्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरास्तरोः। तथा धातुविवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते॥ ३२॥

स्नेहन का लाभ—जिस प्रकार पानी से पौधे (वृक्ष) की जड़ को सींचने पर अंकुर निकल आते हैं (वृक्ष वृद्धि को प्राप्त होता है) उसी प्रकार शरीर को स्नेह से सिंचित करने पर उसकी धातुओं की वृद्धि होती है॥ ३२॥

सिरामुखै रोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयन्। शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने॥ ३३॥

स्नेहावगाहन—स्नेह में अवगाहन (अवगाहनं मज्जनम्/द्रोणी में—नौरिव काष्ठनिर्मिता—तैल भर कर उसमें बैठना या लेटना) करने से सिरामुखों, रोमकूपों (Roots of hairs)) तथा धमनियों (Capillaries) द्वारा तर्पण (Inducing nourishment) होने से शरीर में बलाधान होता है॥ ३३॥

तत्र प्रकृतिसात्म्यर्तुदेशदोषविकारवित्। तैलं घृतं वा मतिमान् युञ्ज्यादभ्यङ्गसेकयोः॥ ३४॥

परिषेक आदि के लिए ऋतु आदि का विचार—मतिमान् चिकित्सक रोगी की प्रकृति (Body constitution), सात्म्य (Habits), ऋतु (Season), देश (Place), दोष और रोग का विचार कर तैल या घृत का अभ्यंग एवं परिषेक के लिए उपयोग करे॥ ३४॥

केवलं सामदोषेषु न कथञ्चन योजयेत्। तरुणज्वर्यजीर्णी च नाभ्यक्तव्यौ कथञ्चन॥ ३५॥
तथा विरिक्तो वान्तश्च निरूढो यश्च मानवः। पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा॥ ३६॥
शेषाणां तदहः प्रोक्ता अग्निमान्द्यादयो गदाः। सन्तर्पणसमुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्॥ ३७॥

स्नेहन क्रिया (Oleation therapy) का निषेध—निम्नलिखित अवस्थाओं में स्नेहन क्रिया नहीं करनी चाहिए—१. दोषों की आमावस्था (कभी न करें), २. तरुण ज्वर (Acute fever/आसप्तरात्रं तरुणः ज्वरः), ३. अजीर्णी (Indigestion से पीड़ित); इन दोनों (तरुण ज्वरी और अजीर्णी) में कभी अभ्यंग न करे। ४. विरिक्त (जिसे विरेचन कराया गया हो), ५. वान्त (जिन्हें वमन कराया गया हो), ६. निरूढ (जिन्हें निरूहण बस्तियाँ दी गयी हों)। यदि पहली दो (तरुण ज्वर और अजीर्ण) व्याधियों में स्नेहन क्रिया की जाय तो ये कृच्छ्रता (कठिनाई) से ठीक होती हैं या ये असाध्य हो जाती हैं। शेष (विरिक्त, वान्त, निरूढ) व्यक्तियों में स्नेहन क्रिया से उसी दिन अग्निमान्द्यादि विकार हो जाते हैं। इसी प्रकार सन्तर्पण से उत्पन्न रोगों (Over natuition) से उत्पन्न में भी अभ्यंग-सेकादि नहीं करने चाहिए॥ ३५-३७॥

शरीरायासजननं कर्म व्यायामसंज्ञितम्। तत् कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समन्ततः॥ ३८॥

व्यायाम की परिभाषा—थकान लाने वाली शरीर की चेष्टाएँ 'व्यायाम' (Physical exercise) कहलाती हैं। व्यायाम के पश्चात् शरीर का सुखपूर्वक पूरी तरह मर्दन करना चाहिए॥ ३८॥

विमर्श—चरक के अनुसार व्यायाम की परिभाषा—'शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी। देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्'॥ (सू. ७।३१)

शरीरोपचयः कान्तिर्गात्राणां सुविभक्तता। दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा॥ ३९॥
श्रमक्लमपिपासोष्णशीतादीनां सहिष्णुता। आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते॥ ४०॥
न चास्ति सदृशं तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम्। न च व्यायामिनं मर्त्यमर्दयन्त्यरयो बलात्॥
न चैनं सहसाऽऽक्रम्य जरा समधिरोहति। स्थिरीभवति मांसं च व्यायामाभिरतस्य च॥ ४२॥

व्यायाम के गुण—व्यायाम से शरीरोपचय (सम्यक् पुष्टि = Bodily nourishment), कान्ति (Gracefulness), शरीर का समान रूप से विकास (सुघटितशरीरता इत्यर्थः/Symmetrical growth), जठराग्नि का दीप्त होना, अनालस्य (फुर्तीला होना/Agility), स्थिरता (Firmness), हलकापन (Lightness), मृजा (शुद्ध प्रभा = Lust), श्रम, क्लम (Weariness), प्यास, गर्मी और सर्दी को सहन करने की शक्ति प्राप्त होना तथा उत्कृष्ट आरोग्य (Sound health)। ये सभी व्यायाम करने से प्राप्त होते हैं॥ ३९-४०॥

व्यायाम का स्थौल्य में लाभ—इसी प्रकार स्थौल्य (मोटापा/Obesity) को कम करने का व्यायाम से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है और व्यायामी व्यक्ति को दुश्मन भी भय के मारे कुछ नहीं बिगाड़ सकता। ('शत्रवः यथा न च व्यायामिनम् अर्दयन्ति उद्वर्तनकारिणं जनं तथा व्याधयो न उपसर्पन्ति न अभिभवन्तीत्यर्थः')। व्यायाम करने वाले व्यक्ति को बुढ़ापा (Senility) सहसा नहीं आता है और उसके शरीर का मांस (मांसपेशियाँ) स्थिर (दृढ़, बलवान्, पुष्ट/'स्थिरीभवति मांसं चेति उपचयलक्षणस्यापि बलस्य हेतुरित्यर्थः') होता है॥ ४१-४२॥

व्यायामस्विन्नगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च। व्याधयो नोपसर्पन्ति सिंहं क्षुद्रमृगा इव॥ ४३॥

व्यायाम से व्याधियाँ दूर रहती हैं—व्यायाम से शरीर में पसीना आने पर ('क्षुण्णगात्रस्य' यह पाठ होने पर—शरीर के थक जाने पर) और पैरों का अभ्यंग कराने पर व्याधियाँ उसी प्रकार व्यायामी के समीप नहीं आती हैं जिस प्रकार क्षुद्र मृग (Weaker animals) शेर के पास नहीं आते हैं॥ ४३॥

वयोरूपगुणैर्हीनमपि कुर्यात् सुदर्शनम्। व्यायामं कुर्वतो नित्यं विरुद्धमपि भोजनम्॥ ४४॥
विदग्धमविदग्धं वा निर्दोषं परिपच्यते। व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम्॥

व्यायाम के लाभ—नित्य व्यायाम करने वाला व्यक्ति वय, रूप और गुणों से हीन हो तो भी सुन्दर दीखने लगता है तथा विरुद्ध आहार, विदग्ध या अविदग्ध आहार भी भली प्रकार पच जाता है। बलवान् तथा स्निग्ध आहार (Emollient diet) करने वाले व्यक्ति के लिए व्यायाम करना सदा पथ्य (Always beneficial) होता है॥ ४४-४५॥

विमर्श—'विरुद्धम् = हिताहितीयाध्यायोक्तम् (सू. २०), विदग्धम् = अम्लपाकता, अविदग्धम् = दग्धादन्यत्, तेनामं विदग्धं गृह्यते'।

स च शीते वसन्ते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः। सर्वेष्वृतुष्वहरहः पुम्भिरात्महितैषिभिः॥ ४६॥
बलस्यार्धेन कर्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा। हृदि स्थानस्थितो वायुर्यदा वक्त्रं प्रपद्यते॥ ४७॥
व्यायामं कुर्वतो जन्तोस्तद्बलार्धस्य लक्षणम्।

ऋतुओं के अनुसार व्यायाम—बलवान् और स्निग्धभोजी व्यक्तियों के लिए शीतर्तु (Winter) और वसन्तर्तु (Spring season) में व्यायाम करना नितान्त पथ्य (Beneficial) है। अपना हित चाहने वाले पुरुषों को प्रतिदिन सभी ऋतुओं में व्यायाम आधे बल तक करना चाहिए, अन्यथा व्यायाम हानिकर होता है।

बलार्ध का लक्षण—व्यायाम करते समय हृदय में स्थित प्राणवायु जब मनुष्य के मुख तक आ जाती है तो वह बलार्ध का लक्षण है॥ ४६-४७॥

विमर्श—मतान्तर से बलार्ध का लक्षण—'ललाटकक्षानासासु हस्तपादादिसन्धिषु। प्रस्वेदान्मुखशोषश्च बलार्धं तद्धि निर्दिशेत्'॥

वयोबलशरीराणि देशकालाशनानि च॥ ४८॥
समीक्ष्य कुर्याद्व्यायाममन्यथा रोगमाप्नुयात्।

व्यायाम करने में सावधानी—व्यायाम करने वाले को चाहिए कि वह अपनी आयु, बल (Strength), शरीर (Physique), देश (Country), काल (Season) और आहार (Diet) को ध्यान में रखकर व्यायाम करे। अन्यथा यह रोग उत्पन्न कर देता है॥ ४८॥

क्षयतृष्णारुचिच्छर्दिरक्तपित्तभ्रमक्लमाः ॥ ४९॥
कासशोषज्वरश्वासा अतिव्यायामसम्भवाः।

अतिव्यायाम से हानियाँ—अतिव्यायाम से निम्नलिखित रोग हो सकते हैं—क्षय (Consumption), प्यास, अरुचि (Anorexia), वमन, रक्तपित्त (Haemorrhagic disorders), भ्रम (Vertigo), क्लम (Fatigue), कास, शोष (Phthisis), ज्वर और श्वास (Asthma)—ये रोग अतिव्यायाम (Excessive physical exercise) से होना सम्भव है॥ ४९॥

रक्तपित्ती कृशः शोषी श्वासकासक्षतातुरः ॥ ५० ॥
भुक्तवान् स्त्रीषु च क्षीणस्तृड्भ्रमार्तश्च वर्जयेत्।

शारीर व्यायाम का निषेध (Contraindications)—रक्तपित्ती (Haemorragic diseases से पीड़ित), कृश (Cachexia से पीड़ित), शोष (Phthisis से पीड़ित), श्वास, कास और क्षय से ग्रस्त, भोजन के तुरन्त बाद, अतिमैथुन से क्षीण हुए व्यक्ति तथा तृषा एवं भ्रम से पीड़ित व्यक्तियों को शारीरिक व्यायाम नहीं करना चाहिए॥ ५०॥

विमर्श—चरक (सू. ७) ने जिनके अतिसेवन को निषिद्ध बताया है उनमें व्यायाम का प्रथम स्थान है—'व्यायामहास्यभाष्याध्वग्राम्यधर्मप्रजागरान्। नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया'॥

उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम् ॥ ५१ ॥
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्।

उद्वर्तन के लाभ—उद्वर्तन (उद्वर्तनं चात्र प्रविलापनीयविम्लापनकरम्/उबटन लगाना/Massage by medicated pastes) वातहर है, कफ और मेद को विलीन करता है, अंगों को स्थिर करता है और त्वचा को उत्तम बनाता है॥ ५१॥

सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम् ॥ ५२ ॥
उद्घर्षणोत्सादनाभ्यां जायेयातामसंशयम्। उत्सादनाद्भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कान्तिमद्वपुः ॥ ५३ ॥
प्रहर्षसौभाग्यमृजालाघवादिगुणान्वितम्। उद्घर्षणं तु विज्ञेयं कण्डूकोठानिलापहम् ॥ ५४ ॥

उद्घर्षण के लाभ—उद्घर्षण (औषध चूर्ण से रगड़ना) और उत्सादन (स्नेह युक्त औषधचूर्ण से रगड़ना) से निश्चित रूप से वाहिनियों के मुख (Pores of vessels) विस्तृत होते हैं तथा त्वचा में स्थित (भ्राजक नामक) अग्नि उत्तेजित होती है।

उत्सादन के लाभ—उत्सादन से स्त्रियों का शरीर विशेषरूप से कान्तिमान् (Graceful) होता है तथा प्रहर्ष (प्रसन्नता), सौभाग्य (Good luck), मृजा (शुभप्रभा/Cleanliness), लाघव (हलकापन) आदि गुणों से युक्त होता है। उद्घर्षण कण्डू (Itching), कोठ (Erythematous patches) और वायु को नष्ट करता है॥ ५२-५४॥

विमर्श—'मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च। उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते॥ क्षणिकोत्पादविनाशः कोठः इति निगद्यते तज्ज्ञैः। सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते। सानुबन्धता च पुनःपुनर्भवनम्'। (श्रीकण्ठदत्तः)।

ऊर्वोः सञ्जनयत्याशु फेनकः स्थैर्यलाघवे। कण्डूकोठानिलस्तम्भमलरोगापहश्च सः ॥ ५५ ॥

फेनकोद्वर्तन के लाभ—फेनक (रीठा) से उद्वर्तन करने से दोनों टाँगें (ऊरुः, 'जंघा' इति लोके) दृढ तथा लघु होती है (लघु अर्थात् हलकी लगने लगती है) और कण्डू, कोठ, अनिलस्तम्भ (वायु के कारण होने वाली जकड़ाहट), शरीर मल तथा त्वक्गत रोग दूर होते हैं॥ ५५॥

तेजनं त्वग्गतस्याग्नेः सिरामुखविरेचनम्। उद्घर्षणं त्विष्टिकया कण्डूकोठविनाशनम् ॥ ५६ ॥

इष्टिकोद्घर्षण के लाभ—ईंट (इष्टिका) से रगड़ने से त्वचा में स्थित (भ्राजक नामक) अग्नि तेज होती है, सिरामुखों से दोषों का रेचन होता है तथा कण्डू और कोठ नष्ट होते हैं॥ ५६॥

निद्रादाहश्रमहरं स्वेदकण्डूतृषापहम्। हृद्यं मलहरं श्रेष्ठं सर्वेन्द्रियविबोधनम्॥ ५७॥
तन्द्रापाप्मोपशमनं तुष्टिदं पुंस्त्ववर्धनम्। रक्तप्रसादनं चापि स्नानमग्नेश्च दीपनम्॥ ५८॥

स्नान (Bath) **के गुण**—स्नान नींद, दाह और श्रम को दूर करता है; पसीना, कण्डू (खुजली) और प्यास को मिटाता है, हृद्य है, मलहर है तथा सभी इन्द्रियों के जागरण में श्रेष्ठ है। यह तन्द्रा (Drowsiness) तथा पाप (बुरे विचारों) का शमन करता है। स्नान से मन प्रसन्न होता है, पुंस्त्व (Sexual virility) को बढ़ाता है। इससे रक्त की शुद्धि होती है और यह अग्निदीपन करता है॥ ५७-५८॥

उष्णेन शिरसः स्नानमहितं चक्षुषः सदा। शीतेन शिरसः स्नानं चक्षुष्यमिति निर्दिशेत्॥ ५९॥

उष्णोदक का निषेध—शिर को गरम जल से धोना नेत्रों के लिए सदा अहितकर होता है और शीतल जल से शिर:स्नान नेत्रों के लिए हितकर है॥ ५९॥

श्लेष्ममारुतकोपे तु ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम्। काममुष्णं शिरःस्नानं भैषज्यार्थं समाचरेत्॥ ६०॥

उष्ण जल से शिरःस्नान—यदि कफ और वायु का प्रकोप हो तो व्याधि के बलाबल का विचार कर औषध के रूप में (As a therapeutic measure) उष्ण जल से शिर को धोया जा सकता है॥ ६०॥

अतिशीताम्बु शीते च श्लेष्ममारुतकोपनम्। अत्युष्णमुष्णकाले च पित्तशोणितवर्धनम्॥ ६१॥

अति शीतल जलस्नान से हानि—शीतर्तु में अतिशीतल जल कफ-वात प्रकोपक होता है और उष्णर्तु में अत्युष्ण जल के प्रयोग से पित्त तथा रक्त की वृद्धि (कुपित) होती है॥ ६१॥

तच्चातिसारज्वरितकर्णशूलानिलार्तिषु। आध्मानारोचकाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम्॥ ६२॥

स्नान का निषेध—अतिसार, ज्वर, कर्णशूल, वातविकार, आध्मान (Tympanitis), अरोचक (Anorexia), अजीर्ण (Indigestion) में और भोजन के तुरन्त बाद स्नान करना निन्दित है॥ ६२॥

सौभाग्यदं वर्णकरं प्रीत्योजोबलवर्धनम्। स्वेददौर्गन्ध्यवैवर्ण्यश्रमघ्नमनुलेपनम्॥ ६३॥
स्नानं येषां निषिद्धं तु तेषामप्यनुलेपनम्।

अनुलेपन (Anointing) **के गुण**—अनुलेपन सौभाग्य (Good luck) लाता है, रंग का निखार (Fair complexion) लाता है, मन प्रसन्न रहता है, ओज तथा बल बढ़ते हैं, पसीने की दुर्गन्ध (Bad odour) दूर होती है, विवर्णता (Discolouration) ठीक होती है और श्रम (थकान/Fatigue) भी नहीं रहता है। जिन व्यक्तियों में स्नान का निषेध है उनमें अनुलेपन भी निषिद्ध है॥ ६३॥

रक्षोघ्नमथ चौजस्यं सौभाग्यकरमुत्तमम्॥ ६४॥
सुमनोऽम्बररत्नानां धारणं प्रीतिवर्धनम्।

फूल, वस्त्र और रत्नधारण के गुण—फूल, वस्त्र और रत्न (Gems) को धारण करने से दुष्ट आत्माओं (Evil spirits) का प्रभाव नहीं होता है, ओज की वृद्धि होती है, अच्छे भाग्य की प्राप्ति होती है और परस्पर स्नेह बढ़ता है॥ ६४॥

मुखालेपाद्दृढं चक्षुः पीनगण्डं तथाऽऽननम्॥ ६५॥
अव्यङ्गपिडकं कान्तं भवत्यम्बुजसन्निभम्।

मुख-आलेपन के लाभ—मुख पर आलेप (Anointing) करने से नेत्र दृढ़ होते है, चेहरा और गण्ड (कपोल/Cheeks) पुष्ट होते हैं, चेहरे पर व्यंग (Pimples) और पिडकाएँ (Boils) नहीं होती हैं तथा चेहरा कमल की तरह सुन्दर (कमनीय, मनोहर/Charming) हो जाता है॥ ६५॥

पक्ष्मलं विशदं कान्तममलोज्ज्वलमण्डलम्॥ ६६॥
नेत्रमञ्जनसंयोगाद्भवेच्चामलतारकम्।

अञ्जन (Collyrium) **के गुण**—नेत्रों में अंजन लगाने से पलकों के बाल (Eye lashes) घने और बड़े होते हैं, नेत्र सुन्दर, अक्षिगोलक उज्ज्वल और मलरहित तथा नेत्रतारक (Pupils) स्वच्छ रहते हैं॥ ६६॥

यशस्यं स्वर्ग्यमायुष्यं धनधान्यविवर्धनम्॥ ६७॥
देवतातिथिविप्राणां पूजनं गोत्रवर्धनम्।

देवादि में श्रद्धा के लाभ—देवता, अतिथि और विप्रों के पूजन से यशोलाभ, स्वर्गप्राप्ति, दीर्घ आयु, धन-धान्य में वृद्धि और गोत्र में बढ़ोत्तरी (Perpetuation of the lineage) होती है॥ ६७॥

आहारः प्रीणनः सद्यो बलकृद्देहधारकः॥ ६८॥
आयुस्तेजःसमुत्साहस्मृत्योजोऽग्निविवर्धनः ।

आहार (Food) **के गुण**—आहार पोषण (Nourishment) प्रदान करने वाला, तुरन्त बलवर्धक और शरीर को धारण (Support to the body) करने वाला होता है तथा आयु (Expectancy of life), तेज, उत्साह (Enthusiasm) , स्मृति, ओज और अग्नि (Digestive capacity) को बढ़ाता है॥ ६८॥

विमर्श—चरक (सू. २७।३५१) अन्न के महत्त्व के सम्बन्ध में कहते हैं—'प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति। वर्णप्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभासुखम्' ॥

पादप्रक्षालनं पादमलरोगश्रमापहम्॥ ६९॥
चक्षुःप्रसादनं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम्।

पाद-प्रक्षालन—पैरों का प्रक्षालन (Washing of feet) से पैरों की मैल, रोग और थकान दूर होते हैं। इससे नेत्रदृष्टि स्वच्छ होती है (चक्षुःप्रसादनं = दृष्टिप्रसादनम्, दृष्टिसंयुक्तपादनिबन्धननाडीप्रसादत्वात्)। यह वृष्य, रक्षोघ्न और प्रीतिवर्धक भी है॥ ६९॥

निद्राकरो देहसुखश्चक्षुष्यः श्रमसुप्तिनुत्॥ ७०॥
पादत्वङ्मृदुकारी च पादाभ्यङ्गः सदा हितः।

पैरों का अभ्यङ्ग (Massage of the feet)—पैरों का अभ्यंग (मालिश) करने से यह नींद लाता है, शरीर को सुख मिलता है, चक्षुष्य (नेत्रों को हितकर) है, थकान और सुन्नपन (Numbness) को दूर करता है। इससे पैरों की त्वचा नरम होती है। इस प्रकार पादाभ्यंग सदा हितकारी है॥ ७०॥

पादरोगहरं वृष्यं रक्षोघ्नं प्रीतिवर्धनम्॥ ७१॥
सुखप्रचारमौजस्यं सदा पादत्रधारणम्। अनारोग्यमनायुष्यं चक्षुषोरुपघातकृत्॥ ७२॥
पादाभ्यामनुपानद्भ्यां सदा चङ्क्रमणं नृणाम्।

पादत्र धारण (Use of shoes)—यह (जूता पहनना) पैरों को रोगों से बचाता है, वृष्य है, भूतों (रोगोत्पादक जीवाणुओं) से पैरों की रक्षा करता है, प्रीति (प्रसन्नता) को बढ़ाता है। इससे चलने-फिरने में सुख मिलता है और ओजोवर्धक है। अतः पादत्र को (पादौ त्रायति रक्षतीति) सदा धारण करना चाहिए। जूते पहने बिना घूमना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक, आयु के लिए अहितकर और नेत्रों को सदा कष्ट पहुँचाने वाला होता है॥ ७१-७२॥

पाप्मोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्॥ ७३॥
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम् ।

रोमापमार्जन के लाभ—शिर के बाल, नाखून और दाढ़ी के बालों को कटवाते रहना पापों (रोगादि) का शमन करता है तथा प्रसन्नता, शरीर में हलकापन तथा सौभाग्य लाता है एवं उत्साह की वृद्धि करता है॥ ७३॥

बाणवारं मृजावर्णतेजोबलविवर्धनम्।। ७४।।

बाणवार का लाभ—बाणवार (वर्म/Armour) को धारण करने से शरीर की स्वच्छता, रूप (Complexion) में वृद्धि, तेज और बल की वृद्धि होती है।। ७४।।

विमर्श—जूता पहने बिना घूमने-फिरने से 'हुकवर्म-संक्रमण' होना सम्भव है। बाल-नाखून कटवाने के सम्बन्ध में चरक वाक्य—'त्रिःपक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहारयेत्' (सू. ८)। सुश्रुत ने शल्यहर्ता को 'क्लृप्तनखः' होना बताया है।

पवित्रं केश्यमुष्णीषं वातातपरजोऽपहम्।

पगड़ी के लाभ—उष्णीष (Turban) धारण करना बालों के लिए हितकर एवं पवित्र है तथा इससे तीव्र वात, तीव्र धूप और धूल से सुरक्षा होती है।

वर्षानिलरजोघर्महिमादीनां निवारणम्।। ७५।।
वर्ण्यं चक्षुष्यमौजस्यं शङ्करं छत्रधारणम्।

छत्र-धारण का लाभ—छत्र (Umbrella) धारण करने से वर्षा, तेज वायु, धूल, गरमी (धूप), हिमपात आदि से बचाव होता है। इसी प्रकार छत्रधारण वर्ण के लिए हितकर (सूर्य की किरणों से त्वचा विवर्ण नहीं होती है), नेत्रों के लिए लाभकर (धूल आदि के आँखों में गिरने से बचाना), ओजोवर्धक और कल्याणकारी (सुख देने वाला) है।। ७५।।

विमर्श—छत्रधारण के सम्बन्ध में चरक का कथन—'ईतेर्विधमनं बल्यं गुप्त्यावरणशङ्करम्। घर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते'।। (सू. ५)

शुनः सरीसृपव्यालविषाणिभ्यो भयापहम्।। ७६।।
श्रमस्खलनदोषघ्नं स्थविरे च प्रशस्यते । सत्त्वोत्साहबलस्थैर्यधैर्यवीर्यविवर्धनम्।। ७७।।
अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम्।

दण्डधारण का लाभ—दण्ड (Stick) धारण कुत्ता, साँप, व्याल (व्याघ्रादयः), सींगवाले प्राणी—इनके भय को मिटाता है तथा थकान और गिरने से बचाता है। इसी प्रकार वृद्धावस्था में दण्डधारण सत्त्वगुण, उत्साह (बल), बल (तेज), स्थैर्य (धीरता), वीर्य (शक्ति)—इनको बढ़ाता है। इस आयु में (यह विशेष रूप से) अवष्टम्भन (अवलम्बन/सहारा) होता है और दण्डधारण भयघ्न (कुत्ते आदि के भय को नष्ट करने वाला) है।। ७६-७७।।

विमर्श—चरक (सू. ५) में दण्डधारण के गुण—'स्खलतः सम्प्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम्। अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम्'।।

आस्या वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यकरी सुखा।। ७८।।

निरन्तर बैठे रहना हानिकर—आस्या (स्थितिः/Sitting comfortably/बैठे रहना) से शरीर का रंग विवर्ण नहीं होता, कफ की वृद्धि होती है, शरीर में स्थूलता (Obesity) आती है और शरीर को कोमल बनाता है तथा सुखकर है।। ७८।।

अध्वा वर्णकफस्थौल्यसौकुमार्यविनाशनः। अत्यध्वा विपरीतोऽस्माज्जरादौर्बल्यकृच्च सः।।

अधिक चलने से हानि—अध्वा (मार्गगमनम्/Walking) वर्ण, कफ, मोटापा और शरीर की सुकुमारता को नष्ट करता है। अत्यध्वा (अधिक चलने से) से इसके विपरीत जरा (बुढ़ापा) और दुर्बलता आती है।। ७९।।

यत्तु चङ्क्रमणं नातिदेहपीडाकरं भवेत् । तदायुर्बलमेधाग्निप्रदमिन्द्रियबोधनम्।। ८०।।

चंक्रमण के लाभ—चंक्रमण ('कुटिलगत्या परिभ्रमणम्') अर्थात् चहलकदमी करना जिससे शरीर को पीड़ा न हो, वह आयु, बल, मेधा शक्ति तथा जठराग्नि की वृद्धि करता है और इन्द्रियों को जागृत करता है॥ ८०॥

श्रमानिलहरं वृष्यं पुष्टिनिद्राधृतिप्रदम्। सुखं शय्यासनं दुःखं विपरीतगुणं मतम्॥ ८१॥

शय्यासन के लाभ—सोने के लिए अच्छी सुखप्रद शय्या ('सुखं शय्यासनं विस्तृतमास्तीर्णमुद्गगण्डोपधानादि युतम्'/Sleeping on a comfortable bed) थकान और वातविकारों को मिटाती है, वृष्य है, शरीर को पुष्टि, नींद तथा धृति (Power of indurance) प्रदान करती है। दुःखप्रद (संकोच्यासनम्) शय्या के गुण इससे विपरीत होते हैं॥ ८१॥

बालव्यजनमौजस्यं मक्षिकादीनपोहति । शोषदाहश्रमस्वेदमूर्च्छाघ्नो व्यजनानिलः॥ ८२॥

बालव्यजन के लाभ—बालव्यजन (बालों का बना पंखा, चौरी आदि) से हवा करना ओजोवर्धक है, मक्खियाँ आदि को भगाने वाला है और पंखे की हवा शोष, दाह, थकान, पसीना तथा मूर्च्छा को दूर करती है॥ ८२॥

प्रीतिनिद्राकरं वृष्यं कफवातश्रमापहम् । संवाहनं मांसरक्तत्वक्प्रसादकरं सुखम्॥ ८३॥

संवाहन के लाभ—संवाहन (सुखकरं स्पर्शनम्/Gentle massage/हाथों से धीरे-धीरे टाँगें आदि दबाना) प्रीति और नींद लाता है, वृष्य है, कफ-वात और श्रम को दूर करता है तथा मांस, रक्त एवं त्वचा को पुष्ट बनाता है तथा प्रसन्नता लाता है॥ ८३॥

प्रवातं रौक्ष्यवैवर्ण्यस्तम्भकृद्दाहपक्तिनुत् । स्वेदमूर्च्छापिपासाघ्नमप्रवातमतोऽन्यथा॥ ८४॥
सुखं वातं प्रसेवेत ग्रीष्मे शरदि मानवः। निवातं ह्यायुषे सेव्यमारोग्याय च सर्वदा॥ ८५॥

प्रवात का प्रभाव (Effect of the wind)—यह रूक्षता (Dryness), विवर्णता (Discolouration) और शरीर में जकड़ाहट (स्तम्भ/Rigidity) लाता है, दाह (Burning sensation) तथा पक्ति (पाचन/Digestion) को रोकता है, पसीना, बेहोशी और प्यास को दूर करता है। अप्रवात (Gentle wind) का प्रभाव इससे विपरीत होता है। ग्रीष्म (Summer) तथा शरद् (Autumn) ऋतु में सुखकर वात का सेवन करना चाहिए तथा मनुष्य को लम्बी आयु और नीरोगता के लिए वहाँ रहना चाहिए जहाँ तेज हवाएँ न चलती हों॥ ८४-८५॥

आतपः पित्ततृष्णाग्निस्वेदमूर्च्छाभ्रमास्रकृत्। दाहवैवर्ण्यकारी च छाया चैतानपोहति॥ ८६॥

धूप (आतप) का प्रभाव—तेज धूप के सेवन से पित्त, प्यास, अग्नि, स्वेद, मूर्च्छा, भ्रम और रक्त (विकार) की वृद्धि होती है। यह दाह और त्वचा में विवर्णता लाता है। छाया (Shade) में रहने से इससे विपरीत प्रभाव होता है॥ ८६॥

अग्निर्वातकफस्तम्भशीतवेपथुनाशनः । आमाभिष्यन्दजरणो रक्तपित्तप्रदूषणः॥ ८७॥

आग तापने (Basking in the glare of fire) **के लाभ**—यह वात, कफ, शरीर की जकड़ाहट (Stiffness), शीत तथा कम्प को नष्ट करता है। इसी प्रकार आमावस्था और अभिष्यन्द (स्रोतोरोध) को दूर करता (जलाता) है तथा रक्त-पित्त का प्रदूषक है॥ ८७॥

पुष्टिवर्णबलोत्साहमग्निदीप्तिमतन्द्रिताम्। करोति धातुसाम्यं च निद्रा काले निषेविता॥ ८८॥

समुचित निद्रा का लाभ—निद्रा का समुचित समय पर सेवन करने से पुष्टि (Proper nourishment), वर्ण (Complexion), बल (Strength), उत्साह (Enthusiasm), अग्नि का दीप्त होना और तन्द्रा (Drowsines) का न रहना आदि होते हैं तथा शरीर में धातुओं की समता (Equilibrium among the tissues) बनी रहती है॥ ८८॥

तत्रादित एव नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा लघूष्णीषच्छत्रोपानत्केन दण्डपाणिना काले हितमितमधुरपूर्वाभिभाषिणा बन्धुभूतेन भूतानां गुरुवृद्धानुमतेन सुसहायेनानन्यमनसा खलूपचरितव्यं, तदपि न रात्रौ, न केशास्थिकण्टकाश्मतुषभस्मोत्करकपालाङ्गारामेध्यस्नानबलिभूमिषु, न विषमेन्द्रकीलचतुष्पथश्वभ्राणामुपरिष्टात्॥ ८९॥

सामान्य सद्वृत्त (General ethics)—मनुष्य को आरम्भ से ही नाखूनों और बालों को कटवा के रखना चाहिए। शुचि अर्थात् साफ-स्वच्छ (Hygenic) रहे, शुक्ल वस्त्र धारण करे और उसे छोटी पगड़ी (Turban), छत्र तथा जूते पहनने चाहिए। इसी प्रकार हाथ में दण्ड धारण करे, समय पर (At a appropriate moment) हितकर, थोड़ा और मधुर वाणी में बोले तथा उसे किसी के मिलने पर पहले बोलना चाहिए (First to wish)। उसे सभी से बान्धवों जैसा व्यवहार करना चाहिए। गुरुजन एवं वृद्ध व्यक्तियों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, सफर में सहायक साथ में होना चाहिए और एकचित्त होकर चलना चाहिए। रात्रि में सफर न करे और न ही केश, अस्थि, काँटे, पत्थर, तुष (Chaff), भस्म, उत्कर (कूड़े-कर्कट पर), मिट्टी के ठीकरे, अंगार, बीभत्स स्थल (गन्दी जगह), स्नानभूमि, बलिभूमि आदि स्थानों पर विचरण करें और न इनके ऊपर से जाये। इसी प्रकार विषम स्थल, इन्द्रकील (इन्द्रकीलो भासन्ते यस्मिन् देशे स प्रदेशः इन्द्रकीलः/Place where the sacrificial post is fixed), चतुष्पथ (मार्गचतुष्टयसंयोगः/चौराहा/Crossings) तथा श्वभ्र (गर्तः/गढा/Pit) इनके ऊपर से न लांघें॥ ८९॥

न राजद्विष्टपरुषपैशुन्यानृतानि वदेत्, न देवब्राह्मणपितृपरिवादांश्च; न नरेन्द्रद्विष्टोन्मत्तपतितक्षुद्रनीचानुपासीत॥ ९०॥

राजद्वेष आदि से बचना—राजा के विरुद्ध, कठोर (Harsh) शब्द, चुगली (पैशुन्य, सूचकता) और झूठ (Untruth) न बोले। देव, ब्राह्मण और पूर्वजों (Ancestors) की आलोचना (Criticism/परिवादः =दोषकथनम्) न करे। इसी प्रकार राजा के दुश्मनों, उन्मत्त (वातूलः/Insane), पतित (स्वकीय धर्म से भ्रष्ट), क्षुद्र (Mean) और निम्न श्रेणी के कार्य करने वालों के साथ न रहे॥ ९०॥

वृक्षपर्वतप्रपातविषमवल्मीकदुष्टवाजिकुञ्जराद्यधिरोहणानि परिहरेत्, पूर्णनदीसमुद्राविदितपल्वलश्वभ्रकूपावतरणानि, भिन्नशून्यागारश्मशानविजनारण्यवासाग्निसम्भ्रमव्यालभुजङ्गकीटसेवाश्च, ग्रामाघातकलहशस्त्रसन्निपातव्यालसरीसृपशृङ्गिसन्निकर्षांश्च॥ ९१॥

वृक्षारोहणादि का निषेध—वृक्ष, पर्वत, प्रपात (निर्झरपतनम्/Falls), विषमस्थल (टेढ़ी-मेढ़ी जगह/Uneven land), वमी (Ant-hills), बिगडैल (Wicked) घोड़ा और हाथी इन पर न चढ़े। बाढ़ आई हुई नदी, समुद्र, तालाब जिसके बारे में जानकारी न हो, गढा (Pits) और कुआँ इनमें न उतरे। इसी प्रकार शून्यागार जो टूटा-फूटा हो (Dilapidated vacant home), श्मशान स्थल, निर्जन जगह, जंगल में निवास, अग्निसम्भ्रम (उत्पातप्रदीप्तिः/जिस अग्नि से लपटें निकल रही हों), व्याल (व्याघ्रादि जंगली जानवर), सर्प, वृश्चिकादि कीट, इनके समीप नहीं जाना चाहिए। ग्रामाघात (मारीभयजन्य-ग्रामहननम्/Epidemic outbreakes/जिस गाँव में महामारी फैली हो), जहाँ कलह (Quarrelling) हों, अग्नि, शस्त्रसंघर्ष हो, काला साँप (व्यालः पुंसि श्वापदसर्पयोः'-अ.को.) तथा सींगवाले पशु जहाँ हों वहाँ (समीप में) नहीं जाना चाहिए॥ ९१॥

नाग्निगोगुरुब्राह्मणप्रेङ्खादम्पत्यन्तरेण यायात्। न शवमनुयायात्। देवगोब्राह्मणचैत्यध्वजरोगिपतितपापकारिणां च छायां नाक्रमेत। नास्तं गच्छन्तमुद्यन्तं वाऽऽदित्यं वीक्षेत। गां धापयन्तीं धयन्तीं परशस्यं वा चरन्तीं न कस्मैचिदाचक्षीत, न चोल्कापातोत्पातेन्द्रधनूंषि। नाग्निं मुखेनोपधमेत्। नापो भूमिं वा पाणिपादेनाभिहन्यात्॥ ९२॥

अग्नि, गौ आदि के सम्बन्ध में उपदेश—आग, गौ, गुरु, ब्राह्मण, प्रेङ्खा (हिंडोला/'प्रेङ्खा दोलादिकास्त्रियाम्'–अ. को.) और दम्पती (पति-पत्नी/जायापती) के बीच में से नहीं निकलना चाहिए। शव (मृत शरीर) के पीछे भी न चले। देवता, गौ, ब्राह्मण, चैत्य (श्मशानवृक्षः/'चैत्यमायतनं तुल्ये'–अ.को. के अनुसार चैत्य = यज्ञशाला), ध्वज, रोगी, पतित (धर्मभ्रष्ट) और पापकर्मी इनकी छाया को नहीं लाँघना चाहिए। अस्त होते और उदय होते सूर्य को न देखें। यदि गाय अपने बछड़े को दूध पिला रही हो (Suckling her calf)) या किसी का रखा जलादि पी रही हो या किसी की धान की खेती को उजाड़ रही हो तो किसी से न कहे और न उल्कापात (आकाशात् ज्वलदग्निपातः/Shooting of stars) और उत्पात तथा इन्द्रधनुष के बारे में किसी को कुछ बताये ('उत्पात' इति पाठान्तरे उत्पाताः दिव्यभौमान्तरिक्षास्त्रयः। तत्र दिव्याः = प्रतिभारोहणगन्धर्वनगरदर्शनादिकाः, भौमाः = भूकम्पप्रभृतयः, आन्तरिक्षाः = पानीयतिमिरपरिखादयः'), न फूँक मार कर आग जलावे और न पानी तथा भूमि को पैरों एवं हाथों से पीटे॥ ९२॥

न वेगान् धारयेद् वातमूत्रपुरीषादीनाम्। न बहिर्वेगान् ग्रामनगरदेवतायतनश्मशानचतुष्पथसलिलाशयपथिसन्निकृष्टानुत्सृजेन्न प्रकाशं, न वाय्वग्निसलिलसोमार्कगोगुरुप्रतिमुखम्॥ ९३॥

वेगधारण आदि का निषेध—प्राकृतिक (स्वाभाविक) वेगों (Natural urges) जैसे वात, मूत्र, पुरीषादि को न रोके। बहिर्वेगों (वातमूत्रपुरीषादीनाम्) का ग्राम, नगर, देवस्थान, श्मशानभूमि, चौराहा (Crossings), जलाशय (Ponds) और मार्ग के समीप विसर्जन (त्याग) न करे। इसी प्रकार वायु, अग्नि, पानी, चन्द्रमा, सूर्य, गौ, गुरु—इनकी ओर को मुखकर मल-मूत्रादि का त्याग न करें॥ ९३॥

न भूमिं विलिखेत्। नासंवृतमुखः सदसि जृम्भोद्गारकासश्वासक्षवथूनुत्सृजेत्। न पर्यङ्किकावष्टम्भपादप्रसारणानि गुरुसन्निधौ कुर्यात्॥ ९४॥

भूमिविलेखनादि का निषेध—भूमि को न खुरचें और न सभा में मुख को बिना ढके जम्भाई (Yawning), उद्गार (Eructation/डकार लेना), श्वास (गहरा साँस), कास और छींकना जैसे काम करे। इसी प्रकार गुरु के समीप पर्यङ्किकावष्टम्भ (पर्यङ्किका = खाट और अवष्टम्भ = खम्बे आदि का सहारा लेकर बैठना) तथा टाँगें फैलाकर बैठना नहीं चाहिए॥ ९४॥

न बालकर्णनासास्रोतोदशनाक्षिविवराण्यभिकुष्णीयात्। न वीजयेत् केशमुखनखवस्त्रगात्राणि। न गात्रनखवक्त्रवादित्रं कुर्यात्। न काष्ठलोष्ठतृणादीनभिहन्याच्छिन्द्याद्भिन्द्याद्वा॥ ९५॥

बाल, कानादि के कुरेदने का निषेध—बाल (Hairs), कान, नाक, स्रोत (स्रोतांसि मूत्रपुरीषादीनाम्), नेत्र और दाँत इनके विवरों (छिद्राणि) को न कुरेदें; केश, मुख, नख, वस्त्र और शरीर को झटका नहीं देना चाहिए (Should not shake)। इसी प्रकार शरीर, नाखून और मुख को न बजायें (बाजे की तरह प्रयुक्त न करें/Should not make sound) और लकड़ी, पत्थर, तिनके आदि से आवाज न करें, न इनके टुकड़े-टुकड़े करें और न इनको चीरें॥ ९५॥

न प्रतिवातातपं सेवेत। न भुक्तमात्रोऽग्निमुपासीत। नोत्कटकाल्पकाष्ठासनमध्यासीत। न ग्रीवां विषमं धारयेत्। न विषमकायः क्रियां भजेत् भुञ्जीत वा। न प्रततमीक्षेत विशेषाज्ज्योतिर्भास्करसूक्ष्मचलभ्रान्तानि। न भारं शिरसा वहेत्। न स्वप्नजागरणशयनासनस्थानचङ्क्रमणयानवाहनप्रधावनलङ्घनप्लवनप्रतरणहास्यभाष्यव्यवायव्यायामादीनुचितानप्यतिसेवेत॥ ९६॥

प्रतिवातातपादि का निषेध—हवा और सूर्य का सामने से (Directly facing them) सेवन न करें। भोजन के तुरन्त पश्चात् आग न तापें। उकडू (Squatting) न बैठें और न काष्ठनिर्मित नीचे (Low) आसन पर बैठें। ग्रीवा को अस्वाभाविक आसन (Uneven posture) में नहीं रखना चाहिए। इसी प्रकार अस्वाभाविक आसन में (शरीर को अस्वाभाविक रूप से मोड़कर) न कोई कार्य करना चाहिए और न

भोजन ही करें। आँखें फैलाकर लगातार न देखें; विशेषकर अग्निशिखा, सूर्य, अतिसूक्ष्म वस्तु, तेजी से चलती हुई भ्रान्त चीजों को। भार (बोझे) को शिर पर रख कर न ढोयें।

अतिसेवन का निषेध—उचित होते हुए भी निम्नलिखित का अतिसेवन न करें—नींद, जागना, लेटे रहना, बैठे रहना, खड़े रहना, टहलना, घोड़ा-गाड़ी आदि की सवारी, दौड़ना, लंघन करना, छलांग लगाना, तैरना, हँसना, बोलना, मैथुन एवं व्यायाम आदि॥ ९६॥

उचितादप्यहितात् क्रमशो विरमेत्, हितमनुचितमप्यासेवेत क्रमशः, न चैकान्ततः पादहीनात्॥

सहसा ग्रहण और त्याग हानिकारक—यदि आहारादि कोई वस्तु उचित होते हुए भी अहितकर है तो उसका शनैः-शनैः परित्याग करें। अनुचित और हितकर है तो उसका सेवन भी शनैः शनैः करे (सहसा ग्रहण और सहसा त्याग हानिकर होता है, 'सहसा परिवर्तने रोगो मरणं वा') पर यह ग्रहण और परित्याग पादक्रम (पादहीन या पादग्रहण) से होना चाहिए॥ ९७॥

विमर्श—पादहीनात् अर्थात् यदि किसी अहितकर भोजनादि का परित्याग करना हो तो चतुर्थांश या षोडशांश का क्रमशः परित्याग करें, सहसा नहीं। इसी प्रकार ग्रहण की जाने वाली वस्तुओं का भी चतुर्थांश या षोडशांश का ग्रहण क्रमशः करना चाहिए। इस सम्बन्ध में चरक का एक प्रसिद्ध श्लोक इस प्रकार है—'····क्रमश्चात्रोपदेश्यते। प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्। एकान्तरन्ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा'॥ (सू. ७।३७)

नावाक्शिराः शयीत। न भिन्नपात्रे भुञ्जीत, न विना पात्रेण, नाञ्जलिपुटेनापः पिबेत्। काले हितमितस्निग्धमधुरप्रायमाहारं वैद्यप्रत्यवेक्षितमश्नीयात्, ग्रामगणगणिकापणिकशत्रुसत्रशठपतित-भोजनानि परिहरेत्, शेषाण्यपि चानिष्टरूपरसगन्धस्पर्शशब्दमानसानि, अन्यान्येवं गुणान्यपि वा सम्भ्रमदत्तानि, (तान्यपि) मक्षिकाबालोपहतानि, नाप्रक्षालितपाणिपादो भुञ्जीत, न मूत्रोच्चारपीडितः, न सन्ध्ययोर्नानुपाश्रितो नातीतकालं हीनमतिमात्रं (नोद्धृतस्नेहं) चेति॥ ९८॥

आवाक्शिरःशयनादि का निषेध—शिर नीचे को कर (Head downwards) न सोवे। टूटे-फूटे बर्तन में भोजन न करे तथा पात्र के बिना और अञ्जलिपुट (ओख) से जल न पीवे। ठीक समय पर हितकर, परिमित मात्रा (Moderate amount) में, स्निग्ध और प्रायः मधुर तथा जिसका चिकित्सक ने निरीक्षण कर लियां (Inspected by the physician) हो, ऐसा आहार करें। इसी प्रकार ग्रामभोजन ('ग्रामस्थाः सर्वे मिलित्वा क्वचित् किञ्चित् भोजनं सम्पादयन्ति तत् ग्रामभोजनम्'–ड.) तथा गण ('रथकारचारणादयः'), गणिका (वेश्या), पणिक (इतरवणिक्/Dishonest trader), दुश्मन, सत्र (यज्ञ में पशुवध पर), शठ (स्वकीयाचारभ्रष्ट/धूर्त) और नीच व्यक्तियों द्वारा दिया गया आहार नहीं करना चाहिए (ऐसे आहार का परित्याग करे), अन्य प्रकार के आहार भी जिनका रूप (Appearance), रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द अच्छे न हों तथा जो मन को अप्रिय लगते हों (Repungnant to the mind) और इसी तरह के अन्य गुण वाले आहार भी न खावें। सामूहिक रूप से तैयार किया गया आहार भी न खावें। जिसमें मक्षिका-बालादि पड़े हों, उस आहार को भी ग्रहण न करें।

भोजन के नियम—बिना हाथ-पैर धोये भोजन न करे, मूत्र या मल त्याग की इच्छा हो तो (बिना मल-मूत्र त्याग किये) आहार न करे। इसी प्रकार प्रातः-सायं की सन्ध्या के समय भोजन नहीं करना चाहिए, बिना आसन के भी भोजन न करे। भोजन का समय बीत जाने पर या अल्प मात्रा में अथवा अधिक मात्रा में तथा घृत (स्नेह) रहित आहार का ग्रहण भी न करें॥ ९८॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नष्टं पर्युषितं पयः। न नक्तं दधि भुञ्जीत न वाप्यघृतशर्करम्॥ ९९॥
नामुद्गयूषं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना। अन्यथा जनयेत् कुष्ठविसर्पादीन् गदान् बहून्॥ १००॥

अन्य पदार्थों के सेवन का निषेध—स्नेह रहित अन्न का सेवन न करे और न फटे हुए एवं वासी दूध का सेवन करे। रात को दही न खावे और खाना ही हो तो बिना शक्कर तथा घी के न खाये। न मुद्गयूष के बिना, न मधु के बिना, न दही को गरम कर के या बिना आँवलों के भी दही का सेवन न करे अन्यथा कुष्ठ, वीसर्प आदि विकार हो सकते हैं॥ ९९-१००॥

नात्मानमुदके पश्येन्न नग्नः प्रविशेज्जलम्।

जल में अपनी परछाई आदि देखने का निषेध—पानी में अपनी परछाई न देखे और न नग्नावस्था में पानी में प्रवेश करे।

द्यूतमद्यातिसेवाप्रतिभूत्वसाक्षित्वसमाह्वानगोष्ठीवादित्राणि न सेवेत। स्रजं छत्रोपानहौ कनकमतीतवासांसि न चान्यैर्धृतानि धारयेत्। ब्राह्मणमग्निं गां च नोच्छिष्टः स्पृशेत्॥ १०१॥

द्यूतादि का निषेध—जूआ (Gambling), मद्य का अतिसेवन, प्रतिभू (लग्नकः/Standing security/जामिन बनना), गवाह बनना (Bearing witness), अनावश्यक बातों में लगना, गोष्ठियों में व्यस्त होना और मृदङ्गादि बाजों (Instrumental music) में अधिक लगे रहने से दूर रहें। दूसरे की धारण की हुई माला, छत्र, जूता, सोने के गहने, जीर्ण और अन्य द्वारा पहने हुए कपड़ों (जीर्णवस्त्राणि, अन्यैर्विधृतानि न प्रक्षाल्य धारयेत्) को धारण न करे। ब्राह्मण, गौ और अग्नि को उच्छिष्ट (अस्वच्छ/जूठा) होने पर स्पर्श न करे॥ १०१॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिन् यस्मिन्नृतौ ये ये दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्। तेषु तेषु प्रदातव्या रसास्ते ते विजानता॥

रसों का ऋतु के अनुसार सेवन—जानकार चिकित्सक को चाहिए कि वह जिन ऋतुओं में जो-जो दोष प्रकुपित होते हैं उन ऋतुओं में उन-उन दोषों को शान्त करने वाले रसों का प्रयोग करे॥ १०२॥

विमर्श—कौन-सा रस किस दोष को कुपित या शान्त करता है इस सम्बन्ध में वाग्भट के ये श्लोक स्मणीय हैं—'रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोष्णकषायकाः। षड् द्रव्यमाश्रितास्ते स्युर्यथापूर्वं बलावहाः। तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते'॥

वर्षासु न पिबेत्तोयं पिबेच्छरदि मात्रया। वर्षासु चतुरो मासान् मात्रावदुदकं पिबेत्॥ १०३॥

ऋतु के अनुसार जल की मात्रा—वर्षर्तु में (अधिक मात्रा में) जल न पीवें। शरदर्तु में जल साधारण मात्रा में (न अधिक, न कम) पीना चाहिए। वर्षा ऋतु के चार महीनों में जल समुचित मात्रा में पीना चाहिए॥ १०३॥

उष्णे हैमे वसन्ते च कामं ग्रीष्मे तु शीतलम्। हेमन्ते च वसन्ते च सीध्वरिष्टौ पिबेन्नरः॥ १०४॥

ऋतु अनुसार शीत एवं उष्ण जल का सेवन—हेमन्त और वसन्त ऋतु में उष्ण जल तथा उष्णर्तु में शीतल जल प्यास बुझने तक (कामम् अभिलाषपूर्णम्, न तु अतिशयेन)। हेमन्त और वसन्त ऋतु में मनुष्य सीधु और अरिष्ट का पान करे॥ १०४॥

विमर्श—अरिष्ट—'पक्वौषधाम्बुसिद्धं यत् मद्यं तत्स्यादरिष्टकम्' (भा.प्र.)। **सीधु**—'इक्षोः पक्वै रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसश्च सः'।

शृतशीतं पयो ग्रीष्मे प्रावृट्काले रसं पिबेत्। यूषं वर्षति तस्यान्ते प्रपिबेच्छीतलं जलम्॥ १०५॥

शृतशीत जल का विधान—ग्रीष्मर्तु में उबाल कर ठण्डा किया हुआ (शृतशीतम्) दूध (पयोऽत्र क्षीरम्'-ड.) पीवे, प्रावृट् ऋतु में मांसरस, वर्षा में यूष तथा वर्षा के अन्त में शीतल जल का पान करना चाहिए॥ १०५॥

स्वस्थ एवमतोऽन्यस्तु दोषाहारगतानुगः। स्नेहं सैन्धवचूर्णेन पिप्पलीभिश्च संयुतम्॥ १०६॥
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं न च वेगान् विधारयेत्। अग्निदीप्तिकरं नृणां रोगाणां शमनं प्रति॥ १०७॥

रुग्ण व्यक्ति के लिए नियम—यह उपरोक्त वर्णन स्वस्थ व्यक्ति के लिए है। जो रोगी हो उसे दोष और आहार के अनुसार (दुग्ध का) निर्णय करना चाहिए। अग्नि की वृद्धि के लिए स्नेह (घृतादि) को सैन्धव और पिप्पली चूर्ण के साथ पीवे और वेग (Natural urges) विधारण न करे। इससे जठराग्नि दीप्त होती है तथा रोगों का प्रशमन होता है॥ १०६-१०७॥

विमर्श—दोषाहारमतानुगः—'दोषा वातादयः, तत्र वाते स्निग्धमुक्तं, पित्ते शीतम्, कफे रूक्षोष्णम्। आहारमतानुग इति—उष्णोदकमनुपानं स्नेहानामथ शस्यते' इत्यादि)।

प्रावृट्शरद्वसन्तेषु सम्यक् स्नेहादिमाचरेत्। कफे प्रच्छर्दनं पित्ते विरेको बस्तिरीरणे॥ १०८॥

स्नेह द्रव्यों का ऋतु के अनुसार प्रयोग—प्रावृट्, शरद् और वसन्त ऋतु में स्नेहादि का भली प्रकार (विधिपूर्वक) प्रयोग करे। कफ में वमन, पित्त में विरेचन और (वायु में = ईरणे = वाते-ड.) बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए॥ १०८॥

शस्यते त्रिष्वपि सदा व्यायामो दोषनाशनः। भुक्तं विरुद्धमप्यन्नं व्यायामान्न प्रदुष्यति॥ १०९॥

व्यायाम की उपयोगिता—वात, पित्त, कफ—इन तीनों में व्यायाम सदा दोषनाशन होने के कारण प्रशस्त है। विरुद्ध आहार का सेवन करने पर भी व्यायाम से वह दोष प्रकोप नहीं कर पाता है॥ १०९॥

उत्सर्गमैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मनाः। नेच्छेद्दोषचयात् प्राज्ञः पीडां वा कायमानसीम्॥

उत्सर्गादि में दत्तचित्तता—उत्सर्ग (मल-मूत्र का त्याग/Defaecation and micturition), मैथुन (Sexual intercourse), आहार और शोधन (वमन/Emesis और विरेचन/Purgation) को अनन्यचित्त (Concentrate his mind) होकर करे। रोगों के भय से (दोषसंचय के कारण) विद्वान् ऐसी इच्छा भी न करे जिससे मानसिक और शारीरिक व्यथा हो॥ ११०॥

अतिस्त्रीसम्प्रयोगाच्च रक्षेदात्मानमात्मवान् । शूलकासज्वरश्वासकार्श्यपाण्ड्वामयक्षयाः॥
अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः।

अति स्त्रीप्रसंग का निषेध—आत्मज्ञ व्यक्ति अपने आप को अति स्त्रीप्रसंग (Extensive cohabitation with women) से बचावें। क्योंकि इससे शूल, कास, ज्वर, श्वास, कृशता, पाण्डुरोग, क्षय और आक्षेपकादि रोग हो जाते हैं॥ १११॥

आयुष्मन्तो मन्दजरा वपुर्वर्णबलान्विताः॥ ११२॥
स्थिरोपचितमांसाश्च भवन्ति स्त्रीषु संयताः।

स्त्री-प्रसंग में संयम बरतने के लाभ—स्त्री-प्रसंग में संयम बरतने वाले व्यक्ति दीर्घजीवी, बुढ़ापे का धीमे-धीमे आना; शरीर, वर्ण और बल से युक्त, पुष्ट-दृढ मांसपेशियों वाले होते हैं॥ ११२॥

त्रिभिस्त्रिभिरहोभिर्वा समीयात् प्रमदां नरः॥ ११३॥
सर्वेष्वृतुषु घर्मेषु पक्षात् पक्षाद् व्रजेद् बुधः।

स्त्रीगमन के नियम—सभी ऋतुओं में मनुष्य को तीन दिन के अन्तर पर स्त्री-सहवास करना चाहिए किन्तु बुधजन ग्रीष्मर्तु में पन्द्रह दिन के अन्तराल पर स्त्रीप्रसंग करे॥ ११३॥

रजस्वलामकामां च मलिनामप्रियां तथा॥ ११४॥
वर्णवृद्धां वयोवृद्धां तथा व्याधिप्रपीडिताम्। हीनाङ्गीं गर्भिणीं द्वेष्यां योनिदोषसमन्विताम्॥
सगोत्रां गुरुपत्नीं च तथा प्रव्रजितामपि। सन्ध्यापर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः॥ ११६॥

त्याज्य स्त्रियाँ—निम्नलिखित स्त्रियों के साथ स्त्रीप्रसंग न करे—रजस्वला (Having her menses), अकामा (Not willing/ 'अकामां कामयमानस्य शरीरमुपतप्यते'–वा.रा.), मलिना (अस्वच्छ), अप्रिया (Not beloved)), वर्णवृद्धा (वर्णश्रेष्ठाम्, यथा–शूद्रो न वैश्यां, वैश्यो न क्षत्रियाम्), वयोवृद्धा (बूढ़ी स्त्री), व्याधिग्रस्त, हीनांगी (Bodily handicapped), गर्भिणी, द्वेष्या (शत्रुभूताम्, दुश्मन स्त्री), योनिदोषों से पीड़ित (Suffering from genital diseases), सगोत्र (एक ही गोत्र की), गुरुपत्नी, प्रव्रजिता (गृहीतव्रता/व्रत-पुण्य करने वाली), सन्ध्या समय और पर्व के दिन, अगम्या (स्वदुहितृप्रभृतयः)—इन स्त्रियों से पुरुष समागम न करें॥ ११४-११६॥

गोसर्गे चार्धरात्रे च तथा मध्यन्दिनेषु च। लज्जासमावहे देशे विवृतेऽशुद्ध एव च॥ ११७॥
क्षुधितो व्याधितश्चैव क्षुब्धचित्तश्च मानवः। वातविण्मूत्रवेगी च पिपासुरतिदुर्बलः॥ ११८॥
तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम्। दुष्टयोनौ विसर्गन्तु बलवानपि वर्जयेत्॥ ११९॥

मैथुन के लिए त्याज्य विषय—गोसर्ग अर्थात् प्रातःकाल, रात्रि के मध्य, दिन के मध्य, जहाँ लज्जा आती हो और जो स्थान आच्छादित तथा शुद्ध न हो वहाँ मैथुन न करें। इसी प्रकार भूख से पीड़ित होने पर, बीमारी की दशा में, चित्त की खिन्नता या भय होने पर, वायु, मूत्र, मल के वेग की उपस्थिति में, प्यास लगी हो तो तथा अति दुर्बलता की स्थिति में भी मैथुन निषिद्ध है। तिर्यग्योनि (अजादि), अयोनि (मुखादि) में मैथुन न करे। शुक्र के वेग को रोकना भी निषिद्ध है। बलवान् व्यक्ति को भी चाहिए कि वह दुष्टयोनि में शुक्र का त्याग न करे (मैथुन न करे)॥ ११७-११९॥

रेतसश्चातिमात्रं तु मूर्द्धावरणमेव च। स्थितावुत्तानशयने विशेषेणैव गर्हितम्॥ १२०॥

मैथुन में सावधानी—शुक्र धातु का अत्यधिक क्षरण (Excessive discharge) न करे और न मूर्धावरण (Covering of glans penis/'लिङ्गमणेरावरणं या दाक्षिणात्या कृत्रिममणिं कारयन्ती'ति जेज्जटः/शिश्नमणि पर आवरण चढ़ाना) ही करे। इसी प्रकार खड़े होकर, उत्तान (Supine/चित्त लिटाकर) आसन में मैथुन करना विशेष रूप से गर्हित है॥ १२०॥

विमर्श—'मूर्द्धावरणम्' के स्थान पर अन्यत्र 'मूर्धाहननम्' पाठ भी है, तदनुसार 'कामोत्तेजना में शिर पटकना' यह अर्थ समझना चाहिए ('मूर्धाभिघातं परिहरेत्'–वृद्धवाग्भटः; 'शिरोहृदयताडनम्'–लघुवाग्भटः)। कामुकता के प्रचण्ड वेग से प्रताड़ित होकर मनुष्य कुछ भी कर सकता है। आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भीक और ईर्ष्यक की चर्चा सुश्रुत में है। डल्हण ने तिर्यक् योनि एवं अयोनि की व्याख्या में अजादि पशु तथा मुख मैथुन का उल्लेख किया है। वात्स्यायन-कामसूत्र में योनिचूषण (Cunnilingus) और मुखमैथुन (Fellatio) का वर्णन मिलता है। चरक भी—'नान्ययोनिं नायोनौ' (सू. ८।२२) का उपदेश करते हैं।

क्रीडायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत्।

मेधावी (Intelligent) और अपना हित चाहने वाले व्यक्ति को हँसी-खेल में भी (Play fully) शुक्रत्याग नहीं करना चाहिए।

रजस्वलां प्राप्तवतो नरस्यानियतात्मनः॥ १२१॥
दृष्ट्यायुस्तेजसां हानिरधर्मश्च ततो भवेत्।

अगम्यागमन पाप है—यदि अपने पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ व्यक्ति रजस्वला (Menstruating woman) से मैथुन करता है तो उसकी दृष्टि (Vision), आयु और तेज (Brilliance) नष्ट होते हैं और वह पाप का भागी बनता है॥ १२१॥

लिङ्गिनीं गुरुपत्नीं च सगोत्रामथ पर्वसु॥ १२२॥
वृद्धां च सन्ध्ययोश्चापि गच्छतो जीवितक्षयः। गर्भिण्या गर्भपीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः॥
हीनाङ्गीं मलिनां द्वेष्यां कामं वन्ध्यामसंवृते। देशेऽशुद्धे च शुक्रस्य मनसश्च क्षयो भवेत्॥ १२४॥

मैथुन की दृष्टि से त्याज्य स्त्रियाँ—लिङ्गिनी (Anchorite/ब्रह्मचारिणी), गुरु की पत्नी (Preceptor's wife), अपने गोत्र की स्त्री से मैथुन न करे और न पर्व (Festival) वाले दिन। इसी प्रकार वृद्धा (वर्ण और वय में वृद्ध) स्त्री से तथा दोनों सन्धिकाल में मैथुन करने से जीवन का क्षय होता है। गर्भिणी से सम्भोग करने से गर्भपीड़ा (Injurious to the foetus) और रुग्ण से बलक्षय होता है। हीनांगी (Deformed), मलिना (मैली), द्वेष्या (द्वेषभाव रखने वाली (Spiteful) और वन्ध्या/Sterile) स्त्री से खुली (Open) जगह में, अपवित्र स्थान में संभोग करने से शुक्र और मन दोनों का क्षय होता है॥ १२२-१२४॥

क्षुधितः क्षुब्धचित्तश्च मध्याह्ने तृषितोऽबलः। स्थितश्च हानिं शुक्रस्य वायोः कोपं च विन्दति॥

भूखा (Hungry), क्षुब्ध (खिन्न), चित्त (Anxious), प्यासा, निर्बल व्यक्ति यदि खड़ा होकर (स्थितश्च) और मध्याह्न में मैथुन करता है तो शुक्रधातु का नाश होता है और वात प्रकुपित होता है॥ १२५॥

अतिप्रसङ्गाद्भवति शोषः शुक्रक्षयावहः। व्याधितस्य रुजा प्लीह्नि मृत्युर्मूर्च्छा च जायते॥ १२६॥

अधिक स्त्रीप्रसंग से शोष तथा शुक्रक्षय होते हैं। यदि बीमार व्यक्ति मैथुन करता है तो प्लीहप्रदेश में पीड़ा, मूर्च्छा और मृत्यु होते हैं॥ १२६॥

प्रत्यूषस्यर्धरात्रे च वातपित्ते प्रकुप्यतः। तिर्यग्योनावयोनौ च दुष्टयोनौ तथैव च॥ १२७॥
उपदंशस्तथा वायोः कोपः शुक्रस्य च क्षयः।

प्रातःकाल तथा आधी रात में मैथुन करने से वात-पित्त प्रकुपित होते हैं, इसी प्रकार पशु आदि की तिर्यक् योनि में और हस्तमैथुन आदि अयोनि में तथा दूष्य (दूषित) योनि में मैथुन करने से उपदंश नामक विकार, वायु का प्रकोप और शुक्रधातु का क्षय होता है॥ १२७॥

उच्चारिते मूत्रिते च रेतसश्च विधारणे॥ १२८॥
उत्ताने च भवेच्छीघ्रं शुक्राश्मर्यास्तु सम्भवः।

मल-मूत्रादि वेग काल में मैथुन का निषेध—मल और मूत्र के वेग से पीड़ित व्यक्ति तथा वीर्य के वेग को रोकने वाले के एवं स्त्री को चित्त (उत्तान/Supine) लिटा कर मैथुन करने से शुक्राश्मरी (Seminal concretions) का शीघ्र होना सम्भव है॥ १२८॥

सर्वं परिहरेत्तस्मादेतल्लोकद्वयेऽहितम्॥ १२९॥
शुक्रं चोपस्थितं मोहान्न सन्धार्यं कथञ्चन।

मैथुन सम्बन्धी नियमों का पालन—अतः मैथुनादि के सम्बन्ध में अब तक जिन नियमों का उल्लेख किया गया है उनकी उपेक्षा न करें। इनका पालन इहलोक और परलोक में भी हितकर है (तिर्यक् योनि, अयोनि मैथुन आदि का परित्याग करे)। शुक्र धातु के वेग की उपस्थिति को मोहवश (सुरतानन्दवश) कभी धारण न करे अर्थात् न रोके॥ १२९॥

वयोरूपगुणोपेतां तुल्यशीलां कुलान्विताम्॥ १३०॥

अभिकामोऽभिकामां तु हृष्टो हृष्टामलङ्कृताम्। सेवेत प्रमदां युक्त्या वाजीकरणबृंहितः॥

सहवास के योग्य नारी—हृष्ट (प्रसन्नचित्त) व्यक्ति जो वाजीकरण के सेवन से पुष्ट है (Has taken virilizing treatment) तथा जो मैथुन करने की इच्छा (अभिकामः/Desirous of intercourse) करता है वह आयु, सौन्दर्य तथा अन्य गुणों से युक्त, समान शील वाली (Similar temperament), अच्छे कुल में उत्पन्न, प्रसन्नचित्त, आभूषणों से सुशोभित और मैथुन की इच्छावाली (Equally passionate) प्रमदा (स्त्री) से युक्तिपूर्वक सहवास करें॥ १३०-१३१॥

भक्ष्याः सशर्कराः क्षीरंससितं रस एव च। स्नानं सव्यजनं स्वप्नो व्यवायान्ते हितानि तु॥ १३२॥

मैथुन के बाद सेवनीय—मैथुन के अन्त में स्नान, ठण्डी हवा, शर्करायुक्त भक्ष्यपदार्थ, मिश्रीयुक्त दुग्ध (सद्यः शुक्रकरं पयः), मांसरस और नींद का सेवन करना चाहिए॥ १३२॥

मुखमात्रं समासेन सद्वृत्तस्यैतदीरितम्। आरोग्यमायुरर्थो वा नासद्भिः प्राप्यते नृभिः ॥ १३३ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनागतबाधाचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४॥



सद्वृत्त का यह वर्णन संक्षेप में है। असत् व्यक्तियों (Dishonests/जो उपरोक्त नियमों का पालन नहीं करते) को आरोग्य (Health), आयु (Longevity) और धन (Wealth) प्राप्त नहीं होते हैं॥ १३३ ॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'अनागताबाधाप्रतिषेध' नामक चौबीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २४॥



अध्याय-सारांश

'अनागताबाधाप्रतिषेध' नामक इस अध्याय में उन नियमों का सूक्ष्म विवरण है जिनका स्वस्थ व्यक्तियों को अपना स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए प्रतिदिन पालन करना चाहिए।

ब्राह्म मुहूर्त में उठना, दन्तधावन, जिह्वानिर्लेखन, मुखप्रक्षालन, नेत्रप्रक्षालन (१७), स्रोतोऽञ्जन, ताम्बूल भक्षण (२१-२३), शिरोऽभ्यंग, शिरोऽभ्यंग के लिए तैल, बालों में कंघी करने के गुण (२८), कर्णपूरण, अभ्यंग के गुण (३०), सर्वांग परिषेक के लाभ, तैल एवं घृत का अभ्यंगार्थ उपयोग, स्नेहन क्रिया (३५)।

व्यायाम की परिभाषा, गुण, निषेध (३८), व्यायाम में सावधानी (४७), उद्वर्तन, उद्घर्षण, इनके लाभ (५६), स्नान के लाभ, उष्ण-शीतल जल का स्नानार्थ उपयोग, स्नान-निषेध (६२), अनुलेपन के लाभ, फल, वस्त्र, रत्नधारण, मुख पर आलेप के लाभ (६५), अंजन के गुण, गुरु-वृद्धों की अर्चना के गुण (६७), आहार के गुण, पादप्रक्षालन (६९), पादाभ्यंग, पादत्र धारण के फायदे (७१-७४)।

उष्णीष (पगड़ी) धारण के गुण, दण्ड धारण के लाभ, बैठे रहने की आदत से हानियाँ (७८), अध्वा (मार्ग) गमन, चंक्रमण, शयनार्थ व्यवस्था (८१), पंखे की हवा, संवाहन के लाभ, प्रवात, धूप, निद्रा का समुचित समय पर सेवन के गुण (८८), सामान्य सद्वृत्त (८९), वेगावधारण से हानियाँ, उचित होते हुए भी नींद, जागना आदि के अति सेवन से हानियाँ (९६), द्यूत कर्म न करना आदि का विस्तार से वर्णन (१००)।

मैथुन के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन, अति स्त्रीप्रसंगादि की निन्दा (११०), सहवास के लिए त्याज्य स्त्रियाँ (११६), मैथुन के योग्य स्त्री के गुण (१३०), मैथुन के अन्त में सेवनीय (१३२)।



पञ्चविंशोऽध्यायः

अथातो मिश्रकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'मिश्रकचिकित्सितम्' (The Management of Miscellaneous Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

पाल्यामयास्तु विस्राव्या इत्युक्तं प्राङ् निबोध तान्। परिपोटस्तथोत्पात उन्मन्थो दुःखवर्धनः ॥ ३ ॥
पञ्चमः परिलेही च कर्णपाल्यां गदाः स्मृताः।

विस्राव्य व्याधियाँ—सूत्रस्थान (१६) में यह बताया जा चुका है कि कर्णपाली (Ear lobule) के साध्य रोगों में रक्तविस्रावण (Blood letting) किया जाता है। उन रोगों को अब जानो। ये रोग हैं—१. परिपोट, २. उत्पात, ३. उन्मन्थ, ४. दुःखवर्धन और ५. परिलेही। ये पाँच कर्णपाली के रोग हैं ॥ ३ ॥

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽभिप्रवर्धिते ॥ ४ ॥
कर्णशोफो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्। कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥

(१) परिपोट के लक्षण—सुकुमारता के कारण कर्णपाली के छिद्र को कई दिनों तक (चिरोत्सृष्टे/Neglected for a long time) वैसा ही रहने देने के उपरान्त उसे सहसा बड़ा किया जाय तो पाली में वेदना तथा परिपोट युक्त शोफ (Inflammatory swelling) हो जाता है जो रंग में कृष्णारुण (Black and raddish) तथा स्पर्श में कठोर (स्तब्धः/Indurated) होता है। वायुप्रकोप से होने वाला यह 'परिपोट' नामक विकार है ॥ ४-५ ॥

गुर्वाभरणसंयोगात् ताडनाद् घर्षणादपि। शोफः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुगन्वितः ॥ ६ ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः।

(२) उत्पात के लक्षण—रक्तपित्त से होने वाला यह 'उत्पात' नामक कर्णपाली रोग भारी आभूषण पहनने से, चोट लगने से और घर्षण (रगड़/Friction) लगने से होता है। इसमें कर्णपाली में श्याव (Blackish) या लाल रंग का शोफ होता है जिसमें दाह, पाक और वेदना होते हैं ॥ ६ ॥

बलाद्वर्धयतः कर्णं पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ ७ ॥
गृहीत्वा सकफं कुर्याच्छोफं तद्वर्णवेदनम्। उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ ८ ॥

(३) उन्मन्थ के लक्षण—कर्णपाली को बलपूर्वक बढ़ाने (Forced stretching) से वायु प्रकुपित होता है और साथ में कफ भी विकृत हो जाता है जिससे कान में कफज वेदना और कफज वर्ण युक्त शोफ हो जाता है। कण्डूयुक्त यह 'उन्मन्थ' नामक विकार कफवातज है ॥ ७-८ ॥

वर्धमाने यदा कर्णे कण्डूदाहरुगन्वितः। शोफो भवति पाकश्च त्वक्स्थोऽसौ दुःखवर्धनः ॥ ९ ॥

(४) दुःखवर्धन के लक्षण—इस विकार में जब कर्णपाली के छिद्र को बढ़ाया जा रहा होता है तो त्वचा में स्थानिक शोफ हो जाता है जिसमें कण्डू, दाह, वेदना और पाक उपस्थित होते हैं। यह कर्णपाली का 'दुःखवर्धन' नामक रोग है ॥ ९ ॥

कफासृक्कृमयः कुर्युः सर्षपाभा विकारिणीः। स्राविणीः पिडकाः पाल्यां कण्डूदाहरुगन्विताः ॥
कफासृक्कृमिसम्भूतः स विसर्पन्नितस्ततः। लिह्यात् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥

(५) परिलेही के लक्षण—कर्णपाली में कुपित कफ, दूषित रक्त और कृमियाँ (Organisms) सरसों के दानों जैसी, विकारी तथा स्रावयुक्त पिडकाएँ उत्पन्न करती हैं जिनमें कण्डू (Itching), दाह (Burning sensation) तथा वेदना होते हैं। कफ, रक्त और कृमियों से उत्पन्न यह इधर-उधर फैलने वाला विकार पाली सहित कर्णशष्कुली (Ear-lobule with pinna) को (चाटकर) नष्ट कर देता है। अतः यह विकार 'परिलेही' नाम से जाना जाता है।। १०-११।।

पाल्यामया ह्यमी घोरा नरस्याप्रतिकारिणः। मिथ्याहारविहारस्य पालीं हिंस्युरुपेक्षिताः।। १२।।

कर्णपाली के नष्ट होने में हेतु—मिथ्या आहार (Unwholesome edibles) और मिथ्या विहार (Injudicious habits) करने वाला व्यक्ति यदि कर्णपाली के इन भयंकर (Serious) रोगों की चिकित्सा नहीं करता है तो ये रोग उपेक्षा करने पर कर्णपाली को नष्ट कर देते हैं।। १२।।

तस्मादाशु भिषक् तेषु स्नेहादिक्रममाचरेत्। तथाऽभ्यङ्गपरीषेकप्रदेहासृग्विमोक्षणम्।। १३।।

सामान्य चिकित्सा—अतः शल्यहर्ता को चाहिए कि वह शीघ्र ही इन रोगों की स्नेह (Oleation) आदि क्रम से चिकित्सा करें और अभ्यङ्ग (Oily massage), परिषेक (Irrigation), प्रदेह (Pastes) और रुधिरविस्रावण (Blood-letting) करावें।। १३।।

सामान्यतो विशेषाच्च वक्ष्याम्यभ्यञ्जनं प्रति। खरमञ्जरियष्ट्याह्वसैन्धवामरदारुभिः।। १४।।
सुपिष्टैः साश्वगन्धैश्च मूलकावल्गुजैः फलैः। सर्पिस्तैलवसामज्जमधूच्छिष्टानि पाचयेत्।। १५।।
सक्षीराण्यथ तैः पालीं प्रदिह्यात् परिपोटके।

(१) परिपोटक की चिकित्सा—कर्णपाली के रोगों की उपरोक्त 'स्नेहादिक क्रम' सामान्य चिकित्सा है। इन रोगों की विशिष्ट चिकित्सा इस प्रकार है—अभ्यंग के लिए अपामार्ग, मुलेठी, सेन्धानमक, देवदारु; इन्हें भली प्रकार पीसकर असगन्ध, मूली और बाकुची के बीजों के चूर्ण को मिलाकर घृत, तैल, वसा और मज्जा तथा मधूच्छिष्ट (मोम)—इन सबको दूध में पकावें। गाढ़ा होने पर इसका 'परिपोटक' नामक कर्णपाली के रोग में लेप करें।। १४-१५।।

मञ्जिष्ठातिलयष्ट्याह्वसारिवोत्पलपद्मकैः ।। १६।।
सरोध्रैः सकदम्बैश्च बलाजम्ब्वाम्रपल्लवैः। सिद्धं धान्याम्लसंयुक्तं तैलमुत्पातनाशनम्।। १७।।

(२) उत्पात की चिकित्सा—एतदर्थ मञ्जीठ, तिल, मुलेठी, सारिवा, उत्पल (कमल), पद्मकाष्ठ, लोध्र, कदम्ब (*Anthocephalus indicus*), बला (खरेंटी), आम और जामुन के पत्र के कल्क से सिद्ध और धान्याम्ल (काँजी) में पकाया गया तैल उत्पातनाशक है।। १६-१७।।

तालपत्र्यश्वगन्धार्कबाकुचीफलसैन्धवैः। तैलं कुलीरगोधाभ्यां वसया सह पाचितम्।। १८।।
सरलालाङ्गलीभ्यां च हितमुन्मन्थनाशनम्। तथाऽश्मन्तकजम्ब्वाम्रपत्रक्वाथेन सेचनम्।। १९।।
प्रपौण्डरीकमधुकमञ्जिष्ठारजनीद्वयैः। चूर्णैरुद्वर्तनैः पालीं तैलाक्तामवचूर्णयेत्।। २०।।
लाक्षाविडङ्गकल्केन तैलं पक्त्वाऽवचारयेत्।

(३) उन्मन्थ-चिकित्सा—तालपत्री (मूषिकपर्णी, तालमूली, काली मुसली ?), असगन्ध, आक, बाकुची के बीज और सेन्धानमक—इनके कल्क तथा कुलीर (केकड़ा) और गोह की वसा, सरल (चीड़) की लकड़ी एवं कलिहारी के साथ पकाया गया तैल (तैलपाक विधि से) 'उन्मन्थ' पाली रोग को नष्ट करता है। परिषेक (सिञ्चन) के लिए पाषाणभेद, जामुन और आम के पत्रों के क्वाथ का प्रयोग करें। तेल लगाने के बाद पाली पर प्रपौण्डरीक, मुलेठी, मंजीठ, हलदी और दारुहलदी—इनके सूक्ष्म चूर्ण से उद्वर्तन करें और चूर्ण को लगावें। इसी प्रकार लाक्षा और विडंग कल्क से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए।। १८-२०।।

स्विन्नां गोमयपिण्डेन प्रदिह्यात् परिलेहिके॥ २१॥

पिष्टैर्विडङ्गैरथवा त्रिवृच्छ्यामार्कसंयुतैः। करञ्जेङ्गुदिबीजैर्वा कुटजारग्वधायुतैः॥ २२॥

सर्वैर्वा सार्षपं तैलं सिद्धं मरिचसंयुतम्। सनिम्बपत्रैरभ्यङ्गे मधूच्छिष्टान्वितं हितम्॥ २३॥

(४) **परिलेही की चिकित्सा**—इस विकार में कर्णपाली का गोमय (गोबर) के पिण्ड (A lump of co dung) से स्वेदन करने के उपरान्त उस पर विडंग को पीसकर लेप कर दें अथवा सफेद और काली निशोथ को आक के साथ पीसकर लेप करें या करञ्ज, इंगुदी के बीजचूर्ण को कुड़ा और आरग्वध के चूर्ण के साथ मिलाकर लेप करे। अथवा इन सभी उपरोक्त द्रव्यों के रस में काली मिर्च मिलाकर निम्बपत्र कल्क से सिद्ध मोम युक्त तैल का अभ्यंग हितकर है॥ २१-२३॥

पालीषु व्याधियुक्तासु तन्वीषु कठिनासु च। पुष्टिचर्थं मार्दवार्थं च कुर्यादभ्यञ्जनं त्विदम्॥ २४॥

अभ्यंग का उपयोग—यदि कर्णपाली व्याधिपीड़ित, पतली और कठोर हो तो उसे पुष्ट तथा मृदु करने के लिए निम्नलिखित अभ्यंग हितकर होता है॥ २४॥

लोपाकानूपमज्जानं वसां तैलं नवं घृतम्। पचेद्दशगुणं क्षीरमावाप्य मधुरं गणम्॥ २५॥

अपामार्गाश्वगन्धे च तथा लाक्षारसं शुभम्। तत्सिद्धं परिपूतं च स्वनुगुप्तं निधापयेत्॥ २६॥

तेनाभ्यञ्ज्यात् सदा पालीं सुस्विन्नामतिमर्दिताम्।

एतेन पाल्यो वर्धन्ते निरुजो निरुपद्रवाः। मृद्व्यः पुष्टाः समाः स्निग्धा जायन्ते भूषणक्षमाः॥

लोपाकादि तैल—लोमड़ी की और महिषादि आनूप प्राणियों की मज्जा (Bone-marrow), वसा (Fat), तैल और ताजा घी को दस गुना दूध में मिलाकर तथा काकोल्यादि मधुरगण की औषधियों के प्रक्षेप के साथ और अपामार्ग, अश्वगन्धा एवं लाक्षारस मिलाकर सबका पाक करें। इस प्रकार सिद्ध तैल तैयार कर तथा छान कर (Filtered) कर सुरक्षित स्थान में रख लें। कर्णपाली का स्वेदन करने के उपरान्त इस तैल से भली प्रकार मर्दन करते हुए सदा अभ्यंग करना चाहिए। इससे कर्णपालियाँ बढ़ती हैं, रोग तथा उपद्रव रहित होती हैं तथा मृदु (Soft), पुष्ट, सम (Well formed), स्निग्ध (Smooth) तथा आभूषणों को धारण करने में समर्थ होती हैं॥ २५-२७॥

नीलीदलं भृङ्गरजोऽर्जुनत्वक् पिण्डीतकं कृष्णमयोरजश्च।
बीजोद्भवं साहचरं च पुष्पं पथ्याक्षधात्रीसहितं विचूर्ण्य॥ २८॥
एकीकृतं सर्वमिदं प्रमाय पङ्केन तुल्यं नलिनीभवेन।
संयोज्य पक्षं कलशे निधाय लोहे घटे सद्मनि सापिधाने॥ २९॥
अनेन तैलं विपचेद्विमिश्रं रसेन भृङ्गत्रिफलाभवेन।
आसन्नपाके च परीक्षणार्थं पत्रं बलाकाभवमाक्षिपेच्च॥ ३०॥
भवेद्यदा तद्भ्रमराङ्गनीलं तदा विपक्वं विनिधाय पात्रे।
कृष्णायसे मासमवस्थितं तदभ्यङ्गयोगात् पलितानि हन्यात्॥ ३१॥

नीलीदलादि पलितहर तैल—नील के पत्र, भाँगरा, अर्जुन की छाल, मैनफल, कृष्णलोहचूर्ण, विजयसार और सहचर के पुष्प, हरड़, बहेड़ा और आँवला—इनका चूर्ण करें। इसमें इनके समान मात्रा में कमल की जगह का कीचड़ (पंक) मिलाकर ढक्कन वाले लोहे के पात्र में रखकर पन्द्रह दिन तक घर में सुरक्षित रख लें। तत्पश्चात् इसमें तेल मिलाकर तथा भृंगराज और त्रिफला क्वाथ के साथ पाक करें। इस तैल के ठीक तरह से पाक होने की पहचान यह है कि यदि इसमें बगुले का पंख डुबोने पर वह भँवरे की तरह नीले रंग का हो जाय तो तैल का भली प्रकार पका हुआ समझें। इसे काले लोहे के पात्र में भरकर एक मास तक रखें। उसके बाद इससे अभ्यंग करने पर पलित रोग (Premature greying of hair) ठीक हो जाता है॥ २८-३१॥

विमर्श—नीली—इसका लैटिन नाम *Indigorera tinctoria* है।

सैरीयजम्ब्वर्जुनकाश्मरीजं पुष्पं तिलान्मार्कवचूतबीजे।
पुनर्नवे कर्दमकण्टकार्यौ कासीसपिण्डीतकबीजसारम्॥ ३२॥
फलत्रयं लोहरजोऽञ्जनं च यष्ट्याह्वयं नीरजसारिवे च।
पिष्ट्वाऽथ सर्वं सह मोदयन्त्या साराम्भसा बीजकसम्भवेन॥ ३३॥
साराम्भसः सप्तभिरेव पश्चात् प्रस्थैः समालोड्य दशाहगुप्तम्।
लौहे सुपात्रे विनिधाय तैलमक्षोद्भवं तच्च पचेत् प्रयत्नात्॥ ३४॥
पक्वं च लौहेऽभिनवे निधाय नस्यं विदध्यात् परिशुद्धकायः।
अभ्यङ्गयोगैश्च नियुज्यमानं भुञ्जीत माषान् कृशरामथो वा॥ ३५॥
मासोपरिष्टाद्घनकुञ्चिताग्राः केशा भवन्ति भ्रमराञ्जनाभाः।
केशास्तथाऽन्ये खलतौ भवेयुर्जरा न चैनं सहसाऽभ्युपैति॥ ३६॥
बलं परं सम्भवतीन्द्रियाणां भवेच्च वक्त्रं वलिभिर्विमुक्तम्।
नाकामिनेऽनर्थिनि नाकृताय नैवारये तैलमिदं प्रदेयम्॥ ३७॥

पलित-खलितनाशन (केशकृष्णीकरण) तैल—सैरीय (कटसरैया), जामुन, अर्जुन, गम्भारी के फूल, तिल, मार्कव (भाँगरा), आम की गुठली, दोनों (श्वेत-रक्त) पुनर्नवा, कर्दम (पद्मिनीमूल पंक = कीचड़), दोनों (छोटी-बड़ी) कटेरी, कासीस, मदनफल, विजयसार, त्रिफला, लोहचूर्ण, रसाञ्जन, मुलेठी, नीरज (नीलोत्पल), सारिवा, मोदयन्ती (मल्लिका)—इनको विजयसार के क्वाथ में पीस लें। फिर सात प्रस्थ विजयसार के क्वाथ में इसको घोलकर लोहपात्र में भरकर दस दिन तक सुरक्षित स्थान में रख दें। तत्पश्चात् इसे अक्षोद्भव (बहेड़े की गिरी से निकाले गये) तैल में मिलाकर यत्नपूर्वक पाक करें। इस प्रकार सिद्ध किये गये तैल को नये लोहपात्र में भरकर रख लें। इस तैल को शुद्धकाय (वमन-विरेचनादि से शुद्ध शरीर वाले) रोगी में नस्यार्थ (As an errhine) प्रयुक्त करें तथा इससे अभ्यंग करें। इस तैल के सेवनकाल में रोगी को उड़द या कृशरा (खिचड़ी) खाने के लिए दें। इस प्रकार एक मास तक सेवन करने से बाल काले और घुँघराले (Curly ends), घने तथा भौंरे और अञ्जन के समान रंग के हो जाते हैं। इस तैल के सेवन से समय से पहले बालों का सफेद होना (पलित) और झड़ जाना (खलित = खल्वाट/ Baldness) नहीं होते हैं। वृद्धावस्था भी सहसा नहीं आती है, सभी इन्द्रियाँ बलवती हो जाती हैं और चेहरा भी झुर्रियों (Wrinkles) से मुक्त रहता है। इस तेल को—१. इसकी चाहना न करने वाले को, २. जिसको इसकी आवश्यकता न हो, ३. कृतघ्न व्यक्तियों को और ४. अपने दुश्मन को नहीं देना चाहिए॥ ३२-३७॥

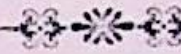
लाक्षा रोध्रं द्वे हरिद्रे शिलाले कुष्ठं नागं गैरिका वर्णकाश्च।
मञ्जिष्ठोग्रा स्यात् सुराष्ट्रोद्भवा च पत्तङ्गं वै रोचना चाञ्जनं च॥ ३८॥
हेमाङ्गत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम्।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः॥ ३९॥
मेदो मज्जा सिक्थकं गोघृतं च दुग्धं क्वाथः क्षीरिणां च द्रुमाणाम्।
एतत् सर्वं पक्वमैकध्यतस्तु वक्त्राभ्यङ्गे सर्पिरुक्तं प्रधानम्॥ ४०॥
हन्याद् व्यङ्गं नीलिकां चातिवृद्धां वक्त्रे जाताः स्फोटिकाश्चापि काश्चित्।
पद्माकारं निर्वलीकं च वक्त्रं कुर्यादेतत् पीनगण्डं मनोज्ञम्॥ ४१॥
राज्ञामेतद्योषितां चापि नित्यं कुर्याद्वैद्यस्तत्समानां नृणां च।
कुष्ठघ्नं वै सर्पिरेतत् प्रधानं येषां पादे सन्ति वैपादिकाश्च॥ ४२॥

लाक्षादि घृत—लाख, लोध्र, हलदी और दारुहलदी, शिला (मैनसिल), आल (हरताल), कूठ, नागकेसर, गेरु, वर्णक (कम्पिल्लक), मंजीठ, वच, सौराष्ट्रोद्भवा (फिटकरी), पतङ्ग, गोरोचन, अञ्जन, हेमांग (अमलतास) की छाल, पाण्डु, बड़ के पके पत्ते, कालीयक (पीतचन्दन/ *Coscinium fenestratum*), पद्माख, कमलगट्टा (पद्ममध्यम्), रक्त और श्वेत चन्दन, पारद (पारदानात्पारदः), दूध में पिसी हुई काकोल्यादि गण की औषधियाँ, मेद, मज्जा, सिक्थक (मोम), गोघृत, गोदुग्ध और उदुम्बरादि क्षीरिवृक्षों का क्वाथ—इन सबको मिलाकर पकाना चाहिए। मुख पर अभ्यंग करने के लिए यह उत्तम घृत है। मुखमण्डल पर अभ्यंग करने पर यह घृत व्यंग, अधिक बढ़ी हुई नीलिका और चेहरे पर निकले हुए स्फोट (फफोले) नष्ट हो जाते हैं तथा मुख कमल की तरह एवं झुर्रियाँ रहित हो जाता है। गाल पुष्ट और सुन्दर हो जाते हैं। राजा, स्त्रियाँ तथा इसी प्रकार के अन्य जन—इन सभी को इस घृत का प्रतिदिन चिकित्सक सेवन करावें। यह घृत कुष्ठ को नष्ट करने तथा पैरों की विपादिकाओं को दूर करने में श्रेष्ठ है॥ ३८-४२॥

विमर्श—व्यङ्ग—'क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः। सहसा मुखमागत्य मण्डलं विसृजत्यतः॥ नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् (सु.नि. १३।४३)। **नीलिका**—'श्यामलं मण्डलं व्यङ्गं मुखादन्यत्र नीलिका' (अष्टांगसंग्रहः)।

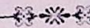
हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम्।
पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः॥ ४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मिश्रकचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः॥ २५॥



अङ्गराग—हरीतकी चूर्ण, निम्बपत्र, आम्रवृक्ष की छाल, अनार के फूल का वृन्त (Stalk) और मेंहदी के पत्रों से तैयार किया गया लेप है। यह अंगराग राजाओं के योग्य है॥ ४३॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त
'मिश्रकचिकित्सा' नामक पचीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २५॥



अध्याय-सारांश

'मिश्रकचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—कर्णपाली के पाँच प्रकार के रोगों के लक्षणों का उल्लेख किया गया है (३-११), इनकी अलग-अलग चिकित्सा का उल्लेख है, एतदर्थ स्नेहादि क्रम, अभ्यंग, परिषेक, प्रदेह, रक्तमोक्षण बताये गये हैं (१३), परिपोटक में लेप, उत्पात में तैल, उन्मन्थ में तालपत्री आदि से सिद्ध तैल, परिलेही में गोमयपिण्ड से स्वेदन आदि बताये गये हैं (२१), विडंगादि से सिद्ध तैल का अभ्यंग कर्णपाली को मृदु और पुष्ट बनाता है। पाली के बढ़ाने के लिए लोपाकानूप की मज्जा से सिद्ध तैल का प्रयोग किया जाता है जिससे वह भूषणक्षम हो जाती है (२७), नीलीदलादि तैल अभ्यंग करने पर पलितनाशन है। इसी प्रकार सैरीयादि तैल उत्तम रसायन है (३२-३७), व्यंग, नीलिका आदि को नष्ट करने वाले लाक्षारोध्रादि तैल का वर्णन भी किया गया है, अन्त में राजार्ह 'अङ्गराग' के घटकों का उल्लेख है (४३)।

●

षड्विंशोऽध्यायः

अथातः क्षीणबलीयं वाजीकरणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'क्षीणबलीयं वाजीकरणचिकित्सितम्' (The Aphrodisiac Treatments for the Sexually Weak) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः । सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ॥ ३ ॥
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम् । योषित्प्रसङ्गात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम् ॥
विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम् । नृणां च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः ॥

वाजीकरण के योग्य व्यक्ति (Scope for aphrodisiac treatment)—सभी ऋतुओं में प्रतिदिन मैथुन करना उस व्यक्ति के लिए निषिद्ध नहीं है जो कल्य अर्थात् रोग रहित है, तरुण (उदग्र वय) है और वाजीकरण का सेवन करता है। वाजीकरण का सेवन निम्नलिखित में हितकर है—स्थविर (वृद्ध व्यक्ति), रिरंसु (स्त्रीगमन की इच्छा वाले), स्त्रियों के स्नेह (प्यार) की कामना करने वाले, अधिक व्यवाय (मैथुन) से जो क्षीण हो गये हैं, जो क्लीब (Impotent) हैं, जिनमें शुक्रधातु अल्प हो गयी हैं। वाजीकरण उनके लिए भी हितकर है जो विलासी (Luxurious) एवं धनाढ्य हैं, जो सौन्दर्यसम्पन्न तथा युवा हैं तथा जिनके पास बहुत स्त्रियाँ हैं॥ ३-५ ॥

विमर्श—वाजीकरण—इस शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं; यथा—१. 'येन स्त्रीषु विषये वाजीव नरः सामर्थ्यं प्राप्नोति तत् वाजीकरणम्' । २. 'येनात्यर्थः व्यज्यते स्त्रीषु तत् वाजीकरणम्' । ३. 'अन्ये तु–वजनं वाजो वेगः प्रस्रवात् शुक्रस्य, स विद्यते येषां ते वाजिनः, अवाजिनो वाजिनः क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम्' । ४. 'अन्ये तु–'वाजीशब्देन शुक्रमभिधीयते, तेन शुक्ररहितस्य वाजी शुक्रं क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्' (डल्हणः) ।

चरक (चि. २) ने वाजीकरण के सेवन का अधिकार आत्मवान् व्यक्ति को दिया है ('वाजीकरणमन्विच्छेत्पुरुषो नित्यमात्मवान्') और इस पर चक्रपाणि का कहना है—'आत्मवानित्यनेन दुरात्मनो वृष्यकरणं निषेधयति, स हि वृष्योपयोगादुपचितधातुः सन्नगम्यागमनमपि कुर्यात्' ।

इसी प्रसंग में एक बात और सामने आयी है कि 'पुत्रस्यायतनं ह्येतत्' (च.) अर्थात् वाजीकरण के सेवन का उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति है, क्योंकि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' कहा गया है। इस सम्बन्ध में जेज्जट पुत्र और पुत्री में अभेद बताते हैं—"पुत्रप्राधान्याच्चैवमभिधानं दुहितृप्राप्तावपि धर्मादयो भवन्ति। तथाहि स्मरणं वचः—'नाग्निचिन्नरकं यायात् न सत्पुत्री न कुत्रचित्। सत्यवादी तथा जन्तुर्योऽद्भिः कन्यां प्रयच्छति' ॥ किञ्च पुत्रिका पुत्रा अप्यभ्युदयहेतवः। तथा ह्यैतिह्यं—ययातिः किल स्वर्गात् परिच्युतः पुत्रिकापुत्रैरष्टकादिभिः स्वर्ग एव पुनः प्रापित इति"।

यह प्रसंग आजकल के परिवार-नियोजन में उत्साहवर्धक है। चरक के अनुसार वाजीकरण का एक मात्र लक्ष्य पुत्र (पुत्री) उत्पन्न करना है ('पुत्रार्थं क्रियते भार्या')।

सेवमानो यदौचित्याद्वाजीवात्यर्थवेगवान्। नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते ॥ ६ ॥

वाजीकरण की परिभाषा—जो विधिपूर्वक सेवन किये जाने पर अश्व की तरह बलवती मैथुन शक्ति प्रदान करना है तथा जिससे मनुष्य मैथुन क्रिया में स्त्रियों को सन्तुष्ट करने में समर्थ होता है वह 'वाजीकरण' कहलाता है ॥ ६ ॥

विमर्श—डल्हण ने तीन प्रकार के वाजीकरण द्रव्यों का उल्लेख किया है—**१. जनक**—जो घृतादि द्रव्य सेवन किये जाने पर रस, रक्त, मांस, मेदादि क्रम से पाक को प्राप्त होते हुए मैथुन शक्ति को बढ़ाते हैं; **२. प्रवर्तक**—जो सेवन किये जाने पर तुरन्त शुक्रक्षरण की क्रिया को सम्पन्न करते हैं, जैसे—उच्चटाचूर्ण ('अतो विरेचनं शुक्रस्य पतनायाभिमुखीभावमात्रकरणम्'); **३. जनकप्रवर्तक**—इन द्रव्यों में जनकत्व और प्रवर्तकत्व दोनों गुण होते हैं; जैसे—'जनकप्रवर्तकं तु गव्यघृतगोधूममाषाण्डफलादिकम्'।

'सद्यः शुक्रकरं पयः' की तरह कुछ द्रव्यों की शुक्रोत्पादन प्रक्रिया के सम्बन्ध में वाग्भट का कथन—'केचिदाहुरहोरात्रात् दशाहादपरे परे। मासात्प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति॥ वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यः शुक्रादि कुर्वते। प्रायः करोत्यहोरात्रात् कर्मान्यच्च भेषजम्'॥

भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च। वाचः श्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना। गीतं श्रोत्रमनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः॥८॥
गन्धा मनोज्ञा रूपाणि चित्राण्युपवनानि च। मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम्॥९॥

मनुष्य में वाजीकरण करने वाले कारक (Aphrodisiac effect in men)—विविध प्रकार के भोजन तथा पानीय पदार्थ (Drinks), कर्णप्रिय शब्द (Soothing to the ear), स्पर्श करने पर सुख देने वाली स्त्रियों की त्वचा, चाँदनी वाली रातें (Moon light nights), नवयुवा कामुक स्त्री (कामिनी), कानों को प्रिय लगने वाले मनोहर गाने (Regaling songs), पान (Betels), मदिरा (Wines), मालाएँ, मनोज्ञ सुगन्ध, सुन्दर दृश्य, आकर्षक उपवन और मनुष्य के मन की प्रसन्नता (Absence of mental trauma)—ये मनुष्य में वाजीकरण करते हैं॥ ७-९॥

तैस्तैर्भावैरहृद्यैस्तु रिरंसोर्मनसि क्षते।
द्वेष्यस्त्रीसम्प्रयोगाच्च क्लैब्यं तन्मानसं स्मृतम्। कटुकाम्लोष्णलवणैरतिमात्रोपसेवितैः॥१०॥
सौम्यधातुक्षयो दृष्टः क्लैब्यं तदपरं स्मृतम्। अतिव्यवायशीलो यो न च वाजीक्रियारतः॥११॥
ध्वजभङ्गमवाप्नोति तच्छुक्रक्षयहेतुकम्। महता मेढ्ररोगेण मर्मच्छेदेन वा पुनः॥१२॥
क्लैब्यमेतच्चतुर्थं स्यान्नृणां पुंस्त्वोपघातजम्। जन्मप्रभृति यः क्लीबः क्लैब्यः तत् सहजं स्मृतम्॥
बलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद् ब्रह्मचर्यतः। षष्ठं क्लैब्यं मतं तत्तु स्थिरशुक्रनिमित्तजम्॥१४॥

नपुंसकता (Impotency) **के हेतु एवं वर्गीकरण—(१) मानसिक क्लैब्य**—जब स्त्रीरमण की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को किन्हीं अप्रिय भावों (Unfavourable factors) से मन को आघात (Mental shock) पहुँचता है तथा द्वेष रखने वाली स्त्री से प्रसंग होने पर 'मानसिक नपुंसकता' (Psychological impotency) होती है। **(२) धातुक्षयजन्य क्लैब्य**—क्लैब्य (क्लीबता = नपुंसकता) का एक अन्य प्रकार उन पुरुषों में पाया जाता है जो कटुक (Pungent), अम्ल (Sour), उष्ण और लवणरस वाले द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करते हैं जिससे मृदु ऊतकों (सौम्य धातु/Demulcent tissues) का क्षय हो जाता है। **(३) शुक्रक्षयहेतुक क्लैब्य**—जो मनुष्य अतिव्यवाय (मैथुन) में रत रहता है और वाजीकरण का सेवन नहीं करता है वह शुक्रक्षय के कारण होने वाली तीसरे प्रकार की नपुंसकता से पीड़ित होता है। **(४) पुंस्त्वोपघातज क्लैब्य**—शिश्नेन्द्रिय के भयंकर रोग से पीड़ित व्यक्ति तथा जिसका अभिघातादि से मर्मच्छेद हो गया है ('शुक्रवहनाडीनां छेदनात्') वह चतुर्थ प्रकार के पुंस्त्वनाशक क्लैब्य से पीड़ित होता है। **(५) सहज क्लैब्य**—जिस व्यक्ति में क्लीबता जन्म से ही उपस्थित होती है (Sexual incapacity since birth) वह जन्मजात नपुंसकता (Congenital impotency) कहलाती है। **(६) स्थिरशुक्रनिमित्तज क्लैब्य**—बलवान् व्यक्ति जब ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ मनोनिग्रह के कारण सुरत-अभिलाषा (Sexual desire) को नियन्त्रित कर लेता है तो यह शुक्रधातु के स्थिर हो जाने से उत्पन्न छठी प्रकार की नपुंसकता है॥ १०-१४॥

क्लैब्य
(Impotency)

सं०	नाम	कारण
१.	मानसिक	मन को आघात लगना, द्वेष्य स्त्रीप्रसंग
२.	अपथ्यजन्य	कटुक, अम्ल, लवणादि के अधिक सेवन से
३.	अतिव्यवायजन्य	अधिक व्यवाय, वाजीकरण का सेवन न करना, शुक्रक्षय
४.	अभिघातजन्य	व्याधि या चोट लगने से शुक्रवह नाडीछेदन से
५.	सहज	जन्म से ही विकृति होने से
६.	ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य से मनोनिग्रह, स्थिर शुक्रता से

असाध्यं सहजं क्लैब्यं मर्मच्छेदाच्च यद्भवेत्। साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः ।। १५ ।।

साध्यासाध्यता—सहज और मर्मच्छेद से उत्पन्न क्लैब्य असाध्य है। शेष क्लैब्य साध्य हैं। इनकी चिकित्सा निदान-परिवर्जन (Against the causative factors) है।। १५।।

विधिर्वाजीकरो यस्तु तं प्रवक्ष्याम्यतः परम्। तिलमाषविदारीणां शालीनां चूर्णमेव वा ।। १६ ।।
पौण्ड्रकेक्षुरसैरार्द्रं मर्दितं सैन्धवान्वितम्। वराहमेदसा युक्तां घृतेनोत्कारिकां पचेत् ।। १७ ।।
तां भक्षयित्वा पुरुषो गच्छेत्तु प्रमदाशतम्।

अब वाजीकरण-विधि (Aphrodisiac therapy) का वर्णन किया जायेगा—

वाजीकर उत्कारिका—तिल, उड़द, विदारीकन्द और शालीचावल—इनके चूर्ण को पौण्ड्रक किस्म के गन्ने के रस में मलकर सेंधानमक मिला लें। फिर इसमें सूअर की चर्बी मिलाकर घी में उत्कारिका बना लें। इस उत्कारिका के सेवन से मनुष्य शतसंख्यक स्त्रियों से सहवास करने में समर्थ होता है।। १६-१७ ।।

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान् ।। १८ ।।
शिशुमारवसापक्वाः शष्कुल्यस्तैस्तिलैः कृताः । यः खादेत् स पुमान् गच्छेत् स्त्रीणां शतमपूर्ववत् ।।

बस्ताण्डयोग—बकरे के अण्डों (Goats testes) से सिद्ध दुग्ध में अनेक बार भावित (Saturated) तिलों से बनी शष्कुलियों को शिशुमार वसा (Porpoises fat) में पकाकर खाने से पुरुष अपूर्व रूप से शतसंख्यक स्त्रियों में गमन कर सकता है (अथवा 'बस्ताण्डसिद्ध दुग्ध में भावित तिलों को खाना' एक योग और 'इन्हीं तिलों से बनी शष्कुलि को शिशुमारवसा में पकाकर खाना' दूसरा योग है) ।। १८-१९ ।।

विमर्श—'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः' ।।

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे क्षीरसर्पिषि। साधिते भक्षयेद्यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम् ।। २० ।।

बस्ताण्डक्षीर योग—बकरे के अण्ड को क्षीरसर्पि (दूध से निकले घी) में सिद्ध कर तथा पिप्पली चूर्ण और लवण मिलाकर खाने वाला व्यक्ति (शीतल जल के अनुपान से) सौ स्त्रियों से सम्भोग कर सकता है।। २० ।।

पिप्पलीमाषशालीनां यवगोधूमयोस्तथा। चूर्णभागैः समैस्तैस्तु घृते पूपलिकां पचेत् ।। २१ ।।
तां भक्षयित्वा पीत्वा तु शर्करामधुरं पयः। नरश्चटकवद्गच्छेद्दशवारान्निरन्तरम् ।। २२ ।।

वृष्यपूपलिका—पीपल, उड़द, शालीचावल, जौ और गेहूँ के आटे को (सबको समान मात्रा में लेकर) घी में पूरी तल लें। इस पूरी को खाकर तथा शर्करायुक्त दुग्ध का पान कर पुरुष चिड़े (Sparrow) की तरह निरन्तर दस बार स्त्रीगमन कर सकता है॥ २१-२२॥

विदार्याः सुकृतं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम्। सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दश स्त्रीरधिगच्छति॥ २३॥

विदारीकन्द योग—विदारीकन्द के चूर्ण को इसी के स्वरस से भावित कर तथा घी और मधु (विषम मात्रा में) मिलाकर चाटने के बाद पुरुष लगातार दस स्त्रियों से भोग कर सकता है॥ २३॥

एवमामलकं चूर्णं स्वरसेनैव भावितम्। शर्करामधुसर्पिर्भिर्युक्तं लीढ्वा पयः पिबेत्॥ २४॥
एतेनाशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति।

आमलकी चूर्ण योग—इसी प्रकार आँवले के चूर्ण को उसी के स्वरस से भावित कर तथा शर्करा, मधु और घी में मिलाकर चाट लें। तदनन्तर दूध का पान करने वाला व्यक्ति अस्सी वर्ष का हो तो भी मैथुन शक्ति की दृष्टि से युवक समान हो जाता है॥ २४॥

पिप्पलीलवणोपेते बस्ताण्डे घृतसाधिते॥ २५॥
शिशुमारस्य वा खादेत्ते तु वाजीकरे भृशम्। कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत्॥ २६॥

बस्ताण्डवाजीकर योग—बकरे अथवा शिशुमार के अण्डों (Testes) को घी में सिद्ध (पका) कर तथा पिप्पली चूर्ण और लवण मिला कर खाना वाजीकरण गुण करता है॥ २५॥

अन्य वृष्य अण्डयोग—इसी प्रकार कुलीर (मत्स्यविशेषः/Crab), कछुआ (Tortoise) और नक्र (घड़ियाल/Alligator) के अण्डों (Eggs) का सेवन भी समान गुणकारी हैं॥ २६॥

विमर्श—यहाँ कुलीरादि के अण्डों से अभिप्राय अण्डों (Eggs) से ही है, वृषणों या मुष्क (Testes) से नहीं—'अण्डमत्र प्राणाधारो वर्तुलः न तु मुष्कः'।

महिषर्षभबस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः।

शुक्रपान—महिष (भैंसा/Male buffalo), ऋषभ (बैल) और बकरे का शुक्र (Semen) का पान वाजीकरण के लिए करें।

अश्वत्थफलमूलत्वक्शुङ्गासिद्धं पयो नरः॥ २७॥
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति।

अश्वत्थादि योग—जो व्यक्ति पीपल के फल, मूल, छाल और आगे के कोमल पत्रों (शुङ्गाः अग्रपल्लवाः/Sprouts) को दूध में पकाकर (क्षीरपाक) तथा शर्करा और मधु मिलाकर पीता है वह कुलिंग (Sparrow) की तरह कामातुर होता है (हृष्यते सकामो भवति/Becomes sexually vigorous)॥ २७॥

विदारिमूलकल्कं तु शृतेन पयसा नरः॥ २८॥
उडुम्बरसमं पीत्वा वृद्धोऽपि तरुणायते।

विदारीमूलकल्क योग—इसी प्रकार विदारीमूल के कल्क को उदुम्बर प्रमाण (कर्षभर अथवा उदुम्बर के साथ—'साकं सार्धं समं सह'–अ.को.) लेकर गरम दूध के अनुपान से लेने पर वृद्ध व्यक्ति भी युवा की तरह (कामुकता में) हो जाता है॥ २८॥

माषाणां पलमेकं तु संयुक्तं क्षौद्रसर्पिषा॥ २९॥
अवलिह्य पयः पीत्वा तेन वाजी भवेन्नरः।

माषयोग—उड़दचूर्ण एक पल को मधु-घृत मिलाकर चाट ले और बाद में दूध पी ले तो व्यक्ति अश्व की तरह कामसमर्थ हो जाता है॥ २९॥

क्षीरपक्वांस्तु गोधूमानात्मगुप्ताफलैः सह॥ ३०॥
शीतान् घृतयुतान् खादेत्ततः पश्चात्पयः पिबेत्।

क्रौंच योग—इसी उद्देश्य के लिए (वाजीकरणार्थ) क्रौंच के बीजों के साथ गेहूँ को दूध में पकाकर तथा ठण्डा कर घृत के साथ खावे और बाद में दूध पी ले॥ ३०॥

नक्रमूषिकमण्डूकचटकाण्डकृतं घृतम्॥ ३१॥
पादाभ्यङ्गेन कुरुते बलं भूमिं तु न स्पृशेत्। यावत् स्पृशति नो भूमिं तावद्गच्छेन्निरन्तरम्॥ ३२॥

अन्य अण्डयोग—नक्र (घड़ियाल), चूहा, मेंढ़क और चिड़ा (Sparrow) के अण्डों के साथ पकाये गये घृत से पुरुष के पैरों में मालिश करने पर तब तक मैथुन क्रिया में रत रह सकता है जब तक वह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता है॥ ३१-३२॥

स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम्। धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत्॥ ३३॥

क्रौंच-इक्षुरक योग—स्वयंगुप्ता (क्रौंच के बीज) और तालमखाना—इनके फलचूर्ण को शर्करा मिले धारोष्ण (कच्चे = ताजे) दूध से लेने से शुक्र धातु का क्षय नहीं होता है॥ ३३॥

उच्चटाचूर्णमप्येवं क्षीरेणोत्तममिष्यते।
शतावर्युच्चटाचूर्णं पेयमेवं बलार्थिना। स्वयंगुप्ताफलैर्युक्तं माषसूपं पिबेन्नरः॥ ३४॥

उच्चटा एवं शतावरी चूर्ण योग—उच्चटा ('उच्चटा श्वेतदुर्वारिका स्वल्पः विटपः प्रायशो नदीतीरे दृश्यते' अथवा—'उच्चटा घुर्घुराख्या') का चूर्ण भी इसी प्रकार धारोष्ण दुग्ध से लेने पर उत्तम वाजीकर है। कामशक्ति को बढ़ाने की इच्छा वाले व्यक्ति को भी शतावरी और उच्चटा के मूल को पीसकर धारोष्ण दुग्ध से पीना चाहिए। इसी प्रकार क्रौंच के फलचूर्ण से युक्त उड़द का सूप (यूष 'यूषः किञ्चिद्घनः स्मृतः') पीना चाहिए॥ ३४॥

गुप्ताफलं गोक्षुरकाच्च बीजं तथोच्चटां गोपयसा विपाच्य।
खजाहतं शर्करया च युक्तं पीत्वा नरो हृष्यति सर्वरात्रम्॥ ३५॥

गुप्ताफलादि योग—क्रौंच, गोखरू और उच्चटा—इनके बीजों को गोदुग्ध में पकावें और कौंचे से पकाते समय बारीक कर लें (खजाहतम्)। फिर शर्करा मिलाकर यदि कोई पुरुष इसका पान करता है तो वह सारी रात स्त्रीगमन करने में समर्थ होता है॥ ३५॥

माषान् विदारीमपि सोच्चटां च क्षीरे गवां क्षौद्रघृतोपपन्नाम्।
पीत्वा नरः शर्करया सुयुक्तां कुलिङ्गवद्धृष्यति सर्वरात्रम्॥ ३६॥

माषादि योग—उड़द, विदारीकन्द और उच्चटा को मधु, घृत और गोदुग्ध के साथ शर्करा मिलाकर पीने से पुरुष चिड़े की तरह सारी रात कामसमर्थ रहता है॥ ३६॥

गृष्टीनां वृद्धवत्सानां माषपर्णभृतां गवाम्। यत् क्षीरं तत् प्रशंसन्ति बलकामेषु जन्तुषु॥ ३७॥

गृष्टिक्षीरादि योग—गृष्टि (गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः/पहली बार ब्याई हुई गाय), जिनके बछड़े जीवित हों और जिन्हें उड़द के हरे पत्ते खिलाकर पाला गया हो ('माषपर्णभृताम् = माषपर्णेन पोषितानाम्, माषपर्णग्रहणं फलव्युदासार्थम्') उनके दूध की प्राणियों के वाजीकरण के लिए प्रशंसा की जाती है॥ ३७॥

क्षीरमांसगणाः सर्वे काकोल्यादिश्च पूजितः। वाजीकरणहेतोर्हि तस्मात्तत्तु प्रयोजयेत्॥ ३८॥

वाजीकर गण—सभी प्रकार के भक्ष्य मांस (या मांसगण) और दुग्ध वर्ग तथा काकोल्यादि गण की औषधियाँ वाजीकरण के लिए उत्तम मानी गयी हैं। एतदर्थ इनका प्रयोग करना चाहिए॥ ३८॥

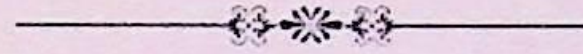
एते वाजीकरा योगाः प्रीत्यपत्यबलप्रदाः। सेव्या विशुद्धोपचितदेहैः कालाद्यपेक्षया॥ ३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने क्षीणबलीयवाजीकरण-चिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥



वाजीकरण का उद्देश्य—जो व्यक्ति वमनादि से शुद्ध शरीर वाले अतएव पुष्टदेह है, उन्हें ऋतु आदि का विचार कर प्रीति, सन्तान और बल की वृद्धि करने वाले इन वाजीकरण योगों का सेवन करना चाहिए॥ ३९॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'क्षीणबलीय-वाजीकरणचिकित्सा' नामक छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २६॥



अध्याय-सारांश

'क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—वाजीकरण के योग्य व्यक्तियों का उल्लेख कर वाजीकरण की परिभाषा बतायी गयी है (६-८), नपुंसकता के हेतु और वर्गीकरण, छः प्रकार की नपुंसकता और उनके कारण बताये गये हैं (१४), नपुंसकता की साध्यासाध्यता (१५), वाजीकरण योग— बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग के लिए, अण्ड (Testes) और अण्डें (Eggs), क्रौंचबीज, उच्चटाबीज, विदारीकन्द, विविध द्रव्यों से क्षीरपाक, घृतपाक, तैलपाक आदि का वाजीकरणार्थ मुख्य रूप से उल्लेख है। जीवितवत्सा माषपर्णभोजी सकृत्प्रसूता गाय के दूध की एतदर्थ प्रशंसा, प्रीति एवं सन्तान के लिए तथा बलवृद्धि के लिए वाजीकरण के सेवन की सलाह (३९)।



सप्तविंशोऽध्यायः

अथातः सर्वोपघातशमनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'सर्वोपघातशमनीयं रसायनम्' (The General Restorative Treatment for All Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'रसायन' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की गयी है; यथा—(१) 'रसादिधातूनामिदमाप्यायनम्'। (२) 'भेषजाश्रितानां रसवीर्यविपाकप्रभावपरमायुर्बलवीर्याणां वयःस्थैर्यकराणां लाभोपायो रसायनम्'। (३) 'वर्धकस्थापकमप्राप्तप्रापकं वेत्यर्थः' (डल्हणः)। (४) 'प्रशस्तानां रसरुधिरादीनां यो लाभोपायः स रसायनमित्युच्यते' (अ.द.)। (५) 'शरीरसंयोगदार्ढ्याद् दीर्घायुकर्तृत्वसाधारणधर्मयोगात् उपचरितव्याधिहरं रसायनमिहोच्यते' (च.पा.)।

इन सबका सार यह है कि रसायन-सेवन से रसादि धातुओं का उत्कृष्ट निर्माण होता है। उसी से शरीर की सुदृढ़ता बनी रहती है, यौवन की अवधि लम्बी होती है, दीर्घायु एवं नीरोगता की उपलब्धि होती है।

रसायन और वाजीकरण दोनों को महाफल देने वाला बतलाया गया है। इनमें भी रसायन श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके विधिपूर्वक सेवन से शत-सहस्र वर्षायु की प्राप्ति होती है। रसायन-सेवन से दीर्घायु ही नहीं अपितु मोक्षोपलब्धि भी होती है ('न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवत् निषेवते')। वाजीकरण का सेवन प्रायः युवावस्था में किया जाता है ('कल्यस्योदग्रवयसः'–सु.चि. २६), जब कि रसायन सभी अवस्थाओं में प्रयोज्य है ('प्रथमे वयसि मध्ये वा'–च.)। रसायन के भेदों का कई तरह से उल्लेख किया गया है।

रसायन— (क) : १. कुटीप्रावेशिक, २. वातातपिक

(ख) : १. काम्य, २. नैमित्तिक, ३. आजस्रिक

(ग) : १. संशोधन, २. संशमन

चरक ने (चि. १) रसायन के लाभ इस प्रकार गिनाये हैं—१. शत-सहस्र वर्ष की लम्बी आयु, २. स्मृति ('अनुभूतविषयासम्प्रमोक्षः'), ३. मेधा ('अनुभूतग्राहिणी शक्तिः'), ४. युवावस्था (अधिक समय तक), ५. प्रभौदार्य, वर्णौदार्य, स्वरौदार्य (औदार्यं गुणोत्कर्षः), ६. देहबल एवं इन्द्रियबल की वृद्धि, ७. वाक्सिद्धि ('वचनानुसारमर्थसिद्धिः, सिद्धानां वाचोऽर्थोऽनुधावति'), ८. प्रणति ('इतरप्राणिकृता वन्दना') और ९. कान्ति (शोभा) की प्राप्ति।

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्। प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनोः सदा ॥ ३ ॥
नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रासायनो विधिः। न भाति वाससि क्लिष्टे रङ्गयोग इवाहितः ॥ ४ ॥

रसायन-सेवन की आयु—विद्वान् चिकित्सक सदा ही वमनादि से शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को बाल्यावस्था या मध्यायु (Youth or middle age) में रसायन का सेवन (Restorative treatment) करावे। जिस प्रकार मलिन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता है उसी प्रकार उन व्यक्तियों को रसायन-सेवन कराने पर इच्छित लाभ प्राप्त नहीं होता है जिनका रसायन-सेवन से पूर्व वमन-विरेचनादि से देह-संशोधन नहीं किया गया है ॥ ३-४ ॥

शरीरस्योपघाता ये दोषजा मानसास्तथा। उपदिष्टाः प्रदेशेषु तेषां वक्ष्यामि वारणम् ॥ ५ ॥

दोषवारण रसायनों का वर्णन—शरीर को कष्ट देने वाले दोषज और मानसिक रोग जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, अब उनके निवारण की रसायन-विधियों का वर्णन किया जायेगा॥ ५॥

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः। त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः॥ ६॥

वयःस्थापक रसायन—शीतल जल, दूध, मधु और घृत—इन चारों को एक साथ, प्रत्येक को अलग-अलग; दो-दो अथवा तीन-तीन को (इस प्रकार ये पन्द्रह योग हैं) एक साथ प्राक् (पहले/प्रातः) लेने से ये वयःस्थापक (Longevity) हैं॥ ६॥

तत्र विडङ्गतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुकमधुयुक्तं यथाबलं शीततोयेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेदेवमहरहर्मासं, तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा, मधुद्राक्षाक्वाथयुक्तं वा, मध्वामलकरसाभ्यां वा, गुडूचीक्वाथेन वा, एममेते पञ्च प्रयोगा भवन्ति; जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेनाल्पस्नेहेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्; एते खल्वर्शांसि क्षपयन्ति, कृमीनुपघ्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति, मासे मासे च प्रयोगे वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति॥ ७॥

विडङ्ग-तण्डुलादि पाँच रसायन योग—(१) तुषादि रहित विडंगबीज चूर्ण तथा समान मात्रा में मुलेठी चूर्ण को शारीर बल के अनुसार उपयुक्त मात्रा में लेकर शीतल जल से पीवे और बाद में भी शीतल जल का पान करें। ऐसा प्रतिदिन एक मास तक करें। (२) अथवा विडंगबीज और मधुयष्टि चूर्ण को भल्लातक क्वाथ से एक मास तक सेवन करें या (३) इन दोनों के चूर्ण को एक मास तक मधु एवं द्राक्षा के क्वाथ से लें या (४) मधु और आँवले के रस से लें अथवा (५) गिलोय के काढ़े से इन दोनों के चूर्ण को एक मास तक लें। इस प्रकार ये पाँच योग हैं। इनके जीर्ण (पच) हो जाने पर मूँग और आँवले के लवण रहित तथा थोड़े स्नेह वाले यूष के साथ घृतयुक्त चावलों का भोजन करें। इस तरह सेवन किये जाने पर ये योग अर्श और उदरकृमियों को नष्ट करते हैं एवं ग्रहण तथा धारण शक्ति को पैदा करते हैं। यदि इनका मास-मास तक सेवन किया जाय तो आयु में सौ वर्ष तक की वृद्धि होती है॥ ७॥

विडङ्गतण्डुलानां द्रोणं पिष्टपचने पिष्टवदुपस्वेद्य विगतकषायं स्विन्नमवतार्य दृषदि पिष्टमायसे दृढे कुम्भे मधूदकोत्तरं प्रावृषि भस्मराशावन्तर्गृहे चतुरो मासान्निदध्यात्, वर्षाविगमे चोद्धृत्योपसंस्कृतशरीरः सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा प्रातःप्रातर्यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात्, पांशुशय्यायां शयीत, तस्य मासादूर्ध्वं सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तानणुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत्, द्वितीये पिपीलिकास्तृतीये यूकास्तथैवापहरेत्, चतुर्थे दन्तनखरोमाण्यवशीर्यन्ते; पञ्चमे प्रशस्तगुणलक्षणानि जायन्ते, अमानुषं चादित्यप्रकाशं वपुरधिगच्छति, दूराच्छ्रवणानि दर्शनानि चास्य भवन्ति, रजस्तमसी चापोह्य सत्त्वमधितिष्ठति, श्रुतनिगाद्यपूर्वोत्पादी गजबलोऽश्वजवः पुनर्युवाऽष्टौ वर्षशतान्यायुरवाप्नोति; तस्याणुतैलमभ्यङ्गार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे, सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चन्दनमुपलेपनार्थे, भल्लातकविधानवदाहारः परिहारश्च।

विडंग-तण्डुलों का दूसरा रसायन योग—निष्तुष विडंगबीज एक द्रोण लेकर पात्र में पिठ्ठी बनाये जाने वाले द्रव्यों की तरह उबाल लें और जब जल सूख जाय तो उतार कर स्विन्न हो जाने के उपरान्त शिला पर पीस कर लोहे के मजबूत पात्र में रखें और उसमें मधूदक (पानी मिला शहद) भरकर वर्षर्तु में घर के अन्दर राख के ढेर में चार महीने के लिए दबा दें। इसे वर्षा ऋतु के उपरान्त निकाल लें और वमनादि से शुद्ध शरीर वाले उस व्यक्ति को प्रातःकाल शारीर बल की जाँच कर दें, जिसने एक हजार सम्पात आहुति दी हो ('सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा सहस्रसम्पाताध्यायोक्तरुग्वधादिमन्त्रैः सहस्रं होमं कृत्वा उपयुञ्जीत')। इसके जीर्ण हो (पच) जाने के उपरान्त लवणरहित और थोड़े स्नेह वाले मूँग तथा आँवले के यूष के साथ घृत मिलाकर चावल खाने को दें तथा रेते (Bed of sand) पर सुलावें।

एक मास के बाद इस व्यक्ति के सारे शरीर से कृमियाँ बाहर निकल आयेगीं। जिन्हें अणुतैल लगाकर (अभ्यंग कर) बाँस के विदलों (पत्रों) से हटा दें। दूसरे मास में चीटियाँ, तीसरे मास में जूँ तथा चौथे

मास में व्यक्ति के दाँत, नख और रोम झड़ जाते हैं। पाँचवें मास में उत्तम गुण वाले लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर मानवेतर (दैवीय) सूर्य की तरह प्रकाशवान् हो जाता है। वह दूर के शब्दों को सुन सकता है और दूरस्थ वस्तुओं को भी देखने में समर्थ होता है। वह रजोगुणों और तमोगुणों को परास्त कर सत्त्वगुणसम्पन्न हो जाता है। सुनी हुई बात को याद रखने वाला (श्रुतिधर) और कविता करने की अपूर्व क्षमता वाला हो जाता है। इसी प्रकार हाथी की तरह ताकतवर और वाजी की तरह वेगवान् होकर आठ सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।

इस व्यक्ति के शरीर पर अभ्यंग के लिए अणुतैल का प्रयोग करना चाहिए। कृमि-यूकादि के कारण बने व्रणों को भरने के लिए अजकर्ण (महासर्ज, 'गन्धमुण्ड' इति लोके) के क्वाथ (कषायोऽत्र कल्कः) से 'उत्सादन' ('निम्नव्रणस्योन्नतिकरणम्'–ड.) करें, स्नानार्थ उशीर (खश) युक्त कूपजल का प्रयोग करें, उपलेपन के लिए रक्तचन्दन को घिसकर लगायें और आहार एवं अन्य नियमों का पालन भल्लातक-विधान ('त्रिवृतागारं प्रविश्य आहार इति') की तरह करें।

काश्मर्याणां निष्कुलीकृतानामेष एव कल्पः पांशुशय्याभोजनवर्जम्; अत्र हि पयसा शृतेन भोक्तव्यं, समानमन्यत् पूर्वेणाशिषश्च। शोणितपित्तनिमित्तेषु विकारेष्वेतेषामुपयोगः ॥ ८॥

काश्मर्य रसायन—इसमें भी गम्भारी के फलों को बीजादि से रहित कर इसी प्रकार प्रयोग में लायें किन्तु इसमें पांशुशय्या और भोजन के पूर्वोक्त नियमों का पालन नहीं किया जाता है। यहाँ रोगी को उबले हुए दूध के साथ भोजन देना चाहिए। अन्य गुण (आशिषः प्रयोगविधिः) पूर्व के समान हैं। प्रकुपित रक्तपित्त में इन योगों का उपयोग किया जाता है॥ ८॥

यथोक्तमागारं प्रविश्य बलामूलार्धपलं पलं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य द्वादश वर्षाणि वयस्तिष्ठति; एवं दिवसशतमुपयुज्य वर्षशतं वयस्तिष्ठति। एवमेवातिबलानागबलाविदारीशतावरीणामुपयोगः। विशेषतस्त्वतिबलामुदकेन, नागबलाचूर्णं मधुना, विदारीचूर्णं क्षीरेण, शतावरीमप्येवं, पूर्वेणान्यत्समानमाशिषश्च समाः। एतास्त्वौषधयो बलकामानां शोषिणां रक्तपित्तोपसृष्टानां शोणितं छर्दयतां विरिच्यमानानां चोपदिश्यन्ते ॥ ९ ॥

बलामूल रसायन—पूर्व वर्णित के अनुसार (इस आगार की रचनाविधि का वृद्ध वाग्भट ने विस्तार से वर्णन किया है) भवन में प्रविष्ट होकर मनुष्य एक या आधा पल बलामूल चूर्ण को दूध में घोल कर पीवे और पच जाने पर दूध, घी और चावल का आहार करे। यदि इस प्रकार बारह दिन तक सेवन करें तो बारह वर्ष की आयु बढ़ती है और सौ दिन सेवन करने पर सौ वर्ष की आयु होती है।

इसी विधि से अतिबला, नागबला, विदारीकन्द और शतावरी का उपयोग किया जाता है। विशेषकर अतिबला का जल से, नागबला चूर्ण का मधु से, विदारीचूर्ण का दूध से और शतावरी चूर्ण का भी दूध से सेवन करना चाहिए। शेष गुण आदि सभी पूर्व के समान हैं। ये औषधियाँ बल की कामना करने वालों, शोषी और रक्तपित्त से पीड़ितों के लिए, रक्तवमन और रक्तातिसार वालों के लिए भी हितकर हैं॥ ९॥

वाराहीमूलतुलाचूर्णं कृत्वा ततो मात्रां मधुयुक्तां पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, प्रतिषेधोऽत्र पूर्ववत्; प्रयोगमिममुपसेवमानो वर्षशतमायुरवाप्नोति स्त्रीषु चाक्षयताम्। एतेनैव चूर्णेन पयोऽवचूर्ण्य शृतशीतमभिमथ्याज्यमुत्पाद्य मधुयुतमुपयुञ्जीत सायंप्रातरेककालं वा, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं मासमुपयुज्य वर्षशतायुर्भवति॥ १०॥

वाराहीकन्द रसायन—वराहकन्द (*Tacca aspera*) एक तुला प्रमाण लेकर इसका चूर्ण बना लें। इसकी समुचित मात्रा को मधु मिलाकर दूध में घोल कर लें। जीर्ण होने पर दूध, घी और चावल का आहार करें। निषेध (Restriction) आदि पूर्ववत् ही हैं। इस योग को विधिपूर्वक सेवन करने पर सौ वर्ष की आयु होती है और स्त्रियों से सम्भोग में क्षीणता भी नहीं होती है। इसी चूर्ण को दूध में

मिलाकर, दूध को उबाल कर ठण्डा कर मथ लें और घी निकालकर (घी को) मधु से एक बार या दो बार प्रातः-सायं लें। जीर्ण हो जाने पर दूध, घी और चावल का आहार करें। इस प्रकार एक मास तक सेवन करने से सौ वर्ष की आयु होती है॥ १०॥

चक्षुःकामः प्राणकामो वा बीजकसाराग्निमन्थमूलं निःक्वाथ्य माषप्रस्थं साधयेत्, तस्मिन् सिध्यति चित्रकमूलानामक्षमात्रं कल्कं दद्यादामलकरसचतुर्थभागं, ततः स्विन्नमवतार्य सहस्र-सम्पाताभिहुतं कृत्वा शीतीभूतं मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्योपयुञ्जीत यथाबलं, यथासात्म्यं च लवणं परिहरन् भक्षयेत्। जीर्णे मुद्गामलकयूषेणालवणेन घृतवन्तमोदनमश्नीयात् पयसा वा मासत्रयम्; एवमाभ्यां प्रयोगाभ्यां चक्षुः सौपर्णं भवत्यनल्पबलः स्त्रीषु चाक्षयो वर्षशतायुर्भवतीति॥ ११॥

बीजकसारादि रसायन—अच्छी नेत्रदृष्टि या जीवन की कामना (Vitality) करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह विजयसार और अग्निमन्थ (अरणी) के मूल के काढे में ('बीजकसाराग्निमन्थमूलं पलं सलिलाढके निःक्वाथ्य अर्धावशिष्टे तत्र पूते') एक प्रस्थ उड़दों को पकावे और इसमें पकाते समय चित्रकमूल का अक्षमात्र कल्क तथा चतुर्थ भाग आमलकी रस मिला लें। उड़द के भली प्रकार पक जाने पर उतार लें। हजार सम्पात आहुति देकर इनको ठण्डा होने पर समुचित मात्रा में लेकर तथा मधु-घृत अच्छी तरह मिलाकर रोगी के बलानुसार सेवन करावें, लवण का प्रयोग सात्म्य न होने पर न करे। जीर्ण हो जाने पर मूँग और आँवले के यूष को बिना नमक के अच्छी तरह घी मिलाकर चावल का भोजन करें अथवा दूध से तीन मास तक सेवन करें। इन दोनों योगों के सेवन से नेत्रदृष्टि गरुड़ के समान हो जाती है और बलाधान होता है। इससे सौ वर्ष की आयु होती है और स्त्री-प्रसंग से क्षीणता नहीं आती है॥ ११॥

भवति चात्र—

पयसा सह सिद्धानि नरः शणफलानि यः। भक्षयेत् पयसा सार्धं वयस्तस्य न शीर्यते॥ १२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने सर्वोपघातशमनीयं रसायनचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः॥ २७॥



शणफल रसायन—सनई (*Crotalaria juncea*) के फलों को दूध के साथ सिद्ध कर (पकाकर) दूध से सेवन करे तो मनुष्य की आयु स्थिर रहती है (बुढ़ापा नहीं आता है)॥ १२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'सर्वोपघात-शमनीयरसायनचिकित्सा' नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २७॥



अध्याय-सारांश

'सर्वोपघातशमनीयरसायन' नामक इस अध्याय में—वमनादि से शरीर की शुद्धि के उपरान्त बाल्य और मध्यायु में रसायन-सेवन की सलाह (६), विडंग-तण्डुलादि पाँच रसायन योग तथा एक अन्य प्रधान योग-जिसके सेवन से शरीर विशेष कान्तिमय एवं दीर्घायु हो जाता है, काश्मर्य रसायन भी इसी श्रेणी का उत्तम योग है (८), इसी प्रकार बलामूल, नागबला, अतिबला, विदारीकन्द और शतावरी के रसायन योग भी समान गुण-धर्म वाले हैं (९), वाराहीकन्द का रसायन-विधि से सेवन सौ वर्ष की आयु प्रदान करता है, नेत्रों की दृष्टि के लिए तथा जीवन के सुख के लिए बीजसार योग की भूरी प्रशंसा की गयी है (११), शणफल रसायन-सेवन से मनुष्य की आयु स्थिर रहती है (१२)।



अष्टाविंशोऽध्यायः

अथातो मेधायुष्कामीयं रसायनचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'मेधायुष्कामीयं रसायनचिकित्सितम्' (The Restorative Therapy for Promoting Intellectual Sharpness and Longevity) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—मेधा—'सर्वतोऽव्याहता सूक्ष्मतमा प्रगाढा बुद्धिः श्रुतधारिणी' (ड.); 'धीर्धारणावती मेधा' (अ.को.)।

मेधायुःकामः श्वेतावलगुजफलान्यातपपरिशुष्काण्यादाय सूक्ष्मचूर्णानि कृत्वा गुडेन सहालोड्य स्नेहकुम्भे सप्तरात्रं धान्यराशौ निदध्यात्, सप्तरात्रादुद्धृत्य हृतदोषस्य यथाबलं पिण्डं प्रयच्छेदनुदिते सूर्ये उष्णोदकं चानुपिबेत्; भल्लातकविधानवच्चागारप्रवेशः, जीर्णौषधश्चापराह्णे हिमाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रः शालीनां षष्टिकानां च पयसा शर्करामधुरेणौदनमश्नीयात्; एवं षण्मासानुपयुज्य विगतपाप्मा बलवर्णोपितः श्रुतनिगादी स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। कुष्ठिनं पाण्डुरोगिणमुदरिणं वा कृष्णाया गोर्मूत्रेणालोड्यार्धपलिकं पिण्डं विगतलौहित्ये सवितरि पाययेत्, पराह्णे चालवणेनामलकयूषेण सर्पिष्मन्तमोदनमश्नीयात्; एवं मासमुपयुज्य स्मृतिमानरोगो वर्षशतायुर्भवति। एष एवोपयोगश्चित्रकमूलानां रजन्याश्च; चित्रकमूले विशेषो द्विपलिकं पिण्डं परं प्रमाणं, शेषं पूर्ववत् ॥ ३ ॥

श्वेतावलगुजादि रसायन—सफेद बाकुची के बीजों को धूप में सुखाकर चूर्ण बना लें, फिर गुड़ मिलाकर चिकने (स्नेह) कुम्भ में भरकर सात दिन तक धान के ढेर में दबाकर रखें। सात दिन के बाद निकाल कर जिस व्यक्ति के वमनादि द्वारा दोषों का निर्हरण किया जा चुका है उसे सूर्योदय से पहले उष्णोदक के साथ सेवन करावें। इस कार्य के लिए भवन में भल्लातक-सेवन विधान में वर्णित विधि से प्रवेश कराना चाहिए। औषध के जीर्ण हो (पच) जाने पर अपराह्ण में हिम = शीतल जल से शरीर का सिञ्चन (स्नान) करावें। फिर उसे खाने के लिए साठी के चावल शर्करा-मधु मिलाकर दूध से दें। इस प्रकार छः मास तक सेवन करने पर व्यक्ति विगतपाप्मा (पाप रहित/Free from all sins), बलवर्ण युक्त (ताकत और रंग युक्त), श्रुतनिनादी (सुने हुए को याद रखने वाला), स्मृतिमान् (अच्छी स्मरण शक्ति वाला) तथा नीरोग रहकर सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।

कृष्णावलगुजादि रसायन—इसी प्रकार आधा पल काली बाकुची के बीजों को चूर्णित कर तथा गोमूत्र में घोलकर सूर्योदय की लालिमा दूर होने के उपरान्त कुष्ठी, पाण्डुरोग से पीड़ित और उदररोगी को पिलावें। अपराह्ण (After noon) में लवण रहित आँवले के यूष से घृतयुक्त चावल खाने को दें। इस तरह एक मास तक सेवन करने पर व्यक्ति स्मृतिमान् (अच्छी यादगार वाला), रोग रहित सौ वर्ष की आयु वाला हो जाता है।

चित्रकमूलरजन्यादि रसायन—चित्रकमूल और हलदी का इसी प्रकार उपयोग किया जाता है। केवल चित्रकमूल के उपयोग में चित्रकमूल को अधिक-से-अधिक दो पल की मात्रा में लेना चाहिए, शेष क्रम पूर्ववत् है ॥ ३ ॥

हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथाक्रममागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्र-सम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसाऽऽलोड्य पिबेत् पयोऽनुपानं वा, तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुञ्जीत; तिलैर्वा सह भक्षयेत् त्रीन् मासान् पयोऽनुपानं, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः। एवमुपयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसी श्रुतनिगादी भवति वर्षशतमायुरवाप्नोति। त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रमेनां भक्षयेत्, त्रिरात्रादूर्ध्वं पयः सर्पिरिति चोपयुञ्जीत। बिल्वमात्रं पिण्डं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, एवं द्वादशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति॥ ४॥

मण्डूकपर्ण्यादि रसायन—जिसके वातादि दोषों का वमन-विरेचनादि के द्वारा निर्हरण किया जा चुका है तथा पेया-विलेपी आदि क्रम से जिसने भोजन किया हो वह व्यक्ति वर्णित क्रमानुसार गृह में प्रविष्ट होकर मण्डूकपर्णी (मण्डूकी/ *Centella asiatica*) के स्वरस को हजार सम्पात आहुति के बाद अपने बल के अनुसार दूध में घोलकर पी ले या बाद में दुग्ध का अनुपान ले। उसके जीर्ण हो (पच) जाने के उपरान्त जौ के बने पदार्थ दूध से लें या तीन मास तक तिलों के साथ खावे और अनुपान में दूध ले। जीर्ण होने पर दूध, घी और चावलों का भोजन करें। इस प्रकार सेवन करने पर व्यक्ति ब्रह्मतेज वाला (God like effulgence) और श्रुतनिनादी (सभी सुनी हुई बात को सुनाने वाला/A very fine retentive memory) हो जाता है तथा सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। तीन रात निराहार रहकर तीन रात इसका भक्षण (मण्डूकपर्णी का सेवन) करे, तीन दिन के बाद दूध और घी का पान करें। अथवा इसे बिल्व (एक पल) प्रमाण लेकर दूध में घोल कर पीवे। इस प्रकार बारह दिन तक सेवन करने से मनुष्य मेधावी (तीव्र बुद्धि वाला) होता है और सौ वर्ष तक जीवित रहता है॥ ४॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य प्रतिसंसृष्टभक्तो ब्राह्मीस्वरसमादाय सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णौषधश्चापराह्णे यवागूमलवणां पिबेत्, क्षीरसात्म्यो वा पयसा भुञ्जीत, एवं सप्तरात्रमुपयुज्य ब्रह्मवर्चसी मेधावी भवति, द्वितीयं सप्तरात्रमुपयुज्य ग्रन्थमीप्सितमुत्पादयति नष्टं चास्य प्रादुर्भवति, तृतीयं सप्तरात्रमुपयुज्य द्विरुच्चारितं शतमप्यवधारयति, एवमेकविंशतिरात्र-मुपयुज्यालक्ष्मीरपक्रामति; मूर्तिमती चैनं वाग्देव्यनुप्रविशति, सर्वाश्चैनं श्रुतय उपतिष्ठन्ति, श्रुतधरः पञ्चवर्षशतायुर्भवति॥ ५॥

ब्राह्मी स्वरस रसायन—वमनादि द्वारा दोषों के निर्हरण के उपरान्त (कुटीप्रावेशिक विधि से बने) आगार (गृह) में संसर्जन क्रम से भोजन करने के पश्चात् प्रविष्ट होकर तथा सहस्रसम्पात आहुति देकर ब्राह्मीस्वरस का बलानुसार सेवन करे। अपराह्ण में औषध के जीर्ण होने पर लवण रहित यवागू का पान करे अथवा दूध अनुकूल आता हो तो दूध से ले। इस प्रकार सात दिन तक लेते रहने से व्यक्ति ब्रह्मवर्चसी (God like effulgence/देवत्व-प्राप्ति) और मेधावी हो जाता है। अगर एक सप्ताह और सेवन कर ले तो मनचाहा ग्रन्थ लिखने की क्षमता आ जाती है तथा विस्मृत हुए को स्मरणशक्ति से उसकी पुनः रचना कर सकता है। यदि तीन सप्ताह तक सेवन कर लिया जाय तो सौ शब्दों को केवल दो बार बोलकर याद रख सकता है। इसी प्रकार इक्कीस दिन तक लगातार सेवन कर ले तो दारिद्रय (Goddess of misfortune) दूर होता है और सरस्वती (Goddess of learning) साक्षात् उसके शरीर में प्रवेश कर जाती है। सभी श्रुतियाँ (वेद) उसे कण्ठस्थ होती हैं। वह श्रुतघर (सुनने मात्र से याद कर लेने वाला) हो जाता है और पाँच सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है॥ ५॥

ब्राह्मीस्वरसप्रस्थद्वये घृतप्रस्थं विडङ्गतण्डुलानां कुडवं द्वे द्वे पले वचामृतयोर्द्वादश हरीतक्यामलकबिभीतकानि श्लक्ष्णपिष्टान्यावाप्यैकध्यं साधयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात्, ततः पूर्वविधानेन मात्रां यथाबलमुपयुञ्जीत, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, पूर्ववच्चात्र परीहारः एतेनो-

र्ध्वमधस्तिर्यक् कृमयो निःक्रामन्ति, अलक्ष्मीरपक्रामति, पुष्करवर्णः स्थिरवयाः श्रुतनिगादी त्रिवर्षशतायुर्भवति; एतदेव कुष्ठविषमज्वरापस्मारोन्मादविषभूतग्रहेष्वन्येषु च महाव्याधिषु च संशोधनमादिशन्ति॥ ६॥

द्वितीय ब्राह्मीस्वरस रसायन—ब्राह्मी (*Bacopa monnieri*/जलनीम) का स्वरस दो प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ, तुषरहित विडंगबीज एक कुडव, वच दो पल, गिलोय दो पल, त्रिफला बारह पल—इनको इकट्ठा पीसकर तथा सिद्ध (पका) कर सुरक्षित रख लें। इसे पूर्व विधान के अनुसार बल का विचार कर समुचित मात्रा में सेवन करे। जीर्ण हो (पच) जाने पर दूध, घी और चावल का आहार करें। इसमें अपथ्यादि पूर्ववर्णित के अनुसार हैं। इससे ऊर्ध्व, मध्य और शरीर के अधो भाग से क्रिमियाँ निकलती हैं; दारिद्र्य दूर होता है; उसका वर्ण कमल (पुष्कर/Lotus) के समान हो जाता है; वय (आयु) एक समान (स्थिर) बनी रहती है; वह शब्दों को सुनने मात्र से याद कर लेता है और तीन सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है। इस संशोधन-विधि (Elimination therapy) का उपदेश कुष्ठ, विषम ज्वर, अपस्मार, उन्माद, विष, भूतग्रह (Evil influence of ghosts) तथा अन्य महाव्याधियों में किया जाता है॥ ६॥

हृतदोष एवागारं प्रविश्य हैमवत्या वचायाः पिण्डमामलकमात्रमभिहुतं पयसाऽऽलोड्य पिबेत्, जीर्णे पयः सर्पिरोदन इत्याहारः, एवं द्वादशरात्रमुपयुञ्जीत, ततोऽस्य श्रोत्रं विव्रियते, द्विरभ्यासात् स्मृतिमान् भवति, त्रिरभ्यासाच्छ्रुतमादत्ते, चतुर्द्वादशरात्रमुपयुज्य सर्वं तरति किल्बिषं, तार्क्ष्यदर्शनमुत्पद्यते, शतायुश्च भवति। द्वे द्वे पले इतरस्या वचाया निःक्वाथ्य पिबेत् पयसा, समानं भोजनं समाः पूर्वेणाशिषश्च॥ ७॥

श्वेतवचा रसायन—वमनादि से शुद्ध देह वाला व्यक्ति गृह (Therapy chamber) में प्रविष्ट होकर हैमवती वचा ('श्वेतवचाया इत्यर्थः') के आँवले के बराबर पिण्ड को लेकर आहुति देने के उपरान्त (अभिहुतम् = 'होमं कृत्वेत्यर्थः') उसे दूध में पकाकर (पयसा आलोड्य = 'पयसा निःक्वाथ्येति क्षीरपाकविधिना'–ड.) पान करे। जीर्ण हो (पच) जाने पर दूध, घी और चावलों का भोजन करें। इस प्रकार बारह दिन सेवन करे। इससे श्रवणशक्ति सुधरती है। 'द्विरभ्यासात्' अर्थात् बारह दिन और सेवन करने पर स्मरणशक्ति बढ़ती है। यदि लगातार तीसरी बार भी बारह दिन तक इसका सेवन कर लिया जाय तो व्यक्ति को सुनी हुई बात की स्मृति बनी रहती है। चौथी बार भी बारह दिन तक लगातार सेवन करने वाले के सब पाप नष्ट हो जाते हैं और उसकी नेत्रदृष्टि गरुड़ की तरह की हो जाती है तथा वह सौ वर्ष तक जीवित रहता है।

वचा की दूसरी किस्म (Variety) अर्थात् अरुणवर्ण वचा को दो पल लेकर क्वाथ बनाकर दूध से सेवन करने से तथा पूर्वोक्त विधि से भोजन करने से इसके गुण भी पूर्वोक्त के समान हैं॥ ७॥

वचाशतपाकं वा सर्पिर्द्रोणमुपयुज्य पञ्चवर्षशतायुर्भवति, गलगण्डापचीश्लीपदस्वरभेदांश्चापहन्तीति॥ ८॥

वचाशतपाक घृत रसायन—एक द्रोण परिमाण घृत को वचाक्वाथ से सौ बार सिद्ध करने के उपरान्त सेवन करने से पाँच सौ वर्ष की आयु होती है और गलगण्ड (Goitre), अपची (Cervical adenitis), श्लीपद (Filariasis) और स्वरभेद (Hoarseness of voice) भी ठीक होते हैं॥ ८॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि आयुष्कामरसायनम्। मन्त्रौषधसमायुक्तं संवत्सरफलप्रदम्॥ ९॥

अब इससे आगे आयुष्कामीय (आयु को बढ़ाने वाले/Restorative therapy increasing longevity) रसायन, मन्त्र, औषध का वर्णन किया जायेगा, जो एक वर्ष में फलदायी होते हैं॥ ९॥

बिल्वस्य चूर्णं पुष्ये तु हुतं वारान् सहस्रशः। श्रीसूक्तेन नरः कल्ये ससुवर्णं दिने दिने॥ १०॥
सर्पिर्मधुयुतं लिह्यादलक्ष्मीनाशनं परम्। त्वचं विहाय बिल्वस्य मूलक्वाथं दिने दिने॥ ११॥
प्राश्नीयात् पयसा सार्धं स्नात्वा हुत्वा समाहितः। दशसाहस्रमायुष्यं स्मृतं युक्तरथं भवेत्॥ १२॥

बिल्वचूर्ण रसायन—पुष्य नक्षत्र में बिल्व (*Aegle marmelos*) चूर्ण को लें और श्रीसूक्त ('हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम्' इत्यादिकम्) से हजार बार आहुति देने के उपरान्त उसमें स्वर्णभस्म, घृत और मधु मिलाकर प्रतिदिन प्रातःकाल चाटने से दरिद्रता का नाश होता है। बिल्वमूल की छाल अलग कर मूल क्वाथ प्रतिदिन दूध के साथ स्नान तथा हवन करने के उपरान्त सेवन करने से दस हजार वर्ष की आयु होती है और यह 'युक्तरथ' नामक रसायन है॥ १०-१२॥

विमर्श—'रथः शरीरम्, युक्तश्चासौ रथश्चेति युक्तरथः' (सुदृढकायः)।

हुत्वा बिसानां क्वाथं तु मधुलाजैश्च संयुतम्। अमोघं शतसाहस्रं युक्तं युक्तरथं स्मृतम्॥ १३॥

बिस रसायन—बिस (मृणाल, कमलनाल/Stalks of lotuses) के क्वाथ को हवन करने के उपरान्त (Oblations) मधु और धान की खील (Parched paddy) के साथ लेने से सौ हजार वर्ष की आयु होती है। वह 'युक्तरथ' रसायन है॥ १३॥

विमर्श—बिसक्वाथादि द्वितीय 'युक्तरथ' रसायन है।

सुवर्णं पद्मबीजानि मधु लाजाः प्रियङ्गवः। गव्येन पयसा पीतमलक्ष्मीं प्रतिषेधयेत्॥ १४॥

स्वर्णभस्मादि योग—स्वर्णभस्म, कमल के बीज (कमलगट्टा), प्रियंगु, मधु और धान की खील को गोदुग्ध के साथ पीने से अलक्ष्मी (दारिद्र्य) दूर होती है॥ १४॥

नीलोत्पलदलक्वाथो गव्येन पयसा शृतः। ससुवर्णस्तिलैः सार्धमलक्ष्मीनाशनः स्मृतः॥ १५॥

नीलकमल कषाय—नीलकमल के पत्रक्वाथ को गोदुग्ध के साथ पकाकर स्वर्णभस्म और तिल के साथ लेने पर अलक्ष्मी का नाश होता है॥ १५॥

गव्यं पयः सुवर्णं च मधूच्छिष्टं च माक्षिकम्। पीतं शतसहस्राभिर्हुतं युक्तरथं स्मृतम्॥ १६॥

गोदुग्ध योग—गोदुग्ध, स्वर्णभस्म, मोम और मधु एक लाख आहुति देने के उपरान्त पीने से व्यक्ति युक्तरथ हो जाता है॥ १६॥

वचाघृतसुवर्णं च बिल्वचूर्णमिति त्रयम्। मेध्यमायुष्यमारोग्यपुष्टिसौभाग्यवर्धनम्॥ १७॥

वचादि योग—वचा, सुवर्णभस्म और बिल्व चूर्ण—इन तीनों को घृत के साथ लेने पर मेधा (बुद्धि/'धीर्धारणावती मेधा'–अ.को.; Retentive power), आयु, आरोग्य, शारीर पुष्टि और सौभाग्य (Good luck) बढ़ते हैं॥ १७॥

वासामूलतुलाक्वाथे तैलमावाप्य साधितम्। हुत्वा सहस्रमश्नीयान्मेध्यमायुष्यमुच्यते। १८॥

वासातैल रसायन—वासा (*Adhatodo vasica*) का एक तुला प्रमाण (तुला पलशतं ज्ञेयम्) क्वाथ से तैलपाक करें और हजार आहुति देने के उपरान्त सेवन करने पर यह मेध्य (मेधाशक्तिवर्धक) और आयुष्य (आयुवर्धक) है॥ १८॥

यावकांस्तावकान् खादेदभिभूय यवांस्तथा। पिप्पलीमधुसंयुक्तान् शिक्षा चरणवद्भवेत्॥ १९॥

यवादि रसायन—जौ के चूर्ण को पिप्पली चूर्ण और मधु से सेवन करने से बुद्धि की वृद्धि उसी तरह स्वाभाविक रूप से होती है जिस प्रकार अभ्यास से शास्त्रज्ञान स्वतः हो जाता है॥ १९॥

विमर्श—'शिक्षा चरणवद् भवेदिति, शिक्षा उपदेशापेक्षा शास्त्राभ्यासगुप्तेनैकं भवति, तथैकेन योगेन वहतो मेधा बुद्धिः शास्त्राभ्यासः सुखेनैव भवतीति तात्पर्यार्थः'–ड.)।

मध्वामलकचूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम्। प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात्॥ २०॥

मधुत्रय रसायन—मधु, आँवला और सुवर्णभस्म—इन तीन औषधियों के चूर्ण को चाट लेने पर मरण लक्षणों (अरिष्ट) से युक्त प्राणों का संकट भी दूर हो जाता है॥ २०॥

विमर्श—अरिष्टलक्षणों से प्राणी की मृत्यु निश्चित है ('न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते'–च.इ. १।४) पर ऐसा उल्लेख भी है—'कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति'–च.)

शतावरीघृतं सम्यगुपयुक्तं दिने दिने। सक्षौद्रं ससुवर्णं च नरेन्द्रं स्थापयेद्वशे॥ २१॥

शतावरी घृत और स्वर्णभस्म—शतावरी घृत को मधु और स्वर्णभस्म के साथ प्रतिदिन भली प्रकार सेवन करने पर नरेन्द्र भी उस व्यक्ति के वश में हो जाता है॥ २१॥

गोचन्दना मोहनिका मधुकं माक्षिकं मधु। सुवर्णमिति संयोगः पेयः सौभाग्यमिच्छता॥ २२॥

गोचन्दनादि योग—सौभाग्य की कामना करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह गोचन्दन (प्रियंगु), मोहनिका (पुत्रञ्जीवी), मुलेठी, माक्षिक किस्म का मधु और स्वर्णभस्म का पान करे॥ २२॥

विमर्श—माक्षिक मधु—'मक्षिकाः पिङ्गलवर्णास्तु महत्यो मधुमाक्षिकाः। ताभिः कृतं तैलवर्णं माक्षिकं परिकीर्तितम्'॥ (भा.प्र.)

पद्मनीलोत्पलक्वाथे यष्टीमधुकसंयुते। सर्पिरासादितं गव्यं ससुवर्णं सदा पिबेत्॥ २३॥
पयश्चानुपिबेत् सिद्धं तेषामेव समुद्भवे। अलक्ष्मीघ्नं सदाऽऽयुष्यं राज्याय सुभगाय च॥ २४॥

पद्मनी घृत—कमल (रक्त), नीलकमल और मुलेठी के क्वाथ में सिद्ध गोघृत सुवर्णभस्म मिलाकर सदा पीवे और बाद में दुग्ध का अनुपान ले। यह दुग्ध कमलादि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ होता है। इस योग के सेवन से दारिद्रच (Inauspiciousness) दूर होता है और यह लम्बी आयु, राजसुख तथा सौभाग्य (Good luck) लाता है॥ २३-२४॥

यत्र नोदीरितो मन्त्रो योगेष्वेतेषु साधने। शब्दिता तत्र सर्वत्र गायत्री त्रिपदा भवेत्॥ २५॥

त्रिपदा गायत्री मन्त्र का उपयोग—ऊपर वर्णित योगों को तैयार करते समय यदि किसी वैदिक मन्त्र का उल्लेख नहीं है वहाँ त्रिपदा गायत्री का पाठ करना चाहिए॥ २५॥

पाप्मानं नाशयन्त्येता दद्युश्चौषधयः श्रियम्। कुर्युर्नागबलं चापि मनुष्यममरोपमम्॥ २६॥

इन औषधियों के गुण—इस प्रकार निर्मित ये औषधियाँ पाप को नष्ट करती हैं, कल्याणकारी हैं, सेवन करने वाले को हाथी की-सी शक्ति प्रदान करती हैं और उसे देवताओं की तरह अमर बना देती हैं॥ २६॥

सतताध्ययनं वादः परतन्त्रावलोकनम्। तद्विद्याचार्यसेवा च बुद्धिमेधाकरो गु(ग)णः॥ २७॥

सतताध्ययनादि रसायन—सतत अध्ययन (Constant study), वाद (Discussion) विद्या की विभिन्न शाखाओं (तन्त्रों = सिद्धान्तों) का अध्ययन, इन विद्याओं को जानने वालों की सेवा—ये भी बुद्धि (Intelligence) और मेधा (Retentive power) वर्धक गण है॥ २७॥

आयुष्यं भोजनं जीर्णे वेगानां चाविधारणम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च साहसानां च वर्जनम्॥ २८॥

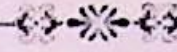
इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने मेधायुष्कामीयं रसायन-चिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥



आयुर्वर्धक जीर्ण भोजनादि—पूर्वभुक्त अन्न के जीर्ण होने पर भोजन करना, मल-मूत्रादि के वेगों को न रोकना, ब्रह्मचर्य (Continence), अहिंसा (Non-violence) और साहस (अयथाबलमारम्भः) का परित्याग करना आयुवर्धक होता है॥ २८॥

विमर्श—चरक ने (चि. १) इस तरह के गुणों की लम्बी सूची दी है और इन्हें 'आचार रसायन' नाम दिया है; जैसे—'सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्। धर्मशास्त्रपरं विद्यात् नरं नित्यं रसायनम्'॥ आदि।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'मेधायुष्कामीय-रसायनचिकित्सा' नामक अठाईसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २८॥



अध्याय-सारांश

'मेधायुष्कामीय-रसायनचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—ऐसे ही योगों का उल्लेख है जो बुद्धि, मेधा, शारीरिक बल, आयु, कान्ति, स्मृति आदि की वृद्धि करते हैं। इन गुणों को बताने वाले कई तरह के शब्दों का प्रयोग इस अध्याय में हुआ है; जैसे—विगतपाप्मा, श्रुतनिनादी, ब्रह्मवर्चसी, मेधावी, श्रुतधर, पुष्करवर्ण, श्रुतनिनादी, तार्क्ष्यदर्शनम्, युक्तरथ आदि। श्वेतावल्गुज फल आदि द्रव्यों के अनेक योग विधिपूर्वक सेवन करने पर शतायु, सहस्रायु, त्रिवर्षशतायु, पञ्चवर्षशतायु और शतसहस्र (लाख) वर्ष की आयु देने वाले बताये गये हैं। इन योगों के सेवन से व्यक्ति में मूर्तिमती सरस्वती का निवास होता है, दारिद्रय जाता रहता है; ग्रन्थ एवं कविता की रचनाशक्ति की उपलब्धि होती है। अन्त में 'आचार रसायन' का उल्लेख है।



एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अथातः स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनम्' (The Restorative Treatments for Prevention of Natural Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—भूख, प्यास, बुढ़ापा, मृत्यु, नींद आदि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। इनको दूर करने के उपाय 'स्वभावव्याधिप्रतिषेधन' कहलाता है। उससे सम्बन्धित रसायन 'स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन' है। यद्यपि 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' है तथापि रस-प्रभाव से अनियतायु व्यक्तियों की स्वभावव्याधियों का प्रतिषेध सम्भव है। किन्तु 'नियतायुषाः पुनः कलिकलुषैः क्षीणा रसायनायोग्या एव' (ड.)।

ब्रह्मादयोऽसृजन् पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्। जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

जरा, मृत्यु को नष्ट करने वाले सोम की उत्पत्ति—ब्रह्मादि ने जरा और मृत्यु के विनाश के लिए सोम नामक अमृत की पहले ही रचना की थी। यहाँ उसके उपयोग की विधि का वर्णन किया जायेगा ॥ ३ ॥

एक एव खलु भगवान् सोमः स्थाननामाकृतिवीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधा भिद्यते ॥ ४ ॥

सोम के भेद—वह भगवान् सोम एक होते हुए भी स्थान (Habitat), नाम (Name), आकृति (Shape) और वीर्य (Specific potency) की विशेषताओं के कारण चौबीस प्रकार का है ॥ ४ ॥

तद्यथा—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः। दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः ॥ ५ ॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंऽशवानपि। स्वयम्प्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः ॥ ६ ॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा। अग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः ॥ ७ ॥
गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते। एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः ॥ ८ ॥
सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने। सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते ॥ ९ ॥

सोम के वेदोक्त नाम—१. अंशुमान्, २. मुञ्जवान्, ३. चन्द्रमा, ३. रजतप्रभ, ५. दूर्वासोम, ६. कनीयान्, ७. श्वेताक्ष, ८. कनकप्रभ, ९. प्रतानवान्, १०. तालवृन्त, ११. करवीर, १२. अंशवान्, १३. स्वयंप्रभ, १४. महासोम, १५. गरुडाहृत, १६. गायत्र, १७. त्रैष्टुभ, १८. पाङ्क्त, १९. जागत, २०. शाक्वर, २१. अग्निष्टोम, २२. रैवत, २३. त्रिपदा गायत्री, २४. उडुपति—इस प्रकार यह सोम के वेदोक्त शुभ नामों का उल्लेख किया गया है। इन सभी प्रकार के सोम की सेवन-विधि एक ही प्रकार की है। सबके गुण एक समान हैं। इनका सेवन-विधान बताया जायेगा ॥ ५-९ ॥

अतोऽन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्ते देशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुत-मभिहुतं चान्तरागारे कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनः सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे (राजते वा) पात्रेऽञ्जलिमात्रं, ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वादयन्, तत उपस्पृश्य शेषमप्स्ववसाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोऽभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत् ॥ १० ॥

सोम की सेवन-विधि (Methodology)—जो व्यक्ति इनमें से किसी एक का उपयोग करना चाहता है वह सभी उपकरणों ('उपकरणानि घृतादीनि') एवं परिचारकों के साथ (Paraphernalia and attendents) उत्तम स्थान (Commendable site) में त्रिगर्भगृह (Three chambers) का निर्माण कर और दोषादिक का निर्हरण कर ('हृतदोषः हृतः स्नेहस्वेदवमनादिभिः दोषो येन सः') तथा संसर्जनक्रम के उपरान्त ('प्रतिसंसृष्टं पेयादिक्रमेण त्यक्तं भक्तं येन सः') उत्तम तिथि ('प्रशस्तास्तिथयः नन्दादयो रिक्ता वर्ज्याः'), चरादि प्रशस्त करण, शिवादि शुभ मुहूर्त तथा कल्याणकारी पुष्यहस्ताश्विनीश्रवणादि नक्षत्र में अंशुमान् प्रकार के सोम का ग्रहण करे तथा उसे अग्निष्टोम-विधान से लाकर अभिषुत अर्थात् ऋत्विगों द्वारा पीड़ित कर (या अभिहुत अर्थात् ऋत्विगों द्वारा अग्नि में आहुति देने के पश्चात्) अन्तर्गृह में मंगल-स्वस्तिवाचन करे। तत्पश्चात् सोमकन्द को सोने की सुई से विदीर्ण कर उसका दूध निकाल ले और स्वर्णपात्र में अञ्जलि प्रमाण लेकर उसके स्वाद की उपेक्षा करता हुआ सहसा निगल ले। तत्पश्चात् आचमन करे और पात्र में शेष सोम को जल में फेंक दे। फिर नियम ('मनःसङ्कल्पादिनिषेधो नियमः'), यम ('इन्द्रियदेहयोः निषेधो यमः') और आत्मा (चेतः) का संयोजन करता हुआ मौन धारण कर सुहृदों के साथ अन्तर्गृह में ही विचरण करे॥ १०॥

रसायनं पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः। आसीत् तिष्ठेत् क्रामेच्च न कथञ्चन संविशेत्॥ ११॥

सोमपान के पश्चात् सोने का निषेध—रसायन का पान करने वाला व्यक्ति (अर्थात् जिसने रसायन का पान कर लिया है वह) निवातस्थान (गर्भगृह) में तल्लीन तथा शुद्ध पवित्र भावना के साथ बैठे, खड़ा रहे या टहलता रहे। पर कभी भी शयन न करे ('कायविहारश्चतुर्विधः—गमनचङ्क्रमणस्थानासनभेदेन'—ड.)॥ ११॥

सायं वा भुक्तवानुपश्रुतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत, तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत् (अशनायितो वा क्षीरं); ततः प्रातरुत्थायोपश्रुतशान्तिः कृतमङ्गलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत, तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुत्पद्यते, ततः शोणितात्तं कृमिव्यामिश्रं छर्दितवते सायं शृतशीतं क्षीरं वितरेत्; ततस्तृतीयेऽहनि कृमिव्यामिश्रमतिसार्यते, स तेनानिष्टप्रतिग्रहभुक्त-प्रभृतिभिर्विशेषैर्विनिर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति, ततः सायं स्नाताय पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्, क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत्; ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते, ततः सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति, तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्यमाणः शयीत, ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्; एवं पञ्चमषष्ठ-योर्दिवसयोर्वर्तेत, केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत्; ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसस्त्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति, तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत्; ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, ततोऽस्य मांसमाप्याय्यते, त्वक् चावदलति, दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति; तस्य नवमदिवसात् प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवाल्ककषायपरिषेकः; ततो दशमेऽ-हन्येतदेव वितरेत्, ततोऽस्य त्वक् स्थिरतामुपैति; एवमेकादशद्वादशयोर्वर्तेत; तस्य त्रयोदशात् प्रभृति सोमवल्ककषायपरिषेकः, एवमाषोडशाद् वर्तेत; ततः सप्तदशाष्टादशयोर्दिवसयोर्दशना जायन्ते शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्यस्फटिकप्रकाशाः समाः स्थिराः सहिष्णवः, तदा प्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत् पञ्चविंशतिरिति; ततोऽस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा, ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः, स्थिराः स्निग्धा लक्षणसम्पन्नाः केशाश्च सूक्ष्मा जायन्ते, त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैदूर्यप्रकाशाः; ऊर्ध्वं च मासात् केशान् वापयेद्, वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णतिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात् पयसा वा स्नापयेत्; ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात् केशा जायन्ते भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्थिराः स्निग्धाः; ततस्त्रिरात्रात् प्रथमावसथपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्तं

स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत्, ततोऽस्य बलातैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्यं, यवपिष्टमुद्वर्तनार्थे, सुखोष्णं च पयः परिषेकार्थे, अजकर्णकषायमुत्सादनार्थे, सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे, चन्दनमनुलेपार्थे, आमलकरसविमिश्राश्चास्य यूषसूपविकल्पाः, क्षीरमधुकसिद्धं च कृष्णतिलमवचारणार्थे, एवं दशरात्रं; ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्तेत; ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत, किञ्चिदातपपवनान् वा सेवेत, पुनश्चान्तः प्रविशेत्, न चात्मानमादर्शेऽप्सु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्; ततोऽन्यद्दशरात्रं क्रोधादीन् परिहरेत्, एवं सर्वेषामुपयोगविकल्पः। विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपकादयः सोमा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैर्भक्षयितव्याः। तेषां तु प्रमाणमर्धचतुष्कमुष्टयः ॥ १२ ॥

सोमपान के बाद दैनिक चर्या—अथवा सन्ध्या के समय भोजन कर लेने के बाद शान्तिपाठ का श्रवण करे और काले हरिण की खाल से ढके हुए कुशानिर्मित शय्या पर सुहृदों सहित शयन करे। प्यास लगने पर शीतल जल का पान करे (भोजन की इच्छा होने पर दुग्धपान करे)। तदनन्तर प्रातःकाल उठकर शान्तिपाठ का श्रवण करे और मंगलाचरण के बाद तथा गोस्पर्श कर पूर्ववत् वहीं रहे (बैठे)। तदनन्तर सोम के जीर्ण हो जाने पर वमन आते हैं। छर्दि रक्त और कृमि मिश्रित होती है। फिर सायंकाल उबला हुआ ठण्डा दूध पीना चाहिए।

तीसरे दिन कृमियुक्त अतिसार होता है। इससे श्राद्धादि अनिष्ट भोजन तथा प्रतिग्रहादि से दूषित उसका शरीर दोषमुक्त हो जाता है तथा शुद्ध हो जाता है। तदनन्तर सायंकाल स्नान करने के पश्चात् पहले की तरह दूध पीवे। उसके बाद क्षौमवस्त्र (Silken cloth) से ढकी शय्या पर उसे सुला दें।

तदनन्तर **चौथे दिन** उसके सूजन हो जाती है और सारे शरीर से कृमियाँ निकलने लगती हैं। उस दिन उसे रेत बिछी शय्या पर सुलायें और रात को पहले की तरह दूध पिलायें। इसी प्रकार **पाँचवें** और **छठे दिन** भी करें, केवल इन दिनों प्रातः-सायं दूध पीवे। **सातवें दिन** व्यक्ति मांस रहित केवल त्वचा और अस्थियाँ मात्र रह जाता है। वह सोम के प्रभाव से ही साँस लेता है। उस दिन उसे कोष्ण दूध से स्नान करावें और उसके शरीर पर तिल, मधु और चन्दन का लेप करें और दूध पिलावें।

उसके पश्चात् **आठवें दिन** प्रातःकाल उसे दूध से स्नान करावें और शरीर पर चन्दन का लेप करें तथा दूध पिलाकर रेतबिछी शय्या का त्याग कर सिल्क के वस्त्र से ढकी हुई रेत की शय्या पर सुला दें। तदनन्तर उसका मांस पुष्ट (Well nourished) हो जाता है, त्वचा विदीर्ण हो जाती है; दाँत, नाखून और बाल झड़ जाते हैं।

नवम दिवस से उस व्यक्ति के शरीर पर अणुतैल का अभ्यंग करावें और सोम की छाल के काढ़े से स्नान करावें। तदनन्तर **दसवें दिन** भी इसी क्रम को जारी रखें। इससे उस व्यक्ति के शरीर की त्वचा दृढ़ हो जाती है। इसी प्रकार **ग्यारहवें** तथा **बारहवें दिन** भी करें। **तेरहवें दिन से सोलहवें दिन** तक सोम की छाल के कषाय से परिषेक करें।

सतरहवें तथा अठारहवें दिन उस व्यक्ति के शिखरी (नुकीले/Pointed), चमकीले वज्र (Diamond), वैदूर्य (Ruby) या स्फटिक की तरह के, सम (Symmetrical), स्थिर (Firm) और सहिष्णु (Enduring) नये दाँत निकल आते हैं। **उस दिन से पच्चीसवें दिन** तक पुराने शालि चावलों से बनाई गयी दूध की यवागू (क्षीरयवागू) का सेवन करावें। तत्पश्चात् उसे शालि चावलों को नरम पका कर दोनों समय दूध से दें। तदनन्तर उसके नाखून निकल आते हैं जो विद्रुम (Coral), इन्द्रगोप तथा प्रातःकालीन सूर्य की तरह लाल होते हैं। स्थिर (Stable), स्निग्ध (चिकने/Glossy) लक्षणों से सम्पन्न (Good omened) सूक्ष्म बाल उग आते हैं और त्वचा भी नीलकमल, अतसीपुष्प या वैदूर्य (Ruby) के रंग की हो जाती है। **एक महीने के बाद** उसके बालों को कटवा दें और शिर पर उशीर (खश), चन्दन और काले तिलों के कल्क का लेप कर दें या दूध से स्नान करायें।

इसके सात दिन बाद भौरें और अंजन के रंग के, घुँघराले (Curly) और स्निग्ध एवं स्थिर बाल निकल आते हैं। इसके तीन दिन के बाद प्रथम परिसार (पहला आवासस्थान/First abode) से निकलकर थोड़ी देर (मुहूर्तभर/Moment) बाहर रहकर पुनः अन्दर चला जाय। उसके बाद उस मनुष्य के अभ्यंग के लिए (For massage) बलातैल, उबटन के लिए (For rubbing) जौ की पीठी (Paste), परिषेक (Sprinkling) के लिए कोष्ण दूध, उत्सादन के लिए अजकर्ण (*Dipterocarpus turbinatus*) के कषाय (कल्क = ''कल्केऽपि कषायशब्दो वर्तत, 'पञ्चविधं कषायकल्पनमि'ति वचनात्'') को (सस्नेहकल्केन घर्षणम् उत्सादनम्) स्नानार्थ कूपजल जिसमें खश मिला हो, अनुलेपन के लिए चन्दन का प्रयोग करें और खाने के लिए यूष, सूप, आमलक रस मिश्रित होने चाहिए। अवचारण के लिए दूध और मुलेठी से सिद्ध काले तिल दें ('गव्यक्षीरं चतुर्गुणं मधुकल्कसिद्धं कृष्णतिलं व्यञ्जनादिषु अवचारणम्'–ड./छौंक लगाने के लिए)। इस प्रकार दस दिन तक करें।

ऐसा करने के उपरान्त वह व्यक्ति द्वितीय परिसर में दस दिन रहे और फिर दस दिन तीसरे परिसर (Outer most corridor) में निवास करे तथा अपनी आत्मा को स्थिर रखे (Stabilise himself)। यहाँ कुछ हवा और कुछ धूप का सेवन कर पुनः अन्दर (Inner room) चला जाय। अपने चेहरे के सौन्दर्य को वह शीशे में न देखें। इसके बाद दस दिन तक क्रोधादि का परित्याग करे। यही विधि सभी प्रकार के सोमों के सेवन की है।

विशेषकर वल्ली (Creepers), प्रतान (Grass) और क्षुप (Plants) आदि प्रकार के सोमों को ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों द्वारा भक्षणार्थ लेना चाहिए ('आदिग्रहणात् कन्दादीनामपि ग्रहणम्')। इनकी मात्रा साढ़े चार मुष्टिका (पल) है ('मुष्टिराभ्रं चतुर्थिका। प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते'–शा.)॥ १२॥

अंशुमन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात्, चन्द्रमसं राजते, तावुपयुज्याष्टगुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति, शेषांस्तु ताम्रमये मृण्मये वा रोहिते वा चर्मणि वितते; शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः। ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति। १३॥

सोने और चाँदी के बर्तनों का उपयोग—अंशुमान् प्रकार के सोम के रस को सोने के पात्र में निचोड़ें तथा चन्द्रमा नामक सोम को चाँदी के पात्र में निचोड़ें। इन दोनों के सेवन से अष्टविध ऐश्वर्य ('अणिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावशायिता') की प्राप्ति कर मनुष्य ऐशान ('ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः'–अ.को.) देव को प्राप्त करता है। शेष सोमों के रस को ताम्बा, मिट्टी या लोहित चर्म के बने पात्र में इकट्ठा करना चाहिए। इन सोमों का उपयोग शूद्र को छोड़कर अन्य सभी तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को करना चाहिए। तदनन्तर चौथे महीने में पूर्णिमा के दिन, स्वच्छ-पवित्र स्थान में ब्राह्मणों की पूजा-अर्चना कर तथा मङ्गलपाठ कर त्रिवृत-आगार से बाहर आकर पूर्व आदेश के अनुसार विचरण करे॥ १३॥

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः। दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम्॥ १४॥
नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च। तस्यालमायुःक्षपणे समर्थानि भवन्ति हि॥ १५॥

सोमपान का लाभ—बुद्धिमान् व्यक्ति औषधियों के स्वामी सोम का सेवन कर नवीन शरीर को धारण करता है और दस हजार वर्ष जीवित रहता है। ऐसे व्यक्ति की आयु को आग, पानी, जहर, शस्त्र तथा अस्त्र में से कोई भी नष्ट नहीं कर सकता है॥ १४-१५॥

भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रसुतानामनेकधा। कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति॥ १६॥
क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि। यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः॥ १७॥

सोमपान से अप्रतिहत गति—सोम के सेवन से व्यक्ति भद्रजाति के साठ वर्ष के और जिनके मद चू रहा हो ऐसे एक हजार हाथियों के बराबर बल प्राप्त कर लेता है। ऐसा व्यक्ति क्षीरसागर, इन्द्र का घर (स्वर्ग), उत्तर कुरुदेश जहाँ भी जाना चाहे निर्बाध जा सकता है॥ १६-१७॥

कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः। प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः॥ १८॥
साङ्गोपाङ्गांश्च निखिलान् वेदान् विन्दति तत्त्वतः। चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलं जगत्॥

सोम-सेवन से दिव्य काया—सोमरस का सेवन करने वाले व्यक्ति का रूप कामदेव के समान, कान्ति (Luster-complexion) चन्द्र जैसी (जैसे दूसरा चाँद हो—'चन्द्र इवापरः') हो जाती है और महान् प्रकाश वाला वह व्यक्ति प्राणियों के मन को प्रसन्नता प्रदान करता है तथा अंग और उपांग सहित सम्पूर्ण वेदों के तत्त्व को जानता है और देवताओं की तरह अमोघ संकल्प वाला होकर वह सम्पूर्ण जगत् में भ्रमण करता है॥ १८-१९॥

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च। तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥ २०॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा। शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत् पञ्चदशच्छदः॥ २१॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः। कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥ २२॥
अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान् रजतप्रभः। कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवांल्लशुनच्छदः॥ २३॥
चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा। गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ। २४॥
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षाग्रावलम्बिनौ। तथाऽन्ये मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते॥ २५॥
सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः। क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः॥ २६॥

सोमलता की पहचान—प्रत्येक सोमलता पर पन्द्रह पत्र होते हैं जो शुक्लपक्ष में उगते हैं और कृष्णपक्ष में झड़ जाते हैं। शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक पत्र उगता है। इस प्रकार पूर्णिमा के दिन लता के पन्द्रह पत्र हो जाते हैं; फिर इसी क्रम से कृष्णपक्ष में एक पत्र प्रतिदिन झड़ जाता है और कृष्णपक्ष की समाप्ति वाले दिन लता पूर्णतः पत्रविहीन हो जाती है, केवल लता ही रहती है। **अंशुमान्** किस्म (Species) की सोमलता से घृत के समान गन्ध आती है और रजतप्रभ का कन्द होता है। **मुञ्जवान्** नामक सोम का केले के कन्द जैसा कन्द और पत्र लहसुन के पत्तों जैसे होते हैं। **चन्द्रमा** नामक सोम सोने की-सी आभा वाला होता है और सदा जल में पाया जाता है। **गरुडाहृत** और **श्वेताक्ष** सोम पाण्डुरंग के होते हैं तथा वृक्षों के अग्रभाग पर साँप की केंचुली (निर्मोक) की तरह लटके हुए होते हैं तथा अन्य सोम भी चित्र-विचित्र मण्डलों से सुशोभित होते हैं॥ २०-२५॥

सोम की चार पहचान—सभी सोमों को इस तरह जान लेना चाहिए कि ये सभी १. पन्द्रह पत्रों वाले, २. क्षीरयुक्त कन्द वाले, ३. लतारूप और ४. नाना प्रकार के पत्रों वाले होते हैं॥ २६॥

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा। श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा॥ २७॥
पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा। उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः॥ २८॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः। हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः॥ २९॥
तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मुञ्जवानंशुमानपि। काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्॥ ३०॥
गायत्रस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाक्वरस्तथा। अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः॥

सोम का उत्पत्तिस्थान—हिमालय, अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह, पारियात्र, विन्ध्य, देवसुन्द तथा ह्रद (तालाब)—इन पर्वतों एवं जलाशय में ये सोमलताएँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार वितस्ता (व्यास) नामक नदी के उत्तर दिशा में जो पाँच बड़े पर्वत हैं उनके बीच में नीचे सिन्धु नामक महानद है, उसमें सोमों में उत्तम चन्द्रमा नामक श्रेष्ठ सोमलता हठ (जलकुम्भी) की तरह तैरती

रहती है। इस चन्द्रमा नामक सोमलता के समीप ही मुञ्जवान् और अंशुमान् नामक सोमलता भी पायी जाती हैं। काश्मीर में क्षुद्रकमानस नामक दिव्य सरोवर है। वहाँ पर गायत्र, त्रैष्टुभ, पाङ्क, जागत तथा शाक्वर नामक सोमलताएँ और इसी तरह की अन्य सोमलताएँ भी, जो चन्द्रमा के समान प्रभावाली हैं, पायी जाती हैं॥ २७-३१॥

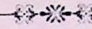
यैश्चात्र मन्दभाग्यैस्ते भिषजाश्चापमानिताः।
न तान् पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः। भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयं रसायनचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥



सोम का देखना कठिन—इन सोमलताओं को भाग्यहीन, चिकित्सक का अनादर करने वाले, अधार्मिक, कृतघ्न, औषध से द्वेष रखने वाले और ब्राह्मणों से द्वेष रखने वाले देख नहीं पाते हैं॥ ३२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'स्वभावव्याधि-प्रतिषेधनीयरसायनचिकित्सा' नामक उनतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ २९॥



अध्याय-सारांश

'स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय रसायन' नामक इस अध्याय में—सोमलता के भेद, पहचान, उत्पत्तिस्थान और भिन्न-भिन्न प्रकार के दीर्घायु प्रदान करने वाले योगों का उल्लेख है।

सोमलता नामक इस अमृत की ब्रह्मा से उत्पत्ति बतायी गयी है। इस लता के चौबीस भेद और उनके नाम आरम्भ में ही बता कर यह वर्णित किया गया है कि सोमलता के इन सभी भेदों के गुण एकसमान हैं और सेवनविधि भी एक जैसी है (५-९)।

सोम का सेवन करने वाले व्यक्ति को त्रिगर्भगृह में रहकर तथा वमनादि से शरीर का शोधन कर शुभ मुहूर्त में इस रसायन का सेवन करना होता है। व्यक्ति सोमकन्द का रस स्वर्णसूची से भेदन कर निकालता है और स्वाद की उपेक्षा कर पी जाता है (१०), त्रिगर्भ में लगभग दो मास तक रहना होता है। इस अवधि में सेवन करने वाले व्यक्ति के सम्पूर्ण शरीर में आमूल परिवर्तन होकर वह वज्र के समान दृढ़, सूर्य के समान तेज वाला और चन्द्रमा की तरह मनमोहक रूप प्राप्त होता है (१२), विधिपूर्वक सोम का सेवन करने से दस हजार वर्ष की आयु, एक हजार हाथियों का बल और सर्वत्र अबाध रूप से जाने की क्षमता प्राप्त होती है।

अन्त में यह बताया गया है कि यह लता उन्हीं व्यक्तियों को दीखती है जो धार्मिक, अकृतघ्न, औषध पर विश्वास रखने वाले और ब्राह्मणों के उपासक होते हैं (३२)।

●

त्रिंशोऽध्यायः

अथातो निवृत्तसन्तापीयं रसायनं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके उपरान्त 'निवृत्तसन्तापीयं रसायनम्' (Restorative Treatment to Remove Diseases) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'निवृत्तसन्तापमधिकृत्य कृतं रसायनं निवृत्तसन्तापीयम्' (ड.)।

यथा निवृत्तसन्तापा मोदन्ते दिवि देवताः। तथौषधीरिमाः प्राप्य मोदन्ते भुवि मानवाः ॥ ३ ॥

औषध-सेवन की उपयोगिता—जिस प्रकार स्वर्ग में देवता शारीरिक और मानसिक सन्ताप से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य औषधियों के विधिपूर्वक सेवन से पृथ्वीलोक में प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं ॥ ३ ॥

अथ खलु सप्त पुरुषा रसायनं नोपयुञ्जीरन्। तद्यथा—अनात्मवानलसो दरिद्रः प्रमादी व्यसनी पापकृद् भेषजापमानी चेति। सप्तभिरेव कारणैर्न सम्पद्यते; तद्यथा—अज्ञानादनारम्भादस्थिरचित्तत्वाद्दारिद्र्यादनायत्तत्वादधर्मादौषधालाभाच्चेति ॥ ४ ॥

रसायन-सेवन के अयोग्य (Contraindicated) **व्यक्ति** : निम्नलिखित सात व्यक्तियों को रसायन का सेवन नहीं करना चाहिए—१. अनात्मवान् ('अप्रशस्तात्मा मिथ्याचारप्रवृत्तो मन्दबुद्धिः'/Intemperate), २. अलस (आलसी/Lazy), ३. दरिद्र (Indigent), ४. प्रमादी ('प्रमादशीलोऽविहितशील इत्यर्थः'/ Careless), ५. व्यसनी ('व्यसनानि द्यूतमद्यवेश्यादीनीति'/Immoral), ६. पापकृत् (पापी/Sinful) और ७. भेषजापमानी (औषध पर विश्वास न रखने वाला/Who disregard medicine)। ये सात प्रकार के व्यक्ति निम्नलिखित सात कारणों से रसायन-सेवन से वञ्चित किये गये हैं—१. अज्ञान (अनात्मवान्/ Ignorance), २. अनारम्भता (अलस/Inactivity), ३. अस्थिरचित्तता (प्रमादी/Instability of mind), ४. दारिद्र्य (Poverty), ५. अनायत्तता (व्यसनी/Dependance), ६. अधर्म (पापकृत्/Inpiety) और ७. औषध की अप्राप्ति (भेषजापमानी/Inability to secure genuine drug) ॥ ४ ॥

अथौषधीर्व्याख्यास्यामः—तत्राजगरी, श्वेतकापोती, कृष्णकापोती, गोनसी, वाराही, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, करेणुः, अजा, चक्रका, आदित्यपर्णी, ब्रह्मसुवर्चला, श्रावणी, महाश्रावणी, गोलोमी, अजलोमी, महावेगवती चेत्यष्टादश सोमसमवीर्या महौषधयो व्याख्याताः। तासां सोमवत् क्रियाशीःस्तुतयः शास्त्रेऽभिहिताः। तासामागारेऽभिहुतानां याः क्षीरवत्यस्तासां क्षीरकुडवं सकृदेवोपयुञ्जीत, यास्त्वक्षीरा मूलवत्यस्तासां प्रदेशिनीप्रमाणानि त्रीणि काण्डानि प्रमाणमुपयोगे, श्वेतकापोती समूलपत्रा भक्षयितव्या, गोनस्यजगरीकृष्णकापोतीनां सनखमुष्टिं खण्डशः कल्पयित्वा क्षीरेण विपाच्य परिस्राव्याभिघारितमभिहुतं च सकृदेवोपयुञ्जीत, चक्रकायाः पयः सकृदेव, ब्रह्मसुवर्चला सप्तरात्रमुपयोक्तव्या भक्ष्यकल्पेन, शेषाणां पञ्च पञ्च पलानि क्षीराढकक्वथितानि प्रस्थेऽवशिष्टेऽवतार्य परिस्राव्य सकृदेवोपयुञ्जीत। सोमवदाहारविहारौ व्याख्यातौ, केवलं नवनीतमभ्यङ्गार्थे, शेषं सोमवदानिर्गमादिति ॥ ५ ॥

रसायन महौषधियाँ—अब औषधियों का वर्णन किया जायेगा—१. अजगरी, २. श्वेत कापोती, ३. कृष्ण कापोती, ४. गोनसी, ५. वाराही, ६. कन्या, ७. छत्रा, ८. अतिच्छत्रा, ९. करेणु, १०. अजा,

११. चक्रका, १२. आदित्यपर्णिनी, १३. ब्रह्मसुवर्चला, १४. श्रावणी, १५. महाश्रावणी, १६. गोलोमी, १७. अजलोमी और १८. महावेगवती—ये अठारह सोम के समान वीर्य (Potency) वाली महौषधियाँ वर्णित की गयी हैं। इनकी क्रिया (विधान), आशी (मंगलपाठादि) और स्तुति (फल) (Actions and therapeutics) का शास्त्रों में वर्णन है और ये सब सोम के समान हैं।

व्यक्ति जिस भवन में प्रविष्ट है वहाँ हवन करने के उपरान्त (अथवा इन औषधियों से हवन करने के पश्चात्—'अभिहुतानाम् कृतहोमानां तासाम्') इन औषधियों में जो दूधवाली हैं उनके एक कुडव दूध को सहसा (सकृदेव = एक ही बार में) प्रयुक्त करें। जिनमें दूध नहीं है पर मूल है उनके तर्जनी (Forefinger) के प्रमाण के तीन टुकड़े प्रयोग में लायें।

श्वेतकापोती का मूल और पत्र सहित भक्षण कर लेना चाहिए। गोनसी, अजगरी और कृष्णकापोती के छोटे-छोटे टुकड़े कर सनखमुष्टि प्रमाण (Handful measure full up to the nails) लेकर दूध में पका लें। फिर अभिधारित और अभिहुत (अभिधारितम्/ईषद् घृताक्तम्/थोड़ा-सा घी लगाकर; अभिहुतम्/हवन करने के उपरान्त) कर लेने पर एक ही बार में (दिन में एक बार) प्रयुक्त करें। चक्रका का दूध दिन में एक बार लें। ब्रह्मसुवर्चला नामक महौषध का सात दिन तक भक्ष्य पदार्थों की भिन्न-भिन्न कल्पना कर ('भक्ष्यकल्पनेति अपूपादिविधानेन') सेवन करना चाहिए। अन्य महौषधियों को पाँच पल लेकर (प्रत्येक को) एक आढक दूध में पकावें और एक प्रस्थ शेष रहने पर उतार तथा छान कर एक बार प्रयुक्त करें। इनके सेवनकाल में आहार-विहार सोम की तरह बताया गया है; केवल अभ्यंगार्थ नवनीत का प्रयोग करें और (गर्भगृह से) बाहर आने तक सभी विधान सोम की तरह हैं॥ ५॥

भवन्ति चात्र—

युवानं सिंहविक्रान्तं कान्तं श्रुतनिगादिनम्। कुर्युरेताः क्रमेणैव द्विसहस्रायुषं नरम्॥ ६॥

रसायन औषधियों के सेवन के लाभ—ये उपरोक्त औषधियाँ क्रमपूर्वक सेवन करने पर व्यक्ति को युवा सिंह सदृश पराक्रम वाला, कान्त (मनोज्ञ/Lustre, beautiful body) और श्रुतनिगादी (अर्थात् एक बार सुने को याद रख कर सुना देने वाला/श्रुतधर/Pwerful memory) बना देती हैं और आयु भी दो हजार साल की कर देती हैं॥ ६॥

अङ्गदी कुण्डली मौली दिव्यस्रक्चन्दनाम्बरः। चरत्यमोघसङ्कल्पो नभस्यम्बुददुर्गमे॥ ७॥

अन्य गुण—इन औषधियों को सेवन करने वाला व्यक्ति बाजूबन्द (Bracelets), कुण्डल (Ear-rings), मौली (शिरोवेष्टनयुक्तः—अ.द.), अलौकिक माला धारण कर, चन्दन लगा तथा उत्तम वस्त्रों से युक्त होकर एवं सफल संकल्प वाला बनकर ('सङ्कल्पं कर्म मानसम्'—अ.को.) आकाश में उन स्थानों में भी विचरण करने में समर्थ होता है जो बादलों के लिए दुर्गम हैं॥ ७॥

व्रजन्ति पक्षिणो येन जललम्बाश्च तोयदाः। गतिः सौषधिसिद्धस्य सोमसिद्धे गतिः पराः॥ ८॥

उत्कृष्ट गति का लाभ—जिस गति से पक्षी आकाश में विचरते हैं तथा बादल जल से भरे होने पर गति करते हैं, इन औषधियों के सेवन से भी व्यक्ति को इसी प्रकार की गति प्राप्त होती है अर्थात् अबाध (Unrestricted) गमन में समर्थ होता है। सोम के सेवन से भी इसी प्रकार की उत्कृष्ट गति प्राप्त होती है॥ ८॥

अथ वक्ष्यामि विज्ञानमौषधीनां पृथक् पृथक्। मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी॥ ९॥
पञ्चारत्निप्रमाणा च विज्ञेयाऽजगरी बुधैः। निष्पत्रा कनकाभासा मूले द्व्यङ्गुलसम्मिता॥ १०॥
सर्पाकारा लोहितान्ता श्वेतकापोतिरुच्यते। द्विपर्णिनीं मूलभवामरुणां कृष्णमण्डलाम्॥ ११॥
द्व्यरत्निमात्रां जानीयाद्गोनसीं गोनसाकृतिम्। सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम्॥ १२॥

एवंरूपरसां चापि कृष्णकापोतिमादिशेत्। कृष्णसर्पस्वरूपेण वाराही कन्दसम्भवा।१३॥
एकपत्रा महावीर्या भिन्नाञ्जनसमप्रभा। छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे॥ १४॥
जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते। कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः॥ १५॥
कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधी। करेणुः सुबहुक्षीरा कन्देन गजरूपिणी॥ १६॥
हस्तिकर्णपलाशस्य तुल्यपर्णा द्विपर्णिनी। अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी॥ १७॥
अजा महौषधी ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा। श्वेतां विचित्रकुसुमां काकादन्या समां क्षुपाम्॥ १८॥
चक्रकामोषधीं विद्याज्जरामृत्युनिवारिणीम्। मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः॥ १९॥
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदाऽऽदित्यानुवर्तिनी। कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति॥ २०॥
सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला। अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यङ्गुलसम्मितैः॥ २१॥
पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः। श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी॥ २२॥
श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा। गोलोमी चाजलोमी च रोमशे कन्दसम्भवे॥ २३॥
हंसपादीव विच्छिन्नैः पत्रैर्मूलसमुद्भवैः। अथवा शङ्खपुष्प्या च समाना सर्वरूपतः॥ २४॥
वेगेन महताऽऽविष्टा सर्पनिर्मोकसन्निभा। एषा वेगवती नाम जायते ह्यम्बुदक्षये॥ २५॥

रसायन औषध्रियों की पहचान—अब इन औषधियों की पहचान (Identifying features) का वर्णन किया जायेगा; **अजगरी**—जैसा कि विद्वानों ने बताया है अजगरी नामक महौषध कपिल वर्ण (Brownish colour) के मण्डलाकार (Circular) चिह्नों (Spots) से युक्त, पाँच पत्र वाली और सर्प के आकार की तथा पाँच अरत्नि ('विस्तृतकनिष्ठाङ्गुलिमुष्टिहस्तः अरत्निः') प्रमाण की होती है। **श्वेतकापोती**—यह पत्र रहित, स्वर्ण की-सी आभावाली, मूल में दो अँगुल मोटी (Wide), आकार में सर्प जैसी और अन्त में लाल रंग की होती है। **गोनसी**—इसके दो पत्र होते हैं, मूलभवा (अधिकतर मूलरूप/Comprises mostly of roots, रंग में अरुण = लाल), काले रंग के मण्डल (Rings) युक्त, लम्बाई में दो अरत्नि तथा आकार में गोनसाकृति (गाय की नाक जैसी) होती है। **कृष्णकापोती**—यह क्षीर (Milk) युक्त, बालों वाला (Hairy) तथा नरम पौधा है जिसका रस गन्ने के रस जैसा होता है। कृष्णकापोती ऐसे रूप-रस वाली होती है। **बाराही**—यह रूप में काले साँप जैसी, कन्द से उत्पन्न होने वाली, एकपत्र युक्त, अन्दर से अञ्जन (Antimony) की तरह तथा अतिवीर्यवती (Very potent) होती है। **छत्रा और अतिच्छत्रा**—ये दोनों भूतबाधा को हरने वाले कन्द से उत्पन्न होते हैं, वार्धक्य और मृत्यु का निवारण करते हैं तथा ये वहाँ पाये जाते हैं जहाँ श्वेतकापोती होती है। **कन्या**—इसके मोरपंख जैसे बारह सुन्दर पत्र होते हैं। यह महौषधि कन्द से उत्पन्न होती है और इससे निकलने वाला दूध सोने की तरह पीला होता है। **करेणु**—इसका कन्द दुग्धबहुल होता है तथा उसके कन्द की आकृति हाथी जैसी होती है। इसमें दो पत्र होते हैं जो देखने में हस्तिकर्णपलाश के पत्तों जैसे होते हैं। **अजा** (Species)—इसका कन्द बकरी के थन जैसा तथा दुग्ध युक्त होता है। इसका क्षुप होता है। यह महौषध है और इसका रंग शंख (Conch shell), कुन्द (Flower) और चन्द्रमा के समान सफेद होता है। **चक्रका**—बुढ़ापा और मृत्यु का निवारण करने वाली यह महौषध श्वेत वर्ण की, रंग-बिरंगे फूल वाली तथा काकादनी (गुञ्जा या ज्योतिष्मती) के क्षुप जैसी होती है (काकादनी संदिग्ध द्रव्य है)। **आदित्यपर्णिनी**—इसका प्रमुख रूप से मूल (Root) होता है (मूलीनी) तथा पाँच पत्र होते हैं जो लाल रंग के (रेशमी) वस्त्र जैसे मृदु होते हैं। यह सदा सूर्य का अनुगमन करती है। **ब्रह्मसुवर्चला**—दिव्य गुणसम्पन्न होने के कारण इसे 'देवी' कहा गया है। यह स्वर्ण सदृश वर्ण वाली, जल के किनारे चारों ओर फैलने वाली, दुग्ध युक्त और कमलिनी की तरह होती है। **महाश्रावणी**—इसका क्षुप अरत्नि मात्र होता है। पत्र दो अंगुल लम्बे, फूल नीलकमल के आकार के और फल अञ्जन वर्ण के होते हैं। यह सोने के रंग की तथा दुग्ध युक्त (पयस्विनी)

होती है। **श्रावणी**—यह महाश्रावणी के लक्षणों वाली पर पाण्डुर ('हरिणः पाण्डुरः पाण्डुः'–अ.को.) वर्ण की होती है। **गोलोमी** और **अजलोमी**—इनका रोमयुक्त कन्द होता है। कन्द से उगती है (कन्दसम्भवे)। मूल से उगने वाले इसके पत्र हंसपदी के पत्रों की तरह कटे होते हैं अथवा पूरी तरह शंखपुष्पी जैसे लगते हैं। **वेगवती**—टेढ़ी-मेढ़ी होकर वेग से बढ़ने वाली (आविष्टा, आवेष्टनयुता), देखने में साँप की केंचुली जैसी होती है और वर्षर्तु के पश्चात् उत्पन्न होती है॥ ९-२५॥

विमर्श—अरत्नि—इस सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख मिलता है—१. 'बद्धमुष्टिकोऽरत्निः' (ड.) और 'विस्तृतकनिष्ठाङ्गुलिमुष्टिकहस्तः अरत्निः' (ड.)। **अंशुक**—'चैलं वसनमंशुकम्' (अ.को.)।

सप्तादौ सर्परूपिण्यो ह्यौषध्यो या प्रकीर्तिताः। तासामुद्धरणं कार्यं मन्त्रेणानेन सर्वदा॥ २६॥
'महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि। तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै'॥ २७॥
मन्त्रेणानेन मतिमान् सर्वा एवाभिमन्त्रयेत्। अश्रद्दधानैरलसैः कृतघ्नैः पापकर्मभिः॥ २८॥
नैवासादयितुं शक्याः सोमाः सोमसमास्तथा।

औषध उखाड़ने का मन्त्र—ऊपर जिन सात सर्पाकार औषधियों का वर्णन किया गया है उनको निम्नलिखित मन्त्र के साथ उखाड़ना (उद्धरणम् = उत्पाटनम्) चाहिए—'महेन्द्र, राम, कृष्ण और गौ इनके तप और तेज से (लोगों के रोग) शान्त करो (प्रशाम्यध्वम् = उपशमं कुरु) कल्याण के लिए'। इस मन्त्र से बुद्धिमान् व्यक्ति सभी औषधियों को आमन्त्रित करे। जो श्रद्धा रहित हैं, आलसी हैं, कृतघ्न हैं और पापी हैं वे सोम तथा सोमसदृश अन्य महौषधियों को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं॥ २६-२८॥

पीतावशेषममृतं देवैर्ब्रह्मपुरोगमैः॥ २९॥
निहितं सोमवीर्यासु सोमे चाप्यौषधीपतौ।

अमृतयुक्त औषध—ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा पीने से बचा हुआ अमृत (Remnant of nectar) सोम-समान वीर्य वाली औषधियों, सोम तथा औषधियों के पति चन्द्रमा में रख दिया गया है॥ २९॥

देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे॥ ३०॥
दृश्यते च जलान्तेषु मेध्या ब्रह्मसुवर्चला। आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तथैव हिमसंक्षये॥ ३१॥
दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे। काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम्॥ ३२॥
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा। गोलोमी चाजलोमी च महती श्रावणी तथा॥ ३३॥
वसन्ते कृष्णसर्पाख्या गोनसी च प्रदृश्यते। कौशिकीं सरितं तीर्त्वा सञ्जयन्त्यास्तु पूर्वतः॥ ३४॥
क्षितिप्रदेशो वल्मीकैराचितो योजनत्रयम्। विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वल्मीकमूर्धसु॥ ३५॥
मलये नलसेतौ च वेगवत्यौषधी ध्रुवा। कार्तिक्यां पौर्णमास्यां च भक्षयेत्तामुपोषितः॥ ३६॥
सोमवच्चात्र वर्तेत फलं तावच्च कीर्तितम्। सर्वा विचेयास्त्वौषध्यः सोमाश्चाप्यर्बुदे गिरौ॥
स शृङ्गैर्देवचरितैरम्बुदानीकभेदिभिः। व्याप्तस्तीर्थैश्च विख्यातैः सिद्धर्षिसुरसेवितैः॥ ३८॥
गुहाभिर्भीमरूपाभिः सिंहोन्नादितकुक्षिभिः।
गजालोडिततोयाभिरापगाभिः समन्ततः। विविधैर्धातुभिश्चित्रैः सर्वत्रैवोपशोभितः॥ ३९॥
नदीषु शैलेषु सरःसु चापि पुण्येष्वरण्येषु तथाऽऽश्रमेषु।
सर्वत्र सर्वाः परिमार्गितव्याः सर्वत्र भूमिर्हि वसूनि धत्ते॥ ४०॥

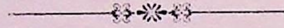
इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निवृत्तसन्तापीयं रसायनं नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥



उत्पत्तिस्थल—मेध्य गुण युक्त **ब्रह्मसुवर्चला** नामक महौषध देवसुन्द नामक उत्तम सरोवर में, महानद सिन्धु तथा पानी के किनारे पायी जाती है। **आदित्यपर्णी** बर्फ के पिघलने के बाद (हिमसंक्षये वसन्ते) मिलती है। **अजगरी** और **गोनसी** इनमें अजगरी सदा मिलती है जब कि गोनसी अम्बुदागम अर्थात् वर्षर्तु (Rainy season) में पायी जाती है। काश्मीर में क्षुद्रमानस नामक दिव्य तालाब है। उसमें करेणु, कन्या, छत्रा, अतिच्छत्रा, गोलोमी, अजलोमी, श्रावणी और महाश्रावणी उत्पन्न होती हैं। वसन्त ऋतु में वाराही और गोनसी पायी जाती हैं जो कृष्णसर्पाख्या अर्थात् काले साँप जैसी होती हैं। कौशिकी नदी के पार सञ्जयन्ती के पूर्व की ओर वमियों (Anthills) से ढका हुआ तीन योजन विस्तृत भू-भाग है; वहाँ वमियों के शिखर पर श्वेतकापोती पायी जाती है। मलय और नलसेतु में वेगवती नामक महौषध निश्चित रूप से मिलती है। इसका सेवन कार्तिक मास की पूर्णिमा को व्रत रखकर करें। इससे सोम के सेवन सदृश फल प्राप्त होता है।

ये सभी औषधियाँ तथा सोम अर्बुद नामक पर्वत पर ढूँढनी चाहिए। यह पर्वत बादलों का भेदन करने वाले शिखरों से युक्त हैं जहाँ तीर्थ व्याप्त हैं; सिद्ध, ऋषि और देवता निवास करते हैं। इसकी विशाल गुफाओं में सिंह गरजते हैं। चारों ओर से इसकी नदियों के पानी को हाथी आलोड़ित करते हैं और यह सर्वत्र ही विभिन्न प्रकार की चित्रित धातुओं से सुशोभित है। ये सभी महौषधियाँ नदियों, पर्वतों, तालाबों, सम्पन्न (पुण्य) जंगलों में सर्वत्र ढूँढनी चाहिए; क्योंकि सारी पृथ्वी धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण है (वसुन्धरा) ॥ ३०-४० ॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'निवृत्तसन्तापीयरसायन' नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३० ॥



अध्याय-सारांश

'निवृत्तसन्तापीयरसायन' नामक इस अध्याय में—पृथ्वी पर मनुष्य औषधियों के विधिपूर्वक सेवन से देवताओं की तरह आनन्दपूर्वक रहते हैं। तत्पश्चात् रसायन-सेवन के अयोग्य व्यक्ति और इसके कारणों का उल्लेख कर अठारह प्रकार की महौषधियों का उल्लेख किया गया है (५); इन महौषधियों का सेवन कुटीप्रावेशिक विधि से बताया गया है। कौन-सी महौषध किस प्रकार सेवन करनी है, इसका विस्तार से वर्णन है; साथ ही पथ्य समय, अनुपान आदि भी बताये गये हैं। इनसे मनुष्य में अलौकिक गुणों का सञ्चार होता है। उसकी सर्वत्र अबाधगति होती है, उसके मनोरथ पूरे होते हैं। अजगरी आदि सभी महौषधियों की पहचान, उत्पत्तिस्थान, पैदा होने की ऋतु आदि का विस्तार से उल्लेख है।



एकत्रिंशोऽध्यायः

अथातः स्नेहोपयौगिकचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'स्नेहोपयौगिकं चिकित्सितम्' (Oleation Therapy) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—उपयौगिकम्—'उपयोगी बाह्योऽभ्यन्तरश्च। तत्र बाह्योऽभ्यङ्गादिः, अभ्यन्तरः पानादिः'।

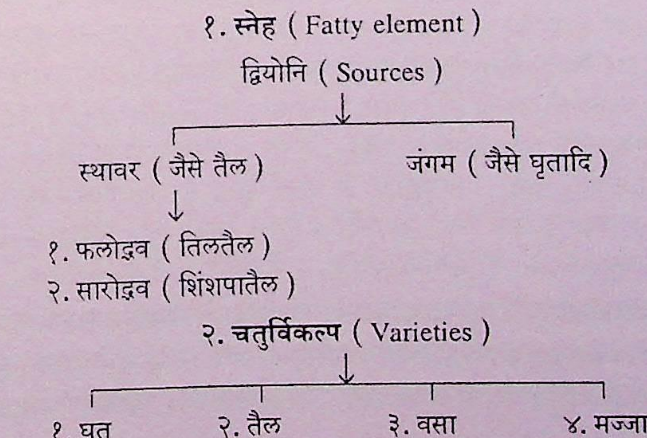
स्नेहसारोऽयं पुरुषः, प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति। स्नेहो हि पानानुवासन-मस्तिष्कशिरोबस्त्युत्तरबस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूपयोज्यः ॥ ३ ॥

स्नेह (Fatty element) **की उपयोगिता**—स्नेह मानवशरीर का अनिवार्य घटक (Essential constituent) है अर्थात् मानवकाया स्नेहसारमय है। प्राण भी स्नेह की अधिकता वाले हैं और प्राणों (Vital powers) के बने रहने में स्नेह ही हेतु है। अतः स्नेह का उपयोग पान (Drinks), अनुवासन (Oily enemata), मस्तिष्क (Head) पर लगाने में, शिरोबस्ति, उत्तरबस्ति (Urethral douching), नस्यकर्म (Errhines), कर्णपूरण, अभ्यङ्ग (Massage) और भोजन में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ३ ॥

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः स्नेहगुणाश्च। तत्र जङ्गमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं, स्थावरेभ्यस्तिलतैलं प्रधानमिति ॥ ४ ॥

स्नेहयोनियाँ (Sources)—स्नेहों की दो प्रकार की योनियाँ (१. स्थावर जैसे तैल; २. जङ्गम जैसे घृत, वसा, मज्जा) और चार विकल्प (Varieties) ('तत्र तैलं तिलादिफलोद्भवत्वात्फलस्थम्, देवदारुशिंशपागुर्वादि सारोत्थं च, घृतमपि द्विधा–क्षीरोत्थं दध्युत्थं च, शुद्धमांसस्नेहः वसा, अस्थ्याश्रया मज्जा। चत्वारो विकल्पाः–सर्पिस्तैलवसामज्जानोऽस्य स्नेहस्येति चतुर्विकल्पः') तथा स्नेह एवं स्नेहगुण—इनका वर्णन किया जा चुका है। इनमें जंगम स्नेहों में गव्यघृत और स्थावर स्नेहों में तिलतैल श्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

विमर्श—वाग्भट के अनुसार—'सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम्। तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्' ॥ (सू. १६)



अत ऊर्ध्वं यथाप्रयोजनं यथाप्रधानं च स्थावरस्नेहानुपदेक्ष्यामः। तत्र तिल्वकैरण्डकोशाम्र-दन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीपलाशविषाणिकागवाक्षीकम्पिल्लकशम्पाकनीलिनीस्नेहा विरेचयन्ति, जीमूतककुटजकृतवेधनेक्ष्वाकुधामार्गवमदनस्नेहा वामयन्ति, विडङ्गखरमञ्जरीमधुशिग्रुसूर्यवल्लीपीलु-सिद्धार्थकज्योतिष्मतीस्नेहाः शिरो विरेचयन्ति, करञ्जपूतीककृतमालमातुलुङ्गेङ्गुदीकिराततिक्तकस्नेहा दुष्टव्रणेषूपयुज्यन्ते, तुवरककपित्थकम्पिल्लकभल्लातकपटोलस्नेहा महाव्याधिषु, त्रपुसैर्वारुककर्का-रुकतुम्बीकूष्माण्डस्नेहा मूत्रसङ्गेषु, कपोतवङ्कावल्गुजहरीतकीस्नेहाः शर्कराश्मरीषु, कुसुम्भसर्ष-पातसीपिचुमर्दातिमुक्तकभाण्डीकटुतुम्बीकटभीस्नेहाः प्रमेहेषु, तालनारिकेलपनसमोचप्रियाल-बिल्वमधूकश्लेष्मातकाम्रातकफलस्नेहाः पित्तसंसृष्टे वायौ, बिभीतकभल्लातकपिण्डीतकस्नेहाः कृष्णीकरणे, श्रवणकङ्गुकटुण्टुकस्नेहाः पाण्डूकरणे, सरलपीतदारुशिंशपागुरुसारस्नेहा दद्रुकुष्ठ-किटिभेषु, सर्व एव स्नेहा वातमुपघ्नन्ति; तैलगुणाश्च समासेन व्याख्याताः॥५॥

स्थावर स्नेहों का वर्णन—अब इससे आगे आवश्यकता और विधान (या प्रधानता) के अनुसार स्थावर (Vegetable) स्नेहों का उपदेश किया जायेगा—**विरेचक** (तिल्वकादि) **स्नेह**—तिल्वक (रोध्राकारः, बृहत्पत्रः रक्तत्वक्), एरण्ड, कोशाम्र (*Schleichera oleosa*), दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला (यवतिक्ताभेदः), शङ्खिनी (यवतिक्ताभेदः), पलाश, विशाणिका (मेषशृङ्गी), गवाक्षी (द्रवकर्णी, इन्द्रवारुणी), कमीला, शम्पाक (अमलतास) और नीलिनी; इनका स्नेह (तैल) 'विरेचक' है। **वामक** (जीमूतकादि) **स्नेह**—जीमूतक (देवदाली), कुटज, कृतवेधन (कोशातकी), इक्ष्वाकु (कटुतुम्बी), धामार्गव (महाकोशातकी) और मदनफल; इनका स्नेह (तैल) 'वामक' है। **शिरोविरेचक** (विडङ्गादि) **स्नेह**—विडङ्ग, खरमञ्जरी (अपामार्ग), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन), सूर्यवल्ली (अर्कपुष्पी ?), पीलु (*Salvadora oleoides*), सिद्धार्थक (सरसों) और मालकाङ्गनी; इनका स्नेह (तैल) 'शिरोविरेचक' है। **व्रणहर** (करंजादि) **स्नेह**—करञ्ज, पूतीक (चिरबिल्व), अमलतास, मातुलुङ्ग (बिजौरा निम्बु), इंगुदी (हिंगोट), किराततिक्त (चिरायता); इनका स्नेह (तैल) 'दुष्ट व्रणों' में प्रयुक्त होता है। **महाव्याधिहर** (तुवरकादि) **स्नेह**—तुवरक, कपित्थ, कमीला, भिलावा और पटोल; इनका स्नेह (तैल) 'महाव्याधियों' में प्रयुक्त होता है। **मूत्रसंगहर** (त्रपुसादि) **स्नेह**—त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), कर्कारुक (कूष्माण्डभेद), तुम्बी, पेठा; इनका स्नेह (तैल) 'मूत्रसंग' में प्रयुक्त होता है (मूत्रकृच्छ्राश्मरीष्वित्यर्थः)। **शर्कराश्मरीहर** (कपोतवंगादि) **स्नेह**—कपोतवङ्का (सुवर्चला), अवल्गुज (बाकुची) और हरीतकी; इनका स्नेह (तैल) 'शर्कराश्मरी' में प्रयुक्त होता है। **प्रमेहहर** (कुसुम्भादि) **स्नेह**—कुसुम्भ (*Carthamus tinctorius*/बर्रे, लट्वा), सरसों, अलसी, पिचुमर्द (नीम), अतिमुक्तक (तिन्दुक), भाण्डी (भिण्डीति लोके), कडवी तुम्बी, कटभी; इनका स्नेह (तैल) प्रमेहों में प्रयुक्त होता है। **पित्त-वातहर** (तालादि) **स्नेह**—ताल (ताड), नारियल, पनस (कटहल), मोच (सेमल), प्रियाल, बेल, महुवा, लिसोडा और आम्रातक फल (अम्बाडा); इनका स्नेह (तैल) 'पित्तयुक्त वात' में हितकर है। **कृष्णीकरण** (बिभीतकादि) **स्नेह**—बिभीतक (बहेड़ा), भिलावा, मदनफल; इनका स्नेह (तैल) 'कृष्णीकरण' (त्वचा का रंग काला करने) के लिए प्रयुक्त होता है। **पाण्डुकरण** (श्रवणादि) **स्नेह**—श्रवण (गोरखमुण्डी), कंगुक (प्रियंगु), टुण्टुक (सोनापाठा); इनका स्नेह (तैल) 'पाण्डुकरण' में प्रयुक्त होता है। **शिंशपादि स्नेह**—सरल (चीड़), पीतदारु, शीशम तथा अगर के सार भाग का स्नेह (तैल) कुष्ठ, दद्रु, किटिभ में प्रयुक्त होता है। ये सभी स्नेह (तैल) वातनाशक होते हैं। तैलों के गुण संक्षेप में वर्णित किये गये हैं॥५॥

अत ऊर्ध्वं कषायस्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः। तत्र केचिदाहुः—त्वक्पत्रफलमूलादीनां भागस्तच्चतु-र्गुणं जलं चतुर्भागावशेषं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः; स्नेहप्रसृतेषु षट्सु चतुर्गुणं द्रवमावाप्य चतुरश्चाक्षसमान् भेषजपिण्डानित्येष स्नेहपाककल्पः। एतत्तु न सम्यक्; कस्मात्? आगमासिद्धत्वात्॥६॥

कषायपाक-विधि (कषायकल्पना और स्नेहपाक की विधि एकीय मत से)—अब इसके उपरान्त कषाय और स्नेहपाक के क्रम का उपदेश किया जायेगा—कुछ लोगों का कहना है कि त्वक्, मूल, पत्र, फल आदि एक भाग और चतुर्गुण जल मिलाकर चतुर्थांश रहने तक पकावें ('चतुर्थभागावशिष्टं क्वाथमुपहरेत्') यह 'कषायपाक कल्प' की विधि है।

स्नेहपाक-विधि—स्नेह छः प्रसृत ('प्रसृतोऽत्र संयुक्तपञ्चागुलिरीषत् विस्तृतपाणिरेव न पुनः पलद्वयम्') लेकर उसमें द्रवपदार्थ चतुर्गुण मिलावें। इसमें औषधकल्क चार अक्ष (बिभीतकफल चार के बराबर/चतुःबिभीतकफलमानान्) डालें। यह 'स्नेहपाककल्प' है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं है, क्योंकि यह शास्त्रविरुद्ध है॥ ६॥

पलकुडवादीनामतो मानं तु व्याख्यास्यामः। तत्र द्वादश धान्यमाषा मध्यमाः सुवर्णमाषकः, ते षोडश सुवर्णम्, अथवा मध्यमनिष्पावा एकोनविंशतिर्धरणं, तान्यर्धतृतीयानि कर्षः, ततश्चोर्ध्वं चतुर्गुणमभिवर्धयन्तः पलकुडवप्रस्थाढकद्रोणा इत्यभिनिष्पद्यन्ते, तुला पुनः पलशतं, ताः पुनर्विंशतिर्भारः। शुष्काणामिदं मानम्, आर्द्रद्रवाणां च द्विगुणमिति॥ ७॥

पलादि परिमाण-वर्णन—अब पल, कुडव आदि के मान (Weights and measures) का वर्णन किया जायेगा—मध्यम आकार के ('नातिस्थूला नातितनवो ग्राह्याः') बारह धान्यमाष (Grains of paddy) का एक 'सुवर्णमाषक' और सोलह सुवर्णमाषक का एक 'सुवर्ण' होता है। अथवा मध्यम आकार के उन्नीस 'निष्पाव' का एक 'धरण' (टंक) होता है। अर्ध तृतीय ('अर्धं तृतीयं येषां तानि अर्धतृतीयानि' अर्थात् अढाई धरण) का एक 'कर्ष' होता है। इससे आगे चतुर्गुण बढ़ाकर पल, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण आदि होते हैं (अर्थात् चार कर्ष का एक पल, चार पल का एक कुडव, चार कुडव का एक प्रस्थ, चार प्रस्थ का एक आढक, चार आढक का एक द्रोण आदि)। एक सौ पल की एक तुला ('तुला पलशतं ज्ञेयम्'–प.प्र.) और बीस तुला का एक 'भार' होता है। यह मान शुष्क द्रव्यों (Dry drugs) का है। ताजी वनस्पतियाँ एवं द्रव पदार्थों को दुगुना लेना चाहिए॥ ७॥

विमर्श—दो प्रकार के मान शास्त्रसम्मत हैं—१. कालिङ्गमान और २. मागधमान। कालिङ्गमान चरकाचार्य सम्मत है और मागधमान सुश्रुताचार्य सम्मत है। ऐसा पाठ भी मिलता है कि 'कालिङ्गात् मागधं श्रेष्ठमिति मानविदो विदुः'। आर्द्र वनस्पतियों को द्विगुण लेने के अपवाद भी हैं—'वासाकुटजकुष्माण्डशतपर्णीसहामृताः। निम्बश्चार्द्रा प्रयोक्तव्या न तासां द्विगुणं भवेत्'॥

सौश्रुतमान

१२ धान्यमाष = १ सुवर्णमाषक	४ कुडव = १ प्रस्थ
१६ सुवर्णमाषक = १ सुवर्ण	४ प्रस्थ = १ आढक
अथवा—	४ आढक = १ द्रोण
१९ निष्पाव = १ धरण	
२.५ धरण = १ कर्ष	१०० पल = १ तुला
४ कर्ष = १ पल	२० तुला = १ भार
४ पल = १ कुडव	

तत्रान्यतमपरिमाणसम्मितानां यथायोगं त्वक्पत्रफलमूलादीनामातपपरिशोषितानां छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यान्यणुशो भेदयित्वाऽवकुट्याष्टगुणेन षोडशगुणेन वाऽम्भसाभिषिच्य स्थाल्यां चतुर्भागावशिष्टं क्वाथयित्वाऽपहरेदित्येष कषायपाककल्पः। स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः, स्नेहचतुर्थांशो-

भेषजकल्कः, तदैकध्यं संसृज्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः। अथवा तत्रोदकद्रोणे त्वक्पत्रफलमूलादीनां तुलामावाप्य चतुर्भागावशिष्टं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येष कषायपाककल्पः; स्नेहकुडवे भेषजपलं पिष्टं कल्कं चतुर्गुणं द्रवमावाप्य विपचेदित्येष स्नेहपाककल्पः॥ ८॥

क्वाथ और स्नेहपाक-विधि—उपरोक्त किसी परिमाण में त्वक् (छाल), पत्र, फल, मूल आदि को धूप में सुखाकर द्रव्य को टुकड़े करने योग्य हो तो काट कर टुकड़े-टुकड़े कर लें; अगर चीरने लायक हो तो चीर कर कूट लें और आठ गुना जल में या सोलह गुना जल में (अष्टगुण या षोडशगुण जल का विधान—'मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं जलम्। कठिनात्कठिने देयं जलं षोडशिकं मतम्') भिगोकर तथा किसी (मृण्मयादि) पात्र में चतुर्थांश रहने तक पकावें। यह 'कषायपाक कल्प' कहलाता है।

स्नेहपाक-कल्पविधि—स्नेह से चतुर्गुण द्रव (Liquid) और स्नेह का चतुर्थांश भेषजकल्क—इनको मिलाकर पका लें। यह 'स्नेहपाक कल्प' है। (अथवा) एक द्रोण जल में त्वक्, पत्र, फल, मूल आदि को तुला (सौ पल) प्रमाण लेकर चतुर्थांश रहने तक पकावें। यह 'कषायपाक कल्प' है। इसी प्रकार स्नेह एक कुडव (४ पल) तथा पिसा हुआ भेषजकल्क एक पल चतुर्गुण द्रव मिलाकर (स्नेहपाकविधि से) पकावें। यह 'स्नेहपाक कल्प' है॥ ८॥

विमर्श—कषाय में जल की मात्रा के सम्बन्ध में एक अन्य नियम—'कर्षादौ तु पलं यावत् दद्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत्'॥

स्नेहपाक के सम्बन्ध में भी—'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रव्याणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुरन्यत्र स्याच्चतुर्गुणम्'॥

भवतश्चात्र—

स्नेहभेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितम्। तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तद्वदेव तु॥ ९॥
अनुक्ते द्रवकार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतम्। कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत्॥ १०॥

इस सम्बन्ध में दो सामान्य (General) नियम—स्नेह, औषध और जल की मात्रा का जहाँ उल्लेख न हो वहाँ पर निम्नलिखित नियमों का पालन करना चाहिए, अन्यथा जैसा आदेश हो उसका पालन करना चाहिए—(१) जहाँ द्रव की आवश्यकता हो, पर द्रव का उल्लेख न हो वहाँ सर्वत्र जल का ग्रहण करें। (२) क्वाथ, कल्क की आवश्यकता हो, पर द्रव्यों के नाम का उल्लेख न हो तो तत्तद् दोषनाशक गण के द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए॥ ९-१०॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपाकक्रममुपदेक्ष्यामः। स तु त्रिविधः; तद्यथा—मृदुर्मध्यमः खर इति। तत्र स्नेहौषधिविवेकमात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति, मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः, कृष्णमवसन्नमीषद्विशदं चिक्कणं च यत्र भेषजं स खर इति; अत ऊर्ध्वं दग्धस्नेहो भवति, तं पुनः साधु साधयेत्। तत्र पानाभ्यवहारयोर्मृदुः, नस्याभ्यङ्गयोर्मध्यमः, बस्तिकर्णपूरणयोस्तु खर इति॥ ११॥

मृदु, मध्य और खरपाक—अब इसके उपरान्त स्नेहपाकक्रम का उपदेश किया जायेगा; स्नेहपाक तीन प्रकार (Degrees) का होता है—१. मृदु (Mild), २. मध्यम (Medium), ३. खर (Strong)। इनमें मृदु स्नेहपाक वह है जब पकाते समय कल्क (औषध) और स्नेह अलग-अलग होने लगे। मध्यम स्नेहपाक वह है जिसमें कल्कौषध पकते-पकते मोम (मधूच्छिष्ट/Wax) की तरह हो जाय, पिच्छिलतारहित (Non-sticky) हो और अंगुली में न लगे। जब स्नेहपाक (औषधकल्क) काले रंग का, टूटा हुआ-सा (या नीचे बैठ जाय) और कुछ विशद हो, चिकना हो तो वह खर स्नेहपाक कहलाता है। इसके पश्चात् यदि और पकाया जाय तो वह 'स्नेहदग्ध' हो जाता है। इसे पुनः सिद्ध करना चाहिए।

इनके प्रयोज्य विषय—इन तीन प्रकार के स्नेहपाकों में मृदु का प्रयोग पान तथा भोजन में, मध्यम का नस्य (Errhines) और अभ्यंग में तथा खरपाक वाले स्नेह का प्रयोग बस्ति एवं कर्णपूरण में करना चाहिए॥ ११॥

विमर्श—पाकों के अनुसार स्नेह-प्रयोग में चरक का मत भिन्न है—'खरोऽभ्यङ्गे मृदुर्नस्ये पाने बस्तौ च मध्यमः'। ऐसी परिस्थिति में आर्ष वचन होने से दोनों आदेश मान्य होते हैं। नियम भी है—'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ'–इति मनुः।

भवतश्चात्र—

शब्दस्योपरमे प्राप्ते फेनस्योपशमे तथा। गन्धवर्णरसादीनां सम्पत्तौ सिद्धिमादिशेत्॥ १२॥
घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात् कुशलो भिषक्। फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत्॥ १३॥

सम्यक् तैल-घृतपाक की पहचान—स्पर्शेन्द्रिय द्वारा पाकलक्षण वर्णित कर अन्य इन्द्रियों द्वारा पाक-लक्षणों को जानने का वर्णन किया जा रहा है—स्नेहपाक करते समय पानी के जलने से उत्पन्न शब्द के शान्त होने पर तथा झाग (Froth) के भी न रहने से और गन्ध (Characteristic smell), वर्ण (Colour) और स्वाद (रस) उत्पन्न हो जाय तो कुशल चिकित्सक घृतपाक ठीक हुआ समझे। तैल के ठीक पाक होने की पहचान यह है कि इसमें झाग अधिक उठने लगते हैं और शेष सभी लक्षण घृतपाक सदृश हैं॥ १२-१३॥

अत ऊर्ध्वं स्नेहपानक्रममुपदेक्ष्यामः—अथ खलु लघुकोष्ठायातुराय कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनायोदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रतप्तकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि यथाबलं तैलस्य घृतस्य वा मात्रां पातुं प्रयच्छेत्। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपानत्को यथासुखं विहरेत्॥ १४॥

स्नेहपान-क्रम—अब इसके उपरान्त स्नेहपान की विधि का वर्णन किया जायेगा—लघुकोष्ठ अर्थात् जिसका भुक्त अन्न भली प्रकार जीर्ण हो गया है ('लघुकोष्ठः जीर्णाहारप्रदर्शनार्थम्'), जिसको मंगलपाठ-स्वस्तिवाचन करा लिया है उसे सूर्य के उदयगिरि के शिखर पर पहुँचने पर और तप्त स्वर्ण सदृश (सूर्य की) किरणों से पीला-लाल होने पर व्यक्ति को उसके बल के अनुसार तैल या घृत की समुचित मात्रा पिला दें। तदनन्तर उष्ण जल पिलावें और उसे उसकी इच्छा के अनुसार जूते पहनकर टहलने दें॥ १४॥

विमर्श—१. 'अत्रोदयगिरिसंश्रितसवितुर्ग्रहणं प्रातःकालज्ञापनाय'। २. कायशुद्धि के लिए स्नेहपान का विधान तन्त्रान्तर में भी है—'शुद्ध्यर्थं पुनराहारे नैशे जीर्णे पिबेन्नरः। पिबेत्संशमनार्थाय ह्यन्नकाले प्रकाङ्क्षितः'॥ इति। ३. 'यथाबलमिति–हीनमध्योत्तमबलमाश्रित्य यामद्वयचतुर्यामसकलाहःपरिणामसापेक्षिणी मात्रा'। ४. 'घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च' (वा.सू. १६)।

रूक्षक्षतविषार्तानां वातपित्तविकारिणाम्। हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते॥ १५॥

घृतपान के योग्य—घृतपान उन व्यक्तियों के लिए उत्तम है जो रूक्ष (Dehydrated), क्षत (Ulcer) पीड़ित और विषपीड़ित हों, वात-पित्त विकारों से ग्रस्त हों तथा जिनमें मेधा एवं स्मृति की कमी हो॥ १५॥

विमर्श—'तत्र धीस्मृतिमेधाऽग्निकाङ्क्षिणो शस्यते घृतम्' (वा.सू. १६)।

कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः। पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दाढर्यार्थिनश्च ये॥ १६॥

तैलपान के योग्य—तैलपान उन व्यक्तियों को करना चाहिए जो उदरकृमियों (Instestinal worms) से ग्रस्त हों, वातविकारों से पीड़ित हों, जिनका कफदोष और मेद बढ़ा हुआ हो, तैलपान जिन्हें सात्म्य (Habituated) हो और अपने शरीर को जो दृढ़ करना चाहते हों॥ १६॥

विमर्श—'ग्रन्थिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु। तैलं····' (वा.सू. १६)।

व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः। महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः॥ १७॥

वसापान के योग्य—वसापान के योग्य वे व्यक्ति होते हैं जो अधिक शारीरिक श्रम के कारण कृश हो गये हों, जिनमें शुक्र और शोणित की बहुत कमी हो गयी हों, तीव्र व्याधि से पीड़ित हों, जठराग्नि तीव्र हों, प्रबल वात से ग्रस्त हों तथा जो महाप्राण (Possess good vitality) हों ॥ १७ ॥

क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्ता दीप्तवह्नयः । मज्जानमाप्नुयुः सर्वे सर्पिर्वा स्वौषधान्वितम् ॥ १८ ॥

मज्जपान के योग्य—मज्जपान उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त हैं जो क्रूराशय (क्रूरकोष्ठ/जिन्हें Habitual constipation रहता हो), क्लेशसह (कष्ट को सहन करने में क्षम), वातव्याधिपीड़ित तथा जिनकी जठराग्नि दीप्त हों; अथवा तत्तत् विकारनाशक औषधियों से सिद्ध (Medicated) घृत सभी के लिए हितकर होता है ॥ १८ ॥

केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम् । देयं बहुकफे चापि व्योषक्षारसमायुतम् ॥ १९ ॥

दोषानुसार घृत-प्रयोग—पैत्तिक विकारों में केवल घृत, वातव्याधियों में लवणयुक्त (सिद्ध) घृत तथा कफ की बहुलता में सोंठ, मरिच, पीपल (व्योष) तथा क्षार सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए ॥ १९ ॥

विमर्श—घृतपान—पैत्तिक विकारों में केवल घृत, वातव्याधियों में लवण युक्त घृत तथा कफज विकारों में त्रिकटु, क्षारयुक्त घृतपान। इन्हीं विशेषताओं के कारण घृत को श्रेष्ठ बताया गया है।

दोषाणामल्पभूयस्त्वं संसर्गं समवेक्ष्य च । युञ्ज्यात् त्रिषष्टिधा भिन्नैः समासव्यासतो रसैः ॥ २० ॥

घृत-प्रयोग—दोषों की अल्पता (Diminution) तथा बहुलता (Increase) और संसर्ग (Association) का विचार कर रसों के तिरसठ (सम्मिलित या पृथक्-पृथक्) भेदों में घृत का प्रयोग करना चाहिए ॥ २० ॥

विमर्श—रसों के तिरसठ भेदों का वर्णन सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र के तिरसठवें अध्याय में किया है ('त्रिषष्ट्या रसभेदानां'–सु.)। वाग्भट ने चौंसठ भेद गिनाये हैं। एक अधिक भेद का कारण अरुणदत्त के अनुसार इस प्रकार है—'रसभेदैककल्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः' (वा.सू. १६); 'तथैककल्वेनाऽसहायेन केवलेन स्नेहेन सहास्य चतुःषष्टिर्विचारणाः स्नेहप्रयोगकल्पना' (अरुणदत्तः)।

समवेक्ष्य—भली प्रकार विचार करने का आदेश चरक का भी है—'ओकर्तुव्याधिपुरुषान् प्रयोज्या जानता भवेत्' (सू. १३)।

स्नेहसात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्णशीतले । अच्छमेव पिबेत् स्नेहमच्छपानं हि पूजितम् ॥

स्वच्छ स्नेहपान—जिन्हें स्नेह सात्म्य (Habituated) हैं, जो कष्ट को सहन कर सकते हैं तथा जब समय न अधिक गरम हो और न अधिक शीतल तब स्वच्छ (केवल) स्नेह का पान करना चाहिए। स्वच्छ स्नेहपान को ही अच्छा समझा जाता है ॥ २१ ॥

विमर्श—सात्म्य—जो अन्न-पान, औषध, विहार (शारीरिक, मानसिक, वाचिक चेष्टा), देश, काल (ऋतु आदि) अथवा अन्य कोई पदार्थ जन्म से किंवा अभ्यास से, सम्पूर्ण शरीर अथवा उसके किसी अवयव को, स्वस्थावस्था में किंवा रोग होने पर परिणाम में सुख देने वाला हो उसे 'सात्म्य' या 'उपशय' कहते हैं (आयुर्वेदीय क्रियाशारीर)। वाग्भट (३।१।६) में भी—'हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणामुपयोगः सुखावहः। विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्य इति स्मृतः' ॥

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि । वातपित्ताधिको रात्रौ वातश्लेष्माधिको दिवा ॥

स्नेहपान काल—शीतर्तु में स्नेहपान दिन में, उष्णर्तु में रात्रि के समय, वात-पित्त की अधिकता में रात को और वात-श्लेष्मदोष की अधिकता हो तो दिन में स्नेहपान करें ॥ २२ ॥

वातपित्ताधिकस्योष्णे तृण्मूर्च्छोन्मादकारकः । शीते वातकफार्तस्य गौरवारुचिशूलकृत् ॥ २३ ॥

अकालपीत स्नेह से हानि—यदि वात-पित्त की अधिकता में उष्णर्तु में स्नेहपान किया जाय तो प्यास, मूर्च्छा (Swooning) और उन्माद (Insanity) होते हैं। इसी प्रकार वात-कफ की अधिकता में शीतर्तु में स्नेहपान किया जाय तो गौरव (Heaviness), अरुचि (Anorexia) और शूल (Colicky pain) होते हैं॥ २३॥

स्नेहपीतस्य चेत्तृष्णा पिबेदुष्णोदकं नरः। एवं चानुपशाम्यन्त्यां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत्॥ २४॥
दिह्याच्छीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत्।

पिपासा में उष्ण जल—यदि स्नेहपान के उपरान्त व्यक्ति को प्यास लगती है तो उसे उष्ण जल पीना चाहिए। अगर इससे प्यास शान्त न हो तो उष्ण जल पीकर वमन द्वारा स्नेह को निकाल दें। उसके शिर पर शीतल द्रव्यों का लेप करें और उसे शीतल जल से स्नान (अवगाहन) करायें॥ २४॥

या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागगतेऽहनि॥ २५॥
सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता। या मात्रा परिजीर्येत तथाऽर्धदिवसे गते॥ २६॥
सा वृष्या बृंहणी या च मध्यदोषे च पूजिता। या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागावशेषिते॥ २७॥
स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता। या मात्रा परिजीर्येत्तु तथा परिणतेऽहनि॥ २८॥
ग्लानिमूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्। अहोरात्रादसन्दुष्टा या मात्रा परिजीर्यति॥
सा तु कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी।

स्नेहमात्रा—स्नेह की जो मात्रा दिन के चतुर्थांश के बीतने तक जीर्ण हो जाती है, वह जठराग्नि को दीप्त करती है और दोषों के अल्प (Mild) कोप में लाभकर होती है। जो स्नेहमात्रा आधा दिन बीत जाने पर हज्म होती है वह वृष्य और बृंहण होती है तथा मध्यम प्रकार के दोषप्रकोप में लाभकर होती है। जो स्नेहमात्रा दिन के चौथे भाग के शेष रहने पर पचती है वह स्नेहनीया अर्थात् रोगी को स्नेहन करने में तथा दोषों के प्रबल प्रकोप में उत्तम है। जो स्नेहमात्रा दिन बीत जाने पर जीर्ण होती है और ग्लानि (Uneasiness), मूर्च्छा (Fainting) तथा मद (Intoxication) उत्पन्न नहीं करती है वह श्रेष्ठ मानी जाती है। जो स्नेहमात्रा हज्म (Digest) होने में एक दिन-रात का समय लेती है और कोई उपद्रव नहीं करती है वह कुष्ठ, विष, उन्माद (Insanity), ग्रहदोष तथा अपस्मार (Epilepsy) को नष्ट करती है॥ २५-२९॥

विमर्श—चरक (सू. १३) में तीन तरह की स्नेहमात्रा का उल्लेख है—१. जो स्नेहमात्रा दिन-रात में पच जाय वह 'प्रधान', २. जो स्नेहमात्रा दिनभर में पच जाय वह 'मध्य' और ३. जो स्नेहमात्रा आधे दिन में पच जाय वह 'ह्रस्व' मात्रा कहलाती है। 'पुरुषं पुरुषं प्रति' का आदेश देकर यह भी बताया है कि स्नेहपान की मात्रा-निर्धारण में प्रत्येक चिकित्स्य पुरुष की पृथक्-पृथक् जाँच आवश्यक है।

यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत विचक्षणः॥ ३०॥
पीतो ह्यतिबहुः स्नेहो जनयेत् प्राणसंशयम्।

स्नेहपान की प्रशस्त मात्रा—विद्वान् चिकित्सक जठराग्नि का विचार कर प्रथमा मात्रा अर्थात् स्नेहपान की उतनी मात्रा को रोगी को पिलावे जो दिन के चतुर्थांश में पच जाती है, क्योंकि स्नेह की अत्यधिक मात्रा का सेवन करने से प्राण संकट में पड़ जाते हैं॥ ३०॥

विमर्श—'प्रागेव तु ह्रसीयसीम्' (वा.सू. १६-१८)।

मिथ्याचाराद्बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति॥ ३१॥
विष्टभ्य चापि जीर्येत्तं वारिणोष्णेन वामयेत्। ततः स्नेहं पुनर्दद्याल्लघुकोष्ठाय देहिने॥ ३२॥
जीर्णाजीर्णविशङ्कायां स्नेहस्योष्णोदकं पिबेत्।

स्नेह के जीर्ण न होने का उपचार—किसी का पीतस्नेह (जो पी लिया है) यदि मिथ्याचार (Misuse) या मात्रा में अधिक लेने के कारण जीर्ण न हो (पचे नहीं) अथवा विष्टब्धाजीर्ण हो जाय तो उसे उष्ण जल पिला कर वमन करा दें ('विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा जातवेदनाः। मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहाङ्गपीडनम्'–मा.नि.)। तत्पश्चात् लघु कोष्ठ एवं लघु शरीर वाले रोगी को पुनः स्नेहपान कराना चाहिए। यदि यह आशंका हो कि पीतस्नेह जीर्ण हुआ कि नहीं; तो उसे उष्ण जल का पान कराना चाहिए॥ ३१-३२॥

तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा॥ ३३॥
स्युः पच्यमाने तृड्दाहभ्रमसादारतिक्लमाः। परिषिच्याद्भिरुष्णाभिर्जीर्णस्नेहं ततो नरम्॥ ३४॥
यवागूं पाययेच्चोष्णां कामं क्लिन्नाल्पतण्डुलाम्। देयौ यूषरसौ वाऽपि सुगन्धी स्नेहवर्जितौ॥
कृतौ वाऽत्यल्पसर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते।

उष्ण जल का लाभ—उष्ण जल पीने से उद्गार (डकार/Eructations) ठीक आते हैं और भोजन के प्रति रुचि (Relish for food) बढ़ती है। यदि स्नेह की पच्यमानावस्था में प्यास, दाह, भ्रम (Dizziness), साद (अग्निसाद या अनुत्साह/Malaise), अरति (अनिच्छा/Uneasiness) और क्लम (थकान/Exhaustion) हो तो रोगी को उष्ण जल से सिंचन (Sprinkle) करायें और पीतस्नेह के जीर्ण होने पर यथेच्छ उष्ण यवागू पिलायें जिसमें भीगे हुए चावल थोड़ी मात्रा में हों अथवा सुगन्ध एवं स्नेहरहित यूष-मांसरस पिलायें या थोड़े से घी वाली विलेपी दें॥ ३३-३५॥

विमर्श—क्लम—'योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थ-प्रबाधकः'॥ (सु.शा. ४।५१)

पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहं तथा॥ ३६॥
सप्तरात्रात् परं स्नेहः सात्म्यीभवति सेवितः।

स्नेहपान की अवधि—स्नेहपान तीन, चार, पाँच या छः दिन करायें। तदनन्तर सात दिन के पश्चात् स्नेह सात्म्य हो जाता है (One becomes habituated)॥ ३६॥

विमर्श—स्नेहपान की अवधि के सम्बन्ध में चरक—'त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः। नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत्सप्तदिनात्परं तु'॥ (सि.स्था.अ. १) अर्थात् कम-से-कम तीन दिन और अधिक-से-अधिक सात दिन तक ही स्नेहपान करना चाहिए। सात दिन के उपरान्त स्नेह सात्म्य हो जाता है।

सुकुमारं कृशं वृद्धं शिशुं स्नेहद्विषं तथा॥ ३७॥
तृष्णार्तमुष्णकाले च सह भक्तेन पाययेत्।

स्नेहपान में सावधानी—जो व्यक्ति सुकुमार (Delicate), कृश (Emaciated), वृद्ध, बालक (Child), जिसे स्नेह से द्वेष हो (Repulsion for *sneha*), तीव्र प्यास से पीड़ित हो उन्हें और उष्णकाल में स्नेहपान भोजन के साथ कराना चाहिए॥ ३७॥

विमर्श—वाग्भट का कहना है कि बालवृद्धादि में स्नेहनार्थ सद्यः स्नेहन द्रव्य (प्राज्यमांसरसादि) प्रयुक्त करने चाहिए ('सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत्'–सू. १६।३९); और भी—'सद्यः स्नेहाश्च लवणोल्बणाः' (वा.सू. १६); क्योंकि लवण अभिष्यन्दि ('स्रोतसां स्रावकम्'), अरूक्ष, सूक्ष्म ('सूक्ष्मस्रोतोगामि'), व्यवायि ('देहमखिलं प्राप्य पाकाय कल्पते'–अ.द.)।

पिप्पल्यो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधिमस्तुकः॥ ३८॥
पीतमैकध्यमेतद्धि सद्यःस्नेहनमुच्यते। भृष्टा मांसरसे स्निग्धा यवागूः सूपकल्पिता॥ ३९॥
प्रक्षुद्रा पीयमाना तु सद्यःस्नेहनमुच्यते। सर्पिष्मती पयःसिद्धा यवागूः स्वल्पतण्डुला॥ ४०॥

सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यःस्नेहनमुच्यते। पिप्पल्यो लवणं सर्पिस्तिलपिष्टं वराहजा ॥ ४१ ॥
वसा च पीतमैकध्यं सद्यःस्नेहनमुच्यते। शर्कराचूर्णसंसृष्टे दोहनस्थे घृते तु गाम् ॥ ४२ ॥
दुग्ध्वा क्षीरं पिबेद्रूक्षः सद्यःस्नेहनमुच्यते। यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिकान्वितः ॥ ४३ ॥
पयो दधि सुरा चेति घृतमप्यष्टमं भवेत्। सिद्धमेतैर्घृतं पीतं सद्यः स्नेहनमुत्तमम् ॥ ४४ ॥
राज्ञे राजसमेभ्यो वा देयमेतद्घृतोत्तमम्। बलहीनेषु वृद्धेषु मृद्वग्निस्त्रीहतात्मसु ॥ ४५ ॥
अल्पदोषेषु योज्याः स्युर्ये योगाः सम्यगीरिताः।

सद्यःस्नेहन (Quick oleation) **योग**—पिप्पली, लवण, घृत, तैल, वसा और मज्जा (यह चार प्रकार का स्नेह) तथा दधिमस्तु (Yoghurt water)—इनको एक साथ पीना सद्यःस्नेहन कहलाता है। ● भुने हुए मांसरस में भली प्रकार बनायी गयी स्नेहयुक्त यवागू (सूपकल्पिता/Gruel) को छोटी कटेरी (सक्षुद्रा) के कषाय के साथ पीने से सद्यःस्नेहन होता है। ● थोड़े चावलों वाली, दूध में बनी घृतयुक्त यवागू को गरम-गरम पीने से सद्यःस्नेहन होता है। ● पीपल, लवण, घृत, तिल की पीठी और वराह (सूअर) वसा; इनको एक साथ मिलाकर पीने से सद्यःस्नेहन होता है। ● दोहनी (दुग्धभाण्ड) में शर्करा और घृत डाल कर गाय दुह लें। उस ताजे कच्चे दूध को पीने से भी रूक्ष रोगी का सद्यःस्नेहन होता है। ● जौ, बेर, कुलथी और पीपल इनको समान मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें। फिर दूध, दही, मद्य और घृत मिलाकर पकावें। इस प्रकार इन आठों से सिद्ध घृत का पान करने से भी उत्तम सद्यःस्नेहन होता है। इस उत्तम घृत का प्रयोग राजाओं तथा तत्सम जनों में स्नेहन के लिए करना चाहिए। ये उपर्युक्त सद्यःस्नेहन योगों का प्रयोग बलहीनों, वृद्धों, मृदु जठराग्नि वालों, स्त्रियों एवं मृदु (सात्त्विक) प्रकृति वालों (महात्मसु) तथा अल्पदोषपीड़ितों में करना चाहिए॥ ३८-४५॥

विवर्जयेत् स्नेहपानमजीर्णी तरुणज्वरी ॥ ४६ ॥
दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छार्तो मदपीडितः। छर्दर्दितः पिपासार्तः श्रान्तः पानक्लमान्वितः ॥
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तो यश्चापि मानवः। अकाले दुर्दिने चैव न च स्नेहं पिबेन्नरः ॥ ४८ ॥
अकाले च प्रसूता स्त्री स्नेहपानं विवर्जयेत्।

स्नेहपान के अयोग्य व्यक्ति (Contraindicated persons for oleation therapy)—उन व्यक्तियों को स्नेहपान नहीं कराना चाहिए जो अजीर्ण (Indigestion) से पीड़ित हों, तरुण ज्वरयुक्त एवं दुर्बल हों तथा जिन्हें अरोचक (Anorexia) हों, स्थूल व्यक्ति, मूर्च्छा से पीड़ित (Swooning fits), मदयुक्त, जिन्हें वमन आ रहे हों, प्यासे हों, थके तथा मदिरापान से श्रान्त (Exhausted), जिन्हें बस्तियाँ दी गयी हों, विरेचन या वमन कराये गये हों। इसी प्रकार अकाल में हुए प्रसव वाली स्त्री ('अकाले प्रसवाया गर्भाशये विशेषात् रक्तक्लेदमलाः स्नेहकोपिता असाध्यं रोगं कुर्युः') को भी स्नेहपान नहीं कराना चाहिए तथा अकाल में (Untimely), दुर्दिन (Cloudy) में भी स्नेहपान निषिद्ध है॥ ४६-४८॥

विमर्श—अजीर्ण में अग्नि स्नेह का पाक नहीं कर पाती है। तरुण ज्वर में स्नेहपान से स्रोतोरोध होता है और दुर्बल में अंगग्लानि बढ़ती है। अरोचक में स्नेहपान से अरोचक में वृद्धि होती है। स्थूल व्यक्ति में इससे स्थौल्य और स्रोतोरोध होते हैं। इसी प्रकार—'दत्तबस्तिविरिक्तवान्तानां सद्यः शुद्धत्वेनाग्निमान्द्यतृष्णा-क्लमाद्यतियोगाश्च' (ड.)।

स्नेहपानाद्भवन्त्येषां नृणां नानाविधा गदाः ॥ ४९ ॥
गदा वा कृच्छ्रतां यान्ति न सिध्यन्त्यथवा पुनः।

अयोग्यों में स्नेहपान से हानि—इन उपरोक्त व्यक्तियों में स्नेहपान से नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं। यदि पहले से रोग उपस्थित हों तो वे कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य हो जाते हैं॥ ४९॥

गर्भाशयेऽवशेषाः स्यू रक्तक्लेदमलास्ततः ॥५०॥

स्नेहं जह्यान्निषेवेत पाचनं रूक्षमेव च। दशरात्रात्ततः स्नेहं यथावदवचारयेत् ॥५१॥

प्रसव के पश्चात् स्नेहपान—(प्रसव के पश्चात्) गर्भाशय में अवशिष्ट रक्त (Residual blood), क्लेद (Necrotic tissue) और मल (Debris) रह जाते हैं। अतः स्नेहपान नहीं कराना चाहिए। किन्तु पाचन (Digestive) और रूक्षण (Defattening) द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। दस दिन के उपरान्त इनमें यथावत् स्नेहपान कराया जा सकता है॥५०-५१॥

पुरीषं ग्रथितं रूक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते। उरो विदहते वायुः कोष्ठादुपरि धावति ॥५२॥
दुर्वर्णो दुर्बलश्चैव रूक्षो भवति मानवः।

स्नेहपान के लिए उपयुक्त व्यक्ति (Fit persons for oleation therapy)—जिस व्यक्ति का मल (पुरीष/Stools) ग्रथित अर्थात् गाँठदार (Scybala like rough) हो, रूक्ष हो, भुक्त अन्न कठिनाई से पचता हो, छाती में जलन (Heart burn) होती हो, जिसकी कोष्ठस्थ वायु (Eructations) ऊपर को आती हो, जिसके शरीर का रंग विकृत हो गया (Discoloured) हो, जो दुर्बल तथा रूक्ष (Dry coarse skin) हो वह स्नेहपान के योग्य होता है॥५२॥

सुस्निग्धा त्वग्विट्शैथिल्यं दीप्तोऽग्निर्मृदुगात्रता ॥५३॥

ग्लानिर्लाघवमङ्गानामधस्तात् स्नेहदर्शनम्। सम्यक् स्निग्धस्य लिङ्गानि स्नेहोद्वेगस्तथैव च ॥

सुस्निग्ध के लक्षण—त्वचा का सम्यक् प्रकार से स्निग्ध होना, मल (Stools) का ढीला होना, पाचन शक्ति का प्रबल होना, शरीर में मार्दव (Softness) आना, थकान की प्रतीति होना (ग्लानिः), शरीरावयवों में लघुता (Lightness) आना, मलमार्ग से स्नेह का आना तथा स्नेह के प्रति द्वेष का होना—ये लक्षण 'सम्यक् स्निग्ध' के हैं॥५३-५४॥

विमर्श—'स्नेहोद्वेगः' के स्थान पर 'स्नेहद्वेषः' पाठान्तर भी है।

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुददाहः प्रवाहिका। पुरीषातिप्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम् ॥५५॥

अतिस्नेहन (Excessive oleation therapy) **के लक्षण**—भक्तद्वेष (खाने में अरुचि/Aversion to food), लालास्राव (Salivation), गुददाह (Anal region में जलन), प्रवाहिका (Tenesmus), पुरीष (मल) का अधिक आना—ये भृश स्निग्ध (अतिस्निग्ध) के लक्षण हैं॥५५॥

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम्। श्यामाककोरदूषान्नतक्रपिण्याकशक्तुभिः ॥५६॥

अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष की चिकित्सा—अतिरूक्षता में स्नेहद्रव्यों से स्नेहन तथा अतिस्निग्धता में रूक्ष द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। रूक्ष द्रव्य श्यामाक, कोदों, अन्न, तक्र, पिण्याक (खली) और सत्तू हैं॥५६॥

दीप्तान्तरग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषो भवेत्तु ॥५७॥

स्वस्थावस्था में स्नेहपान के लाभ—स्नेहोपसेवी (स्नेहपान करने वाला) पुरुष की जठराग्नि दीप्त हो जाती है, आहारपथ दोषरहित हो जाता है, उसकी धातुएँ (Tissues) बल एवं वर्ण युक्त (Revitalised) होती हैं, उसकी इन्द्रियाँ (Special senses) शक्तिशाली, वृद्धावस्था का देर से आना और आयु सौ वर्ष की होती है॥५७॥

स्नेहो हितो दुर्बलवह्निदेहसन्धुक्षणे व्याधिनिपीडितस्य।
बलान्वितौ भोजनदोषजातैः प्रमर्दितुं तौ सहसा न साध्यौ ॥५८॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्नेहोपयौगिकचिकित्सितं नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

रुग्णावस्था में स्नेहपान का लाभ—व्याधि पीड़ि व्यक्ति की दुर्बल देह और दुर्बल अग्नि को प्रबल बनाने के लिए स्नेहपान हितकर होता है। इस प्रकार बल को प्राप्त हुए देह और अग्नि को भोजन की अनियमितता से उत्पन्न दोष परास्त करने में सहसा समर्थ नहीं होते हैं॥ ५८॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'स्नेहोपयौगिकचिकित्सा' नामक एकतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३१॥

अध्याय-सारांश

'स्नेहोपयौगिकचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—पुरुष को 'स्नेहसार' और प्राणों को 'स्नेहभूयिष्ठ' बताकर स्नेह की योनियाँ तथा विकल्पों का उल्लेख किया गया है। स्थावर स्नेहों के यथाप्रयोजन और यथाविधान के वर्णन में विरेचक, वामक, शिरोविरेचक, व्रणहर आदि द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। कषायपाक और स्नेहपाक में मतान्तर का विवरण देकर पलादिपरिमाण वर्णित है। आर्द्र द्रव्यों को दुगुना लेने की सलाह दी गयी है (७)। कषायपाक कल्प और स्नेहपाक कल्पनिर्माण विधि बताकर स्नेह, भेषज, जल का जहाँ उल्लेख न हो द्रव पदार्थों के स्थान पर जल और कल्क-क्वाथादि के लिए 'गण' का ग्रहण करना बताया गया है। स्नेहपाक क्रम में 'मृदु, मध्य, खर' तीन प्रकार के पाकों के लक्षण एवं उपयोग विषयों का वर्णन है (११)। स्नेहपाक की पहचान, घृत तथा तैल की अलग-अलग पहचान (१३)। तदनन्तर स्नेहपान क्रम, तैल तथा घृतपान कब तथा किन रोगों में करना चाहिए। मात्रापाक काल, सद्यःस्नेहन विवरण, इसका प्रयोज्य स्थल, स्नेहन के योग्य-अयोग्य, स्नेहपान के अतियोग, हीनयोग के उपाय और अन्त में स्वस्थावस्था में तथा रोग की उपस्थिति में स्नेहपान के लाभों का विवरण दिया गया है (५६)।



द्वात्रिंशोऽध्यायः

अथातः स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २॥

अब इसके बाद 'स्वेदावचारणीयं चिकित्सितम्' (Sudation Therapy) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

चतुर्विधः स्वेदः; तद्यथा—तापस्वेद, ऊष्मस्वेद, उपनाहस्वेदो, द्रवस्वेद इति। अत्र सर्वस्वेद-विकल्पावरोधः ॥ ३ ॥

स्वेद के भेद—स्वेद चार प्रकार का होता है; यथा—१. तापस्वेद (Dry heat sudation), २. ऊष्मस्वेद (Application of vapour), ३. उपनाहस्वेद (Application of poultice) और ४. द्रवस्वेद (Liquid fomentation)। इस वर्गीकरण में सभी प्रकार के स्वेदों का समावेश होता है॥ ३ ॥

विमर्श—१. तापस्वेद (तापनं तापः)—'कुटीकूपहोलकस्वेदाः तापे अन्तर्भवन्ति'। २. ऊष्मस्वेद (ऊष्मा वाष्पः)—'शङ्करप्रस्तराश्मघननाडीकुम्भीभूस्वेदाः षडप्यन्तर्भवन्ति'। ३. उपनाहस्वेद (उपनह्यते इत्युपनाहः)। ४. द्रवस्वेद—'परिषेकावगाहावन्तर्भवतः'। 'स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः' (वा.सू. १७)।

स्नेहन और स्वेदन पञ्चकर्म से पूर्व किये जाने के कारण 'पूर्वकर्म' कहलाते हैं। शोधन प्रसंग में पहले स्नेहन करने से शरीर स्निग्ध हो जाता है और तत्पश्चात् स्वेदन दोषों के मार्दवीकरण के लिए किया जाता है जिससे उनके निर्हरण में आसानी होती है।

स्वेद

साग्निस्वेद			निरग्निस्वेद
सुश्रुत, वाग्भट	**सुश्रुत**	**चरक**	**चरक और वाग्भट**
१. तापस्वेद २. ऊष्मस्वेद ३. उपनाहस्वेद ४. द्रवस्वेद	१. सर्वाङ्गस्वेद २. एकाङ्गस्वेद	१. संकरस्वेद २. प्रस्तरस्वेद ३. नाडीस्वेद ४. परिषेकस्वेद ५. अवगाहनस्वेद ६. जेन्ताकस्वेद ७. अश्मघनस्वेद ८. कर्षूस्वेद ९. कुटीस्वेद १०. भूस्वेद ११. कुम्भिकस्वेद १२. कूपस्वेद १३. होलाकस्वेद	१. व्यायाम २. उष्णसदन ३. गुरुप्रावरण ४. क्षुधा ५. बहुपान (मद्य) ६. भय ७. क्रोध ८. उपनाह (निरग्नि) ९. आहव १०. आतप
डल्हण ने (सु.चि. ३२।२२) संशमनीय और संशोधनांगभूत स्वेद—ये दो भेद और बताये हैं।			

तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्यकन्दुककपालवालुकावस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्य चाङ्गतापो बहुशः खादिराङ्गारैरिति॥४॥

तापस्वेद (Dry heat application)—इसमें स्वेदन के लिए पाणि (हथेली/Palm), काँसे का बर्तन, कन्दुक (अपूपपचनभाण्डम्/कढ़ाई), कपाल (मृण्मय पात्र के टुकड़े), रेता और वस्त्र का स्वेदनार्थ प्रयोग होता है। रोगी को लिटाकर उसके अंगों की इन उपरोक्त वस्तुओं को (किसी एक को) खैर के अंगारों पर गरम कर बार-बार सिकाई की जाती है॥४॥

विमर्श—'तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभिः' (वा.सू. १७)।

ऊष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणेष्टकालोहपिण्डानग्निवर्णानद्भिरासिच्याम्लद्रव्यैर्वा तैरार्द्रालक्तकपरिवेष्टितैरङ्गप्रदेशं स्वेदयेत्। मांसरसपयोदधिस्नेहधान्याम्लवातहरपत्रभङ्गक्वाथपूर्णां वा कुम्भीमनुतप्तां प्रावृत्योष्माणं गृह्णीयात्।

ऊष्मस्वेद (Vapour fomentation)—इसमें मृण्मय पात्रखण्ड, पत्थर, ईंट, लोहे का गोला—इनमें से किसी एक को आग की तरह लाल कर पानी या अम्ल द्रव्यों में डुबोकर गीले कपड़े से लपेट लें और अंग की सिकाई करें ('आर्द्रालक्तकपरिवेष्टितम्'—ऐसा पाठ होने पर 'अंगप्रदेश को गीले कपड़े से लपेट कर')। मांसरस, दूध, दही, स्नेह, काँजी और एरण्डादि वातहर द्रव्य तथा इनके पत्रों के क्वाथ से पूर्ण घड़े (कुम्भ) को गरम कर (या गरम क्वाथ भर कर) तथा कपड़े से ढक कर उसकी भाप से स्वेदन करें।

पार्श्वच्छिद्रेण वा कुम्भेनाधोमुखेन तस्या मुखमभिसन्धाय तस्मिञ्छिद्रे हस्तिशुण्डाकारां नाडीं प्रणिधाय तं स्वेदयेत्॥५॥

नाड़ीस्वेद—अथवा उष्णक्वाथ से पूर्ण घड़े पर दूसरा घड़ा उलटा (अधोमुख) रखकर दोनों के सन्धिस्थल को कपड़े से लपेट दें। फिर ऊपर के घड़े के पार्श्व में छिद्र कर उसमें हाथी की सूँड़ की तरह की नाली लगा दें। इस नाली से आने वाली भाप से पीड़ित अंग का स्वेदन करें॥५॥

विमर्श—डल्हण ने हस्तिशुण्डाकार नाड़ी में तीन मोड़ होने की बात कही है और इसका लाभ यह बताया है कि इससे भाप (बाष्प) का वेग हलका पड़ जाता है।

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्।
हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम्। सुखा सर्वाङ्गगा ह्येषा न च क्लिश्नाति मानवम्॥

नाड़ीस्वेद : विधि और लाभ—सुखपूर्वक बैठे हुए तथा जिसका भली प्रकार स्नेहन किया जा चुका है और जिसने कम्बलादि भारी वस्त्र शरीर पर लपेट रखे हैं उस वातव्याधिग्रस्त रोगी का हाथी की सूँड़ की आकृति वाली नाड़ी से स्वेदन कराना चाहिए। इस प्रकार इस नाड़ी से सुखपूर्वक सारे शरीर का स्वेदन किया जा सकता है और इसमे रोगी को कोई कष्ट नहीं होता है॥६॥

व्यामार्धमात्रा त्रिर्वक्रा हस्तिहस्तसमाकृतिः। स्वेदनार्थे हिता नाडी कैलिञ्जी हस्तिशुण्डिका॥७॥

नाड़ी की लम्बाई आदि—यह नाड़ी (Tube) आधा व्याम ('व्यामः बाह्वोः सम्प्रसारितयोरन्तरम्'/दोनों भुजाओं के फैलाने की लम्बाई 'व्याम' कहलाती है) लम्बी, तीन स्थानों पर मुड़ी हुई, हाथी की सूँड़ जैसी स्वेदन कार्य के लिए हितकर होती है। यह हस्तिशुण्डिका नाड़ी कैलिञ्जी अर्थात् कुश-काशादि से बनी होती है॥७॥

पुरुषायाममात्रां च भूमिमुत्कीर्य खादिरैः। काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः॥
पत्रभङ्गैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत्ततः।

भूस्वेद—रोगी की लम्बाई के अनुसार भूमि में गड्ढा खोदें और उसमें खैर की लकड़ियाँ जलायें। फिर उस भूमि पर दूध, काञ्जी या जल का छिड़काव करें। तत्पश्चात् उस स्थान को एरण्डादि वातहर द्रव्यों के पत्रों से आच्छादित कर उस पर रोगी को लिटा दें और इस प्रकार स्वेदन करें॥ ८॥

पूर्ववत् स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यापि वा शिलाम्॥ ९॥

अश्मस्वेद—इसी प्रकार शिला (Slab of stone) पर खैर की लकड़ियाँ जलाकर उसे (शिला को) गरम करें। फिर लकड़ी-कोयला-राख आदि को हटाकर उस पर दूध, काँजी एवं जल छिड़क कर तथा शिला को वातहर एरण्डादि के पत्तों से ढक दें। तदनन्तर रोगी को शिला पर लिटा दें। इस प्रकार स्वेदन करें॥ ९॥

पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारां कृत्वा तस्यामुपविष्टस्यान्तश्चतुर्द्वारेऽङ्गारानुपसन्धाय तं स्वेदयेत्॥

कुटीस्वेद—एतदर्थ चार द्वार वाली कुटिया के अन्दर रोगी को लिटा दें और द्वारों में अंगारे रखकर गरम करें। इस प्रकार किया गया स्वेदन 'कुटीस्वेद' कहलाता है॥ १०॥

विमर्श—इस सूत्र में आये 'पूर्ववत्' शब्द का डल्हणानुसार अर्थ इस प्रकार है—'पूर्ववदित्यनेन दग्ध्वा भस्मापोह्य अभ्युक्ष्य (सिक्त्वा)' अर्थात् गरम हो जाने के बाद दरवाजों में रखे अंगारों को तथा भस्म को हटा दें और उस स्थान पर दूध, काञ्जी, जल आदि छिड़क कर उठी भाप से रोगी का स्वेदन करें।

कोशधान्यानि वा सम्यगुपस्वेद्यास्तीर्य किलिञ्जेऽन्यस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्; एवं पांशुगोशकृत्तुषबुसपलालोष्मभिः स्वेदयेत्॥ ११॥

प्रस्तरस्वेद (Moist heat application)—माषादि धान्यों (Grains of leguminosae) को उबाल कर चटाई (किलिंज/'कटकिलिञ्जकौ'–अ.को.) या अन्य इसी तरह की वस्तु पर फैला दें और उस पर रोगी को लिटा कर एवं उसे वस्त्र से ढँककर स्वेदन कराना चाहिए। इसी प्रकार पांशु (Sand/रेता), गोबर (Cow-dung), तुष (Husk), बुस (भूसा) और पलाल (पराल) की ऊष्मा को भी स्वेदनार्थ प्रयुक्त करें॥ ११॥

उपनाहस्वेदस्तु वातहरमूलकल्कैरम्लपिष्टैर्लवणप्रगाढैः सुस्निग्धैः सुखोष्णैः प्रदिह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिरेलादिभिः सुरसादिभिस्तिलातसीसर्षपकल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः साल्वणैर्वा तनुवस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत्॥ १२॥

उपनाहस्वेद (Poultice fomentation)—इसमें वातहर मूल (दशमूलादि) द्रव्यों को काञ्जी में पीसें; अधिक लवण मिलायें। फिर स्नेह मिलाकर एवं कोष्ण कर रोगी के शरीर पर लेप कर देने के उपरान्त स्वेदन कराना चाहिए। इसी प्रकार काकोल्यादि, एलादि तथा सुरसादि गण की औषधियों को; तिल, अलसी और सरसों के कल्क को; कृशरा (खिचड़ी), पायस (खीर), उत्कारिका (लप्सी), वेशवार (चटनी) और वातव्याधि में पठित शाल्वण को पतले वस्त्र में बाँध कर उपनाहन स्वेद करना चाहिए॥ १२॥

विमर्श—उपनाहन का अर्थ है 'बन्धनम्' अर्थात् पोटली बनाना। पित्तानुगत विकारों में काकोल्यादि गण की, वातिक विकारों में एलादि गण की, कफानुगत वात में तिल, अलसी आदि की तथा केवल वात में शाल्वण स्वेदन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

द्रवस्वेदस्तु वातहरद्रव्यक्वाथपूर्णे कोष्णकटाहे द्रोण्यां वाऽवगाह्य स्वेदयेत्। एवं पयोमांसरस-यूषतैलधान्याम्लघृतवसामूत्रेष्ववगाहेत। एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिञ्चेदिति॥ १३॥

द्रवस्वेद (Liquid fomentation)—(द्रवस्वेद स्वेद के चार भेदों में से चौथा है) वातहर द्रव्यों के कोष्ण क्वाथ से परिपूर्ण कड़ाहे अथवा द्रोणी (काष्ठनिर्मिता नौरिव) में रोगी को अवगाहन करा कर

स्वेदन कराना चाहिए। इसी प्रकार दूध, मांसरस, यूष, तैल, धान्याम्ल (काञ्जी), घृत, वसा और गोमूत्र में अवगाहन करावें। सुखोष्ण (कोष्ण/Lukewarm) वातहर द्रव्यों के क्वाथ आदि से परिषिञ्चन (Sprinkling) भी करना चाहिए॥ १३॥

तत्र तापोष्मस्वेदौ विशेषतः श्लेष्मघ्नौ, उपनाहस्वेदो वातघ्नः, अन्यतरस्मिन् पित्तसंसृष्टे द्रवस्वेद इति।

स्वेदन का दोषों पर प्रभाव—इस चार प्रकार के स्वेदों में ताप और ऊष्मस्वेद विशेषकर श्लेष्म-हर हैं। उपनाहनस्वेद वातहर, पित्तसंसृष्ट श्लेष्मा या पित्तसंसृष्ट वात में द्रवस्वेद विशेष रूप से उपयोगी होता है।

कफमेदोऽन्विते वायौ निवातातपगुरुप्रावरणनियुद्धाध्वव्यायामभारहरणामर्षैः स्वेदनुत्पादये-दिति॥ १४॥

चिकित्सा—यदि कफ-मेद से युक्त वातविकार हो तो निवातस्थान (Free from draughts of wind), आतप (Exposure to the sun), गुरुप्रावरण (कम्बलादि भारी ओढ़ने के वस्त्र), नियुद्ध (Wrestling), अध्व (मार्गगमन), व्यायाम (Physical exercise), भारहरण (Weight lifting) और क्रोध दिलवाकर स्वेदन करें (स्वेदमुत्पादयेत् = पसीना उत्पन्न करायें)॥ १४॥

विमर्श—निवातातपादि 'निरग्निस्वेद' है।

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधो योऽभिहितो द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते। सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा॥ १५॥

स्थानिक (Local) या सार्वदैहिक (General) स्वेदन—पूर्व में चार प्रकार का स्वेदन बताया है। वह प्रकारान्तर से दो प्रकार का होता है—१. सम्पूर्ण शरीर का स्वेदन और २. देह के अवयवों का स्वेदन॥ १५॥

विमर्श—तन्त्रान्तर (चरक सू. १४।१०) में 'वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदुनैव वा' के अनुसार सर्वांग स्वेदन निषिद्ध होने से शास्त्र-विरोध आता है। डल्हण के अनुसार इसका समाधान इस प्रकार है—'तस्मात् सर्वशब्दोऽत्र संकुचितवृत्त्या तत्परिहारेण व्याख्यातव्यः'।

येषां नस्यं विधातव्यं बस्तिश्चैव हि देहिनाम्। शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्यास्तु ते मताः॥

पूर्व स्वेद्य—जिन व्यक्तियों को नस्य एवं बस्तियाँ देनी हों अथवा जो वमनादि के द्वारा शोधनीय हैं उनमें इन कर्मों से पूर्व स्वेदन कराना चाहिए॥ १६॥

पश्चात् स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भानुपद्रवाः। सम्यक् प्रजाता काले या पश्चात् स्वेद्या विजानता॥

पश्चात् स्वेद्य—शल्य के निकाल देने के उपरान्त उपद्रवरहित मूढ गर्भ (Women having obstructed labour) और जिसके प्रसव समय पर तथा भली प्रकार सम्पन्न हुआ हो उनमें विज्ञजन 'पश्चात् स्वेदन' कराते हैं॥ १७॥

स्वेद्यः पूर्वं च पश्चाच्च भगन्दर्यर्शसस्तथा। अश्मर्या चातुरो जन्तुः शेषाञ्छास्त्रे प्रचक्ष्महे॥ १८॥

उभय स्वेद्य—भगन्दर तथा अर्श पीड़ित रोगी और अश्मरीपीड़ितों में स्वेदन शस्त्रकर्म से पूर्व तथा बाद में भी ('स्वेद्यः पूर्वं च पश्चाच्च') किया जाता है। शेष स्वेद्य रोगियों के बारे में शास्त्र में तत्तत् स्थलों में उल्लेख किया जायेगा॥ १८॥

स्वेद्य

पूर्वस्वेद्य	शोधनीय, नस्य, बस्ति का जिनमें प्रयोग करना है।
पश्चात्स्वेद्य	शल्याहरण के बाद, मूढगर्भ, प्रसव के पश्चात्।
उभयस्वेद्य	भगन्दर, अर्श, अश्मरी आदि।

नानभ्यक्ते नापि चास्निग्धदेहे स्वेदो योज्यः स्वेदविद्भिः कथञ्चित्।
दृष्टं लोके काष्ठमस्निग्धमाशु गच्छेद्भङ्गं स्वेदयोगैर्गृहीतम्।। १९।।

स्वेदन से पूर्व अभ्यंग और स्नेहन आवश्यक—स्वेदकर्म में निष्णात चिकित्सक कभी भी जिस व्यक्ति का अभ्यंग कर्म तथा स्नेह कर्म नहीं किया गया है ('अभ्यङ्गेन बाह्यक्रियापूर्वकत्वम्, नापि चास्निग्धदेह इत्यतः स्नेहपूर्वकत्वं स्वेदस्य') उसका स्वेदन नहीं करते हैं। लोक में भी देखते हैं कि काष्ठ में स्नेह का प्रयोग किये बिना स्वेदन कर मोड़ने के प्रयास में वह शीघ्र टूट जाता है।। १९।।

विमर्श—'यथाहि काष्ठमस्निग्धं स्विद्यमानं विशीर्यते। एवं शरीरमस्निग्धं स्विद्यमानं विनश्यति'।।

अग्नेर्दीप्तिं मार्दवं त्वक्प्रसादं भक्तश्रद्धां स्रोतसां निर्मलत्वम्।
कुर्यात् स्वेदो हन्ति निद्रां सतन्द्रां सन्धीन् स्तब्धांश्चेष्टयेदाशु युक्तः।। २०।।

स्वेदन के गुण (Mode of action of sudation therapy)—अग्निदीप्ति (जठराग्नि का बढ़ना), मृदुता, त्वचा का स्वस्थ होना, भोजन में रुचि होना (Relilse for food), स्रोतों (Channels) का स्वच्छ होना, तन्द्रायुक्त नींद का दूर होना और जकड़ी हुई सन्धियों (Inactive joints) को शीघ्र गति प्रदान करना—ये स्वेदन के लाभ हैं।। २०।।

विमर्श—स्वेदन दो प्रकार का होता है—१. संशमनीय और २. संशोधनांगभूत। इनमें संशमनीय स्वेद सामव्याधियों में रूक्ष ही प्रयुक्त होता है। उपरोक्त अग्निदीप्ति आदि गुण संशमनीय स्वेद के हैं।

स्नेहक्लिन्ना धातुसंस्थाश्च दोषाः स्वस्थानस्था ये च मार्गेषु लीनाः।
सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वं प्राप्ताः कोष्ठं शोधनैर्यान्त्यशेषम्।। २१।।

शोधनाङ्गभूत स्वेद—स्नेहन प्रक्रिया (Oleation therapy) से स्निग्ध हुए धातुओं में तथा अपने स्थान में स्थित और मार्गों में लीन दोष भली प्रकार स्वेदन किये जाने पर द्रवता को प्राप्त (Liquification) हो जाते हैं तथा कोष्ठ (Alimentary canal) में आ जाते हैं। तदनन्तर शोधन द्रव्यों के प्रयोग से पूर्णतः शरीर से बाहर निकल जाते हैं।। २१।।

स्वेदास्रावो व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वं मार्दवं चातुरस्य।
सम्यक्स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन्मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव।। २२।।
स्विन्नेऽत्यर्थं सन्धिपीडा विदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्तप्रकोपः।
मूर्च्छा भ्रान्तिर्दाहतृष्णे क्लमश्च कुर्यात्तूर्णं तत्र शीतं विधानम्।। २३।।

सम्यक् (Proper), **मिथ्या** (Improper) **और अतिस्वेद** (Over sudation) **के लक्षण**—'सम्यक् स्वेदन' में पसीना आना (स्वेदस्य आस्रावः/Perspiration), रोग में कमी आना या रोग का ठीक हो जाना (Cure), हलकेपन (Lightness) की प्रतीति, ठण्डी चीजों की इच्छा होना और शरीर में नरमपन (Softness) आना—ये सम्यक् स्विन्न के लक्षण हैं। 'मिथ्या' (असम्यक्) स्विन्न में इन उपरोक्त लक्षणों

मे विपरीत लक्षण होते हैं। 'अतिस्विन्न' में सन्धिशूल, विदाह (Heart burn), स्फोटों (Boils) का होना, पित्त-रक्त का प्रकोप, मूर्च्छा (Fainting), भ्रान्ति (Delusion), दाह, तृष्णा और क्लम (Fatigue) होते हैं। इस अवस्था के उपचार में शीघ्र ही शीतलोपचार करना चाहिए॥ २२-२३॥

पाण्डुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः क्षामोऽजीर्णो चोदरार्तो विषार्तः।
तृड्च्छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योऽतिसारी॥ २४॥
स्वेदादेषां यान्ति देहा विनाशं नोसाध्यत्वं यान्ति चैषां विकाराः।
स्वेदैः साध्यो दुर्बलोऽजीर्णभक्तः स्यातां चेद् द्वौ स्वेदनीयौ ततस्तौ॥ २५॥

अस्वेद्य रोगी—निम्नलिखित में स्वेदन नहीं कराना चाहिए (Contraindications)—पाण्डु (Anaemia), मेही (Urinary diseases), रक्तपित्त से पीड़ित, क्षय (Consumption), क्षाम (दुर्बल/Emaciation से पीड़ित), अजीर्णग्रस्त, उदरी, विषपीड़ित (Poisoning), अधिक प्यास एवं वमन जिन्हें हों, गर्भावस्था, जिसने मद्यपान किया हो और अतिसार से पीड़ित रोगी। इनमें स्वेदन कराने से रोग असाध्य हो जाते हैं और शरीर का नाश हो जाता है। यदि व्यक्ति स्वेदसाध्य व्याधि से पीड़ित है, परन्तु दुर्बल और अजीर्ण से ग्रस्त है तो भी उसका स्वेदन (Sudation) कर देना चाहिए॥ २४-२५॥

एतेषां स्वेदसाध्या ये व्याधयस्तेषु बुद्धिमान्। मृदून् स्वेदान् प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु॥ २६॥

स्वेदन के सामान्य नियम—ऊपर जिन व्याधियों को अस्वेद्य बताया है उनमें यदि स्वेदन करना हो तो बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिए कि वह हृदय, अण्ड एवं दृष्टि का मृदु स्वेदन करे ('स्वेदयेन्मृदुनैव वा'-च.सू. १४)॥ २६॥

सर्वान् स्वेदान्निवाते च जीर्णान्नस्यावचारयेत्। स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी॥ २७॥

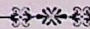
स्वेदन के लिए स्थान आदि—सभी प्रकार के स्वेदन निवातस्थान में, अन्न के जीर्ण होने पर और स्नेहन तथा अभ्यंग के उपरान्त ही करने चाहिए। नेत्रों का स्वेदन उन्हें ठण्डी वस्तुओं से ढक कर करें॥ २७॥

स्विद्यमानस्य च मुहुर्हृदयं शीतलैः स्पृशेत्। सम्यक् स्विन्नं विमृदितं स्नानमुष्णाम्बुभिः शनैः॥

हृत्स्वेदन के नियम—हृदय का जब स्वेदन किया जा रहा हो (या स्वेदन काल में) उस समय शीतल जल आदि से हृदय का बार-बार स्पर्श करते रहना चाहिए और भली प्रकार स्वेदन हो जाने के उपरान्त शरीर का मर्दन कर गरम जल से स्नान करायें॥ २८॥

स्वभ्यक्तं प्रावृताङ्गं च निवातशरणस्थितम्। भोजयेदनभिष्यन्दि सर्वं चाचारमादिशेत्॥ २९॥

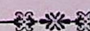
इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने स्वेदावचारणीयं चिकित्सितं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः॥ ३२॥



सम्यक्स्वेदित की देख-भाल—जिस व्यक्ति का भली प्रकार स्वेदन किया गया है उसे वस्त्र से अच्छी तरह ढक कर निवातस्थान में रखें। उसे अनभिष्यन्दि भोजन दें और आहार-विहार आदि के सम्बन्ध में बता दें॥ २९॥

विमर्श—अनभिष्यन्दि—'सद्यो व्याधिकरणीयामवस्थां स्यन्दयति आपादयति यद् द्रव्यं तदभिष्यन्दि, स्रोतसामुपलेपकारी वा, तद्विपरीतं अनभिष्यन्दि' (ड.)।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'स्वेदावचाणीय चिकित्सा' नामक बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३२॥



अध्याय-सारांश

'स्वेदावचरणीय-चिकित्सित' नामक इस अध्याय में—स्वेद के चार भेद, उन्हें सम्पन्न करने की विधि, ऊष्मस्वेद के नाड़ीस्वेद, भूस्वेद, अश्मस्वेद, कुटीस्वेद, प्रस्तरस्वेद का विस्तार से वर्णन किया गया है (१०)।

वातहर द्रव्यों के कल्क से लेपकर तथा शाल्वण आदि की पोटली बनाकर उपनाहन स्वेद करना, दूध, मांसरस आदि से द्रवस्वेद का विधान, ताप, ऊष्मस्वेद आदि का दोषानुसार प्रयोग, प्रकारान्तर से स्वेद के दो भेद—सर्वदेह स्वेद और देहावयव स्वेद—का वर्णन किया गया है (१५)।

पूर्वस्वेदन, पश्चात् स्वेदन तथा पूर्व-पश्चात् स्वेदन के विषय और स्वेदन की रोगपरक आवश्यकता के बारे में भी वर्णन है (१८), बिना अभ्यंग और बिना स्नेहन के कभी भी स्वेदन न करे, अन्यथा शरीरनाश (१९)।

संशमनीय स्वेद के लाभ—अग्निदीप्ति, मार्दव, त्वक्प्रसाद आदि और संशोधनांगभूत स्वेद का दोषनिर्हरण में उपयोग का उल्लेख किया गया है (२९)।

सम्यक् स्वेद, असम्यक् (मिथ्या) स्वेद और अतिस्वेद होने पर शरीर में पाये जाने वाले लक्षणों का विशद वर्णन किया गया है (२३)।

स्वेदन के अयोग्यों का उल्लेख, हृदयादि के (अस्वेद्यों में) स्वेदन में विशेष सावधानियाँ और जिसका स्वेदन किया गया है उसका पश्चात्कर्म का वर्णन भी है (२८)।



त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सितम्' (The Management of the Ailments Curable by the Emetic and the Purgative Therapy) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा॥ १-२॥

विमर्श—'चिकित्सितं चात्र वमनविरेचनरूपमेव, वमनविरेचनसाध्यत्वादुपद्रवाणाम्' (ड.)। वमन-विरेचन के उपद्रवों को वमन-विरेचन कराकर ही ठीक किया जाता है।

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥

दोषप्रकोप को शान्त करने के सामान्य नियम—जो दोष क्षीण (Decreased) हैं उनको बढ़ाना चाहिए, जो प्रकुपित हैं उनकी प्रशमन-चिकित्सा करनी चाहिए, जो दोष बढ़े हुए हैं उनका निर्हरण (Elimination) करना चाहिए तथा सम (Normal ones) दोषों का पालन किया जाता है—यह चिकित्सा का सामान्य सिद्धान्त (General principle) है॥ ३॥

विमर्श—वृद्धा निर्हर्तव्याः—दोषों की वृद्धि दो प्रकार की होती है; यथा—१. चयलक्षणा और २. प्रकोपलक्षणा ('तत्र संहतिरूपा वृद्धिः चयः, विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः')। जब दोष संचित होने के उपरान्त विलयन अर्थात् शरीर में फैल जाते हैं तो उनको शरीर से बाहर निकालने के लिए 'संशोधन-चिकित्सा' करनी होती है।

प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तेते निर्हरणे दोषाणाम्। तस्मात् तयोर्विधानमुच्यमानमुपधारय।

वमन (Emesis) **और विरेचन** (Purgation) **का प्राधान्य**—दोषों को शरीर से बाहर निकालने में वमन और विरेचन की प्रधानता होती है। अतः उनके विधान (Methodology) का वर्णन किया जा रहा है, उसे सुनो।

अथातुरं स्निग्धं स्विन्नमभिष्यन्दिभिराहारैरनवबद्धदोषमवलोक्य श्वो वमनं पाययिताऽस्मीति सम्भोजयेत् तीक्ष्णाग्निं बलवन्तं बहुदोषं महाव्याधिपरीतं वमनसात्म्यं च ॥ ४ ॥

वमनपूर्व स्नेहन और स्वेदन (Pre-emesis oleation and fomentation)—जिसकी अग्नि तीक्ष्ण (Good digestive power) है, जो बलवान् है, जिसमें दोषप्रकोप अधिक है, जो महाव्याधि से पीड़ित है तथा जिसको वमन कराना अनुकूल आता है, ऐसे रोगी को स्नेहन एवं स्वेदन के उपरान्त और यह जान कर कि उसके दोष प्रचलित हो गये हैं उसे 'कल वमन द्रव्य पिलाऊँगा' यह विचार कर अभिष्यन्दि आहार (ग्राम्यानूपौदकमांसादिभिः) करावें॥ ४॥

भवति चात्र—

पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः। स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते॥ ५॥

वमन से पूर्व उत्क्लेशक आहार—इस सम्बन्ध में श्लोक भी है—जिस व्यक्ति का स्नेहन एवं स्वेदन किया गया है उसे मृदु तथा विविध प्रकार के ('अभिष्यन्दि, ग्राम्यानूपोदकमांसपयोमाषादिभिः'-ड.) आहारों द्वारा दोषों का उत्क्लेशन (Dislodged) कर वमन कराये जायें तो वमन क्रिया भली प्रकार सम्पन्न होती है॥ ५॥

अथापरेद्युः पूर्वाह्ले साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य मात्रां पाययित्वा वामयेद्यथायोगं कोष्ठविशेषमवेक्ष्य; असात्म्यबीभत्सदुर्गन्धदुर्दर्शनानि च वमनानि विदध्यात्, अतो विपरीतानि विरेचनानि; तत्र सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं वा वमनसाध्येषु विकारेषु क्षीरदधितक्र-यवागूनामन्यतममाकण्ठं पाययेत्, पीतौषधं च पाणिभिरग्नितप्तैः प्रताप्यमानं मुहूर्तमुपेक्षेत; तस्य च स्वेदप्रादुर्भावेण शिथिलतामापन्नं स्वेभ्यः स्थानेभ्यः प्रचलितं कुक्षिमनुसृतं जानीयात्, ततः प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः कण्ठे च पाणिभिः सुपरिगृहीतमङ्गुली-गन्धर्वहस्तोत्पलनालानामन्यतमेन कण्ठमभिस्पृशन्तं वामयेत्तावद्यावत्सम्यग्वान्तलिङ्गनीति ।। ६ ।।

वमन कराने की विधि (Methodology of emesis)—अगले दिन प्रातः नातिशीतोष्ण समय में वमन द्रव्यों के कषाय, कल्क, चूर्ण, स्नेह (वमनद्रव्यपक्वः स्नेहः) में से किसी एक की उपयुक्त मात्रा को योगानुसार तथा रोगी के कोष्ठ-विशेष का विचार कर पिलावें और वमन करावें। वमनार्थ द्रव्य असात्म्य (Unpalatable), बीभत्स (Repulsive form), दुर्गन्ध (Foul-smelling) और दुर्दर्शन (Unpleasant to look) होने चाहिए। विरेचनार्थ द्रव्यों में इनसे विपरीत गुण होने चाहिए। यदि रोगी बालक, सुकुमार, कृश या डरपोक हो तो उसे वमनार्थ दूध, दही, तक्र, यवागू में से किसी एक को गले तक (To his full capacity) पिलाकर वमन करावें। औषध (वामक) पान के उपरान्त मुहूर्त भर प्रतीक्षा करनी चाहिए और इस काल में हाथों को आग पर गरम कर रोगी की सिकाई करनी चाहिए। कुछ प्रतीक्षा के बाद रोगी को पसीना आता देखकर चिकित्सक को यह समझना चाहिए कि दोष शिथिल होकर तथा अपने स्थान से चलकर कुक्षिप्रदेश में आ रहे हैं। जब रोगी का जी मचलने लगे (हृल्लास, उत्कृष्टवमनेच्छा/Nausea) तो उसे जानु के बराबर ऊँचे आसन पर बिठा दें। तदनन्तर आप्त पुरुषों द्वारा उसके ललाट, पीठ, पार्श्वों को पकड़वा कर अंगुली, एरण्डनाल, कमलनाल में से किसी एक से कण्ठ का स्पर्श करायें और सम्यक्-वान्त (Features of proper emesis) के लक्षण उपस्थित होने तक वमन कराते रहें।। ६।।

विमर्श—साधारणे काले—मतान्तर से इसका एक अर्थ यह भी है—'अन्ये तु प्रावृट् शरद् वसन्तेति विभज्य व्याख्यानयन्ति'। **मात्रा**—'प्रधानमध्यमाधमभेदात् तन्त्रान्तरोक्ताः कथ्यन्ते। वमनविषये च सार्धत्रयो-दशपले प्रमाणे प्रस्थमानयन्ति वृद्धाः'। **मुहूर्तम्**—'घटिकाद्वयम्। हृल्लासः थूत्करणम्'। **आप्त**—'साक्षात्करणम् अर्थस्य आप्तिः, तया प्रवर्तत इति आप्तः-इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनः' (च.पा.; च.सू. ११)।

भवतश्चात्र—

कफप्रसेकं हृदयाविशुद्धिं कण्डूं च दुश्छर्दितलिङ्गमाहुः।
पित्तातियोगं च विसंज्ञतां च हृत्कण्ठपीडामपि चातिवान्ते।। ७।।

वमन का असम्यक् (Improper) **प्रयोग**—दुश्च्छर्दित व्यक्ति (जिसके वमन भली प्रकार सम्पन्न नहीं हुए हैं) में कफप्रसेक (कफ का अधिक आना/Welling up of mucus), हृत्प्रदेश (Cardiac region) में भारीपन और कण्डू होते हैं। अधिक वमन हो जाने पर (अतियोग/Excessive vomiting) पित्त का अधिक आना, अचेतनता (Loss of consciousness) तथा हृत्प्रदेश और गले में पीड़ा—ये लक्षण होते हैं।। ७।।

पित्ते कफस्यानु सुखं प्रवृत्ते शुद्धेषु हृत्कण्ठशिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवान्तं पुरुषं व्यवस्येत्।। ८।।

सुवान्त (जिसके वमन भली प्रकार सम्पन्न हुए हैं) **के लक्षण** (Features of proper emetic therapy)—यदि वमन में पहले कफ और बाद में पित्त सुखपूर्वक आवे और हृदय, गला और शिर स्वच्छ (Cleaned) हों, शरीर में लघुता (हलकापन) प्रतीत हो और कफस्राव रुक जाय तो इन लक्षणों वाले को 'सुवान्त पुरुष' कहते हैं।। ८।।

विमर्श—'सुवान्त' में होने वाली शुद्धि को तीन प्रकार का बताया गया है—'तत्र कैश्चित् त्रिधा शुद्धिरभिहिता; यथा—लैङ्गिकी, वैगिकी, मानिकी चेति। तत्र लिङ्गैर्वान्तिविरिक्तसम्यक्चिह्नैर्ज्ञायत इति लैङ्गिकी। हीनमध्योत्तमैर्वमनवेगैश्चतुःषडष्टभिर्दशविंशत्रिंशद्भिर्विरेचनवेगैः ज्ञायत इति वैगिकी। मानेन श्लेष्मपित्तयोः प्रस्थार्धाढकमानेन हीनमध्योत्तमेन ज्ञायत इति मानिकी'।

सम्यग्वान्तं चैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽऽचारिकमादिशेत्॥ ९॥

सम्यक्-वान्त के पश्चात्कर्म (Post-emesis management)—भली प्रकार वमन होने के उपरान्त रोगी की जाँच कर (स्रोतों में फंसे कफ को दूर करने के लिए) स्नेहन (वातप्रकृतौ), विरेचन ('कफपित्तप्रकृतौ तु उत्क्लिष्टदोषे च वैरेचनिकम्') और शमन ('समदोषप्रकृतावुपशमनीयं प्रायोगिकं स्वस्थवृत्तिकमित्यर्थः') में से किसी एक प्रकार के धूम को सामर्थ्य के अनुसार पिलाकर उसे आहार तथा कायवाङ्मनो भेद से तीन प्रकार के विहार के सम्बन्ध में आदेश दें॥ ९॥

भवन्ति चात्र—

ततोऽपराह्णे शुचिशुद्धदेहमुष्णाभिरद्भिः परिषिक्तगात्रम्।
कुलत्थमुद्गाढकिजाङ्गलानां यूषै रसैर्वाऽप्युपभोजयेत्तु॥ १०॥

श्लोक भी हैं—अपराह्न में सुवान्त व्यक्ति को उष्ण जल से स्नान कराने के बाद शुचि (Purified) तथा शुद्ध (Cleansed) देह होने पर कुलथी, मूँग, अरहर का यूष या जांगल प्राणियों का मांसरस दें॥ १०॥

विमर्श—सुवान्त व्यक्ति के आहार द्रव्यों में यहाँ यवागू का उपदेश नहीं किया गया है, क्योंकि—'पांशुधाने यथा वृष्टिः क्लेदयत्यतिकर्दमम्। तथा श्लेष्मणि सन्दुष्टे यवागूः श्लेष्मवर्धिनी'॥ यवागू श्लेष्मवर्धक है।

कासोपलेपस्वरभेदनिद्रातन्द्रास्यदौर्गन्ध्यविषोपसर्गाः ।
कफप्रसेकग्रहणीप्रदोषा न सन्ति जन्तोर्वमतः कदाचित्॥ ११॥

वमन के लाभ (Benefits after emesis)—जिस व्यक्ति को भली प्रकार वमन कराये जाते हैं उसे कास, उपलेप (स्रोतःसु मलवृद्धिः), स्वरभेद, अतिनिद्रा, तन्द्रा, मुख से दुर्गन्ध आना, विषाक्तता, उपसर्ग (शीतलिकादयः, संक्रामकरोगाः) और कफप्रसेक तथा ग्रहणीरोग कभी नहीं होते हैं॥ ११॥

छिन्ने तरौ पुष्पफलप्ररोहा यथा विनाशं सहसा व्रजन्ति।
तथा हृते श्लेष्मणि शोधनेन तज्जा विकाराः प्रशमं प्रयान्ति॥ १२॥

उपरोक्त कथन की पुष्टि में दृष्टान्त—जैसे किसी पेड़ को काट देने के उपरान्त उसके फूल, फल तथा प्ररोह (अंकुर) सहसा नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार वमन द्वारा प्रकुपित श्लेष्मा के शरीर से बाहर निकल जाने पर हुए शोधन से श्लेष्मजन्य रोग सहसा शान्त हो जाते हैं॥ १२॥

न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान्।
स्थूलक्षतक्षीणकृशातिवृद्धमूत्रातुरान् केवलवातरोगान्॥ १३॥
स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्तदुश्छर्दिदुःकोष्ठतृडार्तबालान् ।
ऊर्ध्वास्रपित्तिक्षुधितातिरूक्षगर्भिण्युदावर्तिनिरूहितांश्च ॥ १४॥

अवाम्य (वमन का निषेध/Contraindications)—तिमिररोगपीड़ित (Having errors of refraction), ऊर्ध्ववात ('अधःप्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा। करोत्यनिशमुद्गारमूर्ध्ववातः स उच्यते'), गुल्म, उदररोगी, प्लीहा और कृमिरोग में थके हुए, स्थूल, क्षत, क्षीण, कृश, अतिवृद्ध, मूत्रविकारपीड़ित, विशुद्ध वातग्रस्त, स्वरोपघात (Hoarseness of voice) के रोगी, अध्ययनरत, छर्दिपीड़ित, दुःकोष्ठ (क्रूरकोष्ठ वाले), तृषाग्रस्त, बालक, ऊर्ध्वग रक्तपित्तपीड़ित (रक्तनिष्ठीवन/Haemoptysis और रक्तवमन/

Haematemesis), भूखे होने की स्थिति में, अतिरूक्ष व्यक्ति, गर्भिणी, उदावर्ती तथा जिन्हें निरूहण बस्तियाँ दी गयी हों, उनमें वमन नहीं कराना चाहिए॥ १३-१४॥

एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः। अतीव चोल्बणकफास्ते च स्युर्मधुकाम्बुना॥ १५॥

उपरोक्त 'अवाम्य' व्यक्ति भी यदि अजीर्ण पीड़ा से ग्रस्त हों, विषपीड़ित हों ('स्थावरजङ्गमकृत्रिमविष-बाधायाम्') और अत्यन्त उच्छ्रित कफ की उपस्थिति में मुलेठी के क्वाथ से वमन करा देना चाहिए॥ १५॥

विमर्श—अवाम्यों में वमन कराने के कारणों के सम्बन्ध में डल्हण का कथन—'तत्रैषामवमने चिराद् बाधाऽजीर्णे, विषैश्च सद्य एव, उल्बणकफानां च गलामयादिषु सद्य एव विनाशः'।

अवम्यवमनाद्रोगाः कृच्छ्रतां यान्ति देहिनाम्। असाध्यतां वा गच्छन्ति नैते वाम्यास्ततः स्मृताः॥

अवाम्यों में वमन से हानि—अवाम्य व्याधियों में वमन करा देने से रोग कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं अथवा असाध्य हो जाते हैं। अतः अवाम्यों में वमन नहीं कराने चाहिए॥ १६॥

वाम्यास्तु—विषशोषस्तन्यदोषमन्दाग्न्युन्मादापस्मारश्लीपदार्बुदविदारिकामेदोमेहगरज्वरारुच्य-पच्यामातीसारहृद्रोगचित्तविभ्रमविसर्पविद्रध्यजीर्णमुखप्रसेकहृल्लासश्वासकासपीनसपूतीनासकण्ठौष्ठ-वक्त्र-पाककर्णस्रावाधिजिह्वोपजिह्विकागलशुण्डिकाधःशोणितपित्तिनः कफस्थानजेषु विकारेष्वन्ये च कफव्याधिपरीता इति॥ १७॥

वाम्य अर्थात् वमन के योग्य (Indications for emesis treatment)—विष (Poisoning) से ग्रस्त, शोष (Consumption), स्तन्यदोषपीड़ित (Diseases of breast and lactation), मन्दाग्नि (Low digestive power), उन्माद (Psychosis), अपस्मार (Epilepsy), श्लीपद (Filariasis), अर्बुद (Tumours), विदारिका (Axillary and inguinal lymphadenitis), मेदोरोग (Obesity), मेह (Urinary discharges), गरविष, ज्वर, अरुचि (Dislike for food), अपची (Cervical adenitis), आमातिसार, हृद्रोग, चित्तविभ्रम (Mental confusion), विसर्प (Cellulitis), विद्रधि (Abscess), अजीर्ण (Indigestion), मुखप्रसेक (Excessive salivation), हृल्लास (Nausea), श्वास (Dyspnoea), कास, पीनस (Chronic corhyza), पूतिनास (Rhinorrhoea), कण्ठपाक, ओष्ठपाक, मुखपाक (Stomatitis), कर्णस्राव (Ear discharges), अधिजिह्विका (Swelling at the base of the tongue), उपजिह्विका, गलशुण्डिका (Uvulitis), अधोग रक्तपित्त (Bleeding from the lower passage/anus, urethra), कफस्थानोत्पन्न विकार तथा कफज व्याधियों से पीड़ित रोगियों में वमन कराना चाहिए॥ १७॥

विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय च देयम्; अवान्तस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयति, गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति॥ १८॥

विरेचनार्थ पूर्वकर्म (Preparation for purgative treatment)—विरेचन भी उस व्यक्ति को कराना चाहिए जिसका स्नेहन-स्वेदन किया जा चुका हो तथा वमन कराये गये हों। क्योंकि वमन न कराने पर भली प्रकार किये गये विरेचन उपक्रम से भी रोगी का श्लेष्मा नीचे की ओर जाकर ग्रहणी को आच्छादित कर देता है, भारीपन लाता है या प्रवाहिका नामक रोग को जन्म देता है॥ १८॥

विमर्श—यह वमन के बाद विरेचन का विधान है। स्नेह के बाद वमन, वमन के बाद विरेचन कितने समय के विश्राम के बाद कराना चाहिए? इस सम्बन्ध में चरक का आदेश इस प्रकार है—'एकाहोपरतः स्नेहात् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्। त्रिरात्रोपरतस्तद्वत् स्नेहात्प्रस्कन्दनं पिबेत्'॥ (सू. १३) सामान्यतः 'विरेचन' शब्द से दोषों-मलों का गुदमार्ग से निकालना समझा जाता है। किन्तु मूत्रविरेचन, शुक्रविरेचन, शिरोविरेचन आदि शब्द भी मिलते हैं। रेचनार्थ में 'प्रस्कन्दन' शब्द भी है (प्रस्कन्दनम् = विरेचनम्–च.पा.) विरेचन पित्तनिर्हरण में श्रेष्ठ है ('विरेचनं पित्तहराणां श्रेष्ठम्'–च.सू. २५।४०)।

अथातुरं श्वो विरेचनं पाययिताऽस्मीति पूर्वाह्णे लघु भोजयेत्, फलाम्लमुष्णोदकं चैनमनुपाययेत्। अथापरेऽहनि विगतश्लेष्मधातुमातुरोपक्रमणीयादवेक्ष्यातुरमथास्मै औषधमात्रां पातुं प्रयच्छेत्॥ १९॥

विरेचन-पूर्वकर्म—जिस रोगी के बारे में 'कल रोगी को विरेचन द्रव्य पिलाऊँगा'—यह विचार हो उसे प्रातः लघु आहार दें और बीजपूरादि फलाम्लरस तथा उष्णोदक का पान करायें ('पित्तवर्धनार्थम् अन्ये तु कफार्थमाहुः')। दूसरे दिन आतुरोपक्रमणीय (सू. ३५) अध्याय में बताये गये के अनुसार श्लेष्मदोष और धातु (रस) के नष्ट होने की जाँच कर रोगी को औषध मात्रा पिलानी चाहिए॥ १९॥

विमर्श—औषधमात्राम्—'मात्रा पुरुषस्य बलापेक्षया प्रधानमध्यादिभेदेन तन्त्रान्तरोक्ता कथ्यते—द्वे पले श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं तु पलं भवेत्। पलार्धमुपयुञ्जीत अधमं तु विरेचनम्' ॥ इति।

तत्र मृदुः, क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते; बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरिच्यः; समदोषो मध्यमः, स साधारण इति। तत्र मृदौ मात्रा मृद्वी, तीक्ष्णा क्रूरे, मध्ये मध्या कर्तव्येति। पीतौषधश्च तन्मनाः शय्याभ्याशे विरेच्यते॥ २०॥

विरेचक द्रव्यों की मात्रा—कोष्ठ (पचनतन्त्र) (शारीरक्रिया की दृष्टि से) तीन प्रकार का होता है—१. मृदु (Soft), २. क्रूर (Hard) और ३. मध्यम (Moderate)। इनमें—१. पित्त की अधिकता वाला 'मृदु' है; इसमें दूध पीने से ही विरेचन (Purgation) हो जाता है; २. वात और श्लेष्मा की अधिकता वाला 'क्रूर' कोष्ठ कहलाता है, इसमें विरेचन कठिनाई से होता है (दुर्विरिच्यः) और ३. समान दोषों वाला 'मध्यम' कोष्ठ है, इसमें साधारण द्रव्यों से भी रेचन हो जाता है। जिसने विरेचक औषध का पान किया है वह तन्मय होकर शय्या के समीप (अभ्याशे = समीपे-ड.) ही विरेचन करे॥ २०॥

विमर्श—दुग्धेनापि—यहाँ दुग्ध उपलक्षण मात्र है। वास्तव में मृदुकोष्ठ व्यक्ति को गन्ने का रस, अम्लतक्र, मस्तु, गुड, कृशरा, घी, नवमद्य, उष्णोदक, पीलु, तक्षा द्राक्षारस से भी विरेचन हो जाता है। क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति को त्रिवृत्, त्रिफला, तिक्ता, नीलिनीफल आदि से भी कठिनाई से विरेचन होता है ('बहुपित्तो मृदुकोष्ठः क्षीरेणापि विरिच्यते। प्रभूतमारुतः क्रूरः कृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि'–वा.)।

विरेचनं पीतवांस्तु न वेगान् धारयेद्बुधः। निवातशायी शीताम्बु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत्॥ २१॥

विरेचक द्रव्य पीने के बाद त्याज्य—जिसने विरेचन द्रव्य पीये हैं उस बुद्धिमान् को चाहिए कि वह वेगों (मल के) को न रोके, तीव्र वातरहित स्थान में शयन करे, शीतल जल का स्पर्श न करे और न मलत्याग के समय प्रवाहण (Strain) ही करे॥ २१॥

यथा च वमने प्रसेकौषधकफपित्तानिलाः क्रमेण गच्छन्ति, एवं विरेचने मूत्रपुरीषपित्तौषधकफा इति॥ २२॥

विरेचक द्रव्यों की कार्यप्रणाली (Mode of action)—जिस प्रकार वमन (Emesis) में पहले प्रसेक (लालास्रवणम्/Elimination of saliva), फिर वामक औषध, तदनन्तर कफ (Implies gastric juices here), पित्त (Bile) और अन्त में वायु (Air or gases) निकलती है उसी प्रकार विरेचन (Purgation) में मूत्र, पुरीष, पित्त, औषध तथा अन्त में कफ निकलते हैं ('कफोऽत्र पक्वाशये विरेकावधिसूचकः')॥ २२॥

विमर्श—'पित्तावसानं वमनं विरेकादर्धं कफान्तं च विरेकमाहुः' (वा.सू. १८)।

(स्याद्दुर्विरिक्ते कफपित्तकोपो दाहोऽरुचिर्गौरवमग्निसादः।)

दुर्विरेच्य के लक्षण—यदि विरेचन कर्म भली प्रकार सम्पन्न न हुआ हो तो कफ और पित्त दोष प्रकुपित हो जाते हैं और रोगी को दाह (Burning sensation), अरुचि (Aversion of food), गौरव (Heaviness in body) और मन्दाग्नि (Poor digestion) होते हैं।

भवन्ति चात्र—

हृत्कुक्ष्यशुद्धिः परिदाहकण्डूविण्मूत्रसङ्गाश्च न सद्विरिक्ते।
मूर्च्छागुदभ्रंशकफातियोगाः शूलोद्गमश्चातिविरिक्तलिङ्गम्॥ २३॥

अयोग और अतियोग (विरिक्त) के लक्षण—भली प्रकार विरेचन न होने पर (न सद्विरिक्ते) हृत्प्रदेश (Precordium) और कुक्षिप्रदेश (Epigastic regions) में बेचैनी, जलन (Generalised burning sensation), कण्डू और मल-मूत्रसंग (Retention of faeces and urine) होते हैं। अधिक विरेचन होने पर (अतिविरिक्ते) मूर्च्छा, गुदभ्रंश (Prolapse of the rectum), कफ का अधिक मात्रा में निकलना और वेदना—ये लक्षण होते हैं॥ २३॥

गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु नाभ्या लघुत्वे मनसश्च तुष्टौ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोमभावं सम्यग्विरिक्तं मनुजं व्यवस्येत्॥ २४॥

सम्यक् विरिक्त (Adequate purgation) **के लक्षण**—जब कफयुक्त दोष शरीर से बाहर निकल गये हों, नाभि के चारों ओर (Umblical region में) हलकापन प्रतीत हो, मन प्रसन्न हो, वायु का स्वाभाविक रूप से अनुलोमन हो गया हो तो व्यक्ति 'सम्यक् विरिक्त' कहलाता है॥ २४॥

विमर्श—सम्यक्-विरिक्त के चरकोक्त लक्षण—'स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसम्प्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम्। प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यक्-विरिक्तस्य भवेत्क्रमेण'॥ (च.सि. १।१८) 'ऊर्जोऽग्निरिति पटुरग्निः, अनामयत्वं विरेचनजेतव्यदोषजनितविकारव्यपगमः'–च.पा.।

मन्दाग्निमक्षीणमसद्विरिक्तं न पाययेताहनि तत्र पेयाम्।
क्षीणं तृषार्तं सुविरेचितं च तन्वीं सुखोष्णां लघु पाययेच्च॥ २५॥

विरेचन का पश्चात्कर्म (Dietary restrictions)—यदि व्यक्ति मन्दाग्नि (Weak digestive power) से पीड़ित हो, क्षीण न हुआ हो और जिसे विरेचन भली प्रकार न हुए हों (असद्विरिक्तम्) उसे उसी दिन पेयादि पदार्थ नहीं देने चाहिए। यदि विरेचन भली प्रकार सम्पन्न हुए हैं, रोगी क्षीण तथा प्यास से पीड़ित है तो उसे पतली, कोष्ण, लघु पेयादि पदार्थ देना चाहिए॥ २५॥

बुद्धेः प्रसादं बलमिन्द्रियाणां धातुस्थिरत्वं बलमग्निदीप्तिम्।
चिराच्च पाकं वयसः करोति विरेचनं सम्यगुपास्यमानम्॥ २६॥

विरेचन के गुण—बुद्धि की स्वच्छता (Clarity of mind), इन्द्रियों में बल का आधान ('बलशब्देनोत्साहलक्षणबलम्'), धातुओं में स्थिरता (Steadiness), शारीर बल की प्राप्ति, अग्नि की दीप्ति (वृद्धि) और आयु के पकने में विलम्ब अर्थात् बुढ़ापे का देर से आना (Increases life expectancy)—ये भली प्रकार सम्पन्न हुए विरेचन उपक्रम के गुण हैं॥ २६॥

विमर्श—बुद्धेः प्रसादम्—'कायमनसोरन्योऽन्यानुविधानात् कायमपि मनोऽनुविधत्ते मनश्च काय इति। शरीरशुद्धिकरणं हि विरेचनम्, तच्छुद्धौ मनसो विशुद्धिः, मनःशुद्धौ बुद्धिप्रसाद उपपन्नः एवेत्यतो बुद्धिप्रसादं करोतीत्युक्तम्'।

यथौदकानामुदकेऽपनीते चरस्थिराणां भवति प्रणाशः।
पित्ते हृते त्वेवमुपद्रवाणां पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः॥ २७॥

विरेचन का लाभ—जिस प्रकार जलाशय से जल के निकाल देने के पश्चात् उसमें पाये जाने वाले चर (जंगम–मत्स्यादि प्राणी) और स्थिर (स्थावर–कमलादि वनस्पतियाँ) का नाश हो जाता है उसी प्रकार विरेचन द्वारा पित्त के निकल जाने से पित्तकारणज उपद्रव भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं॥ २७॥

मन्दाग्न्यतिस्नेहितबालवृद्धस्थूलाः क्षतक्षीणभयोपतप्ताः।
श्रान्तस्तृषार्तोऽपरिजीर्णभक्तो गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक्॥ २८॥
नवप्रतिश्यायमदात्ययी च नवज्वरी या च नवप्रसूता।
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीयाः स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्च॥ २९॥
अत्यर्थपित्ताभिपरीतदेहान् विरेचयेत्तानपि मन्दमन्दम्।

विरेचन के अयोग्य (Contraindications)—मन्दाग्निग्रस्त, जिसका अतिस्नेहन (Excessive oleation) हुआ हो, बाल, वृद्ध, स्थूल (Obese), क्षत-क्षीणपीड़ित (Consumptive pulmonary disease), भीत, थका हुआ, अधिक प्यास से पीड़ित, पूर्व भुक्त अन्न जिसका जीर्ण (Digest) न हुआ हो, गर्भिणी और अधोग रक्तपित्त से पीड़ित व्यक्ति, नवप्रतिष्याय (Acute rhinits), मदात्यय (Excessive alcoholism), नवज्वरी, नवप्रसूता स्त्री, शल्य (Foreign bodies) से पीड़ित, जिनकी स्नेहन क्रिया भली प्रकार सम्पन्न नहीं हुई है, ये व्यक्ति 'विरेचन के अयोग्य' हैं। जिन व्यक्तियों में पित्त की अधिकता है उनमें विरेचन धीमे-धीमे देना चाहिए॥ २८-२९॥

विरेचनैर्यान्ति नरा विनाशमज्ञप्रयुक्तैरविरेचनीयाः॥ ३०॥

जो व्यक्ति (उपरोक्त) विरेचन के 'अयोग्य' हैं उनमें अज्ञानियों द्वारा विरेचन कराये जाने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है॥ ३०॥

विरेच्यास्तु—ज्वरगरारुच्यर्शोऽर्बुदोदरग्रन्थिविद्रधिपाण्डुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्तभगन्दरच्छर्दि-योनिरोगविसर्पगुल्मपक्वाशयरुग्विबन्धविसूचिकालसकमूत्राघातकुष्ठविस्फोटकप्रमेहानाहप्लीहशोफ-वृद्धिशस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्टव्रणाक्षिपाककाचतिमिराभिष्यन्दशिरःकर्णाक्षिनासास्यगुदमेढ्रदाहोर्ध्व-रक्तपित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु विकारेष्वन्ये च पैत्तिकव्याधिपरीता इति॥ ३१॥

विरेचन के योग्य (Indication for purgation treatment)—ज्वरपीड़ित, गरविषग्रस्त, अरुचि, अर्श, अर्बुद, उदररोग, ग्रन्थि (Adenopathy), विद्रधि, पाण्डुरोग, अपस्मार, हृद्रोग (Cardiac disease), वातरक्त (Gout), भगन्दर, छर्दि, योनिरोग (Female genitalia), विसर्प (Cellulitis), गुल्म, पक्वाशयरुक् (रोग), विबन्ध (Constipation), विसूचिका (Cholera), अलसक (Paralytic ileus), मूत्राघात (Suppression of urine), कुष्ठ, विस्फोटक (Furunculosis), प्रमेह, आनाह (Tympanitis), प्लीहरोग (Splenomegaly), शोफ (Oedema), वृद्धि (Inguino-scrotal swellings), शस्त्रक्षत, क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, दुष्टव्रण (Infected ulcers), अक्षिपाक (Panophthalmitis), काच (Cataract), तिमिर (Errors of refraction), नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis), शिर-कर्ण-नेत्र-नासा-मुख में तथा गुद और शिश्न में दाह (Burning sensation) होना, ऊर्ध्वग रक्तपित्त (Bleeding from upper orifices) और जिनकी आँतों में कृमियाँ (Worms) हों, पित्तस्थान में उत्पन्न अन्य विकार तथा पित्तज अन्य व्याधियाँ विरेचन के योग्य (विरेच्य) होती हैं॥ ३१॥

विमर्श—अलसक—'कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत्परिकूजति। निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ वातवर्चोनिरोधस्तु यस्यात्यर्थं भवेदपि। तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु'॥ (सु.उ. ५६) **आनाह**—'आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयोविबद्धं विगुणानिलेन। प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाह-मुदाहरन्ति'॥ (सु.उ. ५६)

सरत्वसौक्ष्म्यतैक्ष्ण्यौष्ण्यविकाशित्वैर्विरेचनम्। वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा॥ ३२॥

वमन द्रव्यों की क्रिया ऊपर की ओर को क्यों होती है?—(इस श्लोक में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि विरेचन द्रव्यों के समान गुण-धर्म वाले होने पर भी वमन द्रव्यों की ऊपर की ओर को

गति क्यों होती है—) सरत्व (विरेचन लाना/Laxation), सौक्ष्म्य (सूक्ष्म होना/Fineness जिससे स्रोतों में प्रवेश पा सकें), तैक्ष्ण्य (दोषों को स्रवित करना/Strong potency), औष्ण्य (गरम होना/Hotness), विकाशित्व (धातुओं को शिथिल करने की सामर्थ्य/Dispersibility)—इन गुणों के कारण विरेचक द्रव्य स्वभावतः, प्रभाव से विरेचन करते हैं। वमन द्रव्य भी इन्हीं गुणों वाले होते हैं किन्तु ये अपनी प्रकृति के कारण दोषों का निर्हरण ऊर्ध्वमार्ग से करते हैं ('एतेनैतदुक्तं भवति—सरत्वादिभिर्गुणैर्वि-रेचनमधोदोषानपहरेत्, वमनस्य तुल्यगुणत्वेऽपि वीर्येणोर्ध्वगामित्वम्'–ड.)॥ ३२॥

विमर्श—वमन एवं विरेचन द्रव्य समान गुण वाले होने पर भी वमन द्रव्य प्रभाव के कारण वमन लाते हैं।

यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम्। गुणोत्कर्षाद् व्रजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः॥ ३३॥

वमन और विरेचन द्रव्यों की क्रिया—विरेचक द्रव्य अपनी पच्यमानावस्था (During the process of digestion) में दोषों को साथ लेकर गुणोत्कर्ष से नीचे की ओर को गति करते हैं। परन्तु वामक द्रव्य अपने गुणोत्कर्ष से दोषों को साथ लेकर अपक्वावस्था में ही ऊपर की ओर को गति करते हैं॥ ३३॥

विमर्श—गुणोत्कर्षात्—विरेचन द्रव्य स्थिर पृथ्वी और जल के गुणों की अधिकता वाले होने से पच्यमानावस्था में गुरुता के कारण नीचे की ओर को गति करते हैं, जब कि वमन द्रव्य शीघ्र गति करने वाले वायु और अग्नि के गुणों की अधिकता वाले होने के कारण अपक्वावस्था (Undigested form) में ऊपर की ओर को गति करते हैं ('द्रव्याणि हि द्रव्यस्वभावात् गुणस्वभावाच्च ऊर्ध्वगानि भवन्ति')।

मृदुकोष्ठस्य दीप्ताग्नेरतिरीक्ष्णं विरेचनम्। न सम्यङ्निर्हरेद्दोषानतिवेगप्रधावितम्॥ ३४॥

विरेचन चिकित्सा के सामान्य नियम—यदि व्यक्ति का कोष्ठ मृदु हो और अग्नि दीप्त हो तो तीक्ष्ण विरेचन देने से वेग की अधिकता के कारण दोषों का निर्हरण भली प्रकार नहीं होता है॥ ३४॥

विमर्श—प्रायः मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों में मृदु रेचक द्रव्य से भी विरेचन हो जाता है। यदि उसकी अग्नि भी दीप्त है तो विरेचन कार्य में और भी शीघ्रता होती है। इस पर यदि तीव्र विरेचन दिया जाय तो उसके शीघ्र बाहर निकल जाने से दोषों का निर्हरण सम्यक् प्रकार से नहीं होता है ('तस्मात् मृद्वेव विरेचनं स्वल्पमात्रं देयम्')।

पीतं यदौषधं प्रातर्भुक्तपाकसमे क्षणे। पक्तिं गच्छति दोषांश्च निर्हरेत् तत् प्रशस्यते॥ ३५॥

श्रेष्ठ रेचक का लक्षण—यदि प्रातःकाल ली गयी औषध भुक्त अन्न के पाक में जितना समय लगता है ('भुक्तपाकसमे क्षणे इति त्रिभिर्यामैर्मध्यमाग्नेर्यः पाकः') उतने समय में पक कर दोषों को बाहर निकाल दे वह श्रेष्ठ रेचक (Ideal purgative) औषध है॥ ३५॥

दुर्बलस्य चलान् दोषानल्पानल्पान् पुनः पुनः। हरेत् प्रभूतानल्पांस्तु शमयेत् प्रच्युतानपि॥ ३६॥

दुर्बल व्यक्ति की चिकित्सा—दुर्बल व्यक्ति के अत्यधिक प्रकुपित तथा प्रचलित (Dislodged) दोषों का बार-बार थोड़ा-थोड़ा करके निर्हरण करना चाहिए ('तत्र दोषहरणम् अपक्वानामेव')। यदि दुर्बल व्यक्ति के प्रकुपित दोष अल्प तथा प्रचलित हों तो उनकी शमन-चिकित्सा करनी चाहिए॥ ३६॥

विमर्श—उपर्युक्त सन्दर्भ में भोज का वचन भी है—'दोषमल्पं च शमयेत् चलितं चापि दुर्बले। बहुदोषं तु चलितं शनैरल्पं प्रवाहयेत्'॥

हरेद्दोषांश्चलान् पक्वान् बलिनो दुर्बलस्य वा। चला ह्युपेक्षिता दोषाः क्लेशयेयुश्चिरं नरम्॥ ३७॥

दोषनिर्हरण—रोगी दुर्बल हो अथवा बलवान् यदि दोष चल (Non-static) और पक्व (Matured) हैं तो उनका शरीर से निर्हरण (Elimination) कर देना चाहिए, क्योंकि चल दोषों की उपेक्षा करने पर ये चिरकाल तक कष्ट देते रहते हैं॥ ३७॥

विमर्श—दोषों का स्थिर और चल होने का सामान्य अर्थ यह है जिसे 'स्थानसंश्रय' और 'प्रसरावस्था' कहा जाता है। सुश्रुत (सू. २१।२८) ने 'किण्वोदकपिष्टसमवाय इव' का उदाहरण देकर इस विषय को अधिक स्पष्ट किया है। दोष चल नहीं हैं, एक स्थान में स्थित हैं, शरीरव्यापी लक्षण उत्पन्न नहीं हुए हैं तो संशमन-चिकित्सा अन्यथा संशोधन-चिकित्सा की आवश्यकता होती है।

मन्दाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः। सन्धुक्षिताग्निं स्निग्धं च स्विन्नं चैव विरेचयेत्॥ ३८॥

दीपन, स्नेहन, स्वेदन के बाद विरेचन—जिस व्यक्ति की पाचनशक्ति दुर्बल है (मन्दाग्नि) और कोष्ठ क्रूर है उसे क्षार तथा लवण युक्त घृत देकर जठराग्नि को दीप्त कर लें। तदनन्तर स्नेहन एवं स्वेदन कर विरेचन दें॥ ३८॥

स्निग्धस्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तूत्क्लेशितो बलात्। निलीयते न मार्गेषु स्निग्धे भाण्ड इवोदकम्॥

स्नेहन-स्वेदन की उपयोगिता—जिस प्रकार चिकने (स्निग्ध) बर्तन में रखा पानी आचूषित नहीं होता है उसी प्रकार रोगी का स्नेहन-स्वेदन करने के उपरान्त औषध-प्रयोग से उत्क्लेशित दोष मार्ग में कहीं भी विलीन न होते हुए बलपूर्वक बाहर निकल जाते हैं ('न निलीयते = न लग्नो भवति'-ड.)॥ ३९॥

न चातिस्नेहपीतस्तु पिबेत् स्नेहविरेचनम्। दोषाः प्रचलिताः स्थानाद्भूयः श्लिष्यन्ति वर्त्मसु॥

स्नेहपीत में स्निग्ध विरेचन नहीं—जिस व्यक्ति ने अधिक मात्रा में स्नेहपान किया हो उसे स्निग्ध विरेचन नहीं देना चाहिए, क्योंकि स्वस्थान से प्रचलित दोष पुनः मार्ग में ही श्लिष्ट (चिपक) हो जाते हैं॥ ४०॥

विषाभिघातपिडकाशोफपाण्डुविसर्पिणः। नातिस्निग्धा विशोध्याः स्युस्तथा कुष्ठिप्रमेहिणः॥

विशोध्य व्यक्ति—विष, अभिघात, पिड़का, शोफ, पाण्डु, विसर्प तथा जो अतिस्निग्ध नहीं हैं और कुष्ठ एवं प्रमेह से पीड़ित हैं वे व्यक्ति 'विशोध्य' (शोधन के योग्य) होते हैं॥ ४१॥

विरूक्ष्य स्नेहसात्म्यं तु भूयः संस्नेह्य शोधयेत्। तेन दोषा हृतास्तस्य भवन्ति बलवर्धनाः॥ ४२॥

स्नेहसात्म्य हो तो पहले निरूहण—जिन व्यक्तियों को स्नेह सात्म्य (Who tolerate oleation therapy well) है उनका पहले रूक्षण (Dehydration) कराना चाहिए। तदनन्तर पुनः आवश्यकतानुसार स्नेहन कर दोषों का निर्हरण किया जाता है। इससे बल की वृद्धि होती है॥ ४२॥

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेतौषधं मृदु। ततो विज्ञातकोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः॥ ४३॥

अविज्ञात कोष्ठ के लिए मृदु विरेचन—शोध्य और प्रागपीत अर्थात् जिसने पहले कभी रेचन द्रव्य न लिये हों ('प्राक् पूर्वं न पीतं विरेचनं येन सः तम्') उसे मृदु औषध देकर विरेचन करायें। फिर कोष्ठ के सम्बन्ध में जानकारी मिल जाने पर संशोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए॥ ४३॥

सुखं दृष्टफलं हृद्यमल्पमात्रं महागुणम्। व्यापत्स्वल्पात्ययं चापि पिबेन्नृपतिरौषधम्॥ ४४॥

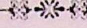
राजार्ह रेचक औषध के गुण—राजा को विरेचनार्थ दी जाने वाली औषध में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—१. सुखं अर्थात् जिसे सुखपूर्वक ग्रहण किया जा सके; २. दृष्टफल अर्थात् जिसके प्रभाव की पहले परीक्षा की जा चुकी हो; ३. जो हृदय (अथवा मन को प्रिय) के लिए हितकर हो, ४. जो मात्रा में अल्प हो तथा ६. प्रचुर गुणसम्पन्न हो और ७. जिसमें व्यापत्स्वल्पात्यय अर्थात् व्यापत् (उपद्रव) और अत्यय (विनाश) की सम्भावना कम-से-कम (Which have minimum side effects) हो॥ ४४॥

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्। दारु शुष्कमिवानामे देहस्तस्य विशीर्यते॥ ४५॥

बिना स्नेहन-स्वेदन के रेचन नहीं—जो व्यक्ति स्नेहन (Oleation) और स्वेदन (Sudation) के बिना संशोधन औषध का पान करता है उसका शरीर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार शुष्क काष्ठ को बिना स्नेहन (Lubrication) के मोड़ने के प्रयास में वह टूट जाता है॥ ४५॥

स्नेहस्वेदप्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः। दोषाः कोष्ठगता जन्तोः सुखा हर्तुं विशोधनैः ॥ ४६ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनसाध्योपद्रव-
चिकित्सितं नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥



दोषनिर्हरण में आसानी—मनुष्य के कोष्ठगत दोषों को स्नेहन एवं स्वेदन द्वारा प्रचलित कर तथा स्निग्ध रसों के सेवन से प्रेरित कर विशोधन द्रव्यों के प्रयोग से शरीर से बाहर निकालना आसान होता है॥ ४६॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'वमनविरेचन-साध्यो'द्रवचिकित्सा' नामक तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३३॥



अध्याय-सारांश

'वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—चिकित्सा के सिद्धान्त का उल्लेख, वमन-विरेचन का महत्त्व, उनका विधान, वमन कराने से पहले रोगी की तैयारी, पहले स्नेहन-स्वेदन कराना, अंगुलि आदि की सहायता से वमन कराने का वर्णन (६), दुर्वान्ति, अतिवान्त का लक्षण, सुवान्त की पहचान, तदनन्तर धूम्रपान का आदेश (९), आहार-व्यवस्था, वमनफलाभिधान (११), वमन से श्लेष्मनिर्हरण होने पर कफरोगों का विनाश, अवम्यों का उल्लेख, अवम्यों में वमन से हानियाँ (१६), वाम्य व्याधियाँ, स्नेहन-स्वेदन-वमन के उपरान्त विरेचन, विरेचनकर्मविवरण, अतिविरिक्त और सम्यक्विरिक्त के लक्षण, विरेचक गुण, विरेचन से पित्तव्याधिविनाश, विरेच्य व्याधियाँ (३१) तथा विरेचन-चिकित्सा के सामान्य नियम (३४-४६)।



चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

अथातो वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितम्' (The Management of the Complication of Emetic and Purgative Therapies) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

वैद्यातुरनिमित्तं वमनं विरेचनं च पञ्चदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्याधोगतिरूर्ध्वं विरेचनस्येति पृथक्; सामान्यमुभयोः—सावशेषौषधत्वं, जीर्णौषधत्वं, हीनदोषापहृतत्वं, वातशूलम्, अयोगो, अतियोगो, जीवादानम्, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं, विबन्ध, अङ्गप्रग्रह इति ॥ ३ ॥

वमन-विरेचन व्यापत्संख्या (Enumeration)—वैद्य तथा आतुर (औषध और परिचारक) के दोष से उत्पन्न वमन तथा विरेचन के उपद्रव पन्द्रह प्रकार के होते हैं। वमन का विशेष (Specific) उपद्रव उसका नीचे की ओर को गति करना है तथा विरेचन का ऊपर की ओर को गति करना है। शेष चौदह उपद्रव वमन और विरेचन दोनों के सामान्य उपद्रव हैं; यथा—१. सावशेषौषधत्व (शरीर में औषध का रह जाना/Residue of the drug), २. जीर्णौषधत्व (औषध का पच जाना/Digestion of the drug itself), ३. हीनदोषापहृतत्व (दोषनिर्हरण अच्छी तरह न होना/Poor elimination of *doṣas*), ४. वातशूल (Pain due to *vāyu*), ५. अयोग (औषध प्रभाव का अल्प होना/Under dosage), ६. अतियोग (औषध प्रभाव का अधिक होना/Over dosage), ७. जीवादान (रक्त का निकलना/Excessive loss of unaltered blood), ८. आध्मान (अफारा/Tympanitis), ९. परिकर्तिका (गुदा में वेदना/Cutting pain in the rectum), १०. परिस्राव (स्राव आना/Discharge), ११. प्रवाहिका (Dysentery), १२. हृदयोपसरण (Feeling of discomfort in the precordial region), १३. विबन्ध (Constipation) और १४. अङ्गप्रग्रह (शरीर में जकड़ाहट/Stiffness of the limbs) ॥ ३ ॥

विमर्श—पन्द्रह प्रकार के उपद्रवों में 'पाठभेद' मिलता है। यदि 'हीनदोषापहृतत्व' को दो उपद्रव (१. दोषों का कम निकलना और २. दोषों का अधिक निकलना) मानें तो 'अंगप्रग्रह' को सम्मिलित नहीं किया जाता है। अथवा 'अंगप्रग्रह' को सम्मिलित कर वमन-विरेचन के विशेष व्यापत् को दो उपद्रव मान लिया जाता है। चरक ने दस व्यापत्तियाँ ही वर्णित की हैं।

जीवादानम्—'जीवशोणितादानम्' अर्थात् शुद्धरक्त का निकल जाना ('रक्तं जीव इति स्थितिः'—वा.सू.)। चरक (सि. ६।७९) में जीवशोणित की पहचान इस प्रकार है—'तेन्नान्नं मिश्रितं दद्यात् वायसाय शुनेऽपि वा। भुङ्क्ते तच्चेद् वदेत् जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत्' ॥

अयोग का लक्षण—'अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेण याति दोषो न वाऽल्पशः' (च.सि. ६।३४)।

तत्र बुभुक्षापीडितस्यातितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावाद् वमनमधो गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च, तमाशु स्नेहयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्वामयेत् ॥ ४ ॥

वमन का अधोग व्यापत् (Going downwards)—यदि व्यक्ति क्षुधा से पीड़ित हो, उसकी जठराग्नि अति तीक्ष्ण हो और कोष्ठ मृदु हो तो वामक औषध (Emetic drugs) या तो शरीर में ही टिकी रह

जाती (Retained) हैं अथवा रोगी दुर्बल हो तो विरेचक औषधियों के समान गुण होने के कारण नीचे की ओर को गति करती हैं। इसके परिणामस्वरूप वांछित लाभ नहीं मिलता है पर दोष अधिक कुपित हो जाते हैं (दोषोत्कर्षश्च)। ऐसे रोगी का शीघ्र ही स्नेहन कर तीक्ष्ण औषध का प्रयोग कर पुनः वमन कराना चाहिए॥ ४॥

विमर्श—इस सम्बन्ध (अधोगमन) में वृद्ध वाग्भट का कथन—'अतिक्षुधितेनातिमृदुकोष्ठेनाल्पश्लेष्मणा दुर्वमनेन हीनमात्रातिमात्रं तीक्ष्णमतिशीतमजीर्णे वा पीतं वमनमधोगच्छति'। चरक (सि. ६।३३) के अनुसार—'क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा। तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद् विरेचनम्'।

अपरिशुद्धामाशयस्योत्क्लिष्टश्लेष्मणः सशेषान्नस्य वाऽहृद्यमतिप्रभूतं वा विरेचनं पीतमूर्ध्वं गच्छति, तत्रेप्सितानवाप्तिर्दोषोत्क्लेशश्च; तत्राशुद्धामाशयमुल्बणश्लेष्माणमाशु वामयित्वा भूयस्तीक्ष्णतरैर्विरेचयेत्, आमान्वये त्वामवत् संविधानम्, अहृद्येऽतिप्रभूते च हृद्यं प्रमाणयुक्तं च; अत ऊर्ध्वमुत्तिष्ठत्यौषधे न तृतीयं पाययेत्, ततस्त्वेनं मधुघृतफाणितयुक्तैर्लेहैर्विरेचयेत्॥ ५॥

विरेचन का ऊर्ध्वगति व्यापत् (Coming up)—जिस व्यक्ति का आमाशय अपरिशुद्ध (अशुद्ध/Not cleansed) हो, जिसका कफ उत्क्लिष्ट (Excited) हो या जो अन्न (रस) शेषाजीर्ण से ('रसशब्देन रसवानाहारोऽभिधीयते, तस्य शेषोऽपरिणतलक्षणो रसशेष' इति जेज्जटः) पीड़ित हो उसे अहृद्य (अप्रिय/Unpalatable) तथा बड़ी मात्रा में विरेचन द्रव्य पिलाया जाय तो वह ऊर्ध्व गति करता है। इससे वाञ्छित उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है और पित्तदोष की वृद्धि होती है। इस दशा में अपरिशुद्ध आमाशय तथा उत्क्लिष्ट कफ के रोगी को शीघ्र वमन कराकर पुनः अधिक तीक्ष्ण द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिए। अपरिशुद्ध आमाशय का आमवत् संविधान (लंघनपाचनादि) करना चाहिए। अप्रिय और अधिक मात्रा के स्थान पर प्रिय और समुचित मात्रा में (रेचन द्रव्य) दें। यदि रेचक औषध फिर भी ऊर्ध्व गति करती है तो तीसरी बार पुनः रेचक औषध का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसे रोगी को मधु, घृत, राब (फाणित/Treacle) युक्त अवलेहों के प्रयोग द्वारा विरेचन कराना चाहिए॥ ५॥

विमर्श—पीतमूर्ध्वं गच्छति—अत्र चरकः—'श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा बहु। विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते'॥ (सि. ६।३२)

दोषविग्रथितमल्पमौषधमवस्थितमूर्ध्वभागिकमधोभागिकं वा न स्रंसयति दोषान्, तत्र तृष्णा पार्श्वशूलं छर्दिर्मूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गाराविशुद्धिश्च भवति; तमुष्णाभिरद्भिराशु वामयेदूर्ध्वभागिके, अधोभागिकेऽपि च सावशेषौषधमतिप्रधावितदोषमतिबलमसम्यग्विरिक्तलक्षणमप्येवं वामयेत्॥ ६॥

सावशेष औषध (Retension of the drug) **व्यापत्**—अल्प मात्रा में प्रयुक्त वामक या रेचक औषध दोषों से मिश्रित होकर शरीर में ही अवस्थित रहती है और दोषों को ऊर्ध्व या अधो मार्ग से निकालने में असमर्थ होती है। इससे प्यास, पार्श्वशूल, वमन, मूर्च्छा, पर्वभेद (Pain in the joints), हृल्लास (Nausea), अरति (बेचैनी/Uneasiness) और अशुद्ध उद्गार (Foul eructations) होते हैं। ऐसे रोगी को गरम जल पिलाकर शीघ्र वमन करा दें। सावशेषौषध (जिसके औषध ऊर्ध्वाधो मार्ग से न निकल कर अन्दर ही अवस्थित हो गयी हो) तथा अति गतिशील दोष वाले जिस बलवान् व्यक्ति का विरेचन उपक्रम भली प्रकार सम्पन्न नहीं हुआ है, उसे भी वमन कराना चाहिए॥ ६॥

क्रूरकोष्ठस्यातितीक्ष्णाग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत् पाकमुपैति, तत्र समुदीर्णा दोषा यथाकालमनिर्ह्रियमाणा व्याधिविभ्रमं बलविभ्रंशं चापादयन्ति, तमनल्पममन्दमौषधं च पाययेत्॥ ७॥

जीर्णौषध (Digestion of the drug) **व्यापत्**—जिस व्यक्ति का कोष्ठ क्रूर (Very constipative constitution) हो और जठराग्नि अति तीक्ष्ण हो यदि उसे (वमन-विरेचनार्थ) औषध मात्रा अल्प दी जाय या औषध अल्प गुण (Less potent) वाली हो तो वह भुक्त अन्न की तरह पच जाती है। यदि ऐसे समय समुदीर्ण (Displaced) दोषों को ठीक समय पर बाहर न निकाल दिया जाय तो वे रोग (सन्धिविश्लेषादि) बलविभ्रम (Flaccidity of limbs) उत्पन्न कर देते हैं। ऐसे रोगी को बड़ी मात्रा में तीक्ष्ण औषध का पान कराना चाहिए॥ ७॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में चारकीय वर्णन—'कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा लघुत्वं बलमेव च। अयोगे मृदु वा दद्यात् औषधं तीक्ष्णमेव वा'॥ (सि. ६।३६)

अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुणं वा भेषजमुपयुक्तमल्पान् दोषान् हन्ति; तत्र वमने दोषशेषो गौरवमुत्क्लेशं हृदयाविशुद्धिं व्याधिवृद्धिं च करोति, तत्र तं यथायोगं पाययित्वा वामयेद्दृढतरं; विरेचने तु गुदपरिकर्तनमाध्मानं शिरोगौरवमनिःसरणं वा वायोर्व्याधिवृद्धिं च करोति। तमुपपाद्य भूयः स्नेहस्वेदाभ्यां विरेचयेद्दृढतरं, दृढं बहुप्रचलितदोषं वा तृतीये दिवसेऽल्पगुणं चेति॥ ८॥

अल्पदोषहृत व्यापत् (Poor elimination)—जिस व्यक्ति का स्नेहन और स्वेदन नहीं हुआ है उसे अथवा अल्प गुण वाली औषध के प्रयोग से दोष अल्प मात्रा में ही शरीर से बाहर निकलते हैं (विनाश को प्राप्त होते हैं)। यदि वमन कराने में दोष निर्हरण पूरी तरह नहीं हुआ है, तो यह दोषशेष (*Doṣas* are retained) गौरव, उत्क्लेश (Nausea), हृदयाविशुद्धि (हृत्प्रदेश में बेचैनी/Discomfort in the precordial region) तथा रोग में वृद्धि करता है। ऐसी दशा में रोगी को विधिपूर्वक (स्नेहन-स्वेदनादि करा कर/'यथायोगं योगानतिक्रमेण, स्नेहादिविषयम्') तीव्रतर वामक औषधि पिला कर वमन कराना चाहिए। यदि विरेचन कराने में दोषनिर्हरण पूरी तरह नहीं हुआ है तो यह दोषशेष गुदपरिकर्तन (गुद प्रदेश में काटने की-सी वेदना), आध्मान (Tympanitis), शिरोगौरव (भारीपन) और अनिःसरण (दोषों जैसे अपानवायु आदि का न निकलना) अथवा वायु और विकार में वृद्धि करता है। ऐसी दशा में रोगी को स्नेहन-स्वेदन के उपरान्त तीव्रतर विरेचन देना चाहिए। या रोगी दृढ़ शरीर वाला तथा जिसके दोष बहुत प्रचलित हैं (प्रसृत हैं) उसे अल्प गुण वाली औषध से स्नेहनादि के तीसरे दिन विरेचन करायें॥ ८॥

अस्निग्धस्विन्नेन रूक्षौषधमुपयुक्तमब्रह्मचारिणा वा वायुं कोपयति, तत्र वायुः प्रकुपितः पार्श्वपृष्ठश्रोणिमन्यामर्मशूलं मूर्च्छां भ्रमं मदं संज्ञानाशं च करोति, तं वातशूलमित्याचक्षते; तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयित्वा यष्टीमधुकविपक्वेन तैलेनानुवासयेत्॥ ९॥

वातशूल व्यापत्—बिना स्नेहन एवं स्वेदन के रूक्ष औषध के सेवन से अथवा ब्रह्मचर्य का पालन न करने से (Not observing celebacy) वायु प्रकुपित होता है। इससे पार्श्व, पीठ, श्रोणि (Pelvic region), मन्या (Jugular region) और मर्मस्थलों (Vulnerable areas) में वेदना, मूर्च्छा, भ्रम (Dizziness) मद और संज्ञानाश (बेहोशी/Loss of senses) होता है। इसे 'वातशूल' कहते हैं। ऐसे रोगी का अभ्यंग कर तथा धान्य स्वेद से स्वेदन कर मुलेठी से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ ९॥

स्नेहस्वेदाभ्यामविभावितशरीरेणाल्पमौषधमल्पगुणं वा पीतमूर्ध्वमधो वा नाभ्येति दोषांश्चोत्क्लेश्य तैः सह बलक्षयमापादयति, तत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति, तमयोगमित्याचक्षते; तमाशु वामयेन्मदनफललवणाम्बुभिर्विरेचयेत्तीक्ष्णतरैः कषायैश्च। दुर्वान्तस्य तु समुत्क्लिष्टा दोषा व्याप्य शरीरं कण्डूश्वयथुकुष्ठपिडकाज्वराङ्गमर्दनिस्तोदनानि कुर्वन्ति, ततस्तानशेषान्महौषधेनापहरेत्। अस्निग्धस्विन्नस्य दुर्विरिक्तस्याधोनाभेः स्तब्धपूर्णोदरता शूलं वातपुरीषसङ्गः कण्डूमण्डलप्रादुर्भावो वा भवति, तमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्तीक्ष्णेन। नातिप्रवर्तमाने तिष्ठति वा दुष्टसंशोधने

तत्सन्तेजनार्थमुष्णोदकं पाययेत्, पाणितापैश्च पार्श्वोदरमुपस्वेदयेत्, ततः प्रवर्तन्ते दोषाः। अनुप्रवृत्ते चाल्पदोषे जीर्णौषधं बहुदोषमहःशेषं बलं चावेक्ष्य भूयो मात्रां विदध्यात्। अप्रवृत्तदोषं दशरात्रादूर्ध्वमुपसंस्कृतदेहं स्नेहस्वेदाभ्यां भूयः शोधयेत्। दुर्विरेच्यमास्थाप्य पुनः संस्नेह्य विरेचयेत्। ह्रीभयलोभैर्वेगाघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजः श्रोत्रियाश्च भवन्ति, तस्मादेते दुर्विरेच्याः, बहुवातत्वात्; अत एवताननतिस्निग्धान् स्वेदोपपन्नाञ् शोधयेत्॥ १०॥

अयोग व्यापत्—स्नेहन-स्वेदन के गुणों से रहित (अविभावित) शरीर वाले व्यक्ति को यदि मात्रा में अल्प अथवा अल्प गुण वाली रेचक या वामक औषध दी जाय तो वह दोषों का ऊर्ध्व या अधोमार्ग से निर्हरण नहीं कर पाती है तथा दोषों को प्रकुपित कर उनके साथ शरीर के बल का क्षय कर देती है और आध्मान (Flatulence), हृद्ग्रह (Constriction in the cardiac region), प्यास, मूर्च्छा एवं दाह उत्पन्न करती है। इसे अयोग (Under dosage) कहते हैं। ऐसे रोगी को तुरन्त मदनफल चूर्ण, लवण और जल से वमन तथा अति तीक्ष्ण कषायों (द्रव्यों) से विरेचन कराना चाहिए। ● दुर्वान्त (भली प्रकार वमन न होना/Not proper emesis) व्यक्ति के प्रकुपित दोष शरीर में फैलकर कण्डू, शोथ, कुष्ठ, पिडका, ज्वर, अंगमर्द और निस्तोद (Pricking pain) पैदा करते हैं। इनका महौषध प्रयोग द्वारा समूल निर्हरण करना चाहिए। ● स्नेहन और स्वेदन रहित व्यक्ति जो दुर्विरिक्त है उसकी नाभि के नीचे के भाग में अकड़ाहट और उदर में भारीपन, शूल, अधोवायु तथा मल में रुकावट या कण्डू और शरीर पर मण्डलोत्पत्ति (Appearance of erythematous rashes) हो जाते हैं। ऐसे रोगी में आस्थापन बस्ति देकर पुनः स्नेहन करें और तीव्र विरेचन दें। ● दुष्ट संशोधन अर्थात् संशोधन भली प्रकार न होने पर यदि दोषों का निर्हरण अधिक न हुआ हो अथवा वे अन्दर ही रह गये हों ('तिष्ठति वा') तो उन्हें उत्तेजित करने के लिए रोगी को उष्ण जल पीने को दें और हथेलियाँ गरम कर पार्श्वोदर (उदर और पार्श्वों) की सिकाई करें। इससे दोष बाहर आ जाते हैं। ● यदि दोष निर्हरण अल्प मात्रा में हो, दोष अल्प हों, औषध पच गयी हो तो दोषों की बहुलता की, दिवस के शेष भाग की एवं रोगी के बल की जाँच कर औषध को समुचित मात्रा में पुनः पिलाना चाहिए। ● दोषनिर्हरण न हुआ हो तो दस दिन के बाद स्नेहन एवं स्वेदन के द्वारा देह का संस्कार कर पुनः वमन-विरेचन कराकर शरीर का शोधन करना चाहिए। ● जो दुर्विरेच्य है (Purgation is difficult to introduce) उसे आस्थापन बस्ति देकर तथा स्नेहन कर पुनः विरेचन देना चाहिए। ● लज्जा, भय और लोभ के कारण मलादि के वेग को रोकना जिनका स्वभाव है; जैसे— प्रायः स्त्रियाँ, राजा के समीप रहने वाले, व्यापारी (दुकानदार) और वेदपाठ करने वाले (श्रोत्रिय) हैं। ये दुर्विरेच्य होते हैं, क्योंकि इनमें वातप्रकोप अधिक हो जाता है। अतः इनको अति स्नेहन एवं स्वेदन कर विरेचन कराना चाहिए॥ १०॥

विमर्श—वेगाघातशीलाः—चरक ने वेगाघातशील चार प्रकार के लोगों को 'सदातुर' कहा है—'सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः'। (सि. १२।२७) क्योंकि—'सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम्। अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदाऽऽतुराश्च ते'॥ (च.सि. १२।३०)

स्निग्धस्विन्नस्यातिमात्रमतिमृदुकोष्ठस्य वाऽतितीक्ष्णमधिकं वा दत्तमौषधमतियोगं कुर्यात्। तत्र वमनातियोगे पित्तातिप्रवृत्तिर्बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तं घृतेनाभ्यज्यावगाह्य शीतास्वप्सु शर्करामधुमिश्रैर्लेहैरुपचरेद्यथास्वं; विरेचनातियोगे कफस्यातिप्रवृत्तिरुत्तरकालं च सरक्तस्य, तत्रापि बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान् भवति, तमतिशीताम्बुभिः परिषिच्यावगाह्य वा शीतैस्तण्डुलाम्बुभिर्मधुमिश्रैश्छर्दयेत्, पिच्छाबस्तिं चास्मै दद्यात्, क्षीरसर्पिषा चैनमनुवासयेत्, प्रियङ्ग्वादिं चास्मै तण्डुलाम्बुना पातुं प्रयच्छेत्, क्षीररसयोश्चान्यतरेण भोजयेत्॥ ११॥

अतियोग (Over dosage) **व्यापत्**—अधिक स्नेहन-स्वेदन किया गया हो अथवा व्यक्ति अति मृदु कोष्ठ (Whose bowels are very weak) हो या तीक्ष्णौषध अधिक मात्रा में दी जाय तो औषध 'अतियोग' करती है (अर्थात् उसकी क्रिया आवश्यकता से अधिक होती है)। ● यदि वमन का अतियोग हो तो पित्त अधिक मात्रा में आता है, बलविस्रंस (शक्तिविस्रंस/Loss of strength) और प्रबल वातप्रकोप होता है। ऐसे रोगी का घृत से अभ्यंग कर शीतल जल में अवगाहन (स्नान) कराना चाहिए और विधिपूर्वक शर्करा-मधु से मिश्रित लेहों का चिकित्सार्थ प्रयोग करें। ● यदि विरेचन का अतियोग हो तो कफ अधिक मात्रा में आता है तथा बाद में कफ रक्तमिश्रित होता है। इसमें भी बल का ह्रास और तीव्र वातप्रकोप हो जाता है। ऐसे रोगी की चिकित्सा में अति शीत जल से परिषिञ्चन या स्नान (गोता, डुबकी) कराना चाहिए और शीतल चावल के जल में शहद मिलाकर वमन कराना चाहिए। इस रोगी को पिच्छाबस्ति (आगे वर्णित) देनी चाहिए, दुग्ध और घृत की अनुवासनबस्ति दें तथा पीने के लिए प्रियंग्वादि द्रव्यों को तण्डुल जल से दें और दुग्ध या मांसरस ('बलप्रतिलम्भाय') का आहार करायें॥ ११॥

तस्मिन्नेव वमनातियोगे प्रवृद्धे शोणितं ष्ठीवति छर्दयति वा, तत्र जिह्वानिःसरणमपसरण-मक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहननं तृष्णा हिक्का ज्वरो वैसंज्ञ्यमित्युपद्रवा भवन्ति; तमजासृक्चन्दनोशीराञ्ज-नलाजचूर्णैः सशर्करोदकैर्मन्थं पाययेत्, फलरसैर्वा सघृतक्षौद्रशर्करैः शुङ्गभिर्वा वटादीनां पेयां सिद्धां सक्षौद्रां वर्चोग्राहिभिर्वा, पयसा जाङ्गलरसेन वा भोजयेत्, अतिस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्; जिह्वा-मतिसर्पितां कटुकलवणचूर्णप्रघृष्टां तिलद्राक्षाप्रलिप्तां वाऽन्तः पीडयेत्, अन्तःप्रविष्टायामम्लमन्ये तस्य पुरस्तात् स्वादयेयुः, व्यावृत्ते चाक्षिणी घृताभ्यक्ते पीडयेत्, हनुसंहनने वातश्लेष्महरं नस्यं स्वेदांश्च विदध्यात्, तृष्णादिषु च यथास्वं प्रतिकुर्वीत, विसंज्ञे वेणुवीणागीतस्वनं श्रावयेत्॥ १२॥

जीवदान (Fresh-blood) **व्यापत्**—वमन के अतियोग में उपरोक्त लक्षणों के बढ़ जाने पर रोगी रक्तनिष्ठीवन (Haemoptysis) या रक्तवमन (Haematemesis) करता है। इसके अतिरिक्त जीभ का बाहर निकल आना (Protrusion of the tongue) या अन्दर चला जाना (Falling back), आँखों का फैल जाना या अन्दर चला जाना (Sinking of the eyeball), हनुसंहनन (स्तम्भ/अकड़ जाना/Lock-jaw) होना, प्यास, हिक्का, ज्वर, संज्ञानाश (Unconsciousness) आदि उपद्रव होते हैं। इस अवस्था के उपचार में बकरी का रक्त, चन्दन, खश, अञ्जन और धान की खीलों का चूर्ण, शर्करा और जल, इनसे तय्यार किया मन्थ पिलाना चाहिए या घृत, मधु, शर्करा के साथ फलरस दें अथवा वटादि के नवांकुरों से सिद्ध मधु युक्त पेया दें या विबन्धकर (वर्चोग्राहिभिः/Constipative effect) द्रव्यों से सिद्ध पेया दें। आहार के लिए दूध या जांगल प्राणियों का मांसरस भोजन के साथ देना चाहिए। रक्त अधिक निकल गया हो तो उसका उपचार उसी विधान से किया जाना चाहिए। ● यदि जीभ बाहर निकल आयी हो तो कटु (Pungent) और लवण (Saltish) द्रव्यों के चूर्ण से उसे रगड़ कर या तिल और द्राक्षा के कल्क का लेप कर पीडन करें (अन्तः प्रविष्ट करें)। जिह्वा के अन्तः प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त दूसरा व्यक्ति उसके सामने खट्टे पदार्थों का स्वाद ले अर्थात् खाये ('एतद्दर्शनात् मुखप्रसेकेन मृदुभूता जिह्वा यथास्थानमागच्छति'–ड.)। नेत्र फैले हुए हों तो उनमें घी लगाकर (यथास्थान लाने के लिए) पीड़न करें। हनु (जबड़ा) अकड़ गया हो तो वातश्लेष्महर नस्य तथा स्वेदन कराना चाहिए। तृष्णादि की चिकित्सा जैसी बतायी गयी है करनी चाहिए। अचेतनता में बाँसुरी, वीणा, गीत आदि सुनाने चाहिए॥ १२॥

विमर्श—मन्थ—'मन्थोऽपि फाण्टभेदः स्यात्तेन चात्रैव कथ्यते। जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत्। मृत्पात्रे मन्थयेत्सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत्'॥ (शा.)

विरेचनातियोगे च सचन्द्रकं सलिलमधः स्रवति, ततो मांसधावनप्रकाशमुत्तरकालं जीवशोणितं च, ततो गुदनिःसरणं वेपथुर्वमनातियोगोपद्रवाश्चास्य भवन्ति; तमपि निःस्रुतशोणितविधानेनोपचरेत्,

निःसर्पितगुदस्य गुदमभ्यज्य परिस्वेद्यान्तः पीडयेत्, क्षुद्ररोगचिकित्सितं वा वीक्षेत, वेपथौ वातव्याधिविधानं कुर्वीत, जिह्वानिःसरणादिषूक्तः प्रतीकारः, अतिप्रवृत्ते वा जीवशोणिते काश्मरीफलबदरीदूर्वोशीरैः शृतेन पयसा घृतमण्डाञ्जनयुक्तेन सुशीतेनास्थापयेत्, न्यग्रोधादिकषायेक्षुरसघृतशोणितसंसृष्टैश्चैनं बस्तिभिरुपाचरेत्, शोणितष्ठीवने रक्तपित्तरक्तातीसारक्रियाश्चास्य विदध्यात्, न्यग्रोधादिं चास्य विदध्यात् पानभोजनेषु॥ १३॥

विरेचनातियोग के लक्षण एवं चिकित्सा—विरेचन के अतियोग से रोगी चन्द्रक (मयूरपिच्छचन्द्रकाकारम्/Of shining colour/चमकीले रंग) युक्त पानी जैसे पतले दस्त करता है। उसके बाद मांस धुले जलसदृश तथा बाद में ताजा रुधिर आता है ('जीवशोणितं शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगाश्रयं रक्तम्')। तत्पश्चात् गुदा का बाहर निकल आना (Prolapse of the anus), वेपथु (कम्प/Tremors) और वमन के अतियोग से होने वाले उपद्रव होते हैं। ऐसे रोगी की—रक्त अधिक निकल गया हो तो—रक्तातिस्राव की चिकित्साविधि से चिकित्सा करनी चाहिए। गुदभ्रंश होने पर गुदा का अभ्यंग कर तथा स्वेदन कर अन्तः प्रविष्ट कर दें या क्षुद्ररोग प्रकरण में वर्णित गुदभ्रंश की चिकित्सा करें। कम्प की वातव्याधि में वर्णित विधि से चिकित्सा करें। जीभ के बाहर निकल आने का उपचार वर्णित किया जा चुका है। जीवशोणित के अधिक निकल जाने पर गम्भारी फल, बेर, दूर्बा और खश को दूध में पकाकर (क्वाथ कर) घृतमण्ड तथा अञ्जन (स्रोतोऽञ्जनम्) के साथ ठण्डा कर आस्थापन बस्ति देनी चाहिए। ऐसे रोगी को न्यग्रोधादि गण के क्वाथ, दूध, गन्ने का रस, घृत और रुधिर को मिलाकर तथा बस्तियाँ देकर उपचार करना चाहिए। रक्तनिष्ठीवन हो तो रक्तपित्त और रक्तातिसार की चिकित्सा करें। पीने के लिए तथा भोजन में न्यग्रोधादि गण की औषधियों का प्रयोग करना चाहिए॥ १३॥

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत्, यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यं; सभक्तं च शुने दद्याच्छक्तुसंमिश्रं वा, स यद्युपभुञ्जीत तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम्; अन्यथा रक्तपित्तमिति॥ १४॥

जीवशोणित की पहचान—जीवशोणित और रक्तपित्त के रुधिर में परस्पर अन्तर जानने के लिए रक्त में पिचु (अर्कतूलकम्/आक की रुई) या प्लोत (शुक्लवस्त्रखण्डम्) को भिगोकर गरम जल से धो दें। यदि रुधिर का निशान बना रहे तो जीवशोणित समझना चाहिए; या अन्न के टुकड़े में मिलाकर या शक्तु में मिला कर कुत्ते को दें। यदि कुत्ता इन्हें खा लेता है तो जीवशोणित समझना चाहिए अन्यथा यह रक्तपित्त है॥ १४॥

सशेषान्नेन बहुदोषेण रूक्षेणानिलप्रायकोष्ठेनानुष्णमस्निग्धं वा पीतमौषधमाध्मापयति, तत्रानिलमूत्रपुरीषसङ्गः समुन्नद्धोदरता पार्श्वभङ्गो गुदबस्तिनिस्तोदनं भक्तारुचिश्च भवति, तं चाध्मानमित्याचक्षते; तमुपस्वेद्यानाहवर्तिदीपनबस्तिक्रियाभिरुपचरेत्॥ १५॥

आध्मान व्यापत्—जिसका भुक्त अन्न पूरी तरह जीर्ण नहीं हुआ हो (सशेषान्न/रसशेषाजीर्ण से पीड़ित), जो बहुदोष युक्त हैं तथा जिसका कोष्ठ रूक्ष एवं वातबहुल है उसे शीतल एवं स्नेहरहित औषध पीने से आध्मान (Flatulence) हो जाता है। इससे वायु, मूत्र और मल रुक जाते हैं, पेट का आकार (Abdominal girth) बढ़ जाता है (आध्मान का कारण वमन हो तो आमाशय में, विरेचन हो तो पक्वाशय में समुन्नद्धोदरता होती है); पार्श्वों में पीड़ा, गुद एवं बस्ति में सूई के चुभने जैसी वेदना (निस्तोदन/Pricking pain) और खाने में अरुचि (भक्तारुचि/Aversion to food) होती है। इस दशा का नाम 'आध्मान' है। इसके उपचार में स्वेदन कर आनाहवर्ति (वर्ति/Suppository), दीपन द्रव्य और बस्तिक्रिया आदि किये जाने चाहिए॥ १५॥

विमर्श—**आनाह का लक्षण**—'साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम्'॥ (सु. २।१)

क्षामेणातिमृदुकोष्ठेन मन्दाग्निना रूक्षेण वाऽतितीक्ष्णोष्णातिलवणमतिरूक्षं वा पीतमौषधं पित्तानिलौ प्रदूष्य परिकर्तिकामापादयति, तत्र गुदनाभिमेढ्रबस्तिशिरःसु सदाहं परिकर्तनमनिलसङ्गो वायुविष्टम्भो भक्तारुचिश्च भवति; तत्र पिच्छाबस्तिर्यष्टीमधुककृष्णतिलकल्कमधुघृतयुक्तः, शीताम्बु-परिषिक्तं चैनं पयसा भुक्तवन्तं घृतमण्डेन यष्टीमधुकसिद्धेन तैलेन वाऽनुवासयेत्॥ १६॥

परिकर्तिका (Cutting pain in the anal region)—जब क्षीणबल, मृदुकोष्ठ, मन्दाग्नि वाला या रूक्ष प्रकृति का व्यक्ति अति तीक्ष्ण, अत्युष्ण, अतिलवण या अतिरूक्ष औषध का पान करता है तो उसके पित्त और वायु प्रदूषित हो जाते हैं जिससे 'परिकर्तिका' नामक व्यापत् होता है। इसमें गुद, नाभि, शिश्न और बस्तिशिर (Fundus of the bladder) में काटने की-सी वेदना, वायु का रुक जाना, वाताध्मान तथा भोजन में अरुचि होते हैं। इसके उपचार में मुलेठी, काले तिलों का कल्क, मधु और घृत के साथ पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। रोगी का शीतल जल से स्नान कराकर दूध से भोजन करायें। घृतमण्ड या मुलेठी के कल्क से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति (Oily enema) करनी चाहिए॥ १६॥

विमर्श—**परिकर्तिका**—'परि सर्वतोभावेन कृन्ततीव छिनत्तीव बस्त्यादीनि इति परिकर्तिका' (ड.)।

क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूतदोषस्य मृद्वौषधमवचारितं समुत्क्लिश्य दोषान्न निःशेषानपहरति, ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयन्ति, तत्र दौर्बल्योदरविष्टम्भारुचिगात्रसदनानि भवन्ति, सवेदनौ चास्य पित्तश्लेष्माणौ परिस्रवतः, तं परिस्रावमित्याचक्षते; तमजकर्णधवतिनिशपलाशबलाकषायैर्मधुसंयुक्तै-रास्थापयेत्, उपशान्तदोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत्॥ १७॥

परिस्राव (Anal discharge) **व्यापत्**—जब क्रूर कोष्ठ और अत्यधिक दोषों से युक्त व्यक्ति मृदु औषध का प्रयोग करता है तो दोष अधिक विकृत हो जाते हैं और औषध सम्पूर्ण दोषों को बाहर नहीं निकाल पाती। इससे दोष 'परिस्राव' उत्पन्न करते हैं जिससे दुर्बलता, उदर में आध्मान, भोजन में अरुचि, शरीर का दुःखना (व्याकुलता/Malaise) होते हैं। जब वेदनायुक्त पित्त-श्लेष्मा स्रवित होने लगते हैं तो यह अवस्था 'परिस्राव' कहलाती है। परिस्राव व्यापत् के उपचार में अजकर्ण ('अश्वकर्णः प्रसिद्धः पूर्वदेशे'—ड.; छागकर्णः); तिनिश (स्यन्दनः, सानन), ढाक तथा बला—इनके क्वाथ की मधु के साथ आस्थापन बस्ति देनी चाहिए। दोषों के शान्त हो जाने पर रोगी का स्नेहन करें और पुनः संशोधन देना चाहिए॥ १७॥

अतिरूक्षेऽतिस्निग्धे वा भेषजमवचारितमप्राप्तं वातवर्च उदीरयति, वेगाघातेन वा तदा प्रवाहिका भवति; तत्र सवातं सदाहं सशूलं गुरु पिच्छिलं श्वेतं कृष्णं सरक्तं वा भृशं प्रवाहमाणः कफमुपविशति; तां परिस्रावविधानेनोपचरेत्॥ १८॥

प्रवाहिका व्यापत्—अतिस्निग्ध या अतिरूक्ष (Dry constitution) व्यक्ति को दी गयी औषध वायु और मल के अनुपस्थित वेगों को प्रेरित कर अथवा वेगावरोध कर प्रवाहिका कर देती है। इसमें रोगी वायु के साथ दाह, शूल युक्त, गुरु, श्वेतवर्ण, घी की तरह पिच्छिल, काला या रक्तयुक्त कफ को अतिप्रवाहण (Straining) करता हुआ (अतिसार करता है) त्यागता है। इस (प्रवाहिका) की चिकित्सा परिस्राव नामक व्यापत् की तरह करनी चाहिए॥ १८॥

यस्तूर्ध्वमधो वा भेषजवेगं प्रवृत्तमज्ञत्वाद्विनिहन्ति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषाः, तत्र प्रधानमर्मसन्तापाद्वेदनाभिरत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् किटकिटायते, उद्गताक्षो जिह्वां खादति, प्रताम्यत्यचेताश्च भवति, तं परिवर्जयन्ति मूर्खाः; तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत्, यष्टिमधुकसिद्धेन

च तैलेनानुवासयेत्, शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्, ततो यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना छर्दयेत्, यथादोषोच्छ्रायेण चैनं बस्तिभिरुपाचरेत्॥ १९॥

हृदयोपसरण व्यापत्—ऊपर की ओर अथवा नीचे की ओर प्रवृत्त हुए औषध वेग को रोगी अज्ञानवश रोक लेता है तो प्रकुपित दोष हृदय में गमन करते हैं। वहाँ मर्मों में प्रधान हृदय के सन्ताप (विकार) ग्रस्त होने से रोगी वेदनाओं से अत्यन्त पीड़ित होता हुआ दाँतों को किटकिटाता (Gnashes his teeth) है, आँखें बाहर निकल आती हैं (Protruded), जीभ को काट लेता है, मूर्च्छित तथा संज्ञाहीन हो जाता है। अज्ञ (चिकित्सक) इसका परित्याग (मृत समझ कर) कर देते हैं। ऐसे रोगी का अभ्यंग कर धान्यस्वेद से स्वेदन करना चाहिए और मुलेठी से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। ऐसे रोगी को तीक्ष्ण शिरोविरेचन (Strong errhine therapy) दें, फिर मुलेठी के साथ तण्डुल जल से वमन करायें और दोषप्रकोप के अनुसार बस्तियों द्वारा उपचार करें॥ १९॥

विमर्श—'यष्टिमधुकमिश्रेण तण्डुलाम्बुना पित्तमूर्च्छार्ते छर्दयेत्। कफमूर्च्छायां तु कटुकद्रव्याणां क्वाथेन वामयेत्' (ड.)।

बस्तिभिरिति—'नैरूहिकैः स्नैहिकैश्च' (ड.)।

यस्तूर्ध्वमधो वा प्रवृत्तदोषः शीतागारमुदकमनिलमन्यद्वा सेवेत, तस्य दोषाः स्रोतःस्ववलीयमाना घनीभावमापन्ना वातमूत्रशकृद्ग्रहमापाद्य विबध्यन्ते, तस्याटोपो दाहो ज्वरो वेदनाश्च तीव्रा भवन्ति; तमाशु वामयित्वा प्राप्तकालां क्रियां कुर्वीत, अधोभागे त्वधोभागदोषहरद्रव्यं सैन्धवाम्लमूत्रसंसृष्टं विरेचनाय पाययेत्, आस्थापनमनुवासनं च यथादोषं विदध्यात्, यथादोषमाहारक्रमं च; उभयतोभागे तूपद्रवविशेषान् यथास्वं प्रतिकुर्वीत॥ २०॥

विबन्ध (Constipation) **व्यापत्**—जिसके दोष ऊर्ध्व या अधोमार्ग से प्रवृत्त हो रहे हों और वह ठण्डे मकान, ठण्डा जल या ठण्डी वायु अथवा इसी तरह की अन्य किसी वस्तु का सेवन करता है तो उसके दोष स्रोतों में जाकर गाढ़े (घनीभूत/Condensed) हो जाते हैं और वात-मूत्र-पुरीष को अवरुद्ध कर विबन्ध कर देते हैं। इससे तीव्र आटोप (Borborygmi), दाह, ज्वर और वेदना होते हैं। ऐसी अवस्था में शीघ्र वमन कराकर समयानुसार चिकित्सा करें। यदि अधोभाग में अवरोध उत्पन्न हुआ हो तो अधोभाग दोषहर द्रव्यों को सेंधानमक, अम्ल पदार्थ और गोमूत्र मिलाकर विरेचनार्थ पान करायें और दोषानुसार आस्थापन, अनुवासन बस्तियों का भी प्रयोग करें। आहारक्रम ('यूषक्षीररसाद्याहारम्') की व्यवस्था भी दोषानुसार करनी चाहिए। दोनों (ऊर्ध्व-अधो) भागों में जैसे उपद्रव हों उनका उपचार उसी के अनुसार करना चाहिए॥ २०॥

विमर्श—आटोप—'चल चलनमि'ति गयदासः; 'गुडगुडाशब्दः' इति कार्तिकः।

या तु विरेचने गुदपरिकर्तिका तद्वमने कण्ठक्षणनं, यदधः परिस्रवणं स ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः, या त्वधः प्रवाहिका सा तूर्ध्वं शुष्कोद्गारा इति॥ २१॥

दोषहरण में व्यापत्—जिस प्रकार विरेचन कराने में गुदपरिकर्तिका (Cutting pain in the anal region) होती है उसी तरह वमन में कण्ठक्षणन (Burning sensation in the throat) होता है; इसी तरह जैसे अधोभागहरण में परिस्रवण व्यापत् है तो ऊर्ध्वभागहरण में श्लेष्मप्रसेक होता है; अधोभागहरण में प्रवाहिका विकार होता है तो ऊर्ध्वभागहरण में शुष्कोद्गार (Dry eructations) होते हैं॥२१॥

भवति चात्र—

यास्त्वेता व्यापदः प्रोक्ता दश पञ्च च तत्त्वतः। एता विरेकातियोगदुर्योगायोगजाः स्मृताः॥ २२॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने वमनविरेचनव्यापच्चिकित्सितं नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३४॥

श्लोक भी है—ये जो पन्द्रह प्रकार के 'वमनविरेचनव्यापत्' वर्णित किये गये हैं ये वमन-विरेचन के अतियोग, दुर्योग और अयोग के कारण होते हैं॥ २२॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'वमनविरेचन-व्यापच्चिकित्सा' नामक चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३४॥



अध्याय-सारांश

'वमनविरेचनव्यापत्' नामक इस अध्याय के आरम्भ में इनकी (वमन-विरेचन की) पन्द्रह प्रकार की व्यापत्तियों को गिनाकर वमन का विशेष उपद्रव अधोगमन और विरेचन का विशेष उपद्रव ऊर्ध्वगमन है। शेष चौदह उपद्रव दोनों के सामान्य उपद्रव हैं। शेष अध्याय में इन पन्द्रह प्रकार के उपद्रवों की परिभाषा, किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? इनके विशिष्ट लक्षण और चिकित्सा का भी वर्णन किया गया है। अन्त में इन सब व्यापत्तियों के संक्षेप में कारण गिनाये हैं।



पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितम्' (Specifications of the Enema Treatment and the Nozzles) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—डल्हण ने इस अध्याय के नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'बस्तिः एणादी(हरिणा)नां मूत्राधारः (मूत्राशयः/Urinary bladder), तदाधेयं द्रव्यमपि, तयोः प्रमाणं प्रविभागश्च स एव चिकित्सितं व्याधेः प्रतीकारः अस्मिन् तत्'।

तत्र स्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः। कस्मात्? अनेककर्मकरत्वाद्बस्तेः; इह खलु बस्तिर्नानाविधद्रव्यसंयोगाद्दोषाणां संशोधनसंशमनसंग्रहणानि करोति, क्षीणशुक्रं वाजीकरोति, कृशं बृंहयति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, वलीपलितमपहन्ति, वयः स्थापयति ॥ ३ ॥

बस्तिचिकित्सा का महत्त्व—स्नेहन (Oleation) कर्मों में बस्तिकर्म को आचार्यों (Preceptors) ने प्रधानतम बताया है ('बस्तिकर्म मूत्रधारपुटकेन साध्यं कर्म, वमन-विरेचने तु प्रधानतरे बस्तिकर्म तु प्रधानतमम्')। क्यों? इसलिए कि बस्ति अनेक कार्य सम्पन्न करती है। प्रस्तुत प्रसंग में बस्ति—१. नाना प्रकार के द्रव्यों के संयोग से दोषों का संशोधन (Elimination), संशमन (Alleviation) और संग्रहण (दोषों को उनके अपने स्थान पर स्थापित करना) करती है। २. क्षीणयुक्त (Deficient semen वाले) व्यक्ति को 'वाजीकरोति' अर्थात् मैथुन शक्ति (Sexual potency) प्रदान करती है ('तच्चाश्व इव बलकारिणी हर्षजा शक्तिः')। ३. कृश (दुर्बल/Emaciated person) व्यक्ति को पुष्ट बनाती है। ४. स्थूल (मोटे) व्यक्ति के मोटापे को कम करती है। ५. नेत्रों को पोषण (Nourishment) प्रदान करती है। ६. वली (Wrinkles) और पलित (Greying of hair) नहीं होने देती या नष्ट करती है। ७. आयु की स्थापना (आयु में वृद्धि/Expectancy of life) करती है ॥ ३ ॥

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥ ४ ॥

बस्ति के गुण—बस्ति का भली प्रकार उपयोग करने पर यह शरीरोपचय (शरीर को पुष्ट) करती है, वर्ण (Good complexion), बल, आरोग्य (Health) और आयु की वृद्धि करती है ॥ ४ ॥

तथा ज्वरातीसारतिमिरप्रतिश्यायशिरोरोगाधिमन्थार्दिताक्षेपकपक्षाघातैकाङ्गसर्वाङ्गरोगाध्मानोदरयोनिशूलशर्कराशूलवृद्ध्युपदंशानाहमूत्रकृच्छ्रगुल्मवातशोणितवातमूत्रपुरीषोदावर्तशुक्रार्तवस्तन्यनाशहृद्धनुमन्याग्रहशर्कराश्मरीमूढगर्भप्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते ॥ ५ ॥

बस्तिसाध्य रोग—बस्ति निम्नलिखित रोगों में अति विशेष रूप से प्रयुक्त होती हैं—ज्वर, अतिसार, तिमिर (Errors of refraction), प्रतिष्याय, शिरोरोग, अधिमन्थ, आर्दित (Facial paralysis), आक्षेपक (Convulsions), पक्षाघात (Hemiplegia), एकाङ्गरोग (Monoplegia), सर्वाङ्गरोग (Quadriplegia), आध्मान (Tympanitis), उदररोग, योनिशूल, शर्करा (Passing of gravels), शूल (Colics), वृद्धि (Inguino-scrotal swellings), उपदंश (Venereal disases), आनाह (Flatulence), मूत्रकृच्छ्र (Difficulty in micturition), गुल्म, वातशोणित (Gout), मूत्र एवं पुरीष सम्बन्धी विकार, उदावर्त, शुक्रनाश, आर्तवनाश (Loss of menstrual fluid), स्तन्य (Lactation)

नाश, हृद्ग्रह (Constricting sensation in the heart), हनुग्रह (Stiffness of the jaw), मन्या (Neck) ग्रह, शर्करा, अश्मरी, मूढ़गर्भ (Malpresentations of the foetus) आदि ॥ ५ ॥

भवति चात्र—

बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते। संसर्गे सन्निपाते च बस्तिरेव हितः सदा ॥ ६ ॥

वातादि दोषों में बस्ति का महत्त्व—वात, पित्त, कफ, रक्त, संसर्ग (दोषद्वयप्रकोपः) और सन्निपात ('प्रकृतिसमसमवेतज्वराद्यारम्भकदोषत्रयप्रकोपः सन्निपातोऽत्राभिप्रेतः'–ड.) में केवल बस्ति ही सदा हितकर होती है ॥ ६ ॥

तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशाङ्गुलप्रमाणानि कनिष्ठिकानामिकामध्यमाङ्गुलिपरिणाहान्यग्रेऽध्यर्धाङ्गुलद्व्यङ्गुलार्धतृतीयाङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकानि कङ्कश्येनबर्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि मुद्गमाषकलायमात्रस्रोतांसि विदध्यान्नेत्राणि। तेषु चास्थापनद्रव्यप्रमाणमातुरहस्तसम्मितेन प्रसृतेन सम्मितौ प्रसृतौ द्वौ चत्वारोऽष्टौ च विधेयाः ॥ ७ ॥

नेत्रप्रमाण और आस्थापन द्रव्यप्रमाण का वर्णन—एक, आठ और सोलह वर्ष की आयु वालों के लिए नेत्रबस्ति (Enema pipe) की लम्बाई क्रमश छः, आठ और दस अँगुल होनी चाहिए। इसका परिणाह (Thickness) कनिष्ठिका (Little finger), अनामिका (Ring finger) और मध्यमा (Middle) अंगुली के समान होना चाहिए। कर्णिका ('छत्रा = चक्राकारगुदत्रिकान्तःप्रवेशरोधिनी कर्णिका कथ्यते') अन्त से पहले (From the terminal end) डेढ़, दो और साढ़े तीन अंगुल की दूरी पर होनी चाहिए। इसका प्रवेश भाग कंक ('वक्रचक्षुः कृष्णवर्णः प्रसिद्ध एव'), श्येन (बाज) और मोर की पक्षनाड़ी के समान और अन्दर का खोखला भाग इतना बड़ा हो कि उसमें से मूँग, उड़द और मटर का दाना निकल सके। उपरोक्त वर्णित आयु वाले व्यक्तियों में प्रयुक्त आस्थापन द्रव्य का प्रमाण रोगी की दो, चार तथा आठ अंजलि क्रमशः होना चाहिए ('प्रसृतोऽत्र कुञ्चिताङ्गुलिः पाणिः'–ड.) ॥ ७ ॥

विमर्श—

नेत्र और आस्थापन द्रव्य

नेत्र प्रमाण						आस्थापनद्रव्य
आयु	लम्बाई (अँगुलों में)	मोटाई (अंगुलियों से)	कर्णिका की दूरी	प्रवेशद्वार	अग्रच्छिद्र	प्रमाण (अंजलियों में)
१ वर्ष	६ अंगुल	कनिष्ठिका	१$\frac{१}{२}$ अंगुल	कंक पक्ष सदृश	मुद्गबीज	२ अंजलि
८ वर्ष	८ अंगुल	अनामिका	२ अंगुल	श्येन पक्ष सदृश	माषबीज	४ अंजलि
१६ वर्ष	१० अंगुल	मध्यमा	३$\frac{१}{२}$ अंगुल	मोर पक्ष सदृश	मटरबीज	८ अंजलि

नेत्र—'नीयतेऽनेनेति नेत्रं बस्तेर्नलिका यया चौषधं नीयते तन्नेत्रमित्यर्थः'। **प्रसृत**—प्रसृत से यहाँ अभिप्राय अंजलि से है; 'प्रसृताभ्यामञ्जलिः स्यात्' से नहीं ('न तु पलद्वयमि'ति गयदासः)।

वर्षान्तरेषु नेत्राणां बस्तिमानस्य चैव हि। वयोबलशरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेद्विधिम् ॥ ८ ॥

उपरोक्त वर्णित आयु से अधिक आयु वालों के लिए (वर्षोत्तरेषु) नेत्रप्रमाण और बस्तिप्रमाण (Measurements) रोगी की आयु, बल तथा शरीर का विचार कर बढ़ाया जाता है ॥ ८ ॥

पञ्चविंशतेरूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलं, मूलेऽङ्गुष्ठोदरपरीणाहम्, अग्रे कनिष्ठिकोदरपरीणाहम्, अग्रे त्र्यङ्गुलसन्निविष्टकर्णिकं, गृध्रपक्षनाडीतुल्यप्रवेशं, कोलास्थिमात्रछिद्रं, क्लिन्नकलायमात्र-

छिद्रमित्येके; सर्वाणि मूले बस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि। आस्थापनद्रव्यप्रमाणं तु विहितं द्वादशप्रसृताः। सप्ततेस्तूर्ध्वं नेत्रप्रमाणमेतदेव, द्रव्यप्रमाणं तु द्विरष्टवर्षवत्॥ ९॥

बस्तिनेत्र का परिणाहादि—पच्चीस वर्ष से अधिक आयु वालों के लिए नेत्र की लम्बाई (Length) बारह अंगुल, मूल में परिणाह अंगुष्ठोदर के बराबर (परिणाह = मोटापन/Thickness), अग्रभाग का परिणाह कनिष्ठिकोदर (Little finger) के बराबर, आगे, अन्त (End) से पहले तीन अंगुल की दूरी पर कर्णिका होनी चाहिए। प्रवेशद्वार (Aperture) इतना हो कि उसमें गृध्रपक्षनाड़ी प्रवेश पा सके। अग्रभाग का छिद्र बेर की गुठली के बराबर या एकीय मत से भीगे हुए मटर के दाने के बराबर होना चाहिए। सभी नेत्रों के मूल में बस्ति को बाँधने के लिए दो कर्णिकाएँ होनी चाहिए। आस्थापन द्रव्य का प्रमाण बारह प्रसृत बताया गया है। सत्तर वर्ष से अधिक की आयु वालों के लिए नेत्रप्रमाण तो यही रहता है पर द्रव्यप्रमाण सोलह वर्ष वालों जितना होना चाहिए॥ ९॥

विमर्श—पञ्चविंशतेरूर्ध्वम्—

नेत्र और द्रव प्रमाण

नेत्रप्रमाण						द्रवप्रमाण
आयु	लम्बाई	मूल में परिणाह	कर्णिका की दूरी	प्रवेशद्वार	अग्रच्छिद्र	
पच्चीस वर्ष से अधिक	बारह अंगुल	अंगुष्ठोदर प्रमाण	तीन अंगुल	गृध्रपक्ष नाड़ी तुल्य	कोलास्थि के बराबर	बारह प्रसृत सत्तर वर्ष के बाद सोलह वर्ष जितनी

मृदुर्बस्तिः प्रयोक्तव्यो विशेषाद्बालवृद्धयोः। तयोस्तीक्ष्णः प्रयुक्तस्तु बस्तिर्हिंस्याद् बलायुषी॥

बाल-वृद्धों में मृदुबस्ति—बाल और वृद्ध व्यक्ति में मृदुबस्ति (मृदुद्रव्यकृतो बस्तिः) प्रयुक्त करनी चाहिए। इनमें प्रयुक्त तीव्र द्रव्यकृत बस्ति बल और आयु दोनों को नष्ट करती है॥ १०॥

(व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं मुद्गवाहिस्रोतः; व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेहकषाये विदधीत॥)

व्रणनेत्र की लम्बाई और स्रोत—व्रणनेत्र (Pipe used for irrigation of ulcers) की लम्बाई आठ अंगुल और स्रोत (Aperture) इतना बड़ा हो कि उसमें से मूँग का दाना आसानी से निकल सके।

तत्र नेत्राणि सुवर्णरजतताम्रायोरीतिदन्तशृङ्गमणितरुसारमयानि श्लक्ष्णानि दृढानि गोपुच्छाकृतीन्यृजूनि गुटिकामुखानि च॥ ११॥

बस्तिनेत्र के द्रव्य और आकार—बस्तिनेत्र (Pipe) सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पित्तल, दाँत, सींग, मणि (Jewels) और सारयुक्त लकड़ी के बनाये जाते हैं। ये श्लक्ष्ण (चिकने/Smooth), दृढ (मजबूत), गोपुच्छ की आकृति (Tapering like the tail of a cow) के तथा ऋजु (सीधे/Straight) होने चाहिए। इनके अग्रभाग (Terminal end) गोल (अतीक्ष्णाग्राणि) होने चाहिए॥ ११॥

विमर्श—चरकसंहिता, जो सुश्रुत से बाद की रचना है, में कुछ अन्य द्रव्य जैसे—राँगा, काँसा, अस्थि आदि से बस्तिनेत्र तय्यार करने की सलाह दी गयी है ('सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुम-वेणुदन्तैः'–च.सि. ३।७)।

बस्तयश्च बन्ध्या मृदवो नातिबहला दृढाः प्रमाणवन्तो गोमहिषवराहाजोरभ्राणाम्॥ १२॥
नेत्रालाभे हिता नाड़ी नलवंशास्थिसम्भवा। बस्त्यलाभे हितं चर्म सूक्ष्मं वा तान्तवं घनम्॥ १३॥

बस्तिद्रव्य (The enema bag)—बस्तिनिर्माण के लिए बाँझ (Barren) गाय, भैंस, सूअरी, बकरी और भेड़—इनकी बस्तियाँ (जो बूढ़े प्राणियों की न हों) मृदु (नरम) हों तथा नातिबहला अर्थात् बहुत मोटी (Thick) न हो, दृढ और शास्त्रोक्त प्रमाण की (Of a proper size) हो लेनी चाहिए॥ १२॥

नेत्र के अभाव में नल, बाँस, अस्थि की बनी नाड़ी भी हितकर होती है। इसी प्रकार बस्ति के अभाव में चर्म या सूक्ष्म, घने वस्त्र की बनी बस्ति भी हितकारी है॥ १३॥

विमर्श—भावमिश्र का भी कहना है कि बस्ति के अभाव में चमड़े की बनी बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ('तदलाभे तु चर्मणः')। चरक भी ऐसी स्थिति में चर्म या गाढ़े वस्त्र से बस्ति तय्यार करने को कहते हैं ('स्यादाङ्गपादः सुघनः पटो वा'–सि. ३।११)।

बस्तिं निरुपदिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम्। मृद्वनुद्धतहीनं च मुहुः स्नेहविमर्दितम्॥ १४॥
नेत्रमूले प्रतिष्ठाप्य न्युब्जं तु विवृताननम्। बद्ध्वा लोहेन तप्तेन चर्म स्रोतसि निर्दहेत्॥ १५॥
परिवर्त्य ततो बस्तिं बद्ध्वा गुप्तं निधापयेत्। आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत्॥ १६॥

ग्राह्यबस्ति, परिकर्म, बन्धन-विधि—जो बस्ति (Urinary bladder of animals), निरुपदिग्ध अर्थात् मांसादि से रहित (Free from fibromuscular attachments) हो, शुद्ध (कषायरञ्जितम्/Properly tanned), सुपरिमार्जित (Well cleaned/अच्छी तरह साफ की हुई), मृदु (Tender), अनुद्धतहीन अर्थात् न बहुत बड़ी न बहुत छोटी हो और जिसका स्नेह लगाकर कई बार मर्दन किया गया हो, उसको नेत्र के मूल में लगाकर, कुछ नीचे की ओर झुकाकर तथा उसका मुख खुला छोड़कर बाँध देना चाहिए। तदनन्तर गरम लोह (शलाका) से बस्तिमुख (चर्मस्रोतसि/Site of the aperture) को जला देना चाहिए। फिर बस्ति को पलटकर तथा बाँध कर सुरक्षित रख लें। आस्थापन, तैल आदि की बस्ति देने के लिए इस यन्त्र को प्रयोग में लाना चाहिए॥ १४-१६॥

विमर्श—इन श्लोकों में बस्तियन्त्र को तय्यार करने की विधि का उल्लेख है। एतदर्थ महिषादि के मूत्राशय, चर्म या गाढ़ा कपड़ा लेकर, पुटक बनाकर, पलटकर, बस्तिनेत्र के मूल की दो कर्णिकाओं के मध्य रखकर दृढ़ता से बाँध देते हैं। फिर संयोगस्थल का लोहशलाका से दहन कर देते हैं। फिर पुटक को पलटकर तथा कर्णिका के समीप पुनः कसकर बाँध देते हैं। इस प्रकार बस्तियन्त्र तय्यार किया जाता है।

तत्र द्विविधो बस्तिः—नैरूहिकः, स्नैहिकश्च। आस्थापनं, निरूह इत्यनर्थान्तरम्; तस्य विकल्पो माधुतैलिकः; तस्य पर्यायशब्दो यापनो, युक्तरथः, सिद्धबस्तिरिति। स दोषनिर्हरणाच्छरीरनीरोहणाद्वा निरूहः, वयःस्थापनादायुःस्थापनाद्वा आस्थापनम्। माधुतैलिकविधानं च निरूहोपक्रमचिकित्सिते वक्ष्यामः। यथाप्रमाणगुणविहितः स्नेहबस्तिविकल्पोऽनुवासनः पादाव(प)कृष्टः। अनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः। तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिरिति॥ १७॥

कार्य की दृष्टि से बस्तिभेद—बस्ति दो प्रकार की होती है—१. नैरूहिक (Medicated non-oily) और २. स्नैहिक (Medicated oily)। आस्थापन तथा निरूह समानार्थक हैं। माधुतैलिक निरूह का ही भेद है। इसी के (माधुतैलिक के) पर्याय हैं—यापन, युक्तरथ और सिद्धबस्ति। शरीर से दोषों का हरण (Elimination) करने और शरीर को पुष्ट करने के कारण 'निरूह' कहलाती है और वय (अवस्था या Youth) बनाये रखने या आयु (Longevity) को बढ़ाने के कारण 'आस्थापन' कहलाती है। माधुतैलिक विधान का वर्णन निरूहोपक्रमचिकित्सा (चि. ३८) में किया जायेगा।

अनुवासन बस्ति—अनुवासनबस्ति स्नेहबस्ति का ही भेद है। इसके प्रमाण (Proper dose) और गुणों (Properties) का वर्णन कर दिया है। इसमें निरूहबस्ति से चतुर्थांश द्रव्य का ग्रहण करना चाहिए

(पादावकृष्टः—पादैस्त्रिभिरवकृष्टः हीनः पादावकृष्टः/One-fourth of the *Nirūhaṇa basti*)। शरीर में टिके रहने पर भी जो हानि न पहुँचाये अथवा जो प्रतिदिन दी जाती है, अतः इसको 'अनुवासन' कहते हैं। मात्राबस्ति अनुवासन का ही भेद है जिसमें द्रव्यों की मात्रा स्नेहबस्ति से चतुर्थांश होती है, अपथ्यत्याग सम्बन्धी नियम नहीं (अपरिहार्यः) होते हैं।। १७।।

विमर्श—पादावकृष्टः—निरूहणबस्ति में द्रव्य की मात्रा एक, चार और आठ वर्ष की आयु वालों के लिए क्रमशः दो, चार और आठ प्रसृत होती है। पच्चीस वर्ष के बाद यह मात्रा बारह प्रसृत होती है। किन्तु अनुवासन बस्ति में द्रव्य की मात्रा निरूहण मात्रा की चतुर्थांश बतायी गयी है (अयमर्थः—'सांवत्सरिककालापेक्षया द्विप्रसृतादि चतुर्विंशतिपलावसानं निरूहप्रमाणे, तच्चतुर्थांशेन पलमारभ्य षड्पलानि यावत् अनुवासनस्य प्रमाणमिति')।

निरूहः शोधनो लेखी स्नैहिको बृंहणो मतः।

निरूह बस्ति (शोधन द्रव्यों के कारण) शोधन करती है और लेखन कर्म भी। स्नेहन बस्तियों द्वारा शरीर की पुष्टि होती है (Growth promoting effects)।

निरूहशोधितान्मार्गान् सम्यक् स्नेहोऽनुगच्छति।। १८।।
अपेतसर्वदोषासु नाडीष्विव वहज्जलम्। सर्वदोषहरश्चासौ शरीरस्य च जीवनः।। १९।।
तस्माद्विशुद्धदेहस्य स्नेहबस्तिर्विधीयते।। २०।।

बस्तियों की कार्यविधि (Mode of action)—निरूहण बस्तियों द्वारा स्रोतोमार्गों के शुद्ध हो जाने तथा सभी दोषों के निवारण से शरीर में स्नेहन की गति उसी प्रकार अच्छी तरह सम्पन्न होती है जिस प्रकार बाधारहित नाली में जल का प्रवाह होता है। स्नेहबस्ति सर्वदोषहर और जीवन (Promotes vitality) है। अतः निरूह बस्तियों द्वारा शुद्धदेह व्यक्ति को स्नेहबस्ति देने का विधान है।। १८-२०।।

तत्रोन्मादभयशोकपिपासारोचकाजीर्णार्शःपाण्डुरोगभ्रममदमूर्च्छाच्छर्दिकुष्ठमेहोदरस्थौल्य-श्वासकासकण्ठशोषशोफोपसृष्टक्षतक्षीणचतुस्त्रिमासगर्भिणीदुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धौ च वातरोगादृते क्षीणा नानुवास्या नास्थापयितव्याः।। २१।।

बस्ति-चिकित्सा का निषेध (Contraindication)—स्नेहन (Oily) और आस्थापन (Non-oily) बस्तियाँ (Enemata) उन व्यक्तियों में नहीं देनी चाहिए जो निम्नलिखित रोगों से ग्रस्त होते हैं—उन्माद (Psychosis), भय (Phobias), शोक (Grief), प्यास, अरोचक (Aversion to food), अजीर्ण, अर्श, पाण्डुरोग (Anaemia), भ्रम (Vertigo), मद (Intoxication), मूर्च्छा (Unconsciouness), वमन, कुष्ठ (Skin diseases), प्रमेह (Abnormal urinary discharges), उदर, स्थौल्य (Obesity), श्वास (Dyspnoea), कास, कण्ठशोष, शोफ (Oedema), क्षत (क्षतोरस्कः) और क्षीण (कृशः/Consumptive pulmonary lesions), तीन-चार मास की गर्भावस्था (वाग्भट में सात मास तक की गर्भावस्था का उल्लेख है—'मासात् सप्त च गर्भिणी'), जिनकी जठराग्नि दुर्बल है, जो बस्तिचिकित्सा को सहन नहीं कर सकते; बाल, वृद्ध और वातदोष के अतिरिक्त अन्य कारणों से क्षीण व्यक्ति।। २१।।

उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः। अवश्यं स्थापनीयाश्च नानुवास्याः कथञ्चन।। २२।।

अनुवासन बस्तियों का निषेध—उदररोगपीड़ित, प्रमेहग्रस्त, कुष्ठी और स्थूल व्यक्ति—ये अवश्य आस्थापन बस्तियों के योग्य हैं, किन्तु इनमें कभी भी अनुवासन बस्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।। २२।।

विमर्श—उदररोग में वाग्भट—'सुविरिक्तस्य यस्य स्यात् आध्मानं पुनरेव तम्। सुस्निग्धैरम्ललवणैः निरूहैः समुपाचरेत्'।।

असाध्यता विकाराणां स्यादेषामनुवासनात्। असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठं गात्राणां सदनं भवेत्॥

निषिद्धाचरण से हानि—उदरी आदि में अनुवासन करने से उनके रोग असाध्य हो जाते हैं। यदि ये रोग असाध्य हों तो अनुवासन से शारीरिक दौर्बल्य (गात्रसदनम् = अङ्गग्लानिः) अत्यधिक हो जाता है॥ २३॥

पक्वाशये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सर्वतः। सम्यक्प्रणिहितो बस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति॥

सम्यक् प्रयुक्त बस्ति का प्रभाव (Effects)—भली प्रकार प्रयुक्त की गयी बस्ति पक्वाशय (Large intestines), श्रोणी (Pelvis) प्रदेश और नाभि से अधोभाग में से सर्वत्र स्थिर (टिकी) रहती है॥ २४॥

पक्वाशयाद्बस्तिवीर्यं खैर्देहमनुसर्पति। वृक्षमूले निषिक्तानामपां वीर्यमिव द्रुमम्॥ २५॥

बस्ति का शरीर पर प्रभाव—बस्ति का प्रभाव पक्वाशय से स्रोतों में से होता हुआ सारे शरीर में उसी प्रकार फैल जाता है, जिस प्रकार मूल में डाले गये जल का प्रभाव सारे वृक्ष में फैल जाता है॥ २५॥

स चापि सहसा बस्तिः केवलः समलोऽपि वा। प्रत्येति वीर्यं त्वनिलैरपानाद्यैर्विनीयते॥ २६॥

बस्ति के गुणों का शरीर में फैलना—वह बस्ति अकेले अथवा मल के साथ सहसा शरीर से बाहर निकल जाती है। किन्तु उसका स्नेहादि गुण (वीर्यम्) अपान, उदान आदि प्रकार की वायु द्वारा सारे शरीर में ले जाया जाता है॥ २६॥

वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्(न्)। पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव॥ २७॥

बस्ति द्वारा दोषहरण—पक्वाशय में स्थित बस्ति शिर से लेकर पैरों तक के दोषों का आहरण उसी प्रकार करने में समर्थ होती है जिस प्रकार सूर्य आकाश में रह कर सम्पूर्ण पृथ्वी के रसों का आहरण कर लेता है॥ २७॥

स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य सञ्चयान्। उत्खातमूलान् हरति दोषाणां साधुयोजितः॥

बस्ति द्वारा दोषों को बाहर निकालना—भली प्रकार प्रयुक्त की गयी बस्ति अपने प्रभाव से कटि (Waist), पृष्ठ (Back) और कोष्ठ (Abdomen) में स्थित दोषों का आलोडन कर (Dislodges) उन्हें समूल उखाड़ कर शरीर से बाहर कर देती है॥ २८॥

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः। तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः॥ २९॥
वायोर्विहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋते क्रिया। पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः॥ ३०॥

वातवेगों को बस्ति ही रोकती है—दोषत्रय के प्रकोप में वायु ही सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न (ईश्वर) है। अतः उसके अधिक बढ़ते हुए तथा शरीर को नष्ट करते हुए वेग को सहन करने की शक्ति बस्ति के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं है; जैसे—समुद्र में वायु के कारण अत्युग्र जल के वेग को केवल किनारा (वेला, कूलमर्यादा/Seashores) ही सहन कर पाता है॥ २९-३०॥

शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः॥ ३१॥

सम्यक् प्रयुक्त बस्ति के लाभ—भली प्रकार प्रयुक्त बस्ति शरीर को पुष्टि (Nourishment), वर्ण (Complexion), बल, आरोग्य (Good health) और आयु (Longevity) की वृद्धि प्रदान करती है॥ ३१॥

अत ऊर्ध्वं व्यापदो वक्ष्यामः। तत्र नेत्रं विचलितं, विवर्तितं, पार्श्वावपीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः; अतिस्थूलं, कर्कशम्, अवनतम्, अणुभिन्नं, सन्निकृष्टविप्रकृष्टकर्णिकं, सूक्ष्मातिच्छिद्रम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अस्रिमदित्येकादश नेत्रदोषाः; बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता, दुर्बद्धतेति पञ्च बस्तिदोषाः; अतिपीडितता, शिथिलपीडितता, भूयो भूयोऽवपीडनं, कालातिक्रम इति चत्वारः पीडनदोषाः; आमता, हीनता, अतिमात्रता,

अतिशीतता, अत्युष्णता, अतितीक्ष्णता, अतिमृदुता, अतिस्निग्धता, अतिरूक्षता, अतिसान्द्रता, अतिद्रवता, इत्येकादश द्रव्यदोषाः; अवाक्शीर्षोच्छीर्षन्युब्जोत्तानसङ्कुचितदेहस्थितदक्षिणपार्श्वशायिनः प्रदानमिति सप्त शय्यादोषाः; एवमेताश्चतुश्चत्वारिंशद्व्यापदो वैद्यनिमित्ताः। आतुरनिमित्ताः पञ्चदश आतुरोपद्रवचिकित्सिते वक्ष्यन्ते। स्नेहस्त्वष्टभिः कारणैः प्रतिहतो न प्रत्यागच्छति त्रिभिर्दोषैः, अशनाभिभूतो, मलव्यामिश्रो, दूरानुप्रविष्टो, अस्विन्नस्य, अनुष्णो, अल्पम्भुक्तवतो, अल्पश्चेति वैद्यातुरनिमित्ता भवन्ति। अयोगस्तूभयोः, आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणम्, अङ्गप्रग्रहो, अतियोगो, जीवादानमिति नव व्यापदो वैद्यनिमित्ता भवन्ति॥ ३२॥

अब इसके बाद बस्तिचिकित्सा के व्यापत् (Pitfalls) का वर्णन किया जायेगा—

(१) छः नेत्रप्रणिधान दोष (Improper application of the enema pipe)—१. नेत्र का विचलित होना (हिल जाना/Shaking of the pipe), २. विवर्तित (विशेषेण मोटितम्/पलट जाना/Turning it upside down), ३. पार्श्वावपीड़ित (किसी पार्श्व में चले जाना/Pressing on the side), ४. अत्युत्क्षिप्त (ऊपर की ओर अधिक जाना/Pressing upwards), ५. अवसन्न (अधोभागगतिकम्/Pressing downwards), ६. तिर्यक्क्षिप्त (Pressing in an oblique direction)। ये छः नेत्रप्रणिधान दोष हैं।

(२) ग्यारह नेत्रदोष (Defects of the enema pipe)—१. अतिस्थूल (Very thick), २. कर्कश (Rough), ३. अवनत (नीचे की ओर झुकना/Bent downwards), ४. अणुभिन्न (छोटी-छोटी दरारें होना/Having minute cracks), ५. सन्निकृष्टकर्णिक (समीप में कर्णिका), ६. विप्रकृष्ट (दूर) कर्णिका, ७. सूक्ष्मच्छिद्र, ८. अतिच्छिद, ९. अतिदीर्घ (लम्बाई में अधिक), १०. अतिह्रस्व (बहुत छोटा) और ११. अस्रिमत् (किनारों से युक्त)। ये ग्यारह नेत्रदोष हैं।

(३) पाँच बस्ति (Enema bag) **के दोष**—१. बहुलता (मांसोपचितत्वम्/Lot of muscular tissue), २. अल्पता (बहुत छोटी), ३. सच्छिद्रता (Having pores), ४. प्रस्तीर्णता (स्नायु/Fibrous tissue जालयुक्त) और ५. दुर्बद्धता (अच्छी तरह से बन्धी न होना)। ये पाँच बस्तिदोष हैं।

(४) चार पीडनदोष (Defective squeezing)—१. अतिपीड़न, २. शिथिल पीड़न, ३. बार-बार पीड़न और ४. विलम्बित (कालातिक्रम) पीड़न। ये चार बस्तिपीडन दोष हैं।

(५) ग्यारह द्रव्यदोष (Bad qualities)—१. आमता (आमः/अपक्वस्नेहः/Uncooked), २. हीनता (Under dosage), ३. अतिमात्रता (Over dosage), ४. अतिशीतता (Too cold), ५. अत्युष्णता (Too hot), ६. अतितीक्ष्णता (Too strong), ७. अतिमृदुता (Very mild), ८. अतिस्निग्धता (Excessively oily), ९. अतिरूक्षता (Too dry), १०. अतिसान्द्रता (Too thick) तथा ११. अतिद्रवता (Too thin liquid)। ये ग्यारह द्रव्यदोष हैं।

विमर्श—ये ग्यारह दोष निरूहण और अनुवासन दोनों बस्तियों के द्रव्यों के हैं।

(६) सात शय्यादोष (Undesirable postures)—१. अवाक्शीर्ष (अधोमुख/Keeping the head very low), २. उच्छीर्ष (शिर का अधिक ऊँचा होना/Very high head), ३. न्युब्ज (न्युब्जः = अधोमुखः; Keeping the body bent), ४. उत्तान (पीठ के सहारे लिटाना), ५. अंगों को संकुचित (Flexed) कर लिटाना, ६. बिठाकर (स्थितस्य = उपविष्टस्य) और ७. दाहिने पार्श्व के सहारे लिटाकर बस्ति देना। ये सात शय्यादोष हैं।

ये चौवालीस दोष वैद्य के कारण (Indiscretion of the clinician) होते हैं। रोगी के कारण होने वाली (आतुरनिमित्ताः) पन्द्रह व्यापत्तियों का वर्णन आतुरोपद्रवचिकित्सित में किया जायेगा।

बस्ति द्वारा शरीर के अन्दर प्रविष्ट किया गया स्नेह निम्नलिखित आठ कारणों से बाहर नहीं आता है—१. तीनों दोषों के कारण, २. अन्न से मिश्रित हो जाने से, ३. मल (Faeces) से मिश्रित होने से,

४. बहुत ऊपर (Reaching higher) चले जाने के कारण, ५. बिना स्वेदन के प्रयुक्त होने से, ६. शीतल होने से, ७. अल्पाहार करने से और ८. मात्रा में अल्प होने से।

ये उपरोक्त आठ दोष चिकित्सक और रोगी इन दोनों के कारण उत्पन्न होते हैं।

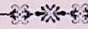
वैद्य के कारण होने वाली नौ व्यापत्तियाँ इस प्रकार हैं—१. निरूहण और स्नेहन बस्तियों का अयोग (Under dosage), २. आध्मान (Tympanitis), ३. परिकर्तिका (Cutting pain in the rectum), ४. परिस्राव (Discharge), ५. प्रवाहिका (Dysentry), ६. हृदयोपसरण (औषध का हृदय की ओर गमन से हृत्प्रदेश में बेचैनी होना), ७. अंगप्रग्रह (Stiffness of the limbs), ८. अतियोग (Over dosage) और ९. जीवादान (Haemorrhage)।

ये नौ वैद्यविहित व्यापत्तियाँ हैं॥ ३२॥

भवति चात्र—

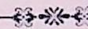
षट्सप्ततिः समासेन व्यापदः परिकीर्तिताः। तासां वक्ष्यामि विज्ञानं सिद्धिं च तदनन्तरम्॥ ३३॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सितं नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥ ३५॥



ये छियत्तर व्यापत्तियाँ संक्षेप में वर्णित की गयी हैं। इनके लक्षण (विज्ञानम्) और चिकित्सा (सिद्धिम्) का वर्णन इसके उपरान्त किया जायेगा॥ ३३॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'नेत्रबस्ति-प्रमाणप्रविभागचिकित्सा' नामक पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३५॥



अध्याय-सारांश

'नेत्रबस्तिप्रमाणविभागचिकित्सित' नामक इस अध्याय में आरम्भ में बस्तिकर्म की उत्कृष्टता का उल्लेख कर उसके 'स्थूलं कर्षयति' आदि गुणों का वर्णन किया गया है। उन रोगों की बड़ी सूची दी गयी है जहाँ बस्ति का अत्यर्थ उपयोग होता है (५)।

दोषानुसार बस्ति का उपयोग, बस्तिनेत्र की आयु के अनुसार लम्बाई, मोटापन, अन्दर के सुषिर भाग का प्रमाण, कर्णिका आदि का उल्लेख, आस्थापन द्रव्य की मात्रा आदि का वर्णन किया गया है (९)।

बस्तिनेत्र के निर्माणार्थ सोना, चाँदी आदि का उल्लेख, इनके अभाव में अन्य द्रव्यों का उल्लेख, बस्तिनिमाणार्थ द्रव्य (१६), दो प्रकार की बस्तियाँ, स्नेहबस्ति के लिए द्रव्यमात्रा, निरूह और स्नेह बस्तियों के गुण (२०), उन्माद आदि में अनुवासन बस्ति का निषेध, उदरी आदि में कभी भी अनुवासन बस्ति न दें, स्नेहन बस्ति अपने प्रभाव से सारे शरीर में दोषनिर्हरण करती है, जैसे मूल में डाला पानी सारे वृक्ष पर असर करता है (२५)।

वायु के तीव्र वेग को रोकने की शक्ति केवल बस्ति में है, जैसे—समुद्र की लहरों को किनारे ही रोक पाते हैं। शारीरिक पुष्टि, बल, वर्ण और आयु आदि में वृद्धि बस्तियों से होती है (३९); अन्त में छियत्तर व्यापत्तियों का वर्णन है।

●

षट्त्रिंशोऽध्यायः

अथातो नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितम्' (The Complications of the Enema Treatment Caused by (an improperly used) *Netrabasti*) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—इस अध्याय का नाम यद्यपि 'नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितम्' है किन्तु यहाँ नेत्र शब्द के बाद 'आदि' शब्द लुप्त है। इसका अभिप्राय यह है कि नेत्रव्यापत् के साथ प्रणिधान, द्रव्य, शय्या की व्यापत्तियों का भी इसमें समावेश है।

अथ नेत्रे विचलिते तथा चैव विवर्तिते। गुदे क्षतं रुजा वा स्यात्तत्र सद्यःक्षतक्रियाः ॥ ३ ॥

नेत्रबस्ति के कारण होने वाले उपद्रव—यदि बस्तिनेत्र प्रयोगकाल में हिल जाता है अथवा पलट जाता (Turned over) है और क्षत (Ulceration) उत्पन्न करता है तो गुदा में वेदना होती है। इसके उपचार में सद्योव्रण की चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्श—क्षतक्रियाः—'मधुघृताभ्यङ्गाद्याः'।

अत्युत्क्षिप्तेऽवसन्ने च नेत्रे पायौ भवेद्रुजा। विधिरत्रापि पित्तघ्नः कार्यः स्नेहैश्च सेचनम् ॥ ४ ॥

वेदना का उपचार—बस्तिनेत्र (Enema pipe) प्रवेशकाल में अधिक ऊँचा या अधिक नीचा हो जाय तो गुदप्रदेश (Anorectal region) में वेदना होती है। इस वातपैत्तिक वेदना की शान्ति के लिए पित्तनाशक चिकित्सा करें और स्नेहों से सिंचन भी करें ॥ ४ ॥

तिर्यक्प्रणिहिते नेत्रे तथा पार्श्वावपीडिते।
मुखस्यावरणाद्बस्तिर्न सम्यक् प्रतिपद्यते। ऋजु नेत्रं विधेयं स्यात्तत्र सम्यग्विजानता ॥ ५ ॥

नेत्र को सीधा कर प्रविष्ट करना—नेत्र को तिरछा प्रयुक्त करने पर तथा जब नाड़ी पार्श्व का पीड़न करे तो बस्तिनेत्र के मुख के बन्द हो जाने से बस्तितरल भली प्रकार अन्तःप्रविष्ट नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में दृष्टकर्मा चिकित्सक नेत्र को सीधा (ऋजु/Straight) कर प्रविष्ट करता है ॥ ५ ॥

विमर्श—जातोत्तरकालज अर्श के कारणों में चरक 'बस्तिनेत्रासम्यक् प्रविधानात्' कहते हैं।

अतिस्थूले कर्कशे च नेत्रेऽस्त्रिमति घर्षणात्। गुदे भवेत् क्षतं रुक् च साधनं तस्य पूर्ववत् ॥ ६ ॥
आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थकः। अवसेको भवेद्बस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत् ॥ ७ ॥
प्रकृष्टकर्णिके रक्तं गुदमर्मप्रपीडनात्। क्षरत्यत्रापि पित्तघ्नो विधिर्बस्तिश्च पिच्छिलः ॥ ८ ॥
ह्रस्वे त्वणुस्रोतसि च क्लेशो बस्तिश्च पूर्ववत्। प्रत्यागच्छंस्ततः कुर्याद्रोगान् बस्तिविघातजान् ॥
दीर्घे महास्रोतसि च ज्ञेयमत्यवपीडवत्।

नेत्रदोषाभिधान—यदि नेत्र बहुत मोटा, खुरदरा (Rough) और टेढ़ा हो तो इससे गुदा में घर्षण होने से क्षत और वेदना होते हैं। इसकी चिकित्सा पूर्ववत् (सद्यःक्षतक्रियेत्यर्थः) करनी चाहिए ॥ ६ ॥

कर्णिकादोष—यदि कर्णिका नेत्र के अन्तभाग के अधिक समीप है, बहुत छोटी है या टूटी हुई है तो यह निरर्थक है। क्योंकि इससे बस्ति द्वारा दिया गया तरल बाहर निकल जाता है, अतः इन दोषों को दूर करना चाहिए ॥ ७ ॥

यदि कर्णिका अन्तभाग से दूर है जो नेत्र अन्दर अधिक जाकर गुदमर्म का पीड़न करता है जिससे रक्त आने लगता है। यहाँ भी पित्तघ्नी क्रिया करनी चाहिए और पिच्छाबस्ति (Slimy enemata) भी करनी चाहिए॥ ८॥

यदि नेत्र ह्रस्व अर्थात् शास्त्रीय वर्णन से छोटा है अथवा उसका छिद्र (Narrow aperture) भी सूक्ष्म है तो इसमें से तरल के निकलने में अधिक समय लगने से पूर्व वर्णित के अनुसार बस्ति निरर्थक हो जाती है। यह पूर्ववत् क्लेशकर है। नेत्र के ह्रस्व होने से बस्ति का तरल बाहर निकल जाता है। इस प्रकार बस्तिविघात जन्य अनेक रोग उत्पन्न होते हैं॥ ९॥

नेत्र बहुत लम्बा है तथा छिद्र भी बड़ा है तो अत्यवपीड़न के समान दोष होते हैं।

विमर्श—'बस्तिविघातजान् रोगान् मूत्राघातमूत्रकृच्छ्रादीन् कुर्यात्' (ड.)। 'चिकित्सितमनुक्तमपि रोगापेक्षया मूत्राघातादिचिकित्सितवत् कर्तव्यम्'।

अत्यवपीडवत्—बस्ति को बलपूर्वक अत्यधिक दबाने से जिस प्रकार उसमें स्थित तरल वेग से बाहर निकलता है उसी प्रकार ('दीर्घे महास्रोतसि च अत्यवपीडनात् नासामुखान्निर्गमनं गलपीडादिचिकित्सितं च ज्ञेयम्')।

प्रस्तीर्णे बहले चापि बस्तौ दुर्बद्धदोषवत्॥ १०॥
बस्तावल्पेऽल्पता वाऽपि द्रव्यस्याल्पा गुणा मताः। दुर्बद्धे चाणुभिन्ने च विज्ञेयं भिन्ननेत्रवत्॥

बस्तिदोष—यदि बस्ति प्रस्तीर्ण अर्थात् तन्तुजालयुक्त (Excessively fibrous) या बहुत मोटी है तो वे ही दोष होते हैं जो बस्ति के भली प्रकार न बाँधने से होते हैं। यदि बस्ति छोटी है अथवा बस्ति में औषध की मात्रा अल्प है तो उसके गुण भी अल्प होंगे। यदि बस्ति अच्छी तरह नहीं बन्धी है या अल्प छिद्र युक्त (Possesses small pores) है तो यह भिन्न नेत्र (Creacked pipe) की तरह (क्षरण के कारण) निरर्थक है॥ १०-११॥

अतिप्रपीडितो बस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः। वातेरितो नासिकाभ्यां मुखतो वा प्रपद्यते॥ १२॥
तत्र तूर्णं गलापीडं कुर्याच्चाप्यवधूननम्। शिरःकायविरेकौ च तीक्ष्णौ सेकांश्च शीतलान्॥ १३॥
शनैः प्रपीडितो बस्तिः पक्वाधानं न गच्छति। न च सम्पादयत्यर्थं तस्माद्युक्तं प्रपीडयेत्॥ १४॥
भूयो भूयोऽवपीडेन वायुरन्तः प्रपीड्यते। तेनाध्मानं रुजश्चोग्रा यथास्वं तत्र बस्तयः॥ १५॥

पीडनदोष-चिकित्सा—यदि बस्ति को प्रयोगकाल में अत्यधिक प्रपीडित करें तो उसमें स्थित पदार्थ वायु से प्रेरित होकर आमाशय में से होते हुए नासा तथा मुखमार्ग से आने लगते हैं। इसके उपचार में शीघ्र ही गले पर दबाव डालें। (शिर के बाल पकड़कर) रोगी को झटका दें (अवधूननम् = केशादि उत्क्षिप्य चालनम्) तथा तीक्ष्ण शिरोविरेचन और कायविरेचन करायें एवं रोगी का शीतल परिषेक (स्नान) करें ('क्षीरेक्षुरसयष्टिमधुककषायधान्याम्लचुक्रादिशीतद्रव्यपरिषेकान्')॥ १२-१३॥

बस्ति को युक्तिपूर्वक दबाना—यदि बस्ति को धीरे-धीरे प्रपीडित किया जाय तो द्रव्य पक्वाशय (Upper bowels) तक नहीं पहुँचते हैं। इससे बस्ति देने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती है। अतः बस्ति को युक्तिपूर्वक (न अधिक न अति धीमे) दबाना चाहिए॥ १४॥

बस्ति का बार-बार पीड़न हानिकर—यदि बस्ति का बार-बार पीड़न किया जाय तो वायु उदर में पहुँच कर आध्मान एवं तीव्र वेदनाएँ उत्पन्न करती हैं। अतः बस्तिप्रयोग विधिपूर्वक ही, जो जिसमें उपयुक्त हो, करना चाहिए॥ १५॥

कालातिक्रमणात् क्लेशो व्याधिश्चाभिप्रवर्धते। तत्र व्याधिबलघ्नं तु भूयो बस्तिं निधापयेत्॥

बस्ति का पुनः प्रयोग—बस्ति देने में अधिक समय लगाया जाय तो व्याधि बढ़ जाती है ('व्याधिः अभिवर्धते, चिरकालनेत्रावस्थानहेतुकगुदमार्गावरोधकत्वेन प्रवृत्त्यभिमुखं नाभिपद्यते, तेनानुलोमसाध्यो व्याधिः प्रवर्धत इत्यर्थः'–ड.)। ऐसी स्थिति में व्याधि के बल को नष्ट करने के लिए बस्ति का पुनः प्रयोग करें॥ १६॥

गुदोपदेहशोफौ तु स्नेहोऽपक्वः करोति हि। तत्र संशोधनो बस्तिर्हितं चापि विरेचनम्॥ १७॥
हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्यकरौ मतौ। अतिमात्रौ तथाऽऽनाहक्लमातीसारकारकौ॥ १८॥
मूर्च्छां दाहमतीसारं पित्तं चात्युष्णतीक्ष्णकौ। मृदुशीतावुभौ वातविबन्धाध्मानकारकौ॥ १९॥
तत्र हीनादिषु हितः प्रत्यनीकः क्रियाविधिः। गुदबस्त्युपदेहं तु कुर्यात् सान्द्रो निरूहणः॥ २०॥
प्रवाहिकां वा जनयेत्तनुरल्पगुणावहः। तत्र सान्द्रे तनुं बस्तिं तनौ सान्द्रं च दापयेत्॥ २१॥

बस्ति में प्रयुक्त द्रव्यदोष एवं उनकी चिकित्सा—यदि बस्ति में प्रयुक्त स्नेह अपक्व हो तो गुदोपदेह (Oiliness of the anal mucosa) और गुदशोफ हो जाता है। इसके उपचार में संशोधन बस्ति तथा विरेचन ('रूक्ष'–गयदासः) हितकर होते हैं। ● यदि निरूहण और स्नेहन दोनों बस्तियों की मात्रा अल्प हों तो वे अधिक कार्य करने में असमर्थ होती हैं। इसी प्रकार यदि इनकी द्रव्यमात्रा अधिक होती हैं तो आनाह (Flatulence), क्लम (थकान/Fatigue) और अतिसार उत्पन्न करती हैं। ● अधिक उष्ण (Hot) और तीक्ष्ण बस्तियाँ मूर्च्छा, दाह, अतिसार और पित्तप्रकोप करती हैं। यदि ये बस्तियाँ (निरूहण और स्नेहन) मृदु और शीत हों तो वातवृद्धि, विबन्ध और आध्मान करती हैं। ● इनके उपचार में प्रत्यनीक (हेतुविपरीत) चिकित्सा करनी चाहिए। ● गाढ़े (Thick) द्रव वाली निरूहण बस्ति गुद (Rectum) और बस्ति (Bladder) में उपलेप (Sticking of the oily substance) तथा प्रवाहिका उत्पन्न करती है, जबकि पतले (Thin) द्रव वाली निरूहण बस्ति अल्प गुण वाली होती है। यदि कष्ट का कारण सान्द्र (गाढ़ी) बस्ति हो तो तनु (तरलबहुल) बस्ति का प्रयोग करें और तनु बस्ति कारण हो तो सान्द्र बस्ति का प्रयोग करें॥ १७-२१॥

विमर्श—प्रत्यनीक—'हीनमात्रेऽतिमात्रोऽतिमात्रे हीनमात्रः, तीक्ष्णे मृदुः, मृदौ तीक्ष्णः, उष्णे शीतः, शीते पुनरुष्णः'।

स्निग्धोऽतिजाड्यकृद्रूक्षः स्तम्भाध्मानकृदुच्यते। बस्तिं रूक्षमतिस्निग्धे स्निग्धं रूक्षे च दापयेत्॥

अतिरूक्ष एवं अतिस्निग्ध बस्तियों से हानि—जब बस्ति में स्नेह की अधिकता होती है तो यह शरीर में अतिजाड्यकृत् अर्थात् जकड़ाहट (Stiffness) लाती है और रूक्षता (स्नेह की अत्यल्प मात्रा) अधिक हो तो स्तम्भ (Rigidity) और आध्मान उत्पन्न करती है। अतः इनके उपचार में अतिस्निग्धता में रूक्ष और अतिरूक्षता में स्निग्ध बस्तियाँ देनी चाहिए॥ २२॥

अतिपीडितवद्दोषान् विद्धि चाप्यवशीर्षके। उच्छीर्षके समुन्नाहं बस्तिः कुर्याच्च मेहनम्॥ २३॥
तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्विन्नस्य सुखावहः।

शय्यादि दोष-चिकित्सा—अवशीर्षक अर्थात् रोगी के शिर को नीचे की ओर झुका कर बस्ति करने से वे दोष होते हैं जो बस्ति को अति पीड़ित करने पर होते हैं ('अतिप्रपीडितो बस्तिः प्रयात्यामाशयं ततः') और शिर को ऊँचा उठाकर बस्ति करने से वह शिश्नेन्द्रिय को फुला देती है। इसकी चिकित्सा में स्वेदन करने के उपरान्त उत्तरबस्ति (Urethral enema) करना सुखकर होता है॥ २३॥

विमर्श—इस प्रसंग में डल्हण ने कुछ विशेष विवरण प्रस्तुत किया है—''मेहनं मेढ्रम्। समुन्नाहः सम्यगुन्नाहो यत्र तत्तादृशमात्मानं कुर्यादित्यर्थः। तस्य मेढ्रादिसुस्निग्धस्य पुरुषस्योत्तरो बस्तिः। 'हितो बस्तिः सुखावहः'–इति गयी। जेज्जटाचार्यस्तु–'उच्छीर्षके समुन्नाहं कुर्यात्सस्नेहमेहनम्। तत्रोत्तरो हितो बस्तिः सुस्निग्धश्च सुखावहः'॥ इति पठित्वा व्याख्यानयति–सस्नेहमेहनं संसृष्टमूत्रप्रवर्धनम्; तत्र प्रतीकार उत्तरो

बस्तिरिति। सुस्निग्धस्य शोधनो निरूह इति, न पुनरुत्तरबस्तिरिति। वृद्धमते चायं पाठोऽन्यथा। तथा च–'उच्छीर्षके समुन्नाहो बस्तेः कृच्छ्रत्वमेहनम्' इति''।

न्युब्जस्य बस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गगः॥ २४॥

हृद्गुदं बाधते चात्र वायुः कोष्ठमथापि च। उत्तानस्यावृते मार्गे बस्तिर्नान्तः प्रपद्यते॥ २५॥

अधोमुख एवं उत्तान रोगी को दी गयी बस्ति हानिकर—यदि रोगी को न्युब्ज (अधोमुख/Prone) लिटाकर बस्ति दी जाय तो वह बड़ी आँतों तक नहीं पहुँचती है। बस्ति के विमार्गग (ठीक मार्ग से न जाकर/Misdirected) होने से प्रकुपित वायु हृत्प्रदेश (Cardiac region) तथा कोष्ठ में और गुदप्रदेश (Ano-rectal region) में बाधा उत्पन्न करता है। पीठ के सहारे लिटा कर (उत्तानस्य/Supine) बस्ति दी जाय तो मार्ग के अवरुद्ध हो जाने से वह अन्दर नहीं पहुँचती है॥ २४-२५॥

नेत्रसंवेजनभ्रान्तो वायुश्चान्तः प्रकुप्यति।

नेत्र के हिल जाने कुपित (Injudicious movements of the enema pipe) वात अन्दर विकार करता है।

देहे सङ्कुचिते दत्तः सक्थ्नोरप्युभयोस्तथा॥ २६॥

न सम्यगनिलाविष्टो बस्तिः प्रत्येति देहिनः। स्थितस्य बस्तिर्दत्तस्तु क्षिप्रमायात्यवाङ्मुखः॥

न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि सः। नाप्नोति बस्तिर्दत्तस्तु कृत्स्नं पक्वाशयं पुनः॥ २८॥

टाँगें मोड़कर या खड़े हुए रोगी को बस्ति देना हानिकर—शरीर तथा दोनों अधः शाखाओं (सक्थ्नोः/Thighs) को सिकोड़कर दी गयी बस्ति वायु के कारण भली प्रकार बाहर नहीं आ पाती है। खड़े हुए रोगी को दी गयी बस्ति शीघ्र ही बाहर निकल आती है। अतः यह पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाती (तर्पण नहीं कर पाती) और निरर्थक होती है॥ २६-२८॥

विमर्श—स्थितस्य—स्थित का अर्थ है—खड़ा होना, बैठना नहीं ('स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबद्धधीरः'–रघुवंश)।

दक्षिणाश्रितपार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यतः। न्युब्जादीनां प्रदानं च बस्तेर्नैव प्रशस्यते॥ २९॥

पश्चादनिलकोपोऽत्र यथास्वं तत्र कारयेत्। व्यापदः स्नेहबस्तेस्तु वक्ष्यन्ते तच्चिकित्सिते॥ ३०॥

रोगी को दाहिने पार्श्व के सहारे लिटाकर बस्ति न दें—इसी प्रकार दाहिने पार्श्व के सहारे रोगी को लिटाकर दी गयी बस्ति सम्पूर्ण पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाती, क्योंकि पक्वाशय वाम पार्श्व की ओर होता है ('यतः पक्वाशयो वामपार्श्वानुगो वामपार्श्वमनुगच्छति')। अतः यह प्रशस्त नहीं है। अधोमुख लेटे व्यक्ति को बस्ति देना प्रशस्त नहीं है, क्योंकि इससे बाद में वायु प्रकुपित हो जाती है। अतः तदनुकूल अवस्थानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। स्नेहबस्तियों की व्यापत्तियों का वर्णन चिकित्सा के वर्णन प्रसंग में किया जायेगा॥ २९-३०॥

अयोगाद्यास्तु वक्ष्यामि व्यापदः सचिकित्सिता।

अयोगादि व्यापद्-चिकित्सा—अब अयोग (Under dosage) आदि का चिकित्सा सहित वर्णन किया जायेगा।

अनुष्णोऽल्पौषधो हीनो बस्तिर्नैति प्रयोजितः॥ ३१॥

विष्टम्भाध्मानशूलैश्च तमयोगं प्रचक्षते। तत्र तीक्ष्णो हितो बस्तिस्तीक्ष्णं चापि विरेचनम्॥ ३२॥

(१) **बस्ति का अयोग**—शीतल तथा अल्प औषध वाली बस्ति हीन अर्थात् अल्प प्रभाव वाली होती है और अन्तःप्रविष्ट कर देने के उपरान्त लौटकर नहीं आती है तथा विष्टम्भ, आध्मान और शूल

होते हैं। यह 'अयोग' कहलाता है। इसके उपचार में तीक्ष्ण बस्तियाँ और तीक्ष्ण विरेचन हितकर होते हैं॥ ३१-३२॥

सशेषान्नेऽथवा भुक्ते बहुदोषे च योजितः। अत्याशितस्यातिबहुर्बस्तिर्मन्दोष्ण एव च॥ ३३॥
अनुष्णलवणस्नेहो ह्यतिमात्रोऽथवा पुनः। तथा बहुपुरीषं च क्षिप्रमाध्मापयेन्नरम्॥ ३४॥
हृत्कटीपार्श्वपृष्ठेषु शूलं तत्रातिदारुणम्। तत्र तीक्ष्णतरो बस्तिर्हितं चाप्यनुवासनम्॥ ३५॥

(२) आध्मान : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा—जो सशेषान्न (रसशेषाजीर्ण) से पीड़ित है या जिसने भोजन किया है, जो बहुदोषयुक्त है तथा जिसने बड़ी मात्रा में भोजन किया है उसे यदि बड़ी मात्रा में मन्दोष्ण बस्ति दी जाय तो अथवा जिसे पुरीष बड़ी मात्रा में आता है उसे लवण और स्नेहरहित बड़ी मात्रा में शीतल बस्ति दी जाय तो उसे शीघ्र ही आध्मान हो जाता है और हृत्प्रदेश, कटिप्रदेश, पार्श्वों तथा पीठ में अतिदारुण शूल होता है। इसके उपचार में अतितीक्ष्ण निरूह बस्ति और अनुवासन देना हितकर होता है॥ ३३-३५॥

अतितीक्ष्णोऽतिलवणो रूक्षो बस्तिः प्रयोजितः। सपित्तं कोपयेद्वायुं कुर्याच्च परिकर्तिकाम्॥
नाभिबस्तिगुदं तत्र छिनत्तीवातिदेहिनः। पिच्छाबस्तिर्हितस्तस्य स्नेहश्च मधुरैः शृतः॥ ३७॥

(३) परिकर्तिका : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा—जब व्यक्ति में अतितीक्ष्ण और अतिलवण वाली रूक्ष बस्ति प्रयुक्त की जाती है तो पित्तयुक्त वायु प्रकुपित होकर 'परिकर्तिका' नामक रोग उत्पन्न करती है। इसमें रोगी की नाभि, बस्ति और गुद प्रदेश में काटने की-सी तीव्र वेदना होती है। इसके उपचार में पिच्छाबस्ति और मधुर द्रव्यों से सिद्ध स्नेहबस्ति हितकर होती है॥ ३६-३७॥

अत्यम्ललवणस्तीक्ष्णः परिस्रावाय कल्पते। दौर्बल्यमङ्गसादश्च जायते तत्र देहिनः॥ ३८॥
परिस्रवेत्ततः पित्तं दाहं सञ्जनयेद्गुदे। पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र बस्तिः क्षीरघृतेन च॥ ३९॥

(४) परिस्राव : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा—अतिअम्ल, अतिलवण और अतितीक्ष्ण बस्तियों से 'परिस्राव' व्यापत् होता है। इसमें रोगी को दौर्बल्य और सर्वांग वेदना होते हैं तथा पित्त का स्रवण होता है जिससे गुदप्रदेश में जलन होती है। इसके उपचार में पिच्छा (Slimy) बस्ति तथा दूध-घृत की बस्ति हितकर होती है॥ ३८-३९॥

प्रवाहिका भवेत्तीक्ष्णान्निरूहात् सानुवासनात्। सदाहशूलं कृच्छ्रेण कफासृगुपवेश्यते॥ ४०॥
पिच्छाबस्तिर्हितस्तत्र पयसा चैव भोजनम्। सर्पिर्मधुरकैः सिद्धं तैलं चाप्यनुवासनम्॥ ४१॥

(५) प्रवाहिका : कारण, लक्षण एवं चिकित्सा—जब तीक्ष्ण निरूहण और अनुवासन बस्तियों का प्रयोग किया जाता है तो प्रवाहिका नामक रोग हो जाता है जिसमें रोगी को दाह और शूल होते हैं तथा वह कफ और रक्तयुक्त मल का कठिनाई से त्याग करता है। इसके उपचार में पिच्छाबस्ति तथा दूध के साथ भोजन हितकर होता है और घृत एवं मधुर द्रव्यों से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति भी लाभकर है॥ ४०-४१॥

अतितीक्ष्णो निरूहो वा सवाते चानुवासनः। हृदयस्योपसरणं कुरुते चाङ्गपीडनम्॥ ४२॥
दोषैस्तत्र रुजस्तास्ता मदो मूर्च्छाऽङ्गगौरवम्। सर्वदोषहरं बस्तिं शोधनं तत्र दापयेत्॥ ४३॥

(६) अतितीक्ष्ण बस्ति का निषेध—वायु की उपस्थिति में अतितीक्ष्ण निरूहण या अनुवासन बस्ति करने पर द्रव्य हृत्प्रदेश तक पहुँच कर (हृदयोपसरण) शरीरावयवों में वेदना उत्पन्न करता है। इससे दोषप्रकोप होकर तरह-तरह की वेदनाएँ, मद, मूर्च्छा और अंगगौरव (भारीपन) होते हैं। इसके उपचार में सर्वदोषहर शोधन बस्ति देनी चाहिए॥ ४२-४३॥

रूक्षस्य बहुवातस्य तथा दुःशायितस्य च। बस्तिरङ्गग्रहं कुर्याद्रूक्षो मृद्वल्पभेषजः॥ ४४॥
तत्राङ्गसादः प्रस्तम्भो जृम्भोद्वेष्टनवेपकाः। पर्वभेदश्च तत्रेष्टाः स्वेदाभ्यञ्जनबस्तयः॥ ४५॥

(७) दुःशायित को बस्ति न दें—यदि रूक्ष, मृदु और अल्पौषध वाली बस्ति रूक्ष (Dehydrated), प्रबल वात वाले एवं अच्छी तरह से न लेटे हुए (दुःशायित/Lying in wrong position) व्यक्ति को दी जाय तो अङ्गग्रह (Difficulty in the free movements of the limbs) उत्पन्न करती है। इससे अङ्गसाद (Bodyache), प्रस्तम्भ (अकड़ाहट/Stiffness), जम्भाई (Yawning), उद्वेष्टन (ऐंठन/Cramps) और वेपक (झटके लगना/Convulsions) तथा पर्वभेद (जोडों में वेदना) होते हैं। इसके उपचार में स्वेदन (Sudation therapy), तैलाभ्यंग (Oily massage) और बस्तियाँ (स्नेह/Oily) हितकर होती हैं॥ ४४-४५॥

अत्युष्णतीक्ष्णोऽतिबहुर्दत्तोऽतिस्वेदितस्य च। अल्पदोषस्य वा बस्तिरतियोगाय कल्पते॥ ४६॥
विरेचनातियोगेन समानं तस्य लक्षणम्। पिच्छाबस्तिप्रयोगश्च तत्र शीतः सुखावहः॥ ४७॥

(८) बस्ति का अतियोग—यदि अल्प दोष वाले और अधिक स्वेदन किये हुए व्यक्ति को अतिउष्ण, अतितीक्ष्ण और मात्रा में अत्यधिक बस्ति दी जाय तो इससे बस्ति का 'अतियोग' होता है। इस अवस्था के लक्षण विरेचन के अतियोग जैसे होते हैं और शीतल पिच्छाबस्ति का उपयोग सुखकर होता है॥ ४६-४७॥

अतियोगात्परं यत्र जीवादानं विरिक्तवत्। देयस्तत्र हितश्चापि पिच्छाबस्तिः सशोणितः॥ ४८॥

(९) यदि 'अतियोग' में रुधिर आने लगे तो इसकी चिकित्सा अतिविरेचन की चिकित्सा के समान है तथा रुधिर युक्त पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ४८॥

नवैता व्यापदो यास्तु निरूहं प्रत्युदाहृताः। स्नेहबस्तिष्वपि हि ता विज्ञेयाः कुशलैरिह॥ ४९॥

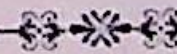
कुशल चिकित्सकों को यह जान लेना चाहिए कि ये पूर्व वर्णित नौ निरूहण बस्तियों की व्यापत्तियाँ हैं, इतनी ही स्नेहबस्तियों की व्यापत्तियाँ भी होती हैं॥ ४९॥

इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः। भिषजा च तथा कार्यं यथैता न भवन्ति हि॥ ५०॥

अब तक बस्तियों की व्यापत्तियों के लक्षण तथा चिकित्सा का वर्णन किया गया है। चिकित्सक को चाहिए कि वह इस तरह कार्य करे जिससे ये व्यापत्तियाँ न हों॥ ५०॥

पक्षाद्विरेको वान्तस्य ततश्चापि निरूहणम्। सद्यो निरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्राद्विरेचितः॥ ५१॥

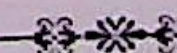
इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सितं नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥



वमन-विरेचनादि की अन्तरवधि—वमन कराने के पन्द्रह दिन बाद विरेचन देना चाहिए और विरेचन के सात दिन बाद निरूहण का प्रयोग करें। निरूहण के उपरान्त अनुवासन उसी दिन देना चाहिए॥ ५१॥

विमर्श—अन्तरवधि के सम्बन्ध में चरक—'नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम्। शुद्धो निरूहेण विरेचनं च तद् ह्यस्य शून्यं विकसेत् शरीरम्'॥ (सि. १) और भी—'संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा। तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्यात्त्र्यहान्नातिबुभुक्षिताय'॥ (सि. १।२१)

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सा' नामक छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३६॥



अध्याय-सारांश

'नेत्रबस्तिव्यापत्चिकित्सित' नामक इस अध्याय में—नेत्रबस्ति, प्रणिधान, शय्या आदि की व्यापत्तियों का समावेश है। प्रयोगकाल में बस्तिनेत्र के हिल जाने के गुदप्रदेश में हुए क्षत का उपचार सद्योव्रण की तरह किया जाता है। बस्तिनेत्र के आकार में बड़े होने, खुरदरे होने और टेढ़ा होने से भी गुद में क्षत होना सम्भव है।

बस्तिनेत्र की कर्णिका का अपने स्थान पर होने से भी कई तरह की व्यापत्तियाँ होती हैं। बस्तिनेत्र का आकार छोटा हो तो बस्ति का तरल बाहर निकल आता है। इसका छिद्र छोटा हो तो तरल के निकलने में विलम्ब हो जाता है। बस्ति का आकार छोटा हो या औषध अल्प हो तो बस्ति के गुण भी अल्प होंगे (११)।

प्रयोगकाल में बस्ति को अधिक दबाना, धीरे-धीरे दबाना, बार-बार दबाना या समय के बीत जाने पर दबाना इन सभी से तरह-तरह की व्यापत्तियाँ होती हैं। बस्ति में प्रयुक्त द्रव्य-स्नेह अपक्व है तो गुदोपदेह, गुदशोफ आदि हो जाते हैं (१७)। बस्ति में स्नेह की मात्रा अधिक होना विकारकर है। अत: अतिस्निग्धता में रूक्षण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

बस्तिप्रयोग काल में रोगी का शिर न नीचा और न ऊँचा ही होना चाहिए। इसी प्रकार अधोमुख या ऊर्ध्वमुख अथवा खड़े रोगी को भी बस्ति नहीं देनी चाहिए (२२)।

इस प्रसंग में बस्तियों की अयोग, अतियोग, परिकर्तिका, परिस्राव, प्रवाहिका, हृदयोपसरण, अंगग्रह आदि व्यापत्तियों के कारण, लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख भी है।

अन्त में वमन के पन्द्रह दिन बाद विरेचन और विरेचन के सात दिन बाद निरूहण आदि अवधि का वर्णन है (४९)।



सप्तत्रिंशोऽध्यायः

अथातोऽनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'अनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितम्' (Therapeutics of the Oily Enemas and Urethral/vaginal Irrigations) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय वै। कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः ॥ ३ ॥

अनुवासन काल—विरेचन (Purgation) के सात दिन बाद जब रोगी ने बल प्राप्त कर लिया हो, नियमित रूप से आहार लेने लगा हो और अनुवासन के योग्य हो गया हो तो उसे भली प्रकार अनुवासन बस्ति देनी चाहिए ॥ ३ ॥

विमर्श—जातबलाय—अनुवासन बस्ति देने के लिए रोगी में बल का होना आवश्यक है ('यत उत्पन्नबलस्यैवाग्निर्बलवान् अनुवासनहेतुः। तथा चोक्तम्—पश्चादग्निबलं ज्ञात्वा सम्यग्देयोऽनुवासनः')।

यथावयो निरूहाणां या मात्राः परिकीर्तिताः। पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम् ॥

अनुवासन मात्रा—रोगी की आयु का विचार कर निरूहण बस्तियों (Medicated non-oily enemata) की जो मात्रा निश्चित की गयी है उसकी चतुर्थांश मात्रा स्नेहबस्तियों के लिए निश्चित करनी चाहिए ॥ ४ ॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रे नरे बस्तिं विधापयेत्। एतैर्हि विहतः स्नेहो नैवान्तः प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

बस्ति-प्रयोग का समुचित समय—अनिल (वायु/Flatus), पुरीष (Stool) और मूत्रत्याग के पश्चात् रोगी को बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए, क्योंकि बस्ति का स्नेह वातपुरीषादि से उत्पन्न अवरोध के कारण शरीर में भली प्रकार प्रविष्ट नहीं हो पाता है ॥ ५ ॥

स्नेहबस्तिर्विधेयस्तु नाविशुद्धस्य देहिनः। स्नेहवीर्यं तथा दत्ते देहं चानुविसर्पति ॥ ६ ॥

शुद्ध शरीर और बस्ति—जो व्यक्ति वमन-विरेचनादि के शुद्ध शरीर वाला नहीं है, उसे स्नेहबस्ति नहीं देनी चाहिए। यदि शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को स्नेहबस्ति का प्रयोग किया जाय तो वह स्नेह वीर्य (बल) प्रदान कर सारे शरीर में फैल जाती है ॥ ६ ॥

विमर्श—इन दोनों श्लोकों में स्नेहबस्तियों के प्रयोग से पहले वमन-विरेचनादि के द्वारा शरीर की शुद्धि की अनिवार्यता बतलायी है।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तैलानीह यथाक्रमम्। पानान्वासननस्येषु यानि हन्युर्गदान् बहून् ॥ ७ ॥

अनुवासन के लिए विविध तैल—अब इसके उपरान्त पान (Drinks), अनुवासन (Oily enemas), नस्य (Snuffs) के लिए तैल योगों (Oil recipes) का वर्णन किया जायेगा जो बहुत-से रोगों को नष्ट करते हैं ॥ ७ ॥

शटीपुष्करकृष्णाह्वामदनामरदारुभिः । शताह्वाकुष्ठयष्टयाह्ववचाबिल्वहुताशनैः ॥ ८ ॥
सुपिष्टैर्द्विगुणक्षीरं तैलं तोयचतुर्गुणम् । पक्त्वा बस्तौ विधातव्यं मूढवातानुलोमनम् ॥ ९ ॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहं विषमज्वरम्। कट्यूरुपृष्ठकोष्ठस्थान् वातरोगांश्च नाशयेत् ॥ १० ॥

(१) शट्यादि तैल—शटी (कचूर), पुष्करमूल, पीपल, मैनफल, देवदारु, सौंफ, कूठ, मुलेठी, वच, बेल, चित्रक—इन सबको कूट-पीसकर तैल से द्विगुण दूध और चौगुने जल में पकाकर तैल सिद्ध करें तथा बस्ति देने के काम में लें। यह तैल मूढवात (रुकी हुई वायु) का अनुलोमन (नीचे की ओर को प्रेरित) करता है। अर्श, ग्रहणीदोष (Sprue syndrome), आनाह, विषम ज्वर, कटि, ऊरु, पृष्ठ और कोष्ठ में स्थित वायुरोगों को नष्ट करता है॥ ८-१०॥

वचापुष्करकुष्ठैलामदनामरसिन्धुजैः । काकोलीद्वययष्ट्याह्वमेदायुग्मनराधिपैः ॥ ११ ॥
पाठाजीवकजीवन्तीभार्गीचन्दनकट्फलैः । सरलागुरुबिल्वाम्बुवाजिगन्धाग्निवृद्धिभिः ॥ १२ ॥
विडङ्गारग्वधश्यामात्रिवृन्मागधिकर्धिभिः । पिष्टैस्तैलं पचेत् क्षीरपञ्चमूलरसान्वितम् ॥ १३ ॥
गुल्मानाहाग्निषङ्गार्शोग्रहणीमूत्रसङ्गिनाम् । अन्वासनविधौ युक्तं शस्यतेऽनिलरोगिणाम् ॥ १४ ॥

(२) वचादि तैल—वचा, पुष्करमूल, कूठ, एला, मदनफल, देवदारु, सैन्धवनमक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलेठी, मेदा, महामेदा (मेदायुग्म), नराधिप (अमलतास), पाठा, जीवक, जीवन्ती, भार्गी, चन्दन, कायफल, सरला (त्रिवृत्, सरतीति सरला), अगुरु, बेल, नेत्रबाला, असगन्ध, चित्रक (अग्नि) और वृद्धि, वायविडंग, अमलतास, श्यामा (वृद्धदारु), निशोथ, पीपल (मागधी) और ऋद्धि—इन सबको पीसकर दूध तथा पञ्चमूल क्वाथ से तैलपाक करें। इस तैल की अनुवासन बस्ति से गुल्म, आनाह, अग्निमान्द्य, अर्श, ग्रहणी, मूत्रावरोध और वातरोग नष्ट होते हैं॥ ११-१४॥

विमर्श—इस योग में सरला (निशोथ) और त्रिवृत् (निशोथ) को दो बार पढ़ा गया है। अतः निशोथ को अन्य द्रव्यों की अपेक्षा दुगुना लेना चाहिए। नियम भी है—'घृते तैले च युक्ते यद्द्रव्यं तु पुनरुच्यते। तद्दातव्यमिहाचार्यैर्भागतो द्विगुणं मतम्' ॥

चित्रकातिविषापाठादन्तीबिल्ववचामिषैः । सरलांशुमतीरास्नानीलिनीचतुरङ्गुलैः ॥ १५ ॥
चव्याजमोदकाकोलीमेदायुग्मसुरद्रुमैः । जीवकर्षभवर्षाभूबस्तगन्धाशताह्वयैः ॥ १६ ॥
रेण्वश्वगन्धामञ्जिष्ठाशटीपुष्करतस्करैः । सक्षीरं विपचेत्तैलं मारुतामयनाशनम् ॥ १७ ॥
गृध्रसीखञ्जकुब्जाढ्यमूत्रोदावर्तरोगिणाम् । शस्यतेऽल्पबलाग्नीनां बस्तावाशु नियोजितम् ॥

(३) चित्रकादि तैल—चित्रक, अतीस, पाठा, दन्ती, बेल, वचा, आमिष (गुग्गुलुः), निशोथ, शालपर्णी (अंशुमती), रास्ना, नीलिनी, अमलतास, चव्य, अजमोद, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा (युग्म), देवदारु, जीवक, ऋषभक, पुनर्नवा, अजगन्ध, सौंफ, रेणु (पर्पट), असगन्ध, मंजीठ, कचूर (शटी), पुष्करमूल, चोरक (तस्कर)—इन औषधियों को दूध में पकाकर तैलपाक करें। यह तैल वातव्याधियों को नष्ट करता है और गृध्रसी, खञ्ज, कुबड़ापन, आढ्यवात, मूत्ररोग, उदावर्तरोग को दूर करता है तथा अल्पबल एवं मन्दाग्नि वालों के लिए भी प्रशस्त है। इन रोगों में इस तैल को यथाशीघ्र बस्ति के लिए प्रयुक्त करना चाहिए॥ १५-१८॥

विमर्श—खञ्ज—'वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा। खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः' ॥ (सु.नि. १।७७)

भूतिकैरण्डवर्षाभूरास्नावृषकरोहिषैः । दशमूलसहाभार्गीषड्ग्रन्थामरदारुभिः ॥ १९ ॥
बलानागबलामूर्वावाजिगन्धामृताद्वयैः । सहाचरवरीविश्वाकाकनासाविदारिभिः ॥ २० ॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थैः क्वथितैः भृतम्। जीवनीयप्रतीवापं तैलं क्षीरचतुर्गुणम् ॥ २१ ॥
जङ्घोरुत्रिकपार्श्वांसबाहुमन्याशिरःस्थितान् । हन्याद्वातविकारांस्तु बस्तियोगैर्निषेवितम् ॥

(४) भूतिकादि तैल—भूतिक (कत्तृणापरपर्यायम्, गन्धतृण, रोहिष), एरण्ड, पुनर्नवा, रास्ना, अडूसा, रोहिष (कत्तृण), दशमूल, माषपर्णी (सहा), भार्गी, वचा (षड्ग्रन्था), देवदारु, बला, नागबला, मूर्वा,

असगन्ध, गिलोय और हरीतकी (अमृताद्वयम्—गुडूची हरीतकी चेत्यमृताद्वयम्), सहचर (सैरयक), शतावरी, शुण्ठी (विश्वा), काकनासा, विदारीकन्द, जौ, उड़द, अलसी, बेर (कोल), कुलथ—इनके क्वाथ में सिद्ध तैल जिसमें जीवनीय द्रव्यों का प्रक्षेप पड़ा हो तथा जिसे चतुर्गुण दूध में पकाया गया हो, उसे बस्ति के रूप में प्रयुक्त करने पर जंघा (Leg), ऊरु (Thigh), त्रिक (Sacral region), पार्श्व, अंस (कन्धे), बाहु, मन्या (Sternomastoid region) और शिर में स्थित वातरोगों को नष्ट करता है॥ १९-२२॥

जीवन्त्यतिबलामेदाकाकोलीद्वयजीवकैः । ऋषभातिविषाकृष्णाकाकनासावचामरैः॥ २३॥
रास्नामदनयष्ट्याह्वसरलाभीरुचन्दनैः । स्वयङ्गुप्ताशटीशृङ्गीकलसीसारिवाद्वयैः॥ २४॥
पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं क्षीरेणाष्टगुणेन तु। तच्चानुवासने देयं शुक्राग्निबलवर्धनम्॥ २५॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं गुल्मानाहहरं परम्। नस्ये पाने च संयुक्तमूर्ध्वजत्रुगदापहम्॥ २६॥

(५) **जीवन्त्यादि तैल**—जीवन्ती ('जीवन्ती शाकशाकानाम्'–च.), अतिबला, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, अतीस, पीपल, काकनासा (वायसफला), वच, देवदारु, रास्ना, मैनफल, मुलेठी, निशोथ (सरला), भीरु (शतावरी), चन्दन, क्रौंच के बीच, कचूर, काकड़ासिंगी, कलशी (पृश्निपर्णी), श्वेत और कृष्ण सारिवा—इन द्रव्यों को कूट-पीसकर आठ गुने दूध में पकाकर स्नेहपाक विधि से घृत या तैल सिद्ध करें और अनुवासन बस्ति के लिए प्रयुक्त करें। इससे शुक्र, बल और अग्नि की वृद्धि होती है तथा बृंहण है। यह वातपित्तहर, गुल्म तथा आनाह को विशेष रूप से नष्ट करता है। नस्य और पीने के लिए प्रयुक्त करने पर यह ऊर्ध्वजत्रुग रोगों को ठीक करता है॥ २३-२६॥

मधुकोशीरकाश्मर्यकटुकोत्पलचन्दनैः । श्यामापद्मकजीमूतशक्राह्वातिविषाम्बुभिः॥ २७॥
तैलपादं पचेत् सर्पिः पयसाऽष्टगुणेन च। न्यग्रोधादिगणक्वाथयुक्तं बस्तिषु योजितम्॥ २८॥
दाहासृग्दरवीसर्पवातशोणितविद्रधीन्। पित्तरक्तज्वराद्यांश्च हन्यात् पित्तकृतान् गदान्॥ २९॥

(६) **मधुकादि तैल**—मुलेठी, खस, गम्भारी, कुटकी, कमल, चन्दन, श्यामा (प्रियंगु), पद्माख, जीमूत (मुस्तक), इन्द्रजौ, अतीस और सुगन्धबाला—इन द्रव्यों को कूटकर आठ गुने दूध में तथा चतुर्थांश तेल मिलाकर घृत के साथ पाक करें। इस तैल को न्यग्रोधादि गण की औषधियों के क्वाथ में मिलाकर बस्ति दी जाती है। इससे दाह, रक्तप्रदर (Bledding from the vagina), विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, पित्तरक्त ज्वर आदि तथा पित्तकृत रोग नष्ट होते हैं॥ २७-२९॥

मृणालोत्पलशालूकसारिवाद्वयकेशरैः । चन्दनद्वयभूनिम्बपद्मबीजकसेरुकैः॥ ३०॥
पटोलकटुकारक्तागुन्द्रापर्पटवासकैः । पिष्टैस्तैलघृतं पक्वं तृणमूलरसेन च॥ ३१॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं बस्तिकर्मणि योजितम्। नस्येऽभ्यञ्जनपाने वा हन्यात् पित्तगदान् बहून्॥ ३२॥

(७) **मृणालादि तैल**—कमलनाल (मृणाल), कमल, कमलकन्द (शालूक), श्वेत और कृष्णसारिवा, नागकेसर, रक्त तथा श्वेत चन्दन, चिरायता, पद्मबीज, कसेरु, पटोल, कुटकी, मंजीठ (रक्ता), गुन्द्रा (भद्रमुस्तक या पट्टोरकभेदः), पित्तपापडा, अडूसा—इन द्रव्यों को कूट-पीसकर तृणमूलरस (कुशादि तृणपञ्चमूलकषाय) और दुगुने दूध में घृत और तैलपाक करें। यह तैल बस्ति, नस्य, अभ्यङ्ग और पान करने से बहुत-से पित्तज विकारों को नष्ट करता है॥ ३०-३२॥

त्रिफलातिविषामूर्वात्रिवृच्चित्रकवासकैः । निम्बारग्वधषड्ग्रन्थासप्तपर्णनिशाद्वयैः॥ ३३॥
गुडूचीन्द्रसुराकृष्णाकुष्ठसर्षपनागरैः । तैलमेभिः समैः पक्वं सुरसादिरसाप्लुतम्॥ ३४॥
पानाभ्यञ्जनगण्डूषनस्यबस्तिषु योजितम्। स्थूलतालस्यकण्ड्वादीन् जयेत्कफकृतान् गदान्॥

(८) **त्रिफलादि तैल**—त्रिफला, अतीस, मूर्वा, निशोथ, चित्रक, अडूसा, नीम, अमलतास, वचा, सप्तपर्ण, दारुहरिद्रा, हरिद्रा, गिलोय, इन्द्रायण (इन्द्रसुरा), पीपल, कूठ, सरसों, शुण्ठी—इन सबको समान

मात्रा में लेकर सुरसादि गण की औषधियों के क्वाथ में तैलपाक करें। इस तैल को पान, अभ्यङ्ग, गण्डूष, नस्य और बस्ति के लिए आवश्यकतानुसार प्रयुक्त करने पर मोटापा, आलस, कण्डू आदि नष्ट होते हैं और यह कफज रोगहर है॥ ३३-३५॥

पाठाजमोदाशार्ङ्गेष्टापिप्पलीद्वयनागरैः । सरलागुरुकालीयभार्गीचव्यामरद्रुमैः॥ ३६॥
मरिचैलाभयाकट्वीशटीग्रन्थिककट्फलैः । तैलमेरण्डतैलं वा पक्वमेभिः समायुतम्॥ ३७॥
वल्लीकण्टकमूलाभ्यां क्वाथेन द्विगुणेन च। हन्यादन्वासनैर्दत्तं सर्वान् कफकृतान् गदान्॥ ३८॥

(९) पाठादि तैल—पाठा, अजमोद, शार्ङ्गेष्टा (काकादनी), पीपल, गजपीपल (पिप्पलीद्वय), शुण्ठी, सरला (निशोथ), अगुरु, कालीय (पीतचन्दन = कालेयक), भार्गी, चव्य, देवदारु, कालीमिर्च, इलायची, हरड, कट्वी (कुटकी), कचूर, पीपलामूल (ग्रन्थिक) और कायफल—इनको कूटकर वल्लीपञ्चमूल और कण्टकपञ्चमूल के द्विगुण क्वाथ के साथ तिल तैल या एरण्ड तैल का पाक करें। इस तैल की अनुवासन बस्ति से सभी प्रकार के कफज रोग नष्ट होते हैं॥ ३६-३८॥

विडङ्गोदीच्यसिन्धूत्थशटीपुष्करचित्रकैः । कट्फलातिविषाभार्गीवचाकुष्ठसुराह्वयैः॥ ३९॥
मेदामदनयष्ट्याह्वश्यामानिचुलनागरैः । शताह्वानीलिनीरास्नाकलसीवृषरेणुभिः॥ ४०॥
बिल्वाजमोदकृष्णाह्वादन्तीचव्यनराधिपैः । तैलमेरण्डतैलं वा मुष्ककादिरसाप्लुतम्॥ ४१॥
प्लीहोदावर्तवातासृग्गुल्मानाहकफामयान् । प्रमेहशर्करार्शांसि हन्यादाश्वनुवासनैः॥ ४२॥

(१०) विडङ्गादि तैल—वायविडंग, सुगन्धबाला (उदीच्य), सेंधानमक, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, कायफल, अतीस, भार्गी, वच, कूठ, देवदारु, मेदा, मदनफल, मुलेठी, श्यामा (वृद्धदारुक, विधारा), निचुल (जलवेतस), शुण्ठी, शताह्वा (सौंफ), नील, रास्ना, केला (कलशी इति पाठान्तरे = पृश्निपर्णी ग्राह्या), अडूसा (वृष), रेणु (पर्पटक), बेल, अजमोद, पिप्पली (कृष्णा), दन्ती, चव्य, नराधिप (अमलतास)—इनको कूट कर तिल तैल या एरण्ड तैल को मुष्ककादि गण की औषधियों के क्वाथ में तैलपाक करें। इस तैल की अनुवासन बस्ति देने से प्लीहरोग, उदावर्त, वातरक्त (Gout), गुल्म, आनाह (Tympanitis), कफज व्याधियाँ, प्रमेह (Abnormalities of urine), शर्करा (Gravels) और अर्श नष्ट होते हैं॥ ३९-४२॥

अशुद्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम्। अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानुवासयेत्॥ ४३॥

आत्ययिकावस्था में बस्ति—यदि कोई व्यक्ति केवल वायु से अतिपीड़ित है और वमन-विरेचन द्वारा उसका संशोधन नहीं हुआ है तो उसे दिन-रात के किसी भी समय अनुवासन बस्ति का प्रयोग कर दिया जाता है॥ ४३॥

रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनान्। दत्त्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्॥ ४४॥

स्नेहनोपरान्त निरूहण—रूक्ष तथा वातबहुल व्यक्ति को दो-तीन अनुवासन बस्तियाँ देकर शरीर के स्निग्ध हो जाने के उपरान्त निरूहण बस्ति देनी चाहिए॥ ४४॥

अस्निग्धमपि वातेन केवलेनातिपीडितम्। स्नेहप्रगाढैर्मतिमान्निरूहैः समुपाचरेत्॥ ४५॥

स्नेह-बहुल निरूहण बस्ति—अस्निग्ध (ईषत् स्निग्ध) अर्थात् स्नेहन रहित व्यक्ति यदि केवल वात से अतिपीड़ित है तो उसे बुद्धिमान् चिकित्सक स्नेहबहुल निरूहण बस्तियाँ देकर उपचार करे॥ ४५॥

अथ सम्यङ्निरूढं तु वातादिष्वनुवासयेत्। बिल्वयष्ट्याह्वमदनफलतैलैर्यथाक्रमम्॥ ४६॥

बिल्वादि अनुवासन बस्ति—वातादि दोषों में भली-भाँति निरूहण दिये गये व्यक्ति को बेल, मुलेठी, मैनफल के क्वाथ से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ ४६॥

रात्रौ बस्तिं न दद्यात्तु दोषोत्क्लेशो हि रात्रिजः। स्नेहवीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम्॥

रात्रि में बस्तिदान का निषेध—रात्रि को बस्ति नहीं देनी चाहिए। इससे दोषोत्क्लेश होता है और सशक्त स्नेह से यह आध्मान, भारीपन और ज्वर उत्पन्न करता है॥ ४७॥

विमर्श—रात्रि का शैत्य स्रोतोरोधकर दोष, धातु, मलों में विक्लेदन लक्षण वाले उत्क्लेश को जन्म देता है। कहा भी है—'अविशुद्धे हि हृदये निशि क्लिन्नेषु धातुषु। विदग्धैस्तै रसस्रोतः सूपलिप्तेषु देहिनाम्'॥

अह्नि स्थानस्थिते दोषे वह्नौ चान्नरसान्विते। स्फुटस्रोतोमुखे देहे स्नेहौजः परिसर्पति॥ ४८॥

दिन में बस्ति देने का लाभ—दिन में बस्ति देने से स्नेह की शक्ति (प्रभाव) सारे शरीर में फैल जाती है, क्योंकि इस समय दोष अपने स्थान में स्थित होते हैं और जठराग्नि अन्नरस युक्त होती है और स्रोतोमुख खुले होते हैं॥ ४८॥

पित्तेऽधिके कफे क्षीणे रूक्षे वातरुगर्दिते। नरे रात्रौ तु दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम्॥ ४९॥

परिस्थितिवश रात्रि में भी बस्तिदान—यदि पित्तदोष की अधिकता और कफदोष क्षीण हो तथा रोगी रूक्ष एवं वातव्याधि से ग्रस्त हो तो उष्णकाल में रात्रि में भी अनुवासन बस्ति दे देनी चाहिए॥ ४९॥

उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदाः। सम्भवन्ति यतस्तस्मात् प्रदोषे योजयेद्भिषक्॥

प्रदोषकाल में बस्ति—यदि उष्णकाल में पित्त की अधिकता हो तो दिन में बस्ति देने से दाह आदि रोग हो जाते हैं। अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह ऐसी स्थिति में प्रदोषकाल में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करे॥ ५०॥

विमर्श—'प्रदोषो रजनीमुखम्' (अ.को.)।

शीते वसन्ते च दिवा ग्रीष्मप्रावृड्घनात्यये। स्नेह्यो दिनान्ते पानोक्तान् दोषान् परिजिहीर्षता॥

ऋतुओं के अनुसार दिन या रात में बस्ति—पूर्वोक्त दोषों को दूर करने की इच्छा वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह शीतर्तु और वसन्तर्तु में दिन के समय तथा ग्रीष्म, प्रावृट् एवं शरद् ऋतु में सन्ध्या के समय (दिनान्ते) स्नेहबस्ति का प्रयोग करें॥ ५१॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में वाग्भट—'तैलं प्रावृषि वर्षान्ते सर्पिरन्यौ तु माधवे' (सू. १६); 'ऋतौ साधारणे स्नेहः शस्तोऽह्नि विमले रवौ' (सू. १६); 'तैलं त्वरायां शीतेऽपि घर्मेऽपि च घृतं निशि' आदि।

अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानिलाधिकम्। तीव्रायां रुजि जीर्णान्नं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥

आपत्काल में बस्ति कभी भी दी जा सकती है—वायु की अधिकता में, तीव्र वेदना में और जिसका भुक्त अन्न जीर्ण हो गया है उसे भोजन कराने के उपरान्त दिन या रात में किसी भी समय स्नेहबस्ति दे देनी चाहिए॥ ५२॥

न चाभुक्तवतः स्नेहः प्रणिधेयः कथञ्चन। शुद्धत्वाच्छून्यकोष्ठस्य स्नेह ऊर्ध्वं समुत्पतेत्॥ ५३॥

खाली पेट बस्ति का निषेध—वमनादि से शुद्ध व्यक्ति का जब कोष्ठ रिक्त होता है उस समय रोगी को बिना खिलाये (भोजन कराये) कभी भी स्नेहबस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अन्यथा ('अतिपीडनवत् व्याप्तः स्यात्') स्नेह शरीर के ऊर्ध्व भाग की ओर (आमाशयादि में) गति करता है॥ ५३॥

सदाऽनुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽऽर्द्रपाणिनम्। ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्यात् स्नेहः प्रयोजितः॥

स्नेहबस्ति का भोजन के बाद उपयोग—अनुवासन (स्नेह) बस्ति सदा ही भोजन के तुरन्त बाद (आर्द्रपाणिनम्) दे देनी चाहिए। यदि भोजन के विदग्ध काल में स्नेहबस्ति का प्रयोग किया जाय तो ज्वर हो जाता है॥ ५४॥

न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्। मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः॥

स्निग्ध भोजन के उपरान्त स्नेहनबस्ति का निषेध—अति मात्र स्निग्ध भोजन के उपरान्त भी अनुवासन का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार दो तरह से स्नेह मिलने से मद और मूर्च्छा हो जाते हैं॥ ५५॥

रूक्षं भुक्तवतो ह्यन्नं बलं वर्णं च हापयेत्। युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥ ५६॥

रूक्ष भोजन के बाद निरूहण बस्ति का निषेध—इसी प्रकार रूक्ष भोजन करने के उपरान्त अनुवासन बस्ति देने से बल और वर्ण की हानि होती है। अतः उपयुक्त मात्रा में स्नेह सहित आहार लेने के उपरान्त अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ ५६॥

यूषक्षीररसैस्तस्माद्यथाव्याधि समीक्ष्य वा। यथोचितात् पादहीनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्॥ ५७॥

यूषादि के उपरान्त अनुवासन—यूष ('मुद्गयूषः स च रूक्षो ग्राह्यः'/श्लेष्मा में), क्षीर ('गव्यम्'/पित्त में), रस ('मांसरसः'/वायु में) अथवा व्याधि के अनुसार आहार का चतुर्थांश खिलाकर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए॥ ५७॥

विमर्श—''पादहीनमिति प्राक्संशुद्धस्य कृतसंसर्जनस्य उचितात् भक्तात् पादहीनमुत्तममध्यममन्दाग्नि-विशेषेण पादेन पादाभ्यां पादैर्वा हीनमिति ज्ञेयम्, 'अर्धहीनं त्रिभागं वा भोजयित्वाऽनुवासयेत्'–इति मुनिना प्रोक्तत्वात्''।

अथानुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः। भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः॥ ५८॥
विसृज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत् स्नेहबस्तिना। प्राणिधानविधानं तु निरूहे सम्प्रवक्ष्यते॥ ५९॥

अनुवासनविधि—अनुवासन के योग्य व्यक्ति का भली प्रकार अभ्यंग कर गरम जल से धीरे-धीरे स्वेदन करना चाहिए और शास्त्र के आदेश के अनुसार भोजन कराकर उसे टहलने दें। तदनन्तर मल-मूत्र के त्याग के बाद स्नेह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। बस्ति-प्रयोगविधि का वर्णन निरूह बस्ति के वर्णन प्रसंग में किया जायेगा॥ ५८-५९॥

ततः प्रणिहितस्नेह उत्तानो वाक्शतं भवेत्। प्रसारितैः सर्वगात्रैस्तथा वीर्यं विसर्पति॥ ६०॥

प्रणिहित स्नेह का पश्चात्कर्म—प्रणिहित स्नेह अर्थात् जिसके स्नेह बस्ति दी गयी है वह सौ अंक गिनने तक पीठ के सहारे (उत्तान/Lying on his back) लेटा रहे तथा सारे शरीर को फैलाकर शिथिल (Body fully relaxed) कर ले। इस प्रकार बस्ति का प्रभाव (वीर्य) सारे शरीर में फैल जाता है॥ ६०॥

ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन् वाराञ्छनैः शनैः। स्फिचोश्चैनं ततः शय्यां त्रीन् वारानुत्क्षिपेत्ततः॥
एवं प्रणिहिते बस्तौ मन्दायासोऽथ मन्दवाक्। स्वास्तीर्णे शयने काममासीताचारिके रतः॥ ६२॥

बस्ति के उपरान्त कर्तव्य—उपरोक्त प्रकार से लेटे हुए व्यक्ति के हाथ-पैर के तलवों को तीन-तीन बार धीरे-धीरे थपथपाना चाहिए (जिससे स्नेह शीघ्र लौट न आये)। नितम्ब भाग पर भी तीन-तीन बार थपथपाना चाहिए और शय्या के नितम्ब की ओर के भाग को धीरे-धीरे तीन बार ऊँचा करें। इस प्रकार प्रयुक्त की गयी बस्ति के उपरान्त व्यक्ति को चाहिए कि वह हलका (Light) काम करे, कम बोले और आराम (शान्ति) से क्रोधादि का परित्याग करता हुआ शय्या पर लेटा रहे॥ ६१-६२॥

विमर्श—'स्फिजोश्चैनमिति ताडयेदिति सम्बन्धः। अतस्तलयोर्गृहीतत्वात् कूर्परे जानुनी चोत्क्षिपेत् इत्यनुक्तो वृद्धवैद्यव्यवहारः शुद्धो भवति। शय्यामुत्क्षिपेदिति काष्ठफलकादिकृतां सहातुरेणोर्ध्वं नयेदित्यर्थः। शय्यास्थमातुरं स्फिग्देश इत्यन्ये' (ड.)।

स तु सैन्धवचूर्णेन शताह्वेन च योजितः। देयः सुखोष्णश्च तथा निरेति सहसा सुखम्॥ ६३॥

सैन्धव-शताह्व बस्ति—बस्ति में सेंधानमक और सौंफ का चूर्ण मिलाकर ('चूर्णमाषः पले स्नेहे सिन्धुजन्मशताह्वयोः') गुनगुना (कोष्ण) कर देने से वह बिना किसी प्रकार के कष्ट के शीघ्र बाहर आ जाता है॥ ६३॥

यस्यानुवासनो दत्तः सकृदन्वक्षमाव्रजेत्। अत्यौष्ण्यादतितैक्ष्ण्याद्वा वायुना वा प्रपीडितः॥ ६४॥
सवातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्वा सभेषजः। तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति॥

स्नेहबस्ति में अननुकूल दशाएँ—यदि स्नेहबस्ति अधिक उष्णता या अधिक तीक्ष्णता या वायु से प्रपीड़ित होकर या वायु (Flatus) के साथ, मात्रा में अधिक होने से या गुरुत्व (Weight) के कारण औषध सहित एक बार में ही बाहर निकल आती है तो रोगी को पुनः अल्प मात्रा में स्नेहबस्ति देनी चाहिए, क्योंकि बस्ति के अन्दर न टिके रहने से स्नेहन नहीं होता है॥ ६४-६५॥

विष्टब्धानिलविण्मूत्रः स्नेहहीनेऽनुवासने। दाहक्लमप्रवाहार्तिकरश्चात्यनुवासनः॥ ६६॥

अनुवासन बस्ति के दोष—स्नेहरहित (रूक्ष) अनुवासन बस्ति से वायु का अवरोध तथा मल-मूत्र की रुकावट हो जाती है। इसी प्रकार अधिक स्नेह वाली अनुवासन बस्ति से दाह, क्लम और वेदना युक्त प्रवाह (मलत्याग) होते हैं॥ ६६॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु। ओषचोषौ विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः॥ ६७॥
जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः। लघ्वन्नं भोजयेत् कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि॥ ६८॥
प्रातरुष्णोदकं देयं धान्यनागरसाधितम्। तेनास्य दीप्यते वह्निर्भक्ताकाङ्क्षा च जायते॥ ६९॥

सम्यक् अनुवासित के लक्षण—जिस अनुवासित व्यक्ति के बिना ओष ('ओषः प्लोषे'–अ.को./दाहः) तथा चोष (वेदनाविशेष) के वायु (Flatus) और पुरीष सहित स्नेह लौट आता है, उसे 'सम्यक् अनुवासित' समझना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को स्नेह के लौट आने पर सायंकाल पूर्व भुक्त अन्न के जीर्ण होने पर लघु आहार इच्छानुसार दें, यदि रोगी की जठराग्नि दीप्त हो। अग्नि दीप्त न हो तो धनियाँ और शुण्ठी से साधित कोष्ण जल को प्रातःकाल पीने से अग्नि दीप्त होती है और भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है॥ ६७-६९॥

स्नेहबस्तिक्रमेष्वेवं विधिमाहुर्मनीषिणः।

मनीषी जनों (स्नेहबस्तिक्रमविदः कायचिकित्सका इत्यर्थः) ने इस प्रकार स्नेहबस्ति के क्रम का वर्णन किया है।

अनेन विधिना षड् वा सप्त वाऽष्टौ नवैव वा॥ ७०॥
विधेया बस्तयस्तेषामन्तरा तु निरूहणम्।

इस विधि से छः, सात, आठ या नौ स्नेह बस्तियाँ देनी चाहिए। इन बस्तियों के बीच-बीच में (दोषों के निर्हरण के लिए) निरूहण बस्तियाँ देनी चाहिए॥ ७०॥

विमर्श—चरक के अनुसार भी—'त्रीन् पञ्च वाहुश्चतुरोऽथ षड् वा वाताधिकानामनुवासनीयान्। स्नेहान्प्रदत्ताशु भिषग् विदध्यात् स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहान्' ॥ इति।

दत्तस्तु प्रथमो बस्तिः स्नेहयेद्बस्तिवङ्क्षणौ॥ ७१॥
सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्थमनिलं जयेत्। जनयेद्बलवर्णौ च तृतीयस्तु प्रयोजितः॥ ७२॥
रसं चतुर्थो रक्तं तु पञ्चमः स्नेहयेत्तथा। षष्ठस्तु स्नेहयेन्मांसं मेदः सप्तम एव च॥ ७३॥
अष्टमो नवमश्चास्थि मज्जानं च यथाक्रमम्। एवं शुक्रगतान् दोषान् द्विगुणः साधु साधयेत्॥

प्रथम-द्वितीयादि बस्तियों के कार्य—दी हुई प्रथम स्नेह बस्ति से बस्ति (Bladder) और वंक्षण (Pelvis) का स्नेहन होता है। भली प्रकार दी हुई द्वितीय बस्ति शिर में स्थित वायु ('बस्तिवङ्क्षणावित्युप-

लक्षणमधःकायस्य; मूर्धा उपलक्षणमूर्ध्वकायस्य') को शान्त करती है। इसी प्रकार सम्यक्-प्रयुक्त तृतीय बस्ति से बल और वर्ण (Complexion) में वृद्धि होती है। चतुर्थ बस्ति रस तथा पञ्चम बस्ति रक्त का स्नेहन करती है। छठी बस्ति से मांस का स्नेहन होता है, जबकि सातवीं बस्ति से मेदो धातु का स्नेहन होता है। आठवीं बस्ति अस्थि और नवम बस्ति मज्जधातुगत दोषों को ठीक करती है तथा व्याधिसमुद्देशीयोक्त शुक्र दोषों को दूर करने के लिए द्विगुण (अठारह) बस्ति भली प्रकार प्रयुक्त करनी चाहिए॥ ७१-७४॥

विमर्श—बस्ति संख्या से दोषों पर प्रभाव का वर्णन तन्त्रान्तर में—'एकं त्रीन्वा बलासे तु स्नेहबस्तीन् प्रकल्पयेत्। पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले'॥

अष्टदशाष्टादशकान् बस्तीनां यो निषेवते। यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेण तु॥ ७५॥
स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवैस्तुल्योऽमरप्रभः। वीतपाप्मा श्रुतधरः सहस्रायुर्नरो भवेत्॥ ७६॥

बस्तियों से रसायन-लाभ—जो मनुष्य अठारह स्नेह और अठारह निरूहण बस्तियों का यथोक्त विधि तथा आतुरोपद्रव में वर्णित की जाने वाले परिहार क्रम के अनुसार सेवन करता है वह हाथी के समान बल वाला और अश्व की तरह तेज, श्रुतिधर (सुने हुए शब्दों को याद कर लेने वाला) तथा देवसदृश प्रभायुक्त, जिसके पाप क्षीण हो गये हैं वह एक हजार वर्ष की आयु वाला हो जाता है॥ ७५-७६॥

विमर्श—'यद्यप्यत्र स्नेहबस्तीनामष्टादशकं अन्तरा तु निरूहणमिति पूर्ववाक्यादनियतनिरूहणान्वितोऽभिहितस्तथापि तन्त्रान्तरदर्शनात् नियतद्वादशयापनाख्यनिरूहोपेतो ज्ञेयः, तादृशस्य च तन्त्रान्तरे कर्म इति संज्ञा'।

तथा वाग्भटेनापि कर्मफलयोगबस्तयोऽभिहिताः। तथा च—'प्राक् स्नेह एकः पञ्चान्ते द्वादशास्थापनानि च। सान्वासनानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः॥ कालः पञ्चदशैकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा। षड् पञ्च बस्त्यन्तरिता योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु। त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ'॥ इति।

उपर्युक्त विवरण में अठारह स्नेह एवं अठारह निरूह बस्तियों के क्रम का विवेचन किया गया है कि स्नेह और निरूह बस्तियाँ बारी-बारी से किस क्रम से देनी चाहिए।

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्। स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात् पवनाद्भयम्॥ ७७॥
तस्मान्निरूढोऽनुवास्यो निरूह्यश्चानुवासितः। नैवं पित्तकफोत्क्लेशौ स्यातां न पवनाद्भयम्॥

एक ही तरह की बस्तियाँ न दें—केवल स्नेहबस्तियाँ अथवा केवल निरूहबस्तियाँ नहीं देनी चाहिए, क्योंकि केवल स्नेहबस्तियाँ देते रहने से जठराग्नि का नाश और उत्क्लेश तथा केवल निरूहबस्तियों से वातप्रकोप का भय रहता है॥ ७७॥

बारी-बारी से बस्तियाँ दें—अतः निरूह के उपरान्त अनुवासन और अनुवासन के पश्चात् निरूहण बस्ति का प्रयोग करने से न तो पित्त और कफ के उत्क्लेश का भय रहता है और न पवन प्रकोप का॥ ७८॥

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहबस्तिं दिने दिने। दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात् त्र्यहात्॥ ७९॥

स्नेह बस्ति का दोषानुसार प्रयोग—जो व्यक्ति रूक्ष तथा वातबहुल है, उसे प्रतिदिन स्नेहबस्ति दी जाती है। वैद्य को अन्य व्यक्तियों में अग्निवध के भय से तीसरे दिन स्नेहबस्ति देनी चाहिए॥ ७९॥

स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः। तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते॥

अभ्यास से बस्तियों का निरापद होना—रूक्ष व्यक्तियों में यदि स्नेहबस्तियों को अल्पमात्रा में दीर्घ काल तक दिया जाय तो भी ये निरापद हैं। इसी प्रकार स्निग्ध व्यक्तियों में निरूहण बस्तियों को अल्पमात्रा में दीर्घ काल तक देना भी निरापद है॥ ८०॥

विमर्श—कुछ संस्करणों में 'सर्वकालमनत्ययः' के स्थान पर 'दीर्घकालमनत्ययः' पाठ मिलता है।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि व्यापदः स्नेहबस्तिजाः। बलवन्तो यदा दोषाः कोष्ठे स्युरनिलादयः॥ ८१॥

अल्पवीर्यं तदा स्नेहमभिभूय पृथग्विधान्। कुर्वन्त्युपद्रवान् स्नेहः स चापि न निवर्तते॥ ८२॥
तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता। जृम्भा वातरुजस्तास्ता वेपथुर्विषमज्वरः॥ ८३॥
पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुखस्य कटुता भवेत्। दाहस्तृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्रमूत्राङ्गपीतता॥ ८४॥
श्लेष्माभिभूते स्नेहे तु प्रसेको मधुरास्यता। गौरवं छर्दिरुच्छ्वासः कृच्छ्राच्छीतज्वरोऽरुचिः॥ ८५॥

स्नेहबस्ति-व्यापत् और चिकित्सा—अब इसके उपरान्त स्नेहबस्तियों से होने वाली व्यापत्तियों का वर्णन किया जायेगा—जब **वातादि दोष** कोष्ठ में बलवान् हों तो वे अल्प शक्ति वाले स्नेह को पराजित कर नाना प्रकार के उपद्रवों को जन्म देते हैं और स्नेह को बाहर निकलने नहीं देते हैं। ऐसी स्थिति में जब स्नेह वायु से परास्त हुआ होता है तो मुखकषायता (मुख में कसैलापन/Feeling of astringent taste), जम्भाईयाँ आना, विविध वातिक वेदनाएँ, कम्प (Tremors) और विषम (Irregular type) ज्वर होते हैं। यदि स्नेह **पित्ताभिभूत** हो तो मुख में कटुता (Pungent taste), दाह, तृष्णा, ज्वर, स्वेद, नेत्र, मूत्र और शरीर में पीलापन होते हैं। यदि स्नेह पर **श्लेष्मा का प्रभाव** है तो मुख से लालास्राव (Excessive salivation) और माधुर्य, शरीर में भारीपन (Lassitude), वमन, कृच्छ्र उच्छ्वास (Difficulty in breathing), शीत (With rigor) ज्वर और भोजन में अरुचि होते हैं॥ ८१-८५॥

तत्र दोषाभिभूते तु स्नेहे बस्तिं निधापयेत्। यथास्वं दोषशमनान्युपयोज्यानि यानि च॥ ८६॥

प्रतिकार—इस प्रकार जब प्रयुक्त स्नेह दोषों से पराभूत हुआ होता है तो उस दशा में तत्तद् दोषहर कषाय एवं संशोधन द्रव्यों से बनी निरूहण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए तथा संशमन द्रव्यों का दोषानुसार प्रयोग करना चाहिए॥ ८६॥

अत्याशितेऽन्नाभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा। गुरुरामाशयः शूलं वायोश्चाप्रतिसञ्चरः॥ ८७॥
हृत्पीडा मुखवैरस्यं श्वासो मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः। तत्रापतर्पणस्यान्ते दीपनो विधिरिष्यते॥ ८८॥

स्नेहबस्ति में अत्यशन व्यापत्—जब स्नेह अधिक आहार के कारण परास्त हो जाता है तो स्नेह बाहर नहीं आ पाता है। इससे आमाशय में भारीपन, शूल (Colicky pain), वायु का संचरण न होना (Diminished peristalsis), हृत्पीड़ा (Pain in the cardiac region), मुख का खराब स्वाद, श्वास, मूर्च्छा, भ्रम (Vertigo) तथा अरुचि होते हैं। ऐसी दशा में अपतर्पण (अभोजनम्/Fasting) और उसके अन्त में दीपन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए॥ ८७-८८॥

अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः। तदाऽङ्गसदनाध्माने श्वासः शूलं च जायते॥ ८९॥
पक्वाशयगुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम्। तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम्॥ ९०॥

अशुद्ध में निरूह व्यापत्—वमन-विरेचनादि से संशोधन किये बिना अनुवासन देने से स्नेह मल से मिश्रित हो जाने से बाहर नहीं आ पाता है जिससे अङ्गसदन (Lassitude), आध्मान (Flatulence), श्वास (Dyspnoea) और शूल (Colic) तथा पक्वाशय (Large bowels) में भारीपन हो जाते हैं। ऐसे में निरूहण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए और तीक्ष्ण औषधियों से सिद्ध तीक्ष्ण अनुवासन बस्ति दें॥ ८९-९०॥

शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम्। गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणामुपलेपोऽवसादनम्॥ ९१॥
स्नेहगन्धि मुखं चापि कासश्वासावरोचकः। अतिपीडितवत्तत्र विधिरास्थापनं तथा॥ ९२॥

शुद्ध में स्नेह व्यापत्—वमन-विरेचनादि से शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को स्नेहबस्ति देने से शरीर में स्नेह के फैल जाने पर शरीर में स्निग्धता दीखने लगती है, सभी इन्द्रियाँ उपलिप्त (उपलेपो मलवृद्धिः/Excessive secretions in all the sensory organs) हो जाती हैं, अवसादन (ग्लानिः/Mental depression), मुख में से स्नेह की गन्ध आती है तथा कास-श्वास-अरोचक होते हैं। इस अवस्था का उपचार 'बस्ति के अतिपीड़न की तरह' करना चाहिए तथा निरूहण (आस्थापन) बस्तियों का प्रयोग करें॥ ९१-९२॥

विमर्श—'तत् पुनर्गलावपीडादि शीतसेकान्तम्'-ड.।

अस्विन्नस्याविशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः सम्प्रयोजितः। शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मन्दं प्रवाहते॥
विबन्धगौरवाध्मानशूलाः पक्वाशयं प्रति। तत्रास्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासनम्॥ ९४॥

अस्विन्न में स्नेह व्यापत्—जिस व्यक्ति का स्वेदन और शोधन नहीं हुआ है उसे अल्प मात्रा में शीतल एवं मृदु स्नेह (अनुवासन) प्रयुक्त किया जाय तो वह बाहर नहीं आता है और बाद में धीमे-धीमे निकलता है, जिससे विबन्ध, गौरव, आध्मान और पक्वाशय में वेदना होते हैं। ऐसे रोगी में शीघ्र ही पहले आस्थापन तत्पश्चात् अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ९३-९४॥

अल्पं भुक्तवतोऽल्पो हि स्नेहो मन्दगुणस्तथा। दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत्॥
तत्राप्यास्थापनं कार्यं शोधनीयेन बस्तिना। (अन्वासनं च स्नेहेन शोधनीयेन शस्यते॥ ९६॥)

अल्पगुण स्नेह व्यापत्—अल्प मात्रा में भोजन किये व्यक्ति को मन्द गुण वाले स्नेह की अल्प मात्रा दी जाय तो वह वापस नहीं लौटती है। इससे व्यक्ति को थकान, उत्क्लेश (जी मचलना) और तीव्र बेचैनी होते हैं। इसके उपचार में भी शोधनीय आस्थापन बस्ति तथा शोधनीय स्नेह से अनुवासन बस्ति देना प्रशस्त है॥ ९५-९६॥

अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दुष्यति। कुर्याद्बस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत्॥ ९७॥

अनिवृत्ति व्यापत्—यदि अहोरात्र समय में ('अपिशब्दात् त्रिचतुरादियामनिवृत्तिस्तावन्न दूष्यत्येवाहोरात्रादपि इति अपिशब्देन'–ड.) स्नेह (बस्ति का) लौट आता है तो यह दोष नहीं है, अर्थात् हानिकर नहीं होता है अपितु बस्ति के गुण प्रदान करता है। किन्तु स्नेह जीर्ण हो जाय तो वह अल्प गुण वाला होता है॥ ९७॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहबस्तिरनिःसृतः। सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता॥

उपद्रवरहित अनिःसृत बस्ति—जिस व्यक्ति की स्नेहबस्ति आवृत होने ('तत्रावृतो दोषत्रयेण, अत्यशनेन, मलसञ्चयेन वेत्यर्थः') से अथवा रूक्षता के कारण पूरी तरह (सम्पूर्ण) लौटकर बाहर नहीं आती है अथवा थोड़ी-थोड़ी आती है तथा कोई उपद्रव भी नहीं करती है उसकी बुद्धिमान् चिकित्सक को उपेक्षा करनी चाहिए ('तदाकृष्टचां यत्नं न कुर्यादित्यर्थः')॥ ९८॥

अनायान्तं त्वहोरात्रात् स्नेहं संशोधनैर्हरेत्।

स्नेह के न लौटने पर—यदि अहोरात्र (२४ घण्टे तक) के समय में उपद्रव युक्त स्नेह लौट नहीं आता है तो उसका शोधन बस्तियों द्वारा निर्हरण कर करना चाहिए।

स्नेहबस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते॥ ९९॥

निरूहबस्ति का प्रयोग—उपद्रव युक्त स्नेहबस्ति यदि लौट नहीं आती है तो अन्य स्नेहबस्ति नहीं देनी चाहिए (अपितु शोधनार्थ निरूहबस्तियों का प्रयोग करना चाहिए)॥ ९९॥

इत्युक्ता व्यापदः सर्वाः सलक्षणचिकित्सिताः।

इस प्रकार सभी व्यापत्तियों के लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम्॥ १००॥
चतुर्दशाङ्गुलं नेत्रमातुराङ्गुलसम्मितम्। मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपनिर्गमम्॥ १०१॥

नेत्र की लम्बाई आदि का वर्णन—अब इसके उपरान्त उत्तरबस्ति की विधि का वर्णन किया जायेगा—उत्तरबस्ति का नेत्र (Nozzle) पुरुषों के लिए चौदह अंगुल (रोगी की अँगुलियों के नाप से) लम्बा, अग्र भाग (Proximal/Introducing end) मालती पुष्प के वृन्त (Stalk) सदृश और छिद्र सरसों के दाने के निकलने जितना होना चाहिए॥ १००-१०१॥

विमर्श—भावमिश्रः—'निरूहादुत्तरो यस्मात् तस्मादुत्तरसंज्ञकः'। 'गुदादुत्तरेण मार्गेण दीयत इत्युत्तर-बस्तिः' (अरुणदत्तः)। अत्र वाग्भटः—'आतुराङ्गुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशाङ्गुलम्। वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम्॥ सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसम्भवम्। कुन्दाश्वमारसुमनःपुष्पवृन्तोपमं दृढम्'॥ (सू. १९।७१-७२)

क्षारपाणि का कहना है कि निर्धारित प्रमाण से अधिक लम्बा नेत्र बस्ति को हानि पहुँचा सकता है।

स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तितः। पञ्चविंशादधो मात्रां विदध्याद्बुद्धिकल्पिताम्॥ १०२॥

स्नेहमान—बस्ति में स्नेह की परम मात्रा एक प्रकुञ्च (पलम्) है (पच्चीस वर्ष से अधिक आयु वालों के लिए)। इस (२५ वर्ष) से कम आयु वालों के लिए चिकित्सक अपनी बुद्धि से मात्रा का निर्धारण करे॥ १०२॥

विमर्श—चरक के अनुसार स्नेह की परम मात्रा आधा पल है। **बुद्धिकल्पिताम्**—अयमर्थः—'सांवत्सरिकबालकस्य स्नेहनस्य पञ्चविंशतितममंशमारभ्य द्विवत्सरिकादौ प्रतिवत्सरं पञ्चविंशतितमस्यांशस्य वृद्धिः स्यात् यावत् पञ्चविंशतिवर्षस्य पलम्'–ड.)। अभिप्राय यह है कि पच्चीस वर्ष से अधिक आयु वालों के लिए स्नेह की मात्रा एक पल है और इससे कम आयु वालों के लिए—एक वर्ष वालों के लिए परम मात्रा का पच्चीसवाँ भाग और इससे आगे प्रतिवर्ष इसी क्रम से मात्रा निश्चित की जानी चाहिए।

निविष्टकर्णिकं मध्ये नारीणां चतुरङ्गुले। मूत्रस्रोतःपरीणाहं मुद्गवाहि दशाङ्गुलम्॥ १०३॥
मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः।

उत्तरबस्ति-नेत्रप्रमाण—पुरुषों में प्रयुक्त उत्तरबस्ति की कर्णिका मध्य में तथा स्त्रियों की उत्तरबस्ति की कर्णिका चार अंगुल की दूरी पर होनी चाहिए। इसका परिणाह (स्थौल्य/Thickness) मूत्रस्रोत के बराबर (Lumen of the urethra) तथा अन्तश्छिद्र का मान मूँग के दाने के प्रवेश योग्य होना चाहिए। नेत्र की लम्बाई दस अंगुल होनी चाहिए। कुछ की सम्मति (इस विषय को जानने वालों की) के अनुसार नेत्र का मान (लम्बाई) पुरुषजननेन्द्रिय (Penis) के समान (स्त्रियों के लिए) होनी चाहिए ('मेढ्रायामसममिति अपत्यमार्गे पुरुषेन्द्रियस्थूलनेत्रं केचित्')॥ १०३॥

तासामपत्यमार्गे तु निदध्याच्चतुरङ्गुलम्॥ १०४॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु कन्यानां त्वेकमङ्गुलम्। विधेयं चाङ्गुलं तासां विधिवद्वक्ष्यते यथा॥

मार्गभेद से प्रणिधान—उत्तरबस्तिनेत्र को स्त्रियों में चार अंगुल अन्तः प्रविष्ट करना चाहिए। मूत्रकृच्छ्रादि विकारों में युवा स्त्री के मूत्रमार्ग में दो अँगुल तथा कन्याओं (बारह वर्ष से कम आयु) में एक अंगुल नेत्र प्रविष्ट करना चाहिए। यह माप रुग्णा की अँगुलियों के अनुसार होना चाहिए। जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा उसी प्रकार का होना चाहिए॥ १०४-१०५॥

स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वाङ्गुलीमूलसम्मितम्। देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम्॥ १०६॥

स्त्रियों में उत्तरबस्ति-स्नेहमान—स्त्रियों में उत्तरबस्ति के लिए स्नेह की उत्तम (Maximum) मात्रा रुग्णा के अंगुलीमूल तक जितना स्नेह (एक प्रसृत) आता है उतनी होती है (प्रसृत और प्रसृति समानार्थक हैं, दो पल की प्रसृति या प्रसृत होता है—'पलाभ्यां प्रसृति ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते'–शा.)। इससे कम का निर्णय चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार करना चाहिए॥ १०६॥

विमर्श—'रोगे मध्यबले हीनबलरोगे तु सर्वास्वपि वयोऽवस्थासूत्तमप्रमाणादर्वाक् मध्यं हीनं च बुद्ध्या विकल्पितं मानं ज्ञेयम्। गर्भाशयशोधनार्थं च स्नेहमात्राद्वैगुण्यमग्रे वक्ष्यति' (ड.)।

औरभ्रः शौकरो वाऽपि बस्तिराजश्च पूजितः। तदलाभे प्रयुञ्जीत गलचर्म तु पक्षिणाम्॥ १०७॥
(तस्यालाभे दृतेः पादो मृदुचर्म ततोऽपि वा।)

बस्ति के निर्माणार्थ द्रव्य—बस्ति (Enema bag) के निर्माणार्थ मेढा, जंगली सूअर, बकरा इनका मूत्राशय (Urinary bladder) श्रेष्ठ है। इनके अभाव में पक्षियों के गले का मृदु चर्म लेना चाहिए। यह भी उपलब्ध न हो तो पशुओं की खाल का चौथाई मोटापन (Quarter thickness) या कोई-सा मृदु चर्म लेना चाहिए॥ १०७॥

अथातुरमुपस्निग्धं स्विन्नं प्रशिथिलाशयम्॥ १०८॥

यवागूं सघृतक्षीरां पीतवन्तं यथाबलम्। निषण्णमाजानुसमे पीठे सोपाश्रये समम्॥ १०९॥

स्वभ्यक्तबस्तिमूर्धानं तैलेनोष्णेन मानवम्। ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम्॥ ११०॥

पूर्वं शलाकयाऽन्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम्। शनैः शनैर्घृताभ्यक्तं विदध्यादङ्गुलानि षट्॥ १११॥

मेढ्रायामसमं केचिदिच्छन्ति प्रणिधानकम्। ततोऽवपीडयेद्बस्तिं शनैर्नेत्रं च निर्हरेत्॥ ११२॥

ततः प्रत्यागतस्नेहमपराह्णे विचक्षणः। भोजयेत् पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा॥ ११३॥

पुरुषों में उत्तरबस्ति-प्रणिधान—जठराग्नि एवं शारीरिक बल के अनुसार घृतक्षीरयुक्त यवागू का पान करने वाले स्निग्ध एवं स्विन्न (जिसका स्वेदन हुआ है) व्यक्ति को वात-मल-मूत्र के त्याग के उपरान्त आशयों के शिथिल हो जाने पर जानु के बराबर ऊँचे पीठ वाले दृढ़ आसन पर सीधा बिठा दे। तत्पश्चात् रोगी का तथा उसकी बस्ति के ऊपर (मूर्ध भाग पर/Fundus of the urinary bladder) का कोष्ण तैल से अभ्यङ्ग करना चाहिए। फिर उसकी प्रहर्षित शिश्नेन्द्रिय को सीधे दृढ़तापूर्वक पकड़कर पहले शलाका की सहायता (Bougie) से मूत्रमार्ग की जाँच कर बस्तिनेत्र पर भली प्रकार घृत लगाकर धीरे-धीरे उसे छः अंगुल तक प्रविष्ट कर दें। अब बस्ति को धीरे-धीरे दबाना चाहिए। कुछ की सम्मति है कि शिश्नेन्द्रिय की लम्बाई के बराबर नेत्र को अन्तःप्रविष्ट करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे से बस्तिनेत्र को निकाल लें। जब स्नेह लौट कर आ जाय तो मतिमान् चिकित्सक रोगी को सायं समय यूष, दूध या मांसरस का भोजन करायें॥ १०८-११३॥

अनेन विधिना दद्याद्बस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपि वा।

इसी विधि के अनुसार तीन-चार बस्तियाँ देनी चाहिए।

विमर्श—डल्हण के अनुसार इस श्लोकार्ध में यह सन्देश दिया गया है कि उत्तरबस्ति द्वारा दिये गये स्नेह के लौट आने के उपरान्त उसी दिन तीन-चार बार स्नेह को अन्तः प्रविष्ट करना चाहिए। तदनन्तर तीन दिन के व्यवधान के उपरान्त पुनः उत्तरबस्तियाँ दें। इस प्रकार तब तक करते रहें जब तक व्याधि निर्मूल नहीं हो जाती। वाग्भट में भी इसी तरह का वर्णन मिलता है—'बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत्। त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात् पुनस्त्र्यहम्'॥

ऊर्ध्वजान्वै स्त्रियै दद्यादुत्तानायै विचक्षणः॥ ११४॥

सम्यक् प्रपीडयेद्योनिं दद्यात् सुमृदुपीडितम्। त्रिकर्णिकेन नेत्रेण दद्याद् योनिमुखं प्रति॥ ११५॥

स्त्रियों में उत्तरबस्ति-प्रणिधान—पीठ के सहारे लेटी हुई (Lying in the supine position) और जानुओं को मोड़े हुए स्त्री की योनि को भली प्रकार दबायें और तीन कर्णिका वाले बस्तिनेत्र को योनि में प्रविष्ट कर बस्ति को धीरे-धीरे प्रपीड़ित करें॥ ११४-११५॥

विमर्श—यदि 'विचक्षणः' पाठ के स्थान पर 'समाहितः' यह पाठ होने पर उसका अर्थ है—'कामसङ्कल्परहितेनाचलितचित्तप्रकृतिनेत्यर्थः'।

गर्भाशयविशुद्ध्यर्थं स्नेहेन द्विगुणेन तु।

स्नेह की दुगुनी मात्रा—यदि उत्तरबस्ति देने का उद्देश्य गर्भाशय की शुद्धि करना हो तो स्नेह की मात्रा दुगुनी (दो प्रसृत) होनी चाहिए।

विमर्श—'स्नेहेन द्विगुणेन तु पूर्वोक्तवत् अत्रांगुलीमूलसंमितप्रसृत्यपेक्षया द्विगुणेनेति ज्ञेयम्' (ड.)।

क्वाथप्रमाणं प्रसृतं, स्त्रिया द्विप्रसृतं भवेत्॥ ११६॥
कन्येतरस्याः, कन्यायास्तद्वद्वस्तिप्रमाणकम्।

निरूहणोत्तरबस्ति-प्रमाण—रुग्ण पुरुष के लिए बस्तिशोधन करना हो तो क्वाथ की मात्रा एक प्रसृत ('तेनातुरपुरुषस्य यथावयः स्वहस्तसंमितं प्रसृतं मात्रप्रमाणम्') होनी चाहिए। स्त्रियों के लिए ('कन्येतरस्याः अप्रसूतायाः प्रसूताया वा') यह मात्रा दो प्रसृत है। कन्याओं ('गर्भग्रहणायोग्यायाः कन्यायाः अप्राप्तद्वादशवर्षायाः') के लिए स्वहस्तपरिमित एक प्रसृत क्वाथ मात्रा होनी चाहिए॥ ११६॥

अप्रत्यागच्छति भिषग् बस्तावुत्तरसंज्ञिते॥ ११७॥
भूयो बस्तिं निदध्यात्तु संयुक्तं शोधनैर्गणैः। गुदे वर्तिं निदध्याद्वा शोधनद्रव्यसम्भृताम्॥ ११८॥
प्रवेशयेद्वा मतिमान् बस्तिद्वारमथैषणीम्। पीडयेद्वाऽप्यधो नाभेर्बलेनोत्तरमुष्टिना॥ ११९॥

बस्ति द्वारा दिये गये स्नेह के लौटकर न आने पर—यदि दी गयी उत्तरबस्ति का स्नेह लौटकर नहीं आता है तो चिकित्सक को चाहिए कि वह शोधनगण की औषधियों से युक्त बस्ति का पुनः प्रयोग करे। अथवा शोधन द्रव्यों से निर्मित गुदवर्ति का प्रयोग करे या बुद्धिमान् चिकित्सक एषणी (Probe) शलाका को बस्तिद्वार (Opening of the bladder) में प्रविष्ट करे। अथवा रोगी की नाभि के निचले भाग को बन्द मुट्ठी (Closed fist) से बलपूर्वक दबाव डालना चाहिए॥ ११७-११९॥

विमर्श—उत्तरबस्ति में दिये गये स्नेह का प्रत्यागमन समय—'अत्र गयदासः-स्नैहिकस्योत्तरबस्ति-दर्शनात् मात्राशतादूर्ध्वं प्रत्यागमनकालं वर्णयति'। दृढ़बल का कथन है—'प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं चैव दापयेत्। अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च'॥

संशोधनैः—'त्रिवृदादिभिर्वस्तिशोधनैश्च तृणपञ्चमूलादिगणद्रव्यैः'। **शोधनद्रव्यसम्भृताम्**—इति विरेचनद्रव्यनिर्मिताम्।

आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुण्ड्याः स्वरसेन च। कुर्याद्गोमूत्रपिष्टेषु वर्तीर्वाऽपि ससैन्धवाः॥ १२०॥
मुद्गैलासर्षपसमाः प्रविभज्य वयांसि तु। बस्तेरागमनार्थाय ता निदध्याच्छलाकया॥ १२१॥

वर्तिका-प्रयोग—आरग्वध के पत्रों को निर्गुण्डी के स्वरस में तथा गोमूत्र में पीसकर सेंधानमक मिलाकर वर्ति (Suppository) बना लें। इन वर्तियों का आकार रोगी की आयु का विचार कर मूँग, एला, सरसों—इनके समान होना चाहिए। फिर वर्ति को शलाका की सहायता से (मूत्र या अपत्य पथ में) रख देना चाहिए जिससे बस्ति द्वारा अन्तः प्रविष्ट स्नेह बाहर आ जाय॥ १२०-१२१॥

विमर्श—'बस्तिरागमनार्थाय, ताः वर्तीः मूत्रमार्गे शलाकया निदध्यात् प्रवेशयेत् स्नेहाय कर्षणार्थम्, अपत्यमार्गे स्थूला वर्तिश्चतुरङ्गुला प्रणिधेया' (ड.)।

आगारधूमबृहतीपिप्पलीफलसैन्धवैः। कृता वा शुक्तगोमूत्रसुरापिष्टैः सनागरैः॥ १२२॥
अनुवासनसिद्धिं च वीक्ष्य कर्म प्रयोजयेत्।

अन्य वर्ति—घर का धुआँ, बड़ी कटेरी, पीपल, मदनफल और सेंधानमक—इनको काँजी या सिरका, गोमूत्र या सुरा (मदिरा) में पीसकर और शुण्ठी चूर्ण मिलाकर उत्तरबस्ति देनी चाहिए। अन्य उपाय जिनका अनुवासन के वर्णन में किया गया है, उनको भी प्रयोग करना चाहिए॥ १२२॥

शर्करामधुमिश्रेण शीतेन मधुकाम्बुना॥ १२३॥
दह्यमाने तदा बस्तौ दद्याद्वस्तिं विचक्षणः। क्षीरवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन च॥ १२४॥

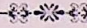
दाह-शान्ति के लिए—यदि बस्ति के प्रयोग से (मूत्राशय में) जलन हो रही हो (Burning sensation in the urinary bladder) तो मधु और शर्करा मिश्रित मुलेठी के क्वाथ से विद्वान् चिकित्सक उत्तरबस्ति दे। शीतल क्षीरवृक्षकषाय और शीतल दूध की उत्तरबस्ति भी देनी चाहिए॥ १२३-१२४॥

शुक्रं दुष्टं शोणितं चाङ्गनानां पुष्पोद्रेकं तस्य नाशं च कष्टम्।
मूत्राघातान्मूत्रदोषान् प्रवृद्धान् योनिव्याधिं संस्थितिं चापरायाः ।। १२५ ।।
शुक्रोत्सेकं शर्करामश्मरीं च शूलं बस्तौ वङ्क्षणे मेहने च।
घोरानन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान् हित्वा मेहानुत्तरो हन्ति बस्तिः ।। १२६ ।।

उत्तरबस्ति के विषय—प्रमेहों (Urinary abnormalities) को छोड़कर उत्तरबस्ति निम्नलिखित रोगों को नष्ट करती है—१. दुष्ट शुक्र (Impurities of semen), २. स्त्रियों का दुष्ट मासिक रक्त (Impurities of menstrual blood); जैसे—अत्यार्तव (Menorrhagia), अनियमित मासिक (Metrorrhagia), ३. मासिक का न होना या कष्ट से होना, ४. मूत्राघात (Suppression of urine), ५. बढ़े हुए मूत्रदोष (Serious urinary troubles), ६. योनि के रोग (Diseases of the vagina), ७. अपरा की संस्थिति ('अपरा गर्भावरणशेषः यस्य' 'उल्वण' इति लोके/Retained placenta), ८. शुक्रोत्सेक (शुक्र का निकलते रहना/Abnormal discharge of semen), ९. शर्करा (Gravel disease), १०. अश्मरी (Stone in bladder), ११. बस्तिशूल (Pain in the bladder), १२. वंक्षणशूल (Pain in the inguinal region), १३. शिश्नशूल (Pain in the penis) और बस्ति के अन्य भयंकर रोग ।। १२५-१२६ ।।

सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च। बस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानं स्नेहबस्तिना ।। १२७ ।।

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थानेऽनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सितं नाम सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।



भली प्रकार दी गयी उत्तरबस्ति के लक्षण, व्यापत्तियाँ और चिकित्साक्रम स्नेहबस्तियों के समान होते हैं ।। १२७ ।।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'अनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्साध्याय' नामक सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।। ३७ ।।



अध्याय-सारांश

'अनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—विरेचन के सात दिन बाद अनुवासन बस्ति देने का आदेश, स्नेहबस्तियों में द्रव की मात्रा, अविशुद्ध व्यक्ति को तथा जिसने मल-मूत्र-वात का त्याग नहीं किया है उसे बस्ति देने का निषेध (६); शटी-पुष्करादि, वचा-पुष्करादि, चित्रकादि सिद्ध तैलों का स्नेहबस्ति के लिए प्रयोग नाना प्रकार के रोगों का नाश करता है। इनमें से अनेक तैलों का प्रयोग पान, अभ्यंग, नस्य और स्नेहबस्तियों के लिए होता है (३२); वात के अत्यधिक प्रकोप में अविशुद्ध व्यक्ति का भी अनुवासन किया जा सकता है (४३); रात के समय स्नेहबस्ति न दें, पर किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किसी भी समय बस्ति का प्रयोग किया जा सकता है। बिना खिलाये स्नेहबस्ति का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए (५३); स्नेहबस्ति देने के उपरान्त रोगी उत्तान-आसन में लेटा रहे। इसके हस्त-पाद तलवों का ताडन करना चाहिए। रोगी आराम से शय्या पर लेटा रहे (६२), बस्ति से दिये गये स्नेह का सहसा निकल आना या न निकल पाना आदि अवस्थाओं के उपचार का विस्तार से वर्णन किया गया है (६९); स्नेहबस्तियों की संख्या के अनुसार शरीर पर प्रभाव का उल्लेख (७४), अठारह प्रकार के स्नेह और इतनी ही निरूहबस्तियों के विधिपूर्वक सेवन से अलौकिक गुणों की प्राप्ति (७२); उत्तरबस्ति-निर्माणविधि, स्नेहप्रमाण, रोगी (पुरुष) को बिठा कर बस्तिनेत्रप्रणिधान की विधि का वर्णन (११२), स्त्रियों में बस्ति (उत्तर) देने की विधि (११४), उत्तरबस्ति के प्रयोग से नष्ट होने वाले रोगों की सूची (१२४-१२५)।



अष्टात्रिंशोऽध्याय:

अथातो निरूहक्रमचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'निरूहक्रमचिकित्सितम्' (The Schedule of Decoction Enema Treatment) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

अथानुवासितमास्थापयेत्; स्वभ्यक्तस्विन्नशरीरमुत्सृष्टबहिर्वेगमवाते शुचौ वेश्मनि मध्याह्ने प्रततायां शय्यायामधःसुपरिग्रहायां श्रोणिप्रदेशप्रतिव्यूढायामनुपधानायां वामपार्श्वशायिनमाकुञ्चित-दक्षिणसक्थिमितरप्रसारितसक्थिं सुमनसं जीर्णान्नं वाग्यतं सुनिषण्णदेहं विदित्वा, ततो वामपादस्योपरि नेत्रं कृत्वेतरपादाङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां कर्णिकामुपरि निष्पीड्य, सव्यपाणिकनिष्ठिकानामिकाभ्यां बस्ते-र्मुखार्धं सङ्कोच्य, मध्यमाप्रदेशिन्यङ्गुष्ठैरर्धं तु विवृतास्यं कृत्वा, बस्तावौषधं प्रक्षिप्य, दक्षिणहस्ताङ्-गुष्ठेन प्रदेशिनीमध्यमाभ्यां चानुसिक्तमनायतमबुद्बुदमसङ्कुचितमवातमौषधासन्नमुपसंगृह्य, पुनरुपरि तदितरेण गृहीत्वा दक्षिणेनावसिञ्चेत्, ततः सूत्रेणैवौषधान्ते द्विस्त्रिर्वाऽऽवेष्ट्य बध्नीयात्, अथ दक्षिणेनोत्तानेन पाणिना बस्तिं गृहीत्वा वामहस्तमध्यमाङ्गुलिप्रदेशिनीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्याङ्गुष्ठेन नेत्रद्वारं पिधाय, घृताभ्यक्ताग्रनेत्रं घृताक्तमुपादाय प्रयच्छेदनुपृष्ठवंशं सममुन्मुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधत्स्वेति ब्रूयात् ॥ ३ ॥

निरूह-प्रणयन (Indications and procedures of non-oily medicated enema treatment)—अनुवासित (जिसे अनुवासन बस्ति दी गयी है) को आस्थापन (Medicated non-oily enema) बस्ति देनी चाहिए। रोगी का अभ्यंग तथा स्वेदन (Sudation) करने के उपरान्त और 'उत्सृष्टबहिर्वेग' अर्थात् मल-मूत्र के त्याग के बाद प्रवात (Draughts of wind) रहित, स्वच्छ घर में मध्याह्न (Noon) के समय उस शय्या पर रोगी को वाम पार्श्व के सहारे तथा दाहिनी टाँग को सिकोड़ कर और बाईं टाँग को फैलाकर लिटायें जो प्रतत अर्थात् पर्याप्त विस्तृत हो, जिसका अधोभाग पर्याप्त सुदृढ़ हो, पैरों की ओर का भाग उठा हो एवं जिस पर तकिया न हो।

जब रोगी का मन प्रसन्न (In happy mood) हो, भुक्त अन्न जीर्ण हो गया हो, रोगी मौन (Not be talking) हो तथा उसकी देह पूर्णतः शिथिल (Fully relaxed) हो उस समय बायें पैर के ऊपर नेत्र को रखकर ऊपर से दूसरे पैर के अँगूठे और अँगुलि से बस्तिकर्णिका को ऊपर से दबाकर वामहस्त की कनिष्ठिका और अनामिका से बस्तिमुख के आधे भाग को संकुचित कर और मध्य, प्रदेशिनी तथा अंगुष्ठ से आधे मुख को फैलाकर औषध डालनी चाहिए। बस्ति में औषध भर देने के उपरान्त दाहिने हाथ के अँगूठे और प्रदेशिनी अँगुलि से अनुत्सिक्त (ऊर्ध्वक्षरणरहित), जो बहुत लम्बी न हो, जिसमें द्रव्य के बुलबुले न हों, जो संकुचित न हो, जिसमें हवा न हो उस बस्ति को औषध के समीप से बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से औषध भरनी चाहिए। फिर सूत्र से औषध के अन्त में दो-तीन लपेट लगाकर बाँध देना चाहिए। तदनन्तर बस्ति को ऊपर को किये दाहिने हाथ से पकड़ना चाहिए और बायें हाथ की मध्यमा तथा प्रदेशिनी से नेत्र को पकड़कर अँगूठे से नेत्रद्वार को बन्द कर देना चाहिए। फिर नेत्र तथा रोगी की गुदा में घृत लगाकर नेत्र को अन्दर प्रविष्ट करना चाहिए। उस समय रोगी से कहे कि वह नेत्र को पृष्ठवंश (Spinal column) के अनुसार कर्णिका तक सीधे प्रविष्ट होने में सहयोग करे ॥ ३ ॥

विमर्श—बस्तिप्रणिधान का वाग्भटीय सुगम-सरल वर्णन—'कृतचंक्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे। नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः॥ सङ्कोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम्। अथास्य नेत्रं प्रणयेत्स्निग्धं स्निग्धमुखं गुदे। उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमकम्पयन्। पृष्ठवंशं प्रतिततो नातिद्रुतविलम्बितम्॥ नातिवेगं न वा मन्दं सकृदेव प्रपीडयेत्'। (सू. १९।२३-२६)

इस प्रकार नेत्रप्रणिधान का वर्णन कर बस्तिपीड़न विधि का वर्णन किया जा रहा है।

बस्तिं सव्ये करे कृत्वा दक्षिणेनावपीडयेत्। एकेनैवावपीडेन न द्रुतं न विलम्बितम्॥ ४॥

बस्ति को पकड़ने और दबाने की विधि—बस्ति (Enema can) को बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ के एक ही दबाव से न धीरे, न शीघ्र दबाना चाहिए॥ ४॥

ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडनकालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेत्यातुरं ब्रूयात्। अथातुरमुपवेशयेदुत्कटुकं बस्त्यागमनार्थम्। निरूहप्रत्यागमनकालस्तु मुहूर्तो भवति॥ ५॥

तरल को अन्तःप्रविष्ट करने के उपरान्त—तदनन्तर बस्तिनेत्र को निकाल लेना चाहिए और रोगी को बस्ति देने के बाद तीस मात्रा उच्चारण करने तक (A measure of time) उसी तरह लेटे रहने के बाद उठने को कहें। फिर रोगी को उकडूं (उत्कटुकासन/Squatting posture) बिठा देना चाहिए जिससे बस्ति के तरल को बाहर निकल आने में आसानी हो। निरूह बस्ति के बाहर निकल आने में एक मुहूर्त का समय लगता है ('मुहूर्तः घटिकाद्वयम्')॥५॥

विमर्श—

१ लघु-अक्षर उच्चारण काल	=	१ अक्षिनिमेष
१५ अक्षिनिमेष	=	१ काष्ठा
३० कोष्ठा	=	१ कला
२० $\frac{१}{१०}$ कला	=	१ मुहूर्त

अनेन विधिना बस्तिं दद्याद्बस्तिविशारदः। द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्थतः॥ ६॥

बस्तिकर्म में कुशल चिकित्सक को चाहिए कि वह इस उपरोक्त विधि के अनुसार दो, तीन, चार बस्तियाँ आवश्यकतानुसार प्रयुक्त करे॥ ६॥

विमर्श—बस्ति देने की चारकीय विधि का वर्णन अधिक सुगम है। नेत्र में से तरल निकलता न रहे एतदर्थ उसके मुख को वर्ति से बन्द रखें ('द्रवनिर्गमादिप्रतिषेधार्थं नलिकाग्रमुखप्रदत्तां वर्तिम्') रोगी के शिर के नीचे तकिया नहीं होना चाहिए परन्तु 'स्वभुजोपधानम्' की छूट है। रोगी को वाम पार्श्व में लिटाने का कारण चक्रपाणि के अनुसार—''वामपार्श्वशयनप्रयोजनम् 'वामाश्रयोऽग्निः' इत्यादिना वक्ष्यमाणम्''।

एकग्रहणेन—अर्थात् एक ही बार में तरल को अन्तः प्रविष्ट करने का चक्रपाणि के अनुसार हेतु—'विश्रम्य पुनः पीडनं वायुजनकं निषेधयति' अर्थात् रुक-रुक कर बस्तिपीड़न करने से बस्ति में वायु प्रविष्ट हो सकती है।

सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते बस्तिं निवारयेत्। विशेषात् सुकुमाराणां हीन एव क्रमो हितः॥ ७॥
अपि हीनक्रमं कुर्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम्।

बस्तियों का अतियोग हानिकर—भली प्रकार विधिपूर्वक दी गयी बस्तियों (निरूह) के लक्षणों के प्रकट होने पर बस्ति देना बन्द कर देना चाहिए। विशेषकर सुकुमारों (Delicate persons) में बस्तियों का हीन क्रम (Less number) ही हितकर होता है। बस्तियाँ कम देना अच्छा है पर इनका अतियोग नहीं होना चाहिए॥ ७॥

यस्य स्याद्बस्तिरल्पोऽल्पवेगो हीनमलानिलः॥८॥
दुर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचिजाड्यवान्।

दुर्निरूढ के लक्षण (Inadequate medicated non-oily enema)—जिस व्यक्ति की निरूहण बस्ति का वेग (Motion) अत्यल्प हो, मल और वायु (Faeces and flatus) भी अल्प मात्रा में बाहर आये हों तथा रोगी मूत्रकृच्छ्र, अरुचि एवं जड़ता (अपटुता/Stiffness) से पीड़ित हो तो उसे 'दुर्निरूढ़' समझना चाहिए॥८॥

यान्येव प्राङ्मयोक्तानि लिङ्गान्यतिविरेचिते॥९॥
तान्येवातिनिरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता।

अतिनिरूढ के लक्षण (Over administration of medicated enemata)—अधिक विरेचन देने पर जो लक्षण मैंने पूर्व में वर्णित किये हैं (जैसे 'विरेचनातियोगे तु सचन्द्रकम्'–चि. ३४।१३) विद्वान् चिकित्सक उन्हीं लक्षणों को अति निरूढ के भी जाने॥९॥

यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः॥१०॥
लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत्।

सम्यक्-निरूढ के लक्षण—निरूहण के उपरान्त जिस व्यक्ति के मल, पित्त, कफ और वायु क्रमशः निकलते हैं तथा शरीर में लघुता (हलकापन/Light) की प्रतीति होती है तो उसे 'सुनिरूढ' समझना चाहिए॥१०॥

सुनिरूढं ततो जन्तुं स्नातवन्तं तु भोजयेत्॥११॥
पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीरयूषरसैः क्रमात्। सर्वं वा जाङ्गलरसैर्भोजयेदविकारिभिः॥१२॥
त्रिभागहीनमर्धं वा हीनमात्रमथापि वा। यथाग्निदोषं मात्रेयं भोजनस्य विधीयते॥१३॥
अनन्तरं ततो युञ्ज्याद्यथास्वं स्नेहबस्तिना।

सुनिरूढ का पश्चात्कर्म (Post-enema treatment)—जिस व्यक्ति को भली प्रकार निरूहबस्ति दी गयी है उसे (बस्ति के लौटे आने के उपरान्त) स्नान कराने के बाद भोजन कराना चाहिए। यदि रोगी पित्ताविष्ट हो तो दूध, श्लेष्माविष्ट हो तो यूष और वाताविष्ट हो तो मांसरस से भोजन कराये। अथवा विकाररहित जांगल प्राणियों के मांसरस से सभी को भोजन कराना चाहिए। भोजन की मात्रा त्रिभाग-हीन (एक तिहाई/One-third), आधी अथवा रोगी की पाचन शक्ति के अनुसार या दोषानुसार या हीन मात्रा होनी चाहिए। तदनन्तर दोषानुसार स्नेह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥११-१३॥

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः॥१४॥
आस्थापनस्नेहबस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम्।

सम्यक् आस्थापित और स्निग्ध के लक्षण—आस्थापन और स्नेहबस्ति के भली प्रकार प्रयुक्त किये जाने के लक्षण ये हैं कि रोगी विविक्तता (स्रोतों का खुला होना/Increased sensory perception), मनस्तुष्टि (मन की प्रसन्नता/Mental satisfaction), शरीर का स्निग्ध होना (Softness of the body) और व्याधि का नाश (Cure of the disease) के लक्षणों से युक्त होता है॥१४॥

तदहस्तस्य पवनाद्भयं बलवदिष्यते॥१५॥
रसौदनस्तेन शस्तस्तदहश्चानुवासनम्।

निरूहण में मांसरस भोजन का हेतु—निरूहण से मन्दाग्नि होने पर भी उसी दिन रोगी को भोजन देने का हेतु यह है कि निरूहण से विड्वातादि की प्रवृत्ति होने से वायु के प्रबल प्रकोप का भय रहता है। इसी हेतु उसी दिन रोगी को मांसरस और चावल का भोजन कराना चाहिए और अनुवासन देना चाहिए॥१५॥

पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितम्॥ १६॥
अन्नोपस्तम्भिते कोष्ठे स्नेहबस्तिर्विधीयते।

निरूह के उपरान्त स्नेह बस्ति की उपयोगिता—निरूह बस्ति के उपरान्त रोगी के अग्निबल तथा वायु की क्रियाओं ('सञ्चलनशब्दकरणस्फुरणादिकमवधार्य') को जानकर तथा कोष्ठ (Alimentary canal) के अन्नपानादि से स्थिर होने पर स्नेह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ १६॥

अनायान्तं मुहूर्तात्तु निरूहं शोधनैर्हरेत्॥ १७॥
तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान् क्षारमूत्राम्लसंयुतैः।

निरूह के न लौटने पर उपचार—यदि निरूह देने के 'घटिकाद्वय' के समय में तरल लौट कर नहीं आता है तो तीक्ष्ण शोधन द्रव्यों ('क्षारमूत्राम्लसंयुतैः, क्षारो यवक्षारः, मूत्रं गोमूत्रम्, अम्लं काञ्जिकम्') से युक्त निरूहों का बुद्धिमान् चिकित्सक को प्रयोग करना चाहिए॥ १७॥

विगुणानिलविष्टब्धं चिरं तिष्ठन्निरूहणम्॥ १८॥
शूलारतिज्वरानाहान् मरणं वा प्रवर्तयेत्।

बस्ति के टिके रहने से हानियाँ—वायु की विगुणता (विपरीतता) के कारण अवरुद्ध निरूहण यदि चिरकाल तक अन्दर टिका रहे तो शूल (Colic), अरति (न कुत्रचिद्रतिः/Restlessness), ज्वर, आनाह (Distension of the abdomen) या मरण हो सकते हैं॥ १८॥

न तु भुक्तवतो देयमास्थापनमिति स्थितिः॥ १९॥
विसूचिकां वा जनयेच्छर्दिं वाऽपि सुदारुणाम्। कोपयेत् सर्वदोषान् वा तस्माद्दद्यादभोजिने॥

आस्थापन का निषेध—निरूहण का प्रयोग भोजन के शीघ्र उपरान्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे विसूचिका (Diarrhoea) या भयंकर वमन (Persistent vomiting) या सभी दोष प्रकुपित हो जाते हैं। अतः निरूहण खाली पेट (Empty stomach) ही देना चाहिए॥ १९-२०॥

जीर्णान्नस्याशये दोषाः पुंसः प्रव्यक्तिमागताः। निःशेषाः सुखमायान्ति भोजनेनाप्रपीडिताः॥

आशय में अन्न के जीर्ण हो जाने पर दोष आवरण रहित (Exposed) हो जाते हैं तथा अन्न द्वारा पीड़ित (Interrupted) न होने पर ये सुखपूर्वक पूर्णतः बाहर आ जाते हैं॥ २१॥

न वाऽऽस्थापनविक्षिप्तमन्नमग्निः प्रधावति। तस्मादास्थापनं देयं निराहाराय जानता॥ २२॥

निराहार व्यक्ति में आस्थापन का प्रयोग—अथवा (भोजन के तुरन्त बाद) आस्थापन बस्ति देने से विक्षुब्ध हुई जठराग्नि अन्न का पाचन भली प्रकार नहीं कर पाती है। अतः निराहार अवस्था में ही आस्थापन का प्रयोग कराना चाहिए॥ २२॥

आवस्थिकं क्रमं चापि बुद्ध्वा कार्यं निरूहणम्। मलेऽपकृष्टे दोषाणां बलवत्त्वं न विद्यते॥ २३॥

भुक्तवान् व्यक्ति में निरूहण—फलवर्ति आदि के प्रयोग से भी तीव्र शूल, आध्मान आदि से पीड़ित व्यक्ति में लाभ न होने पर भुक्तवान् व्यक्ति में भी निरूह का प्रयोग विचारपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि मल के निकल जाने के उपरान्त दोषों का बल क्षीण हो जाता है॥ २३॥

क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहाः क्वाथा रसास्तथा। लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं वचा॥
एला त्रिकटुकं रास्ना सरलं देवदारु च। रजनी मधुकं हिङ्गु कुष्ठं संशोधनानि च॥ २५॥
कटुका शर्करा मुस्तमुशीरं चन्दनं शटी। मञ्जिष्ठा मदनं चण्डा त्रायमाणा रसाञ्जनम्॥ २६॥
बिल्वमध्यं यवानी च फलिनी शक्रजा यवाः। काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ॥ २७॥
तथा मेदा महामेदा ऋद्धिर्वृद्धिर्मधूलिका। निरूहेषु यथालाभमेष वर्गो विधीयते॥ २८॥

बस्ति द्रव्य—अनेक प्रकार के दूध, अम्ल द्रव्य, प्राणियों के मूत्र, विविध स्नेह, क्वाथ, रस, सभी लवण, फल (त्रिफला), मधु, सौंफ, सरसों, वच, इलायची, सोंठ, मरिच, पीपल, रास्ना, सरल (वृक्षविशेषः/चीड़), देवदारु, हलदी, मुलेठी, कूठ, हींग, त्रिवृदादि शोधन द्रव्य, कुटकी, शर्करा, नागरमोथा, खश, चन्दन, कचूर, मंजीठ, मैनफल, चण्डा (चोरक), त्रायमाणा, रसाञ्जन, बेलगिरी, अजवायन, फलिनी (प्रियंगु), इन्द्रजौ, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका (मर्कटिकेति लोके/तृणविशेषः)—यह 'निरूह वर्ग' है। इसका यथालाभ प्रयोग करना चाहिए॥ २४-२८॥

स्वस्थे क्वाथस्य चत्वारो भागाः स्नेहस्य पञ्चमः। क्रुद्धेऽनिलं चतुर्थस्तु षष्ठः पित्ते कफेऽष्टमः॥
सर्वेषु चाष्टमो भागः कल्कानां, लवणं पुनः। क्षौद्रं मूत्रं फलं क्षीरमम्लं मांसरसं तथा॥ ३०॥
युक्त्या प्रकल्पयेद्धीमान् निरूहे—

निरूह में क्वाथ मात्रा—स्वस्थ (समदोषः समाग्निश्चादि) व्यक्ति के लिए क्वाथ के चार भाग और स्नेह का एक भाग, वातप्रकोप में चतुर्थ भाग स्नेह, पित्त की अधिकता में छठा भाग स्नेह और कफप्रकोप में आठवाँ भाग स्नेह होना चाहिए। निरूह के लिए वात, पित्त, कफ तीनों के प्रकोप में कल्क का आठवाँ भाग और लवण, मधु, गोमूत्र, त्रिफला, दूध, काँजी, मांसरस की मात्रा बुद्धिमान् चिकित्सक युक्तिपूर्वक विचार कर निश्चित करे॥ २९-३०॥

विमर्श—'स्वस्थे गतवातपित्तकफे पुरुषे। द्वादशप्रसृतस्य निरूहस्य क्वाथस्य चत्वारो भागाश्चत्वारः प्रसृताः अष्टौ पलानि। स्नेहस्य पञ्चम इति पञ्च पलानि। क्रुद्धेऽनिले चतुर्थ इति चतुर्थो भागः षड् पलानि। षष्ठः पित्ते इति क्रुद्धे पित्ते स्नेहस्य षष्ठो भागः चत्वारि पलानि। कफेऽष्टम इति क्रुद्धे कफे स्नेहस्याष्टमो भागः त्रीणि पलानीत्यर्थः'।

—कल्पना त्वियम्॥ ३१॥

कल्कस्नेहकषायाणामविवेकाद्भिषग्वरैः। बस्तेः सुकल्पना प्रोक्ता तस्य दानं यथार्थकृत्॥ ३२॥

निरूह बस्तियों की कल्पना—श्रेष्ठ चिकित्सकों ने कल्क, स्नेह, कषाय इनको परस्पर मिलाकर बस्ति की सुन्दर कल्पना बतायी है। उसका प्रयोग वास्तविक कार्यकर है॥ ३१-३२॥

विमर्श—यथार्थकृत्—'वातपित्तकफशोणितहरणसंग्रहणलेखनबृंहणवाजीकरणरसायनादियोगकृत्' (ड.)। अर्थात् कल्कादि सभी को परस्पर भली प्रकार मिलाकर तय्यार की गयी बस्ति ही दोषादि निर्हरण कार्य भली प्रकार करती है।

दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्।
पात्रे तलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः। सम्यक् सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम्॥ ३३॥
ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान्।
गम्भीरे भाजनेऽन्यस्मिन्मथ्नीयात्तं खजेन च॥ ३४॥
यथा वा साधु मन्येत न सान्द्रो न तनुः समः।
रसक्षीराम्लमूत्राणां दोषावस्थामवेक्ष्य तु। कषायप्रसृतान् पञ्च सुपूतांस्तत्र दापयेत्॥ ३५॥

बस्ति द्रव्यों का योजन-क्रम—सर्वप्रथम सेंधानमक एक कर्ष (अक्ष), मधु दो प्रस्थ (चार पल/'पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया'-शा.)—इन दोनों को एक पात्र में डालकर धीरे-धीरे हथेली से मथना चाहिए तथा मथते समय मधु के बराबर स्नेह शनैः-शनैः मिला लें। तदनन्तर मैनफल का कल्क मिलाकर तत्तद् दोषों को नष्ट करने वाले द्रव्यों का श्लक्ष्ण चूर्ण बनाकर समुचित मात्रा में इनके कल्क को गहरे बर्तन में डालकर खज से ('खजोऽत्र पञ्चांगुलो हस्तः मन्थानश्च') खूब मथना चाहिए, फिर जैसा ठीक समझें वैसे ही न बहुत गाढ़ा न बहुत पतला बना लें। इसमें दोषों के अनुसार मांसरस, दूध, काँजी और गोमूत्र मिला लें तथा कषाय को पाँच प्रसृत की मात्रा में छानकर मिला लेना चाहिए॥ ३३-३५॥

अत ऊर्ध्वं द्वादशप्रसृतान् वक्ष्यामः।

दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम्। विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतित्रयम्॥ ३६॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत्। संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृतिसंमितम्॥ ३७॥
वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्। एवं प्रकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतो भवेत्॥ ३८॥
ज्येष्ठायाः खलु मात्रायाः प्रमाणमिदमीरितम्। अपह्रासे भिषक्कुर्यात्तद्वत् प्रसृतिहापनम्॥ ३९॥
यथावयो निरूहाणां कल्पनेयमुदाहृता। सैन्धवादिद्रवान्तानां सिद्धिकामैर्भिषग्वरैः॥ ४०॥

अब बारह प्रसृत प्रमाण वाले योगों की व्याख्या की जायेगी—

बारह प्रसृत प्रमाण वाली बस्ति—पहले एक कर्ष सेंधानमक एवं मधु दो प्रसृति—इनको आपस में मथें। फिर इसमें तीन प्रसृति स्नेह मिलायें। जब ये सब मिलकर एकरूप हो जायें तो इसमें एक प्रसृति कल्क मिलायें। इनके आपस में मिल जाने के उपरान्त चार प्रसृति कषाय मिलाना चाहिए तथा अन्त में दो प्रसृत प्रक्षेप मिलावें। इस प्रकार यह 'द्वादशप्रसृत बस्ति' निर्माण की प्रकल्पना है। यह बस्ति की 'ज्येष्ठा मात्रा' (Maximum dose) का प्रमाण बताया गया है। यदि चिकित्सक इस मात्रा में कमी करना चाहें तो एक प्रसृति कम कर लें (प्रसृतिहापनम्)। सफलता की कामना करने वाले श्रेष्ठ चिकित्सकों ने सैन्धव से लेकर द्रव (कषाय) तक निरूहण बस्तियों की कल्पना रोगी की आयु के अनुसार निर्धारित की है॥ ३६-४०॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते बस्तयोऽत्र विभागशः। यथादोषं प्रयुक्ता ये हन्युर्नानाविधान् गदान्॥ ४१॥

दोषानुसार बस्ति-प्रयोग—अब इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न प्रकार की बस्तियों का वर्णन किया जायेगा। ये बस्तियाँ दोषानुसार प्रयुक्त किये जाने पर नाना प्रकार के रोगों को नष्ट करती हैं॥ ४१॥

शम्पाकोरुबुवर्षाभूवाजिगन्धानिशाच्छदैः। पञ्चमूलीबलारास्नागुडूचीसुरदारुभिः॥ ४२॥
क्वथितैः पालिकैरेभिर्मदनाष्टकसंयुतैः। कल्कैर्मागधिकाम्भोदहपुषामिसिसैन्धवैः॥ ४३॥
वत्साह्वयप्रियङ्ग्वुग्रायष्ट्याह्वयरसाञ्जनैः। दद्यादास्थापनं कोष्णं क्षौद्राद्यैरभिसंस्कृतम्॥ ४४॥

वातघ्न आस्थापन बस्ति—अमलतास (शम्पाकः, किरमालकः), एरण्ड, पुनर्नवा, असगन्ध, कचूर (निशाच्छद, शठी), पञ्चमूल (अत्र ह्रस्वा), बला, रास्ना, गिलोय, देवदारु—ये प्रत्येक एक-एक पल और आठ मदनफल ('शम्पाकादीनि सुरदारुपर्यन्तानि चतुर्दशपलप्रमितानि, मदनाष्टकसंयुतानि, चतुर्भिर्मदनफलैः पलं भवति, एवं षोडशपलानि द्रव्याणि')—इनको जौकुट कर क्वाथ बना लें ('जर्जरीकृत्याष्टगुणमष्टाविंशत्यधिकशतपलप्रमाणं जलं दत्वा क्वाथयेत् यावत् त्रिंशत् पलानि भवन्ति, ततो वस्त्रपूतं कृत्वाऽष्टपलं क्वाथं गृह्णीयात्')। इसमें पिप्पली, नागरमोथा, हाऊबेर, सौंफ (मिसि), सैंधव लवण, इन्द्रयव, प्रियंगु, वचा (उग्रा), मुलेठी, रसौत—इनका कल्क तथा मधु आदि को (प्रत्येकं पलप्रमाणम्) मिलाकर (इनसे संस्कृत कर) कोष्ण (Luke warm) आस्थापन बस्ति देनी चाहिए॥ ४२-४४॥

पृष्ठोरुत्रिकशूलाश्मविण्मूत्रानिलसङ्गिनाम्। ग्रहणीमारुताऽर्शोघ्नं रक्तमांसबलप्रदम्॥ ४५॥

इस बस्ति के गुण—यह बस्ति पृष्ठशूल (Backache), त्रिकशूल, ऊरुशूल (Pain in the thighs), अश्मरी, विबन्ध, मूत्राघात, वातसङ्ग (Retension of faeces, urine and flatus), ग्रहणी (Sprue), वातव्याधियाँ और अर्शोरोग को नष्ट करती हैं तथा रक्त-मांसवर्धक और बल्य है॥ ४५॥

गुडूचीत्रिफलारास्नादशमूलबलापलैः। क्वथितैः श्लक्ष्णपिष्टैस्तु प्रियङ्गुघनसैन्धवैः॥ ४६॥
शतपुष्पावचाकृष्णायवानीकुष्ठबिल्वजैः। सगुडैरक्षमात्रैस्तु मदनार्धपलान्वितैः॥ ४७॥
क्षौद्रतैलघृतक्षीरशुक्तकाञ्जिकमस्तुभिः। समालोड्य च मूत्रेण दद्यादास्थापनं परम्॥ ४८॥

गुडूची-त्रिफलादि बस्ति—गुडूची (गिलोय), त्रिफला, रास्ना, दशमूल और बला तथा मांस (पलम् = मांसम्)—इन सतरह द्रव्यों का क्वाथ बना लें। फिर प्रियंगु, रसौत, सेंधानमक, सौंफ, वचा, पिप्पली, अजवायन, कूठ, बेलगिरी और गुड़—ये प्रत्येक एक-एक कर्ष तथा मैनफल आधा पल; इनको बारीक पीसकर क्वाथ में मिला लें। तदनन्तर मधु, तैल, घृत, दूध, शुक्त, काँजी और दधिमण्ड (मस्तु = दध्नो मण्डस्तु मस्त्विति) तथा गोमूत्र को भी भली प्रकार मिलाकर इस उत्तम आस्थापन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ४६-४८॥

तेजोवर्णबलोत्साहवीर्याग्निप्राणवर्धनम् । सर्वमारुतरोगघ्नं वयःस्थापनमुत्तमम्॥ ४९॥

इस बस्ति के गुण—इस बस्ति के प्रयोग से शारीरिक कान्ति ('तेजोभ्राजकाग्निसंज्ञं त्वग्गतं पित्तम्'/ Lusture), वर्ण (Complexion), बल, उत्साह (Enthusiasm/चेतसिको धर्मः), वीर्य (शक्तिः/ Energy), अग्नि (Digestive capacity) और प्राणों (प्राणाः अग्निसोमादयः/Vitality) की वृद्धि होती है तथा सभी प्रकार की वातव्याधियों का विनाश होता है और यह उत्तम वयःस्थापन (Life expectancy) है॥ ४९॥

कुशादिपञ्चमूलाब्दत्रिफलोत्पलवासकैः । सारिवोशीरमञ्जिष्ठारास्नारेणुपरूषकैः॥ ५०॥
पालिकैः क्वथितैः सम्यग् द्रव्यैरेभिश्च पेषितैः। शृङ्गाटकात्मगुप्तेभकेसरागुरुचन्दनैः॥ ५१॥
विदारीमिसिमञ्जिष्ठाश्यामेन्द्रयवसिन्धुजैः। फलपद्मकयष्ट्याह्वैः क्षौद्रक्षीरघृताप्लुतैः॥ ५२॥
दत्तमास्थापनं शीतमम्लहीनैस्तथा द्रवैः। दाहासृग्दरपित्तासृक्पित्तगुल्मज्वराञ्जयेत्॥ ५३॥

पित्तप्रकोप में बस्ति—कुशादि पञ्चमूल ('कुशकाशशरो दर्भ इक्षुश्चेति'), नागरमोथा, त्रिफला, नीलोफर (नीलोत्पल), वासा, सारिवा, खश, मञ्जीठ, रास्ना, रेणु (पर्पटक), फालसा—इनको एक-एक पल लेकर क्वाथ तय्यार कर लेना चाहिए। उसमें सिंघाड़ा, कौंच के बीज, नागकेसर, केसर, अगर, चन्दन, विदारीकन्द, सौंफ, मंजीठ, प्रियंगु (श्यामा), इन्द्रजौ, सेंधानमक, मैनफल, पद्माख तथा मुलेठी—इनके कल्क को मधु, दूध, घृत मिलाकर तय्यार की गयी आस्थापन बस्ति को अम्ल द्रव्यों से रहित, शीतल कर (मांसरस–इक्षुरसादि) द्रव के साथ प्रयुक्त करने से दाह, असृग्दर (Menorrhagia), रक्तपित्त, पैत्तिक गुल्म और पैत्तिक ज्वर नष्ट होते हैं॥ ५०-५३॥

रोध्रचन्दनमञ्जिष्ठारास्नानन्ताबलर्धिभिः । सारिवावृषकाश्मर्यमेदामधुकपद्मकैः॥ ५४॥
स्थिरादितृणमूलैश्च क्वाथैः कर्षत्रयोन्मितैः। पिष्टैर्जीवककाकोलीयुगर्धिमधुकोत्पलैः॥ ५५॥
प्रपौण्डरीकजीवन्तीमेदारेणुपरूषकैः । अभीरुमिसिसिन्धूत्थवत्सकोशीरपद्मकैः॥ ५६॥
कसेरुशर्करायुक्तैः सर्पिर्मधुपयःप्लुतैः। द्रवैस्तीक्ष्णाम्लवर्ज्यैश्च दत्तो बस्तिः सुशीतलः॥ ५७॥
गुल्मासृग्दरहृत्पाण्डुरोगान् सविषमज्वरान्। असृक्पित्तातिसारौ च हन्यात्पित्तकृत्तान्गदान्॥

लोध्रचन्दनादि आस्थापन बस्ति—पठानीलोध (लोध्र), चन्दन, मञ्जीठ, रास्ना, अनन्ता (उत्पलसारिवा), खरेंटी, ऋद्धि, सारिवा, वासा, गम्भारी, मेदा, मुलेठी, पद्माख, स्थिरादि (लघु) पञ्चमूल, कुशादि तृणपञ्चमूल—प्रत्येक तीन कर्ष लेकर क्वाथ बना लेना चाहिए। फिर इसमें जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि, मुलेठी, नीलोफर, प्रपौण्डरीक, जीवन्ती, मेदा, रेणु (पर्पटकः), परूषक (फालसा), शतावरी (अभीरुः), सौंफ, सेंधानमक, इन्द्रजौ, उशीर (खश), पद्माख और कशेरु—इनको पीसकर तथा घृत, मधु, दूध एवं शर्करा मिलाकर तीक्ष्ण लवण अम्लादि से रहित शीतल बस्ति देनी चाहिए। यह लोध्रादि शीतल बस्ति (आस्थापन) गुल्म, रक्तप्रदर, हृदय तथा पाण्डुरोग, विषम ज्वर, रक्तपित्त, अतिसार और पित्तज रोगों को नष्ट करती है॥ ५४-५८॥

विमर्श—डल्हण लोध्रादि आस्थापन बस्ति में भी मांसरस, इक्षुरस मिलाने की सलाह देते हैं।

भद्रानिम्बकुलत्थार्ककोशातक्यमृतामरैः । सारिवाबृहतीपाठामूर्वारग्वधवत्सकैः ॥ ५९ ॥
क्वाथः कल्कस्तु कर्तव्यो वचामदनसर्षपैः। सैन्धवामरकुष्ठैलापिप्पलीबिल्वनागरैः ॥ ६० ॥
कटुतैलमधुक्षारमूत्रतैलाम्लसंयुतैः । कार्यमास्थापनं तूर्णं कामलापाण्डुमेहिनाम् ॥ ६१ ॥
मेदस्विनामनग्नीनां कफरोगाशनद्विषाम्। गलगण्डगरग्लानिश्लीपदोदररोगिणाम् ॥ ६२ ॥

कफप्रकोप में बस्ति— भद्रा (कट्फल/कायफल), नीम, कुलथी, आक, कोषातकी (तुरई कड़वी), गिलोय, देवदारु, सारिवा, बड़ी कटेरी, पाठा, मूर्वा, अमलतास, इन्द्रजौ— इनके क्वाथ में वचा ('बला'-पाठान्तर), मैनफल, सरसों, सेंधानमक, देवदारु, कूठ, इलायची, पिप्पली, बेलगिरी, सोंठ— इनके कल्क को कटुतैल, मधु, क्षार, गोमूत्र, तिलतैल तथा काञ्जी में मिलाकर आस्थापन बस्ति दें। इससे कामला, पाण्डुरोग, मेह, स्थूल व्यक्ति, मन्दाग्नि वाले, कफरोग, अन्न में जिनकी रुचि न हो, गलगण्ड, गरविष, ग्लानि, श्लीपद और उदर रोग (अयं बस्तिः कफे कफरोगे च योज्यः) आदि सब विकार दूर होते हैं॥ ५९-६२॥

दशमूलीनिशाबिल्वपटोलत्रिफलामरैः । क्वथितैः कल्कपिष्टैस्तु मुस्तसैन्धवदारुभिः ॥ ६३ ॥
पाठामागधिकेन्द्राह्वैस्तैलक्षारमधुप्लुतैः । कुर्यादास्थापनं सम्यङ्मूत्राम्लफलयोजितैः ॥ ६४ ॥
कफपाण्डुगदालस्यमूत्रमारुतसङ्गिनाम् । आमाटोपापचीश्लेष्मगुल्मक्रिमिविकारिणाम् ॥ ६५ ॥

कफज विकारहर बस्ति— दशमूल के द्रव्य, हलदी, बेलगिरी, पटोल, त्रिफला, देवदारु— इनके क्वाथ में नागरमोथा, सेंधानमक, देवदारु, पाठा, पिप्पली (मागधी), इन्द्रयव— इनके कल्क तथा तैल, क्षार एवं मधु को मिलाकर और गोमूत्र काँजी तथा मदनफल के साथ अच्छी तरह घोल लें। इस आस्थापन बस्ति के प्रयोग से कफज पाण्डुरोग, आलस्य, मूत्र तथा वायु (Flatus) का अवरोध, आम, आटोप, अपची, कफज गुल्म और क्रिमिविकार नष्ट होते हैं ('अयमपि कफे कफरोगे च प्रयोज्यः') ॥ ६३-६५ ॥

वृषाश्मभेदवर्षाभूधान्यगन्धर्वहस्तकैः । दशमूलबलामूर्वायवकोलनिशाच्छदैः ॥ ६६ ॥
कुलत्थबिल्वभूनिम्बैः क्वथितैः पलसम्मितैः। कल्कैर्मदनयष्ट्याह्वषड्ग्रन्थामरसर्षपैः ॥ ६७ ॥
पिप्पलीमूलसिन्धूत्थयवानीमिसिवत्सकैः । क्षौद्रेक्षुक्षीरगोमूत्रसर्पिस्तैलरसाप्लुतैः ॥ ६८ ॥
तूर्णमास्थापनं कार्यं संसृष्टबहुरोगिणाम्। गृध्रसीशर्कराष्ठीलातूनीगुल्मगदापहम् ॥ ६९ ॥

सान्निपातिक रोगों में बस्ति— अड़ूसा, पाषाणभेद, पुनर्नवा, धनियाँ, एरण्ड, दशमूल, बला, मूर्वा, जौ, बेर, कचूर (निशाच्छद, शठी), कुलत्थ, बेलगिरी, चिरायता— इनमें प्रत्येक को एक पल लेकर कषाय बना लेना चाहिए। तदनन्तर मैनफल, मुलेठी, षड्ग्रन्था (वचा), देवदारु, सरसों, पीपलामूल, सेंधानमक, अजवायन, सौंफ, इन्द्रजौ— इनको कल्क में मधु, गन्ने का रस, दूध, गोमूत्र, घृत, तैल और मांसरस; इन सबको क्वाथ में मिलाकर बनी आस्थापन बस्ति का प्रयोग करें। इस आस्थापन से त्रिदोषज अनेक विकार, गृध्रसी, मूत्रशर्करा (Gravels), अष्ठीला (Prostatic diseases), तूणी (Bladder pain) और गुल्मरोग नष्ट होते हैं॥ ६६-६९ ॥

विमर्श— 'संसृष्टबहुरोगाणाम् इत्यनेन सन्निपातरोगप्रशमनत्वमुक्तम्'।

रास्नारग्वधवर्षाभूकटुकोशीरवारिदैः । त्रायमाणामृतारक्तापञ्चमूलीबिभीतकैः ॥ ७० ॥
सबलैः पालिकैः क्वाथः कल्कस्तु मदनान्वितैः। यष्ट्याह्वमिसिसिन्धूत्थफलिनीन्द्रयवाह्वयैः ॥
रसाञ्जनरसक्षौद्रद्राक्षासौवीरसंयुतैः । युक्तो बस्तिः सुखोष्णोऽयं मांसशुक्रबलौजसाम् ॥ ७२ ॥
आयुषोऽग्नेश्च संस्कर्ता हन्ति चाशु गदानिमान्। गुल्मासृग्दरवीसर्पमूत्रकृच्छ्रक्षतक्षयान् ॥ ७३ ॥
विषमज्वरमर्शांसि ग्रहणीं वातकुण्डलीम्। जानुजङ्घाशिरोबस्तिग्रहोदावर्तमारुतान् ॥ ७४ ॥
वातासृक्शर्कराष्ठीलाकुक्षिशूलोदरारुचीः । रक्तपित्तकफोन्मादप्रमेहाध्मानहृद्ग्रहान् ॥ ७५ ॥

रास्नादि आस्थापन बस्ति— रास्ना, अमलतास, पुनर्नवा, कुटकी, खश, नागरमोथा (वारिद), त्रायमाणा (त्रामान), अमृता (गिलोय), मंजीठ (रक्ता), पञ्चमूल, बहेडा, बला— इनको एक-एक पल लेकर क्वाथ बना लें। इसमें मैनफल, मुलेठी, सौंफ, सेंधानमक, प्रियंगु (फलिनी), इन्द्रजौ, रसौत, मांसरस, मधु, द्राक्षा, सौवीर— इन सबको पीसकर मिला दें। इस मिश्रण को कोष्णकर बस्ति देने से मांस, शुक्र, बल और ओज की वृद्धि होती है। यह बस्ति आयु (Longevity) और अग्नि (Digestive power) को बढ़ाती है तथा निम्नलिखित रोगों को नष्ट करती है—गुल्म, असृग्दर (Menorrhagia), विसर्प (Cellulitis), मूत्रकृच्छ्र (Dysuria), क्षत और क्षय (Consumptive pulmonary lesions), विषम ज्वर, अर्श, ग्रहणी, वातकुण्डली, जानुग्रह (Stiffness of knee), जंघाग्रह (Stiffness), शिरोग्रह (शिर की जकड़ाहट), बस्तिग्रह, उदावर्त (Distension of abdomen), वातव्याधियाँ, वातरक्त (Gout), शर्करा, अष्ठीला (Prostatic disease), कुक्षि (Abdominal) शूल, उदर (Abdominal swelling), अरुचि (Aversion to food), रक्तपित्त, कफज रोग, उन्माद, प्रमेह, आध्मान और हृद्ग्रह (हृत्प्रदेश में जकड़ाहट) ॥ ७०-७५ ॥

वातघ्नौषधनिःक्वाथाः सैन्धवत्रिवृतायुताः। साम्लाः सुखोष्णा योज्याः स्युर्बस्तयः कुपितेऽनिले ॥

वातप्रकोप में दी जाने वाली बस्तियाँ भद्रदार्वादि वातहर द्रव्यों के क्वाथ में सेंधानमक एवं निशोथ तथा काञ्जि आदि अम्ल द्रव्य मिलाकर तय्यार करनी चाहिए। इनको कुछ गरम कर (कोष्ण/Lukewarm) प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ७६ ॥

न्यग्रोधादिगणक्वाथाः काकोल्यादिसमायुताः। विधेया बस्तयः पित्ते ससर्पिष्काः सशर्कराः ॥

पित्तप्रकोप में दी जाने वाली बस्तियाँ न्यग्रोधादि गण के द्रव्यों से निर्मित क्वाथ में काकोल्यादि गण की औषधियाँ, घृत तथा शर्करा मिलाकर देनी चाहिए ॥ ७७ ॥

आरग्वधादिनिःक्वाथाः पिप्पल्यादिसमायुताः। सक्षौद्रमूत्रा देयाः स्युर्बस्तयः कुपिते कफे ॥

कफप्रकोप में आरग्वधादि गण के द्रव्यों से निर्मित क्वाथ में पिप्पल्यादि गण की औषधियाँ, मधु और गोमूत्र मिलाकर प्रयुक्त करनी चाहिए ॥ ७८ ॥

शर्करेक्षुरसक्षीरघृतयुक्ताः सुशीतलाः। क्षीरवृक्षकषायाढ्या बस्तयः शोणिते हिताः ॥ ७९ ॥

रक्तज व्याधियों में हितकर बस्ति— शोणित (रक्त) के विकारों में न्यग्रोधादि क्षीरवृक्षों के क्वाथ में शर्करा, गन्ने का रस और घृत मिलाकर शीतल बस्तियों का प्रयोग हितकर होता है। (तदेव पित्तं तदेव रक्तमिति मनसि पर्यालोच्य पित्तमानेनायमपि बस्तिः कल्पितः') ॥ ७९ ॥

शोधनद्रव्यनिःक्वाथास्तत्कल्कस्नेहसैन्धवैः। युक्ताः खजेन मथिता बस्तयः शोधनाः स्मृताः ॥

शोधन-बस्तियाँ— विरेचन प्रकरण में पठित शोधन द्रव्यों के क्वाथ में उन्हीं द्रव्यों के कल्क, स्नेह तथा सेंधानमक मिलाकर कडछी से खूब चला लें। ये शोधन बस्तियाँ हैं ॥ ८० ॥

विमर्श— 'अनुक्तस्यापि मधुनः चत्वारि पलानि, क्षीरस्यैकं पलं, मूत्रस्य सार्धपलं तथा काञ्जिकस्यापि, इत्येवं चतुर्विंशतिपलानि भवन्ति' (ड.)।

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः। ऊषकादिप्रतीवापा बस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥ ८१ ॥

लेखन बस्तियाँ— त्रिफला क्वाथ में गोमूत्र, मधु, यवक्षार मिला लें और इसमें ऊषकादि गण के द्रव्यों का प्रक्षेप डालकर तय्यार बस्तियाँ 'लेखन बस्तियाँ' कहलाती हैं ॥ ८१ ॥

बृंहणद्रव्यनिःक्वाथाः कल्कैर्मधुरकैर्युताः। सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥ ८२ ॥

बृंहण बस्तियाँ— विदारीगन्धादि बृंहण द्रव्यों के क्वाथ में काकोल्यादि मधुर द्रव्यों का कल्क, घृत एवं मांसरस मिलकर तय्यार की गयी बस्तियाँ 'बृंहण बस्तियाँ' कहलाती हैं ॥ ८२ ॥

चटकाण्डोच्चटाक्वाथाः सक्षीरघृतशर्कराः। आत्मगुप्ताफलावापाः स्मृता वाजीकरा नृणाम्॥

वाजीकर बस्तियाँ— चटक (ग्रामचटकाः/Sparrow) के अण्डे और उच्चटा (घुर्घुराख्या = श्वेतमुञ्ञा) का क्वाथ— इसमें दूध, घी, शर्करा मिला लें और क्रौंच के बीजों का प्रक्षेप डालकर बस्ति तय्यार कर लें। ये मनुष्यों के लिए 'वाजीकर बस्तियाँ' (Rejuvenating enema) हैं॥ ८३॥

बदर्यैरावतीशेलुशाल्मलीधन्वनाङ्कुराः । क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुताः सास्राः पिच्छिलसंज्ञिताः॥
वाराहमाहिषौरभ्रबैडालैणेयकौक्कुटम् । सद्यस्कमसृगाजं वा देयं पिच्छिलबस्तिषु॥ ८५॥

पिच्छिल बस्ति-विधि— बेर, नागबला (ऐरावती), शेलु (श्लेष्मातक/लिसोड़ा), सेमल, धन्वन (धनुर्वृक्षः, 'धामन' इति लोके) के अंकुर (अग्रपल्लवाः/कोपलें)— इनसे क्षीरपाक करें और उसमें मधु और रुधिर मिला लें तो यह 'पिच्छिल बस्ति' कहलाती है। पिच्छिल बस्ति में मिलाने के लिए वाराह (सूअर), भैंसा, मेंढा, बिल्ला, हरिण, मुर्गा या बकरा— इनका ताजा रुधिर लेना चाहिए। इसका पिच्छिल बस्ति में प्रयोग करें ('आजम्' के स्थान पर 'अण्डम्' पाठान्तर भी है)॥ ८४-८५॥

प्रियङ्ग्वादिगणक्वाथा अम्बष्ठाद्येन संयुताः। सक्षौद्राः सघृताश्चैव ग्राहिणो बस्तयः स्मृताः॥

ग्राही बस्तियाँ— प्रियंगु आदि गण के क्वाथ में अम्बष्ठादि गण की औषधियों का कल्क, मधु, घृत मिलाकर तय्यार की गयी बस्तियाँ 'ग्राही बस्तियाँ' कहलाती हैं॥ ८६॥

एतेष्वेव च योगेषु स्नेहाः सिद्धाः पृथक् पृथक्। समस्तेष्वथवा सम्यग्विधेयाः स्नेहबस्तयः॥ ८७॥

स्नेहबस्तियों के सम्बन्ध में— इन उपरोक्त आस्थापन बस्तियों के द्रव्यों से (समस्त या पृथक्-पृथक्) सिद्ध किये हुए स्नेहों को स्नेह बस्तियों के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए॥ ८७॥

वन्ध्यानां शतपाकेन शोधितानां यथाक्रमम्। बलातैलेन देयाः स्युर्बस्तयस्त्रैवृतेन च॥ ८८॥

बन्ध्यत्वहर बस्ति— स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन से शुद्ध बन्ध्या (Sterile) स्त्रियों में शतपाक तैल (वातव्याधि ४।२९), बलातैल (मूढगर्भचिकित्सा) और त्रैवृततैल (महावातव्याधि) की बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए॥ ८८॥

विमर्श— 'तत्र त्रिभिः स्नेहैः घृततैलवसाख्यैः वृतं निर्मितं त्रिवृतम्, त्रिवृतमेव त्रैवृतम्' (ड.)।

नरस्योत्तमसत्त्वस्य तीक्ष्णं बस्तिं निधापयेत्। मध्यमं मध्यसत्त्वस्य विपरीतस्य वै मृदुम्॥ ८९॥

सत्त्वादिभेद से बस्तिभेद— उत्तम सत्त्व वाले (Person with a strong will power) व्यक्ति को तीक्ष्ण, मध्यम सत्त्व वाले को मध्यम और हीन सत्त्व वाले को मृदु बस्ति देनी चाहिए॥ ८९॥

एवं कालं बलं दोषं विकारं च विकारवित्। बस्तिद्रव्यबलं चैव वीक्ष्य बस्तीन् प्रयोजयेत्॥ ९०॥

बस्ति-प्रयोग में कालादि का निर्णय— रोगों के जानकार चिकित्सक को चाहिए कि वह काल (तीक्ष्ण, उष्णकाल में मृदु, वसन्त-शरद् जैसे साधारण काल में मध्य), बल ('शक्त्युपचयलक्षणे श्रेष्ठे तीक्ष्णः, मध्ये मध्यः, कनिष्ठे मृदुः'), दोष ('कफ-वातदोषे तीक्ष्णः, पित्तरक्ते मृदुः, कफपित्ते मध्यः') और विकार ('एवं विकारेऽपि, विकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् क्रूरमध्यमृदुकोष्ठेष्वपि बोद्धव्यम्') एवं बस्ति के द्रव्यों के बल की भी भली प्रकार जाँच कर बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए॥ ९०॥

दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं पुनः। पश्चात् संशमनीयं च दद्याद्बस्तिं विचक्षणः॥ ९१॥

बस्ति-क्रम— बस्तिप्रयोग में कुशल चिकित्सक को चाहिए कि वह सर्वप्रथम दोषों के उत्क्लेशन (Irritation) के लिए, तदनन्तर मध्य में दोषहरण (Elimination) के लिए तथा अन्त में दोषसंशमन (Alleviation) के लिए बस्तियों का प्रयोग करे॥ ९१॥

विमर्श— 'दोषहरणस्य बस्तेः प्रथमपुटकदानेऽसम्यक् निर्हरणे द्वितीयं तृतीयं वा पुटकं दद्यात्, एवं उत्क्लेशशमनयोरपि। उत्क्लिष्टादिज्ञानं तु दोषाणां प्रकोपादिलक्षणेन'।

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा। हपुषाफलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः॥ ९२॥
शताह्वा मधुकं बीजं कौटजं फलमेव च। सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः॥ ९३॥
प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम्। सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः परः॥ ९४॥

त्रिविध बस्ति— 'उत्क्लेशन' बस्ति वह कहलाती है जो एरण्डबीज, मुलेठी, पिप्पली, सेंधानमक, वचा और हाऊबेर का कल्क मिलाकर दी जाती है। 'दोषहर बस्ति' सौंफ, मुलेठी, इन्द्रजौ, मैनफल, काँजी और गोमूत्र— इनको पीसकर प्रयुक्त होती है। 'शमन बस्ति' को प्रियंगु, मुलेठी, नागरमोथा, रसाञ्जन और दूध मिलाकर तय्यार किया जाता है। यह दोषों का शमन करती है॥ ९२-९४॥

विमर्श— ये त्रिविध बस्तियाँ दोषों के उत्क्लेशन, फिर उनका निर्हरण तथा शेष दोषों के प्रशमन के लिए क्रमशः प्रयुक्त होती हैं।

नृपाणां तत्समानानां तथा सुमहतामपि। नारीणां सुकुमाराणां शिशुस्थविरयोरपि॥ ९५॥
दोषनिर्हरणार्थाय बलवर्णोदयाय च। समासेनोपदेक्ष्यामि विधानं माधुतैलिकम्॥ ९६॥
यानस्त्रीभोज्यपानेषु नियमश्चात्र नोच्यते। फलं च विपुलं दृष्टं व्यापदां चाप्यसम्भवः॥ ९७॥
योज्यस्त्वतः सुखेनैव निरूहक्रममिच्छता। यदेच्छति तदैवैष प्रयोक्तव्यो विपश्चिता॥ ९८॥

माधुतैलिक बस्ति— राजाओं, राजाओं के समान व्यक्तियों (राजपुरुषतुल्यपुरुषाणां वाणिज्यव्यवहारिणां वार्धुषिका(सूदखोर)णाम्) तथा अन्य धनाढ्य व्यक्तियों, सुकुमार और स्त्रियों, बाल, वृद्ध व्यक्तियों के दोषों के निर्हरण के लिए एवं उत्तम बल और वर्ण के लिए माधुतैलिक के विधान का संक्षेप में उल्लेख करते हैं। माधुतैलिक के प्रयोग काल में यान, स्त्रीसेवन, खान-पान के किसी नियम के पालन की आवश्यकता नहीं होती है तथा लाभ भी अत्यधिक है और किसी प्रकार की व्यापत्तियाँ भी नहीं होती हैं। अतः निरूहण बस्तियों की इच्छा रखने वालों को इनका सुखपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। विद्वान् वैद्य को चाहिए कि जब रोगी की इच्छा हो तभी इनका प्रयोग कर देना चाहिए॥ ९५-९८॥

विमर्श— 'यदेच्छति इति, यदा यस्मिन्काले आतुर इच्छति तदा तस्मिन्काले विपश्चिता वैद्येन एषः बस्तिः प्रयोक्तव्यः। एतेन सार्वकालिकत्वमुक्तं भवति' (ड.)।

मधुतैले समे स्यातां क्वाथश्चैरण्डमूलजः। पलार्धं शतपुष्पायास्ततोऽर्धं सैन्धवस्य च॥ ९९॥
फलेनैकेन संयुक्तः खजेन च विलोडितः। देयः सुखोष्णो भिषजा माधुतैलिकसंज्ञितः॥ १००॥

माधुतैलिक संज्ञा— मधु और तैल समान मात्रा में, एरण्ड मूल का काढ़ा भी इनके बराबर, सौंफ आधा पल और सेंधानमक चौथाई पल (एक कर्ष), एक मदनफल— इनको बारीक पीसकर कौंचे (खज) से खूब आलोडित कर लेने के बाद चिकित्सक इसे कोष्ण कर प्रयुक्त करें। इस बस्ति का नाम 'माधुतैलिक' है॥ ९९-१००॥

विमर्श— 'तत्र मृदुना मांसरसकाञ्जिकादिना प्रपूरणं कुर्यात्' (ड.)।

वचामधुकतैलं च क्वाथः सरससैन्धवः। पिप्पलीफलसंयुक्तो बस्तिर्युक्तरथः स्मृतः॥ १०१॥

युक्तरथ नामक (माधुतैलिक) बस्ति— वचा, मुलेठी, तैल, पिप्पली और मदनफल के क्वाथ में मांसरस तथा सेंधानमक मिलाकर तय्यार की गयी बस्ति 'युक्तरथ' कहलाती है॥ १०१॥

सुरदारु वरा रास्ना शतपुष्पा वचा मधु। हिङ्गुसैन्धवसंयुक्तो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः॥ १०२॥

दोषहर नामक (माधुतैलिक) बस्ति— देवदारु, त्रिफला ('सा वरा च प्रकीर्तिता'-भा.प्र.), रास्ना, सौंफ, वचा, मधु, हींग और सेंधानमक— इनसे बनी बस्ति 'दोषहर' कहलाती है॥ १०२॥

विमर्श— इस 'दोषहर' नामक बस्ति में तैल का उल्लेख नहीं है पर डल्हणानुसार— 'मधुतैलयोः कर्षद्वयाधिकानि अष्टौ पलानि, एरण्डमूलक्वाथस्तावन्मात्र एव। एवं दोषहराभिधानो माधुतैलिकः; केचिदत्र हिङ्गुस्थाने बिडं पठन्ति' (ड.)।

पञ्चमूलीकषायं च तैलं मागधिका मधु। बस्तिरेष विधातव्यः सशताह्वः ससैन्धवः ।। १०३ ।।

पाञ्चमूलिक माधुतैलिक बस्ति—पञ्चमूली (लघु) क्वाथ, तैल, पिप्पली (मागधिका), मधु, सेंधानमक और सौंफ— इनसे तय्यार की गयी बस्ति 'पाञ्चमूलिक माधुतैलिक' कहलाती है।। १०३ ।।

यवकोलकुलत्थानां क्वाथो मागधिका मधु। ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धबस्तिरिति स्मृतः ।।

सिद्ध माधुतैलिक बस्ति—जौ, बेर और कुलथ—इनके क्वाथ में पिप्पली, मधु, सेंधानमक और मुलेठी को पीसकर मिला लें। यह 'सिद्ध माधुतैलिक बस्ति' कहलाती है।। १०४।।

विमर्श—ऊपर माधुतैलिक बस्ति का स्वरूप वर्णित है। ये चारों; यथा—१. युक्तरथ, २. दोषहर, ३. पाञ्चमूलिक और ४. सिद्ध इसी के भेद हैं ('तत्र मृदुना मांसरसकाञ्जिकादिना प्रपूरणं कुर्यात्। एवम् अपरेषु चतुर्षु नव प्रसृतः' प्रपूरणीया'–ड.)।

मुस्तापाठामृतातिक्ताबलारास्नापुनर्नवाः। मञ्जिष्ठारग्वधोशीरत्रायमाणाख्यगोक्षुरान्।। १०५ ।।
पालिकान् पञ्चमूलाल्पसहितान्मदनाष्टकम्। जलाढके पचेत् क्वाथं पादशेषं पुनः पचेत्।। १०६ ।।
क्षीरार्धाढकसंयुक्तमाक्षीरात् सुपरिस्रुतम्। पादेन जाङ्गलरसस्तथा मधुघृतं समम्।। १०७।।
शताह्वाफलिनीयष्टीवत्सकैः सरसाञ्जनैः। कार्षिकैः सैन्धवोन्मिश्रैः कल्कैर्बस्तिः प्रयोजितः ।।
वातासृङ्मेहशोफार्शोगुल्ममूत्रविबन्धनुत् । विसर्पज्वरविड्भङ्गरक्तपित्तविनाशनः ।। १०९ ।।
बल्यः सञ्जीवनो वृष्यश्चक्षुष्यः शूलनाशनः। यापनानामयं राजा बस्तिर्मुस्तादिको मतः ।।

मुस्तादि बस्ति—नागरमोथा, पाठा, गिलोय, कुटकी, बला, रास्ना, पुनर्नवा, मंजीठ, आरग्वध, खश, त्रायमाणा, गोखरू और लघुपञ्चमूल—ये प्रत्येक एक पल तथा मैनफल आठ; इनको एक आढक जल में काढ़ा बना लें और चतुर्थांश रहने पर उतार कर तथा छानकर पुनः आधा आढक (६४ पल) दूध में इतना पकावें कि दूध मात्र शेष रहे। फिर छानकर इसमें जांगल प्राणियों का मांसरस एक चौथाई और इतनी ही मात्रा में मधु-घृत मिलायें तथा सौंफ, प्रियंगु (फलिनी), मुलेठी, इन्द्रजौ, रसाञ्जन (रसौत) और सेंधानमक—ये प्रत्येक एक कर्ष; इनका कल्क मिलाना चाहिए। इस प्रकार निर्मित बस्ति वातरक्त, मेह, शोफ, अर्श, गुल्म, मूत्राघात, विसर्प, ज्वर, विड्भेद और रक्तपित्त को नष्ट करती है। यह बल्य, संजीवन, वृष्य, चक्षुष्य तथा शूलहर है। मुस्तादि नामक यह बस्ति आस्थापन बस्तियों की राजा है।। १०५-११० ।।

अवेक्ष्य भेषजं बुद्ध्या विकारं च विकारवित्। बीजेनानेन शास्त्रज्ञः कुर्याद्बस्तिशतान्यपि ।।

बस्ति-कल्पना के सामान्य नियम—रोगों के ज्ञाता चिकित्सक को चाहिए कि वह भेषज, विकार ('व्रणज्वरादिकं वातपित्तकफसंसर्गसन्निपातजं शोणितजं च। चकारेणानुक्तं शल्यादि समुच्चीयते'–ड.) का सूझ-बूझ के साथ विचार कर बस्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में वर्णित उपरोक्त बीज के अनुसार ('वातघ्नौषधनिःक्वाथा इत्यादिषु बस्तिषु उक्तेन बीजेनेत्यर्थः') शतशः बस्तियों की कल्पना करें।। १११ ।।

अजीर्णे न प्रयुञ्जीत दिवास्वप्नं च वर्जयेत्। आहाराचारिकं शेषमन्यत् कामं समाचरेत्।। ११२ ।।

बस्ति-प्रयोग में सावधानी—अजीर्ण होने पर बस्ति का प्रयोग न करें और बस्ति के प्रयोग के पश्चात् रोगी को दिन में नहीं सोना चाहिए। शेष आहार-आचार आदि के सम्बन्ध में जो उपयुक्त (यथेष्ट) हो वह करना चाहिए।। ११२।।

यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते। माधुतैलिक इत्येवं भिषग्भिर्बस्तिरुच्यते।। ११३ ।।
रथेष्वपि च युक्तेषु हस्त्यश्वे चापि कल्पिते। यस्मान्न प्रतिषिद्धोऽयमतो युक्तरथः स्मृतः ।। ११४।।
बलोपचयवर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च। भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरतो मतः ।। ११५।।
सुखिनामल्पदोषाणां नित्यं स्निग्धाश्च ये नराः। मृदुकोष्ठाश्च ये तेषां विधेया माधुतैलिकाः ।।

माधुतैलिक आदि नामकरण में हेतु—मधु और तैल का मुख्य रूप से प्रयोग होने के कारण चिकित्सक इस बस्ति को 'माधुतैलिक' कहते हैं। हाथी, घोड़े, रथ आदि की सवारी करने वालों में भी इस बस्ति का प्रयोग निषिद्ध नहीं है इसी हेतु इसे 'युक्तरथ' कहते हैं। सैकड़ों व्याधियों में जिसके प्रयोग से रोगी में बल (Strength), उपचय (Growth) और वर्ण (Complexion) की वृद्धि होती है इससे यह 'सिद्धबस्ति' कहलाती है। जो व्यक्ति सुखी है, जिनमें दोषों की अल्पता है, नित्य स्निग्ध (Always oleated) है तथा जो मृदुकोष्ठ हैं उनमें माधुतैलिक बस्ति का प्रयोग करना चाहिए॥ ११३-११६॥

मृदुत्वात् पादहीनत्वादकृत्स्नविधिसेवनात्। एकबस्तिप्रदानाच्च सिद्धबस्तिष्वयन्त्रणा॥ ११७॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने निरूहक्रमचिकित्सितं नामाष्टात्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥



माधुतैलिक की श्रेष्ठता—सिद्ध बस्तियों में माधुतैलिक बस्ति इस हेतु श्रेष्ठ है क्योंकि यह १. मदु है, २. पादहीन (मात्रा में चौथाई कम) है ('ततश्च पादहीना नवप्रसृता भवन्ति'), ३. वमनादि संस्कारों की आवश्यकता न होने से और ४. एक बस्ति से ही कार्य सिद्धि हो जाती है॥ ११७॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'निरूहक्रमचिकित्सा' नामक अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३८॥



अध्याय-सारांश

'निरूहक्रमचिकित्सित' नामक इस अध्याय में निरूहण बस्ति को प्रयुक्त करने की विधि, समय, आसन (Posture) आदि का विस्तार से उल्लेख है (३-८), निरूहण बस्ति के हीनयोग, अतियोग और सम्यक् (Proper) योग के लक्षण भी बताये गये हैं (१०), बस्ति के उपयोग के उपरान्त भोजनादि की सम्यक् व्यवस्था का विवरण भी दिया गया है (१३), आस्थापन एवं स्नेह बस्ति के सम्यक् दान से लाभ, स्नेह बस्ति का प्रयोज्य स्थल, निरूह बस्ति के न लौटने पर कर्तव्य तथा इसके प्रयोग के लिए उपयुक्त काल आदि का विस्तार से उल्लेख है (२०)।

निरूहण द्रव्य, क्वाथ की मात्रा, दोषानुसार स्नेह का भाग तथा अन्य द्रव्यों की मात्रा आदि का विवरण भी दिया गया है (३०) तथा बस्तिद्रव्यों की योजना का क्रम भी विस्तार से बताया गया है (३२-३५)।

इसी प्रकार, कुपित वात, कुपित पित्त एवं कुपित कफ की दशा में दोषानुसार विभिन्न बस्तियों के प्रयोग का विवरण विस्तार से दिया गया है (३६-६२), रोगी की शारीरिक बनावट, मानसिक दशा आदि का विचार कर मृदु, मध्य, तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए (९५), इसी प्रकार माधुतैलिक बस्तियों के प्रयोज्य स्थलों एवं बस्तिप्रयोग के पश्चात् रोगी के पथ्यापथ्य पर भी विचार किया गया है (११२), सिद्ध बस्ति का वर्णन भी है। युक्तरथ बस्ति उसे कहा गया है जिसका प्रयोग रथ, अश्व, गज आदि के साथ यात्राकाल में भी किया जा सकता है (११८)।



एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

अथात आतुरोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'आतुरोपद्रवचिकित्सितम्' (The Treatment of (undesirable) Side Effects in the Patient/Undergoing Panchakarma Treatment) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'उपद्रवन्तीत्युपद्रवाः रोगाः, तेनात्र प्रायेण पञ्चकर्मनिमित्ताः व्यापदः, तेषां चिकित्सितं कारणगुणप्रत्यनीकं विधानम्'। इस अध्याय की उपयोगिता बताते हुए डल्हण कहते हैं—'स्नेहादीनां निरूहान्तानाम् उपक्रमे अग्निमान्द्यमेवावश्यम्भावितत्सन्धुक्षणार्थं पेयादिसंसर्जनोपदेशाय, वर्ज्यानां च प्रज्ञापराधकरणे तद् व्याधिप्रशमनाय च आतुरोपद्रवचिकित्सिताभिधानम्'।

स्नेहपीतस्य वान्तस्य विरिक्तस्य स्रुतासृजः। निरूढस्य च कायाग्निर्मन्दो भवति देहिनः ॥ ३ ॥

मन्दाग्नि का हेतु—जिस व्यक्ति का स्नेहन (Oleation), वमन (Emesis), विरेचन (Purgation), शोणितस्रावण (Blood-letting) और निरूहण (Non-oily medicated enema) किया जा चुका है उसकी कायाग्नि (Digestive power) मन्द (Weak) हो जाती है ॥ ३ ॥

विमर्श—'चेति चकारेण अनुवासितमनुक्तं समुच्चिनोति इति न दोषप्रसङ्गः' (ड.)।

सोऽन्नैरत्यर्थगुरुभिरुपयुक्तैः प्रशाम्यति। अल्पो महद्भिर्बहुभिश्छादितोऽग्निरिवेन्धनैः ॥ ४ ॥

अपथ्य सेवन से हानि—मन्दाग्नि की स्थिति में अत्यधिक भारी अन्न के सेवन से कायाग्नि और अधिक दुर्बल या शान्त (Quiescent) हो जाती है, जैसे थोड़ी-सी आग भारी ईन्धन से ढक जाने पर बुझ जाती है ॥ ४ ॥

स चाल्पैर्लघुभिश्चान्नैरुपयुक्तैर्विवर्धते। काष्ठैरणुभिरल्पैश्च सन्धुक्षित इवानलः ॥ ५ ॥

मन्दाग्नि में आहार—ऐसी (मन्दाग्नि की) स्थिति में उपयुक्त लघु आहार अल्प मात्रा में लेने से कायाग्नि पुनः उसी तरह प्रज्वलित हो जाती है जिस प्रकार थोड़ी-सी आग छोटी-छोटी लकड़ियों से पुनः प्रज्वलित हो उठती है ॥ ५ ॥

हृतदोषप्रमाणेन सदाऽऽहारविधिः स्मृतः।

आहारादि का निर्णय—आहार-विधि (Rules of dietetics/आहारमात्रा सम्बन्धी) नियम सदा इस बात पर निर्भर करते हैं कि दोषों का निर्हरण (Elimination) कितनी मात्रा में हुआ है।

त्रीणि चात्र प्रमाणानि प्रस्थोऽर्धाढकमाढकम् ॥ ६ ॥
तत्रावरं प्रस्थमात्रं द्वे शेषे मध्यमोत्तमे।

दोषनिर्हरण के प्रमाण—दोषनिर्हरण का प्रमाण (Measures) तीन प्रकार का है—१. प्रस्थ, २. आधा आढक और ३. आढक। इनमें प्रस्थ प्रमाण सबसे कम (अवर/Smallest), आधा आढक मध्यम प्रमाण (Intermediate) और एक आढक उत्तम (Biggest) प्रमाण होता है ॥ ६ ॥

विमर्श—'शरावोऽष्टपलम्'; 'शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थः'; 'चतुःप्रस्थस्तथाऽऽढकम्' (शा.)।

प्रस्थे परिस्रुते देया यवागूः स्वल्पतण्डुला॥ ७॥
द्वे चैवार्धाढके देये तिस्रश्चाप्याढके गते। विलेपीमुचिताद्भक्ताच्चतुर्थांशकृतां ततः॥ ८॥
दद्यादुक्तेन विधिना क्लिन्नसिक्थामपिच्छिलाम्। अस्निग्धलवणं स्वच्छमुद्गयूषयुतं ततः॥ ९॥
अंशद्वयप्रमाणेन दद्यात् सुस्विन्नमोदनम्। ततस्तु कृतसंज्ञेन हृद्येनेन्द्रियबोधिना॥ १०॥
त्रीनंशान् वितरेद्वोक्तुमातुरायौदनं मृदु। ततो यथोचितं भक्तं भोक्तुमस्मै विचक्षणः॥ ११॥
लावैणहरिणादीनां रसैर्दद्यात् सुसंस्कृतैः।

दोषनिर्हरण मात्रा के अनुसार आहार—यदि दोषनिर्हरण की मात्रा एक प्रस्थ हो तो थोड़े चावलों वाली यवागू (Thin gruel) एक बार पीने को देनी चाहिए। यदि यह मात्रा आधा आढक हो तो दो बार तथा एक आढक हो तो तीन बार यवागू देनी चाहिए। फिर स्वस्थ मनुष्य साधारणतया जितनी मात्रा में चावलों का भात खाता है उस मात्रा के चतुर्थांश में चावलों को लेकर क्लिन्न-सिक्थ अर्थात् पकाकर पिच्छिलतारहित तथा बिना स्नेह और लवण के विलेपी तय्यार कर लेनी चाहिए। इस विलेपी का पूर्व वर्णित विधि के अनुसार (एक प्रस्थ दोषनिर्हरण में एक बार, आधा आढक में दो बार और एक आढक में तीन बार) प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् स्नेह तथा लवण रहित, स्वच्छ मुद्गयूष युक्त, अच्छी तरह पके हुए चावलों को आहार की आधी मात्रा में देना चाहिए। उसके उपरान्त हृदय को प्रिय, इन्द्रियों (Senses) को प्रबोधित (Stimulating) करने वाला तथा घृतमण्ड युक्त मृदु भात तीन अंश प्रमाण (सामान्य आहार का तीन-चौथाई भाग) रोगी को देना चाहिए। तदनन्तर विद्वान् चिकित्सक रोगी को समुचित मात्रा में उपयुक्त आहार लाव (पक्षी-विशेष) और हरिण (एण जाति का) के भली प्रकार तय्यार किये गये मांसरस से दें॥ ७-११॥

विमर्श—चक्रदत्त में 'यवागूमुचिताद्भक्तात् चतुर्भागकृतां वदेत्' पाठ है। यवागू को 'बहुसिक्था' तथा विलेपी को 'विरलद्रवा' कहा है। और भी—'अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी तु चतुर्गुणे। मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि'॥

पेयादि संसर्जनक्रम के सम्बन्ध में डल्हण ने विस्तार से वर्णन किया है और अनेक विद्वानों गयी आदि के विचार भी दिये हैं। पर सभी के विचारों का उद्गम स्रोत चरक का निम्नलिखित सूत्र ही प्रतीत होता है—'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च। क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः'॥ (च.सि. १।११)

अर्थात् प्रधान, मध्य और हीन शुद्धि से जिन व्यक्तियों का शरीर शुद्ध हो गया है वे व्यक्ति पेया, विलेपी, अकृतयूष, कृतयूष, कृतमांसरस, अकृतमांसरस को क्रम से तीन अन्नकाल, दो अन्नकाल और एक अन्नकाल में सेवन करें।

और भी—'अग्निसन्धुक्षणार्थं तु पूर्वं पेयादिना भिषक्। रसोत्तरेणोपचरेत् क्रमेण क्रमकोविदः'॥ (सि. १२।६)

हीनमध्योत्तमेष्वेषु विरेकेषु प्रकीर्तितः॥ १२॥
एकद्वित्रिगुणः सम्यगाहारस्य क्रमस्त्वयम्।

दोषनिर्हरण क्रम और आहार—दोषनिर्हरण के जो तीन क्रम हीन (Lowest), मध्य (Moderate) और उत्तम (Highest) बताये गये हैं उसी क्रम से आहार भी पेयादि एक बार, दो बार और तीन बार देना चाहिए॥ १२॥

विमर्श—'प्रस्थे परिस्रुते हीनो विरेकस्तस्मिन् पेयादिरेकैकमन्नकालं देयः, अर्धाढके परिस्रुते मध्यो विरेकस्तस्मिन्पेयादिः प्रत्येकं द्वौ द्वावन्नकालौ देयः, आढके परिस्रुते उत्तमो विरेकस्तस्मिन्पेयादिः प्रत्येकं त्रींस्त्रीनन्नकालान् देयः' (ड.)।

कफपित्ताधिकान्मद्यनित्यान् हीनविशोधितान्॥ १३॥
पेयाऽभिष्यन्दयेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः।

मद्यप व्यक्तियों में तर्पण—जो व्यक्ति कफ-पित्त की अधिकता वाले हैं, मद्य का नित्य सेवन करते हैं तथा जिनका विशोधन हीन प्रकार का हुआ है उनमें पेया स्रोतों का अवरोध उत्पन्न करती है। अतः उनके लिए तर्पणादि क्रम हितकर होता है ('द्रवेणालोडितास्ते स्युस्तर्पणं लाजशक्तवः'—च.द.)॥ १३॥

विमर्श—अभिष्यन्द—'पैच्छिल्याद्गौरवाद्वाऽपि रुद्ध्वा रसवहाः सिराः। धत्ते यद्गौरवं तत्स्याद् अभिष्यन्दि यथा दधि'॥ (शा.) Oversaturation of the body with fatty substances.

वेदनालाभनियमशोकवैचित्त्यहेतुभिः ॥ १४॥
नरानुपोषितांश्चापि विरिक्तवदुपाचरेत्।

वेदनादि में विरेचन और उपचार—जो व्यक्ति वेदना, अलाभ (इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होना), नियम (जो भोजन सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं करते हैं), शोक, वैचित्य (मनोविकृति/Mental distress) आदि से पीड़ित हैं उनका उपचार विरेचन के उपरान्त किया जाने वाले उपचार की तरह करना चाहिए॥ १४॥

आढकार्धाढकप्रस्थसंख्या ह्येषा विरेचने॥ १५॥
श्लेष्मान्तत्वाद्विरेकस्य न तामिच्छति तद्विदः।
एको विरेकः श्लेष्मान्तो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।

सम्यक् विरेचन की पहचान—कुछ विशेषज्ञ दोषनिर्हरण की आढक, आधा आढक और एक प्रस्थ की मात्रा को विरेचन की पहचान बताते हैं पर अन्य विद्वानों की मान्यता है कि विरेचन एक ही है जिसके अन्त में श्लेष्मा आता है (Passage of mucoid discharge)॥ १५॥

विमर्श—यहाँ दो मतों का उल्लेख है—(१) उत्तम, मध्य और हीन विरेचन एक आढक, आधा आढक और एक प्रस्थ निर्हरण दोषों की क्रमशः मात्रा होती है। इसके उपरान्त जब श्लेष्मा आने लगता है तो सम्यक् विरेचन होता है। (२) द्वितीय मत में सम्यक् विरेचन की पहचान अन्त में श्लेष्मा का आना है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लक्षण नहीं है। इस मत के मानने वालों का कहना है—'शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु'॥ (वा.) अर्थात् पित्तदोष के निर्हरण के लिए विरेचन सर्वोत्तम है और विरेचन के अन्त में श्लेष्मा का आना इस बात का सूचक है कि पित्तदोष का निर्हरण भली प्रकार सम्पन्न हो गया है (अयमभिप्रायः—'विरेचनं निःशेषपित्तनिर्हरणाय युज्यते, निःशेषपित्तनिर्हरणं च तदेवानुमीयते यदा पित्तप्रवर्तनानन्तरं तत्प्रदेशस्थ आमरूपः कफः प्रवर्तते। तस्मात्कफान्तिकत्वात् विरेकस्य तां प्रस्थादिकां संख्यां विरेचनविदो नेच्छन्ति'–ड.); अन्यच्च—'तस्मान्मतिमता नित्यमात्मानं परिरक्षता। पित्तान्तं वमनं स्थाप्यं कफान्तं च विरेचनम्'॥ (भोज.)

बलं यत्त्रिविधं प्रोक्तमतस्तत्र क्रमस्त्रिधा॥ १६॥
तत्रानुक्रममेकं तु बलस्थः सकृदाचरेत्। द्विराचरेन्मध्यबलस्त्रीन् वारान् दुर्बलस्तथा॥ १७॥
केचिदेवं क्रमं प्राहुर्मन्दमध्योत्तमाग्निषु।

भोजन का क्रम—तीन प्रकार के बल का (हीनबल, मध्यबल, उत्तमबल) वर्णन किया गया है, उसी क्रम से भोजन की भी तीन प्रकार (Three types of dietetic regimen) की व्यवस्था वर्णित है। इस प्रकार बलवान् व्यक्ति एक बार, मध्यम बल वाला (Person having moderate strength) दो बार और हीनबल वाले व्यक्ति को तीन बार—इस अन्न-क्रम का सेवन करना चाहिए। कुछ आचार्य मन्द (Weak), मध्य (Moderate) और उत्तम (Good) अग्नि के अनुसार इस क्रम के सेवन की सलाह देते हैं॥ १६-१७॥

संसर्गेण विवृद्धेऽग्नौ दोषकोपभयाद्भजेत्॥ १८॥
प्राक् स्वादुतिक्तौ स्निग्धाम्ललवणान् कटुकं ततः।
स्वाद्वम्ललवणान् भूयः स्वादुतिक्तावतः परम्। स्निग्धरूक्षान् रसांश्चैव व्यत्यासात् स्वस्थवत् ततः॥

रसों का सेवन-क्रम—संसर्जनक्रम से अन्न के सेवन से बढ़ी हुई अग्नि के कारण दोषप्रकोप न हो जाय इसलिए पहले स्वादु-तिक्त, फिर स्निग्ध-अम्ल-लवण, उसके बाद कटु रस वाला आहार देना चाहिए। तदनन्तर पुनः स्वादु-अम्ल-लवण, तत्पश्चात् स्वादु-तिक्त रसों का सेवन करायें। फिर स्निग्ध तब रूक्ष एवं व्यत्यास अर्थात् रूक्ष के बाद स्निग्ध रस देना चाहिए॥ १८-१९॥

विमर्श—दोषकोपभयात्—जठराग्नि के दीप्त होने पर मधुरादि रसों का सही ढंग से सेवन न किया जाय तो दोषप्रकोप होना सम्भव है। यही कारण है कि चरक में एकरसाभ्यास की निन्दा और सर्वरसाभ्यास की प्रशंसा की गयी है—'एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्, सर्वरसाभ्यासो बलकराणां श्रेष्ठतमम्' (सू. २५)।

प्राक् स्वादुतिक्तौ—यहाँ रसों के सेवन का क्रम इस प्रकार रखा है कि दोषनाशक एवं दोषवर्धक रस बारी-बारी से सेवन करने से न तो किसी दोष की वृद्धि होने की सम्भावना रहती है और न ह्रास की ही। स्निग्ध और रूक्ष द्रव्यों को बारी-बारी से लेते रहने का उद्देश्य भी यही है। यही विषय डल्हण के शब्दों में—'तत्र प्रवृद्धाग्निहेतुवातपित्तस्यावजयार्थमग्नेः समीकरणार्थं च पूर्वं स्वादुतिक्तकौ, ततो वातकफजयार्थमग्नेः सन्धुक्षणार्थं च। व्यत्यासादिति यदा प्रागुक्तरसप्रत्यनीकान् स्निग्धाम्ललवणकटुकान्। ततश्चाम्ललवणकटुकजनितपित्तवातावजयार्थं स्वादुतिक्तौ। ततः भूयः कषायकटुकौ ततोऽन्योन्यप्रत्यनीकरसानां स्निग्धरूक्षयोः व्यत्यासात् उपयोगेन प्रकृतिगो भिषक्'।

वृद्धवाग्भट के अनुसार—'दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः॥ अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत्'॥

केवलं स्नेहपीतो वा वान्तो यश्चापि केवलम्। स सप्तरात्रं मनुजो भुञ्जीत लघु भोजनम्॥ २०॥

स्नेहन-वमन में आहार—जिस व्यक्ति ने केवल स्नेहन (स्नेहपान/Oleation) किया हो अथवा केवल वमन कराये (Emesis) गये हों (जिसको विरेचन नहीं कराये गये हों) उसे सात दिन तक लघु आहार लेना चाहिए॥ २०॥

विमर्श—स्नेहपीतः—दोष एवं रोग की शान्ति के लिए जिसने केवल स्नेहपान किया है। इसी प्रकार अजीर्णादि विकारों के निराकरण के लिए जिसकी केवल वमनचिकित्सा (Emesis therapy) की है उस वान्त व्यक्ति का आहार लघु होना चाहिए ('लघुभोजनं मात्राद्रव्याभ्याम्')।

कृतः सिराव्यधो यस्य कृतं यस्य च शोधनम्। स ना परिहरेन्मासं यावद्वा बलवान् भवेत्॥ २१॥

कृतसिराव्यध और विरिक्त का परिहारकाल—जिस व्यक्ति का सिराव्यध (Venesection) किया गया है और जिसका शोधन (विरेचनादि के द्वारा) किया गया है, ऐसे व्यक्तियों को एक मास तक अथवा बलप्राप्ति होने तक परिहार ('ना पुरुषो वक्ष्यमाणं क्रोधादिकं परिहरेत्') करना चाहिए (हानिकर आहार-विहार का सेवन नहीं करना चाहिए)॥ २१॥

विमर्श—परिहरेन्मासम्—सिराव्यध या विरेचन (शोधन) से हुई दुर्बलता को दूर होने में प्रायः एक मास का समय लग जाता है ('यस्य सिराव्यधः कृतः यस्य च शोधनं विरेचनाख्यं कृतं तस्योभयस्यापि शोधनानन्तरं सप्तरात्रं कृतसंसर्गस्य सप्ताहादूर्ध्वं परिपूर्णाहारत्वेन स्वाद्वादिरसानां क्रमविपर्ययाभ्यामुपसेवया रसस्य शनैः शनैः धात्वन्तरानुक्रमतो मासेन शुक्रस्य शनैर्बलावाप्तिरुत्पद्यते'–ड.)।

त्र्यहं त्र्यहं परिहरेदेकैकं बस्तिमातुरः। तृतीये तु परीहारे यथायोगं समाचरेत्॥ २२॥

बस्ति के लिए विशिष्ट नियम—प्रत्येक बस्ति के उपरान्त तीन दिन तक पथ्य का सेवन (क्रोधादि का परित्याग/इसी अध्याय में सूत्र २५ से ३६ में वर्णित) करना चाहिए। तीसरी बस्ति देने के उपरान्त जो उपयुक्त हो उस तरह आहार-विहार करे ('एकैकं बस्तिं सेवित्वा त्र्यहं वक्ष्यमाणं परिहार्यं परिहरेत्'-ड.)॥ २२॥

तैलपूर्णामम‍ृद्भाण्डसधर्माणो व्रणातुराः। स्निग्धशुद्धाक्षिरोगार्ता ज्वरातीसारिणश्च ये॥ २३॥

मिट्टी के अपक्व पात्र का दृष्टान्त—तैलपूर्ण मिट्टी के कच्चे बर्तन की तरह ही व्रणपीड़ित, पीतस्नेह, वमनादि से शुद्ध, नेत्ररोगार्त, ज्वरपीड़ित तथा अतिसारी रोगी होते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अपक्व मृद्भाण्ड में तेल भर देने के पश्चात् हिलाने मात्र से वह छिन्न-भिन्न हो जाता है उसी प्रकार व्रणातुरादि भी भली प्रकार उपचार न करने पर असाध्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं॥ २३॥

विमर्श—'यथा तैलपूर्णमम‍ृद्भाजनं हस्तेन चाल्यमानं विशीर्यते, तथाऽयत्नेनोपचार्यमाणा ज्वरादयोऽवस्थान्तरं प्राप्यन्ते; तस्मादेतेऽपि संशुद्धवदुपक्रम्या इति तात्पर्यार्थः' (ड.)।

क्रुध्यतः कुपितं पित्तं कुर्यात्तांस्तानुपद्रवान्। आयास्यतः शोचतो वा चित्तं विभ्रममृच्छति॥ २४॥
मैथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीनाप्नोति दुर्मतिः। आक्षेपकं पक्षघातमङ्गप्रग्रहमेव च॥ २५॥
गुह्यप्रदेशे श्वयथुं कासश्वासौ च दारुणौ। रुधिरं शुक्रवच्चापि सरजस्कं प्रवर्तते॥ २६॥
लभते च दिवास्वप्नात्तांस्तान् व्याधीन् कफात्मकान्। प्लीहोदरं प्रतिश्यायं पाण्डुतां श्वयथुं ज्वरम्॥
मोहं सदनमङ्गानामविपाकं तथाऽरुचिम्। तमसा चाभिभूतस्तु स्वप्नमेवाभिनन्दति॥ २८॥
उच्चैः सम्भाषणाद्वायुः शिरस्यापादयेद्रुजम्। आन्ध्यं जाड्यमजिघ्रत्वं बाधिर्यं मूकतां तथा॥
हनुमोक्षमधीमन्थमर्दितं च सुदारुणम्। नेत्रस्तम्भं निमेषं वा तृष्णां कासं प्रजागरम्॥ ३०॥
लभते दन्तचालं च तांस्तांश्चान्यानुपद्रवान्। यानयानेन लभते छर्दिमूर्च्छाभ्रमक्लमान्॥ ३१॥
तथैवाङ्गग्रहं घोरमिन्द्रियाणां च विभ्रमम्। चिरासनात्तथा स्थानाच्छ्रोण्यां भवति वेदना॥ ३२॥
अतिचङ्क्रमणाद्वायुर्जङ्घयोः कुरुते रुजः। सक्थिप्रशोषं शोफं वा पादहर्षमथापि वा॥ ३३॥
शीतसम्भोगतोयानां सेवा मारुतवृद्धये। ततोऽङ्गमर्दविष्टम्भशूलाध्मानप्रवेपकाः॥ ३४॥
वातातपाभ्यां वैवर्ण्यं ज्वरं चापि समाप्नुयात्। विरुद्धाध्यशनान्मृत्युं व्याधिं वा घोरमृच्छति॥
असात्म्यभोजनं हन्याद्बलवर्णमसंशयम्॥ ३६॥
अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः। रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि॥ ३७॥

अपथ्य सेवन से हानियाँ—(१. स्नेहपीत, २. वान्त, ३. सिराव्यध, ४. कृतसंशोधन और ५. बस्तिकर्म जिनमें किया गया है—) यदि ये उपरोक्त पाँचों प्रकार के व्यक्ति क्रोध करते हैं तो दाह-पिपासादि उपद्रव होते हैं और श्रम तथा चिन्ता (Physical or mental exertion) से विभ्रम (Mental confusion) उत्पन्न होता है। ● मैथुन करने वाले दुर्बुद्धि रोगी आक्षेपक (Convulsive disorders), पक्षाघात (Hemiplegia), अंगग्रह (Stiffness of the limbs), गुह्यप्रदेश में शोथ (Oedema over the external genitalia), भयंकर कास एवं श्वास तथा पुरुषों में सशोणित शुक्रमेह (Haemospermia) और स्त्रियों में अत्यार्तव (Menorrhagia) जैसी दारुण व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं। ● दिन में सोने से कफात्मक नाना प्रकार की व्याधियाँ हो जाती हैं तथा प्लीहोदर (Splenic enlargement), प्रतिष्याय (Corrhyza), पाण्डु (Anaemia), शोथ, ज्वर, मोह (Mental confusion), अंगसाद (Tiredness in the limbs), अन्न का भली प्रकार पाक न होना (Indigestion), भोजन में रुचि न होना (Anorexia) हो जाते हैं। तमोगुण से ग्रस्त हो जाने पर (दिन में भी) सोने की इच्छा होती है। ● ऊँचा बोलने से वायु कुपित होकर शिरोरोग उत्पन्न कर देता है और आन्ध्य (Blindness), जाड्य (जड़ता/Inability to move),

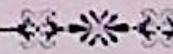
अजिघ्रता (गन्धज्ञान न होना/Anosmia), बाधिर्य (बधिरता/Deafness), मूकता (Aphasia), हनुभोक्ष (Dislocation of the temporo-mandibular joint), अधिमन्थ (Glaucoma), दारुण अर्दित (Severe facial paralysis), नेत्रस्तम्भ (Fixity of the eyes), निमेष (पलकों का बार-बार झपकना/Blepharospasm/Excessive winking), तृष्णा, कास, प्रजागरण (Sleeplessness), दन्तचाल (Looseness of teeth) तथा अन्य कई तरह के उपद्रव हो जाते हैं। • यानयान (घोड़े-गाड़ी आदि की अधिक सवारी/Excessive riding on a vehicle) से छर्दि, मूर्च्छा (Fainting), भ्रम (Dizziness), क्लम (Exhaustion), अंगग्रह (Inability to move the limbs) और इन्द्रियों का तीव्र विभ्रम (Bewilderment in the functioning of senses) होता है। • चिर आसन तथा चिरस्थान (असनं स्थितिभवनम्/Sitting/बैठे रहना; स्थानम् ऊर्ध्वभिवनम्/Standing/खड़े रहना) से श्रोणिप्रदेश (Pelvic region) में वेदना होती है। अधिक घूमने-फिरने (चंक्रमण/Walking) से वायु जंघाओं (Calf muscles) में वेदना, सक्थिशोष (Thinning of the thighs) या शोफ या पादहर्ष (Tingling sensation in the feet) उत्पन्न करता है। • शीतल द्रव्यों तथा शीतल जल के अधिक सेवन से ('सम्भोगः, स्रक्चन्दनादीनामुपयोगः') वायु की वृद्धि होती है जिससे अंगमर्द (Bodyache), विष्टम्भ, शूल, आध्मान और वेपन (Tremors) होते हैं। • वायु की अधिकता से वैवर्ण्य (Discolouration due to long exposure to the wind) तथा धूप के अधिक सेवन से ज्वर होते हैं और विरुद्धाहार ('पयोमत्स्यादिभोजनं विरुद्धम्') तथा अध्यशन ('अजीर्णे भोजनम्') से मृत्यु या भयंकर व्याधियाँ हो जाती हैं। • असात्म्य (Unsuitable) भोजन से निश्चित रूप से बल और वर्ण (Complexion) की हानि होती है। • अनात्मवान् (Who have no control over themselves) व्यक्ति जो पशु की तरह अत्यधिक मात्रा में भोजन कर लेते हैं वे रोगसमूह के मूल कारण (Root cause) अजीर्ण (Indigestion) को प्राप्त करते हैं॥ २४-३७॥

व्यापदां कारणं वीक्ष्य व्यापत्स्वेतासु बुद्धिमान्। प्रयतेतातुरारोग्ये प्रत्यनीकेन हेतुना॥ ३८॥

चिकित्सक को सलाह—उपद्रवों के विप्रकृष्ट क्रोधादिक और सन्निकृष्ट पित्तादिक कारणों की जाँच कर बुद्धिमान् चिकित्सक रोगी को नीरोग करने की कामना से हेतुविपरीत औषध, अन्न, विहार से चिकित्सा करे॥ ३८॥

विरिक्तिवान्तैर्हरिणैणलावकाः शशश्च सेव्यः समयूरतित्तिरिः।
सषष्टिकाश्चैव पुराणशालयस्तथैव मुद्गा लघु यच्च कीर्तितम्॥ ३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने आतुरोपद्रवचिकित्सितं नामैकोनचत्वारिंशो ऽध्यायः॥ ३९॥



शोधनानन्तर पथ्य—जिन व्यक्तियों को वमन एवं विरेचन कराये गये हैं उन्हें खाने के लिए हरिण, एण हरिण, लावक, खरगोश, मोर, तित्तर का मांस (रस) तथा साठी और पुराने शाली चावल, मूँग एवं अन्य लघु पदार्थ देने चाहिए॥ ३९॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त
'आतुरोपद्रवचिकित्सा' नामक उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ३९॥



अध्याय-सारांश

'आतुरोपद्रवचिकित्सित' नामक इस अध्याय में स्नेहन, वमन, विरेचन, रक्तविस्रावण एवं निरूहण के उपरान्त होने वाली मन्दाग्नि के उपचार का वर्णन किया गया है (३-५)।

दोषनिर्हरण काल में रोगी को किस प्रकार का आहार देना चाहिए—इसका विस्तार से उल्लेख है। यवागू, विलेपी, मुद्गयूष, ओदन, भक्त एवं मांसरस की प्रयोगविधि का वर्णन भी किया गया है (७-११)।

रोगी के शारीरिक बल, दोषप्रकोप आदि के अनुसार तीन प्रकार के आहार योगों का उल्लेख है (१७-१८), स्नेहपीत और वान्त का अन्नसंसर्जनक्रम (२०); तथा लघु आहार के सेवन की अवधि का विवरण दिया गया है।

इसी प्रकार सिरावेध के पश्चात् बलवान् होने तक मांसरस का परित्याग (२१) तथा व्रणातुर एवं ज्वरातिसार पीड़ितों की भी नितान्त सावधानीपूर्वक परिचर्या करने की सलाह दी गयी है (२३)।

स्नेहपीत, वान्त, विरिक्तादि को, जो परिहार्य बताये गये हैं उनका परित्याग न करने से ये व्यक्ति नाना प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं (२५), किस प्रकार के अपथ्य सेवन से किस प्रकार के उपद्रवों के होने की सम्भावना रहती है? इनका भी विस्तार से उल्लेख किया गया है (२६-३७)।

अन्त में इन व्यापत्तियों के प्रति चिकित्सक को सावधान किया गया है और मांसरस के लिए उपयोगी प्राणियों एवं आहार-अन्नों का वर्णन भी है (३९)।



चत्वारिंशोऽध्यायः

अथातो धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितम्' (The Treatment by (medicated) Fumigations, Errhines and Gargles) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—'कवलशब्देनात्र चिकित्सितमालोच्य गण्डूषप्रतिसारणेऽपि गृह्येते' (ड.)।

धूमः पञ्चविधो भवति; तद्यथा—प्रायोगिकः, स्नैहिको, वैरेचनिकः, कासघ्नो, वामनीयश्चेति ॥ ३ ॥

धूम के भेद—धूम पाँच प्रकार का होता है; यथा—१. प्रायोगिक (Habitual/'तत्र प्रयोगः स्वस्थस्य सततोपयोगः तत्र साधुः प्रायोगिकः'), २. स्नेहन (Oily/'रूक्षस्य स्नेहाय प्रभवतीति स्नैहिकः'), ३. वैरेचन (Evacuative/'श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षयति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च'), ४. कासघ्न (Antitussive/'कासहरत्वात्कासघ्नः; स पुनरुरःकण्ठरोगहरोऽप्यावस्थिक एक एव') और ५. वामनीय (Emetic/'वामयतीति वामनीयः') ॥ ३ ॥

तत्रैलादिना कुष्ठतगरवर्ज्येन श्लक्ष्णपिष्टेन द्वादशाङ्गुलं शरकाण्डमङ्गुलिपरिणाहं क्षौमेणाष्टाङ्गुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेषा वर्तिः प्रायोगिके, स्नेहफलसारमधूच्छिष्टसर्जरसगुग्गुलुप्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः स्नैहिके, शिरोविरेचनद्रव्यैर्वैरेचने, बृहतीकण्टकारिकात्रिकटुकासमर्दहिङ्ग्विङ्गुदीत्वङ्मनःशिलाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीप्रभृतिभिः कासहरैश्च कासघ्ने, स्नायुचर्मखुरशृङ्गकर्कटकास्थिशुष्कमत्स्यवल्लूरकृमिप्रभृतिभिर्वामनीयैश्च वामनीये ॥ ४ ॥

धूमवर्ति-निर्माण : (१) प्रायोगिक धूम के लिए कुष्ठ और तगर को छोड़कर एलादि गण के द्रव्यों को बारीक पीसकर बारह अंगुल लम्बे, अंगुलि के समान मोटे सरकण्डे के ऊपर आठ अंगुल तक क्षौम (Silken) वस्त्र लपेट कर उस पर लेप कर दें। प्रायोगिक धूम के लिए इस वर्ति का प्रयोग करना चाहिए (वर्ति के सम्बन्ध में विदेह का कथन—'अङ्गुष्ठपरिणाहेन मध्ये स्थूलाऽन्तयोस्तनुः। धूमनेत्रस्य षड्भागं वर्तिमानं प्रचक्षते')। **(२) स्नैहिक धूम** के लिए स्नेहफलसार अर्थात् शिग्रु-बिभीतकादि फलों की मज्जा (सारः तदन्तरगतो मज्जा/Extract of oily seeds), मोम (Wax), सर्जरस (राल), गुग्गुलु आदि में स्नेह मिलाकर पूर्ववत् वर्ति तय्यार की जाती है ('तत्र नेत्रचतुर्भागेन इषीका ग्राह्या, एवं स्नैहिकादिषु चतुर्ष्वपि धूमेषु, यथास्वं नेत्रात् षष्ठभागेन वर्तिप्रमाणं उक्तं भवति। प्रभृतिग्रहणेन द्राक्षाक्षकफलादिकम्)। **(३) वैरेचन धूम** के लिए शिरोविरेचन द्रव्य खरमञ्जरी (अपामार्ग), शिग्रु, सूर्यवल्ली (आदित्यवल्ली या सुवर्चला), पीलु, पिप्पली, सिद्धार्थक, सुरसार्जक आदि से पूर्व वर्णित की तरह वर्ति बनायी जाती है। **(४) कासघ्न धूम** के लिए बड़ी कटेरी, कण्टकारी, त्रिकटु, कासमर्द, हिङ्गु, इङ्गुदी, दालचीनी, मैनसिल, गिलोय, काकड़ासिंगी आदि तथा अन्य कासहर द्रव्यों से वर्ति निर्मित करनी चाहिए। **(५) वामनीय धूम** के लिए स्नायु (Ligaments), चर्म (Skin), खुर (Hoof), शृंग (Horn), कर्कटास्थि (Skeleton of crab), शुष्क मत्स्य (Dry fish), वल्लूर (Dried meat), कृमि (Worms) तथा अन्य वामक द्रव्यों से वर्ति का निर्माण करते हैं ('वामनीयद्रव्याणि मदनफलादीनि संशोधनसंशमनीयोक्तानि'–ड.) ॥ ४ ॥

तत्र बस्तिनेत्रद्रव्यैर्धूमनेत्रद्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति। धूमनेत्रं तु कनिष्ठिकापरिणाहमग्रे कलायमात्रस्रोतो मूलेऽङ्गुष्ठपरिणाहं धूमवर्तिप्रवेशस्रोतोऽङ्गुलान्यष्टचत्वारिंशत् प्रायोगिके, द्वात्रिंशत् स्नेहने, चतुर्विंशतिर्विरेचने, षोडशाङ्गुलं कासघ्ने वामनीये च। एतेऽपि कोलास्थिमात्रच्छिद्रे भवतः। व्रणनेत्रमष्टाङ्गुलं व्रणधूपनार्थं कलायपरिमण्डलं कुलत्थवाहिस्रोत इति॥ ५॥

धूमनेत्र द्रव्य—जिन द्रव्यों से बस्तिनेत्र का निर्माण होता है (बस्तिनेत्रद्रव्यैः—'सुवर्णरूप्यत्रपुसीसताम्रकांस्यादिभिः'–ड.) उन्हीं से धूमनेत्र का निर्माण होना चाहिए। इन द्रव्यों का उल्लेख (अध्याय ३५ के सूत्र ११ में) किया जा चुका है।

धूमनेत्र का माप—प्रायोगिक धूम के लिए धूमनेत्र की मोटाई नेत्र के अग्रभाग (Terminal end) में कनिष्ठिका (Little) अंगुली के बराबर, मूल (Base) में अँगूठे के बराबर और छिद्र (Lumen) मटर के बराबर तथा जिसमें धूमवर्ति आसानी से प्रविष्ट हो सके ('धूमवर्तिप्रवेशस्रोत इति यावता स्रोतसा धूमवर्तिप्रवेशो भवति तावन्मात्रस्रोतस्कम्')।

धूम-प्रयोग के लिए धूमनेत्र की लम्बाई—प्रायोगिक धूम के लिए अड़तालीस अंगुल, स्नैहिक धूम के लिए बत्तीस अंगुल, वैरेचनिक धूम के लिए चौबीस अंगुल और कासघ्न और वामनीय धूम के लिए सोलह-सोलह अंगुल होनी चाहिए। इनका छिद्र बेर के बराबर होता है। व्रणधूपन (Ulcer fumigation) के लिए व्रणनेत्र आठ अंगुल लम्बा, मोटाई मटर के बराबर ('कलायपरिमण्डलम्, गुटिकामुखम्') तथा छिद्र (Aperture) कुलत्थबीज के निकलने योग्य होना चाहिए॥ ५॥

विमर्श—चरक ने धूमवर्ति को 'यवसन्निभाम्' कहा है (सू. ५।२३) और 'अंगुष्ठसंमितां कुर्यात् अष्टांगुलसमां भिषक्। शुष्कां त्रिगर्भां तां वर्तिं धूमनेत्रार्पितां नरः'॥–यह धूमवर्ति का वर्णन दिया है। सुश्रुत ने पाँच प्रकार के धूम का उल्लेख किया है पर डल्हण ने 'इत्यन्ये' कहकर कासघ्न और वामनीय का अन्य तीनों में समावेश की बात कही है। चारकीय सम्मति भी तीन के पक्ष में है।

अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋज्वधोदृष्टिरतन्द्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां वर्तिं नेत्रस्रोतसि प्रणिधाय धूमं पिबेत्॥ ६॥

मुखेन तं पिबेत् पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत्। मुखपीतं मुखेनैव वमेत् पीतं च नासया॥ ७॥
मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत्। तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते॥ ८॥
विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं मुखनासाभ्यां, नासिकया वैरेचनिकं, मुखेनैवेतरौ॥ ९॥

धूमपान-विधान (Method of fumigation)—सुखपूर्वक बैठा हुआ, प्रसन्नचित्त होकर, सीधा बैठकर (Sitting erect), नीचे की ओर देखता हुआ, आलस्यरहित होकर वर्ति को स्नेह से तर कर ले और उसे आग से सुलगाने के बाद धूमनेत्र के छेद में फँसा लें तथा धूमपान करे। पहले मुख से धूमपान करे तत्पश्चात् नासिका द्वारा पीवे। मुख और नासिका द्वारा पीये गये धूम को केवल मुख से ही निकाले। मुख से धूमपान कर नासिका से नहीं निकालना चाहिए, क्योंकि विपरीत (प्रतिलोम) मार्ग से आये धूम से दृष्टि (Vision) को हानि पहुँचती है ('निर्वमेत्तु मुखेनैव नासया न कदाचन। विलोमतो गतो धूमः कुर्याद्दर्शनविभ्रमः'–विदेहः)। विशेषकर प्रायोगिक धूम को नाक से पीना चाहिए और स्नैहिक धूम को मुख और नाक दोनों से। वैरेचनिक धूम का पान नाक से और शेष दोनों (कासघ्न तथा वामनीय) को मुख द्वारा पीना चाहिए॥ ६-९॥

विमर्श—डल्हण द्वारा इस प्रकार धूमपान के हेतु भी बताये हैं—'शिरोरोगसम्भवानां लक्षणविशेषमाश्रित्य प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं मुखनासिकाभ्याम् इति, उरःकण्ठाश्रिते वाते मुखेन, शिरःसमाश्रिते वाते

नासिकयेति, उभयमार्गे पानार्हो मुखेन पूर्वं पिबेत्पश्चान्नासिकयेति। वैरेचनिकमिति, उत्क्लिष्टकफाभिव्याप्तकण्ठोरसो नासया, अनुत्क्लिष्टकफः पुनर्वै रेचनिकमपि प्राग्वक्त्रेण। इतरो कासघ्नवमनीयौ मुखेनैव पेयौ, कासस्य वामनीयस्य च रोगस्योरःकण्ठगत्वात्'।

तत्र प्रायोगिके वर्तिं व्यपगतशरकाण्डां निवातातपशुष्कामङ्गारेष्ववदीप्य नेत्रमूलस्रोतसि प्रयुज्य धूममाहरेति ब्रूयात्; एवं स्नेहनं वैरेचनिकं च कुर्यादिति। इतरयोर्व्यपेतधूमाङ्गारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्तिं मूलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिन् छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूममासेवेत, प्रशान्ते धूमे वर्तिमवशिष्टां प्रक्षिप्य पुनरपि धूमं पाययेदादोषविशुद्धेः; एष धूमपानोपायविधिः ॥ १० ॥

धूमपान की विशेष विधि—प्रायोगिक धूम में शरकाण्ड को अलग कर वर्ति को वातरहित धूप में सुखाकर और अंगारों से सुलगाकर नेत्रमूल के स्रोत में लगा लें तथा रोगी को धूमपान करने को कहे (धूममाहरेति ब्रूयात्)। इसी प्रकार स्नेहन और वैरेचनिक के लिए भी करना चाहिए। कासघ्न और वामनीय धूमपान के लिए धूमरहित अंगारों को मिट्टी की तस्तरी (शराव/Earthen saucer) जो स्थिर (अचल) तथा अच्छी तरह से टिकाकर रखी हो, में रखकर वर्ति को उसमें डाल दें तथा मूल में छिद्र वाली दूसरी तस्तरी से ढक दें। फिर इस छिद्र में नेत्रमूल को लगाकर धूमपान करें। धूम के शान्त हो जाने पर शेष वर्ति को भी अंगारों में डाल दें और पुनः धूमपान करें। ऐसा आराम होने तक करता रहे। यह धूमपानोपाय की विधि है॥ १०॥

तत्र शोकश्रमभयामर्षौष्ण्यविषरक्तपित्तमदमूर्च्छादाहपिपासापाण्डुरोगतालुशोषच्छर्दिशिरोऽभिघातोद्गारापतर्पिततिमिरप्रमेहोदराध्मानोर्ध्ववातार्ता बालवृद्धदुर्बलविरिक्तास्थापितजागरितगर्भिणीरूक्षक्षीणक्षतोरस्कमधुघृतदधिदुग्धमत्स्यमद्ययवागूपीताल्पकफाश्च न धूममासेवेरन् ॥ ११ ॥

धूमपान के अयोग्य (Contraindication)—जो व्यक्ति शोक, श्रम (Exhaustion), भय, अमर्ष (क्रोध), उष्णता (Heat-stroke), विष, रक्तपित्त, मद (Intoxication), मूर्च्छा, दाह, पिपासा, पाण्डुरोग, तालुशोष, वमन, शिरोऽभिघात (Head injury), उद्गार (Eructation), अपतर्पित (विभुक्षित), तिमिर (नेत्ररोग), प्रमेह (Abnormal urinary discharge), उदररोग, आध्मान और ऊर्ध्ववात (Reversed peristalsis) से पीड़ित होते हैं, उन्हें धूम्रपान नहीं कराना चाहिए। इसी प्रकार बाल, वृद्ध, दुर्बल, विरिक्त (जिन्हें विरेचन कराया है), आस्थापित (जिन्हें आस्थापन कराया है), जागरित (अधिक जागे हुए), गर्भिणी स्त्री; रूक्ष (Dehydrated), क्षीण (Emaciated), क्षतोरस्क (Have intrathoratic lesions) से पीड़ित व्यक्ति को भी धूमपान निषिद्ध है। उन्हें भी धूमपान नहीं कराना चाहिए जिन्होंने मधु, घृत, दधि, दुग्ध, मछली, मद्य और यवागू का तत्काल सेवन किया हो और अल्प कफ वाले हैं॥ ११॥

अकालपीतः कुरुते भ्रमं मूर्च्छां शिरोरुजम्। घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वानामुपघातं च दारुणम् ॥ १२ ॥

अकालपीत धूम के उपद्रव—अकाल (Improper hours) में धूमपान से भ्रम (Vertigo), मूर्च्छा (Unconsciousness), शिरोवेदना और गन्धेन्द्रिय (घ्राण/Smell organ), श्रवणेन्द्रिय (श्रोत्र/Hearing organ) नेत्र तथा जीभ की भयंकर हानि होती है॥ १२॥

आद्यास्तु त्रयो धूमा द्वादशसु कालेषूपादेयाः। तद्यथा—क्षुतदन्तप्रक्षालननस्यस्नानभोजनदिवास्वप्नमैथुनच्छर्दिमूत्रोच्चारहसितरुषितशस्त्रकर्मान्तेष्विति। तत्र विभागो—मूत्रोच्चारक्षवथुरुषितमैथुनान्तेषु स्नैहिकः, स्नानच्छर्दनदिवास्वप्नान्तेषु वैरेचनिकः, दन्तप्रक्षालनस्य स्नानभोजनशस्त्रकर्मान्तेषु प्रायोगिक इति ॥ १३ ॥

धूमपान के काल—आदि के तीन; यथा—१. प्रायोगिक, २. स्नैहिक, ३. वैरचनिक प्रकार के धूमपान के लिए पानकाल (Fumigation occasions) बारह हैं—१. छींक (Sneezing) के बाद, २. दन्तप्रक्षालन

(Cleaning), ३. नस्य (Snuff) लेने के बाद, ४. स्नान, ५. भोजन, ६. दिवास्वप्न के उपरान्त, ७. मैथुन, ८. वमन, ९. मूत्रत्याग, और मलत्याग, १०. हँसना, ११. क्रोध एवं १२. शस्त्रकर्म के अन्त में। इनमें मल-मूत्र त्याग, छींक, क्रोध और मैथुन के उपरान्त 'स्नैहिक'; स्नान, वमन और दिवास्वप्न के बाद 'वैरेचनिक' तथा दन्तप्रक्षालन, नस्य, स्नान, भोजन एवं शस्त्रकर्म के अन्त में 'प्रायोगिक' धूम का पान करना चाहिए॥ १३॥

तत्र स्नैहिको वातं शमयति, स्नेहादुपलेपाच्च; वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च; प्रायोगिकः श्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युत्क्लिष्टं चापकर्षति, शमयति वातं साधारणत्वात् पूर्वाभ्यामिति॥ १४॥

धूमपान (Fumigation) **का प्रभाव**—स्नेहन और उपलेपन (Oily and pasty) गुणों के कारण स्नैहिक धूम वायु को शान्त करता है। रूक्षता, तीक्ष्णता, उष्णता और विशदता (धातुशोषकता) के कारण वैरेचनिक धूम कफ को क्षुब्ध कर निकालता है। प्रायोगिक धूम कफ को क्षुब्ध कर निकालता है और वायु को शान्त करता है, क्योंकि इसमें स्नैहिक और वैरेचनिक दोनों प्रकार के धूमों के गुण हैं॥ १४॥

भवति चात्र—

नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः । दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः॥ १५॥

तथा कासश्वासारोचकास्योपलेपस्वरभेदमुखास्रावक्षवथुवमथुक्रथतन्द्रानिद्राहनुमन्यास्तम्भाः पीनसशिरोरोगकर्णाक्षिशूला वातकफनिमित्ताश्चास्य मुखरोगा न भवन्ति॥ १६॥

धूमपान के लाभ—श्लोक भी है—धूम के उपयोग से मनुष्य की इन्द्रियाँ, वाणी और मन प्रसन्न रहते हैं; बाल, दाँत, श्मश्रु (Beard) मजबूत होते हैं तथा मुख सुगन्धित (Fragrant) और स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार कास, श्वास, अरोचक, आस्यो(मुख)पलेप (Stickiness in the mouth/मुख में चिपचिपाहट), स्वरभेद (Hoarseness of voice), मुखास्राव (Excessive salivation), छींक, वमथु (Vomiting), श्वासावरोध, तन्द्रा (Drowsiness), निद्रा, हनुस्तम्भ (Stiffness of the jaws), मन्यास्तम्भ (Torticollis), पीनस (Chronic corrhyza), शिरोरोग, कर्ण-नेत्रशूल और वात-कफजन्य मुखरोग नहीं होते हैं॥ १५-१६॥

तस्य योगायोगातियोगा विज्ञातव्याः। तत्र योगो रोगप्रशमनः, अयोगो रोगाप्रशमनः, तालुगलशोषपरिदाहपिपासामूर्च्छाभ्रममदकर्णक्ष्वेडदृष्टिनासारोगदौर्बल्यान्यतियोगो जनयति॥ १७॥

धूम का योग, अयोग और अतियोग—धूमपान से हुए योग, अयोग और अतियोग को जानना चाहिए (योग = Adequate, अयोग = Inadequate और अतियोग = Excessive application of fumigation therapy)। धूम का सही ढंग और मात्रा में उपयोग 'योग' कहलाता है। इससे रोगशान्ति होती है। 'अयोग' होने पर रोग शान्त नहीं होता है और जब तालु तथा गला सूखने लगता है, जलन, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, मद (Exhilaration/उल्लासन), कर्णक्ष्वेड (Tinnitus), नेत्ररोग, दृष्टिरोग और नासारोग तथा दौर्बल्य होते हैं तो 'अतियोग' कहलाता है॥ १७॥

विमर्श—चरक योग को 'सुपीतधूम', अयोग को 'अपीतधूम' और अतियोग को 'अत्यर्थधूम' कहते हैं (सू. ५)। इनके लक्षणों में लगभग एकरूपता है।

प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वेति, स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः, वैरेचनिकमादोषदर्शनात्, तिलतण्डुलयवागूपीतेन पातव्यो वामनीयः, ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति॥ १८॥

धूमपान-मर्यादा—प्रायोगिक धूम (Habitual fumigation) को नासा और मुख से तीन बार (Inhale) ले और पुनः तीन या चार बार इसी क्रम ('पर्यायाः परिपाटी, उच्छ्वासत्रयेण एकपर्यायः') को दुहरायें ('तान्पर्यायान् त्रींश्चतुरो वा दोषपुरुषबलमपेक्ष्य')। स्नैहिक धूम (Oily fumigation) का

सेवन आँखों से आँसू आने तक ('बलवति पुरुषे दुर्बले च प्रायोगिकवत्') करना चाहिए (भोज-वचन भी है—'प्रमाणं स्नैहिके धूमे कृशो मात्रां पिबेन्नरः। सबलस्तु पिबेत्तावत् यावदश्रुर्न गच्छति')। वैरेचनिक धूम (Evacuatory fumigation) का पान दोषों के निकलने तक करना चाहिए ('दोषस्य च कफाख्यस्य विकृतस्य दर्शनं यावत्')। वामनीय (Emetic) धूम का सेवन तिल, चावल और यवागू के पीने के बाद करना चाहिए ('वमनकाल एवं आकण्ठं तिलादियवागूपीतेन वामनीयो धूमः पातव्यः')। कासघ्न (Antitussive) धूम का सेवन ग्रासों (Morsels of food) के मध्य में करना चाहिए॥ १८॥

विमर्श—'पर्यायांस्त्रींश्चतुरो वा' अर्थात् एक समय में तीन बार धूमपान करें। पर आवश्यकतानुसार पुनः इस क्रम को दुहराया जा सकता है; जैसे—स्नैहिक धूम में और वैरेचनिक धूम में अश्रु आने तक या दोषदर्शन तक धूमपान करते रहने का आदेश है। तन्त्रान्तर का उद्धरण—'सकृत् पिबेत् स्नेहनीयं प्रयोगे सकृदेव च। द्विर्वा विरेचनीयं तु त्रिश्चतुर्वा पिबेन्नरः'॥

व्रणधूमं शरावसम्पुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्, धूमपानाद्वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति॥ १९॥

व्रणधूपन-विधि—औषध युक्त एवं एक-दूसरे के ऊपर रखी हुई तश्तरियों (शरावसम्पुट/Covered saucer) के छिद्र में नेत्र (Ulcer fumigation tube) को प्रविष्ट कर धूम को व्रण तक लाना चाहिए। इस प्रकार व्रणधूपन से व्रण की वेदना शान्त होती है, उसमें स्वच्छता आती है और उसमें से आने वाला स्राव नहीं रहता है॥ १९॥

विधिरेष समासेन धूमस्याभिहितो मया। नस्यस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं निरवशेषतः॥ २०॥

मैंने धूमपान की विधि का यह संक्षिप्त वर्णन किया है। अब इसके उपरान्त नस्य (Snuff) का विस्तार से वर्णन किया जायेगा॥ २०॥

औषधमौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यम्। तद्द्विविधं—शिरोविरेचनं, स्नेहनं च। तद्द्विविधमपि पञ्चधा। तद्यथा—नस्यं, शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शो, अवपीडः, प्रधमनं च। तेषु नस्यं प्रधानं शिरोविरेचनं च; नस्यविकल्पः प्रतिमर्शः, शिरोविरेचनविकल्पोऽवपीडः प्रधमनं च; ततो नस्यशब्दः पञ्चधा नियमितः॥ २१॥

नस्य (Snuff) विधि—औषध (शुष्क औषध द्रव्य का सूक्ष्म चूर्ण) या औषधसिद्ध (Medicated) स्नेह का नासारन्ध्रों (Nostrils) द्वारा प्रयोग 'नस्य' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—१. शिरोविरेचन और २. स्नेहन। नस्य के इन दो भेदों के पुनः पाँच भेद हैं—१. नस्य, २. शिरोविरेचन, ३. प्रतिमर्श, ४. अवपीड ('शृतशीतक्वाथादीनां पिचुनाऽवपीडनादवपीडः') और ५. प्रधमन ('चूर्णस्य मुखेन नाड्या वा प्रध्मापनात् प्रधमनम्')। इनमें नस्य प्रधान है और शिरोविरेचन भी। प्रतिमर्श नस्य का ही विकल्प (Variety) है और शिरोविरेचन का विकल्प है—अवपीड और प्रधमन। इस प्रकार नस्य शब्द से इन सबका (पाँचों का) ग्रहण होता है ('नियमेन पञ्चप्रकारं प्राप्तः'-ड.)॥ २१॥

तत्र यः स्नेहनार्थं शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां च बलजननार्थं दृष्टिप्रसादजननार्थं वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्यशब्दः। तत्तु देयं वाताभिभूते शिरसि दन्तकेशश्मश्रुप्रपातदारुणकर्णशूलकर्णक्ष्वेडतिमिरस्वरोपघातनासारोगास्यशोषावबाहुकाकालजवलीपलितप्रादुर्भावदारुणप्रबोधेषु वातपैत्तिकेषु मुखरोगेष्वन्येषु च वातपित्तहरद्रव्यसिद्धेन स्नेहेनेति॥ २२॥

नस्य का प्रयोग—शिर में शून्यता, ग्रीवा-कन्धे और छाती में बलाधान या दृष्टि (Vision) की वृद्धि के उद्देश्य से स्नेहनार्थ स्नेह ('सर्पिस्तैलवसामज्जाख्यः') का उपयोग किया जाता है; उस अर्थ में 'नस्य' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग होता है। उस नस्य का उपयोग वातपित्तहर द्रव्यों से सिद्ध स्नेह से वातिक शिरोरोग; दाँत, केश और दाढ़ी के बालों के गिरने में, दारुण (तीव्र) कर्णशूल, कर्णक्ष्वेड

(Tinnitus aureum), तिमिर (दृष्टिरोग), स्वरोपघात (Hoarseness of voice), नासारोग, मुखशोष, अवबाहुक (Wasting of the shoulder), अकाल (समय से पहले) वलिप्रादुर्भाव (Premature wrinkling of the skin), पलित (Greyness of hair) तथा अन्य दारुण व्याधियों में और वात-पित्तजन्य मुखरोगों में तथा अन्य रोगों में किया जाता है॥ २२॥

शिरोविरेचनं श्लेष्मणाऽभिव्याप्ततालुकण्ठशिरसामरोचकशिरोगौरवशूलपीनसार्धावभेदक-कृमिप्रतिश्यायापस्मारगन्धाज्ञानेष्वन्येषु चोर्ध्वजत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषु शिरोविरेचनद्रव्यैस्तत्सिद्धेन वा स्नेहेनेति॥ २३॥

शिरोविरेचन-विचार—शिरोविरेचन के लिए शिरोविरेचन द्रव्य या इनसे सिद्ध स्नेह का उपयोग श्लेष्मप्रकोप से व्याप्त तालु, कण्ठ और शिर में, अरोचक, शिर में भारीपन, शूल, पीनस (Chronic corrhyza), अर्धावभेदक (Hemicranial neuralgia), कृमि, प्रतिष्याय, अपस्मार, गन्ध का ज्ञान न होना और अन्य ऊर्ध्वजत्रुज (In the region above the clavicles) कफज विकारों में करना चाहिए॥ २३॥

तत्रैतद्द्विविधमप्यभुक्तवतोऽन्नकाले, पूर्वाह्णे श्लेष्मरोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्णे वातरोगिणाम्॥ २४॥

कालावधारण—इनमें स्नैहिक और वैरेचनिक धूम का सेवन श्लैष्मिक रोगों में पूर्वाह्ण (Forenoon) में जब भोजन न किया हो और भोजन का समय हो उस समय करना चाहिए। पित्तज विकार से पीड़ितों में मध्याह्न में और वातविकारियों में अपराह्ण (Afternoon) में इनका सेवन करना चाहिए॥ २४॥

विमर्श—"स्वास्थ्यवृत्तिकनस्यकालावधारणं तन्त्रान्तरात् ज्ञेयम्। तथा च वृद्धवाग्भटः—स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्याह्ने, शरद्वसन्तयोः पूर्वाह्णे, ग्रीष्मेऽपराह्णे, वर्षासु आदित्यदर्शने। पञ्चकर्माणि आचरतो बस्तिकर्मोत्तर-कालमेव" इति।

अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तमूत्रपुरीषाय भुक्तवते व्यभ्रे काले दन्तकाष्ठधूमपानाभ्यां विशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणितापपरिस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशाय वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तान-शायिने प्रसारितकरचरणाय किञ्चित् प्रविलम्बितशिरसे वस्त्राच्छादितनेत्राय वामहस्तप्रदेशिन्यग्रोन्ना-मितनासाग्राय विशुद्धस्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णाम्बुना प्रतप्तं रजतसुवर्णताम्रमणिमृत्पात्रशुक्ती-नामन्यतमस्थं शुक्त्या पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमासिञ्चेदव्यवच्छिन्नधारं यथा नेत्रे न प्राप्नोति॥ २५॥

शिरोविरेचन-विधान—जिस व्यक्ति को शिरोविरेचन कराना हो वह मल-मूत्र का त्याग कर ले और भोजन कर ले, फिर जब आकाश में बादल न हो तब उसके मुख के स्रोतों को दातुन और धूमपान से विशुद्ध कर लेना चाहिए। फिर हस्ततल को गरम कर रोगी के गला, गाल और ललाट का स्वेदन और मर्दन करें। तत्पश्चात् रोगी को तीव्र वात, धूप एवं धूल से रहित गृह में पीठ के सहारे, उसके हाथ-पैर फैलाकर लिटा देना चाहिए। उसका शिर कुछ पीछे को झुका हुआ होना चाहिए। अब रोगी के नेत्रों को वस्त्र से ढक कर चिकित्सक अपने वाम हस्त की प्रदेशिनी (Forefinger) अंगुली के अग्रभाग से रोगी की नासा के अग्रभाग को ऊपर उठाकर नासास्रोतों को स्वच्छ कर ले और अपने दाहिने हाथ से चाँदी, सोना, ताम्बा, मिट्टी के पात्र या शुक्ति में रखे और जल से गरम स्नेह को शुक्ति या पिचु (Oyster shell or cotton plug) में लेकर कोष्ण (स्नेह) को धीमे-धीमे अविच्छिन्न (Uninterrupted) धारा में नासारन्ध्रों में डालें जिससे स्नेह नेत्रों में न पड़े॥ २५॥

स्नेहेऽवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकम्पयेत्। न कुप्येन्न प्रभाषेच्च न क्षुयान्न हसेत्तथा॥ २६॥
एतैर्हि विहतः स्नेहो न सम्यक् प्रतिपद्यते। ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसम्भवः॥ २७॥

नस्योत्तर कर्म—जब स्नेह का नस्य (Oily snuff) दिया जा रहा हो उस समय रोगी शिर को हिलाये नहीं, न क्रोध करे, न ऊँचा बोले, न छींके (Sneeze) और न हँसे ही। ऐसा करने पर स्नेह (अन्य क्वाथादि भी) भली प्रकार प्रयुक्त नहीं हो पाते हैं जिससे खाँसी, प्रतिश्याय, शिर और आँखों की बीमारियाँ होना सम्भव हैं॥ २६-२७॥

विमर्श—वृद्ध वाग्भट के अनुसार—'दत्तमात्रे नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपाद-तलान्यनुसुखं मर्दयेत् शनैः शनैः चोच्छिङ्घ्यात्'।

तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वयनिःसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणिशुक्तिः, इत्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः॥ २८॥

नस्य की मात्रा (स्नैहिक नस्य की)—प्रदेशिनी अंगुली के दो पर्वों (Two phalanges of index finger) से निकली हुई आठ बूँद प्रथमा मात्रा (Minimum dose); द्वितीया (Intermediate dose) मात्रा शुक्तिप्रमाण ('स्यात्कर्षाभ्यामर्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा'–शा.) तथा तृतीया मात्रा (Maximum dose) पाणिशुक्ति के बराबर होती है। इन तीन मात्राओं का प्रयोग रोगी के बलानुसार करना चाहिए॥ २८॥

विमर्श—नस्य में स्नेह की मात्रा अल्प, मध्यम और उत्तम भेद से तीन प्रकार की होती है। डल्हणानुसार एक नासापुट (Nostrill) में आठ बूँद (जो अंगुष्ठ और तर्जनी के दो पर्वों के मध्य स्नेहसिक्त पिचु को दबाने के बाद टपकायी जाती हैं) और इस प्रकार सोलह बूँद टपकानी चाहिए ('अङ्गुष्ठसमीपवर्त्यङ्गुलीप्रदेशिनी तत्पर्वद्वयच्युता विन्दवः')।

भोज-वचन भी है—'प्रायोगिकं स्नैहिकं च द्विविधं नस्यमुच्यते। प्रायोगिके बिन्दवोऽष्टौ स्नैहिके शुक्तिरिष्यते॥ दोषोच्छ्रायं समासाद्य दद्यात् द्वित्रिचतुर्गुणम्'।

स्नेहनस्यं नोपगिलेत् कथञ्चिदपि बुद्धिमान्॥ २९॥

शृङ्गाटकमभिप्लाव्य निरेति वदनाद्यथा। कफोत्क्लेशभयाच्चैनं निष्ठीवेदविधारयन्॥ ३०॥

नस्य को निगलने का निषेध—बुद्धिमान् को चाहिए कि वह स्नेह नस्य (Oily snuff) को निगले नहीं, क्योंकि निगल लेने पर स्नेह शृङ्गाटक नामक मर्म को ('नासाकर्णस्रोतोऽक्षिजिह्वातर्पणीनां सिराणां मध्ये शृङ्गाटकः') आप्लावित (तर/Inundates) कर मुख से बाहर निकलता है। अतः इसे (स्नेह को) कफ के कारण होने वाले उत्क्लेश (Nausea) के भय से मुख में टिकने न दे और बाहर थूकता रहे॥ २९-३०॥

विमर्श—वृद्धवाग्भट ने दाहिनी और बाईं ओर से स्नेह को बारी-बारी से थूक खींचकर थूकने की सलाह दी है—'अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोर्निष्ठीवेत्, एकपार्श्वष्ठीवने न सर्वाः सिराः भेषजेन न सम्यक् व्याप्यन्ते'।

दत्ते च पुनरपि संस्वेद्य गलकपोलादीन् धूममासेवेत, भोजयेच्चैनमभिष्यन्दि, ततोऽस्या-चारिकमादिशेत्; रजोधूमस्नेहातपमद्यद्रवपानशिरःस्नानातियानक्रोधादीनि च परिहरेत्॥ ३१॥

पश्चात्कर्म—स्नेह नस्य के उपरान्त भी गला, गाल आदि का स्वेदन कर धूमपान कराना चाहिए (धूममासेवेतेति वाक्-शतानन्तरम्; तथा च भोजः—'वाक्शतादूर्ध्वमुत्थाय धूमं प्रायोगिकं पिबेत्' इति) और अभिष्यन्दी भोजन कराना चाहिए। तत्पश्चात् रोगी को आचारिक अर्थात् दैनिकचर्या का आदेश करें। रोगी को चाहिए कि वह धूल, धुआँ, स्निग्ध पदार्थ (Fatty substances), धूप, मद्य, अधिक तरलपान, शिरःस्नान, अधिक सवारी (Riding), क्रोध आदि का परित्याग करे॥ ३१॥

तस्य योगातियोगायोगानामिदं विज्ञानं भवति॥ ३२॥

लाघवं शिरसो योगे सुखस्वप्नप्रबोधनम्। विकारोपशमः शुद्धिरिन्द्रियाणां मनःसुखम्॥ ३३॥

कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः। लक्षणं मूर्ध्न्यतिस्निग्धे रूक्षं तत्रावचारयेत्॥ ३४॥

अयोगे वातवैगुण्यमिन्द्रियाणां च रूक्षता। रोगाशान्तिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत्॥ ३५॥

३२ सु० द्वि०

नस्य के योगादि के सम्बन्ध में—नस्य के योग (Proper), अतियोग (Excessive) और अयोग (Inadequate) का तथा मात्रादि का विशेष ज्ञान इस प्रकार है—**योग** अर्थात् नस्यकर्म का भली प्रकार उपयोग किया जाय तो शिर में हलकापन (Lightness), नींद अच्छी आती है और रोगी जागता भी सुखपूर्वक है; रोग का शमन, इन्द्रियों (Motor and sensory organs) का अपनी सामान्य क्रियाशीलता में आना, मन का प्रसन्न होना—ये लक्षण होते हैं। **अतियोग** होने पर कफ का निकलना (Expectoration), शिर का भारीपन, इन्द्रियों (Senses) की क्रियाशीलता में विकार—ये लक्षण शिर की अधिक स्निग्धता में पाये जाते हैं। इसके उपचार में रूक्षता लाने वाले उपाय करने चाहिए। **अयोग** हो तो वात में विगुणता, इन्द्रियों में रूक्षता, रोग का शान्त न होना—ये लक्षण पाये जाते हैं। ऐसी दशा में नस्य का पुनः प्रयोग करना चाहिए॥ ३२-३५॥

चत्वारो बिन्दवः षड् वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम्। शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत्॥

शिरोविरेचन की मात्रा—शिरोविरेचनार्थ प्रयुक्त स्नेह की मात्रा चार, छः या आठ बिन्दु (Drops) हैं (जो प्रत्येक नासारन्ध्र में टपकाये जाते हैं)। इसे शिरोविरेचन स्नेह का प्रमाण (मात्रा/Dose) माना जाता है॥ ३६॥

विमर्श—डल्हण के अनुसार एक नासापुट में दोष, आतुर, बल और अबल का विचार कर हीन, मध्य और उत्तम शिरोविरेचन स्नेहमात्रा का प्रयोग करना चाहिए। ('चतुरश्चतुरो बिन्दून् एकैकस्मिन् समाचरेत्। एषा लघ्वी मता मात्रा तथा शीघ्रं विरेचयेत्॥ अध्यर्धां द्विगुणां वाऽपि त्रिगुणां वा चतुर्गुणाम्। यथाव्याधि विदित्वा तु मात्रां समवचारयेत्'॥ इति विदेहः)।

नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः। शुद्ध(द्धि)हीनातिसंज्ञानि विशेषाच्छास्त्रचिन्तकैः॥

सम्यगादि शुद्धि के लक्षण—शास्त्रचिन्तकों ने नस्य के प्रयोग के विशिष्ट लक्षण तीन प्रकार के बताये हैं; यथा—१. सम्यक्शुद्धि (Proper dose) के लक्षण, २. हीनशुद्धि (Under dose) के लक्षण और ३. अतिशुद्धि (Over dose) के लक्षण॥ ३७॥

लाघवं शिरसः शुद्धिः स्रोतसां व्याधिनिर्जयः। चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम्॥ ३८॥

सम्यक्शुद्धि के लक्षण—शिर का हलकापन, स्रोतों की शुद्धि (Cleanliness), रोग का नाश, मन तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता—ये (नस्यप्रयोग द्वारा हुई) शिर की 'सम्यक्शुद्धि' के लक्षण हैं॥ ३८॥

कण्डूपदेहौ गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः। मूर्ध्नि हीनविशुद्धे तु लक्षणं परिकीर्तितम्॥ ३९॥

हीनशुद्धि के लक्षण—कण्डू, उपदेह (Greasiness), भारीपन, स्रोतों से कफ का निकलना—ये शिर की हीनशुद्धि के लक्षण कहे गये हैं॥ ३९॥

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः। शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढविरेचिते॥ ४०॥

अतिशुद्धि के लक्षण—मस्तुलुङ्ग (Brain matter) का आगमन (Protrusion), वात की वृद्धि, इन्द्रियों (Sense organs) का विभ्रम (Confusion) और शिर में सूनापन (Emptiness)—ये शिर की अतिशुद्धि के लक्षण हैं॥ ४०॥

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत्। सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्यं निषेचयेत्॥ ४१॥

शिर की हीन और अति शुद्धि होने पर कफ-वातहर उपाय करने चाहिए। शिर की सम्यक्शुद्धि होने पर घृत का निषेचन (Snuff) (पित्तप्रकृतौ, वातप्रकृतौ तु पक्वतैलमेव) करना चाहिए (नासारन्ध्रों में घृतबिन्दु डालना चाहिए)॥ ४१॥

(एकान्तरं द्व्यन्तरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः। एकविंशतिरात्रं वा यावद्वा साधु मन्यते॥ ४२॥
मारुतेनाभिभूतस्य वाऽत्यन्तं यस्य देहिनः। द्विकालं चापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता॥ ४३॥)

नस्यों में समय का अन्तर—नस्य का प्रयोग एक, दो, सात या इक्कीस दिन के अन्तर से अथवा जब तक ठीक समझें करना चाहिए। यदि देह में वायु का अत्यन्त प्रकोप हो तो कुशल चिकित्सक को दिन में दो बार नस्य का प्रयोग करना चाहिए॥ ४२-४३॥

अवपीडस्तु शिरोविरेचनवदभिष्यण्णसर्पदष्टविसंज्ञेभ्यो दद्याच्छिरोविरेचनद्रव्याणामन्यतममव-पिष्यावपीडच्च च, शर्करेक्षुरसक्षीरघृतमांसरसानामन्यतमं क्षीणानां शोणितपित्ते च विदध्यात्॥ ४४॥

अवपीड नस्य—अवपीड नस्य का प्रयोग अभिष्यण्ण (मेदःकफव्याप्तशिराः), सर्पदंशविष और विसंज्ञ (चेतनारहित/Unconscious) व्यक्तियों में शिरोविरेचन की तरह ही शिरोविरेचन द्रव्यों ('पिप्पलीविडङ्गादि-शिरोविरेचनद्रव्याणाम्') में से किसी एक को पीसकर तथा निचोड़ कर (नासारन्ध्रों में) करना चाहिए। क्षीण (Emaciated) और रक्तपित्त (Haemoptysis) के रोगियों में शर्करा, गन्ने का रस, दूध, घी, मांसरस में से किसी एक का नस्य देना चाहिए॥ ४४॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में विदेह की सम्मति—'विषाभिभूतसंन्यासमूर्च्छामोहापतन्त्रके। मदापस्मार-कामार्तिचित्तक्रोधभयादिषु॥ मानसेषु च रोगेषु मूढव्याकुलचेतसाम्। संज्ञाप्रबोधहेत्वर्थमवपीडं प्रयोजयेत्'॥

कृशदुर्बलभीरूणां सुकुमारस्य योषिताम्। शृताः स्नेहाः शिरःशुद्ध्यै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः॥

कृशादि में नस्य—कृश, दुर्बल, डरपोक, सुकुमार व्यक्ति और स्त्रियों में शिर की शुद्धि के लिए शिरोविरेचन द्रव्यों से सिद्ध स्नेह एवं कल्क का नस्यार्थ प्रयोग करना चाहिए॥ ४५॥

चेतोविकारकृमिविषाभिपन्नानां चूर्णं प्रधमेत्॥ ४६॥

प्रधमन नस्य—मानसिक विकार, कृमि और विषग्रस्त व्यक्तियों में (शिरोविरेचन द्रव्यों के) चूर्ण से प्रधमन नस्य देना चाहिए॥ ४६॥

विमर्श—१. 'चूर्णस्य मुखेन नाड्या वा प्रध्मापनं प्रधमनम्' (ड.); २. 'तर्जन्यङ्गुष्ठाग्रमात्रं ग्राह्यं चूर्णमुच्चुटीमात्रम्' (ड.)।

नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोऽत्यर्थतरुणप्रतिश्यायी गर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णी दत्तबस्तिः क्रुद्धो गरार्तस्तृषितः शोकाभिभूतः श्रान्तो बालो वृद्धो वेगावरोधितः शिरःस्नातुकामश्चेति; अनार्तवे चाभ्रे नस्यधूमौ परिहरेत्॥ ४७॥

नस्यानर्ह (अयोग्य/Contraindication)—निम्नलिखित में नस्यकर्म निषिद्ध है—भोजन के तुरन्त पश्चात्, क्षुधार्त (अपतर्पणमभोजनम्), तीव्र अभिनव प्रतिष्यायपीड़ित, गर्भिणी, जिसने स्नेहपान किया है; पानी, मद्य तथा अन्य तरल पदार्थों का अधिक सेवन करने वाला, अजीर्णपीड़ित, जिसे बस्ति दी गयी हो, क्रोधयुक्त, गरविषग्रस्त, प्यासा, शोकग्रस्त, थका हुआ, बाल, वृद्ध, मल-मूत्रादि के वेग को रोकने वाला, शिरःस्नान की कामना करने वाला, अनार्तव (चकारात् आर्तवे व्याधौ) तथा आसमान में बादल छाये होने पर नस्य और धूम का प्रयोग नहीं करना चाहिए॥ ४७॥

विमर्श—**अनार्तवे चाभ्रे**—संस्कृत टीकाकारों ने इसके दो-दो अर्थ किये हैं—१. डल्हणानुसार अनार्तव रोग और चकार से आर्तव रोगों में भी नस्य और धूम के प्रयोग का निषेध है। २. वाग्भट के टीकाकार अरुणदत्त के अनुसार (सम्भवतः वाग्भट भी)—'अनार्तवदुर्दिने'–सू. २०। बेमौसमी बादल जब हों उस समय नस्यकर्म नहीं करना चाहिए ('तथाऽनार्तवदुर्दिनेऽपि सहसैव शैत्यात् शिरोरोगवेपथुस्तैमित्यतालुनेत्र-कण्डूपाकमन्यास्तम्भकण्ठरोगप्रतिष्यायारूंषिकाः')।

तत्र हीनातिमात्रातिशीतोष्णसहसाप्रदानादतिप्रविलम्बितशिरस उच्छिङ्घतो विचलतोऽभ्यव-हरतो वा प्रतिषिद्धप्रदानाच्च व्यापदो भवन्ति तृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ताः क्षयजाश्च॥ ४८॥

नस्यव्यापत् (Side effects)—नस्य का हीन या अति प्रयोग, अतिशीत या अतिउष्ण समय में, सहसा प्रयोग करने से, शिर को अधिक नीचा करने (Hanging down), छींक लेने (Blowing up) या हिलाते समय, आहार करते समय या निषिद्ध व्यक्तियों आदि को नस्य देने से प्यास, उद्गार (Eructations) आदि दोषनिमित्तज (दोषों की अधिकता) या क्षयज (दोषह्रासजन्य) व्यापत्तियाँ होती हैं॥ ४८॥

भवतश्चात्र—

नस्ये शिरोविरेके च व्यापदो द्विविधाः स्मृताः। दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥

नस्य-शिरोविरेचन व्यापत्तियाँ—नस्य (Oily snuff) और शिरोविरेचन से दो प्रकार की व्यापत्तियाँ होती हैं—१. स्नैहिक नस्य से दोषप्रकोपजन्य और २. शिरोविरेचन से दोषक्षयजन्य। इनको क्रमशः जानना चाहिए॥ ४९॥

दोषोत्क्लेशनिमित्तास्तु जयेच्छमनशोधनैः। अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम्॥ ५०॥

व्यापच्चिकित्सासूत्र—जो व्यापत्तियाँ दोषोत्क्लेश के कारण होती हैं उनका उपचार शमन (Alleviation) और शोधन चिकित्सा (Elimination therapy) द्वारा किया जाता है; और जिनका कारण दोषों का क्षय होता है उनकी चिकित्सा में बृंहण उपचार हितकर होता है॥ ५०॥

प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेयः; तद्यथा—तल्पोत्थितेन, प्रक्षालितदन्तेन, गृहान्निर्गच्छता, व्यायामव्यवायाध्वपरिश्रान्तेन, मूत्रोच्चारकवलाञ्जनान्ते, भुक्तवता, छर्दितवता, दिवास्वप्नोत्थितेन, सायं चेति॥ ५१॥

प्रतिमर्श चिकित्सा—प्रतिमर्श नामक नस्य का प्रयोग निम्नलिखित चौदह अवसरों में किया जाता है—१. प्रातःकाल शय्या से उठने के तुरन्त बाद, २. दन्तप्रक्षालन के उपरान्त, ३. घर से बाहर जाते समय, ४. व्यायाम करने के बाद, ५. व्यवाय के पश्चात्, ६. मार्ग चलने के बाद थकने पर, ७. मूत्रत्याग (Micturition) के बाद, ८. मलत्याग (Defecation) के उपरान्त, ९. कवल (Gargling) धारण के बाद, १०. अञ्जन (Collyrium) लगाने पर, ११. भोजनोपरान्त, १२. वमन के पश्चात्, १३. दिन में सोने के बाद और १४. सायंकाल। ये चौदह प्रतिमर्श के सेवन के समय हैं॥ ५१॥

तत्र तल्पोत्थितेनासेवितः प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मलमुपहन्ति मनःप्रसादं च करोति, प्रक्षालितदन्तेनासेवितो दन्तानां दृढतां वदनसौगन्ध्यं चापादयति, गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतसः क्लिन्नतया रजो धूमो वा न बाधते, व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रान्तेनासेवितः श्रममुपहन्ति, मूत्रोच्चारान्ते सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वमपनयति, कवलाञ्जनान्ते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति, भुक्तवता सेवितः स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति, वान्तेनासेवितः स्रोतोविलग्नं श्लेष्माणमपोह्य भक्ताकाङ्क्षामापादयति, दिवास्वप्नोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्वं मलं चापोह्य चित्तैकाग्र्यं जनयति, सायं चासेवितः सुखनिद्राप्रबोधं चेति॥ ५२॥

प्रतिमर्श नस्य के लाभ—तत्र अर्थात् इन चौदह प्रकार के अवसरों में प्रतिमर्श के सेवन के पृथक्-पृथक् विस्तृत लाभ इस प्रकार हैं—१. प्रातःकाल शय्या से उठने पर प्रतिमर्श नस्य के सेवन से रात के समय नासारन्ध्रों में एकत्रित मल नष्ट होता है और मन को प्रसन्न करता है। २. दन्तप्रक्षालन के बाद इसके प्रयोग से दाँतों में दृढ़ता आती है और मुख सुगन्धित होता है। ३. घर से बाहर जाते समय प्रतिमर्श सेवन से नासास्रोतों की क्लिन्नता (गीलेपन) से धूल और धुआँ से हानि नहीं पहुँचती है। ४. व्यायाम करने बाद प्रतिमर्श सेवन, ५. मैथुन के पश्चात् और ६. मार्ग चलने से हुई थकान में प्रतिमर्श के उपयोग से श्रान्तता (Exhaustion) दूर होती है। ७. मूत्रत्याग एवं ८. मलत्याग के पश्चात् प्रतिमर्श नस्य का सेवन दृष्टि में

आये भारीपन को दूर करता है। ९. कवल और १०. अञ्जन लगाने के उपरान्त प्रतिमर्श सेवन से दृष्टि को बल मिलता है (अथवा स्वच्छता आती है)। ११. भोजनोत्तर लिया गया प्रतिमर्श नस्य स्रोतों में स्वच्छता एवं हलकापन लाता है। १२. वमनोपरान्त आसेवित प्रतिमर्श स्रोतों में संलग्न श्लेष्मा को दूर कर भोजन में रुचि पैदा करता है। १३. दिन में सोने के बाद जागने पर प्रतिमर्श का उपयोग शेष रही नींद, भारीपन और मल को दूर करता है और मन में एकाग्रता (Concentration) लाता है। १४. सायंकाल में इसके सेवन से सुखकर नींद (Sound sleep) और सुखद जागरण होता है॥ ५२॥

ईषदुच्छिङ्घतः स्नेहो यावद्वक्त्रं प्रपद्यते। नस्ये निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः॥ ५३॥

प्रतिमर्श का प्रमाण—प्रतिमर्श में प्रयुक्त स्नेह की वह उचित मात्रा है जो नासारन्ध्रों में डालने के बाद सूँघने से मुख में आ जाय। यह प्रतिमर्श का औषध प्रमाण है॥ ५३॥

विमर्श—वाग्भट के अनुसार प्रतिमर्श मात्रा—'प्रदेशिन्यङ्गुलीपर्वद्वया-मग्नसमुद्धतात्। यावत्पतत्यसौ बिन्दुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते॥ मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात्'। (सू. २०)

नस्येन रोगाः शाम्यन्ति नराणामूर्ध्वजत्रुजाः। इन्द्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगन्धि च॥ ५४॥
हनुदन्तशिरोग्रीवात्रिकबाहूरसां बलम्। वलीपलितखालित्यव्यङ्गानां चाप्यसम्भवः॥ ५५॥

सामान्य नस्यफल—जो व्यक्ति नस्य का सेवन करता है उसके ऊर्ध्वजत्रुज (Above the clavicles) रोग नष्ट हो जाते हैं; इन्द्रियाँ मलरहित (स्वच्छ) हो जाती हैं और मुख सुगन्ध युक्त हो जाता है। हनु (Jaw), दन्त, शिर, ग्रीवा, त्रिक, बाहू और वक्षःस्थल दृढ़ हो जाते हैं तथा वली (Wrinkles), पलित (बालों का सफेद होना), खालित्य (बालों का गिरना/Falling of hair) एवं व्यंग का होना असम्भव हो जाता है॥ ५४-५५॥

विमर्श—व्यङ्ग—'नीरुजं, तनुकं, श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्' (सु.नि. १३)।

तैलं कफे सवाते स्यात् केवले पवने वसाम्। दद्यात्सर्पिः सदा पित्ते मज्जानं च समारुते॥ ५६॥
चतुर्विधस्य स्नेहस्य विधिरेवं प्रकीर्तितः। श्लेष्मस्थानाविरोधित्वात्तेषु तैलं विधीयते॥ ५७॥

स्नेहों का दोषानुसार प्रयोग—वातयुक्त कफ में तैल, केवल वातप्रकोप हो तो वसा, पित्त में सदा घृत तथा वातयुक्त पित्त में नस्यार्थ सदा मज्जा का प्रयोग करना चाहिए। तैल, घृत, वसा और मज्जा—इन चार प्रकार के स्नेहों के नस्यार्थ प्रयोग की विधि का वर्णन किया गया है। यदि कफ अपने स्थान में स्थित हो तो तैल का सभी में प्रयोग किया जा सकता है॥ ५६-५७॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि कवलग्रहणे विधिम्। चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपणौ॥ ५८॥
स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः। पित्ते कट्वम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे॥
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे। चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषोऽयं प्रकीर्तितः॥ ६०॥

कवलग्रहण-विधि (Gargling)—अब इसके उपरान्त कवलग्रहण विधि का वर्णन किया जायेगा ('कवलस्य = ग्रासस्य ग्रहणं = धारणं कवलग्रहणम्')। कवल के चार प्रकार होते हैं—१. स्नेही (Oily), २. प्रसादी (Creansing), ३. शोधन (Purifying) और ४. रोपण (Healing)। यदि वातप्रकोप हो तो स्निग्ध और उष्णस्नेह का कवल धारण करना चाहिए। इसी प्रकार पित्तप्रकोप में मधुर-शीतल कवलधारण उपयोगी होता है। कफज विकारों में कटु, अम्ल, लवण एवं रूक्ष-उष्ण शोधन कवल ग्रहण करना चाहिए। व्रण में कषाय, तिक्त, मधुर, कटु और उष्ण रोपण कवल धारण करना चाहिए। इस प्रकार चार प्रकार के कवलग्रहण की विशेषता का वर्णन किया गया है॥ ५८-६०॥

कवलधारण

भेद	उपयोग एवं दोष
१. स्नेही	वातदोष में : उष्ण स्नेह का कवलधारण
२. प्रसादी	पित्तदोष में : मधुर एवं शीतल कवलधारण
३. शोधी	कफदोष में : कटु, अम्ल, लवण, रूक्ष, उष्ण, शोधन कवल
४. रोपण	व्रणरोपण में : कषाय, तिक्त, मधुर, कटु, उष्ण कवल

तत्र त्रिकटुकवचासर्षपहरीतकीकल्कमालोड्य तैलशुक्तसुरामूत्रक्षारमधूनामन्यतमेन सलवणमभिप्रतप्तमुपस्विन्नमृदितगलकपोलललाटप्रदेशो धारयेत्॥ ६१॥

त्रिकटुकादि कवल—सोंठ, मरिच, पीपल (त्रिकटु), वचा, सरसों और हरीतकी के कल्क को तैल, शुक्त, सुरा, गोमूत्र, क्षार और मधु में से किसी एक में घोलकर गरम कर लेना चाहिए। तदनन्तर नमक मिलाकर रोगी के गला, गाल और ललाट का स्वेदन एवं मर्दन के बाद कवल धारण कराना चाहिए॥ ६१॥

सुखं सञ्चार्यते या तु मात्रा सा कवले स्मृता। असञ्चार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः॥

कवल और गण्डूष में भेद—औषध को मुख में रखने के पश्चात् यदि मुख को सुखपूर्वक चलाया जा सके तो यह कवल के लिए उपयुक्त मात्रा है। यदि सुखपूर्वक मुख को इस प्रकार चलाना सम्भव न हो तो यह 'गण्डूष' कहलाता है॥ ६२॥

तावच्च धारयितव्योऽनन्यमनसोन्नतदेहेन यावद्दोषपरिपूर्णकपोलत्वं नासास्रोतोनयनपरिप्लावश्च भवति तदा विमोक्तव्यः, पुनश्चान्यो ग्रहीतव्य इति॥ ६३॥

कवलधारण काल—एकाग्रचित्त होकर तथा देह को सीधा रखकर कवल और गण्डूष को तब तक मुख में रखना चाहिए जब तक दोष (कफ) से मुख (कपोल) परिपूर्ण (फूल) न हो जाये और नासा, नेत्र, स्रोत तरल से भर न जाये। ऐसा होने के उपरान्त मुख से तरल को बाहर निकाल दें तथा दुबारा अन्य कवल या गण्डूष धारण करना चाहिए॥ ६३॥

एवं स्नेहपयःक्षौद्ररसमूत्राम्लसम्भृताः। कषायोष्णोदकाभ्यां च कवला दोषतो हिताः॥ ६४॥

कवल के द्रव्य—इस प्रकार स्नेह, दूध, मधु, मांसरस, गोमूत्र, काँजी आदि अम्ल द्रव्य, कषाय एवं गरम जल का दोषानुसार कवल धारण करना चाहिए॥ ६४॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्। इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम्॥ ६५॥
हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसंज्ञानमेव च। अतियोगान्मुखे पाकः शोषतृष्णारुचिक्लमाः॥ ६६॥
शोधनीये विशेषेण भवन्त्येव न संशयः।

कवल के हीनादि लक्षण—रोग का विनाश, मानसिक सन्तोष (तुष्टि/Satisfaction), मुख की स्वच्छता, हलकापन (मुख में) और इन्द्रियों (Senses) की प्रसन्नता—ये 'शुद्ध कवल' (Proper gargling) के लक्षण हैं।

शोधनीय कवल के लक्षण—जड़ता (Dullness), कफ की अधिकता, स्वाद का पता न लगना—ये 'हीन कवल' (Under dose gargling) के लक्षण हैं। कवल का अतियोग होने पर मुखपाक

(Stomatitis), मुखशोष, तृष्णा, अरुचि और क्लम (थकान/Exhaustion) होते हैं। निःसन्देह उपरोक्त लक्षण शोधनीय कवल के प्रयोग से होते हैं॥ ६५-६६॥

तिला नीलोत्पलं सर्पिः शर्करा क्षीरमेव च॥ ६७॥
सक्षौद्रो दग्धवक्त्रस्य गण्डूषो दाहनाशनः। कवलस्य विधिर्ह्येष समासेन प्रकीर्तितः॥ ६८॥

दाहहर गण्डूष—तिल, नीलकमल, घृत, शर्करा, दूध और मधु—इनको मिलाकर कवल धारण करने से (क्षारादि तथा कवल के अतियोगादि से हुई) मुखदाह की जलन दूर होती है। इस प्रकार कवल धारण की विधि का संक्षेप में वर्णन किया गया है॥ ६७-६८॥

विभज्य भेषजं बुद्ध्या कुर्वीत प्रतिसारणम्। कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम्॥ ६९॥
अङ्गुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्।

प्रतिसारण-विधान—चिकित्सक स्वयं अपनी बुद्धि के अनुसार औषध विभाजन कर उसे प्रतिसारण के लिए प्रयोग में लावे। प्रतिसारणार्थ यह औषध-विभाजन—१. कल्क, २. रसक्रिया (फाणिताकृतिः), ३. मधु और ४. चूर्ण भेद से चार प्रकार का होता है। मुखरोगों में इनको अंगुली के अग्रभाग में लगाकर प्रतिसारण (घर्षण) करते हैं। यही 'प्रतिसारण' है॥ ६९॥

विमर्श—'अंगुल्यग्रप्रणीतत्वेन कोलास्थिमात्रत्वं प्रतिसारणस्य सूचयति—कोलास्थिमात्रेण पिण्डेन यथादोषं यथाव्याधि पञ्च सप्त वा वारान् हीनमध्योत्तमेषु व्याधिषु प्रतिसारणं कुर्वीत'। इसके अतिघर्षण से ओष-चोष-दाहादि और असम्यक् प्रयोग से पैच्छिल्य गुरुतादि हो जाते हैं।

तस्मिन् योगमयोगं च कवलोक्तं विभावयेत्॥ ७०॥
तानेव शमयेद् व्याधीन् कवलो यानपोहति। दोषघ्नमनभिष्यन्दि भोजयेच्च तथा नरम्॥ ७१॥

इति सुश्रुतसंहितायां चिकित्सास्थाने धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सितं नाम चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां चतुर्थं चिकित्सास्थानं समाप्तम्।



प्रतिसारण के योगायोग के लक्षण कवल के समान होते हैं और प्रतिसारण से भी वे रोग ठीक होते हैं जो कवल के प्रयोग से दूर होते हैं। प्रतिसारण के प्रयोगकाल में रोगी को ऐसा भोजन देना चाहिए जो दोषनाशक एवं अनभिष्यन्दि हो॥ ७०-७१॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-चिकित्सास्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'धूमनस्य-कवलग्रहचिकित्सा' नामक चालीसवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ४०॥

इस प्रकार 'चिकित्सा' नामक चौथा स्थान समाप्त हुआ॥ ४॥



अध्याय-सारांश

'धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सित' नामक इस अध्याय में पाँच प्रकार के धूम, उनके नाम और उन्हें तय्यार करने की विधि (१-४) का उल्लेख है। धूमनेत्र द्रव्य, धूमपानविधि का विवरण दिया है (६-९)।

धूमपान के अयोग्य अवस्थाएँ (११), अकालपीत धूम के उपद्रव (१२), धूमपान का काल तथा लाभ भी बताया गया है (१६), धूम का योग (रोगप्रशमन) और अतियोग (परिदाहादि हानियाँ), प्रायोगिकादि की पानमर्यादा भी बतायी गयी है (१८)।

व्रणधूम की विधि, इसके लाभ वर्णित हैं (२०), इसी प्रकार नस्य, इसके भेद, इसका विशिष्ट अर्थ में प्रयोग, वातादि दोषों में नस्य के प्रयोग का उल्लेख है (२२)।

शिरोविरेचन विषय (ऊर्ध्वजत्रुज विकार– कफज) स्नैहिक एवं वैरेचनिक नस्य का दोषानुसार प्रयोग समय का विवेचन, शिरोविरेचनदानविधि का विस्तार से वर्णन किया गया है (२५)।

स्नेह की नस्यार्थ अल्प, मध्य एवं उत्तम मात्रा का निर्धारण एवं उसका निष्ठीवन या पान करने का निषेध आदि नियम भी बताये गये हैं (३०), पश्चात्कर्म में धूमपान एवं क्रोधादि के परित्याग का आदेश हैं (३१)।

नस्य के योग, अतियोग और अयोग के लक्षण तथा उपचार भी वर्णित है (३२-३५), इसी प्रकार शिरोविरेचन में स्नेहबिन्दुओं की मात्रा, शुद्धिलक्षण, गाढ विरेचित के लक्षण एवं उपचार का भी उल्लेख है (४३)।

अवपीड नस्य की विधि, प्रधमन नस्य, नस्य के अयोग, नस्य और शिरोविरेक में व्यापत्, प्रतिमर्श नस्य प्रमाण, नस्य के सामान्य लाभ, चतुर्विध स्नेह का दोषानुसार प्रयोग, कवलग्रह-वर्णन, उसके योगायोग लक्षण एवं उपचार का वर्णन किया गया है (७२)।



कल्पस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातोऽन्नपानरक्षाकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'अन्नपानरक्षाकल्प' (The Doctrine of Protection of Food and Drinks) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—अथ—अथः, अथ, ॐ और श्री इन शब्दों को माङ्गलिक माना जाता है ('मङ्गलानन्तरारम्भ-प्रश्नकात्स्न्येष्वथो अथ'–अ.को.; 'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च···तस्मान्माङ्गलिकावुभौ'; 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च'–अमरकोषः)।

अन्नः—'अन्नं कस्मात् ? आनतं भूतेभ्योऽत्तेर्वा। आभिमुख्येन ह्येतत् नतं नम्रीभूतं भोजनाय भूतेभ्यः, भूतानां जनानामर्थे भवति। अत्तेर्वा भक्षणार्थस्य। अद्यतेस्म अत्ति च भूतानि। तथा चोक्तम्—'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' (यास्काचार्यः)।

कल्प—पृथक् रूप से किसी चीज की रचना कल्प या कल्पना कहलाती है ('कल्पनाविविधैस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः'–च.चि. ३०।३३१)। प्रस्तुत विषय विषविज्ञान (Toxicology) का है जो अन्य विषयों से पूर्णतः पृथक् है। अतः इस स्थान को 'कल्प' नाम दिया है (जैसे—पर्पटीकल्प)।

'कल्प' शब्द के सम्बन्ध में चक्रपाणि का कथन—'कल्पनाच्च कल्पाः, कल्पास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति कल्पस्थानम्।'

धन्वन्तरिः काशिपतिस्तपोधर्मभृतां वरः। सुश्रुतप्रभृतीञ्छिष्याञ्छशासाहतशासनः ॥ ३ ॥

जिनका शासन (आदेश) व्यर्थ नहीं जाता है तथा जो धार्मिक एवं तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं, उन काशिपति धन्वन्तरि ने सुश्रुतादि शिष्यों से कहा ॥ ३ ॥

रिपवो विक्रमाक्रान्ता ये च स्वे कृत्यतां गताः। सिसृक्षवः क्रोधविषं विवरं प्राप्य तादृशम् ॥ ४ ॥

भृत्य आदि विष देकर राजा को मार डालते हैं—जिन शत्रुओं को पराक्रम से पराजित किया है, भृत्य आदि आत्मीय जन जो किन्हीं कारणों से विद्वेष रखते हैं तथा जो दुष्ट चित्त वाले हैं ऐसे लोग अपने क्रोध रूपी विष से घातक अवसर मिलते ही कुशल राजा को विषों से मार डालते हैं ॥ ४ ॥

विषैर्निहन्युर्निपुणं नृपतिं दुष्टचेतसः। स्त्रियो वा विविधान् योगान् कदाचित्सुभगेच्छया ॥ ५ ॥

स्त्रियों द्वारा विष-प्रयोग—अथवा दुष्ट चित्त वाली स्त्रियाँ (अज्ञानवश या) सुभग की इच्छा से वधक्षम अवसर प्राप्त होते ही नाना प्रकार के संयोग विषों से निपुण नृपति को भी मार डालती हैं ॥ ५ ॥

विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून्नरः। तस्माद्वैद्येन सततं विषाद्रक्ष्यो नराधिपः ॥ ६ ॥

विषकन्या द्वारा राजा की मृत्यु और चिकित्सक का कर्तव्य—अथवा मनुष्य विषकन्या का उपयोग कर क्षण में राजा का प्राण हरण कर लेते हैं (उक्तं च—'हन्ति स्पृशन्ति स्वेदेन गम्यमाना च मैथुने। पक्वं वृन्तादिव फलं प्रशातयति मेहनम्')। अतः चिकित्सक को राजा की विषों से निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए॥ ६॥

विमर्श—विषकन्योपयोगाद् वा—सम्प्रति विषकन्याओं का कहीं नाम भी नहीं सुनायी देता है। विशाखदत्त ने (८वीं शताब्दी) अपने नाटक 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य द्वारा विषकन्या का प्रयोग कर शत्रु की मृत्यु का उल्लेख किया है ('कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमां कृत्वा')।

विष—'देहं प्रविश्य यद्द्रव्यं दूषयित्वा रसादिकान्। स्वास्थ्यप्राणहरं च स्यात् तद्द्रव्यं विषमुच्यते'॥

यस्माच्च चेतोऽनित्यत्वमश्ववत्प्रथितं नृणाम्। न विश्वस्यात्ततो राजा कदाचिदपि कस्यचित्॥

राजा किसी का विश्वास न करे—मनुष्य का मन घोड़े की तरह चञ्चल होता है, अतः राजा को किसी का भी कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए (''वैद्यविषये च विश्वासहेतुः सूत्रस्थाने 'विसृजत्यात्म-नाऽऽत्मानम्' – इत्यादिश्लोकेनाभिहितम्''–ड.)॥ ७॥

विमर्श—यदि राजा को कभी भी किसी पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए तो क्या वह अपने चिकित्सक पर भी विश्वास न करे? इसका उत्तर चरक के शब्दों में—'भिषगप्यातुरान्सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्। ···अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च'। मन की चंचलता के सम्बन्ध में गीता का कथन—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण!'।

कुलीनं धार्मिकं स्निग्धं सुभृतं सन्ततोत्थितम्। अलुब्धमशठं भक्तं कृतज्ञं प्रियदर्शनम्॥ ८॥
क्रोधपारुष्यमात्सर्यमायालस्यविवर्जितम्। जितेन्द्रियं क्षमावन्तं शुचिं शीलदयान्वितम्॥ ९॥
मेधाविनमसंश्रान्तमनुरक्तं हितैषिणम्। पटुं प्रगल्भं निपुणं दक्षमालस्यवर्जितम्॥ १०॥
पूर्वोक्तैश्च गुणैर्युक्तं नित्यं सन्निहितागदम्। महानसे प्रयुञ्जीत वैद्यं तद्विद्यपूजितम्॥ ११॥

वैद्य (Royal kitchen physician) **के गुण और महानस**—निम्नलिखित गुणों से युक्त वैद्य विश्वासभाजन होता है। अतः ऐसे वैद्य को पाकशाला की देखभाल के लिए नियुक्त करना चाहिए; यथा—१. कुलीन (उच्च कुल में उत्पन्न/Should come from respectable family/'कुलीनो हि अदुष्टबीजक्षेत्रतया नाकार्येषु प्रवर्तते, कुलमत्रायुर्वेदाध्यायिकुलं द्विजातिक्षत्रियवैश्यभेदेन त्रिविधम्, कुलगुणसम्पन्नशूद्रेण सह चतुर्विधमित्यन्ये'–ड.), २. धार्मिक (चिकित्सक धर्म का ज्ञाता तथा पालनकर्ता/Riligious), ३. स्निग्ध (मित्रवत् स्नेह करने वाला/Affectionate/'स्नेहेन मित्रभावेन राज्ञा सह व्यवस्थितः। एतेन मित्रमिव सदा रक्षति'–ड.), ४. सुभृत (भली प्रकार सम्पन्न/Well-paid/'सम्यग्भृतं यथा च शरीरयात्रा भवति; तथा चोक्तम्–सूपौदनं घृतव्यञ्जनं दृढममलिनं च वास इति'–ड.), ५. सततोत्थितम् (निरन्तर अपने कर्तव्य के प्रति सन्नद्ध/Watchfull/'अहोरात्रमध्ययनाध्यापने तदर्थचिन्ता नृपशरीरस्वास्थ्यापदानेषु तत्परो नित्याभियुक्त इति'–ड.), ६. अलुब्ध (लोभरहित/Ungreedy), ७. अशठ (धूर्ततारहित/Undeciteful/'निकृतस्त्वनृजुः शठः'–अ.को.), ८. भक्त (सेवाभाव युक्त/Devoted), ९. कृतज्ञ (अपने प्रति किये हुए को याद रखने वाला/Greatful), १०. प्रियदर्शन (जो देखने में प्रिय लगता हो/Handsome), ११. क्रोधरहित (Devoid of anger), १२. पारुष्यरहित (व्यवहार में मृदु/Devoid of rudeness), १३. मात्सर्यरहित (Devoid of jealousy), १४. मायारहित (Devoid of fraud), १५. आलस्यरहित (Devoid of laziness/अ.हृ.सू. ११।७-८ में आलस्य को रस की अधिकता का परिणाम बताया है), १६. जितेन्द्रिय (इन्द्रियदमन करने में समर्थ/Self controlled), १७. क्षमावान् (Forgiveful), १८. शुचि (स्वच्छ रहने वाला/Clean), १९. शीलवान् (चरित्रवान्/Noble/'शुचौ तु चरिते शीलम्, शीलं स्वभावे सद्वृत्ते'–अ.को.), २०. दयावान् (Kind), २१. मेधावी (Intelligent/'धीर्धारणावती मेधा'–अ.को.; 'ग्रन्थावधारणशक्तिः'),

२२. असम्भ्रान्त (संशयरहित/Untiring; 'असंश्रान्त' पाठान्तर का अर्थ—कभी न थकने वाला), २३. अनुरक्त (Sympathetic), २४. हितैषी (Well-wisher), २५. पटु (Skilful/'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः'–अ.को.), २६. प्रगल्भ (धृष्टम्/Prompt/'प्रगल्भः प्रतिभान्विते'–अ.को.), २७. निपुण (Dexterous/'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः'–अ.को.), २८. दक्ष (Competent), २९. आलस्यरहित (Energesic/द्विरुक्तमत्यन्तनिषेधार्थम्) और ३०. पूर्वोक्त 'तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थः' इत्यादि गुणों से युक्त तथा ३१. जिसके पास सभी प्रकार की अगद (औषध) सदा तय्यार रहती है एवं ३२. जो पाकनिष्ठित तत्त्व के ज्ञान को जानने वाले चिकित्सकों में पूज्य हैं उस वैद्य को रसवती (रसोई) की देख-भाल के लिए नियुक्त करना चाहिए॥ ८-११॥

विमर्श—गयी के अनुसार—'अलुब्धमशठं' आदि से लेकर 'सन्निहितागदम्' तक पुनरुक्त है। अतः उन्हें यह पाठ स्वीकार नहीं है ('न पठति पुनरुक्तदोषत्वात्')।

प्रशस्तदिग्देशकृतं शुचिभाण्डं महच्छुचि। सजालकं गवाक्षाढ्यमात्मवर्गनिषेवितम्॥ १२॥
विकक्षसृष्टसंसृष्टं सवितानं कृतार्चनम्। परीक्षितस्त्रीपुरुषं भवेच्चापि महानसम्॥ १३॥
तत्राध्यक्षं नियुञ्जीत प्रायो वैद्यगुणान्वितम्।

महानस (Royal kitchen) **कैसा होना चाहिए?**—महानस (रसोई = रसवती) प्रशस्त दिशा (प्रशस्ता दिगत्राग्नेयी) और प्रशस्त देश (देशस्तु प्रशस्तः, गुणसम्पदा शस्तः) में होनी चाहिए। इसके भाण्ड (बर्तन) स्वच्छ, रसोई विस्तीर्ण तथा स्वच्छ हो, इसमें जाली लगी अधिक खिड़कियाँ होनी चाहिए और इसमें काम करने वाले आत्म (या आप्त) जन होने चाहिए। इसके अतिरिक्त रसोई के समीप तृणसंचय नहीं होना चाहिए। इसके समीप चाँदनी (चँदोवा/धूपादि से बचने के लिए) लगी होनी चाहिए। यह भूमि अग्नि आदि की अर्चन (पूजा) की हुई होनी चाहिए और इसमें काम करने वाले स्त्री-पुरुष भी परीक्षित होने चाहिए। महानस का अध्यक्ष (अधिपति) कुलीन, धार्मिकत्वादि वैद्योचित गुणों से युक्त होना चाहिए॥ १२-१३॥

शुचयो दक्षिणा दक्षा विनीताः प्रियदर्शनाः॥ १४॥
संविभक्ताः सुमनसो नीचकेशनखाः स्थिराः। स्नाता दृढं संयमिनः कृतोष्णीषाः सुसंयताः॥
तस्य चाज्ञाविधेयाः स्युर्विविधाः परिकर्मिणः।

परिकर्मियों (Kitchen superintendent and workers) **के गुण**—सूपकारादि परिकर्मियों में निम्नलिखित गुण होने चाहिए; यथा—१. शुचि (स्वच्छ, पवित्र/Clean), २. दक्षिण (अच्छे खानदान के), ३. दक्ष (चतुर/Clever), ४. विनीत (विनययुक्त/Obedient), ५. प्रियदर्शी (देखने में सुन्दर/Good looking), ६. संविभक्त (विभिन्न कर्मों में नियुक्त/जिनके काम विभक्त हैं), ७. सुमना (उत्तम मनोवृत्ति वाले/Cheerful temperament), ८. जिनके बाल एवं नाखून कटे हुए हों, ९. स्थिर (दृढ़/जो चपल न हों), १०. जो स्नान किये हुए हों, ११. जो दृढ़तापूर्वक मनोनिग्रह करने में समर्थ हों, १२. जिनके शिर पर पगड़ी बँधी हो, १३. सुसंयत अर्थात् जो लौल्यादि दोषरहित हों और जो १४. आज्ञाकारी हों, उन्हें महानस में नियुक्त करना चाहिए॥ १४-१५॥

आहारस्थितयश्चापि भवन्ति प्राणिनो यतः॥ १६॥
तस्मान्महानसे वैद्यः प्रमादरहितो भवेत्।

महानस में वैद्य की सावधानता—वैद्य को चाहिए कि वह महानस (रसोई) में किसी प्रकार की लापरवाही न बरते, क्योंकि प्राणियों का अस्तित्व आहार पर ही निर्भर करता है॥ १६॥

विमर्श—आहार के सम्बन्ध में चरक का कथन—'प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति। वर्णप्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्॥ तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्'। (सू. २७।३५१)

माहानसिकवोढारः सौपौदनिकपौपिकाः ।। १७ ।।
भवेयुर्वैद्यवशगा ये चाप्यन्येऽत्र केचन।

महानस में वैद्य की प्रधानता—रसोईघर में काम करने वाले व्यक्ति वैद्य के अधीन होने चाहिए; जैसे—१. रसोईघर में नियुक्त माहानसिक (रसवतीपतय इत्यर्थः) और कहारादि कर्मचारी (Bearers) (वोढ्रादयः कर्मकराः, काहारादयो वा), २. सौप (सूप आदि बनाने वाले/Soup-makers/सूपव्यञ्जनादिकारकाः), ३. औदनिक (चावल आदि पकाने वाले/Rice-cookers), ४. पौपिका (पूपादि भक्ष्य पदार्थों के निर्माता) तथा ५. अन्य (वेसवारकारकादयः) कर्मचारी—ये वैद्यवशग होने चाहिए ।। १७ ।।

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः ।। १८ ।।
विद्याद्विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्। न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च ।। १९ ।।
अपार्थं बहु सङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत्। स्फोटयत्यङ्गुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत् ।। २० ।।
वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते। क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि ।। २१ ।।
आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्। निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः ।। २२ ।।
वर्तते विपरीतं तु विषदाता विचेतनः।

विष देने वाले की पहचान (Detectioin of the poisoner)—जो बुद्धिमान् चिकित्सक मनुष्यों की वाणी, चेष्टा तथा मुख की विकृतियों से उनके संकेतों (इशारों) को जानता है उसे चाहिए कि वह निम्नलिखित लक्षणों से विषदाता को पहचाने; यथा—१. विषदाता व्यक्ति प्रश्न पूछने पर उनका उत्तर नहीं देता है। २. वह कुछ कहना चाहता है पर मोह को प्राप्त हो जाता है। ३. निरर्थक (अपार्थ) तथा असम्बद्ध बहुत बोलता है और ४. मूर्खों की-सी बातें करता है। ५. अँगुलियों को चटकाता है, ६. भूमि को अकस्मात् कुरेदता है और ७. निरर्थक हँसता है। ८. वह काँपने लगता है और ९. डरा हुआ इधर-उधर झाँकता है। १०. क्षाम (क्षीणः) अर्थात् थका लगता है और ११. उसके चेहरे का रंग विवर्ण हो जाता है। १२. वह नाखूनों से तिनके आदि को तोड़ने लगता है। १३. वह दीन हाथ से बार-बार बालों को छूता है। १४. वह गलत रास्तों से बाहर निकल जाना चाहता है और १५. बार-बार इधर-उधर झाँकता है तथा १६. विषदाता व्यक्ति बेहोश हो जाता है और अस्वाभाविक ढंग से व्यवहार करता है।। १८-२२ ।।

विमर्श—चरक (चि. २३।१०७) के अनुसार विषदाता व्यक्ति अत्यन्त शंकित, अधिक या कम बोलने वाला, कान्तिहीन, स्वभाव में परिवर्तन वाला होता है।

केचिद्भयात् पार्थिवस्य त्वरिता वा तदाज्ञया ।। २३ ।।
असतामपि सन्तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति मानवाः। तस्मात् परीक्षणं कार्यं भृत्यानामादृतैर्नृपैः ।। २४ ।।

प्रश्न पूछने में सावधानी (विषदपरीक्षणे च राज्ञा आदरपरेण भवितव्यम्)—कई लोग राजा के डर से, राजा की आज्ञा से शीघ्रता के कारण निरपराध होते हुए भी अपराधियों की तरह चेष्टा करने लगते हैं। अतः भृत्य आदि से सम्मानित राजाओं द्वारा मार्दवपूर्वक पूछताछ करनी चाहिए।। २३-२४ ।।

विमर्श—चरक (चि. २३।१०६) में भी शत्रु से मिले हुए नौकरों, स्त्रियों से आहार-व्यवहार के सम्बन्ध में राजा को सावधान रहने की सलाह दी गयी है।

अन्ने पाने दन्तकाष्ठे तथाऽभ्यङ्गेऽवलेखने। उत्सादने कषाये च परिषेकेऽनुलेपने ।। २५ ।।
स्रक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च। पादुकापादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम् ।। २६ ।।
विषजुष्टेषु चान्येषु नस्यधूमाञ्जनादिषु। लक्षणानि प्रवक्ष्यामि चिकित्सामप्यनन्तरम् ।। २७ ।।

विषाधिष्ठान (Poisoning media/जिन वस्तुओं के माध्यम से विष दिया जाता है)—अन्न, पान, दातुन, अभ्यङ्ग, अवलेखन (कंघी करने में), उत्सादन (उबटना/उद्वर्तन), कषायपान, स्नान, अनुलेपन,

माला (पुष्पमालासु), वस्त्र, शय्या, कवच (सन्नाहम्), गहने, खड़ाऊँ, पायदान (पादपीठेषु = पादाधारेषु), घोड़े-हाथी आदि की पीठ पर तथा नस्य, धूम, अञ्जन आदि में विष मिलाकर (अन्येषु शिरोऽभ्यङ्गशिरस्त्राणादयो गृह्यन्ते) दिया जाता है। इनके लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन बाद में किया जायेगा॥ २५-२७॥

नृपभक्ताद्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये। तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः॥ २८॥
हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते। मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः॥ २९॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च नचिराच्चोपशाम्यति। चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव तु॥ ३०॥
दृष्ट्वाऽन्नं विषसंसृष्टं म्रियन्ते जीवजीवकाः। कोकिलः स्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति॥ ३१॥
हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकसारिके। हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति॥ ३२॥
पृषतो विसृजत्यश्रुं विष्ठां मुञ्चति मर्कटः। सन्निकृष्टांस्ततः कुर्याद्राज्ञस्तान् मृगपक्षिणः॥ ३३॥
वेश्मनोऽथ विभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा।

विषयुक्त (न्यस्तविष) अन्नादि की पहचान—यदि राजा के भोजन में से कुछ अंश (बलि) मक्खियाँ, कौवे आदि को खिलाया जाय तो (भोजन के विषयुक्त होने पर) ये खाते ही वहीं पर मर जाते हैं। **अग्नि द्वारा विष की पहचान**—विषाक्त अन्नादि को आग में डाला जाय तो 'चट-चट' जैसा शब्द होता है और उसका (अग्नि का) स्वरूप मयूरकण्ठ सदृश होता है, जो सहन नहीं होता है। अग्नि की लपटें विभक्त हुई होती हैं, उससे निकलने वाला धुआँ तीक्ष्ण होता है और आग शीघ्र ही बुझ जाती है। इस विषाक्त अन्न के खाने से शीघ्र ही चकोर की आँखों का रंग विकृत हो जाता है। **कोयल आदि पक्षियों द्वारा विष की पहचान**—इसी प्रकार विषैले भोजन को देखकर जीवजीवक पक्षी (क्रुरि च इति लोके) की मृत्यु हो जाती है, कोयल की आवाज में विकार आ जाता है, क्रौञ्च पक्षी हर्षित होता है, मयूर उद्विग्न होकर प्रसन्न होता है, तोता और सारिका (मैना) रुदन करने लगते हैं, हंस अधिक बोलने लगते हैं, भृंगराज (भ्रमरकः) अव्यक्त शब्द करता है, पृषत (चित्रबिन्दु, चीतल) की आँखों से अश्रु आने लगते हैं और बन्दर का मल (पुरीष) निकलने लगता है। अतः (चिकित्सक को चाहिए कि वह) इन मृग-पक्षियों को राजा के प्रसाद के समीप ही रखने की व्यवस्था करे। इससे सदा (महल की) शोभा बढ़ती है और राजा के प्राणों की रक्षा के लिए भी ये आवश्यक हैं॥ २८-३३॥

उपक्षिप्तस्य चान्नस्य बाष्पेणोर्ध्वं प्रसर्पता॥ ३४॥
हृत्पीडा भ्रान्तनेत्रत्वं शिरोदुःखं च जायते। तत्र नस्याञ्जने कुष्ठं लामज्जं नलदं मधु॥ ३५॥
कुर्याच्छिरीषरजनीचन्दनैश्च प्रलेपनम्। हृदि चन्दनलेपस्तु तथा सुखमवाप्नुयात्॥ ३६॥

विषाक्त अन्न का प्रभाव—खाने के लिए परोसे गये विषैले अन्न से ऊपर को उठने वाले बाष्प (भाप को सूँघने) से हृदय में वेदना, नेत्रदृष्टि का विकृत होना और शिरोवेदना होने लगते हैं। इसके उपचार में नस्य और अंजन के लिए कूठ, लामज्जक (खश = 'उशीरभेदः'-ड.), नलद (खश) और मधु, शिरीष, हरिद्रा तथा चन्दन का प्रलेप करना चाहिए। हृदय पर चन्दन का लेप करने से आराम मिलता है॥ ३४-३६॥

पाणिप्राप्तं पाणिदाहं नखशातं करोति च। अत्र प्रलेपः श्यामेन्द्रगोपासोमोत्पलानि च॥ ३७॥

विष का हाथों पर प्रभाव—हाथों में विष लगने से हाथों में जलन, नाखूनों का झड़ जाना—ये लक्षण होते हैं। इसमें श्यामा (श्यामालता), बीरबहूटी, सोमा (गुडूची या सोमलता) और नीलोत्पल का हाथों पर लेप करना चाहिए॥ ३७॥

विमर्श—चरक—'पानान्नयोः सविषयोर्गन्धेन शिरोरुक् हृदि च मूर्च्छा च। स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यंगुलिदाहतोदनखभेदाः'॥ (चि. २३।११२)

स चेत् प्रमादान्मोहाद्वा तदन्नमुपसेवते। अष्ठीलावत्ततो जिह्वा भवत्यरसवेदिनी॥ ३८॥
तुद्यते दह्यते चापि श्लेष्मा चास्यात् प्रसिच्यते। तत्र बाष्पेरितं कर्म यच्च स्याद्दान्तकाष्ठिकम्॥

विषाक्त अन्न के सेवन से होने वाला प्रभाव—यदि मनुष्य प्रमाद (लापरवाही) या अज्ञान से विषैले अन्न का सेवन कर लेता है तो उसकी जिह्वा अष्ठीला (दीर्घवर्तुलपाषाणविशेषः) की तरह हो जाती है और वह रसज्ञान नहीं कर पाती है। उसमें सूइयों के चुभने जैसी वेदना, जलन तथा मुख से लाला(कफ)स्राव होता है। ऐसी स्थिति में विषैले अन्न की भाप से होने वाले लक्षणों की तरह की चिकित्सा करनी चाहिए (कुष्ठ, खश, मधु आदि का लेप) अथवा विषैले दन्तकाष्ठ में वर्णित चिकित्सा करें॥ ३८-३९॥

विमर्श—अष्ठीला की तरह जकड़ाहट युक्त जिह्वा पर धातकी आदि लेप या उसका घर्षण (प्रतिसारण) डल्हण के अनुसार—जीभ पर बिना पछने लगाये करना चाहिए ('तच्च प्रतिसारणमप्रच्छिते शोफे विधेयम्'–ड.)।

मूर्च्छा छर्दिमतीसारमाध्मानं दाहवेपथू। इन्द्रियाणां च वैकृत्यं कुर्यादामाशयं गतम्॥ ४०॥
तत्राशु मदनालाबुबिम्बीकोशातकीफलैः। छर्दनं दध्युदश्विद्भ्यामथवा तण्डुलाम्बुना॥ ४१॥

आमाशयगत विष के लक्षण एवं उपचार—जब विषाक्त अन्न आमाशय में पहुँचता है तो निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं—मूर्च्छा, छर्दि, अतिसार, आध्मान, दाह, कम्प और इन्द्रियों में स्वविषयग्रहण में विकार आना। इस दशा के उपचार के लिए शीघ्र ही मदनफल, अलाबु (तिक्तालाबु, कड़वी लौकी), बिम्बी (कुन्दुरु) और कोशातकी (घोषकः, कडवी तोरी) से अथवा दही, तक्र (उदश्वित्) या चावलों के जल से वमन कराना चाहिए॥ ४०-४१॥

विमर्श—तक्र के भेद—'ससरं निर्मलं घोलं मथितं त्वसरोदकम्। तक्रं पादतलं प्रोक्तमुदश्विदर्धवारिकम्॥ छच्छिका सारहीना स्यात्स्वच्छा प्रचरवारिका। घोलं तु शर्करायुक्तम्' (भावप्रकाशः)। 'उदश्वित्' तक्र का वह भेद है जिसमें आधा पानी मिला हो।

दाहं मूर्च्छामतीसारं तृष्णामिन्द्रियवैकृतम्। आटोपं पाण्डुतां कार्श्यं कुर्यात् पक्वाशयं गतम्॥
विरेचनं ससर्पिष्कं तत्रोक्तं नीलिनीफलम्। दध्ना दूषीविषारिश्च पेयो वा मधुसंयुतः॥ ४३॥

पक्वाशयगत विषाक्त अन्न के लक्षण और उपचार—जब विषाक्त अन्न पक्वाशय में पहुँचा है तो निम्नलिखित लक्षण होते हैं—दाह, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, इन्द्रियों में स्वविषय ग्रहण की असमर्थता, आटोप (वातादीनामप्रवृत्तिम्) और पाण्डुवर्ण तथा कृशता होते हैं। इस दशा के उपचार में घृत के साथ नीलिनीफल से भेषजकल्प के अनुसार विरेचन देना चाहिए अथवा आगे वक्ष्यमाण दूषीविषारि को मधु का प्रक्षेप देकर दही के साथ प्रयुक्त करना चाहिए॥ ४२-४३॥

विमर्श—पक्वाशयगत विष के चरकानुसार लक्षण—'पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहबलनाशाः। तन्द्राकार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात्' (चि. २३।११५)। आटोपलक्षण—'आटोपो गुडगुडाशब्दः प्रोक्तो जठरसम्भवः' (भा.प्र.)। गुडगुडाशब्दः (Borborygmus)।

द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु। भवन्ति विविधा राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च॥ ४४॥
छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः। भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो वा विकृतास्तथा॥

तरल पदार्थों में विष की उपस्थिति की पहचान—सभी प्रकार के क्षीर, मद्य, जल आदि तरल पदार्थों में विष मिला हो तो उनमें नाना प्रकार की रेखाएँ (राज्यः), झाग, बुलबुले उत्पन्न हुए होते हैं। विषाक्त तरलों में किसी वस्तु की छाया दिखायी नहीं देती है, अगर दिखायी देती है तो दो-दो, छिद्रयुक्त (सशुषिराः), सूक्ष्म अथवा विकृत होती है॥ ४४-४५॥

विमर्श—**श्रीवाग्भटे**—'नीला राजी रसे ताम्रा क्षीरे दधि निदृश्यते। श्यावा पीता सिता तक्रे घृते पानीयसन्निभा॥ कालामद्याम्भसोः क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा'। इति।

शाकसूपान्नमांसानि क्लिन्नानि विरसानि च। सद्यः पर्युषितानीव विगन्धानि भवन्ति च॥ ४६॥
गन्धवर्णरसैर्हीनाः सर्वे भक्ष्याः फलानि च। पक्वान्याशु विशीर्यन्ते पाकमामानि यान्ति च॥ ४७॥

शाकादि के विषाक्त होने के लक्षण—शाक, सूप, अन्न और मांस विषयुक्त होने पर गीले (क्लिन्न), विकृत स्वाद वाले, शीघ्र ही बासी लगने वाले और विकृत गन्ध वाले हो जाते हैं। इसी प्रकार खाने योग्य भक्ष्य पदार्थ एवं सभी फल विषाक्त होने पर गन्ध, वर्ण और रस से हीन हो जाते हैं। जो फल पक गये हैं वे फट जाते हैं और जो कच्चे हैं वे विषाक्त होने पर समय से पहले ही पक जाते हैं (सड़ जाते हैं) ॥ ४६-४७ ॥

विशीर्यते कूर्चकस्तु दन्तकाष्ठगते विषे। जिह्वादन्तौष्ठमांसानां श्वयथुश्चोपजायते ॥ ४८ ॥
अथास्य धातकीपुष्पपथ्याजम्बूफलास्थिभिः । सक्षौद्रैः प्रच्छिते शोफे कर्तव्यं प्रतिसारणम् ॥ ४९ ॥
अथवाऽङ्कोठमूलानि त्वचः सप्तच्छदस्य वा। शिरीषमाषका वाऽपि सक्षौद्राः प्रतिसारणम् ॥

दातुन के विषाक्त होने के लक्षण एवं उपचार—विषाक्त दातुन की कूची टूट-टूट कर गिरने लगती है और जीभ, दाँत तथा होठों का मांस सूज जाता है। इस दशा के उपचार में धाय के फूल, हरड़ और जामुन की गुठली को पीसकर मधु मिला लें और शोथ युक्त भाग पर पछने लगाकर इसका घर्षण (प्रतिसारण) करना चाहिए। अथवा अङ्कोठ (ढेरा/*Alangium salvifolium*) मूल या सप्तपर्ण की छाल अथवा शिरीष के बीजों को पीसकर तथा मधु मिलाकर विकारग्रस्त भाग का घर्षण करें ॥ ४८-५० ॥

विमर्श—अत्र चरकः—'दन्तपवनस्य कूर्चो विशीर्यते दन्तौष्ठमांसशोफश्च' (चि. २३।११६)।

जिह्वानिर्लेखकवलौ दन्तकाष्ठवदादिशेत्।

जीभी (जिह्वानिर्लेख) और कवल (Gargle) के विषाक्त होने की चिकित्सा दन्तकाष्ठ की तरह करनी चाहिए।

पिच्छिलो बहुलोऽभ्यङ्गो विवर्णो वा विषान्वितः ॥ ५१ ॥
स्फोटजन्मरुजास्रावत्वक्पाकः स्वेदनं ज्वरः । दरणं चापि मांसानामभ्यङ्गे विषसंयुते ॥ ५२ ॥
तत्र शीताम्बुसिक्तस्य कर्तव्यमनुलेपनम्। चन्दनं तगरं कुष्ठमुशीरं वेणुपत्रिका ॥ ५३ ॥
सोमवल्ल्यमृता श्वेता पद्मं कालीयकं त्वचम्। कपित्थरसमूत्राभ्यां पानमेतच्च युज्यते ॥ ५४ ॥

अभ्यङ्ग के विषाक्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा—तैलादि अभ्यञ्जन द्रव्य विषाक्त होने पर पिच्छिल, बहल (घनः) एवं विवर्ण हो जाते हैं। इससे शरीर पर स्फोट (फफोले), वेदना, स्राव, त्वचा का पकना, पसीना आना, ज्वर और मांस का फट जाना आदि लक्षण होते हैं। इस दशा के उपचार में रोगी को शीतल जल से स्नान कराकर उसके शरीर पर निम्नलिखित द्रव्यों का अनुलेपन करना चाहिए—चन्दन, तगर, कूठ, खश, बाँसपत्री (या बाँस के पत्ते), गुडूची, अमृता (अमृतासंग, खर्परिकातुत्थकम्), श्वेता (अपराजिता), पद्म (कमल), कालीयक (दारुहरिद्रा) और वरांग (दालचीनी); इनके चूर्ण को कपित्थरस और गोमूत्र में पीसकर अनुलेपन करना चाहिए और पीने के लिए भी प्रयुक्त करें ॥ ५१-५४ ॥

विमर्श—चन्दनादि द्रव्यों का अनुलेपन शीतल जल में पीसकर भी किया जा सकता है।

उत्सादने परीषेके कषाये चानुलेपने। शय्यावस्त्रतनुत्रेषु ज्ञेयमभ्यङ्गलक्षणैः ॥ ५५ ॥

उत्सादन (उबटना), परिषेक (सिंचन), कषाय, अनुलेपन, शय्या, वस्त्र और तनुत्र अर्थात् कवच इनके विषाक्त होने पर लक्षण एवं चिकित्सा अभ्यंग के विषाक्त होने सदृश होते हैं ॥ ५५ ॥

केशशातः शिरोदुःखं खेभ्यश्च रुधिरागमः । ग्रन्थिजन्मोत्तमाङ्गेषु विषजुष्टेऽवलेखने ॥ ५६ ॥
प्रलेपो बहुशस्तत्र भाविताः कृष्णमृत्तिकाः । ऋष्यपित्तघृतश्यामापालिन्दीतण्डुलीयकैः ॥ ५७ ॥
गोमयस्वरसो वाऽपि हितो वा मालतीरसः । रसो मूषिकपर्ण्या वा धूमो वाऽऽगारसम्भवः ॥

अवलेखन (सविष कंघी करने) **के विषाक्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा**—कंघी में विष मिला दिया हो तो उसके प्रयोग से शिर के बाल गिर जाते हैं, शिर दुखने लगता है, छिद्रों (रोमकूपों) से रुधिर

आने लगता है और शिर में गाँठें निकल आती हैं। ऐसी दशा में ऋष्य (नीलाण्डः, 'रोरु' इति प्रसिद्धः) का पित्त ('कालखण्डलग्ननलिकामध्यगतं जलं पित्तम्'), घृत, श्यामा (प्रियंगु), त्रिवृत् (पालिन्दी), चौलाई—इनके स्वरस में काली मिट्टी को सात बार भावना देकर कई बार लेप करना हितकर होता है। या गोबर का रस अथवा मालती का रस या मूषापर्णी या गृहधूम का लेप करना हितकर होता है॥ ५६-५८॥

शिरोऽभ्यङ्गः शिरस्त्राणं स्नानमुष्णीषमेव च। स्रजश्च विषसंसृष्टाः साधयेदवलेखनात्॥ ५९॥

शिरस्त्राणादि की विषाक्तता का उपचार—शिर में प्रयुक्त होने वाले अभ्यंग, शिरस्त्राण (शिर का कवच), स्नान में प्रयुक्त जल आदि, पगड़ी और माला में यदि विष मिला दिया गया हो तो उसका उपचार अवलेखन (कंघी) में वर्णित उपचार की तरह करना चाहिए॥ ५९॥

विमर्श—विषाक्तशिरोऽभ्यङ्गे चरकः—'केशच्युतिः शिरोरुग्ग्रन्थयश्च सविषेऽथ शिरोऽभ्यङ्गे' (चि. २३।११६)। ये लक्षण सुश्रुत ने (क. १) शिरोऽवलेखन (कंघी करने) के बताये हैं। इसी प्रकार चरक में विषयुक्त स्नान, विषयुक्त माला आदि के लक्षण अलग से वर्णित किये हैं।

मुखालेपे मुखं श्यावं युक्तमभ्यङ्गलक्षणैः। पद्मिनीकण्टकप्रख्यैः कण्टकैश्चोपचीयते॥ ६०॥
तत्र क्षौद्रघृतं पानं प्रलेपश्चन्दनं घृतम्। पयस्या मधुकं फञ्जी बन्धुजीवः पुनर्नवा॥ ६१॥

विष से मुख-आलिप्त होने के लक्षण एवं चिकित्सा—यदि विषयुक्त द्रव्य से मुख आलिप्त हो जाय तो मुख का रंग श्याव हो जाता है और अभ्यंग के समान लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त मुख पद्मिनी के काँटों जैसे उभारों (काँटों) से व्याप्त हो जाता है। इस दशा के उपचार में अतुल्य मात्रा में मधु-घृत का पान तथा प्रलेप के लिए चन्दन, घृत, पयस्या (दुग्धिका या क्षीरिणी), मधुक (मुलेठी), फञ्जी (भार्ङ्गी), दुपहरिया (बन्धुजीव) और पुनर्नवा को प्रयोग में लाना चाहिए॥ ६०-६१॥

अस्वास्थ्यं कुञ्जरादीनां लालास्रावोऽक्षिरक्तता। स्फिक्पायुमेढ्रमुष्केषु यातुश्च स्फोटसम्भवः॥
तत्राभ्यङ्गवदेवेष्टा यातृवाहनयोः क्रिया।

हाथी आदि पर विष-प्रयोग का प्रभाव और उपचार—हाथी आदि की पीठ या काठी पर विष का प्रयोग करने पर पशु अस्वस्थ हो जाता है, उसके मुख से लार टपकने लगती है और आँखों में लाली आ जाती है। ऐसे पशुओं की सवारी करने से याता (आरोहक = सवार) के नितम्ब भाग, गुदप्रदेश, शिश्न और वृषणकोष में स्फोट निकल आते हैं। इस दशा के उपचार में अभ्यङ्ग के प्रसंग (श्लोक ५१-५३) में वर्णित चिकित्सा-व्यवस्था—वाहन और सवार दोनों की—करनी चाहिए॥ ६२॥

शोणितागमनं खेभ्यः शिरोरुक्कफसंस्रवः॥ ६३॥
नस्यधूमगते लिङ्गमिन्द्रियाणां च वैकृतम्। तत्र दुग्धैर्गवादीनां सर्पिः सातिविषैः शृतम्॥ ६४॥
पाने नस्ये च सश्वेतं हितं समदयन्तिकम्।

सविष नस्य और सविष धूम के लक्षण—रोमकूपों तथा कर्णादि रन्ध्रों से भी रक्त आने लगता है तथा शिर में पीड़ा और कफस्राव होते हैं यदि नस्य द्रव्य एवं धूम द्रव्यों को विषाक्त कर दिया गया हो। इसके अतिरिक्त इस विष से इन्द्रियों के स्व-स्व कार्यों में भी विकार आ जाता है। इस दशा के उपचार में वचा (श्वेता/गयी तु—'कटभीमाह'), अतीस, मदयन्तिका (मल्लिका, बेला) और गोदुग्ध से सिद्ध घृत को पान-नस्य के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए ('मदयन्तिका वचाकल्केन सिद्धं हितमित्यर्थः')॥ ६३-६४॥

गन्धहानिर्विवर्णत्वं पुष्पाणां म्लानता भवेत्॥ ६५॥
जिघ्रतश्च शिरोदुःखं वारिपूर्णे च लोचने। तत्र बाष्पेरितं कर्म मुखालेपे च यत् स्मृतम्॥ ६६॥

विषाक्त पुष्प सूँघने के लक्षण एवं चिकित्सा—यदि पुष्पों को विषाक्त कर दिया गया हो तो उनके सूँघने वाले के गन्धज्ञान का नाश हो जाता है (या पुष्पों की गन्ध नष्ट हो जाती है), पुष्प मुरझा जाते हैं, शिर दुखने लगता है और नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। इस दशा के उपचार में विषाक्त बाष्प और मुखालेप में बतायी गयी चिकित्सा करनी चाहिए॥ ६५-६६॥

विमर्श—विषाक्त बाष्प का उपचार (श्लोक ३५-३६ में) और मुखालेप के उपचार का वर्णन (श्लोक ६०-६१ में) किया गया है। चरक (चि. २३।१२०) के अनुसार—'माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजारोमहर्षकरम्। स्तम्भयति खानि नासामुपहन्ति दर्शनं च धूमः' ॥

कर्णतैलगते श्रोत्रवैगुण्यं शोफवेदने। कर्णस्रावश्च तत्राशु कर्तव्यं प्रतिपूरणम्॥ ६७॥
स्वरसो बहुपुत्रायाः सघृतः क्षौद्रसंयुतः। सोमवल्करसश्चापि सुशीतो हित इष्यते॥ ६८॥

कर्णगत विषाक्त तैल के लक्षण एवं चिकित्सा—यदि कान में विषयुक्त तैल चला जाय तो श्रवण शक्ति में विकार, कान में सूजन और पीड़ा होते हैं तथा उसमें से शीघ्र स्राव आने लगता है। इस दशा के उपचार में मधु-घृत युक्त शतावरी का स्वरस और सोमवल्क (खदिर) का स्वरस शीतल ही से कर्णपूरण करना हितकर होता है॥ ६७-६८॥

अश्रूपदेहो दाहश्च वेदना दृष्टिविभ्रमः। अञ्जने विषसंसृष्टे भवेदान्ध्यमथापि च॥ ६९॥
तत्र सद्यो घृतं पेयं तर्पणं च समागधम्। अञ्जनं मेषशृङ्गस्य निर्यासो वरुणस्य च॥ ७०॥
मुष्ककस्याजकर्णस्य फेनो गोपित्तसंयुतः। कपित्थमेषशृङ्ग्योश्च पुष्पं भल्लातकस्य वा॥ ७१॥
एकैकं कारयेत् पुष्पं बन्धूकाङ्कोठयोरपि।

विषाक्त अञ्जन के लक्षण एवं चिकित्सा—विषाक्त अञ्जन के लगाने से आँखों से अश्रुस्राव, चिपचिपाहट (उपदेहः/मलवृद्धिः), दाह, वेदना, दृष्टिविकार और अन्धापन भी हो जाते हैं। इस दशा के उपचार में पिप्पलीयुक्त घृत का तुरन्त पान करना चाहिए और इससे नेत्रतर्पण भी तुरन्त करना चाहिए। मेढासिंगी के रस से अञ्जन करें या वरुण की गोंद से अंजन करें; अथवा कालमुष्कक (मोखा), अजकर्ण (सर्जः), समुद्रफेन और गोरोचन मिलाकर अञ्जन करना चाहिए। या कैथ, मेढासिंगी अथवा भिलावे के फूल या बन्धूक और अंकोठ के फूलों के रस का अंजन करें ('कपित्थादीनां प्रत्येकं पुष्पमञ्जनम्, न समुदितानाम्')॥ ६९-७१॥

विमर्श—अत्र चरकः—'दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहस्रावात्युपदेहशोथरागाश्च' (चि. २३।११७)।

शोफः स्रावस्तथा स्वापः पादयोः स्फोटजन्म च॥ ७२॥
भवन्ति विषजुष्टाभ्यां पादुकाभ्यामसंशयम्। उपानत्पादपीठानि पादुकावत् प्रसाधयेत्॥ ७३॥

पादुकाओं के विषाक्त होने पर लक्षणादि—यदि खड़ाऊँ पर विष-प्रयोग किया गया हो तो शोथ, स्राव, सुन्नपन (स्वापः = स्पर्शाज्ञानम्) और पैरों पर स्फोट हो जाना निश्चित है। इसी प्रकार जूते और पायदान (पादपीठ) के विषाक्त होने पर लक्षणादि और चिकित्सा पादुकाओं की तरह होते हैं॥ ७२-७३॥

विमर्श—पादुकादि के विषाक्त होने के सम्बन्ध में चरक का कथन—'एते च करचरणदाहतोद-क्लमाविपाकाश्च। भूपपादुकाश्वगजवर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः' ॥ (चि. २३।११९)

भूषणानि हतार्चींषि न विभान्ति यथा पुरा। स्वानि स्थानानि हन्युश्च दाहपाकावदारणैः॥ ७४॥
पादुकाभूषणेषूक्तमभ्यङ्गविधिमाचरेत्।

भूषणों की विषाक्तता और लक्षण—यदि भूषणों को विषाक्त कर दिया गया हो तो उनकी चमक (Lustre) नष्ट हो जाती है। वे पहले की तरह सुन्दर नहीं लगते हैं और शरीर के जिस भाग के सम्पर्क में आते हैं वहाँ पर दाह, पाक और अवदारण (फट जाना/Cracking) उत्पन्न करते हैं॥ ७४॥

विषोपसर्गो बाष्पादिर्भूषणान्तो य ईरितः ॥ ७५ ॥
समीक्ष्योपद्रवांस्तस्य विदधीत चिकित्सितम्। महासुगन्धिमगदं यं प्रवक्ष्यामि तं भिषक् ॥ ७६ ॥
पानालेपननस्येषु विदधीताञ्जनेषु च। विरेचनानि तीक्ष्णानि कुर्यात् प्रच्छर्दनानि च ॥ ७७ ॥
सिराश्च व्यधयेत् क्षिप्रं प्राप्तं विस्रावणं यदि। मूषिकाऽजरुहा वाऽपि हस्ते बद्धा तु भूपतेः ॥ ७८ ॥
करोति निर्विषं सर्वमन्नं विषसमायुतम्।

विषाक्तता की अवस्थानुसार चिकित्सा—बाष्प से लेकर भूषण तक के विषाक्त होने का जो अब तक वर्णन किया गया है उनकी तथा उनके उपद्रवों की जाँचकर चिकित्सा-व्यवस्था करनी चाहिए। 'महासुगन्धि' नामक जिस अगद का वर्णन किया जायेगा चिकित्सक उसका (उपरोक्त विषाक्त अवस्थाओं में) पान, आलेपन, नस्य और अञ्जन के रूप में प्रयोग करें और तीक्ष्ण विरेचन एवं वमनों (वामक द्रव्यों) को भी उपयोग में लाना चाहिए। यदि रक्तविस्रावण उपयुक्त समझा जाय तो शीघ्र ही सिराव्यध कर देना चाहिए। अथवा भूपति की भुजा में मूषिका या अजरुहा नामक औषध बाँधना चाहिए। इनके प्रभाव से सभी प्रकार का विषाक्त अन्न विषरहित हो जाता है ॥ ७५-७८ ॥

विमर्श—उशना के अनुसार अजरुहा का लक्षण—'कन्दः श्वेतः सपिडको भेदे चाञ्जनसन्निभः। गन्धलेपनपानेषु विषं जरयते नृणाम् ॥ दष्टानां विषपीतानां चे चान्ये विषमोहिताः। विषं जरयते तेषां तस्मादजरुहा स्मृता ॥ मूषिका लोमशा कृष्णा भवेत्साऽपि च तद्गुणा।'

भुजा पर औषध बाँधने मात्र से शरीरव्यापी विष निर्विषता को कैसे प्राप्त हो जाता है? इसका हेतु दिव्य औषधियों का प्रभाव समझा जाता है। चरकानुसार प्रभाव का लक्षण—'रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते। विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः' ॥ (सू. २६।७२) 'रसादिकार्यत्वेन यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं, तत्प्रभावकृतमिति सूचयति। अत एवोक्तम्—प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते' (च.पा.)।

हृदयावरणं नित्यं कुर्याच्च मित्रमध्यगः ॥ ७९ ॥
पिबेद्घृतमजेयाख्यममृताख्यं च बुद्धिमान्। सर्पिर्दधि पयः क्षौद्रं पिबेद्वा शीतलं जलम् ॥ ८० ॥
मयूरान्नकुलान् गोधाः पृषतान् हरिणानपि। सततं भक्षयेच्चापि रसांस्तेषां पिबेदपि ॥ ८१ ॥

विषाक्त हृदवस्था का उपचार—सुहृज्जनों के मध्य स्थित होकर विषाक्त प्रभाव से हृदय की रक्षा का नित्य प्रयत्न करते रहना चाहिए ('हृदयावरणं हृदयप्रच्छादनं हृदयरक्षाकारिभिः मूषिकाजरुहामृताजेयपुराण-घृतदूषीविषारिमहासुगन्धिसिम्बीयूषतीक्ष्णविषघ्नधारणादिभिः'–ड.)। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह विष के प्रभाव को दूर करने के लिए मधुक, कुष्ठादि औषधियों से निर्मित अजेय नामक और अपामार्गबीज, पिप्पली आदि औषधियों से निर्मित अमृत नामक घृतों का पान करे। अथवा घृत, दधि, दूध और मधु युक्त शीतल जल को पीना चाहिए। भोजन में मोर, नेवला, गोह, पृषत् हरिण इनके मांस तथा मांसरस का सेवन निरन्तर करना चाहिए ॥ ७९-८१ ॥

विमर्श—हृदय पर प्रभाव डालने वाले विष (Cardiac poisons)—१. तम्बाकू (Tobacco), २. अश्वमार या कनेर (*Nerium odorum*), ३. डिजिटेलिस, ४. वत्सनाभ (Aconite) तथा ५. हाइड्रो-सायनिक अम्ल आदि हैं।

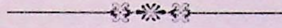
गोधानकुलमांसेषु हरिणस्य च बुद्धिमान्। दद्यात् सुपिष्टां पालिन्दीं मधुकं शर्करां तथा ॥ ८२ ॥
शर्करातिविषे देये मायूरे समहौषधे। पार्षते चापि देयाः स्युः पिप्पल्यः समहौषधाः ॥ ८३ ॥
सक्षौद्रः सघृतश्चैत्र शिम्बीयूषो हितः सदा। विषघ्नानि च सेवेत भक्ष्यभोज्यानि बुद्धिमान् ॥ ८४ ॥

गोधादि के मांस का संस्कार—बुद्धिमान् चिकित्सक गोह, नेवला और हरिण के मांस में निशोथ (पालिन्दी), मुलेठी और शर्करा को पीसकर मिलाने के बाद प्रयोग में लाये। मोर के मांस को शर्करा,

अतीस और सोंठ का चूर्ण मिलाकर प्रयोग में लाना चाहिए। इसी प्रकार पृषत (हरिणभेद) के मांस में पिप्पली और शुण्ठी मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए। मधु और घृत (विषम मात्रा में) मिलाकर शिम्बी (फली) का यूष सदा हितकर होता है। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह भक्ष्य और भोज्य पदार्थों को विषघ्न द्रव्यों से सिद्ध कर प्रयोग में लाये॥ ८२-८४॥

पिप्पलीमधुकक्षौद्रशर्करेक्षुरसाम्बुभिः । छर्दयेद्गुप्तहृदयो भक्षितं यदि वै विषम्॥ ८५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थानेऽन्नपानरक्षाकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥



विषभक्षण का उपचार—यदि किसी व्यक्ति ने विषभक्षण किया है तो उसके हृदय की सुरक्षा-व्यवस्था कर ('गुप्तहृदयो विषघ्नैः प्रच्छादितं हृदयं यस्य सः') उसे पिप्पली, मुलेठी, मधु, शर्करा, गन्ने का रस और जल से वमन कराने चाहिए॥ ८५॥

विमर्श—आयुर्वेद के आठ अंगों में 'अगद = विषतन्त्र' (Toxicology) भी एक अंग है ('अगदो विषप्रतिकारस्तदर्थं तन्त्रमगदतन्त्रम्, अन्ये तु विषगरवैरोधिके सम्प्रयोगो गदः, गदस्य अभावः अगदः, अगदाय तन्त्रम् अगदतन्त्रमित्याचक्षते'–ड.)। सुश्रुत (सू. १।६) ने अगदतन्त्र के सम्बन्ध में बताया है—'अगदतन्त्रं नाम—सर्पकीटलूतादष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च'।

समय के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार के विषों के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त हुई है। विष का प्रयोग आत्महत्या, परहत्या अथवा अज्ञानवश भी होता है। विष से तुरन्त मृत्यु हो सकती है। अतः विषों के वर्गीकरण, शरीर पर इनके प्रभाव और इनके प्रभाव को निष्क्रिय करने वाली महौषध की जानकारी चिकित्सक को होना अनिवार्य है।

चिकित्सालय में विषैली दवाइयाँ पृथक् अलमारी में रखी होनी चाहिए और प्रत्येक औषध पर लेबल लगा होना अनिवार्य है। चिकित्सक के पास विषाक्तावस्था से निपटने के लिए विषहर औषध तथा आमाशय-प्रक्षालननलिका आदि उपकरण एक अलग बैग में सदा सन्नद्ध अवस्था में तय्यार रहना चाहिए।

शरीर में विष निम्नलिखित मार्गों से दिया जा सकता है—१. मुखमार्ग, २. गुद-योनि-मूत्र आदि शारीरिक छिद्रों से, ३. नस्य या श्वासमार्ग से, ४. त्वचा पर लेप द्वारा, ५. व्रणमार्ग से तथा ६. सूचिवेध द्वारा। विष का उत्सर्ग (Elimination) मल, मूत्र, लाला, पित्त और स्वेद के द्वारा होता है।

परिभाषा—विष की सही-सही परिभाषा करना कठिन है। परन्तु सामान्यतः—"वह पदार्थ या द्रव्य 'विष' कहलाता है जो शरीर के सम्पर्क में आने पर या शरीर द्वारा आचूषित होने पर शरीर को हानि पहुँचाता है"।

शरीर पर विष की क्रिया १. स्थानिक, २. शरीरव्यापी अथवा ३. दोनों तरह की होती है। अम्लों की क्रिया स्थानिक, अहिफेनादि की क्रिया शरीरव्यापी और फॉस्फोरस आदि की क्रिया दोनों तरह की होती है।

विष की क्रिया को प्रभावित करने वाले कारक हैं—१. विष की मात्रा, २. विष का प्रकार, ३. उसकी प्रयोगविधि, ४. आयु, ५. अभ्यास आदि।

विष-चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त—विषचिकित्सा का प्रमुख उद्देश्य है—'विषाक्त व्यक्ति के विष को नष्ट करना'; अतः १. विष को शरीर से बाहर निकालना (आमाशयप्रक्षालन आदि से), २. तन्त्र (Systems) में आचूषित हुए विष को स्वेदल, मूत्रल आदि से बाहर निकालना, ३. प्रतिविषों का प्रयोग करना और ४. लाक्षणिक चिकित्सा करना।

चिकित्सक की 'विष-पेटी' में निम्नलिखित का होना अनिवार्य है—(१) यन्त्र-शस्त्र—आमाशय-प्रक्षालननलिका, मुखविस्फारक, एनीमा देने का सामान, रबर और धातु के कैथीटर, चाकू, कैंची, चिमटी, सिरा द्वारा तरलाधान का सामान, रुई, गाज, पट्टी, सीवन-उपकरण, ल्यूकोप्लास्टर, ऑक्सीजन देने के साधन। (२) औषधियों में प्रमुख हैं—१. मार्फीन, एट्रोपीन, कोरामीन, व्यापीसंज्ञाहरण का सामान, ग्लूकोज इंजेक्शन आदि, २. वमनकारी औषध, प्रतिविष, शामक औषध आदि (जैतून का तेल, ईसबगोल), ३. हृदय की सुरक्षा के लिए हृच्चिन्तामणि, बृहद्वातचिन्तामणि, योगेन्द्र रस, अकीकपिष्टी आदि।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'अन्नपानरक्षाकल्प' नामक पहला अध्याय समाप्त हुआ॥ १॥



अध्याय-सारांश

'अन्नपानरक्षाकल्प' नामक इस अध्याय में—भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत तथा अन्य ऋषियों को विषविज्ञान (Toxicology) की शिक्षा देने एवं विषैले पदार्थों से सम्राट् की रक्षा करने की विधियों का वर्णन है। राजा को मारने के लिए कई तरह के व्यक्ति कई तरह के तरीकों को प्रयोग में लाते हैं। स्त्रियाँ भी यह कार्य कर सकती हैं, विषकन्या का भी एतदर्थ प्रयोग होता है (३-६), अतः राजा को किसी पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए (७), राजवैद्य के गुण (८-११), महानस कैसा हो (१२-१३), परिकर्मियों के गुण (१४-१५), परिकर्मियों को वैद्यवशग होना चाहिए (१७); विषदाता की पहचान (१८-२२), विष देने के अन्न-पानादि अधिष्ठान (२५-२७), विषाक्त पदार्थों की पहचान (२८-३३), विषाक्त पदार्थ के सेवन से होने वाले लक्षण, विषाक्त तरलों की पहचान (४४), त्वचा पर हुए विषाक्त प्रभाव की पहचान एवं चिकित्सा (५१-५४); हाथी आदि पशुओं पर हुए विषाक्त प्रभाव के लक्षण एवं चिकित्सा (६२), विषाक्त पुष्पों के सूँघने से, कर्ण तैल, अंजन, पादुका, आभूषण आदि के विषाक्त लक्षण एवं चिकित्सा (५५-७८), कुछ विषहर योग, मांसादि (८८-८४)।



द्वितीयोऽध्यायः

अथातः स्थावरविषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'स्थावरविषविज्ञानीय' (The Doctrine of the Science of the Inanimate Vegetable and Mineral Poisons) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

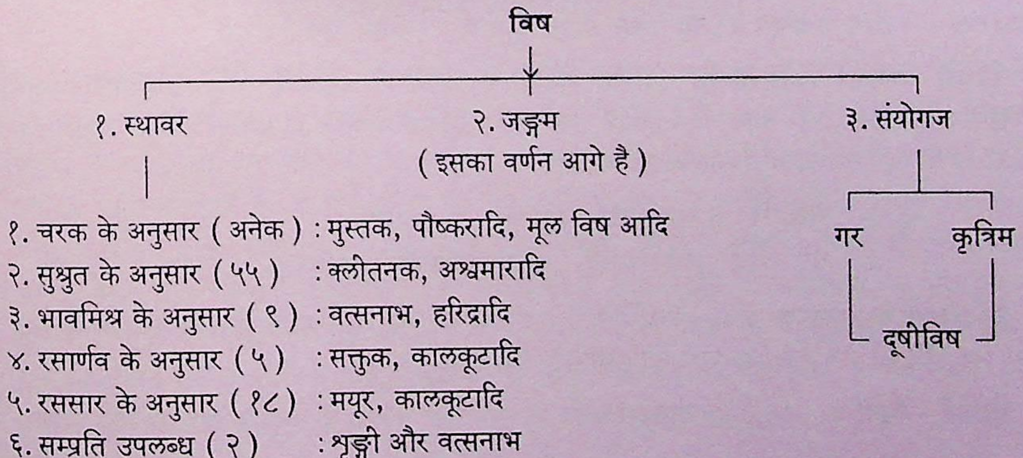
विमर्श—विष-वर्णन में सर्वप्रथम स्थावर विषों के वर्णन का हेतु बताते हुए डल्हण का कथन है—'अन्ने पाने च प्रायेण स्थावरविषावचारणात् तद्विज्ञानीयारम्भो युज्यत इति'।

विष की परिभाषा—१. 'जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः' (च.चि. २३।५); २. 'दृष्ट्वैतत् यद् विषीदन्ति जनास्तस्माद् विषं स्मृतम्' (र.त.); ३. 'नरं वा विषणीत्येतत् मृत्युपाशैस्ततो विषम्' (र.त.); ४.'दर्शनादेव यतो देवा दानवाश्च विषण्णास्तस्मात् विषसंज्ञामवाप' तथा ५.'विषादजननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते' (सु.उ. ३।२१)।

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
दशाधिष्ठानमाद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम् ॥ ३ ॥

विष-भेद—विष-चिकित्सा में सुविधा की दृष्टि से स्वरूप और आश्रय के अनुसार विष दो प्रकार का है—१. स्थावर और २. जङ्गम। इनमें स्थावर विष के अधिष्ठान दस और जङ्गम विष के अधिष्ठान सोलह हैं ॥ ३ ॥

विमर्श—चरक (चि. २३) ने स्थावर और जङ्गम भेद से दो प्रकार के विष बताये हैं। इनके आठ वेग, दस गुण और चौबीस प्रकार की चिकित्सा होने का उल्लेख भी किया है। एक अन्य भेद संयोगज विष, जिसे 'गरविष' कहा गया है, का वर्णन भी है। इसी प्रकार इसी प्रकरण में 'दूषीविष' का वर्णन भी आया है।



गरविष भिन्न-भिन्न द्रव्यों के मेल से होने वाला विष है ('गरसंयोगजं चान्यद् गरसंज्ञं गदप्रदम्'–च.चि. २३)। ये द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—निर्विष और सविष। जब निर्विष द्रव्यों के संयोग से विष बनता है तो वह 'गर' कहलाता है तथा सविष द्रव्यों के संयोग से बनने वाले विष की 'कृत्रिम विष' संज्ञा है। दूषीविष का समावेश इन्हीं उपरोक्त भेदों में हो जाता है। ('जीर्णं विषौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशेषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति')।

मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥ ४॥

विषों के अधिष्ठान—स्थावर विषों के दस अधिष्ठान इस प्रकार हैं—१. मूल, २. पत्र, ३. फल, ४. पुष्प, ५. त्वक्, ६. क्षीर, ७. सार, ८. निर्यास, ९. धातु, १०. कन्द ॥ ४॥

तत्र क्लीतकाश्वमारगुञ्जासुगन्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखाविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि; विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भक-र्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि; वेत्रकादम्ब-वल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि; अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दन-नाराचकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि; कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि; फेणाश्म(भस्म)हरितालं च द्वे धातुविषे; कालकूटवत्सनाभसर्षपपालककर्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गी-विषप्रपुण्डरीकमूलकहालाहलमहाविषकर्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि; इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति ॥ ५॥

स्थावरविषों के अधिष्ठान—मूलादि अधिष्ठानों वाले विषों का पृथक्-पृथक् वर्णन इस प्रकार है—(१) मूलविष—१. क्लीतक, २. कनेर, ३. गुञ्जा, ४. सुगन्ध, ५. गर्गरक, ६. करघाट, ७. विद्युत्शिखा, ८. विजयानी—ये आठ मूलविष हैं। (२) पत्रविष—१. विषपत्रिका, २. लम्बा, ३. करम्भ, ४. महाकरम्भ, ५. वरदारु—ये पाँच पत्रविष हैं। (३) फलविष—१. कुमुद्वती, २. वेणुका, ३. करम्भ, ४. महाकरम्भ, ५. कर्कोटक, ६. रेणुक, ७. खद्योतक, ८. चर्मरी, ९. इभगन्धा, १०. सर्पघाती, ११. नन्दन, १२. सारपाक—ये बारह फलविष हैं। (४) पुष्पविष—१. वेत्र, २. कादम्ब, ३. वल्लीज, ४. करम्भ, ५. महाकरम्भ—ये पाँच पुष्पविष हैं। (५-६-७) त्वक्विष, सारविष, निर्यासविष—१. अन्त्रपाचक, २. कर्तरीय, ३. सौरीयक, ४. करघाट, ५. करम्भ, ६. नन्दन, ७. नाराचक—ये सात त्वक्, सार और निर्यास विष हैं। (८) क्षीरविष—१. कुमुदघ्नी, २. स्नुही, ३. जलक्षीरी—ये तीन क्षीरविष हैं। (९) धातुविष—१. फेनाश्म, २. हरताल—ये दो धातुविष हैं तथा (१०) कन्दविष—१. कालकूट, २. वत्सनाभ, ३. सर्षप, ४. पालक, ५. कर्दमक, ६. वैराटक, ७. मुस्तक, ८. शृङ्गीविष, ९. प्रपुण्डरीक, १०. मूलक, ११. हालाहल, १२. महाविष, १३. कर्कटक—ये तेरह कन्दविष हैं। इस प्रकार स्थावर विष के ५५ प्रकार होते हैं ॥ ५॥

विमर्श—स्थावर विषों के इन भेदों के सम्बन्ध में डल्हण का कथन है; यथा—'मूलादिविषाणां यत्नपरैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशवरादिभ्यो ज्ञेयानि'। अर्थात् मूलादि विषों की जानकारी के लिए किरातादि से सम्पर्क करना चाहिए।

चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्तिते।
षट् चैव सर्षपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु ॥ ६॥

कन्दविषों के अवान्तर भेद—कन्दविषों में वत्सनाभ के चार, मुस्तक के दो और सर्षपक के छः अवान्तर भेद होते हैं। शेष कन्दविष एक-एक प्रकार के हैं ॥ ६॥

विमर्श—विषों का आधुनिक वर्गीकरण आदि का वर्णन इस अध्याय के अन्त में दिया गया है।

स्थावर विष

अधिष्ठान	संख्या	द्रव्य
१. मूलविष	८	१. क्लीतक, २. कनेर, ३. गुञ्जा, ४. सुगन्ध, ५. गर्गरक, ६. करघाट, ७. विद्युत्शिखा, ८. विजयानी।
२. पत्रविष	५	१. विषपत्रिका, २. लम्बा, ३. वरदारु, ४. करम्भ, ५. महाकरम्भ।
३. फलविष	१२	१. कुमुद्वती, २. वेणुका, ३. करम्भ, ४. महाकरम्भ, ५. कर्कोटक, ६. रेणुका, ७. खद्योतक, ८. चर्मरी, ९. इभगन्धा, १०. सर्पघाती, ११. नन्दन, १२. सारपाक।
४. पुष्पविष	५	१. वेत्र, २. कादम्ब, ३. वल्लीज, ४. करम्भ, ५. महाकरम्भ।
५. त्वक्विष ६. सारविष ७. निर्यासविष	७	१. अन्त्रपाचक, २. कर्तरीय, ३. सौरीयक, ४. करघाट, ५. करम्भ, ६. नन्दन, ७. नाराचक।
८. क्षीरविष	३	१. कुमुदघ्नी, २. स्नुही, ३. जलक्षीरी।
९. धातुविष	२	१. फेनाश्म, २. हरताल।
१०. कन्दविष	१३	१. कालकूट, २. वत्सनाभ, ३. सर्षप, ४. पालक, ५. कर्दमक, ६. वैराटक, ७. मुस्तक, ८. शृङ्गीविष, ९. प्रपुण्डरीक, १०. मूलक, ११. हालाहल, १२. महाविष, १३. कर्कटक।

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च। जृम्भाङ्गोद्वेष्टनश्वासा ज्ञेयाः पत्रविषेण तु॥ ७ ॥
मुष्कशोफः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च। भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं मोह एव च॥ ८ ॥
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि। आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः॥ ९ ॥
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता। हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि॥ १०॥
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत्।

स्थावर विषों के दस मूलाधिष्ठानों के अनुसार सामान्य लक्षण—१. आठ प्रकार के 'मूलविषों' के उद्वेष्टन (अङ्गमोटनम्), प्रलाप और मोह सामान्य लक्षण हैं। २. पाँच प्रकार के 'पत्रविषों' के सामान्य लक्षण जम्भाई आना, अंग-उद्वेष्ट और श्वास हैं। ३. बारह प्रकार के 'फलविषों' के वृषणशोथ, दाह और अन्नद्वेष सामान्य लक्षण हैं। ४. पाँच प्रकार के 'पुष्पविषों' के सामान्य लक्षण छर्दि, आध्मान और मोह हैं। ५-७. सात प्रकार के 'त्वक्' विष, 'सार' विष और 'निर्यास' विषों के सामान्य लक्षण हैं—मुख से दुर्गन्ध आना, कठोरता (पारुष्य), शिरोवेदना और कफस्राव। ८. तीन प्रकार के 'क्षीरविषों' के सामान्य लक्षण हैं—मुख से झाग आना, अतिसार और जीभ में भारीपन। ९. दो प्रकार के 'धातुविषों' में पाये जाने वाले सामान्य लक्षण हैं—हृत्प्रदेश में वेदना, मूर्च्छा और तालु में दाह होना। इन विषों से प्रायः दिन, पक्ष या मास में मृत्यु हो जाती है॥ ७-१०॥

मूलादि अधिष्ठानों के अनुसार स्थावरविषों के सामान्य लक्षण

अधिष्ठान	संख्या	सामान्य लक्षण
१. मूलविष	८	उद्वेष्टन, प्रलाप, मोह
२. पत्रविष	५	जृम्भा, अंग-उद्वेष्ट, श्वास
३. फलविष	१२	वृषणशोथ, दाह, अन्नद्वेष
४. पुष्पविष	५	छर्दि, आध्मान, मोह
५. त्वक्विष ६. सारविष ७. निर्यासविष	७	मुख से दुर्गन्ध आना, पारुष्य, कफस्राव
८. क्षीरविष	३	मुख से झाग आना, अतिसार, जीभ में भारीपन
९. धातुविष	२	हृत्प्रदेश में वेदना, मूर्च्छा, तालु में दाह
१०. कन्दविष	१३	कन्दविष (अतितीक्ष्ण होने से इनकी तालिका अलग से दी गयी है)

कन्दजानि तु तीक्ष्णानि तेषां वक्ष्यामि विस्तरम्॥ ११॥
स्पर्शाज्ञानं कालकूटे वेपथुः स्तम्भ एव च। ग्रीवास्तम्भो वत्सनामे पीतविण्मूत्रनेत्रता॥ १२॥
सर्षपे वातवैगुण्यमानाहो ग्रन्थिजन्म च। ग्रीवादौर्बल्यवाक्सङ्गौ पालकेऽनुमताविह॥ १३॥
प्रसेकः कर्दमाख्येन विड्भेदो नेत्रपीतता। वैराटकेनाङ्गदुःखं शिरोरोगश्च जायते॥ १४॥
गात्रस्तम्भो वेपथुश्च जायते मुस्तकेन तु। शृङ्गीविषेणाङ्गसाददाहोदरविवृद्धयः॥ १५॥
पुण्डरीकेण रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे। वैवर्ण्यं मूलकैश्छर्दिर्हिक्काशोफप्रमूढताः॥ १६॥
चिरेणोच्छ्वसिति श्यावो नरो हालाहलेन वै। महाविषेण हृदये ग्रन्थिशूलोद्गमौ भृशम्॥ १७॥
कर्कटेनोत्पतत्यूर्ध्वं हसन्दन्तान्दशत्यपि।

कन्दविषों के लक्षण—कन्दज विष तीक्ष्ण होते हैं। इनके सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया जायेगा। तेरह प्रकार के 'कन्दविषों' के विस्तृत विषाक्त लक्षण इस प्रकार हैं—१. कालकूट—इसकी विषाक्तता में रोगी को स्पर्शज्ञान का न होना, कम्प और जकड़ाहट होते हैं। २. वत्सनाभ—इसमें ग्रीवा अकड़ जाती है और मल, मूत्र तथा नेत्रों का रंग पीला पड़ जाता है। ३. सर्षप—इसके विषाक्त लक्षण इस प्रकार हैं—वायु की विगुणता, आनाह और शरीर पर ग्रन्थियों का निकल आना। ४. पालक—इसमें ग्रीवा की दुर्बलता और आवाज का बैठ जाना ये दो लक्षण होते हैं। ५. कर्दम—की विषाक्तता में प्रसेक (लालास्राव), अतिसार और आँखों में पीलापन होते हैं। ६. वैराटक—इसमें शरीर में पीड़ा और शिर में व्याधि होती है। ७. मुस्तक—इस कन्दविष के विषाक्त लक्षणों में शरीर का अकड़ जाना और कम्प हैं। ८. शृङ्गीविष—अंगों का दुखना, दाह और उदर की वृद्धि—ये विषाक्त लक्षण पाये जाते हैं। ९. पुण्डरीक—इसके विषाक्त लक्षण इस प्रकार हैं—आँखों का लाल होना तथा उदर का बढ़ जाना होते हैं। १०. मूलक—इस कन्दविष के विवर्णता, वमन, हिक्का, शोफ और अचेतनता (प्रमूढता = प्रकर्षेणाचैतन्यम्) ये विषाक्त लक्षण हैं। ११. हालाहल—इसकी विषाक्तता में रोगी साँस विलम्ब से लेता है और उसके शरीर का रंग श्याव (काला) हो जाता है। १२. महाविष—इसमें हृत्प्रदेश में ग्रन्थि, शूल ये तीव्र प्रकार के होते हैं। १३. कर्कटक—इसके विषाक्त लक्षण हैं—इसके दुष्प्रभाव से रोगी उछलता है और हँसता हुआ दाँतों को कटकटाता है॥ ११-१७॥

कन्दविषों के विस्तृत लक्षण

विष	विस्तृत लक्षण
१. कालकूट	स्पर्शज्ञान न होना, कम्प, जकड़ाहट
२. वत्सनाभ	ग्रीवा में स्तब्धता, मल-मूत्र-नेत्र का रंग पीत
३. सर्षप	वातवैगुण्य, आनाह, शरीर पर ग्रन्थियाँ
४. पालक	ग्रीवादौर्बल्य, वाक्-संग, आवाज का बैठ जाना
५. कर्दम	प्रसेक, अतिसार, आँखों में पीलापन
६. वैराटक	शरीर में पीड़ा, शिर में जकड़ाहट
७. मुस्तक	शरीर का अकड़ जाना, कम्प
८. शृङ्गी	अङ्गपीड़ा, दाह, उदर का आकार बढ़ना
९. पुण्डरीक	आँखों में लालिमा, उदर का आकार बढ़ना
१०. मूलक	वैवर्ण्य, वमन, हिक्का, शोफ, अचेतनता
११. हालाहल	साँस लेने में विलम्ब, शरीर का रंग श्याव
१२. महाविष	हृदय में ग्रन्थि, तीव्र शूल
१३. कर्कटक	विष के प्रभाव से रोगी उछल पड़ता है, हँसता हुआ दाँतों को कटकटाता है।

कन्दजान्युग्रवीर्याणि प्रत्युक्तानि त्रयोदश ॥ १८ ॥
सर्वाणि कुशलैर्ज्ञेयान्येतानि दशभिर्गुणैः ।

कन्दज विषों की उग्रता—तेरह प्रकार के जो कन्दविष वर्णित किये गये हैं, वे उग्रवीर्य होते हैं। अतः इन सबको इनके दस गुणों द्वारा चिकित्सकों को जानना चाहिए॥ १८॥

विमर्श—उग्रवीर्य—'उग्रवीर्याणि उत्कटशक्तीनि, गयी तु अग्रवीर्याणीति पठति, व्याख्यानयति च अग्राणि गुरूणि वीर्याणि गुणविशेषा येषां तानि तथाविधानि। प्रत्युक्तानि प्रत्येकमुक्तानि' (ड.)।

रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च ॥ १९ ॥
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम् । तद्रौक्ष्यात् कोपयेद्वायुमौष्ण्यात् पित्तं सशोणितम् ॥
मतिं च मोहयेत्तैक्ष्ण्यान्मर्मबन्धान् छिनत्ति च। शरीरावयवान् सौक्ष्म्यात् प्रविशेद्विकरोति च ॥
आशुत्वादाशु तद्धन्ति व्यवायात् प्रकृतिं भजेत्। क्षपयेच्च विकाशित्वाद्दोषान्धातून्मलानपि ॥
वैशद्यादतिरिच्येत दुश्चिकित्स्यं च लाघवात्। दुर्हरं चाविपाकित्वात्तस्मात् क्लेशयते चिरम् ॥

विषों के दस गुण और उनके कार्य—१. रूक्ष (Dry), २. उष्ण (Hot), ३. तीक्ष्ण (Sharp/राजिकामरिचादिवत्), ४. सूक्ष्म (Fine/सूक्ष्ममार्गानुप्रवेशी), ५. आशु (शीघ्रं ग्रहणकारि), ६. व्यवायि (Diffusible/सकलं देहं प्राप्य पाककारि), ७. विकाशि (प्रसर्पदप्रसर्पद्धातुबन्धशैथिल्यकारि), ८. विशद (अपिच्छिलम्), ९. लघु (Light) और १०. अपाकि (Indigestible/आहारपाचकानलेन पक्तुमशक्यम्)—ये दस गुण विषों में होते हैं।

इन दस गुणों के पृथक्-पृथक् कार्य—विष १. 'रूक्ष' होने के कारण वायु को प्रकुपित करता है। २. 'उष्ण' गुण के कारण रक्त सहित पित्त को प्रकुपित करता है। ३. 'तीक्ष्ण' होने से बुद्धि को मोहग्रस्त और मर्मबन्धनों को छिन्न-भिन्न करता है। ४. 'सूक्ष्म' गुण के कारण विष शरीर के अवयवों को विकारग्रस्त कर देता है ('विकरोति = शरीरावयवान् विकाराकारं नयतीत्यर्थः')। ५. 'आशु' होने से विष के कारण शीघ्र मृत्यु हो जाती है। ६. 'व्यवायि' गुण के कारण विष सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है ('व्यवायात् प्रकृतिं भजेदिति व्यवायात् अखिलदेहव्याप्तिलक्षणात् प्रकृतिं स्वभावम् अखिलदेहव्याप्तिरूपं भजेत्'–ड.)। ७. 'विकाशि' (हिंसनशीलत्वात्) गुण के कारण विष दोष, धातु एवं मलों का विनाश कर देता है ('क्षपयेत् विनाशयेत्, कसधातुर्गत्यर्थोऽपि विपूर्वो हिंसार्थः')। ८. 'विशद' गुण वाला होने से विष कहीं भी रुकता नहीं है ('अतिरिच्यते, न सज्जते क्वचिदपि सक्तं न भवेदित्यर्थः')। ९. 'लघु' गुण के कारण विष दुश्चिकित्स्य होता है (संशमन औषध के अभाव में चिकित्सा कठिन है/'इदं हि लघुत्वादुत्प्लुत्य मनो धावति अस्थिरं च भवति, तस्मात् संशमनभेषजाप्राप्त्या दुश्चिकित्स्यं भवति') और १०. 'अपाकि' गुण के कारण विष का निवारण कठिनता से हो पाता है। अतः विषप्रभाव चिरकाल तक बना रहता है॥ १९-२३॥

विमर्श—विषों के दस गुणों में चरक ने 'अपाकि' के स्थान पर 'अव्यक्त' गुण का उल्लेख किया है। वाग्भट ने चरक और सुश्रुत द्वारा वर्णित विषों के गुणों को मिलाकर ग्यारह गुण गिनाये हैं।

विषों में पाये जाने वाले दस गुण और कार्य

गुण	कर्म
१. सूक्ष्म	वातप्रकोपक है।
२. उष्ण	रक्तसहित पित्त को प्रकुपित करता है।
३. तीक्ष्ण	बुद्धिमोह और मर्मबन्धनों को छिन्न-भिन्न करता है।
४. सूक्ष्म	शरीरावयवों को विकारग्रस्त करता है।
५. आशु	शीघ्र प्राणहर है।
६. व्यवायि	शीघ्र सारे शरीर में फैल जाता है।
७. विकाशि	दोष, धातु और मलों का नाश करता है।
८. विशद	शरीर में कहीं भी स्थिर नहीं रहता है।
९. लघु	दुश्चिकित्स्य होता है।
१०. अपाकि	शरीर में विष चिरकाल तक बना रहता है।

स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम्। सद्यो व्यापादयेत् तत्तु ज्ञेयं दशगुणान्वितम्॥ २४॥

सद्यःप्राणहर विष (Instanteneously fatal poisons)—रूक्षादि गुणों से युक्त केवल कन्दविष सद्यःप्राणहर नहीं होते हैं अपितु स्थावर, जङ्गम और कृत्रिम विषों में कोई-सा भी विष रूक्षादि गुणों से युक्त होने पर आशु प्राणहर होता है। जो विष सद्यःप्राणहरण करे उसे रूक्षादि दश गुणान्वित जानना चाहिए॥ २४॥

यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा॥ २५॥

स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि॥ २६॥

दूषीविष का लक्षण—जो स्थावर, जङ्गम या कृत्रिम (Inanimate, animate or artificial) विष शरीर से पूरी तरह बाहर नहीं निकलता है और जीर्ण अर्थात् अधिक समय से रखा जो पुराना पड़ गया हो, जिसका प्रभाव विषघ्न औषधियों से मन्द पड़ गया हो, जंगल में लगी आग के ताप से जो सूख गया हो या जो स्वभावतः गुणहीन (गुणविप्रहीनं गुणैर्द्वित्र्यादिभिर्हीनं दश गुणमेव वा) हो गया हो, उसकी 'दूषीविष' संज्ञा है। यह दूषीविष अल्प वीर्य होने के कारण सद्यःप्राणहर नहीं होता है अपितु कफावृत हो जाने से शरीर में चिरकाल तक बना रहता है॥ २५-२६॥

विमर्श—'दूषीविषं तु शोणितदुष्ट्यारुः किटिभकोठलिङ्गं च। विषमेकैकदोषं सन्दूष्य हरत्यसूनेवम्'॥ (च.चि. २३।३१)

तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो विगन्धवैरस्यमुखः पिपासी।
मूर्च्छन्वमन् गद्गदवाग्विषण्णो भवेच्च दुष्योदरलिङ्गजुष्टः॥ २७॥
आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी।
भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः॥ २८॥

दूषीविष का शरीर पर प्रभाव—दूषीविष के विषाक्त प्रभाव से मनुष्य को अतिसार हो जाता है, रंग भी बदल जाता है, मुख से दुर्गन्ध आने लगती है, मुख का स्वाद बिगड़ जाता है, प्यास लगती है, बेहोशी होती है, वमन आते हैं और वाणी गद्गद (अस्पष्ट) हो जाती है, रोगी विषण्ण (उदास, खिन्न) रहने लगता है तथा सन्निपातोदर ('दूष्योदर-दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद् वा'–सु.नि. ७) के लक्षण पाये जाते हैं। यदि दूषीविष आमाशय में स्थित हो तो कफ-वातप्रकोप के लक्षण पाये जाते हैं और पक्वाशय में स्थित हो तो वात-पित्तप्रकोप के लक्षण उपस्थित होते हैं। रोगी के शरीर के बाल झड़ जाते हैं, शरीर के अंग ध्वस्त (छिन्न-भिन्न) हो जाते हैं और वह पंख कटे पक्षी की तरह हो जाता है॥ २७-२८॥

विमर्श—कल्पस्थान (अध्याय १ श्लोक ४० और ४२) में जो क्रमशः आमाशयगत विष के तथा पक्वाशयगत विष के लक्षण बताये हैं वे सामान्य लक्षण हैं।

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान्।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तत्र रूपम्॥ २९॥

दूषीविष का प्रकोप—यदि दूषीविष रसादि धातुओं में स्थित होता है तो धातुओं में पाये जाने वाले यथोक्त विकार (सू. २४।९) उत्पन्न होते हैं ('व्याधिसमुद्देशीयोक्तान् धातुप्रभवान् विकारान् अन्नाश्रद्धारोचकादीन् करोति'–ड.)। ऐसी दशा में शीत, वायु और आकाश के मेघाच्छन्न होने पर विष का प्रकोप शीघ्र होता है। इस अवस्था के पूर्वरूपों को सुनो॥ २९॥

निद्रा गुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दः।

पूर्वरूप—इस दशा के पूर्वरूपों में नींद, भारीपन, जँभाई आना, सन्धि-शैथिल्य, रोमहर्ष अथवा अंगमर्द होते हैं।

ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठमोहान्॥ ३०॥
धातुक्षयं पादकरास्यशोफं दकोदरं छर्दिमथातिसारम्।
वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान् वा कुर्यात् प्रवृद्धां प्रबलां तृषां वा॥ ३१॥
उन्मादमन्यज्जनयेत् तथाऽन्यदानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम्।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान्॥ ३२॥

दूषीविष के लक्षण—तत्पश्चात् अन्नमद अर्थात् भुक्त अन्न से हर्षक्षय आदि मदलक्षण तथा पचन न होना, अन्न में अरुचि और मण्डल, कोठ, मोह होते हैं। इनके अतिरिक्त धातुओं का नाश, पैर-हाथ-मुख पर सूजन, जलोदर, छर्दि, अतिसार, विवर्णता, मूर्च्छा या विषम ज्वर के लक्षण भी पाये जाते हैं तथा तृष्णा अतितीव्र होती है। किसी विष से उन्माद, किसी से पेट में अफारा, कोई विष शुक्रधातु का क्षय करता है तो किसी से वाणी अस्पष्ट हो जाती है। कोई विष कुष्ठ उत्पन्न करता है। इस प्रकार विष कई तरह के विकारों को जन्म देते हैं॥ ३०-३२॥

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः। यस्माद्दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम्॥ ३३॥

दूषीविष की परिभाषा—देश, काल, अन्न, दिवास्वाप आदि के द्वारा बार-बार दूषित हुआ विष शरीर की रस-रक्तादि धातुओं को भी दूषित करता है। अतः 'दूषीविष' कहलाता है॥ ३३॥

विमर्श—देश—'आनूपः प्रभूतानिलशीतवर्षः' (ड.)। काल—'शीतानिलदुर्दिनादिः' (ड.)। अन्न—'सुरातिलकुलत्थादिः' (ड.)।

अष्टाङ्गहृदय के अनुसार दूषीविष का लक्षण—'प्राग्वाताजीर्णशीताभ्रदिवास्वप्नाहिताशनैः। दुष्टं दूषयते धातूनतो दूषीविषं स्मृतम्'॥ (उ. ३५।३७)

अत्र अरुणदत्तः—'तच्च पुरोवातादिभिर्दुष्टं सत् धातून् दूषयति यतस्ततोऽपि हेतोः दूषीविषं स्मृतम्'।

'अन्नस्य उपलक्षणत्वात् व्यवायव्यायामक्रोधादिरपि इत्यर्थः' (डल्हणः)।

स्थावरस्योपयुक्तस्य वेगे तु प्रथमे नृणाम्। श्यावा जिह्वा भवेत्स्तब्धा मूर्च्छा श्वासश्च जायते॥ ३४॥
द्वितीये वेपथुः सादो दाहः कण्ठरुजस्तथा। विषमामाशयप्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम्॥ ३५॥
तालुशोषं तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम्। दुर्वर्णे हरिते शूने जायेते चास्य लोचने॥ ३६॥
पक्वामाशययोस्तोदो हिक्का कासोऽन्त्रकूजनम्। चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम्॥ ३७॥
कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पञ्चमे। सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना॥ ३८॥
षष्ठे प्रज्ञाप्रणाशश्च भृशं चाप्यतिसार्यते। स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सन्निरोधश्च सप्तमे॥ ३९॥

स्थावर विषों के वेगों के लक्षण—(१) प्रथम वेग—मनुष्यों में स्थावर विष की विषाक्तावस्था के 'प्रथम वेग' में जीभ श्याववर्ण और जकड़ाहट से युक्त हो जाती है तथा मूर्च्छा एवं श्वास होते हैं। (२) द्वितीय वेग—इसमें कम्प, अंगों में शैथिल्य, दाह, गले में पीड़ा, आमाशय में पहुँचने पर विष से हृदयप्रदेश में वेदना होने लगती है। (३) तृतीय वेग—विषाक्तावस्था के तृतीय वेग में तालुशोष, आमाशय में तीव्र शूल और नेत्रों में विवर्णता, हरापन तथा सूजन हो जाती है। (४) चतुर्थ वेग—इसमें पक्वाशय और आमाशय में पहुँचने पर विष से सूचीवेधवत् वेदना, हिक्का, कास, आँतों में गुड़गुड़ाहट और शिर में भारीपन हो जाते हैं। (५) पञ्चम वेग—इस वेग में कफ का स्राव, विवर्णता, सन्धिशूल, सर्वदोषप्रकोप और पक्वाशय में वेदना होते हैं। (६) षष्ठ वेग—इसमें बुद्धिविभ्रंश, तीव्र अतिसार ये दो लक्षण होते हैं। (७) सप्तम वेग—इस वेग में कन्धे, पीठ और कमर का टूटना तथा श्वासावरोध ('सन्निरोधः = उच्छ्वासस्य सम्यक् निरोधः') होते हैं॥ ३४-३९॥

प्रथमे विषवेगे तु वान्तं शीताम्बुसेचितम्। अगदं मधुसर्पिर्भ्यां पाययेत-समायुतम्॥ ४०॥
द्वितीये पूर्ववद्वान्तं पाययेत्तु विरेचनम्। तृतीयेऽगदपानं तु हितं नस्यं तथाऽञ्जनम्॥ ४१॥
चतुर्थे स्नेहसंमिश्रं पाययेतागदं भिषक्। पञ्चमे क्षौद्रमधुकक्वाथयुक्तं प्रदापयेत्॥ ४२॥
षष्ठेऽतीसारवत् सिद्धिरवपीडश्च सप्तमे। मूर्ध्नि काकपदं कृत्वा सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्॥ ४३॥

उपरोक्त सात वेगों की यथाक्रम चिकित्सा—स्थावर विष की विषाक्तावस्था के **प्रथम** वेग के उपचार में वमन और शीतल जल से सिंचन के उपरान्त स्थावर विषहर अगद का मधु-घृत के साथ पान कराना उपयुक्त होता है। **द्वितीय** वेग में प्रथम वेग की तरह वमन कराने के उपरान्त मधु-घृत और शीतल,

विषघ्नौषध युक्त विरेचन द्रव्यों का पान कराना चाहिए (गयी तु—'वातं नरं विरेचनं पाययेत् पूर्ववत्, तेन मधुयुक्तमेवे'ति व्याख्यानयति)। **तृतीय** वेग में दूषीविषहर मधु-घृत युक्त अगद का पान, नस्य एवं अञ्जन का प्रयोग हितकर है। **चतुर्थ** वेग के उपचार में चिकित्सक को चाहिए कि वह रोगी को स्नेह (गोघृत) युक्त अगद का पान कराये। **पञ्चम** वेग में अगद को मधु और मुलेठी का क्वाथ मिलाकर पिलाना चाहिए। **षष्ठ** वेग में अतिसार की तरह चिकित्सा करे और अवपीड नस्य देने से सिद्धि प्राप्त होती है। **सप्तम** वेग में भी अवपीड नस्य का प्रयोग करना चाहिए और असाध्य होने के कारण प्रत्याख्याय कर शिर में काकपद आकार का क्षत बनाकर उस पर रक्त युक्त मांस रख देना चाहिए ('वाशब्दश्चानुक्तसमुच्चये, तेन अनुक्तसशोणितचर्मदानं शाखाललाटसिराताडनादिजङ्गमविषोक्तं च समुच्चीयते'–ड.) ॥ ४०-४३ ॥

विमर्श—चरक (चि. २३) में दूषीविष की चिकित्सा विस्तार से है। रक्तस्थ दूषीविष में पञ्चविध सिराकर्म (श्लोक ६३), कफ से मार्गावरोध होने पर शिर में काकपदाकार पछने लगाकर चर्मकषा (सातला) का कल्कलेप और मालकांगनी, मरिच तथा कायफल के चूर्ण का प्रधमन नस्य देने का उल्लेख है। इस वर्णन से यह संकेत भी मिलता है कि आत्ययिक अवस्था में औषध को सीधे रक्त में प्रविष्ट करना आशुफलप्रद होता है। सम्भवतः औषध को सीधे रक्त में भेजने का मानव द्वारा किया गया यह पहला प्रयास था।

बाद की रसशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ-रचनाओं में पारद के योगों को शरीर में सूई से छेद कर सीधे रक्त में प्रविष्ट करने का प्रयोग मिलता है; यथा—'सूचिकाभरणरस' ('तालुनि वृश्चयित्वाऽथ रसमेनं विनिक्षिपेत्। सूच्याऽतिसूक्ष्मया···' र.र.स.) और आजकल तो 'सारी चिकित्सा एक तरफ तथा सूचीवेध चिकित्सा एक तरफ' ('एकतश्च क्रियाः सर्वाः सूचीवेधस्तु चैकतः') मानी जाती है।

वेगान्तरे त्वन्यतमे कृते कर्मणि शीतलाम्। यवागूं सघृतक्षौद्रामिमां दद्याद्विषापहाम् ॥ ४४ ॥
कोषातक्योऽग्निकः पाठासूर्यवल्लयमृताभयाः। शिरीषः किणिही शेलुर्गिर्याह्वा रजनीद्वयम् ॥
पुनर्नवे हरेणुश्च त्रिकटुः सारिवे बला। एषां यवागूर्निष्क्वाथे कृता हन्ति विषद्वयम् ॥ ४६ ॥

वेगों के मध्य की व्यवस्था—सप्तविध वेगों में से किसी भी वेग की चिकित्सा करने के उपरान्त ('प्रकृताद्वेगादन्यो वेगो वेगान्तरम्। अन्यतमे एकतमे। कृते कर्मणि प्रथमादिवेगोक्ते इत्यर्थः') घृत-मधु युक्त, शीतल अधोवर्णित विषहर यवागू पीने को देनी चाहिए—कोषातकी (घोषकः/तोरी), अग्निक (अजमोदः), पाठा, सूर्यवल्ली ('पटोलसदृशपत्रा, यस्याः पत्ररसेनाक्तं मांसं स्विन्नमिव भवति, अन्ये सूर्यावर्तमाहुः'), गिलोय, हरड़, सिरस, किणिही (कटभी), शेलु (श्लेष्मान्तकः, लिसोड़ा), श्वेतपुनर्नवा (गिर्याह्वा), हल्दी, दारुहल्दी, सफेद और पीले फूल वाली दोनों पुनर्नवा, हरेणु, सोंठ, मरिच, पीपल, श्वेत और कृष्ण सारिवा तथा बला—इनके क्वाथ में बनी यवागू दोनों प्रकार के विष (स्थावर और जंगम) को नष्ट करती है ॥ ४४-४६ ॥

मधुकं तगरं कुष्ठं भद्रदारुहरेणवः। पुन्नागैलैलवालूनि नागपुष्पोत्पलं सिता ॥ ४७ ॥
विडङ्गं चन्दनं पत्रं प्रियङ्गुर्ध्यामकं तथा। हरिद्रे द्वे बृहत्यौ च सारिवे च स्थिरा सहा ॥ ४८ ॥
कल्कैरेषां घृतं सिद्धमजेयमिति विश्रुतम्। विषाणि हन्ति सर्वाणि शीघ्रमेवाजितं क्वचित् ॥ ४९ ॥

अजेय घृत—मुलेठी, तगर, कूठ, देवदारु, हरेणु, पुन्नाग (तुङ्गः, पूर्वदिशे प्रसिद्धः/नागकेसर), इलायची, एलवालुक (स्वनामप्रसिद्धम्), नागकेसर, उत्पल (कमल), मिश्री (सिता), वायविडंग, चन्दन, तेजपात, प्रियंगु, ध्यामक (कत्तृण), हल्दी, दारुहल्दी, छोटी और बड़ी कटेरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, शालिपर्णी, मुद्गपर्णी (सहा)—इनके कल्क से घृतपाक करें। यह 'अजेय घृत' विश्रुत योग है जो सभी प्रकार के विषों को नष्ट करता है और कहीं भी असफल नहीं होता है ॥ ४७-४९ ॥

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्ध्वं चाधश्च शोधितम्। पाययेतागदं नित्यमिमं दूषीविषापहम् ॥ ५० ॥
पिप्पल्यो ध्यामकं मांसी शावरः परिपेलवम्। सुवर्चिका ससूक्ष्मैला तोयं कनकगैरिकम् ॥ ५१ ॥
क्षौद्रयुक्तोऽगदो ह्येष दूषीविषमपोहति। नाम्ना दूषीविषारिस्तु न चान्यत्रापि वार्यते ॥ ५२ ॥

दूषीविषारि अगद—दूषीविष से पीड़ित रोगी को स्वेदन के उपरान्त वमन-विरेचन द्वारा (ऊर्ध्वमधश्च) शोधन कराने के उपरान्त दूषीविषहर निम्नलिखित अगद का नित्य पान कराना चाहिए; यथा—पीपल, ध्यामक (कत्तृण), जटामांसी, रोध्र (सावरः), परिपेलव (केवटीमोथा), सुवर्चिका (हुलहुल), छोटी इलायची, तोय (बालकम्, तगर ?/सुगन्धबाला), स्वर्णगैरिक; इनमें मधु मिलाकर प्रयोग करने से यह अगद दूषीविष को नष्ट करता है। इस अगद का नाम 'दूषीविषारि' है और ज्वरादि में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है॥ ५०-५२॥

विमर्श—सुस्विन्नम्—शास्त्र (च.सू. १४।१७) के अनुसार विषाक्तता में स्वेद निषिद्ध है किन्तु यहाँ दूषीविष की चिकित्सा में 'सुस्विन्नम्' कहा है। इस पर डल्हण की सम्मति—'दूषीविषस्य विषत्वेऽपि स्वेदो न निषिध्यते। येन मन्दवीर्यतया कफावरणात् विषवेगेनानुबन्धित्वमस्य, अतः स्वेदेन कफस्यावरकस्य उपशान्तौ अपहार्य विषं कोष्ठगतं शोधनेन सकलमेव ह्रियते'।

ज्वरे दाहे च हिक्कायामानाहे शुक्रसंक्षये। शोफेऽतिसारे मूर्च्छायां हृद्रोगे जठरेऽपि च॥ ५३॥
उन्मादे वेपथौ चैव ये चान्ये स्युरुपद्रवाः। यथास्वं तेषु कुर्वीत विषघ्नैरौषधैः क्रियाम्॥ ५४॥

दूषीविष-उपद्रवचिकित्सा—ज्वर, दाह, हिक्का, आनाह, शुक्रक्षय, शोफ, अतिसार, मूर्च्छा, हृद्रोग, उदररोग, उन्माद, वेपथु (कम्प) तथा अन्य उपद्रवों के उपचार में उन्हीं विषघ्न औषधियों का प्रयोग किया जाता है जो जिस उपद्रव के लिए उपयुक्त होती है॥ ५३-५४॥

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम्। दूषीविषमसाध्यं तु क्षीणस्याहितसेविनः॥ ५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने स्थावरविषविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥



साध्य, असाध्य, प्रत्याख्येय का वर्णन—आत्मवान् व्यक्ति की विषाक्तता तत्काल की गयी चिकित्सा से साध्य, एक वर्ष पुरानी विषाक्तावस्था याप्य और क्षीण तथा अपथ्य सेवन करने वाले की दूषीविषाक्तता असाध्य होती है॥ ५५॥

स्थावर विषों का विशिष्ट विवरण

'अन्ने पाने च प्रायेण स्थावरविषावचारणात्' (डल्हण)। स्थावर और जंगम विषों में स्थावर विषों का वर्णन पहले क्यों किया गया है? इसके उत्तर में डल्हण का कथन है कि 'विषावचारण के लिए खान-पान में स्थावर विषों का प्रयोग अधिक होता है'। संहितात्रयी में जिन स्थावर विषों का वर्णन उपलब्ध होता है उनकी पहचान का वर्णन होते हुए भी अधिकांश के बारे में हमें किसी प्रकार की जानकारी नहीं है। इस अवधि में अनेक प्रकार के रासायनिक विष उपलब्ध होने लगे हैं। इनके लक्षण, मारक मात्रा, विशिष्ट उपचार, इनके प्रतिकारक (Antidote) आदि के बार में आज विशेष जानकारी उपलब्ध हैं। यहाँ इनका संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है—

अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विषों को मुख, गुद, योनि, कर्ण आदि शारीरिक मार्गों से, नस्य आदि के रूप में श्वासमार्ग से, त्वचा पर लेप कर या सूचीवेध कर देते हैं। शरीर में प्रविष्ट विष मल, मूत्र, स्वेद, पित्त या लालास्राव द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। स्थानिक और सार्वदैहिक भेद से विषों की दो प्रकार की क्रिया होती है। अम्ल-क्षारादि स्थानिक और कुचला, अफीम आदि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करते हैं।

विष का शरीर पर प्रभाव कई कारकों (Factors) पर निर्भर करता है; जैसे—मात्रा, तरल या ठोस आदि रूप, शरीर में प्रविष्ट करने की विधि, आयु, विष-सेवन का अभ्यास, रोगी की प्रकृति, निद्रा आना आदि (नींद में विष देर से आचूषित होता है)।

विषों का वर्गीकरण—विषों का यह वर्गीकरण आयुर्वेदोक्त विष-वर्गीकरण से कुछ अंशों में भिन्न प्रकार का है। पाश्चात्य वैद्यक द्वारा किया गया यह वर्गीकरण प्रायः विषों का शरीर के जिस भाग पर प्रभाव पड़ता है उसके अनुसार है; यथा—(१) तन्त्रिकातन्त्र को प्रभावित करने वाले विष—१. निद्रालु, जैसे—अफीम; २. संज्ञा का हरण करने वाले, जैसे—कोकेन, क्लोरोफार्म; ३. मदकारी, जैसे—मद्य, कपूर,

सामान्यतः पाये जाने वाले कुछ विषों के लक्षण और चिकित्सा

विष और लक्षण	चिकित्सा
१. **कार्बोलिक एसिड**—साँस में विशेष प्रकार की गन्ध, मुख-ओष्ठ श्वेत, मुख से आमाशय तक जलन, मूत्र रखने पर काला।	सोडियम सल्फेट से आमाशय-प्रक्षालन, दूध, अण्डा आदि का प्रयोग, गरम पानी की बोतलें शाखाओं में लगाना, कृत्रिम श्वसन की व्यवस्था आदि।
२. **एल्कलीज**—कास्टिक सोडा आदि; मुख, गला, उदर में पीड़ा, होठ-जीभ सूजे हुए, वमन, अतिसार, त्वचा शीतल, स्तब्धता।	आमाशय-प्रक्षालन और वामक द्रव्यों का प्रयोग निषिद्ध, निम्बूजल पीने को दें; दूध, जैतून का तेल, अण्डा, वेदना को दूर करने के लिए मॉर्फीन आदि।
३. **आर्सेनिक कम्पाउण्ड**—ग्रासनली और आमाशय में वेदना, तीव्र प्यास, रक्तयुक्त वमन, तीव्र अतिसार, श्यावता, आक्षेप आदि।	B.A.L. इस विष का उत्तम प्रतिकारक है। इसे अन्तःपेशीय सूचीवेध कर देते हैं। आमाशय-प्रक्षालन, वामक द्रव्यों का प्रयोग, दूध, अण्डे का प्रयोग, जैतून का तेल, बारली वाटर आदि।
४. **बेलाडोना**—मुख, गला खुष्क, स्वरभेद, तारा विस्फारित, स्वर धीमा, सस्वर प्रलाप।	आमाशय-प्रक्षालन, वामक द्रव्य-प्रयोग, लेनिक एसिड का पान, मॉर्फीन का प्रयोग, गरम काफी।
५. **कपूर** (Camphor)—विशेष प्रकार की गन्ध, मानसिक उद्वेग, भ्रम, उदरशूल।	आमाशय-प्रक्षालन, वमन करायें, गरम पानी की बोतलें, कृत्रिम श्वसन, आक्षेप हों तो क्लोरल हाइड्रेट।
६. **ताम्र** (Blue vitriol)—लालास्राव, वमन, अतिसार, भ्रम।	दूध तथा अण्डा बड़ी मात्रा में दें। बाद में आमाशय-प्रक्षालन या वमन कराये, लक्षणानुसार चिकित्सा करें।
७. **आयोडीन**—गले तथा आमाशय में जलन, आयोडीन की गन्ध, वमन, अतिसार, तीव्र प्यास।	आमाशय-प्रक्षालन, वामक द्रव्य, स्टार्च, चावल, यवजल दें। सोडा-बाइकार्ब पानी में दें तथा लाक्षणिक उपचार करें।
८. **पारद के यौगिक**—मुख, गला, आमाशय में जलन, गले में घुटन, वमन, अतिसार (जलीय, रक्तयुक्त)।	B.A.L. का अन्तःपेशीय प्रयोग (Specific antidote), अण्डा-दूध बड़ी मात्रा में देकर वमन, वेदना के लिए अहिफेन, लाक्षणिक उपचार।
९. **अहिफेन**—(मार्फीन, हीरोइन आदि) शिरः-शूल, चक्र आना, Pin-point pupils, त्वचा शीतल, चिपचिपी (Clammy), श्वास धीमा।	रोगी को जगाये रखें, पोटेशियम परमैंगनेट का घोल ($\frac{1}{5}$ प्रतिशत) से आमाशय-प्रक्षालन, गरम काफी पिलावें, एट्रॉफिन $\frac{1}{50}$ ग्रेन, कृत्रिम श्वसन।
१०. **गुञ्जा**—तन्त्रिकातन्त्र प्रभावित, टिटेनस के लक्षण, मूर्च्छा।	डेढ़ से दो ग्रेन घातक मात्रा। एण्टि-एब्रिन नामक इंजेक्शन लाभकर, शेष चिकित्सा सामान्य विषसदृश।
११. **धतूरा**—उन्माद, मूर्च्छा, आमाशय में दाह, रोगी चलने में लड़खड़ाता है, अँगुलियों से तागे खींचने जैसी क्रिया।	१०-१५ ग्रेन बीज घातक मात्रा, आमाशय-प्रक्षालन, वामक द्रव्य, पाइलोकार्पीन इंजेक्शन, शिर पर ठण्डा जल डालना।

तारपीन का तेल; ४. प्रलापकर, जैसे—धतूरा आदि। (२) हृदय को प्रभावित करने वाले विष—१. तम्बाकू, २. डिजिटेलिस, ३. वत्सनाभ आदि। (३) फुफ्फुसों को प्रभावित करने वाले विष—१. कार्बनडाइऑक्साइड और २. मोनोऑक्साइड गैस।

विषों के १. दाहक (Corrosives) और २. क्षोभक (Irritant) भेद भी किये जाते हैं। **दाहक विष**—जैसे तीव्र अम्ल (Acid), क्षार, कास्टिक सोडा आदि और **क्षोभक विष**—जैसे पारद, संखिया, काँच, आयोडीन, जमालगोटा, मदार, गुञ्जा आदि।

विषाक्त व्यक्ति की चिकित्सा—यह इस बात पर निर्भर करती है कि प्रयुक्त विष किस वर्ग का है, कौन-सा है जो सदा ही एक कठिन कार्य है। इस समय का एक-एक क्षण रोगी के जीवन के लिए नितान्त मूल्यवान् होता है। विष का निर्णय रोगी पर हुए प्रभाव की जाँच कर किया जा सकता है। यदि स्वस्थ रोगी कुछ खाने-पीने के तुरन्त पश्चात् विषाक्त लक्षणों से युक्त होता है अथवा वमन में विष के चिह्न पाये जायें तो इससे विष की सम्भावना दृढ़ होती है। यदि रोगी मृत है तो सहसा मृत्यु का कारण पोटाशियम सायनाइड, शुद्ध अमोनिया आदि विष हो सकते हैं। अफीम, मद्य आदि से रोगी मूर्च्छितावस्था में होता है। मीठा तेलिया, संखिया से रोगी को हृदयावसाद होता है। भाँग, कर्पूरादि से रोगी प्रलाप करता है। मांसपेशियों में आक्षेप हो रहे हों तो कुचला, संखिया कारण सम्भव है। इसी प्रकार नेत्रों के तारे, त्वचा का शुष्क या तर होना, पिडकाएँ निकलना आदि की जाँच से विष के बारे में जानकारी मिलती है।

यदि निश्चय न हो पा रहा हो तो आमाशय-प्रक्षालन आरम्भ कर देना चाहिए और वामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। जिन विषों में आमाशय-प्रक्षालन निषिद्ध है उनका निर्णय आसानी से हो जाता है, जैसे—अम्ल या अन्य दाहक द्रव्य।

चिकित्सक को चाहिए कि वह ऐसे रोगियों का पूरा विवरण अपने रोगियों के रजिस्टर में दर्ज करे। किसी के द्वारा विष देने या आत्महत्या का सन्देह हो तो पुलिस को खबर करनी चाहिए।

विषों के प्रतिकारक (Antidote) कई तरह के होते हैं; जैसे—पिसा हुआ कोयला, आटा, खड़िया, अम्ल में क्षार, क्षार में अम्ल, माफिया में एट्रोपीन, आयोडाइड आव् स्टार्च, पोटाशियम परमेंगनेट आदि।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'स्थावरविषविज्ञानीय' नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ २॥



अध्याय-सारांश

'स्थावरविषविज्ञानीय' नामक इस अध्याय में स्थावर विषों (Inanimate poisons) के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है।

विषों को दो प्रकार का—स्थावर (Inanimate) और जङ्गम (Animate) बताया है। स्थावर विषों के अधिष्ठान (Sources) १० तथा जङ्गम विषों के अधिष्ठान १६ हैं (३)।

मूल, पत्र, फलादि दश अधिष्ठानों में प्रत्येक के द्रव्य पृथक्-पृथक् गिनाये गये हैं (५) तथा इनसे विषाक्त होने पर शरीरव्यापी लक्षणों का उल्लेख भी किया गया है (७-१७)।

विषों के दश गुण और उनसे वातादि दोषों का प्रकोप (१९-२४), दूषीविष का लक्षण (२६), शरीर पर इसका प्रभाव (२९), दूषीविष की निरुक्ति (३३)।

स्थावर विष के प्रथम वेगादि लक्षण एवं चिकित्सा (३४-४३), विषघ्न यवागू (४४-४६), विषहर अजेयसंज्ञक घृत (४७-४९), दूषीविष की चिकित्सा (५०-५२), दूषीविष के उपद्रवों की चिकित्सा (५३-५४), दूषीविष की साध्यासाध्यता का वर्णन (५५)।



तृतीयोऽध्यायः

अथातो जङ्गमविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'जङ्गमविषविज्ञानीय' (The Doctrine of the Science of Animate Poisons) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

जङ्गमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानानि षोडश। समासेन मया यानि विस्तरस्तेषु वक्ष्यते ॥ ३ ॥

संक्षेप में जंगम विष के जो मैंने सोलह अधिष्ठान कहे हैं (सु.क. २।३; 'द्वितीयं षोडशाश्रयम्') उनका विस्तार से वर्णन किया जायेगा ॥ ३ ॥

तत्र दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसन्दंशविशर्धिततुण्डास्थिपित्तशूकशवानीति ॥ ४ ॥

जंगम विषों के अधिष्ठान—जंगम विषों के अधिष्ठान (आश्रय) इस प्रकार हैं—१. दृष्टि, २. निःश्वास (फूत्कारः), ३. दंष्ट्रा, ४. नख, ५. मूत्र, ६. पुरीष, ७. शुक्र, ८. लाला (Saliva), ९. आर्तव, १०. मुख, ११. सन्दंश, १२. विशर्धित ('पायुकृतः कुत्सितशब्दः'), १३. 'तुण्डास्थि' (गुदास्थि–पाठान्तर), १४. पित्त, १५. शूक (कीटलोमः) और १६. शव ('कीटानां सर्पाणां च विगतप्राणानां देहः शवः')—ये १६ जंगम विषों के अधिष्ठान हैं ('वृद्धवाग्भटश्च विशर्धितगुदस्थाने स्पर्शशोणिते पठति'–उ.स्था.अ. ४०) ॥ ४ ॥

विमर्श—जङ्गमस्य त्वाश्रयाः षोडश—'दृष्टिनिःश्वासस्पर्शमुखनखास्थिमूत्रपुरीषशुक्रार्तवलालाशूकपित्तशोणितशवानि' इति (वृद्धवाग्भट उ.अ. ४०)।

तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः, भौमास्तु दंष्ट्राविषाः, मार्जारश्ववानरमकरमण्डूकपाकमत्स्यगोधाशम्बूकप्रचलाकगृहगोधिकाचतुष्पादकीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः, चिपिटपिच्चिटककषायवासिकसर्षपकतोटकवर्चःकीटकौण्डिन्यकाः शकृन्मूत्रविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः, लूता लालामूत्रपुरीषमुखसन्दंशनखशुक्रार्तवविषाः, वृश्चिकविश्वम्भरवरटीराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गः समुद्रवृश्चिकाश्चाल(र)विषाः, चित्रशिरःसरावकुर्दिशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसन्दंशविशर्धितमूत्रपुरीषविषाः, मक्षिकाकणभजलायुका मुखसन्दंशविषाः, विषहतास्थि सर्पकण्टकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि, शकुलीमत्स्यरक्तराजिवरकी(टी)मत्स्याश्च पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटीशतपदीशूकवल्लभिकाशृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः, कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः; शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः ॥ ५ ॥

दृष्टि आदि विषाधिष्ठान—दिव्य (दिवि भवाः दिव्याः) सर्पों की दृष्टि एवं निःश्वास मात्र से विषाक्तता हो जाती है (एतत्प्रायिकम्, सर्वेऽपि सर्पा दंशायतनविषाः; तथाहि सावित्रे—'सर्व एते सर्पाः दंशविषा भवन्ति मलदशनदंष्ट्रा चक्षुर्लालानिःश्वासेन्द्रियमूत्रपुरीषपुच्छैः' इति); भौम (भूमौ भवा भौमाः) सर्प दंष्ट्राविष अर्थात् दाँतों में विष वाले होते हैं। जिनके दाँतों और नाखूनों दोनों में विष होता है वे हैं—बिल्ली, कुत्ता (अत्र मार्जारोक्त्यैव व्याला व्याघ्रादयोऽभिप्रेताः), वानर, मकर (जलजन्तुरित्येके, अन्ये तु आग्नेयकीटपठितं मकराकारत्वेन मकरम्), मेंढक, पाकमत्स्य (पाकमत्स्योऽपि आग्नेयेष्वेव पठितः कीटविशेषः), गोह (पञ्चनखी सौम्यकीटपठिताः कृष्णशब्दस्य लोपात् कृष्णगोधा इत्यन्ये), शम्बूक, प्रचालक (सौम्यकीटपठितं कीटविशेषमाहुः), गृहगोधिका (छिपकली) और चतुष्पाद कीट ('प्रतिसूर्यकादयः; तथाऽन्ये मशकमक्षिकादयश्च कीटाः। एते कीटविशेषाः देशान्तरे लोकतो ज्ञेयाः'–ड.) तथा इसी तरह के अन्य कीट।

जिनके मल और मूत्र में विष होता है, वे हैं—चिपिट, पिच्चटक (चिच्चड), कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्चःकीट और कौण्डिन्यक। मूषिका (चूहा) के शुक्र में विष होता है। मकड़ियों के लार, मूत्र, मल, मुखसन्दंश, नख, शुक्र और आर्तव में विष होता है। आर (डंक/'आरशब्देनात्र वृश्चिकलाङ्गूलादिस्थितः कण्टको भण्यते') में जिनके विष होता है वे हैं—बिच्छू, विश्वम्भर, वरटी (ततैया), राजीवमत्स्य, उच्चिटिङ्ग और समुद्री बिच्छू (तस्य = आरस्य च स्थूलशूकरूपत्वात् शूकग्रहणेनैव ग्रहणम्, अत एव दृष्टिनिःश्वासेत्यादिसूत्रे पृथक् नोदाहृतमारग्रहणम्')।

चित्रशिर, सराव, कुर्दि, शतदारुक, अरिमेदक, शारिकामुख, मुखसन्दंश और विशर्धित—इनके मूत्र, पुरीष में विष होता है। मुखसन्दंश (मुख की पकड़) में जिनके विष होता है वे हैं—मक्षिका, कणभ और जलायुका। अस्थि में जिनके विष है वे प्राणी हैं—विषहतास्थि (विष से मरे हुए की अस्थि), सर्प, कण्टकवरटी और मत्स्य ('वरटीमत्स्ययोः स्थाने केचिदेकमेव वरटीमत्स्यं पठन्ति')।

शकुलीमत्स्य, रक्तराजी और वरकीमत्स्य—इनके पित्त में विष होता है। सूक्ष्मतुण्डा, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी, शूकवल्लभिका, शृंगी और भ्रमर—इनके शूक और तुण्ड (मुख) में विष होता है। कीट और सर्प के शवों में विष होता है।

जो कीट शेष रह गये हैं उनका समावेश 'मुखसन्दंश विषों' में किया जाता है॥ ५॥

विमर्श—

जंगम विषों के अधिष्ठान

अधिष्ठान	विषैले प्राणी
१. दृष्टि विष	दिव्य सर्प
२. निःश्वास विष	दिव्य सर्प
३. दंष्ट्राविष	भौम सर्प
४. दंष्ट्रा और नख विष	बिल्ली, कुत्ता, वानर, मकर, मण्डूक, पाकमत्स्य, गोह, शम्बूक, प्रचालक, गृहगोधिका, चतुष्पादकीट।
५. शकृत् और मूत्र विष	चिपिट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्चःकीट, कौडिन्यक।
६. शुक्रविष	नाना प्रकार के मूषक।
७. लाला, मूत्र, पुरीष, मुखसंदंश, नख, शुक्र	नाना प्रकार की मकड़ियाँ (लूताएँ)।
८. आर्तवविष	नाना प्रकार की मकड़ियाँ (लूताएँ)।
९. शूक (आर)	वृश्चिक, विश्वम्भर, वरटी, राजीमत्स्य, उच्चिटिंग, समुद्र वृश्चिक।
१०. मूत्र-पुरीषविष	चित्रशिर, सराव, कुर्दि, शतदारुक, अरिमेदक, शारिकामुख, मुखसंदंश, विशर्धित।
११. मुख विष	मक्षिका, कणभ, जलायुक।
१२. सन्दंश विष	मक्षिका, कणभ, जलायुक।
१३. अस्थिविष	विषहतास्थि, सर्षप, कण्टकवरटी, मत्स्य।
१४. पित्तविष	शकुलीमत्स्य, रक्तराजी, वरटीमत्स्य।
१५. शूकतुण्ड विष	सूक्ष्मतुण्ड, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी, शूकवल्लभिका, शृंगी, भ्रमर।
१६. शव (मृतदेह) विष	मृत कीट, सर्पदेह (मृतशरीर)।

आसाम के घने जंगलों में 'Spitting cobra' पाया जाता है, जो एक मीटर की दूरी तक थूक फेंक कर अपने विष से शिकार को विषाक्त कर देता है।

भवन्ति चात्र—

राज्ञोऽरिदेशे रिपवस्तृणाम्बुमार्गान्नधूमश्वसनान् विषेण।
सन्दूषयन्त्येभिरतिप्रदुष्टान् विज्ञाय लिङ्गैरभिशोधयेत्तान्॥ ६॥

राजा की सुरक्षा हेतु सावधानी—शत्रु देश में गये राजा के दुश्मन राजा के घास, जल, मार्ग, अन्न, धूम, वायु को विशेष कर अत्यधिक दूषित कर देते हैं। अतः दूषित हुए तृणादि को लक्षणों से पहचान कर इनके शोधन की व्यवस्था करें॥ ६॥

विमर्श—पुराकाल में तृणादि को किस विष से किस प्रकार दूषित करते थे, इसका विस्तृत विवरण नहीं मिलता है। यह प्रथा आज के सभ्य देशों में अभी भी जीवित है। जहरीले एवं अग्निसम पदार्थों (गैसों) का विगत विश्वयुद्ध तथा एक-दो देशों की परस्पर लड़ाई में निर्बाधरूप से प्रयोग हुआ है जिसमें कुछ ही क्षणों में लाखों मानव काल-कवलित हुए हैं और जो व्रणित हुए उन्हें जीवनभर वर्षों तक नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। यह 'Chemical warfare poisoning' है।

दुष्टं जलं पिच्छिलमुग्रगन्धि फेनान्वितं राजिभिरावृतं च।
मण्डूकमत्स्यं म्रियते विहङ्गा मत्ताश्च सानूपचरा भ्रमन्ति॥ ७॥
मज्जन्ति ये चात्र नराश्वनागास्ते छर्दिमोहज्वरदाहशोफान्।
ऋ(ग)च्छन्ति तेषामपहृत्य दोषान् दुष्टं जलं शोधयितुं यतेत॥ ८॥

दूषित जल तथा उनके प्रयोग से होने वाले लक्षण—दूषित जल चिपचिपा (पिच्छिल), तीव्र गन्ध वाला, झागदार, कृष्णादि वर्ण की धारियों वाला होता है। इस जल के पान से मेंढक, मछलियाँ मर जाती हैं तथा पक्षी एवं आनूपचर प्राणी उन्मत्त होकर भ्रमण करने लगते हैं। इस दूषित जल में जो मनुष्य, घोड़ा और हाथी स्नान करता है वह वमन, मोह, ज्वर, दाह और शोफ से पीड़ित हो जाता है। ऐसी दशा में दूषित जल से उत्पन्न दोषों को दूर कर दुष्ट जल को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ७-८॥

विमर्श—आठवें श्लोक में वर्णित चिकित्साक्रम की विशेषता यह है कि इसमें रोगग्रस्त प्राणियों के जीवन की रक्षा को प्राथमिकता दी गयी है। जलशोधन के प्रयास का स्थान दूसरा है।

धवाश्वकर्णासनपारिभद्रान् सपाटलान् सिद्धकमोक्षकौ च।
दग्ध्वा सराजद्रुमसोमवल्कांस्तद्भस्म शीतं वितरेत् सरःसु॥ ९॥
भस्माञ्जलिं चापि घटे निधाय विशोधयेदीप्सितमेवमम्भः।

दुष्टजलशोधक औषध—धव (वाकली/*Anogeissus latifolia*), अश्वकर्ण ('पूर्वदेशे प्रसिद्धः गन्धमुण्डोऽश्वत्थसदृशः'), असन (बीजकः/विजयसार), पारिभद्र ('फलभद्रो रक्तकुसुमः कण्टकी रोहिणीसदृशपत्रः पूर्वदेशे प्रसिद्धः'), पाटला (पाढल), सिद्धक (स्यन्दन), मोक्षक (मुष्कक), आरग्वध और सोमवल्क (कट्फल)—इनको जलाकर इनकी शीतल भस्म को तालाबों में डाल दें ('सरःसु इति बहुवचनमवहज्जलोपलक्षणम्, वहज्जलानां दूषणमेव दुष्करम्')। इस भस्म को एक अञ्जलि प्रमाण लेकर घड़े में डाल दें और अपनी इच्छानुसार जलशोधन करें॥ ९॥

विमर्श—'अञ्जलिं चतुःपलम्, तं च घटे द्रोणप्रमिते जले निधाय निःक्षिप्य ईप्सितं वाञ्छितं शोधयेत्। जेज्जटाचार्यस्तु घटं घर्घरीमित्याह' (ड.)।

प्रारम्भिक आर्यसंस्कृति का जीवन ग्राम-प्रधान था। अतः आर्य-वैद्यक में पेयजल-शोधनविधियों का सीमित होना स्वाभाविक है। एतदर्थ जलशुद्धि के जो भी तरीके बताये गये हैं उनके महत्त्व एवं विश्वसनीयता को आज भी नकारा नहीं जा सकता है। सुश्रुत (द्रवद्रव्यविज्ञानीय नामक अध्याय ४५, सूत्रस्थान) का

कथन है—'व्यापन्नस्य चाग्निक्वथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च कर्तव्यम्' (सु.सू. ४५।१२)।

किन्तु लाखों की संख्या वाले नगरनिवासियों के लिए जलशोधनार्थ भिन्न प्रकार की व्यवस्था करनी होती है। सम्प्रति जल की पानार्थ शुद्धि निम्नलिखित प्रकार से होती है—१. भौतिक क्रियाओं द्वारा; जैसे—जल का स्रावण या उबालना। २. रासायनिक क्रियाओं द्वारा; जैसे—चूना, फिटकरी, निर्मली, परक्लोराइड आव् मरकरी। इनसे जल में उपस्थित अशुद्धियाँ नीचे बैठ जाती हैं। ३. यान्त्रिक साधनों द्वारा—ये निस्यन्दक (Filter) विधियाँ हैं ('घनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम्'–अ.सं.)।

अब पेयजलशुद्ध्यर्थ गैसों का प्रयोग होने लगा है। एतदर्थ विविध यन्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं।

क्षितिप्रदेशं विषदूषितं तु शिलातलं तीर्थमथेरिणं वा॥ १०॥
स्पृशन्ति गात्रेण तु येन येन गोवाजिनागोष्ट्रखरा नरा वा।
तच्छूनतां यात्यथ दह्यते च विशीर्यते रोमनखं तथैव॥ ११॥
तत्राप्यनन्तां सह सर्वगन्धैः पिष्ट्वा सुराभिर्विनियोज्य मार्गम्।
सिञ्चेत् पयोभिः सुमृदन्वितैस्तं विडङ्गपाठाकटभीजलैर्वा॥ १२॥

विषदूषित भूमि का दुष्प्रभाव और उपचार (Soil poisoning and its management)—जहरीली जमीन, शिलातल, नदियों के घाट और ऊषर (ईरिणम् = ऊष क्षारमृत्तिका का नाम है और क्षार भूमि ऊषर या ईरिण कहलाती है—'ऊषः क्षारमृत्तिका। ऊषवानूषरो द्वावपि'–अ.को.) भूमि के विष दूषित किये जाने पर उसको यदि गौ, घोड़ा, हाथी, ऊँट, गधा या मनुष्य स्पर्श करता है तो सूजन, जलन हो जाते हैं तथा इनके बाल और नाखून झड़ जाते हैं। इस दशा के उपचार में अनन्ता (सारिवा) और सर्वसुगन्धित द्रव्यों (एलादि गण) का सुरा के साथ पीसकर (सुराभिरिति बहुवचनात् मधुगुडपिष्टकृताभिः) मार्ग आदि में छिड़कना चाहिए। अथवा वमी की मिट्टी, विडंग, पाठा और कटभी—इनको दूध में मिलाकर या इनका क्वाथ बनाकर इसका शिलातल आदि पर छिड़काव करें॥ १०-१२॥

विमर्श—अन्ये त्वेवं पठन्ति—'तत्राप्यनन्तां सहसर्वगन्धैर्वचां तु पिष्ट्वा सुरया च मार्गम्। सिञ्चेत्तथा मृत्सहिताभिरद्भिर्मार्गं तथाऽन्यो यदि तेन गच्छेत्'॥ **सर्वगन्धैः**—'चतुर्जातककर्पूरकङ्कोलागुरुकुङ्कुमम्। लवङ्गसहितं चैव सर्वगन्धं प्रकीर्तितम्'–इति वाचस्पत्ये।

तृणेषु भक्तेषु च दूषितेषु सीदन्ति मूर्च्छन्ति वमन्ति चान्ये।
विड्भेदमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते तेषां चिकित्सां प्रणयेद्यथोक्ताम्॥ १३॥
विषापहैर्वाऽप्यगदैर्विलिप्य वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत।
तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सर्वैश्च तुल्यः कुरुविन्दभागः॥ १४॥
पित्तेन युक्तः कपिलान्वयेन वाद्यप्रलेपो विहितः प्रशस्तः।
वाद्यस्य शब्देन हि यान्ति नाशं विषाणि घोराण्यपि यानि सन्ति॥ १५॥

तृण-भोजनादि के दूषित किये जाने पर लक्षण एवं चिकित्सा (Grass and fooder poisoning)—तृण (घास आदि) भोजन पदार्थ आदि को दूषित किये जाने पर इनके सेवन से अंग ग्लानि युक्त हो जाते हैं, मूर्च्छा होती है, वमन आते हैं, अतिसार होता है या मृत्यु हो जाती है। इस दशा का यथोक्त उपचार (विषापहर द्रव्यों के प्रयोग द्वारा) करना चाहिए। अथवा—

विषघ्न वाद्यलेप—चाँदी (तारः), पारद (सुतारः), स्वर्ण (सुरेन्द्रं/सुवर्णम्), गोप (सारिवा)—इन सबके समान मोथा (कुरुविन्दः, निशानपाषाण इत्यन्ये) को कपिलवर्णा गौ के पित्त में पीसकर वाद्ययन्त्रों पर लेप करें। इन बाजों की आवाज से घोर-भयंकर विष भी नष्ट हो जाते हैं॥ १३-१५॥

विमर्श—'उत्तमलोहितरत्नं कुरुविन्द इत्येके' (ड.)। कुरुविन्द षष्टिक धान्य का नाम भी है। अमरसिंह के अनुसार—'कुरुविन्दो मेघनामा मुस्ता मुस्तकमस्त्रियाम्'।

भक्तेषु—भोज्य पदार्थों के ग्रहण करने के उपरान्त (खाने के बाद) जहरीला प्रभाव होने को आहार-विष (Food poisoning) कहते हैं। प्रायः इस प्रकार के आहार में जीवाणु विष (Toxins) विशेषकर 'Salmonella' श्रेणी के या स्टेफिलोकोकाई जीवाणु उपस्थित होते हैं। इसके विशिष्ट लक्षणों में अलर्जी, रुग्णानुभूति, आमाशयान्त्र-विकार, शीतपित्त आदि होते हैं। बॉटुलिज्म (Botulism/विशेष प्रकार के जीवाणुओं से युक्त आहार के सेवन से होने वाले घातक लक्षण), चक्कर आना, दृष्टिविकार (द्विदृष्टिता/Diplopia) आदि होते हैं। साल्मोनिल्ला कारण हो तो हृल्लास, वमन, अतिसार होते हैं। विषयुक्त फंगाई कारण हो तो दुर्बलता अधिक, उदरशूल, वमन, अतिसार आदि लक्षण पाये जाते हैं। इनके उपचार में सोडाबाईकार्ब के घोल से आमाशय-प्रक्षालन, ग्लूकोज-लवण घोल का अन्तःसिरीय प्रयोग आदि को आवश्यकतानुसार प्रयोग करते हैं।

धूमेऽनिले वा विषसम्प्रयुक्ते खगाः श्रमार्ताः प्रपतन्ति भूमौ।
कासप्रतिश्यायशिरोरुजश्च भवन्ति तीव्रा नयनामयाश्च॥ १६॥
लाक्षाहरिद्रातिविषाभयाब्दहरेणुकैलादलवक्रकुष्ठम् ।
प्रियङ्गुकां चाप्यनले निधाय धूमानिलौ चापि विशोधयेत॥ १७॥

विषयुक्त धूम और वायु के लक्षण तथा चिकित्सा—धूम अथवा वायु विषाक्त हो तो उसमें साँस लेने वाले पक्षी श्रान्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। मनुष्यों में इससे कास, प्रतिश्याय, शिरोवेदना और तीव्र नेत्ररोग हो जाते हैं। विषाक्त धूम एवं वायु के शोधन के लिए लाख, हल्दी, अतीस, हरीतकी, नागर मोथा, हरेणु, एला, दल (तेजपात), वक्र (तगर), कूठ और प्रियंगु—इनके चूर्ण को आग में डालना चाहिए॥ १६-१७॥

प्रजामिमामात्मयोनेर्ब्रह्मणः सृजतः किल। अकरोदसुरो विघ्नं कैटभो नाम दर्पितः॥ १८॥
तस्य क्रुद्धस्य वै वक्त्राद्ब्रह्मणस्तेजसो निधेः। क्रोधो विग्रहवान् भूत्वा निपपातमतिदारुणः॥
स तं ददाह गर्जन्तमन्तकाभं महाबलम्। ततोऽसुरं घातयित्वा तत्तेजोऽवर्धताद्भुतम्॥ २०॥
ततो विषादो देवानामभवत्तं निरीक्ष्य वै। विषादजननत्वाच्च विषमित्यभिधीयते॥ २१॥
ततः सृष्ट्वा प्रजाः शेषं तदा तं क्रोधमीश्वरः। विन्यस्तवान् स भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च॥ २२॥

विषोत्पत्ति का पौराणिक विवरण—जिस समय आत्मयोनि ब्रह्मा इस संसार की रचना कर रहे थे उस समय कैटभ नामक मदमस्त असुर ने विघ्न उत्पन्न कर दिया। इससे क्रुद्ध तेजोराशि ब्रह्मा के मुख से क्रोध अतिभयंकर शरीर धारण कर (पृथ्वी पर) आ पहुँचा। उस पुरुष रूप क्रोध ने यमराज सदृश महाबलशाली गरजते हुए उस कैटभ नामक असुर को भस्मसात् कर दिया। तदनन्तर उस अद्भुत असुर को मारने के बाद उस मूर्तिमान् क्रोध का तेज बढ़ने लगा। तत्पश्चात् उस तेज को देखकर देवताओं को विषाद हुआ। इस तरह का विषाद उत्पन्न करने के कारण उसे 'विष' कहा जाता है। उसके बाद ब्रह्मा ने शेष प्रजा की रचना की और उस क्रोध के तेज की स्थावर और जंगम द्रव्यों में स्थापना कर दी॥ १८-२२॥

विमर्श—विष की उत्पत्ति का वर्णन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया गया है।

यथाऽव्यक्तरसं तोयमन्तरीक्षान्महीगतम्। तेषु तेषु प्रदेशेषु रसं तं तं नियच्छति॥ २३॥
एवमेव विषं यद्यद्द्रव्यं व्याप्यावतिष्ठते। स्वभावादेव तं तस्य रसं समनुवर्तते॥ २४॥

विषस्य नाना वीर्यों का हेतु—जिस प्रकार आकाश से भूमि पर आया जल अव्यक्त रस होता है अर्थात् उसमें कोई भी लवणादि रस नहीं होते हैं किन्तु जिस प्रकार की भूमि पर वह गिरता है उसी तरह

के रस को प्राप्त कर लेता है; उसी प्रकार विष भी जिस प्रकार के द्रव्य को प्राप्त करता है अर्थात् जैसे द्रव्य में स्थित होता है स्वभावतः वह उसी तरह के रस को ग्रहण कर लेता है॥ २३-२४॥

विमर्श—'यथा जलमेकरसमप्यन्तरीक्षात् पतितं भूमिगतं तेषु तेषु प्रदेशेषु आकाशगुणभूयिष्ठादिषु रसं तं तं नियच्छति एवमेव विषं यद्यद्द्रव्यं प्राप्य अवतिष्ठते स्वभावादेव तस्य रसं समनुवर्तते (ड.)।

विषे यस्माद्गुणाः सर्वे तीक्ष्णाः प्रायेण सन्ति हि। विषं सर्वमतो ज्ञेयं सर्वदोषप्रकोपणम्॥ २५॥

ते तु वृत्तिं प्रकुपिता जहति स्वां विषार्दिताः। नोपयाति विषं पाकमतः प्राणान् रुणद्धि च॥ २६॥

श्लेष्मणाऽऽवृतमार्गत्वादुच्छ्वासोऽस्य निरुध्यते। विसंज्ञः सति जीवेऽपि तस्मात्तिष्ठति मानवः॥

विष का सर्वदोषप्रकोपण गुण (Poisons aggravate all the *doṣas*)—विष में भी गुण विशेषकर तीक्ष्ण गुण रहते हैं। अतः सभी विषों को सर्वदोषप्रकोपक समझना चाहिए। इस प्रकार प्रकुपित दोष विषपीड़ित होने पर अपने-अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं अर्थात् वायु प्रस्पन्दनादिक स्वभाव को, पित्त रागपक्त्यादिक स्वभाव को और कफ सन्धिसंश्लेष्मादिक स्वभाव को त्याग देते हैं। इस प्रकार विष पाक को प्राप्त न होने के कारण प्राणावरोध कर देता है। प्रकुपित श्लेष्मा के कारण विषाक्त व्यक्ति का उच्छ्वास अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार रोगी जीवित होते हुए भी बेहोश पड़ा रहता है॥ २५-२७॥

विमर्श—अत्र डल्हणः—'यस्मात् विषे ये गुणाः सन्ति ते सर्वे स्वभावतः सर्वच्छादकधातुविरोधेन तीक्ष्णा आशुकारिणः, प्रायेण तेजोरूपक्रोधात्मकत्वात् विषस्य, अतः सर्वमेव विषं सर्वदोषप्रकोपणम्'।

शुक्रवत् सर्वसर्पाणां विषं सर्वशरीरगम्। क्रुद्धानामेति चाङ्गेभ्यः शुक्रं निर्मन्थनादिव॥ २८॥

तेषां वडिशवद्दंष्ट्रास्तासु सज्जति चागतम्। अनुद्वृत्ता विषं तस्मान्न मुञ्चन्ति च भोगिनः॥ २९॥

सर्पदंश में विषमोचन-प्रक्रिया—जिस प्रकार मानव-शरीर में शुक्रधातु को सर्वशरीरगत माना जाता है और निर्मन्थन (विशिष्टस्त्रीवराङ्गविलोडनहेतुः) से अंग (शिश्न) द्वारा बाहर निकलने की क्रिया सम्पन्न होती है उसी प्रकार विष भी सर्पों के सारे शरीर में व्याप्त होता है और उनके क्रुद्ध होने पर अंग (विष दंष्ट्रा) से बाहर आता है। इस प्रकार आया हुआ विष (क्रुद्ध सर्प के) बडिश (Hook) के आकार के दाँतों में पहुँच जाता है। इसी कारण सर्प बिना क्रोध के विष त्याग नहीं करते हैं ('कर्षणकृतपरावृत्या हि दंष्ट्राणाम् अधोमुखतेति')॥ २८-२९॥

विमर्श—चरक (चि. २३।१६४) के 'सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद्विषं सर्पो विमुञ्चति' इस कथन पर चक्रपाणि कहते हैं—'सर्वदेहाश्रितमपि दंष्ट्रास्वेव विषं विशेषेण ज्ञेयम्; यथा शुक्रं सर्वशरीरगमपि वृषणयोरेव विशेषेणावतिष्ठते'।

सर्पदंश-विधि—सभी विषैले सर्पों में विषदंष्ट्रा (Fangs) होती हैं जिनमें से होकर सर्पविष (Venom) अन्तः प्रविष्ट किया जाता है। ये विषदंष्ट्रा अन्दर से खोखले (Grooved or tubular) होते हैं। ये दाँत संख्या में दो होते हैं और ऊपर के जबड़े (Upper jaw) के अग्र भाग से जुड़े होते हैं। ऊपर के जबड़े के दोनों ओर आँखों के नीचे और पीछे दो विषग्रन्थियाँ (Poison glands) होती हैं। इन ग्रन्थियों से लगी हुई प्रणालियाँ (Ducts/दोनों ओर एक-एक) होती हैं जो विष को विषदंष्ट्रा के मूल तक पहुँचाती हैं। जब जहरीला साँप काटता है तो उस समय ये ग्रन्थियाँ सिकुड़ती हैं और विष प्रणालियों में से होता हुआ विषदंष्ट्राओं में चला जाता है और इस प्रकार शिकार के शरीर में इंजेक्ट कर दिया जाता है। विषरहित (Nonpoisonous) सर्पों के विषदंष्ट्रा नहीं होती है। इनकी अपेक्षा छोटे-छोटे कई दाँत होते हैं।

भारतवर्ष में सामान्यतः पाये जाने वाले जहरीले साँप हैं—१. कोबरा (Cobras), २. क्रैट (Kraits), ३. वाइपर (Vipers) और ४. समुद्री सर्प। कोबरा के भारत में दो रूप पाये जाते हैं—१. कोबरा और २. किंग कोबरा। क्रेट अत्यधिक जहरीला साँप है। इसके भेद हैं—१. Common krait, २. Banded krait।

वाइपर किस्म के साँपों की श्रेणी में आते हैं—१. Pit vipers, २. Pitless vipers। पिटलेस्स के भेद हैं—१. Russels viper या Doboia। सभी समुद्री साँप विषैले होते हैं। इनकी पूँछ चपटी होती हैं।

वाग्भट का यह कथन चिन्त्य है—'निर्विषं द्वयमत्राद्यमसाध्यं पश्चिमं वदेत्' (उ. ३६।१३)।

यस्मादत्यर्थमुष्णं च तीक्ष्णं च पठितं विषम्। अतः सर्वविषेषूक्तः परिषेकस्तु शीतलः ॥ ३० ॥
मन्दं कीटेषु नात्युष्णं बहुवातकफं विषम्। अतः कीटविषे चापि स्वेदो न प्रतिषिध्यते ॥ ३१ ॥
कीटैर्दष्टानुग्रविषैः सर्पवत् समुपाचरेत्।

विष-चिकित्सा—विष को अत्यन्त उष्ण और तीक्ष्ण बताया गया है (क. २।१९), अतः सभी विषों की चिकित्सा में शीतल उपचार करना चाहिए। कीटविष वात-कफबहुल और अधिक उष्ण नहीं होता है। अतः कीटविष की विषाक्तावस्था में स्वेदन निषिद्ध नहीं है। उग्र विष वाले कीटों के दंश का उपचार सर्पदंश की चिकित्सा की तरह किया जाता है॥ ३०-३१ ॥

विमर्श—तीक्ष्णम्—सर्पादि के विष के गुणों में उसे विशेष रूप से तीक्ष्ण और उष्ण बताया गया है। जान्तव विषों के सम्बन्ध में अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार इनमें कई प्रकार की विषैली प्रोटीन्स और Proteolytic enzymes पाये जाते हैं।

भारत में पाये जाने वाले दर्वीकर (Cobra) के विष में Neurotoxin, cardiotoxin, hemolysin, cholinesterase, phosphatase, neucleotidase और an enzyme inhibiting cytochrome oxidase पदार्थ पाये जाते हैं।

स्वभावादेव तिष्ठेत्तु प्रहारादंशयोर्विषम् ॥ ३२ ॥
व्याप्य सावयवं देहं दिग्धविद्धाहिदष्टयोः। लौल्याद्विषान्वितं मांसं यः खादेन्मृतमात्रयोः ॥ ३३ ॥
यथाविषं स रोगेण क्लिश्यते म्रियतेऽपि वा। अतश्चाप्यनयोर्मांसमभक्ष्यं मृतमात्रयोः ॥ ३४ ॥
मुहूर्तात्तदुपादेयं प्रहारादंशवर्जितम्।

विष का प्रसार—विषैली वस्तुओं तीर आदि से तथा सर्पादि जहरीले प्राणियों द्वारा दष्ट (व्रणित) स्थल में विष स्वभावतः मुहूर्त मात्र समय तक अवस्थित रहता है। तदनन्तर दिग्धविद्ध (जहरीले बाण आदि से उत्पन्न व्रण) से तथा सर्पदंश के स्थान से विष सारे शरीर में फैल जाता है। इस प्रकार मृत प्राणियों के मांस को (विषाक्त मांस को) जो व्यक्ति लालच में आकर खा लेता है उसे विष के अनुसार बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। अतः इनका मांस (दिग्धविद्ध और सर्पदष्ट का) अभक्ष्य होता है। किन्तु खाना ही हो तो मुहूर्त मात्र समय के अन्दर विद्धस्थल तथा दंश के स्थल भाग को काटकर अलग कर प्रयोग में लायें॥ ३२-३४॥

सवातं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते ॥ ३५ ॥
आध्मातोऽत्यर्थमुष्णास्रो विवर्णः सादपीडितः। उद्वमत्यथ फेनं च विषपीतं तमादिशेत् ॥ ३६ ॥
न चास्य हृदयं वह्निर्विषजुष्टं दहत्यपि। तद्धि स्थानं चेतनायाः स्वभावाद्व्याप्य तिष्ठति ॥ ३७ ॥

विषपीत व्यक्ति के लक्षण (Features of internal poisoning)—जो व्यक्ति (विषाक्तता के कारण) गृहधूम के रंग का मल (पुरीष) अधिक मात्रा में (अधो) वायु के साथ त्याग करता है, जो आध्मान-पीड़ित है तथा जिसके उष्ण रक्त अधिक मात्रा में आ रहा हो, जो विवर्ण हो गया हो (**'विवर्ण इति मृतस्य लक्षणम्, शेषं सर्वं म्रियमाणस्य लक्षणम्'**) तथा जो अंगग्लानि (साद) से ग्रस्त है और झागदार वमन करता है उसे 'विषपीत' (जिसने जहर पिया है) समझना चाहिए। विषपीत व्यक्ति के हृदय को आग भी नहीं जलाती है, क्योंकि हृदय स्वभावतः चेतना का स्थान है और विष इसे व्याप्त कर स्थित होता है ('अत एव विषपानमृतस्य हृदयम् अदाह्यम्, विषव्याप्तत्वात्'—ड.)॥ ३५-३७॥

विमर्श—उष्णास्र—'अस्र' शब्द आँसू और रुधिर दोनों के लिए प्रयुक्त होता है ('रोदनं चास्रमश्रु च, रुधिरेऽसृक् लोहितास्र'–अ.को.)। रक्त के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यहाँ 'अस्र' शब्द का अर्थ रुधिर किया है। यद्यपि डल्हणानुसार अस्रम् = नयनजलम् ही है। कोबरा द्वारा काटने पर रक्तस्राव की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। Biperine bite में रक्तस्राव (नाक, मुख, मूत्रमार्ग, गुदमार्ग से) विशिष्ट लक्षण हैं।

अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु।
याम्ये सपित्र्ये परिवर्जनीया ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः ॥ ३८ ॥

त्याज्य विषाक्त व्यक्ति—यदि किसी व्यक्ति को साँप ने पीपल के पेड़ के समीप, देवस्थान में, श्मशानस्थल या वमी के समीप काटा हो अथवां सन्ध्या के समय, चौराहे पर या भरणी (याम्य) अथवा पित्र्य (मघा) नक्षत्र में काटा हो या मर्मस्थल पर काटा हो तो वह असाध्य है॥ ३८॥

विमर्श—

असाध्य सर्पविष	
भूमि	१. अश्वत्थ वृक्ष के समीप काटने पर २. मन्दिर में काटने पर ३. श्मशान स्थल में काटने पर ४. वल्मीक के समीप काटने पर ५. चौराहे पर काटने पर
समय	१. सन्ध्या समय में काटने पर
नक्षत्र	१. भरणी, २. मघा
शरीर	१. मर्मस्थल पर काटने से
तिथि	१. अष्टमी (चरकानुसार)

दर्वीकराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति।
अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालप्रमेहिष्वथ गर्भिणीषु॥ ३९ ॥
वृद्धातुरक्षीणबुभुक्षितेषु रूक्षेषु भीरुष्वथ दुर्दिनेषु।

अवस्था-विशेष में सर्पविष की असाध्यता—दर्वीकर सर्पों (दर्वीकराणाम् = फणीनाम्/Cobras) का विष शीघ्र मार डालता है। सभी विष उष्णर्तु में, अजीर्ण एवं पित्तविकारों में, गरमी (आतप) से पीड़ितों में; बालकों, प्रमेह के रोगियों, गर्भिणी स्त्रियों, वृद्धों, बीमारों, दुर्बल, क्षुधापीड़ितों, रूक्ष प्रकृति वालों, डरपोक व्यक्तियों एवं दुर्दिन ('मेघाच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्'–अ.को.) में द्विगुण शक्तिशाली हो जाते हैं॥ ३९ ॥

विमर्श—दर्वीकराणां विषमाशुघाति—दर्वीकर (Cobra) के काटने के बाद—

"Death generally occurs within 5 to 12 hours of the bite, but it may occur as early as within an hour or may be as delyed as long as 72 hours after the bite"—Toxilocogy

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति॥ ४० ॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम्।
जिह्वा सिता यस्य च केशशातो नासावभङ्गश्च सकण्ठभङ्गः॥ ४१ ॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वं च स वर्जनीयः।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य॥ ४२॥
दंष्ट्रानिपाताः सकलाश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेत्तु॥ ४३॥

उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम्।
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च जह्यान्नरं तत्र न कर्म कुर्यात्॥ ४४॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने जङ्गमविषविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥



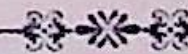
विष के असाध्य लक्षण—१. जिस विषाक्त व्यक्ति के शरीर को शस्त्र से काटने पर रक्त न निकले उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। २. जिसके शरीर पर लतादि से प्रहार करने पर रेखाएँ न पड़ती हों, ३. जिस पर शीतल जल छिड़कने पर रोमहर्ष न हो उसे अचिकित्स्य समझें। इसी प्रकार ४. जिसकी जीभ श्वेतवर्ण की हो गयी हो, ५. वचन अनुनासिक (नाक से बोलना) हो गया हो तथा ६. शरीर के बाल झड़ गये हों और ७. कण्ठभंग अर्थात् आवाज बैठ गयी हो; ८. यदि दंशस्थल पर काले रंग का रक्त युक्त शोथ उपस्थित हो और ९. हनुसन्धि स्थिर हो गयी हो तो ऐसा विषाक्त व्यक्ति चिकित्सा के अयोग्य (वर्जनीय) है। १०. इसी प्रकार जिसके मुख से गाढ़े कफ की वर्ति निकल आयी हो तथा ११. जिसके ऊर्ध्व एवं अधः स्रोतों (मुख, नासा, कर्ण, शिश्न, गुद) से रक्त आ रहो (जैसा कि वाइपर श्रेणी के साँपों के दंश के बाद देखा जाता है); १२. जिसके सभी दाँत गिर गये हों, ऐसे विषाक्त व्यक्ति भी त्याज्य हैं। १३. उन्मत्त एवं १४. उपद्रव-बहुल, १५. हीन स्वर वाला या १६. विवर्ण और १७. मरण लक्षणों (सारिष्टम्) से युक्त तथा १८. वेगरहित विषाक्त व्यक्ति भी विवर्जनीय (अचिकित्स्य) हैं॥ ४०-४४॥

विमर्श—अवेगिनम् ('लहरीवर्जितम्'–ड.)—सुश्रुत-कल्प. (४।४४) में सर्प के विष के वेगों का जो वर्णन किया गया है उनसे रहित अर्थात् जिसे विष की प्रबलता के कारण वेगों के क्रम का भी समय न मिला हो।

चरक (चि. २३।१६३) में सर्प के 'मन्दविष' का उल्लेख भी किया गया है—'वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। वृद्धा बालास्त्वचोमुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः'॥

वृद्धवाग्भटोऽपि—'जलाप्लुता रतिक्षीणाः भीता नकुलनिर्जिताः। शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रम-पीडिताः॥ तूर्णं देशान्तरायाता विमुक्तविषकञ्चुकाः। ···सर्पास्तेऽल्पविषा मताः'॥

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'जङ्गमविषविज्ञानीय' नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥



अध्याय-सारांश

'जङ्गमविषविज्ञानीय' नामक इस अध्याय में—पिछले अध्याय में जंगमविष के १६ अधिष्ठानों का संक्षेप में वर्णन किया है, यहाँ उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। ये १६ अधिष्ठान दृष्टि, निःश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्रादि हैं (४)।

जंगमविष के अधिष्ठान निःश्वासादि भिन्न-भिन्न प्राणियों में अलग-अलग पाये जाते हैं; जैसे—बिल्ली, कुत्ता, बन्दर आदि के दंष्ट्रा और नखों में विष होता है, सर्प दंष्ट्राविष वाला प्राणी है (५)।

दूषित जल की पहचान एवं उपचार (७), जलशोधन विधि (९), शिला आदि के दूषित होने से होने वाले लक्षण एवं चिकित्सा (१०-१२), इसी प्रकार घासादि के दूषित होने से उत्पन्न लक्षण तथा चिकित्सा (१३-१५) विषाक्त धूम, आग का उपचार (१६-१७), विष की उत्पत्ति (१८-२२), सर्प में विष को सर्वशरीरव्यापी बताया है (२८-२९), विष की सामान्य चिकित्सा (३०-३१), विष पीने से मरने वाले के लक्षण (३५-३७), त्याज्य विषपीड़ित व्यक्ति (३८), दर्वीकर द्वारा दष्ट त्याज्य रोगी (३९), विषाक्त के असाध्य लक्षण (४०-४४)।

●

चतुर्थोऽध्याय:

अथातः सर्पदष्टविषविज्ञानीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'सर्पदष्टविषविज्ञानीयकल्प' (The Doctrine of the Science of Poisoning by Snake Bite) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

विमर्श—जंगमविषों में सर्पविष ही महाविष है। अतः सर्वप्रथम सर्पविष का वर्णन किया जा रहा है। (डल्हण)

धन्वन्तरिं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम्। पादयोरुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥ ३ ॥

सुश्रुत का प्रश्न—महाप्राज्ञ (महापण्डित/'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः'-अ.को.) और सभी शास्त्रों में कुशल धन्वन्तरि भगवान् के चरणों में झुककर सुश्रुत पूछते हैं ॥ ३ ॥

सर्पसंख्यां विभागं च दष्टलक्षणमेव च। ज्ञानं च विषवेगानां भगवन्! वक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

सुश्रुत ने पूछा—भगवन्! सर्पों की संख्या (गणना), विभाग, दंश के लक्षण और विष के वेगों के बारे में जानकारी देने में आप समर्थ हैं ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्राब्रवीद्भिषजां वरः। असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः ॥ ५ ॥
महीधराश्च नागेन्द्रा हुताग्निसमतेजसः। ये चाप्यजस्रं गर्जन्ति वर्षन्ति च तपन्ति च ॥ ६ ॥
ससागरगिरिद्वीपा यैरियं धार्यते मही। क्रुद्धा निःश्वासदृष्टिभ्यां ये हन्युरखिलं जगत् ॥ ७ ॥
नमस्तेभ्योऽस्ति नो तेषां कार्यं किञ्चिच्चिकित्सया। ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान् ॥
तेषां सङ्ख्यां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः।

सर्पों का वर्गीकरण (Classification of snakes)—चिकित्सकों में श्रेष्ठ (भगवान् धन्वन्तरि) सुश्रुत की प्रार्थना को सुनकर बोले—वासुकि जिनमें श्रेष्ठ है ऐसे तक्षकादि सर्प असंख्य हैं जो महीधर और नागेन्द्र हैं, अग्नि के समान तेज वाले (हुताग्नि अर्थात् हवन की अग्नि) हैं तथा जो निरन्तर गरजते रहते हैं, बरसते हैं और तपते रहते हैं तथा जिन्होंने समुद्र, पर्वत और द्वीपों सहित पृथ्वी को धारण कर रखा है, जो क्रुद्ध होकर निःश्वास एवं दृष्टि मात्र से सम्पूर्ण संसार का नाश करने में समर्थ हैं उनको नमस्कार है। उनकी चिकित्सा का कोई कार्य नहीं है और ये जो दंष्ट्राविष वाले भौम सर्प हैं तथा जो मनुष्यों आदि को काटते हैं उनकी संख्या आदि का क्रमशः वर्णन किया जायेगा ॥ ५-८ ॥

अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा ॥ ९ ॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तस्तथैव च। निर्विषा वैकरञ्जाश्च त्रिविधास्ते पुनः स्मृताः ॥ १० ॥
दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः। तेषु दर्वीकरा ज्ञेया विंशतिः षट् च पन्नगाः ॥ ११ ॥
द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश। निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा ॥ १२ ॥
वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रा मण्डलिराजिलाः।

भौम सर्पों के भेद (Classification of terrestrial snakes)—ये सर्प अस्सी प्रकार के होते हैं। इनकी पाँच जातियाँ हैं जो इस प्रकार हैं—१. दर्वीकर ('फणावन्तः') फण वाले, २. मण्डली ('फणावर्जिताः विविधमण्डलैः चित्रिताः'), ३. राजिमान् ('रेखायुक्ताः फणावर्जितगण्डमालादयः'), ४. निर्विष ('विषरहिताः दुन्दुभिगोरादयः'), ५. वैकरञ्ज ('सङ्कीर्णजाताः, पृथग्जातीयसर्पिणी-पृथग्जातीयसर्पाभ्यां जाताः वैकरञ्जाः')।

प्रकारान्तर से इन सबकी तीन ही श्रेणियाँ होती हैं; यथा—१. दर्वीकर, २. मण्डली और ३. राजिमान्। इनमें दर्वीकार के छब्बीस, मण्डली के बाईस और राजिमान् के दस भेद होते हैं। निर्विष सर्पों के बारह भेद हैं तथा वैकरञ्ज तीन प्रकार के होते हैं। वैकरञ्ज सर्पों से ही मण्डली चार और राजिल तीन, इस तरह वैकरञ्ज दस प्रकार के होते हैं॥ ९-१२॥

विमर्श—

सर्पसंख्या और भेद

भेद	संख्या
१. दर्वीकर	२६
२. मण्डली	२२
३. राजिमान्	१०
४. निर्विष	१२
५. वैकरञ्ज	३
६. वैकरञ्जोद्भव	७
	८०

सम्प्रति पाये जाने वाले सर्पों के सम्बन्ध में विवरण कल्पस्थान अ. ३।२९ के विमर्श में दिया गया है। आयुर्वेदीय संहिताग्रन्थों एवं अन्य ग्रन्थों में भी सर्पों की संख्या, उनकी अनेकशः जातियाँ एवं उनके भयानक आकार तथा कार्यों का अद्भुत वर्णन मिलता है। ऐसे सर्पों के आज कोई नाम तक नहीं जानता है। ये जातियाँ-प्रजातियाँ लुप्त हो चुकी हैं। अतः हमने इनका उल्लेख करना उपयुक्त नहीं समझा।

पादाभिमृष्टा दुष्टा वा क्रुद्धा ग्रासार्थिनोऽपि वा। ते दशन्ति महाक्रोधास्त्रिविधं भीमदर्शनाः॥

सर्पदंश के हेतु—साँप निम्नलिखित कारणों से काटता है—१. पैरों के नीचे दब जाने से, २. स्वभावतः दुष्ट प्रकृति का होने से, ३. क्रुद्ध (किसी भी कारण से) होने से और ४. ग्रासार्थी अर्थात् भोजन की इच्छा से। (यहाँ 'अपि' शब्द से यह अभिप्राय है कि यदि सर्प मनुष्य के अति समीप हो तो डर से या आक्रान्त होने के भय से भी काटता है)। ये सर्प महाक्रोधी होते हैं और देखने में भयानक होते हैं। सर्पदंश के ये तीन प्रकार हैं॥ १३॥

सर्पितं रदितं चापि तृतीयमथ निर्विषम्। सर्पाङ्गाभिहतं केचिदिच्छन्ति खलु तद्विदः॥ १४॥

दंशभेद—सर्पदंश तीन प्रकार का होता है—१. सर्पित, २. रदित, ३. निर्विष दंश और कुछ सर्पविशेषज्ञों के अनुसार इस दंश-त्रैविध्य के अतिरिक्त 'सर्पाङ्गाभिहत' नाम का चौथा दंश भी होता है॥ १४॥

पदानि यत्र दन्तानामेकं द्वे वा बहूनि वा। निमग्नान्यल्परक्तानि यान्युद्वृत्य करोति हि॥ १५॥
चञ्चुमालकयुक्तानि वैकृत्यकरणानि च। सङ्क्षिप्तानि सशोफानि विद्यात्तत् सर्पितं भिषक्॥

सर्पित दंश का लक्षण—सर्पदंश में यदि निम्नलिखित चिह्न एवं लक्षण उपस्थित हो तो चिकित्सक उसे 'सर्पित' दंश समझें—१. सर्प दंश के पश्चात् जब दाँतों को बाहर निकालता है तो वहाँ पर दाँतों के एक, दो या बहुत-से निशान रह जाते हैं; ये निशान २. गहरे (निमग्नानि), ३. अल्परक्तयुक्त, ४. चञ्चुमाला की तरह दीखने वाले ('उपरि पिडकासदृशैराचितानि'), ५. विकृति लाने वाले ('विकारभावविधायकानि'), ६. सूक्ष्म ('संक्षिप्तानि') और ७. शोफ युक्त होते हैं ('सर्पितम् अत्यवगाढम्'–ड./Fangs of considerable depth)॥ १५-१६॥

विमर्श—चञ्चुमालकयुक्तानि—चोंच सदृश किसी वस्तु से मालाकार निशान बना दिये जायें तो यह निशान 'चञ्चुमालक' कहलायेगा। वस्तुतः निर्विष सर्प जब काटता है तो उसके दाँतों के निशानों की माला-सी बन जाती है। मालासदृश इन दन्तचिह्नों को देखकर सर्प के निर्विष होने का निर्णय हो जाता है। दंशस्थल पर दाँतों (Fangs) के दो निशानों का पाया जाना सर्प के विषैले होने का प्रमाण माना जाता है॥ १५-१६॥

डल्हण के अनुसार—'चञ्चुमालकयुक्तानीति = उपरि पिडकासदृशैराचितानीत्यर्थः'; गयी कहते हैं—'चञ्चुमालिका सर्पदष्टस्थानस्य पार्श्वे वटप्ररोहाग्रतुल्या विषोत्पन्ना अंकुरा भवन्तीति व्याख्यानयति–एतत्सर्वं चिन्त्यम्')।

राज्यः सलोहिता यत्र नीलाः पीताः सितास्तथा। विज्ञेयं रदितं तत्तु ज्ञेयमल्पविषं च तत्॥ १७॥

रदित दंश का लक्षण—त्वचा में जिस दंशस्थल पर लोहित, नील, पीत तथा सफेद रेखाएँ (राज्यो रेखाः) हों वह 'रदित' दंश समझना चाहिए (रदितं = विलिखितम्, अनवगाढम्)। इसमें विषाक्तता अल्प होती है॥ १७॥

अशोफमल्पदुष्टासृक् प्रकृतिस्थस्य देहिनः। पदं पदानि वा विद्यादविषं तच्चिकित्सकः॥ १८॥

निर्विष दंश का लक्षण—यदि दंश के एक या अनेक निशान (पदम्) हों, शोफ और दुष्ट रक्त अल्प हों और रोगी स्वस्थ अनुभव करता हो ('प्रकृतिस्थस्य, कायवाक्चित्तेषु स्वेन भावेन अवस्थितस्य') तो चिकित्सक को उसे 'निर्विष' समझना चाहिए॥ १८॥

सर्पस्पृष्टस्य भीरोर्हि भयेन कुपितोऽनिलः। कस्यचित् कुरुते शोफं सर्पाङ्गाभिहतं तु तत्॥ १९॥

सर्पाङ्गाभिहत के लक्षण—जब किसी डरपोक व्यक्ति के शरीर से साँप का स्पर्श हो जाय तो भय के कारण वायु प्रकुपित हो जाती है और किसी-किसी में शोफ भी हो जाता है। यह 'सर्पाङ्गाभिहत' कहलाता है ('तुशब्दश्चार्थे, तेन कण्टकादिविद्धेऽपि शङ्काविषं भवति'–ड.)॥ १९॥

व्याधितोद्विग्नदष्टानि ज्ञेयान्यल्पविषाणि तु। तथाऽतिवृद्धबालाभिदष्टमल्पविषं स्मृतम्॥ २०॥

अल्पविष—यदि सर्प व्याधिग्रस्त या उद्विग्न हो तो तथा अतिवृद्ध और अतिबाल सर्प का दंश 'अल्पविष' होता है॥ २०॥

विमर्श—'तरुणा कृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा। राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः'॥ (च.चि. २३)

सुपर्णदेवब्रह्मर्षियक्षसिद्धनिषेविते। विषघ्नौषधियुक्ते च देशे न क्रमते विषम्॥ २१॥

अल्पविष के अन्य हेतु—गरुड, देव, ब्रह्मर्षि, यक्ष, सिद्ध; इनके स्थान में तथा ऐसे स्थान में जहाँ विषघ्न औषध पायी जाती है वहाँ हुआ सर्पदंश 'अल्पविष' वाला होता है अथवा उसका विषैला प्रभाव नहीं होता है॥ २१॥

रथाङ्गलाङ्गलच्छत्रस्वस्तिकाङ्कुशधारिणः। ज्ञेया दर्वीकराः सर्पाः फणिनः शीघ्रगामिनः॥
मण्डलैर्विविधैश्चित्राः पृथवो मन्दगामिनः। ज्ञेया मण्डलिनः सर्पा ज्वलनार्कसमप्रभाः॥ २३॥
स्निग्धा विविधवर्णाभिस्तिर्यगूर्ध्वं च राजिभिः। चित्रिता इव ये भान्ति राजिमन्तस्तु ते स्मृताः॥

दर्वीकरादि सर्पों की पहचान—दर्वीकर (फणावन्तः) फणीयर साँप के शिरोभाग (Hood) पर रथाङ्ग (चक्रम्), लांगल (हल), छत्र, स्वस्तिक, अंकुश के सदृश निशान होते हैं। ये फणायुक्त और तेज भागने वाले साँप हैं जो 'दर्वीकर' कहलाते हैं। जो नाना प्रकार के मण्डलों से चित्रित, भारी शरीर के (पृथवः = विस्तीर्णाः) तथा मन्द गति वाले और अग्नि-सूर्य सदृश प्रभायुक्त होते हैं वे 'मण्डली' कहलाते हैं। 'रजिमान्' सर्प स्निग्ध, विविध वर्ण की तिरछी एवं ऊर्ध्व रेखाओं वाले होते हैं तथा चित्रित-से लगते हैं॥ २२-२४॥

विमर्श—फणावान् (Cobra) सर्पों के सम्बन्ध में अब तक की जानकारी के अनुसार इनकी पहचान यह है कि इनका शिर विशेष प्रकार से बड़ा होता है जिसे वह कर्छी के चौड़े भाग ('दर्वी–दर्विः कम्बिः खजाका च'–अ.को.) की तरह फैला देता है (पर मृत कोबरा का नहीं)। शिरोभाग (Hood) पर प्रायः ❍ इस प्रकार का निशान (Spot) होता है जो चारों ओर से घिरा होता है। इसका थर्ड लेबियल स्केल बड़ा होता है जो एक ओर आँख से और दूसरी ओर नासारन्ध्र से लगे स्केल को छूता है। **वाइपर** जाति के सर्प का शिर तिकोना और सारे शरीर तथा शिर पर भी एक जैसे स्केल होते हैं। आँखों की पुतलियाँ लम्ब (Vertical) होती हैं। **क्रेट** सर्प तीन फुट लम्बा तथा पेट पर की प्लेटें चौड़ी होती हैं।

मुक्तारूप्यप्रभा ये च कपिला ये च पन्नगाः। सुगन्धयः सुवर्णाभास्ते जात्या ब्राह्मणाः स्मृताः॥
क्षत्रियाः स्निग्धवर्णास्तु पन्नगा भृशकोपनाः। सूर्यचन्द्राकृतिच्छत्रलक्ष्म तेषां तथाऽम्बुजम्॥
कृष्णा वज्रनिभा ये च लोहिता वर्णतस्तथा। धूम्राः पारावताभाश्च वैश्यास्ते पन्नगाः स्मृताः॥
महिषद्वीपिवर्णाभास्तथैव परुषत्वचः। भिन्नवर्णाश्च ये केचिच्छूद्रास्ते परिकीर्तिताः॥ २८॥

सर्पों की ब्राह्मणादि जातियों की पहचान (Caste-wise classification of snakes)—**ब्राह्मण** जाति के सर्पों की प्रभा (कान्ति) मोती एवं चाँदी के समान, रंग में कपिल, सुगन्ध युक्त एवं देखने में सुन्दर (सुवर्ण) होती हैं। **क्षत्रिय** जाति के सर्पों का वर्ण स्निग्ध, अत्यन्त क्रोधी तथा ये सूर्य-चन्द्र की आकृति के तथा छत्र, शंख या कमल की तरह के चिह्नों से युक्त होते हैं। **वैश्य** जाति के सर्प काले रंग के वज्र (हीरे) के समान, लोहित वर्ण, धूम्र और कपोत के रंग के होते हैं। **शूद्र** जाति के साँप वे कहलाते हैं जो भैंस, चित्रव्याघ्र वर्ण के खुरदरी (कठोर) खाल वाले और कई भिन्न-भिन्न रंगों के होते हैं॥ २५-२८॥

कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु। पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः॥
अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकरलक्षणम्। ज्ञेयौ दोषैश्च दम्पत्यो—

सर्पविष का दोषों पर प्रभाव—फणा वाले सभी सर्प काटने पर व्यक्ति में **वायु** को प्रकुपित करते हैं, मण्डली सर्प **पित्त** को तथा अनेक राजिमान् **कफ** को प्रकुपित करते हैं। असमान वर्ण (Caste) वाले सर्प और सर्पिणी की सन्तान, जो 'वैकरञ्ज' कहलाती है, के काटने पर दो दोषों के लक्षण—उनके माता-पिता के अनुसार—उत्पन्न होते हैं॥ २९॥

—र्विशेषश्चात्र वक्ष्यते॥ ३०॥

रजन्याः पश्चिमे यामे सर्पाश्चित्राश्चरन्ति हि। शेषेषूक्ता मण्डलिनो दिवा दर्वीकराः स्मृताः॥ ३१॥

इनके लक्षणों की विशेषताओं का वर्णन आगे किया जायेगा॥ ३०॥

सर्पों के विचरण का समय—चित्र अर्थात् राजिमान् सर्प रात्रि के चतुर्थ प्रहर में, मण्डली रात्रि के शेष प्रहरों में और दर्वीकर सर्प दिन के समय में विचरण करते हैं॥ ३१॥

दर्वीकरास्तु तरुणा वृद्धा मण्डलिनस्तथा। राजिमन्तो वयोमध्या जायन्ते मृत्युहेतवः॥ ३२॥

सर्पों में अवस्थानुसार उग्रता—दर्वीकर तरुणावस्था में, मण्डली सर्प वृद्धावस्था में और राजिमान् मध्यम आयु में जब होते हैं तो इनके दंश से मृत्यु हो जाती है॥ ३२॥

विमर्श—वाग्भटस्तु–'तारुण्यमध्यवृद्धत्वे वृष्टिशीतातपेषु च। विषोल्बणा भवन्त्येते व्यन्तरा ऋतुसन्धिषु'॥ (उ. ३६)

नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः कृशाः। वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृताः॥

अल्पविष सर्प—नकुलप्रताड़ित, जलप्रवाह (बाढ़ादि) से ग्रस्त, बाल्यावस्था वाले, शारीरिक दृष्टि से कृश (दुर्बल), बूढ़े साँप, जिन्होंने केंचुली (कञ्चुक) त्याग दी है और जो डरे हुए हैं उनमें विष की मात्रा अल्प होती है॥ ३३॥

विमर्श—अल्पविष—इस सम्बन्ध में वाग्भट का कथन द्रष्टव्य है—'जलाप्लुता रतिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रमपीडिताः॥ तूर्णं देशान्तरायाताः विमुक्तविषकञ्चुकाः। कुशौषधिकण्टकवद्ये चरन्तीव काननम्॥ देशं च दिव्याध्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मताः। (उ. ३६)।

तत्र दर्वीकराः—कृष्णसर्पो, महाकृष्णः, कृष्णोदरः, श्वेतकपोतो, महाकपोतो, बलाहको, महासर्पः, शङ्खकपालो, लोहिताक्षो, गवेधुकः, परिसर्पः, खण्डफणः, ककुदः, पद्मो, महापद्मो, दर्भपुष्पो, दधिमुखः, पुण्डरीको, भ्रूकुटीमुखो, विष्किरः, पुष्पाभिकीर्णो, गिरिसर्पः, ऋजुसर्पः, श्वेतोदरो, महाशिरा, अलगर्द, आशीविष इति॥ ३४॥

दर्वीकर सर्पों के भेद—कृष्णसर्प, महाकृष्ण, कृष्णोदर, श्वेतकपोत, महाकपोत, बलाहक, महासर्प, शङ्खकपाल, लोहिताक्ष, गवेधुक, परिसर्प, खण्डफण, ककुद, पद्म, महापद्म, दर्भपुष्प, दधिमुख, पुण्डरीक, भृकुटीमुख, विष्किर, पुष्पाभिकीर्ण, गिरिसर्प, ऋजुसर्प, श्वेतोदर, महाशिरा, अलगर्द और आशीविष॥ ३४॥

मण्डलिनस्तु—आदर्शमण्डलः, श्वेतमण्डलो, रक्तमण्डलः, चित्रमण्डलः, पृषतो, रोध्रपुष्पो, मिलिन्दको, गोनसो, वृद्धगोनसः, पनसो, महापनसो, वेणुपत्रकः, शिशुको, मदनः, पालिन्दिरः, पिङ्गलः, तन्तुकः, पुष्पपाण्डुः, षडङ्गो, अग्निको, बभ्रुः, कषायः, कलुषः, पारावतो, हस्ताभरणः, चित्रक, एणीपद इति॥ ३५॥

मण्डली सर्पों के भेद—आदर्शमण्डल, श्वेतमण्डल, रक्तमण्डल, चित्रमण्डल, पृषत, रोध्रपुष्प, मिलिन्दक, गोनस, वृद्धगोनस, पनस, महापनस, वेणुपत्रक, शिशुक, मदन, पालिन्दिर, पिङ्गल, तन्तुक, पुष्पपाण्डु, षडङ्ग, अग्निक, बभ्रु, कषाय, कलुष, पारावत, हस्ताभरण, चित्रक तथा एणीपद॥ ३५॥

राजिमन्तस्तु—पुण्डरीको, राजिचित्रो, अङ्गुलराजिः, बिन्दुराजिः, कर्दमकः, तृणशोषकः, सर्षपकः, श्वेतहनुः, दर्भपुष्पः, चक्रको, गोधूमकः, किक्किसाद इति॥ ३६॥

राजिमान् सर्पों के भेद—पुण्डरीक, राजिचित्र, अंगुलराजि, बिन्दुराजि, कर्दमक, तृणशोषक, सर्षपक, श्वेतहनु, दर्भपुष्प, चक्रक, गोधूमक, किक्किसाद॥ ३६॥

निर्विषास्तु—गलगोली, शूकपत्रो, अजगरो, दिव्यको, वर्षाहिकः, पुष्पशकली, ज्योतीरथः, क्षीरिकापुष्पको, अहिपताको, अन्धाहिको, गौराहिको, वृक्षेशय इति॥ ३७॥

निर्विष सर्पों के भेद—गलगोली, शूकपत्र, अजगर, दिव्यक, वर्षाहिक, पुष्पशकली, ज्योतीरथ, क्षीरिकापुष्पक, अहिपताक, अन्धाहिक, गौराहिक और वृक्षेशय॥ ३७॥

वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः; तद्यथा—माकुलिः, पोटगलः, स्निग्धराजिरिति। तत्र कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः; राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः पोटगलः; कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति। तेषामाद्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो, द्वयोर्मातृवदित्येके॥ ३८॥

वैकरञ्ज सर्पों के भेद—उपरोक्त तीन प्रकार के सर्प और सर्पिणियों के परस्पर संयोग से उत्पन्न सर्पों के भेद इस प्रकार हैं; यथा—माकुलि, पोटगल और स्निग्धराजि। इनमें माकुलि जाति के सर्प कृष्णसर्प तथा गोनसी या इससे विपरीत ('वैपरीत्येन वेति गोनसेन पुंसा कृष्णसर्पिण्यां स्त्रियामित्यर्थः') संयोग से पैदा होते हैं। इसी प्रकार राजिल सर्प और गोनसी या इससे विपरीत संयोग से पोटगल जाति के सर्प जन्म लेते हैं। स्निग्धराजि जाति के सर्प कृष्णसर्प और राजिमती या इससे विपरीत संयोग से उत्पन्न होते हैं। कुछ की सम्मति से माकुलि जाति के सर्प पिता की तरह विषैले और शेष दोनों—पोटगल तथा स्निग्धराजि—माता की तरह विषयुक्त होते हैं॥ ३८॥

त्रयाणां वैकरञ्जानां पुनर्दिव्येलकरोध्रपुष्पकराजिचित्रकपोटगलपुष्पाभिकीर्णदर्भपुष्पवेल्लितकाः सप्त; तेषामाद्यास्त्रयो राजिलवत्, शेषा मण्डलिवत्, एवमेतेषां सर्पाणामशीतिर्व्याख्याता ॥ ३९ ॥

तीन प्रकार के वैकरञ्ज सर्पों से उत्पन्न सर्पों के विष का वर्णन—वैकरंजों से उत्पन्न सर्पों के सात भेद—१. दिव्येलक, २. रोध्रपुष्पक, ३. राजिचित्रक, ४. पोटगल, ५. पुष्पाभिकीर्ण, ६. दर्भपुष्प, ७. वेल्लितक। इनमें से आरम्भ के तीन राजिमान् सर्पों के समान और शेष चार मण्डलि सर्पों के सदृश होते हैं। इस प्रकार सर्पों के अस्सी भेद वर्णित किये गये ॥ ३९ ॥

विमर्श—चरक में सर्पों के तीन भेदों का ही वर्णन है।

तत्र महानेत्रजिह्वास्यशिरसः पुमांसः, सूक्ष्मनेत्रजिह्वास्यशिरसः स्त्रियः, उभयलक्षणा मन्दविषा अक्रोधा नपुंसका इति ॥ ४० ॥

सर्पों के पुरुषादि लक्षण—**पुरुष** सर्पों की आँखें, जीभ, मुख और शिर आकार में बड़े, **स्त्री** सर्पों के नेत्र, मुख, जीभ और शिर आकार में छोटे तथा **नपुंसक** सर्पों में उपरोक्त दोनों प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। नपुंसक सर्प अल्प विष वाले और क्रोधरहित होते हैं ॥ ४० ॥

विमर्श—चरक के अनुसार सर्पों के पुरुष-स्त्री भेद से वर्णन इस प्रकार है—'वृत्तभोगो महाकायः श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान्। स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद् विपर्ययात ॥ क्लीबस्त्रसति' (चि. २३।१३०)।

तत्र सर्वेषां सर्पाणां सामान्यत एव दष्टलक्षणं वक्ष्यामः। किं कारणं? विषं हि निशितनिस्त्रिंशाशनिहुतवहदेश्यमाशुकारि मुहूर्तमप्युपेक्षितमातुरमतिपातयति, न चावकाशोऽस्ति वाक्समूहमुपसर्तुं, प्रत्येकमपि दष्टलक्षणेऽभिहिते सर्वत्र त्रैविध्यं भवति, तस्मात् त्रैविध्यमेव वक्ष्यामः; एतद्ध्यातुरहितमसंमोहकरं च, अपि चात्रैव सर्वसर्पव्यञ्जनावरोधः ॥ ४१ ॥

सर्पदंश के सामान्य लक्षण—यहाँ सभी प्रकार के सर्पों के दंश से उत्पन्न सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया जायेगा—क्या कारण है कि विष तीक्ष्णखड्ग (निशितनिस्त्रिंश), वज्र (अशनि) और अग्नि के समान शीघ्र फैलकर आशुकारि होता है (शीघ्रव्यापकम्) और (चिकित्सा में) क्षणमात्र की उपेक्षा से व्यक्ति को मार डालता है, उसे कुछ बात करने का समय भी नहीं मिल पाता है। सर्पदष्ट व्यक्ति के कहे गये सभी लक्षण तीन प्रकार के होते हैं। अतः इनका वर्णन किया जायेगा जो आतुर (बीमार) के लिए हितकर है तथा चिकित्सक के लिए सन्देहरहित है। इसी में सभी प्रकार के सर्पों के (दंश के) लक्षणों का समावेश हो जाता है ॥ ४१ ॥

तत्र दर्वीकरविषेण त्वङ्नयननखदशनवदनमूत्रपुरीषदंशकृष्णत्वं रौक्ष्यं शिरसो गौरवं सन्धिवेदना कटीपृष्ठग्रीवादौर्बल्यं जृम्भणं वेपथुः स्वरावसादो घुर्घुरको जडता शुष्कोद्गारः कासश्वासौ हिक्का वायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तृष्णा लालास्रावः फेनागमनं स्रोतोऽवरोधस्तास्ताश्च वातवेदना भवन्ति; मण्डलिविषेण त्वगादीनां पीतत्वं शीताभिलाषः परिधूपनं दाहस्तृष्णा मदो मूर्च्छा ज्वरः शोणितागमनमूर्ध्वमधश्च मांसानामवशातनं श्वयथुर्दंशकोथः पीतरूपदर्शनमाशुकोपस्तास्ताश्च पित्तवेदना भवन्ति; राजिमद्विषेण शुक्लत्वं त्वगादीनां शीतज्वरो रोमहर्षः स्तब्धत्वं गात्राणामादंशशोफः सान्द्रकफप्रसेकश्छर्दिरभीक्ष्णमक्ष्णोः कण्डूः कण्ठे श्वयथुर्घुर्घुरक उच्छ्वासनिरोधस्तमःप्रवेशस्तास्ताश्च कफवेदना भवन्ति ॥ ४२ ॥

दर्वीकरादि सर्पभेदों के दंश के विशिष्ट लक्षण—दर्वीकर श्रेणी के सर्पों के दंश से त्वचा, आँखें, नाखून, दाँत, मुख, मूत्र, पुरीष और दंश (Bite) का रंग कृष्णवर्ण; शरीर में रूक्षता, शिर में भारीपन, सन्धियों में वेदना; कमर, पीठ और ग्रीवा में दुर्बलता, जम्भाइयाँ आना, शरीर में कम्प, स्वरभंग, गले में घुर-घुर शब्द होना, शरीर का जकड़ जाना, सूखे डकार आना (Dry eructations) कास, श्वास,

हिक्का, वायु का ऊपर की ओर गमन, शूल के कारण ऐंठन होना ('शूलेन कृता अङ्गलोटनम्'), तृष्णा, लालास्राव, मुख से झाग आना, स्रोतों का अवरोध और तोदन-भेदनादि वातवेदनाएँ होती हैं।

मण्डली सर्पों के दंश के विशिष्ट लक्षण—इस श्रेणी के सर्पों के दंश के परिणामस्वरूप त्वचा आदि का रंग पीला पड़ना, ठण्डी वस्तुओं की अभिलाषा, सारे शरीर में जलन, दाह, तृष्णा, मद ('पूगफलखादनेनेव मत्तत्वम्'), मूर्च्छा, ज्वर, ऊर्ध्व और अधो मार्गों से रक्तस्राव, मांस का अवशातन ('शटितत्वादवगलनम्'), शोथ, दंशस्थान का गलना, रोगी को सभी वस्तुएँ पीली नजर आना, क्रोध शीघ्र आना और ओष-चोषादि पित्तजन्य वेदनाएँ होती हैं।

राजिमान् सर्पों के दंश के विशिष्ट लक्षण—इस श्रेणी के सर्पों के दंश के कारण त्वचा आदि का रंग सफेद पड़ जाता है, ठण्ड लगकर ज्वर होता है; रोमांच, स्तब्धता, दंशस्थल का सूज जाना, गाढ़े कफ का आना, वमन, आँखों में बार-बार कण्डू होना, कण्ठ में सूजन, आवाज में घुर्घुराहट, उच्छ्वास में रुकावट, अन्धकार से घिरने जैसी प्रतीति होना और कण्डू आदि श्लैष्मिक वेदनाएँ होती हैं।। ४२ ।।

विमर्श—विविध सर्पों के दंश से उत्पन्न लक्षणों के सम्बन्धित अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार—**कोबरा** (फणावान्) द्वारा काटे जाने के बाद दो दन्तचिह्न (Two fang marks) प्रायः स्पष्ट दिखायी देते हैं। पाँच मिनट के भीतर दंशस्थल पर जलन-वेदना, पन्द्रह मिनट में दंशस्थल के चारों ओर लाल सूजन और शाखाओं तक फैलने वाला सुन्नपन (Numbness) हो जाता है। दस मिनट से दो घण्टे के समय में शरीरव्यापी (Systemic) लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिनमें प्रमुख हैं—गतिविभ्रम (Ataxia/अंगों में) जिससे चलने की अपेक्षा रोगी बैठना या लेटना पसन्द करता है, पेशीदौर्बल्य के कारण अंगों में गति करना कठिन या असम्भव हो जाता है। रोगी की गर्दन आगे को छाती पर झुक जाती है। वर्त्मपात (Ptosis) प्रायः उपस्थित होती है, नेत्रप्रेरक (Oculomotor) तन्त्रिका के वध के कारण पुतलियाँ (Pupils) फैल जाती हैं, लालास्राव, बोलने में कठिनाई, वमन, अन्त में श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। रोगी अन्त तक सचेत बना रहता है। कोबरा के काटने के एक घण्टे से बहत्तर घण्टे के भीतर मृत्यु हो जाती है।

क्रेट के काटने पर कोबरा सदृश लक्षण होते हैं। विशेषता यह है कि इसमें उदर में तीव्र शूल और उद्वेष्टन (Cramps/ऐंठन) पाये जाते हैं।

वाइपर (Viper and pitviper) के काटने पर भी दंशस्थल पर दो विषदंष्ट्रा (Fangs) के निशान पाये जाते हैं। शीघ्र ही दंशस्थल पर तीव्र वेदना, लालिमा, शोफ (Oedema), रक्तयुक्त तरल स्राव (Serosanguinous) का आना—ये लक्षण उपस्थित होते हैं। काटने की जगह के ऊतकों का नाश (Necrosis) बड़ी मात्रा में होने लगता है। गैंग्रीन होना भी सम्भव है। इस जहरीले साँप के जहर का शरीर के भिन्न-भिन्न तन्त्रों पर (Systemic) प्रभाव निम्नलिखित प्रकार का होता है—रक्तवह (Circulatory) तन्त्र—अल्प-रक्तदाब, पसीना आना, बेचैनी, वमन और आक्षेप काटने के कुछ ही घण्टों में होने लगते हैं। तीव्र रक्तसंलयन (Haemolysis) होकर कामला (Icterus) और स्तब्धता तथा वृक्कों का कार्य न कर पाना होते हैं। रक्तस्राव रक्त में जमने की प्रक्रिया में विकार आ जाने से होता है जो रक्तनिष्ठीवन, मूत्रमार्ग और गुदमार्ग से रक्त आने से ज्ञात होता है। कभी-कभी रक्तस्राव ही वाइपर के काटने का पहला लक्षण होता है। तीव्र ताप और श्वेतकणों का बढ़ना (ल्युकोसाइटोसिस २०,००० से ४०,००० क्यूबिक सेण्टीमीटर) भी लक्षण हैं। वाइपर सर्प के दंश से १२-२४ घण्टे में मृत्यु हो जाती है।

पुरुषाभिदष्ट ऊर्ध्वं प्रेक्षते, अधस्तात् स्त्रिया सिराश्चोत्तिष्ठन्ति ललाटे, नपुंसकाभिदष्टस्तिर्यक्प्रेक्षी भवति, गर्भिण्या पाण्डुमुखो ध्मातश्च, सूतिकया कुक्षिशूलार्तः सरुधिरं मेहत्युपजिह्विका चास्य भवति, ग्रासार्थिनाऽन्नं काङ्क्षति, वृद्धेन चिरान्मन्दाश्च वेगाः, बालेनाशु मृदवश्च, निर्विषेणाविषलिङ्गम्, अन्धाहिकेनान्धत्वमित्येके, ग्रसनादजगरः शरीरप्राणहरो न विषात्! तत्र सद्यःप्राणहराहिदष्टः पतति शस्त्राशनिहत इव भूमौ, स्रस्ताङ्गः स्वपिति।। ४३ ।।

पुरुष-सर्प आदि के द्वारा दष्ट के लक्षण—**पुरुष**-सर्प के द्वारा दष्ट व्यक्ति ऊपर की ओर देखता है, **स्त्री**-सर्प से दष्ट व्यक्ति नीचे की ओर देखता है और उसके माथे पर सिराएँ उभर आती हैं। यदि काटने वाला साँप नपुंसक हो तो व्यक्ति तिरछा (तिर्यक्) देखता है। यदि काटने वाली सर्पिणी **गर्भिणी** हो तो दष्ट व्यक्ति का मुख पाण्डुवर्ण और फूला हुआ (ध्मात) होता है, यदि सर्पिणी **प्रसूता** हो तो मनुष्य कुक्षिशूल से पीड़ित होता है तथा रुधिर युक्त मूत्र त्याग करता है और उसे उपजिह्विका नामक रोग (सु.नि. १६।३९) हो जाता है। **ग्रासार्थी** (क्षुधार्त) सर्प द्वारा काटा व्यक्ति अन्न की कामना करता है। **वृद्ध**-सर्प द्वारा दष्ट व्यक्ति में विष का प्रभाव मन्द और चिरकाल में होता है। यदि सर्प **बालक** हो तो विष का प्रभाव शीघ्र पर मृदु होता है। यदि सर्प **निर्विष** हो तो मनुष्य में विष के लक्षण अनुपस्थित होते हैं। अन्धाहि या जलविलशायी सर्प के काटने पर—कुछ लोगों की सम्मति के अनुसार—व्यक्ति अन्धा हो जाता है। अजगर यदि किसी को निगल लेता है तो प्राणनाश होता है; विष से नहीं। इन सर्पों द्वारा काटने पर, यदि सर्प सद्यःप्राणहर है तो दष्ट व्यक्ति शस्त्र द्वारा या बिजली गिरने से मरे व्यक्ति की तरह जमीन पर गिर पड़ता है, उसके अंग शिथिल हो जाते हैं और वह (चिरनिद्रा में) सो जाता है॥ ४३॥

विमर्श—चरक में गर्भिणी सर्पिणी और प्रसूता सर्पिणी के लक्षण कुछ विस्तार से दिये हैं—'पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः। जृम्भा क्रोधोपजिह्वार्तः सूताया रक्तमूत्रवान्'॥ (चि. २३।१३३)

उपजिह्विकालक्षणम्—'जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः। प्रसेककण्डूपरिदाहयुक्ता प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति'॥ (च.नि. १६।३९)

सरुधिरं मेहति—वाइपर श्रेणि के सर्पों के विष से शरीर के रक्त की जमने की प्रक्रिया (Clotting mechanism) में इस तरह का विकार आ जाता है कि रक्तस्राव होने लगता है और रक्त नासा, मुख, शिश्न, गुद आदि मार्गों से आना आरम्भ हो जाता है।

तत्र सर्वेषां सर्पाणां विषस्य सप्त वेगा भवन्ति। तत्र दर्वीकराणां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं कृष्णतामुपैति, तेन कार्ष्ण्यं पिपीलिकापरिसर्पणमिव चाङ्गे भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं कृष्णता शोफो ग्रन्थयश्चाङ्गे भवन्ति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन दंशक्लेदः शिरोगौरवं स्वेदश्चक्षुर्ग्रहणं च; चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य कफप्रधानान् दोषान् दूषयति, तेन तन्द्राप्रसेकसन्धिविश्लेषा भवन्ति; पञ्चमेऽस्थीन्यनुप्रविशति प्राणमग्निं च दूषयति, तेन पर्वभेदो हिक्का दाहश्च भवति; षष्ठे मज्जानमनुप्रविशति ग्रहणीं चात्यर्थं दूषयति, तेन गात्राणां गौरवमतीसारो हृत्पीडा मूर्च्छा च भवति; सप्तमे शुक्रमनुप्रविशति व्यानं चात्यर्थं कोपयति कफं च सूक्ष्मस्रोतोभ्यः प्रच्यावयति, तेन श्लेष्मवर्तिप्रादुर्भावः कटीपृष्ठभङ्गः सर्वचेष्टाविघातो लालास्वेदयोरतिप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधश्च भवति। मण्डलिनां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पीततामुपैति, तत्र परिदाहः पीतावभासता चाङ्गानां भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेनात्यर्थं पीतता परिदाहो दंशे श्वयथुश्च भवति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन पूर्ववच्चक्षुर्ग्रहणं तृष्णा दंशक्लेदः स्वेदश्च; चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य ज्वरमापादयति; पञ्चमे परिदाहं सर्वगात्रेषु करोति, षष्ठसप्तमयोः पूर्ववत्। राजिमतां प्रथमे वेगे विषं शोणितं दूषयति, तत् प्रदुष्टं पाण्डुतामुपैति, तेन रोमहर्षः शुक्लावभासश्च पुरुषो भवति; द्वितीये मांसं दूषयति, तेन पाण्डुताऽत्यर्थं जाड्यं शिरःशोफश्च भवति; तृतीये मेदो दूषयति, तेन चक्षुर्ग्रहणं दंशक्लेदः स्वेदो घ्राणाक्षिस्रावश्च भवति; चतुर्थे कोष्ठमनुप्रविश्य मन्यास्तम्भं शिरोगौरवं चापादयति; पञ्चमे वाक्सङ्गं शीतज्वरं च करोति; षष्ठसप्तमयोः पूर्ववदिति॥ ४४॥

विषगति (वेग) विवरण (Seven stages of poisoning)—सभी प्रकार के सर्पों के विष की गति या वेग सात प्रकार की होती है; जैसे **दर्वीकर** दंश के **प्रथम** वेग में रक्त दूषित होता है और दूषित हो जाने पर इसका रंग कृष्ण हो जाता है जिससे दष्ट पुरुष के शरीर का रंग काला हो जाता है और

उसको शरीर पर चींटियों के चलने जैसी प्रतीति होने लगती है। **द्वितीय** वेग में मांस दूषित होता है जिससे शरीर का रंग अधिक कृष्ण, शोफ और अंग में ग्रन्थियाँ हो जाती है। **तृतीय** वेग में मेदोधातु में विकार आ जाता है जिससे दंशस्थान में क्लेद (गीलापन/स्राव के कारण), शिर में भारीपन, पसीना आना, नेत्रों के कार्य में अवरोध अर्थात् दृष्टिव्याघात होते हैं। **चतुर्थ** वेग में विष कोष्ठ में प्रविष्ट होकर कफबहुल रचनाओं को दूषित कर देता है जिससे तन्द्रा, लालास्राव और सन्धियों में शैथिल्य (विश्लिष्टता) आ जाता है। **पञ्चम** वेग में अस्थियों में प्रविष्ट होकर प्राण और अग्नि को दूषित कर देता है जिससे पर्वभेद (सन्धिस्थलों में वेदना), हिक्का और दाह होने लगते हैं। **षष्ठ** वेग में विष मज्जधातु में प्रविष्ट हो जाता है और ग्रहणी (पित्तधरा कला) को अत्यधिक दूषित कर देता है जिससे शरीर में भारीपन, अतिसार, हृत्प्रदेश में वेदना और मूर्च्छा होते हैं। **सप्तम** वेग में शुक्रधातु में प्रविष्ट होकर सर्पविष सर्वशरीरव्यापी व्यान वायु को अति दूषित कर देता है और कफ को सूक्ष्म स्रोतों से बाहर निकालता है जिससे श्लेष्मवर्तियों का प्रादुर्भाव होता है, पीठ और कमर टूटती हैं, सभी चेष्टाएँ नष्ट हो जाती हैं, लालास्राव तथा पसीना अधिक आता है और श्वासावरोध होता है।

मण्डली श्रेणी के सर्पदंश के **प्रथम** वेग में विष रक्त को दूषित करता है जिससे उसका रंग पीला हो जाता है। इससे सारे शरीर में जलन और अंगों में पीलापन आ जाता है। **द्वितीय** वेग में मांसधातु दूषित होती है और दंशस्थल पर अत्यन्त पीलापन, परिदाह और शोथ हो जाते हैं। **तृतीय** वेग में मेदोधातु में विकार आ जाता है जिससे पूर्व की तरह चक्षुर्ग्रहण (नेत्रों के स्वाभाविक कार्य में बाधा), तृष्णा, दंशस्थल पर क्लेद और शरीर में पसीना आते हैं। **चतुर्थ** वेग में मण्डली विष कोष्ठ में प्रविष्ट होकर शरीर ताप को बढ़ा (ज्वर) देता है। **पञ्चम** वेग में सारे शरीर में जलन होने लगती है। **षष्ठ** और **सप्तम** वेग में दर्वीकर विष के समान लक्षण होते हैं।

राजिमान् श्रेणी के सर्पदंश के **प्रथम** वेग में विष रक्त को दूषित कर देता है जिससे पाण्डुता हो जाती है तथा रोमहर्ष और मानव-काया में सफेदपन (शुक्लावभासता) आ जाता है। **द्वितीय** वेग में मांसधातु दूषित होती है जिससे शरीर में अत्यधिक पीलापन, अत्यधिक अकड़ाहट और शिर में शोफ हो जाते हैं। **तृतीय** वेग में मेदोधातु दूषित होती है जिससे नेत्रों की स्वकर्महानि, दंशस्थान में गीलापन (क्लेद), स्वेद, नाक और आँखों से पानी आता है। **चतुर्थ** वेग में राजिमान् श्रेणी के सर्पो का विष कोष्ठ में प्रविष्ट होकर मन्यास्तम्भ और शिर में भारीपन उत्पन्न करता है। **पञ्चम** वेग में वाक्संग अर्थात् आवाज बन्द हो जाती है और शीत ज्वर हो जाता है। **षष्ठ** और **सप्तम** वेग के लक्षण दर्वीकर विष के समान होते हैं॥ ४४॥

भवन्ति चात्र—

धात्वन्तरेषु याः सप्त कलाः सम्परिकीर्तिताः। तास्वेकैकामतिक्रम्य वेगं प्रकुरुते विषम्॥ ४५॥

सात ही वेग क्यों होते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि गर्भव्याकरण में धात्वाशयान्तरमर्यादा की जो सात कलाएँ वर्णित की गयी हैं उनमें एक-एक का आश्रय लेकर विष के सात वेग होते हैं॥ ४५॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में डल्हण कृत 'धात्वाशयान्तरमर्यादा' का विवेचन पठनीय है जो इस प्रकार है—तेनायमर्थः—'धात्वाशयान्तरमर्यादा याः कलाः सप्त प्रागुक्ता गर्भव्याकरणे तास्वेकैकामतिक्रम्य सप्तसु धातुषु सप्त वेगा भवन्ति। तद्यथा—रसरक्तयोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य रक्ते प्रथमवेगः, रक्तमांसयोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य द्वितीयः, मांसमेदसोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य तृतीयः, मेदःकफयोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य चतुर्थः, कफपुरीषयोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य पञ्चमः, पुरीषपित्तयोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य षष्ठः, पित्तशुक्रयोरन्तरस्थां कलामतिक्रम्य सप्तमः इति'॥

कलाओं का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डल्हण आगे कहते हैं—'यैव कला पुरीषधरा सैवास्थिधरेति पञ्चमे अस्थिन्यनुप्रविशतीत्यविरुद्धम्, एवं यैव पित्तधरा सैव मज्जधरेति षष्ठे मज्जानमनुप्रविशतीत्यविरुद्धम्'।

विषवेग

दर्वीकर श्रेणी के सर्पविष

वेग	विषग्रस्त धातु	विषाक्त लक्षण
प्रथम वेग	रक्त	शरीर का कृष्णवर्ण होना, कीटपरिसर्पण।
द्वितीय वेग	मांस	शरीर का अतिकृष्णवर्ण, शोफ, शरीर पर ग्रन्थियाँ।
तृतीय वेग	मेदस्	दंशक्लेद, शिरोगौरव, स्वेद, दृष्टिविकार-ग्रहण।
चतुर्थ वेग	कोष्ठ	कफदुष्टि से तन्द्रा, प्रसेक, सन्धिविश्लेष।
पञ्चम वेग	अस्थि	प्राण-अग्नि दूषित होने से पर्वभेद, हिक्का, दाह।
षष्ठ वेग	मज्जा	ग्रहणीदोष से गात्रगौरव, हृत्पीड़ा, मूर्च्छा।
सप्तम वेग	शुक्र	सूक्ष्म स्रोतों से कफस्राव, श्लेष्मवर्ति, पृष्ठकटिभंग, सर्वचेष्टाविघात, लालास्राव, स्वेद अधिक और श्वासावरोध।

मण्डली श्रेणी के सर्पविष

वेग	विषग्रस्त धातु	विषाक्त लक्षण
प्रथम वेग	रक्त	शीतता, परिदाह, अंगों में पीलापन।
द्वितीय वेग	मांस	अतिपीतता, परिदाह (दंश में), शोथ।
तृतीय वेग	मेदस्	चक्षुर्ग्रहण, तृष्णा, दंश में क्लेद, स्वेद।
चतुर्थ वेग	कोष्ठ	ज्वर
पञ्चम वेग	अस्थि	सर्वगात्रपरिदाह।
षष्ठ वेग और सप्तम वेग	मज्जा	दर्वीकर विष के समान लक्षण।
	शुक्र	

राजिमान् श्रेणी के सर्पविष

वेग	विषग्रस्त धातु	विषाक्त लक्षण
प्रथम वेग	रक्त	पाण्डुवर्ण, रोमहर्ष, शुक्लावभासता।
द्वितीय वेग	मांस	अतिपाण्डुता, जडता, शिरःशोथ।
तृतीय वेग	मेदोधातु	चक्षुर्ग्रहण, दंशस्थान में क्लेद, स्वेद, नासा-नेत्रस्राव।
चतुर्थ वेग	कोष्ठ	मन्यास्तम्भ, शिरोगौरव।
पञ्चम वेग	अस्थि	वाक्संग, शीतज्वर।
षष्ठ वेग और सप्तम वेग	मज्जा	पूर्ववत्।
	शुक्र	

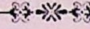
येनान्तरेण तु कलां कालकल्पं भिनत्ति हि। समीरणेनोह्यमानं तत्तु वेगान्तरं स्मृतम्॥ ४६॥

वेगान्तर—वायु द्वारा प्रेर्यमाण विष एक कला में व्याप्त होने के पश्चात् जितने समय (Interval of time) में दूसरी कला में व्याप्त होता है वह 'वेगान्तर' कहलाता है॥ ४६॥

विमर्श—कला—'स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान्सन्ततांश्च जरायुणा। श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान्विदुः'॥ (सु.शा. ४।७)

शूनाङ्गः प्रथमे वेगे पशुर्ध्यायति दुःखितः। लालास्रावो द्वितीये तु कृष्णाङ्गः पीड्यते हृदि॥ ४७॥
तृतीये च शिरोदुःखं कण्ठग्रीवं च भज्यते। चतुर्थे वेपते मूढः खादन् दन्तान् जहात्यसून्॥ ४८॥
केचिद्वेगत्रयं प्राहुरन्तं चैतेषु तद्विदः॥ ४९॥
ध्यायति प्रथमे वेगे पक्षी मुह्यत्यतः परम्। द्वितीये विह्वलः प्रोक्तस्तृतीये मृत्युमृच्छति॥ ५०॥
केचिदेकं विहङ्गेषु विषवेगमुशन्ति हि। मार्ज्जारनकुलादीनां विषं नातिप्रवर्तते॥ ५१॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषविज्ञानीयं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥



पशु-पक्षियों में विषवेग-प्रसंग—यदि विषैला साँप किसी पशु को काट ले तो विष के प्रथम वेग में उसके अंग सूज जाते हैं और वह दुःखी होकर ध्यानस्थ रहने लगता है। द्वितीय वेग में लालास्राव, शरीर का रंग काला पड़ना और उसके हृदय में वेदना होती है। विष के तृतीय वेग में शिरोवेदना तथा कण्ठ और ग्रीवा भग्न हो जाते हैं। चतुर्थ वेग में पशु काँपने लगता है, मूढ़ हो जाता है, दाँतों को कटकटाता हुआ प्राण त्याग देता है। कुछ आचार्यों की सम्मति से पशुओं में सर्पविष के तीन ही वेग होते हैं। यदि विषाक्त सर्प पक्षी को काट लेता है तो प्रथम वेग में पक्षी ध्यानमग्न-सा हो जाता है और तत्पश्चात् मोह को प्राप्त हो जाता है। द्वितीय वेग में बेचैन होकर तृतीय वेग में कालकवलित हो जाता है। किन्हीं आचार्यों का मत है कि पक्षियों में सर्पविष का केवल एक ही वेग होता है। बिल्ली और नेवले में सर्पविष का अधिक असर नहीं होता है॥ ४७-५१॥

विमर्श—चरक (चि. २३।२०-२२) में सर्पविष के (पशुओं में चार और पक्षियों में तीन) वेगों का उल्लेख है।

मानवेतर प्राणियों में सर्पविष के वेग और लक्षण

प्राणी	प्रथम वेग	द्वितीय वेग	तृतीय वेग	चतुर्थ वेग
पशु	शूनाङ्ग ध्यानमग्न दुःखी लालास्राव	कृष्णाङ्ग हृत्पीडा	शिरोवेदना कण्ठभग्न ग्रीवाभग्न	दाँत कटकटाना कम्पन मूढता मृत्यु
पक्षी	ध्यानमग्न मोहग्रस्त	विह्वल	मृत्यु	
बिल्ली और नेवला	इन पर सर्पविष का प्रभाव अल्प होता है।			

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'सर्पदष्टविषविज्ञानीय' नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ॥ ४॥



अध्याय-सारांश

'सर्पदष्टविषविज्ञानीय' नामक इस अध्याय में—भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत को सर्पों की संख्या, दष्टलक्षण और विष के वेगों की जानकारी दी है (४)।

वासुकी-तक्षकादि दिव्य सर्प महाबलशाली होने से उनके द्वारा दष्ट की कोई चिकित्सा नहीं, भौम सर्पों के दष्ट की चिकित्सा सम्भव है (५-८)।

अस्सी प्रकार के साँपों की दर्वीकर, मण्डली आदि पाँच जातियाँ हैं; इनकी दर्वीकर, मण्डली और राजिमान् ये तीन श्रेणियाँ हैं। इनमें दर्वीकर २६ प्रकार के, मण्डली २२ प्रकार के और राजिमान् १० प्रकार के होते हैं (९-११), निर्विष सर्प १२ प्रकार के और वैकरंज ३ प्रकार के हैं (१२), दंश के कारण (१३), भेद (१४-२०), दर्वीकरादि सर्पों की पहचान, इनकी ब्राह्मणादि जातियाँ (२२-२८) और दोषप्रकोप (२९), अल्पविष का हेतु (३३), दर्वीकरादि के नाम (३४-३९), सर्पदष्ट के लक्षण (४२), सर्पविष के सात वेग (४४), वेगान्तर लक्षण, सर्पविष का पशुओं पर प्रभाव, विषवेग (४६-५१)।



पञ्चमोऽध्यायः

अथातः सर्पदष्टविषचिकित्सितं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'सर्पदष्टविषचिकित्सितं कल्पम्' (The Doctrine of the Management of Snake-bite Poisoning) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः। दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले ॥ ३ ॥
प्लोतचर्मान्तर्वल्कानां मृदुनाऽन्यतमेन वै। न गच्छति विषं देहमरिष्टाभिर्निवारितम् ॥ ४ ॥

सर्पदष्ट में सर्वप्रथम किया जाने वाला सामान्य उपचार—शाखा (हस्तपादकम्) में किसी भी सर्प द्वारा दंश किये जाने का सर्वप्रथम उपचार यह है कि दंशस्थल से चार अंगुल ऊपर अरिष्टा ('वस्त्रादिभिर्मन्त्रपुरस्कृतैर्बन्धाः'/Tourniquet) बन्ध बाँध देना चाहिए। यह बन्ध वस्त्र (प्लोत), चर्म, अन्तर्वल्कल में से किसी एक से, जो मृदु हो, बाँधना चाहिए। इस प्रकार अरिष्टा द्वारा रोका गया विष शरीर में फैलने नहीं पाता है ॥ ३-४ ॥

विमर्श—सर्पदष्टचिकित्सा दो प्रकार की है—सामान्य और विशेष। अरिष्टाबन्ध सभी सर्पदंशों की सामान्य चिकित्सा है। दंष्ट स्थल पर यदि विषैले दाँतों के दो निशान तथा वेदना न हो तो यह सर्प के निर्विष होने का प्रमाण माना जाता है। ऐसी स्थिति में अरिष्टाबन्ध की भी आवश्यकता नहीं होती है।

अरिष्टाबन्ध कितना कसा हुआ होना चाहिए ? इसके सम्बन्ध में वृद्धवाग्भट का उत्तर इस प्रकार है—'नातिगाढश्लथो हितः'। अर्थात् यह बन्ध न अधिक कसा हुआ और न अधिक शिथिल ही होना चाहिए। वास्तव में यह इतना कसा हुआ होना चाहिए कि जिससे लसीका और बहिःस्थ सिरारक्तप्रवाह रुका रहे। इस बन्ध को प्रत्येक १५ मिनट के उपरान्त ६० से ९० सेकण्ड्स के लिए शिथिल करते रहना चाहिए अथवा दंशस्थल पर बर्फ रगड़ें। इससे भी रक्तप्रवाह शिथिल हो जाता है। दष्टस्थल के अवयव में कम-से-कम गतियाँ होनी चाहिए।

चर्मान्तर्वल्कानाम्—कुछ टीकाकारों ने 'चर्मान्त' और 'वल्कल' अलग-अलग पदार्थ माने हैं। हमारी सम्मति में 'चर्म' और 'अन्तर्वल्कल' ये दो पदार्थ हैं। 'चर्मान्त' मानने में 'अन्त' की यहाँ कोई उपयोगिता नहीं है। 'अन्तर्वल्कल' का बन्धन में उपयोग होता है। व्रणबन्धन द्रव्यों में 'अन्तर्वल्कल' का पाठ है (सु.सू. १८।१६)। सीवन में अन्तर्वल्कल को काम में लाया जाता था, क्योंकि यह चर्म की तरह नरम और दृढ होता है, बाहर का भाग तो खुरदरा तथा भंगुर होता है ('वल्कलेनाश्मन्तकस्य वा' – सु.सू. २५।२०)।

मूल में 'अन्तवल्कल' पाठ है 'अन्तर्वल्कल' नहीं—ऐसा प्रश्न किया जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि पिंगलशास्त्र के अनुसार अनुष्टुप् छन्द में पाँचवाँ अक्षर सभी पादों में लघु होना चाहिए। परन्तु यह नियम भी है—'मासस्थाने मसं कुर्य्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्'। वैसे भी लघु अक्षर के नियम का पालन सर्वत्र नहीं होता है। 'प्लोतचर्मान्तर्वल्कानाम्' पाठ ही शुद्ध है।

दहेद्दंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते। आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः ॥ ५ ॥

दंशस्थल का दहन—यदि साँप ने ऐसे स्थान पर डसा हो जहाँ बाँधना सम्भव न हो तो दंशस्थल को काटकर दहन कर देना चाहिए। आचूषण (जहर को चूसना), छेदन तथा दहन सर्पदंश के ऐसे उपचार हैं जो शरीर के सभी स्थानों में (अथवा सभी प्रकार के सर्पदंशों में) किये जा सकते हैं ॥ ५ ॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में डल्हण का यह कथन चिन्त्य है—'अत्र मण्डलिदंशं वर्जयित्वेति शेषः' अर्थात् केवल मण्डलि श्रेणी के सर्पदंश का दहन नहीं करना चाहिए जबकि सम्प्रति यह पाया गया है कि सर्पदंश में दहन हानिकर होता है। मण्डलि सर्पो के दंश में दहन के निषेध का हेतु यह है कि इस श्रेणी के सर्पो का विष पित्तप्रकोपक होता है ('पित्तं मण्डलिनश्चापि'–सु.क. ४।२९)।

आचूषण—दंशस्थल पर दन्तक्षतों के मध्य से १ से.मी. लम्बा और $\frac{1}{2}$ से. मी. गहरा भेदन कर आचूषण करना चाहिए। इससे विष के कुछ अंश को निकाला जा सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि भेदन से संक्रमण फैलकर स्थिति और खराब हो सकती है। आचूषण दंश के बाद ५-२० मिनट के अन्दर किये जाने पर लाभप्रद होता है।

छेदन—बहुत चौड़ा एवं गहरा काटना हानिकर होता है।

प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत्। स दष्टव्योऽथवा सर्पो लोष्टो वाऽपि हि तत्क्षणम्॥ ६॥

आचूषण-विधि—वस्त्र को मुख में डालकर दंशस्थल का आचूषण करना हितकर होता है। अथवा तत्क्षण ही उस सर्प को पकड़कर दष्ट व्यक्ति अपने दाँतों से काटे या पाषाण को काटे॥ ६॥

विमर्श—आचूषण करने से पहले मुख के अन्दर वस्त्र रखने का उद्देश्य यह है कि विष का प्रभाव मुख में न होने पाये। डल्हण वमि की मिट्टी को विषहर होने के कारण मुख में रख कर आचूषण की सलाह देते हैं। तत्क्षण दष्ट व्यक्ति द्वारा साँप की पूँछ या वक्त्र को काटना व्यवहार्य नहीं है और न पाषाणदंश की कोई उपयोगिता ही प्रतीत होती है ('दष्टेन पुरुषेग हस्ताभ्यामुपसंगृह्य पुच्छे वक्त्रे च सर्पः सम्यग्दष्टव्यः, तदभावे लोष्ठो वा दष्टव्यः')। आचूषण करने वाले व्यक्ति के मुख में व्रण नहीं होना चाहिए।

अथ मण्डलिना दष्टं न कथञ्चन दाहयेत्। स पित्तबाहुल्यविषाद्दंशो दाहाद्विसर्पते॥ ७॥

दंश में दाह-निषेध (Contraindication for local cauterization)—मण्डली सर्पों द्वारा दष्ट व्यक्तियों के दष्टस्थल का कभी भी दहन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनका विष पित्तबहुल होता है। अतः दहन से यह (शीघ्र) फैलता है॥ ७॥

अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मन्त्रकोविदः। सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता॥ ८॥

मन्त्र और बन्धन दोनों का उपयोग करें—मन्त्रज्ञ व्यक्ति मन्त्रों द्वारा अरिष्टाबन्धन करे। इस प्रकार रज्जू आदि से बाँधी गयी अरिष्टा विषप्रतिकरी अर्थात् विषहर होती है॥ ८॥

देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः। भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम्॥ ९॥
विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः। यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः॥ १०॥

मन्त्र असफल नहीं होते हैं—मन्त्र देवर्षियों द्वारा कहे गये होने से सत्यमय और ब्रह्मर्षियों द्वारा कहे गये होने से ('प्रोक्ताः = कथिताः, न तु कृताः मन्त्राणां नित्यत्वात्') तपोमय होते हैं। अतः ये असफल नहीं होते हैं और ये शीघ्र ही तीव्र विष को भी नष्ट कर देते हैं। तेजोमय, सत्यमय, ब्रह्ममय और तपोमय मन्त्रों से सर्पदंश का विष जितनी शीघ्रता से प्रभावहीन हो जाता है उतनी शीघ्रता से विषघ्न औषध-प्रयोग से नहीं॥ ९-१०॥

विमर्श—यदि 'सत्यब्रह्मतपोमयैः' के स्थान पर 'सत्यब्रह्मतपोमयाः' यह पाठान्तर स्वीकार्य हो तो अर्थ इस प्रकार होता है—'देवा इन्द्रादयः, ब्रह्मा स्वनामप्रसिद्धाः, ऋषयः देवर्षि-ब्रह्मर्षि-राजर्षयः। तत्र देवकृतत्वेन सत्यप्रत्ययाः, ब्रह्मकृतत्वेन ब्रह्ममयाः, त्रिविधर्षिकृतत्वेन तपोमयाः, मन्त्राः'।

मन्त्राणां ग्रहणं कार्यं स्त्रीमांसमधुवर्जिना। मिताहारेण शुचिना कुशास्तरणशायिना॥ ११॥
गन्धमाल्योपहारैश्च बलिभिश्चापि देवताः। पूजयेन्मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपहोमैश्च यत्नतः॥ १२॥

मन्त्रग्रहण-विधान—स्त्री, मांस, मधु का जिसने त्याग कर दिया है, मिताहार करने वाला, शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से जो पवित्र है तथा जो कुशा बिछी शय्या पर सोता है उसे चाहिए कि वह मन्त्रों की सिद्धि के लिए सुगन्धित द्रव्य, माला, धूप-दीपादिक पूजोपकरणों, पशुबलि एवं जप-होम-ध्यानादि के द्वारा प्रयत्नपूर्वक देवताओं की पूजा करे॥ ११-१२॥

मन्त्रास्त्वविधिना प्रोक्ता हीना वा स्वरवर्णतः। यस्मान्न सिद्धिमायान्ति तस्माद्योज्योऽगदक्रमः॥

मन्त्रसिद्धि के अभाव में—स्त्रीमांसमधुवर्जनादि विधि के पालन न कर सकने से तथा हीन स्वर एवं वर्ण के कारण मन्त्रसिद्धि में सफलता नहीं मिलती है। अतः (मन्त्रस्य असिद्धौ) सर्पविष के प्रभाव को दूर करने के लिए अगदक्रम को प्रयोग में लाना चाहिए॥ १३॥

समन्ततः सिरां दंशाद्विध्येत्तु कुशलो भिषक्। शाखाग्रे वा ललाटे वा व्यध्यास्ता विसृते विषे॥
रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्। तस्माद्विस्रावयेद्रक्तं सा ह्यस्य परमा क्रिया॥ १५॥
समन्तादगदैर्दंशं प्रच्छयित्वा प्रलेपयेत्। चन्दनोशीरयुक्तेन वारिणा परिषेचयेत्॥ १६॥

रक्तापकर्षण (Local management of the snake bite)—(विष रक्त द्वारा ही सारे शरीर में फैलता है अतः) कुशल चिकित्सक द्वारा दंशस्थल के चारों ओर की सिरा का वेध किया जाना चाहिए। यदि विष फैल गया हो तो हाथ-पैरों के अग्रभाग से अथवा ललाट की सिराएँ वेधनयोग्य (वेध्य) होती हैं। विष को शरीर से बाहर निकालने के लिए रक्तविस्रावण ही उत्कृष्ट उपाय है, क्योंकि रक्तविस्रावण से सम्पूर्ण विष भी बाहर निकल जाता है। रक्तविस्रावण के उपरान्त शरीर में अवशिष्ट विष को निष्क्रिय करने के लिए दंशस्थल के चारों ओर पछने लगाकर अगद का लेप करना चाहिए। सिंचन के लिए चन्दन और खश का क्वाथ (या कल्कमिश्रित जल को) उपयोग में लाना चाहिए॥ १४-१६॥

पाययेतागदांस्तांस्तान् क्षीरक्षौद्रघृतादिभिः। तदलाभे हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका॥
कोविदारशिरीषार्ककटभीर्वाऽपि भक्षयेत्।

अगद या वल्मीकमृत्तिका पान—भिन्न-भिन्न प्रकार के अगदों को ('भेषजौषधभैषज्या गदो जायुरित्यपि' – अ.को.) दूध, मधु, घृतादि में मिलाकर पिलाना चाहिए। इसके अभाव में काली मिट्टी या वल्मीकी मिट्टी को दूध-मधु-घृत में मिलाकर पीने को दें। अथवा कचनार, शिरीष, अर्क, कटभी (श्वेतस्यन्द) को भक्षणार्थ दें॥ १७॥

विमर्श—डल्हण के अनुसार अगदादि का प्रयोग रक्तावसेचन से पूर्व करना चाहिए—'रक्तावसेचनपूर्वं हृदयावरणार्थं तांस्तान् महागदादीन् अक्षमात्रपरिमितेन क्षीरादिभिर्यथादोषं पातुं प्रयोजयेत्'।

न पिबेत्तैलकौलत्थमद्यसौवीरकाणि च॥ १८॥
द्रवमन्यत्तु यत्किञ्चित् पीत्वा पीत्वा तदुद्वमेत्। प्रायो हि वमनेनैव सुखं निर्ह्रियते विषम्॥ १९॥

विषनिर्हरण के लिए वमन-प्रयोग—तिलतैल, कुलत्थक्वाथ, मद्य, सौवीरक (काञ्जिकम्) का पान न करायें। कोई भी तरल पदार्थ विषग्रस्त व्यक्ति को पिलावें और बार-बार वमन (Emesis) करावें। प्रायः वमन कराने मात्र से विषप्रभाव नष्ट हो जाता है॥ १८-१९॥

फणिनां विषवेगे तु प्रथमे शोणितं हरेत्। द्वितीये मधुसर्पिर्भ्यां पाययेतागदं भिषक्॥ २०॥
नस्यकर्माञ्जने युञ्ज्यात्तृतीये विषनाशने। वान्तं चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूमथ दापयेत्॥ २१॥
शीतोपचारं कृत्वाऽऽदौ भिषक् पञ्चमषष्ठयोः। पाययेच्छोधनं तीक्ष्णं यवागूं चापि कीर्तिताम्॥
सप्तमे त्ववपीडेन शिरस्तीक्ष्णेन शोधयेत्। तीक्ष्णमेवाञ्जनं दद्यात्, तीक्ष्णशस्त्रेण मूर्ध्नि च॥ २३॥
कृत्वा काकपदं चर्म सासृग्वा पिशितं क्षिपेत्।

दर्वीकरादि के वेगों की विशेष चिकित्सा—दर्वीकर श्रेणी के दंश के **प्रथम** विषवेग में दंशस्थल से रक्तनिर्हरण करना चाहिए और **द्वितीय** विषवेग में अगद का मधु-घृत के साथ चिकित्सक रोगी को पान करावें। **तृतीय** वेग की चिकित्सा में विषनाशन नस्यकर्म और अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए तथा **चतुर्थ** विषवेग में स्थावर विष-प्रकरण में वर्णित कोशातक्यादि द्रव्यों से निर्मित यवागू देनी चाहिए। चिकित्सक को चाहिए कि वह **पञ्चम** और **षष्ठ** विषवेग के उपचार में आरम्भ में शीतलोपचार करने के बाद तथा तीक्ष्ण द्रव्यों से शोधन करने के उपरान्त अन्नसंसर्जन के लिए रोगी को पूर्वोक्त यवागू पिलावें। **सप्तम** विषवेग में तीक्ष्ण अवपीडन नस्य से शिर का शोधन करना चाहिए, अञ्जन भी तीक्ष्ण प्रयुक्त करने चाहिए या तीक्ष्ण शस्त्र से शिर में काकपद आकार के क्षत कर रक्तयुक्त चर्म या मांस रखना चाहिए॥ २०-२३॥

विमर्श—'शोणितं हरेदिति सिरया प्रच्छनेन शृङ्गेण वा' (ड.)।

पूर्वे मण्डलिनां वेगे दर्वीकरवदाचरेत्॥ २४॥
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां द्वितीये पाययेत च। वामयित्वा यवागूं च पूर्वोक्तामथ दापयेत्॥ २५॥
तृतीये शोधितं तीक्ष्णैर्यवागूं पाययेद्धिताम्। चतुर्थे पञ्चमे चापि दर्वीकरवदाचरेत्॥ २६॥
काकोल्यादिर्हितः षष्ठे पेयश्च मधुरोऽगदः। हितोऽवपीडे त्वगदः सप्तमे विषनाशनः॥ २७॥

मण्डली सर्पो के विष की विशेष चिकित्सा—मण्डली श्रेणी के सर्पों के दंश में **प्रथम** वेग का उपचार दर्वीकर के समान करना चाहिए ('शोणितमोक्षणं जलौकाभिः' – ड.)। **द्वितीय** वेग में मण्डलीविषोक्त अगद का मधु-घृत के साथ पान करावें तथा वमन द्रव्यों के क्वाथ से वमन कराने के उपरान्त पूर्वोक्त यवागू पानार्थ दें। **तृतीय** विषवेग में तीक्ष्ण द्रव्यों से विरेचन कराने के उपरान्त हितकर यवागू पिलानी चाहिए और **चतुर्थ** तथा **पञ्चम** विषवेग में उपचार दर्वीकर सदृश करना चाहिए। **षष्ठ** विषवेग में काकोल्यादि गण और मधुरगण के द्रव्यों के अगद को पानार्थ दें तथा **सप्तम** विषवेग के उपचार में प्रत्याख्याय कर अवपीड नस्य तथा विषनाशन अगद हितकर होते हैं॥ २४-२७॥

पूर्वे राजिमतां वेगेऽलाबुभिः शोणितं हरेत्। अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं पाययेत च॥ २८॥
वान्तं द्वितीये त्वगदं पाययेद्विषनाशनम्। तृतीयादिषु त्रिष्वेवं विधिर्दर्वीकरो हितः॥ २९॥
षष्ठेऽञ्जनं तीक्ष्णतममवपीडश्च सप्तमे।

राजिमान् श्रेणी के सर्पो के विषवेगों की विशिष्ट चिकित्सा—इन सर्पों के प्रथम विषवेग के उपचार में अलाबू द्वारा रक्तनिर्हरण करना चाहिए और मधु-घृत के साथ अगदपान कराना चाहिए। द्वितीय विषवेग में वमन कराने के पश्चात् विषनाशन अगदपान करायें। तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम विषवेग के उपचार में दर्वीकर की तरह चिकित्सा की जाती है। षष्ठ विषवेग में अतितीक्ष्ण अञ्जन और सप्तम विषवेग में सार्वकार्मिकागद अवपीड नस्य के लिए प्रयुक्त करना हितकर होता है॥ २८-२९॥

विमर्श—'अवपीडश्चेति चकारेण नष्टसंज्ञाविधानं वक्ष्यमाणं सूच्यते' (ड.)।

गर्भिणीबालवृद्धानां सिराव्यधनवर्जितम्॥ ३०॥
विषार्तानां यथोद्दिष्टं विधानं शस्यते मृदु।

विषपीड़ित बाल, गर्भिणी, वृद्ध व्यक्तियों में रक्तविस्रावण के लिए सिराव्यधन का प्रयोग नहीं करना चाहिए और पूर्व वर्णित मृदु क्रियाएँ ही उपयोगी होती हैं॥ ३०॥

रक्तावसेकाञ्जनानि नरतुल्यान्यजाविके॥ ३१॥
त्रिगुणं महिषे सोष्ट्रे गवाश्वे द्विगुणं तु तत्। चतुर्गुणं तु नागानां—

विषपीड़ित पशु आदि में मात्रा-विचार—बकरी और भेड़ में रक्तविस्रावण और अञ्जन की मात्रा उतनी ही होती है जितनी मनुष्यों के लिए निर्धारित की गयी है ('रक्तावसेकस्य महती मात्रा प्रस्थप्रमाणा,

प्रस्थश्चात्र सार्धत्रयोदशपलप्रमाण:' –ड.)। भैंस और ऊँट में यह मात्रा तिगुनी और गौ एवं घोड़े के लिए दुगुनी होती है। हाथियों के लिए रक्तविस्रावण तथा अंजन की मात्रा चतुर्गुण बतायी गयी है॥ ३१॥

—केवलं सर्वपक्षिणाम्॥ ३२॥

परिषेकान् प्रदेहांश्च सुशीतानवचारयेत्।

विषग्रस्त पक्षियों की चिकित्सा—सभी प्रकार के पक्षियों में अच्छी तरह ठण्डे परिषेक और प्रदेहों का ही प्रयोग करना चाहिए (जो मनुष्यों के लिए प्रयुक्त द्रव्यों से बनाये गये हों)॥ ३२॥

विमर्श—'केवलम्' से अभिप्राय है—'न तु रक्तावसेकाञ्जनानीत्यर्थ:'।

माषकं त्वञ्जनस्येष्टं द्विगुणं नस्यतो हितम्। पाने चतुर्गुणं पथ्यं वमनेऽष्टगुणं पुनः॥ ३३॥

अञ्जनादि की मात्रा—अञ्जन की मात्रा एक माशा, नस्य की इससे द्विगुण, पानार्थ द्रव्यों की चौगुनी और वामक द्रव्यों की मात्रा इससे आठ गुनी होती है॥ ३३॥

विमर्श—इस उपरोक्त गयदास और जेज्जट द्वारा सम्मत अञ्जनादि की मात्रा के सम्बन्ध में अपनी असहमति जताते हुए डल्हण कहते हैं—'वयं तु वृद्धवाग्भटोक्तसुश्रुतोक्तवाक्यदर्शनात् अञ्जनादिषु विषविषये महतीं मात्रां मन्यामहे'। ये वाक्य इस प्रकार हैं—'गुल्मोदावर्तवीसर्पसर्पदंशाभिपीडितैः। उन्मत्तैः कृच्छ्रमूत्रैश्च महती शीघ्रमेव सा'॥ (वृद्धवाग्भटः) 'अहोरात्रादसन्दुष्टा या मात्रा परिजीर्यति। सा च कुष्ठविषोन्माद-ग्रहापस्मारनाशिनी'। (सुश्रुतः)

कल्क, मोदक, चूर्णों की यह महती मात्रा पल प्रमाण है। क्वाथ की चार पल है। वमन-विषयक क्वाथ की मात्रा नव प्रस्थ है; यथा—'नवप्रस्था तु ज्येष्ठा स्यान्मध्यमा षट् प्रकीर्तिता। निष्क्वाथस्य त्रयः प्रस्था मागधास्तु कनीयसी'॥ इसी प्रकार वमन-विषयक कल्क की मात्रा तीन पल है।

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविषवेगबलाबलम्। प्रधार्य निपुणं बुद्ध्या ततः कर्म समाचरेत्॥ ३४॥

विषचिकित्सा में देशादि का विचार—विषचिकित्सा में अपने विवेक से भली प्रकार निम्नलिखित देश, प्रकृति आदि का विचार कर जो उपयुक्त समझें वैसा चिकित्सा कर्म करें—१. देश (Nature of the country/'भूमिः आतुरश्च; तत्र भूदेशोऽश्वत्थदेवतायतनश्मशानादिकः, आतुरशरीरे च मर्मदेशः'), २. प्रकृति (Constitutioin of the patient/'कायिकी मानसी च, तत्र कायिकी वातादिकृता, मानसी च सत्त्वादिजा'), ३. सात्म्य (Habits/सात्म्यं नाम सुखं यत्करोति तदुच्यते), ४. ऋतु (Season/ 'कालसामान्यलक्षण ऋतुः, द्वौ द्वौ मार्गादिमासौ स्यात् ऋतुः' –कोशे), ५. विषवेग (Stage of poisoning/प्रथम-द्वितीयादिः), ६. बल (Resistance/रोगी का शारीरिक, मानसिक बल) तथा ७. अबल (दौर्बल्य)॥ ३४॥

वेगानुपूर्व्या कर्मोक्तमिदं विषविनाशनम्। कर्मावस्थाविशेषेण विषयोरुभयोः शृणु॥ ३५॥

स्थावर-जंगम विष की अवस्थानुसार चिकित्सा—उपरोक्त विषनाशक चिकित्साक्रम स्थावर और जंगम विषों के प्रथम-द्वितीय आदि वेगों के अनुसार है। इन दोनों विषों की विशिष्ट अवस्थाओं एवं कर्म के सम्बन्ध में विवरण सुनो॥ ३५॥

विवर्णे कठिने शूने सरुजेऽङ्गे विषान्विते। तूर्णं विस्रवणं कार्यमुक्तेन विधिना ततः॥ ३६॥
क्षुधार्तमनिलप्रायं तद्विषार्तं समाहितः। पाययेत रसं सर्पिः शुक्तं क्षौद्रं तथा दधि॥ ३७॥

वातविषातुर में त्वरित रक्तमोक्षण (Blood letting)—यदि विषाक्त अंग विवर्ण, कठोर, सूजन युक्त हो जाय और उसमें वेदना हो तो तुरन्त पूर्ववर्णित विधि के अनुसार रक्तविस्रावण कराना चाहिए। यदि वातदोष प्रबल व्यक्ति वातवर्धक विषजन्य वेदनाओं से पीड़ित हो तो उसे रस (मांसरसादि), घृत, शुक्त (तक्र-पाठान्तर में) मधु और दधि का पान कराना चाहिए॥ ३६-३७॥

तृड्दाहघर्मसंमोहे पैत्तं पैत्तविषातुरम्। शीतैः संवाहनस्नानप्रदेहैः समुपाचरेत्॥ ३८॥

पित्तविषातुर में शीतसंवाहनादि—यदि पित्तदोषप्रबल व्यक्ति पित्तल विष से ग्रस्त हो और प्यास, दाह तथा मोह से पीड़ित हो और उष्णकाल (घर्म) हो तो शीतल संवाहन (सुखकरस्पर्शः), शीतल स्नान एवं प्रदेहों का प्रयोग कर उपचार करना चाहिए॥ ३८॥

शीते शीतप्रसेकार्तं श्लैष्मिकं कफकृद्विषम्। वामयेद्वमनैस्तीक्ष्णैस्तथा मूर्च्छामदान्वितम्॥ ३९॥

कफविषातुर-चिकित्सा—शीतकाल में श्लेष्म (प्रकृति) बहुल व्यक्ति यदि कफकृत विष से ग्रस्त हो, श्लेष्मप्रसेक से पीड़ित हो, मूर्च्छा तथा मद युक्त हो तो उसे तीक्ष्ण द्रव्यों से वमन कराने चाहिए॥ ३९॥

कोष्ठदाहरुजाध्मानमूत्रसङ्गरुगन्वितम्। विरेचयेच्छकृद्वायुसङ्गपित्तातुरं नरम्॥ ४०॥

पित्तविषातुर में विरेचन—यदि पित्तविषातुर व्यक्ति के कोष्ठ में दाह, वेदना, आध्मान, वेदना के साथ मूत्रावरोध और मल एवं वायु की रुकावट भी हो तो उसको विरेचन कराना चाहिए॥ ४०॥

विमर्श—'पच्यमानपक्वाशयगतयोः पित्तवातयोः विरेचनशब्देन विरेकबस्ती निर्दिशन्नाह–कोष्ठेत्यादि। कोष्ठदाहादौ तु विरेचनशब्दो विरेचन एव वर्तते' (ड.)।

शूनाक्षिकूटं निद्रार्तं विवर्णाविललोचनम्। विवर्णं चापि पश्यन्तमञ्जनैः समुपाचरेत्॥ ४१॥
शिरोरुग्गौरवालस्यहनुस्तम्भगलग्रहे। शिरो विरेचयेत् क्षिप्रं मन्यास्तम्भे च दारुणे॥ ४२॥

अञ्जन और शिरोविरेचन का विषाक्त में प्रयोग—अञ्जन का प्रयोग उस विषपीड़ित व्यक्ति में करना चाहिए, जिसका अक्षिकूट (भ्रुवोरधोभागः) सूज गया हो, जो निद्राग्रस्त हो, जिसके नेत्र विविध प्रकार के वर्ण वाले तथा आँसुओं से मलिन हो गये हों तथा जिसके शरीर का वर्ण नाना प्रकार का हो गया हो। इसी प्रकार शिरोविरेचन भी विषग्रस्त व्यक्ति की निम्नलिखित अवस्थाओं में शीघ्र कराना चाहिए— शिरोवेदना, गौरव, आलस्य, हनुस्तम्भ (Lock jaw), गलग्रह तथा दारुण मन्यास्तम्भ होने पर॥ ४१-४२॥

नष्टसंज्ञं विवृत्ताक्षं भग्नग्रीवं विरेचनैः। चूर्णैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैर्विषार्तं समुपाचरेत्॥ ४३॥
ताडयेच्च सिराः क्षिप्रं तस्य शाखाललाटजाः। तास्वप्रसिच्यमानासु मूर्ध्नि शस्त्रेण शस्त्रवित्॥
कुर्यात्काकपदाकारं व्रणमेवं स्रवन्ति ताः। सरक्तं चर्म मांसं वा निक्षिपेच्चास्य मूर्धनि॥ ४५॥
चर्मवृक्षकषायं वा कल्कं वा कुशलो भिषक्। वादयेच्चागदैर्लिप्ता दुन्दुभींस्तस्य पार्श्वयोः॥ ४६॥
लब्धसंज्ञं पुनश्चैनमूर्ध्वं चाधश्च शोधयेत्। निःशेषं निर्हरेच्चैवं विषं परमदुर्जयम्॥ ४७॥
अल्पमप्यवशिष्टं हि भूयो वेगाय कल्पते। कुर्याद्वा सादवैवर्ण्यज्वरकासशिरोरुजः॥ ४८॥
शोफशोषप्रतिश्यायतिमिरारुचिपीनसान्। तेषु चापि यथादोषं प्रतिकर्म प्रयोजयेत्॥ ४९॥
विषार्तोपद्रवांश्चापि यथास्वं समुपाचरेत्।

प्रधमन और विरेचन द्रव्यों का प्रयोग—उस विषार्त व्यक्ति में चूर्ण, तीक्ष्ण प्रधमन नस्य तथा विरेचनों का प्रयोग करना चाहिए जिसकी चेतना नष्ट हो गयी हो, आँखें फैल गयी हों तथा ग्रीवा भग्न हो गयी हो और ऐसे विषाक्त व्यक्ति की शाखाओं तथा ललाट की सिराओं का शीघ्र वेध करना चाहिए। यदि इनसे रक्त न निकले तो शस्त्रवेत्ता चिकित्सक रोगी के शिर में काकपदाकार व्रण बना दे और इस प्रकार रक्त निकलने पर व्रणस्थान पर रक्त युक्त त्वचा या मांस रख दें। अथवा कुशल चिकित्सक चर्मवृक्षकषाय या कल्क का प्रयोग करे ('चर्मवृक्षः पूर्वदिशे नौवृक्षः, कषायोऽत्र निर्यासः, असावपि प्रयोगो विषसंक्रमणहेतुः' – ड.)। रोगी के समीप ऐसे ढोल-नगाड़े बजाने चाहिए जिन पर अगद द्रव्यों का लेप किया हो। इस प्रकार होश में आ जाने पर रोगी का ऊर्ध्व-अधोमार्गों से वमन-विरेचन द्वारा कठिनाई से ठीक होने वाले सम्पूर्ण विष का निर्हरण करना चाहिए।

यदि विष अल्प मात्रा में भी शेष रह जाय तो पुनः उसके वेग होने लगते हैं और अंगग्लानि (सादः), विवर्णता, ज्वर, कास, शिरोवेदना, शोफ, शोष, प्रतिश्याय, तिमिर (नेत्ररोग), अरुचि और पीनस (नासारोग) हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में तत्तत् रोग का दोषानुसार उपचार (प्रतिकर्म) करना चहिए और विषपीड़ित के उपद्रवों की चिकित्सा यथास्व अर्थात् जैसा उपद्रव है उसी के अनुसार प्रतिकर्म करें॥ ४३-४९॥

विमर्श—'प्रतिश्यायस्थाने जेज्जटाचार्यः स्तैमित्यं पठति, तत्र स्तैमित्यं निश्चलता' (ड.)।

अथारिष्टां विमुच्याशु प्रच्छयित्वाऽङ्कितं तया॥ ५०॥
दह्यात्तत्र विषं स्कन्नं भूयो वेगाय कल्पते।

दंशस्थान का प्रच्छान—तदनन्तर अरिष्टाबन्ध को अलग कर शीघ्र ही दंशस्थल (अरिष्टा के स्थान) पर पछने लगाकर दहन कर दें, अन्यथा स्कन्दित (जमा हुआ) विष पुनः वेग उत्पन्न कर देता है॥ ५०॥

एवमौषधिभिर्मन्त्रैः क्रियायोगैश्च यत्नतः॥ ५१॥
विषे हृतगुणे देहाद्यदा दोषः प्रकुप्यति। तदा पवनमुद्वृत्तं स्नेहाद्यैः समुपाचरेत्॥ ५२॥
तैलमत्स्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैर्विषहरायुतैः। पित्तज्वरहरैः पित्तं कषायस्नेहबस्तिभिः॥ ५३॥
कफमारग्वधाद्येन सक्षौद्रेण गणेन तु। श्लेष्मघ्नैरगदैश्चैव तिक्तै रूक्षैश्च भोजनैः॥ ५४॥

विषनिर्हरणोपरान्त वातादि की चिकित्सा—इस प्रकार औषधि, मन्त्र और क्रियायोगों द्वारा यत्नपूर्वक चिकित्सा किये जाने से विष के निष्क्रिय होने पर वातादि दोष प्रकुपित होते हैं तो परस्थानगत वातदोष को स्नेहादि से ('आदिशब्दान्मृदुसंशोधनस्वादुभोजनाङ्गविमर्दनादिभिः') शान्त करना चाहिए। यदि पित्तदोष प्रकुपित हो तो उसके प्रशमन के लिए तैल, मत्स्य, कुलत्थ और अम्ल द्रव्यरहित तथा विष एवं पित्त ज्वरहर कषाय तथा स्नेह बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। कफदोष प्रकुपित हो तो आरग्वधादि गण की औषधियों (सू. ३८।६) तथा कफघ्न अगदों को मधु मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए। भोजन में तिक्त एवं रूक्ष पदार्थ देने चाहिए॥ ५१-५४॥

विमर्श—'औषधिभिः महागदादिनिर्दिष्टाभिः, मन्त्रैः कुरुकुल्लादिनिर्दिष्टैः, क्रियायोगैः दूष्यभूत-शोणितहरबहिःपरिमार्जनसेचनालेपनादिभिः, तथैवान्तःपरिमार्जनवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनाख्यैः'।

वृक्षप्रपातविषमपतितं मृतमम्भसि। उद्बद्धं च मृतं सद्यश्चिकित्सेन्नष्टसंज्ञवत्॥ ५५॥

गिरने आदि से नष्टसंज्ञ की चिकित्सा—पेड़ पर से गिरने पर, निम्नोन्नत प्रदेश से गिरने पर, पानी में डूबने (Drowning) पर तथा फाँसी लगाकर (Hanging) सद्यः मृतसदृश व्यक्ति की ('तत्र मृतशब्दो मृत्युसमीपे वर्तमानो गृह्यते न पुनर्मृत एव, तस्य निष्फलचिकित्सितत्वात्' – ड.) नष्टसंज्ञ (बेहोश) व्यक्ति के समान चिकित्सा करनी चाहिए॥ ५५॥

विमर्श—**नष्टसंज्ञ** (Unconscious patient) की चिकित्सा में चिकित्सक के विवेक की परीक्षा होती है। यदि ऐसे रोगी का इतिवृत्त (Medical history) ज्ञात न हो तो रोगनिर्णय और भी कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम रोगी के जीवन को बचाने के प्रयास में स्तब्धता (Shock), रक्तसंचार (Circulatory system) और श्वसनपात (Respiratory failure) का उपचार आवश्यक है।

बेहोश रोगी के इलाज में सफलता सही-सही रोगनिर्णय पर निर्भर करती है। रोगनिर्णयार्थ सर्वप्रथम यह जानने का प्रयास करें कि बेहोशी का कारण केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र (CNS) की रचनात्मक हानि (Structural damage) है (जैसे—शिर में चोट लगने से रक्तसंचयार्बुद का फैलना) या चयापचयिक (Matabolic) विकृति (जैसे—Toxins, poisoning, anoxia) है; एतदर्थ रोगी का पूर्ण विवरण जानना आवश्यक है।

रोगी के नैदानिक (Clinical) परीक्षण में—१. बेहोशी की गहराई (Depth), २. तारा (Pupillary) प्रतिक्रियाएँ, ३. मोटरटोन में परिवर्तन, ४. श्वसन सम्बन्धी परिवर्तन और ५. कपाल (Cranial) तन्त्रिकाओं की क्रियाएँ।

इस सम्बन्ध में इतना स्मरण रखें कि 'प्रतप्तागारवत् शीघ्रं तत्र कुर्यात् चिकित्सितम्'—सुश्रुत के इस आदेश के अनुसार चिकित्सा तुरन्त की जानी चाहिए।

सांस्थानिक (Systemic) परीक्षण में हृद्वाहिनी (Cardiovascular) विकार, श्वसनतन्त्र के रोग, यकृत्-व्याधियाँ, दुर्दमता (Malignancy) की जाँच, अन्तःस्रावी (Endocrine) विकारों के बारे में जानना और यह भी विचार करें कि बेहोशी का हेतु निर्जलान्नता (Inanition) या दीर्घकाल तक भूखा रहना आदि तो नहीं है।

जाँच (Investigation) में—रक्तगणना, मूत्रपरीक्षा, रक्तशर्करा, आमाशयप्रक्षालन, कटिवेधन, एक्स-रे और इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम (E.C.G.) आवश्यक हैं।

चिकित्सा के आरम्भ में संवातन (Ventilation) और ऑक्सीजन की व्यवस्था, हृदय की ताल (Rhythm) को तथा रक्तदाब को १०० मि.मी. पारद (Hg.) तक बनाये रखने की व्यवस्था होनी चाहिए।

चिकित्सा (नष्टसंज्ञ व्यक्ति की) दो प्रकार की है—१. विशिष्ट (Specific) और २. साधारण या सहायक। इनमें विशिष्ट चिकित्सा बेहोशी के कारणों के अनुसार की जाती है जबकि सहायक उपचार में—१. संवातन (Ventilation), रक्तदाब, ऑक्सीजन की व्यवस्था को बनाये रखना, २. तरल एवं इलेक्ट्रोलाइट सन्तुलन को बनाये रखने की व्यवस्था, ३. पोषण (Nutrition) की ओर ध्यान देना, ४. फुप्फुसों की स्वास्थ्य-व्यवस्था, ५. रोगी की त्वचा की देखभाल और ६. मल-मूत्र के निर्हरण की व्यवस्था प्रमुख हैं।

गाढं बद्धेऽरिष्टया प्रच्छिते वा तीक्ष्णैर्लेपैस्तद्विधैर्वाऽवशिष्टैः।
शूने गात्रे क्लिन्नमत्यर्थपूति ज्ञेयं मांसं तद्विषात् पूति कष्टम्॥५६॥
सद्यो विद्धं निस्रवेत् कृष्णरक्तं पाकं यायाद्दह्यते चाप्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति शीर्णं मांसं यात्यजस्रं क्षताच्च॥५७॥
तृष्णा मूर्च्छा भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च यस्य स्युस्तं दिग्धविद्धं व्यवस्येत्।
पूर्वोद्दिष्टं लक्षणं सर्वमेतज्जुष्टं यस्यालं विषेण व्रणाः स्युः॥५८॥
लूतादष्टा दिग्धविद्धा विषैर्वा जुष्टा प्रायस्ते व्रणाः पूतिमांसाः।

दिग्धविद्ध के लक्षण—दंशस्थल को कसकर बाँधन से, पछने लगाने से, तीक्ष्ण द्रव्यों के लेप से अथवा इसी तरह के अन्य कारणों से शरीर (दंशस्थल) सूज गया हो, विष से गल गया हो, मांस सड़ान्ध (पूति) युक्त हो गया हो तो यह दशा कष्ट से ठीक होती है (अर्थात् कृच्छ्रसाध्य)। सद्योविद्ध अर्थात् ताजा बिंधा हुआ व्रण जिससे कृष्ण वर्ण का रुधिर निकलता है, वह पक जाता है, उसमें अनवरत जलन होती है, रंग काला पड़ जाता है, व्रणस्थल गीला रहता है, अत्यन्त दुर्गन्ध आती है और क्षत हुए स्थान का मांस गल जाता है। इसके साथ-साथ तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह और ज्वर भी होते हैं। यह अवस्था दिग्धविद्ध कहलाती है। यदि शत्रु द्वारा प्रयुक्त विष से तीव्र व्रण उत्पन्न होते हैं तो उनके लक्षण पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार पाये जाते हैं। इसी प्रकार जो व्रण लूता (मकड़ी) के दंश से, दिग्धविद्ध (विषबुझे बाण से उत्पन्न) होने से या विष से उत्पन्न होते हैं उनके मांस से प्रायः दुर्गन्ध आती है॥५६-५८॥

विमर्श—'यस्य प्राणिनोऽलमत्यर्थं शत्रूणामवचारितेन विषेण जुष्टा व्रणाः स्युर्भवेयुः, तस्य एतत्सर्वं पूर्वोपदिष्टं लक्षणं भवति' (ड.)।

तेषां युक्त्या पूतिमांसान्यपोह्य वार्योकोभिः शोणितं चापहृत्य॥५९॥

हृत्वा दोषान् क्षिप्रमूर्ध्वं त्वधश्च सम्यक् सिञ्चेत् क्षीरिणां त्वक्कषायैः।
अन्तर्वस्त्रं दापयेच्च प्रदेहान् शीतैर्द्रव्यैराज्ययुक्तैर्विषघ्नैः॥ ६०॥

दिग्धविद्ध व्रणों की चिकित्सा—ऐसे व्रणों के पूतिमांस को युक्तिपूर्वक पृथक् कर जलौकाओं द्वारा रक्तनिर्हरण करना चाहिए तथा दोषों को (वमन-विरेचन द्वारा) ऊर्ध्वाधोमार्गों से दूर कर क्षीरिवृक्षों ('न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थगर्दभाण्डानाम्') के छाल के कषाय से अवसिंचन करें और पित्तविसर्पोक्त शीतवीर्य एवं स्पर्श वाले विषघ्न द्रव्यों के कल्क में शतधौत घृत मिलाकर तथा विकेशिका (Gauze) में लगावें और इसे व्रण के अन्दर रखें॥ ५९-६०॥

भिन्ने त्वस्थ्ना दुष्टजातेन कार्यः पूर्वो मार्गः पैत्तिके यो विषे च।

अस्थिकृत व्रणचिकित्सा—विषयुक्त अस्थि से उत्पन्न व्रण की चिकित्सा पित्तज एवं विषज व्रण की जो चिकित्सा वर्णित की है उसके अनुसार करनी चाहिए।

विमर्श—'अस्थिना दुष्टजातेन इत्युपलक्षणं, तेन तत्सदृशशकृन्मूत्रशुक्रस्पर्शपर्दनगुदास्थिशूकशवैः सविषकण्टकैः वृश्चिककण्टकैश्च कृते व्रणे' (ड.)।

त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेन्द्रो लवणश्च वर्गः॥ ६१॥
कटुत्रिकं चैव सुचूर्णितानि शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि।
एषोऽगदो हन्ति विषं प्रयुक्तः पानाञ्जनाभ्यञ्जननस्ययोगैः॥ ६२॥
अवार्यवीर्यो विषवेगहन्ता महागदो नाम महाप्रभावः।

त्रिवृदादि महागद—निशोथ, विशल्या (काष्ठपाटला, लांगली ?), मुलेठी, हल्दी, दारुहल्दी, मंजिष्ठा, किरमाल (अमलतास), पाँचों नमक, सोंठ, मरिच, पीपल—इन सबके चूर्ण को मधु मिलाकर शृंग में भर कर रख लें। इसको पान, अञ्जन, अभ्यंग और नस्य के रूप में प्रयुक्त करने पर यह विष को नष्ट करता है तथा अवार्यवीर्य अर्थात् यह अजेय शक्ति वाला, विष के वेगों को नष्ट करने वाला, महाप्रभाव वाला महान् अगद है॥ ६१-६२॥

विमर्श—लवणपञ्चक—'सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्भिदमेव च। सामुद्रेण समं चैतल्लवणानि·····'।

विडङ्गपाठात्रिफलाजमोदाहिङ्गूनि वक्रं त्रिकटूनि चैव॥ ६३॥
सर्वश्च वर्गो लवणः सुसूक्ष्मः सचित्रकः क्षौद्रयुतो निधेयः।
शृङ्गे गवां शृङ्गमयेन चैव प्रच्छादितः पक्षमुपेक्षितश्च॥ ६४॥
एषोऽगदः स्थावरजङ्गमानां जेता विषाणामजितो हि नाम्ना।

अजित नामक महागद—वायविडंग, पाठा, त्रिफला, अजमोद, हींग, तगर (वक्रम्), सोंठ, मरिच, पीपल, पाँचों नमक, चित्रक—इन सबके सूक्ष्म चूर्ण में मधु मिलाकर गोशृंग में भरकर तथा सींग के ढक्कन से आच्छादित कर पन्द्रह दिन तक रखें। यह 'अजित' नामक महागद स्थावर एवं जंगम विषों को नष्ट करता है॥ ६३-६४॥

प्रपौण्डरीकं सुरदारु मुस्ता कालानुसार्या कटुरोहिणी च॥ ६५॥
स्थौणेयकध्यामकगुग्गुलूनि पुन्नागतालीशसुवर्चिकाश्च।
कुटन्नटैलासितसिन्धुवाराः शैलेयकुष्ठे तगरं प्रियङ्गुः॥ ६६॥
रोध्रं जलं काञ्चनगैरिकं च समागधं चन्दनसैन्धवं च।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि कृत्वा शृङ्गे निदध्यान्मधुसंयुतानि॥ ६७॥
एषोऽगदस्तार्क्ष्य इति प्रदिष्टो विषं निहन्यादपि तक्षकस्य।

तार्क्ष्य नामक अगद—प्रपौण्डरीक, देवदारु, नागरमोथा, कालानुसार्या (कालानुसारिवा, कृष्णसारिवा या तगर), कुटकी, थनेला (स्थौणेयक), कत्तृण (ध्यामक), गूगल, नागकेसर, तालीसपत्र, सुवर्चिका ('सूर्यावर्तः सौञ्चलीति लोके'—डल्हणः–सु.सू. ३७।१२), कुटन्नट (श्योनाक), इलायची छोटी, सितसिन्धुवार (सफेद फूलवाली निर्गुण्डी), शैलेय (छैडछबीला), कूठ, तगर, प्रियंगु, पठानीलोध (*Symplocos crataegoides*), जल (बालक, सुगन्धबाला), सोनागेरू, पीपल, रक्तचन्दन (चन्दने रक्तचन्दनम्), सेंधानमक—इनको समान मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें और मधु मिलाकर गोशृंग में भर लें। यह 'तार्क्ष्य' नामक अगद तक्षक जैसे विषैले साँप के विष को भी नष्ट करने में समर्थ है॥ ६५-६७॥

मांसीहरेणुत्रिफलामुरङ्गीरक्तालतायष्टिकपद्मकानि ॥ ६८॥
विडङ्गतालीशसुगन्धिकैलात्वक्कुष्ठपत्राणि सचन्दनानि।
भार्गी पटोलं किणिही सपाठा मृगादनी कर्कटिका पुरश्च॥ ६९॥
पालिन्द्यशोकौ क्रमुकं सुरस्याः प्रसूनमारुष्करजं च पुष्पम्।
सूक्ष्माणि चूर्णानि समानि शृङ्गे न्यसेत्सपित्तानि समाक्षिकाणि॥ ७०॥
वराहगोधाशिखिशल्लकीनां मार्जारजं पार्षतनाकुले च।
यस्यागदोऽयं सुकृतो गृहे स्यान्नाम्नर्षभो नाम नरर्षभस्य॥ ७१॥
न तत्र सर्पाः कुत एव कीटास्त्यजन्ति वीर्याणि विषाणि चैव।
एतेन भेर्यः पटहाश्च दिग्धा नानद्यमाना विषमाशु हन्युः॥ ७२॥
दिग्धाः पताकाश्च निरीक्ष्य सद्यो विषाभिभूता ह्यविषा भवन्ति।

ऋषभ नामक अगद—मांसी (जटामांसी), हरेणु ('रेणुका नाम गन्धद्रव्यम्'–डल्हण/सु.चि. २।७५), त्रिफला, मुरङ्गी (शोभाञ्जन), रक्तालता (मंजीठ), यष्टिक (मुलेठी), पद्मक (पद्माख), विडंग, तालीशपत्र, सुगन्धिका (सर्पगन्धिका, गन्धनाकुली), छोटी इलायची, दालचीनी, कूठ, तेजपत्र, चन्दन (रक्त), भार्गी, परवल, कटभी (किणही), पाठा, मृगादनी (कर्कटिका, इन्द्रवारुणीफलमित्यन्ये), कर्कटिका, गुग्गुलु (पुरः), निशोथ (पालिन्दी), अशोक, सुपारी, तुलसीपुष्प (सुरस्याः प्रसूनम्) और भिलावे के फूल—इनको बराबर मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर लें और पित्त तथा मधु मिलाकर गोशृंग में भर लें। एतदर्थ पित्त सूअर, गोह, मोर, सेह (शल्लकी), बिल्ली, पार्षत (चित्तल, चिकितनः) और नेउला—इन्हीं का लेना चाहिए।

जिस राजा के घर में भली प्रकार तय्यार किया गया यह 'ऋषभ' नामक अगद रहता है, वहाँ न सर्प और न कीट ही अपने जहरीले विष एवं वीर्य का त्याग कर पाते हैं। इसके कल्क का ढोल पर लेप कर देने पर तथा भेरी (नगारे) पर लगाने पर इनकी आवाज से विष शीघ्र नष्ट हो जाता है अर्थात् ये विष को नष्ट कर देते हैं। यदि विषपीड़ित व्यक्ति इस अगद लगी पताका को देख लेते हैं तो (देखने मात्र से ही) विषरहित हो जाते हैं॥ ६८-७२॥

लाक्षा हरेणुर्नलदं प्रियङ्गुः शिग्रुद्वयं यष्टिकपृथ्विकाश्च॥ ७३॥
चूर्णीकृतोऽयं रजनीविमिश्रो सर्पिर्मधुभ्यां सहितो निधेयः।
शृङ्गे गवां पूर्ववदापिधानस्ततः प्रयोज्योऽञ्जननस्यपानैः॥ ७४॥
सञ्जीवनो नाम गतासुकल्पानेषोऽगदो जीवयतीह मर्त्यान्।

संजीवन नामक अगद—लाख, हरेणु, नलद (खश), प्रियंगु, दोनों (मीठा और कड़वा) सहिजन, मुलेठी, इलायची (पृथ्वीका)—इनके सूक्ष्म चूर्ण में हल्दी और घृत-मधु मिलाकर पूर्ववत् गोशृंग में भर लें और गोशृंग का ढक्कन लगा दें। इसको पान, अञ्जन और नस्य के लिए प्रयुक्त करना चाहिए। संजीवन नामक यह अगद मृत-सदृश व्यक्ति को भी जीवित कर देता है॥ ७३-७४॥

श्लेष्मातकीकट्फलमातुलुङ्ग्यः श्वेता गिरिह्वा किणिही सिता च॥ ७५॥
सतण्डुलीयोऽगद एष मुख्यो विषेषु दर्वीकरराजिलानाम्।

श्लेष्मातकादि चूर्ण—लिसोडा, कट्फल, बीजपूरक, श्वेता (गिरिह्वा, श्वेतकन्दा), किणिही (कटभी, नीलस्यन्दा) और शर्करा—इनको चौलाई में मिलाकर दर्वीकर और राजिमान् सर्पों के विष में प्रयुक्त करना चाहिए॥ ७५॥

द्राक्षा सुगन्धा नगवृत्तिका च श्वेता समङ्गा समभागयुक्ता॥ ७६॥
देयो द्विभागः सुरसाच्छदस्य कपित्थबिल्वादपि दाडिमाच्च।
तथाऽर्धभागः सितसिन्धुवारादङ्कोठमूलादपि गैरिकाच्च॥ ७७॥
एषोऽगदः क्षौद्रयुतो निहन्ति विशेषतो मण्डलिनां विषाणि।

मण्डलिविषहरण द्राक्षादि अगद—द्राक्षा, सुगन्धा (सर्पसुगन्धा, सर्पगन्धा), नगवृत्तिका (शल्लकी), श्वेता (श्वेतस्यन्दः), मञ्जिष्ठा—इनको समान मात्रा में लेकर तुलसीपत्र, कपित्थ, बिल्व और दाडिम के पत्र—प्रत्येक दो भाग; श्वेतपुष्पा निर्गुण्डी, अंकोठमूल और गैरिक—प्रत्येक आधा भाग; इनके चूर्ण में मधु मिलाकर प्रयोग में लाना चाहिए। यह अगद विषहर है, जो विशेषकर मण्डली सर्पों के विष को नष्ट करता है॥ ७६-७७॥

वंशत्वगार्द्राऽऽमलकं कपित्थं कटुत्रिकं हैमवती सकुष्ठा॥ ७८॥
करञ्जबीजं तगरं शिरीषपुष्पं च गोपित्तयुतं निहन्ति।
विषाणि लूतोन्दुरुपन्नगानां कैटं च लेपाञ्जननस्यपानैः॥ ७९॥
पुरीषमूत्रानिलगर्भसङ्गान् निहन्ति वर्त्यञ्जननाभिलेपैः।
काचार्मकोथान् पटलांश्च घोरान् पुष्पं च हन्त्यञ्जननस्ययोगैः॥ ८०॥

सर्वकार्मिक अगद—गीले (बिना सूखे) बाँस की छाल (आर्द्रवंशस्य त्वक्), आँवला, कैथ, सोंठ, मरिच, पीपल, वचा, कूठ, करञ्जबीज, तगर, सिरस के फूल और गाय का पित्त—इन सबको चूर्ण कर परस्पर मिला लें और लेप, अञ्जन, नस्य एवं पान के रूप में प्रयुक्त करें। यह 'सर्वकार्मिक' नामक अगद मकड़ी, चूहा, पन्नग (सर्प) और बिल्ली के विष को नष्ट करता है। पुरीष, मूत्र, वायु और गर्भ के अवरोध (रुकावट) में इस अगद का वर्ति, अञ्जन और नाभिप्रदेश पर लेप करने से लाभ होता है। इसी प्रकार काच (मोतियाबिन्द), अर्म, अक्षिकोथ (कोथः पूतिभावः) और पटल के भयानक रोग तथा फोला पड़ना (पुष्पम्/नेत्ररोग) में अञ्जन एवं नस्य के लिए इस अगद का प्रयोग करने से ये रोग नष्ट होते हैं॥ ७८-८०॥

समूलपुष्पाङ्कुरवल्कबीजात् क्वाथः शिरीषात् त्रिकटुप्रगाढः।
सलावणः क्षौद्रयुतोऽथ पीतो विशेषतः कीटविषं निहन्ति॥ ८१॥

पञ्च शिरीष नामक अगद—सिरस (शिरीष) के मूल, पुष्प, अंकुर (नवपत्रांकुरः), छाल और बीज—इनके क्वाथ में त्रिकटु (सोंठ-मरिच-पीपल) का चूर्ण एवं लवण तथा मधु मिलाकर पिलाने से कीटविष नष्ट होता है॥ ८१॥

विमर्श—'अयमगदः पञ्चशिरीषनामा' (ड.)।

कुष्ठं त्रिकटुकं दार्वी मधुकं लवणद्वयम्। मालती नागपुष्पं च सर्वाणि मधुराणि च॥ ८२॥
कपित्थरसपिष्टोऽयं शर्कराक्षौद्रसंयुतः। विषं हन्त्यगदः सर्वं मूषिकाणां विशेषतः॥ ८३॥

सर्वकार्मिक अगद—कूठ, त्रिकटु, दारुहल्दी, मुलेठी, लवणद्वय (सौवर्चल और सैन्धव), मालती, नागकेसर, काकोल्यादि गण की सम्पूर्ण औषधियाँ—इन औषधियों को कपित्थ के रस में पीस कर तथा शर्करा एवं मधु मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिए। यह अगद सभी प्रकार के विषों को, विशेषकर मूषिका-विषों को नष्ट करता है॥ ८२-८३॥

सोमराजीफलं पुष्पं कटभी सिन्धुवारकः। चोरको वरुणः कुष्ठं सर्पगन्धा ससप्तला॥ ८४॥
पुनर्नवा शिरीषस्य पुष्पमारग्वधार्कजम्। श्यामाऽम्बष्ठाविडङ्गानि तथाऽऽम्राश्मन्तकानि च॥
भूमी कुरबकश्चैव गण एकसरः स्मृतः। एकशो द्विस्त्रिशो वाऽपि प्रयोक्तव्यो विषापहः॥ ८६॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने सर्पदष्टविषचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥



एकरससंज्ञक अगद—बाकुची के बीज और पुष्प, कटभी, श्वेतपुष्पा निर्गुण्डी, चोरक (ग्रन्थिपर्णानुकारी), वरुण, कूठ, सर्पगन्धा, सप्तला (यवतिक्ताभेदः), पुनर्नवा, शिरीष, अमलतास और आक के फूल, श्यामा (श्यामलता/प्रियंगुरित्यन्ये), पाठा, विडंग, आम्र, अश्मन्तक (अम्लोटकानुकारी), काली मिट्टी और कुरबक (सैरेयक; डल्हणानुसार—'स्निग्धपत्रः सितकुसुमः स्वनामप्रसिद्धः')—यह औषधगण 'एकरससंज्ञक' है। इसमें से एक-एक, दो-दो या तीन-तीन को प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रकार यह विषहर है॥ ८४-८६॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक में सर्पविष का उपचार—विष को अचूषित होने और शरीर में न फैलने देने के उपाय और सम्भव हो तो विष को चूसकर निकालने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर में फैल गये सर्पविष को निष्क्रिय करने की औषध 'Antevenene' ही है जिसका सूचीवेध द्वारा स्थानिक एवं अन्तःसिरीय प्रयोग किया जाता है। यह 'Polyvalent anti-snake venom serum' नाम से प्राप्य है। इसको परिस्रुत जल में घोलकर ५ मि.ली.की मात्रा में अंगुली और अँगूठे को छोड़ कर दंशस्थल पर प्रयुक्त करते हैं (Skin test निगेटिव होना चाहिए)। तदनन्तर ०.३ से ०.५ मि.ली. १:१००० का एड्रीनलीन का अन्तःपेशीय सूचीवेध कर उपरोक्त सीरम के ३० मि.ली. को ३०० मि.ली. नार्मल सेलाइन में मिलाकर एक-दो घण्टे के समय में सिरा में स्लो ड्रिप से देना चाहिए। इस मात्रा को एक से अधिक बार भी रोगी की दशा के अनुसार दिया जा सकता है।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'सर्पदष्टविषचिकित्सितकल्प' नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ५॥



अध्याय-सारांश

'सर्पदष्टविषचिकित्सित' नामक इस अध्याय में—सर्प, कीट, मूषक, लूता आदि के दंश की चिकित्सा का वर्णन है। सर्वप्रथम अरिष्टाबन्ध बाँधना चाहिए, जिससे विष न फैलने पाये (३-४), अथवा दंशस्थल का दहन, आचूषण करना चाहिए। मण्डलीदंश के दहन का निषेध, मन्त्रचिकित्सा (१०), शरीरव्यापी विष में सिराव्यधन (१४), वमन की उपयोगिता (१९) आदि; फणीसर्पदंश के प्रथमादि वेगानुसार चिकित्सा (२०-२३), मण्डलीदंश की चिकित्सा, राजिमान्-दंश की चिकित्साविधि (२४-३०), पशुओं, पक्षियों की विषचिकित्सा (३२), विषचिकित्सा में देश, प्रकृति, सात्म्य आदि का विचार आवश्यक (३४), स्थावर एवं जंगम विषों की चिकित्सा में रक्तविस्रावण, वमन, विरेचन, अंजन, शिरोविरेचन, तीक्ष्ण प्रधमन चूर्ण आदि का प्रयोग रोगी की दशा के अनुसार (३५-४९); गिरने से, डूबने से, लटकाये जाने पर बेहोश व्यक्ति की सहसा चिकित्सा करने का आदेश (५५); विषहर अगद, महाअगद, अजित-अगद आदि (६९-७२), मूषिकाविषहर योग (८२)।

●

षष्ठोऽध्याय:

अथातो दुन्दुभिस्वनीयं कल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'दुन्दुभिस्वनीयकल्प' (अध्यायमिति पाठान्तरम्) नामक अध्याय (The Doctrine of the Sounds of a Drum—of Antipoisonovs Virtues) की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

धवाश्वकर्णशिरीषतिनिशपलाशपिचुमर्दपाटलिपारिभद्रकाम्रोदुम्बरकरहाटकार्जुनककुभसर्जक-पीतनश्लेष्मातकाङ्कोठामलकप्रग्रहकुटजशमीकपित्थाश्मन्तकार्कचिरबिल्वमहावृक्षारुष्करारलुमधुक-मधुशिग्रुशाकगोजीमूर्वाभूर्जतिल्वकेक्षुरकगोपघोण्टारिमेदानां भस्मान्याहृत्य गवां मूत्रेण क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, दद्याच्चात्र पिप्पलीमूलतण्डुलीयकवराङ्गचोचमञ्जिष्ठाकरञ्जिकाहस्तिपिप्पली-मरिचविडङ्गगृहधूमानन्तासोमसरलाबाह्लीकगुहाकोशाम्रश्वेतसर्षपवरुणलवणप्लक्षनिचुलकवञ्जुलवक्रा-लवर्धमानपुत्रश्रेणीसप्तपर्णटुण्टुकैलवालुकनागदन्त्यतिविषाभयाभद्रदारुकुष्ठहरिद्रावचाचूर्णानि लोहानां च समभागानि, ततः क्षारवदागतपाकमवतार्य लोहकुम्भे निदध्यात् ॥ ३ ॥

सर्वसर्पविषघ्न क्षारागद—धव (बाकली/ *Anogeissus latifolia*), अश्वकर्ण (पूर्वदेशे प्रसिद्धः), सिरस, तिनिश (स्यन्दनः), पलाश (ढाक), निम्ब (पिचुमर्दः), पाटलि (पाटला), पारिभद्र ('रक्तकुसुमः, कण्टकीपलाशः'–डल्हणः/फरहद), आम, गूलर, करहाट (कण्टकीफलो भद्राख्यः, मदनफलं–'करहाटो मरुबकः शल्यको विषपुष्पकः'–भा.प्र.), अर्जुन, ककुभ (सुगन्धमूलो विटविशेषः, आर्तगलः), सर्जक (वृक्षविशेषः/ *Vateria indica*), कपीतन (गर्दभाण्डः), लिसोड़ा, कङ्कोठ, आँवला, प्रग्रह (किरमालकः, आरग्वध), कुडा, शमी, कैथ, अश्मन्तक ('कोविदारसदृशयुग्मपत्रं लताविशेषम् अश्मन्तकमाचक्षते'), आक, चिरबिल्व (चिलबिल, गढवाली में 'पापडी'), महावृक्ष (सीहुण्डः), भिलावा, अरलु ('कटवङ्ग'–ड.), मधुक (यष्टीमधु), मधुशिग्रु ('रक्तविटपः, रक्तशोभांजनक इत्यपरे'), शाक (महापत्रः, 'श्रीपर्ण' इति लोके/सागवान), गोजी (गाजवाँ), मूर्वा, भूर्ज (भोजपत्र), तिल्वक (लोध्र), इक्षुरक (कोकिलाक्षकः, तालमखाना), गोपघोण्टा (कर्कटी) और अरिमेद (विट्खदिर)—इन सम्पूर्ण द्रव्यों की भस्म को गोमूत्र में क्षारपाकविधि के अनुसार तय्यार कर तथा छानकर पकाना चाहिए ('एषां धवादीनामरिमेदान्तानां समूलदलकाण्डशाखानां समेन भागेन गृहीतानां भस्मानि आहृत्य गवां मूत्रेण क्षारषड्गुणेन क्षारकल्पेन परिस्राव्य एकविंशतिवारान् गालयित्वा इत्यर्थः'–ड.)। इसमें पीपलामूल, चौलाई, वराङ्ग (दालचीनी), चोच ('वराङ्गं = वनवासिकात्वक्, चोचकं द्वितीया स्थूला त्वक्'–ड.), मंजीठ, करञ्जिका (नक्तमाल), गजपीपल, मरिच, विडङ्ग, गृहधूम, अनन्ता (उत्पलसारिवा), सोम (सोमवल्कः कट्फलाख्यः), सरला (त्रिवृत्), बाल्हीक (कुंकुम), गुहा (शालपर्णी), कोशाम्र (*Schleichera oleosa*), सफेद सरसों, वरुण, लवण, पिलखन (प्लक्षः पर्कटी), निचुलक (जलवेतसः), वञ्जुल, तगर, हरिताल, एरण्ड (वर्धमानः), पुत्रश्रेणी (द्रवन्ती), सप्तपर्ण, टुण्टुक (सोनापाठा), एलवालुक, नागदन्ती (इन्द्रवारुणीभेदः), अतीस, हरीतकी, भद्रदारु (देवदारुः), कूठ, हलदी और वच के चूर्ण को तथा समान मात्रा में लोहचूर्ण (लोहादि धातुओं की भस्म) को मिलाकर एवं क्षार की तरह पकाने के बाद उतार कर लोहनिर्मित कुम्भ में रख लें ('एषां पिप्पल्यादीनां चूर्णानि लोहानां च सर्वेषां यथालाभं क्षारोदकात् त्रिंशत्तमभागेन अत्र अस्मिन् क्षारोदके दद्यात् निक्षिपेदित्यर्थः। तदनु पुनर्विपचेत् यावन्नातिद्रवं नातिसान्द्रं न भवति'–ड.) ॥ ३ ॥

विमर्श—'गयदासस्तु शिरीषपिचुमर्दककुभारुष्करमधुकशिग्रुकान् परित्यज्य त्रिंशदेव पठति; पिप्पल्यादिष्वावापेषु च मरिचसोमगुहालवणवक्रालान् परित्यज्य त्रिंशद्द्रव्याणि पठति' (ड.)।

अनेन दुन्दुभिं लिम्पेत् पताकां तोरणानि च। श्रवणाद्दर्शनात् स्पर्शात् विषात् सम्प्रतिमुच्यते॥ ४॥

एष क्षारागदो नाम शर्करास्वश्मरीषु च। अर्शःसु वातगुल्मेषु कासशूलोदरेषु च॥ ५॥

अजीर्णे ग्रहणीदोषे भक्तद्वेषे च दारुणे। शोफे सर्वसरे चापि देयः श्वासे च दारुणे॥ ६॥

सदा सर्वविषार्तानां सर्वथैवोपयुज्यते। एष तक्षकमुख्यानामपि दर्पाङ्कुशोऽगदः॥ ७॥

क्षारागद का प्रयोग—इस प्रकार तय्यार किये गये इस सर्वसर्पविषघ्न क्षारागद का दुन्दुभि (नगारा), पताका और तोरणों (बहिर्द्वार) पर लेप करना चाहिए। इस नगारे की आवाज सुनने, पताका तथा तोरणों के दर्शन एवं स्पर्श मात्र से सर्पों के विषैले प्रभाव से मुक्ति मिल जाती है। इस योग का 'क्षारागद' नाम है जिसका प्रयोग शर्करा, अश्मरी, अर्श, वातिक गुल्म, कास, शूल, उदररोग, अजीर्ण, ग्रहणीदोष, अन्न में अरुचि (दारुण भक्तद्वेष), सर्वसर शोफ और दारुण श्वासरोग में प्रयोग करना चाहिए। यह अगद सभी प्रकार के विषों से पीड़ितों में पानादि के रूप में सदा प्रयुक्त करना चाहिए तथा यह तक्षक जैसे प्रमुख सर्पों के अहंकार को नष्ट करने में अंकुश सदृश है॥ ४-७॥

विडङ्गत्रिफलादन्तीभद्रदारुहरेणवः। तालीशपत्रमञ्जिष्ठाकेशरोत्पलपद्मकम्॥ ८॥

दाडिमं मालतीपुष्पं रजन्यौ सारिवे स्थिरे। प्रियङ्गुस्तगरं कुष्ठं बृहत्यौ चैलवालुकम्॥ ९॥

सचन्दनगवाक्षीभिरेतैः सिद्धं विषापहम्। सर्पिः कल्याणकं ह्येतद्ग्रहापस्मारनाशनम्॥ १०॥

पाण्ड्वामयगरश्वासमन्दाग्निज्वरकासनुत्। शोषिणामल्पशुक्राणां वन्ध्यानां च प्रशस्यते॥ ११॥

विषघ्न कल्याणक घृत—विडङ्ग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्ती, देवदारु, हरेणु ('रेणुका नाम गन्धद्रव्यम्'–ड.), तालीसपत्र, मंजीठ, केसर, कमल, पद्माख, दाडिम, मालती के फूल, हल्दी, दारुहल्दी, कृष्ण और श्वेत सारिवा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, प्रियंगु, तगर, कूठ, बड़ी और छोटी कटेरी, एलवालुक, चन्दन और इन्द्रायण—इनसे सिद्ध 'कल्याणक' नामक घृत विषहर है। यह घृत अपस्मार और ग्रहबाधाओं का नाश करता है तथा पाण्डुरोग, गरविष, श्वास, अग्निमान्द्य, ज्वर एवं कासहर है और शोषपीड़ितों, अल्प शुक्रधातु वालों तथा बन्ध्याओं के लिए भी प्रशस्त है॥ ८-११॥

विमर्श—'इदं कल्याणकं घृतं भूतविद्यायां पठितत्वात् केचिन्न पठन्ति' (ड.)।

अपामार्गस्य बीजानि शिरीषस्य च माषकान्। श्वेते द्वे काकमाचीं च गवां मूत्रेण पेषयेत्॥ १२॥

सर्पिरेतैस्तु संसिद्धं विषसंशमनं परम्। अमृतं नाम विख्यातमपि सञ्जीवयेन्मृतम्॥ १३॥

अमृत नामक विषघ्न घृत—अपामार्ग के बीज, सिरस के बीज, श्वेता और महाश्वेता ('कटभीद्वयमित्यर्थः'–ड.) और मकोय को गोमूत्र में पीसकर घृत सिद्ध करें। यह 'अमृत' नामक घृत परम (उत्कृष्ट) विषसंशमन है और मृतसदृश व्यक्ति को भी जीवित करने में समर्थ है॥ १२-१३॥

विमर्श—माषकान्—'माषका इव माषकाः तान्, बीजानीत्यर्थः' (ड.)।

चन्दनागुरुणी कुष्ठं तगरं तिलपर्णिकम्। प्रपौण्डरीकं नलदं सरलं देवदारु च॥ १४॥

भद्रश्रियं यवफलां भार्गीं नीलीं सुगन्धिकाम्। कालेयकं पद्मकं च मधुकं नागरं जटाम्॥ १५॥

पुन्नागैलैलवालूनि गैरिकं ध्यामकं बलाम्। तोयं सर्जरसं मांसीं शतपुष्पां हरेणुकाम्॥ १६॥

तालीशपत्रं क्षुद्रैलां प्रियङ्गुं सकुटन्नटाम्। शिलापुष्पं सशैलेयं पत्रं कालानुसारिवाम्॥ १७॥

कटुत्रिकं शीतशिवं काश्मर्यं कटुरोहिणीम्। सोमराजीमतिविषां पृथ्विकामिन्द्रवारुणीम्॥ १८॥

उशीरं वरुणं मुस्तं कुस्तुम्बुरु नखं तथा। श्वेते हरिद्रे स्थौणेयं लाक्षा च लवणानि च॥ १९॥

कुमुदोत्पलपद्मानि पुष्पं चापि तथाऽर्कजम्। चम्पकाशोकसुमनस्तिल्वकप्रसवानि च॥ २०॥

पाटलीशाल्मलीशैलुशिरीषाणां तथैव च। कुसुमं तृणमूल्याश्च सुरभीसिन्धुवारजम्॥ २१॥

धवाश्वकर्णपार्थानां पुष्पाणि तिनिशस्य च। गुग्गुलुं कुङ्कुमं बिम्बीं सर्पाक्षीं गन्धनाकुलीम्॥
एतत् सम्भृत्य सम्भारं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। गोपित्तमधुसर्पिर्भिर्युक्तं शृङ्गे निधापयेत्॥ २३॥
भग्नस्कन्धं विवृत्ताक्षं मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम्। अनेनागदमुख्येन मनुष्यं पुनराहरेत्॥ २४॥
एषोऽग्निकल्पं दुर्वारं क्रुद्धस्यामिततेजसः। विषं नागपतेर्हन्यात् प्रसभं वासुकेरपि॥ २५॥
महासुगन्धिनामाऽयं पञ्चाशीत्यङ्गसंयुतः। राजाऽगदानां सर्वेषां राज्ञो हस्ते भवेत् सदा॥ २६॥
स्नातानुलिप्तस्तु नृपो भवेत् सर्वजनप्रियः। भ्राजिष्णुतां च लभते शत्रुमध्यगतोऽपि सन्॥ २७॥

महासुगन्धि नामक अगद—चन्दन, अगर, कूठ, तगर, तिलपर्णी (हुलहुल इति लोके; गयी तु तैलपर्णीकः सरलरसः), प्रपौण्डरीक ('स्वनामख्यातं यष्टिमधुद्रव्यादीषत् स्थूलं मधुररसं नेत्राश्च्योतनार्हं द्रव्यम्, अन्ये श्रीपुष्पमाहुः'–ड.), नलद (उशीरभेदः/खश), चीड़, देवदारु, श्वेतचन्दन, यवफला (दुग्धिका, इन्द्रयव या वंशयवभेद), भार्गी, नीली (नीलाञ्जनिका), सुगन्धिका (सर्वसुगन्धि), कालेयक (पीतचन्दन), पद्माख, मुलेठी, शुण्ठी, जटामांसी, पुन्नाग (नागकेसर), एला (स्थूलैला), एलवालुक, गेरू, कत्तृण (ध्यामक), बला, बालक (सुगन्धबाला), राल, जटामांसी, सौंफ, हरेणुक, तालीसपत्र, छोटी इलायची, प्रियंगु, श्योनाक, मनःशिला, पुष्प (पुष्पकासीस), शिलारस, तेजपत्र, कालानुसारिवा (तगरभेदः), सोंठ, मरिच, पीपल (त्रिकटु), शीतशिव (कर्पूर), गम्भारी, कुटकी, बाकुची, अतीस, पृथ्विका ('हिङ्गुपत्रिका, श्यामवर्णः स्थूलजीरकः'), इन्द्रवारुणी (लाल इन्द्रायण), खश, वरुण, नागरमोथा, धनियाँ, नख, श्वेता (वचा अथवा 'श्वेते' इति पाठान्तरे कटभीद्वयम्), हल्दी, दारुहल्दी, ग्रन्थिपर्णिक, लाक्षा, पाँचों नमक, कुमुद (श्वेतोत्पल), उत्पल (नीलोत्पल), पद्म (कमल), आक के फूल, चम्पक पुष्प, अशोक के फूल, तिल्वक (प्रसवानि; 'प्रसवशब्देन कुसुमानि फलानि च ग्राह्याणि')—इनके पुष्प और फल; पाटली (श्वेतपाटला), सेमल, शेलु (लिसोड़ा), सिरस आदि के पुष्प-फल, कुंकुम, केतकी (मल्लिकेत्यपरे), सुरसी और सिन्धुवार के पुष्प ('सिन्धुवारो निर्गुण्डीभेदः'–ड.), धव, अश्वकर्ण और अर्जुन के पुष्प तथा तिनिश (स्यन्दनः) के फूल, गूगल, कुंकुम, बिम्बी (कुन्दरिका), सर्पाक्षी, सुगन्धमूला रास्ना (गन्धनाकुली)—इन सबको, एकत्रित कर चूर्ण बना लें और गोपित्त तथा मधु-घृत मिलाकर गोशृङ्ग में भर कर रख लें।

इस प्रमुख अगद के प्रयोग से स्कन्ध-भग्न होने पर, आँखों के फैल जाने पर तथा मौत के मुख में गये व्यक्ति भी पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। यह अगद क्रुद्ध नागपति वासुकि के अग्नि के समान दुर्निवार्य विष को भी बलपूर्वक नष्ट कर देता है। पचासी औषधियों से बना यह 'महासुगन्धि' नामक अगद सभी अगदों का राजा है। अतः राजा को इसे सदा हाथ में धारण करना चाहिए ('तेन हस्तस्थितेनागदेन पाणिना स्पृष्टमन्नपानं निर्विषं भवितुमर्हति; हस्तस्थापनप्रयोजनमिदम्'–ड.)। स्नान करने के बाद इस अगद का शरीर पर लेप करने पर राजा सभी जनों का प्रिय होता है और शत्रुओं के मध्य स्थित होने पर भी देदीप्यमान होता है॥ १४-२७॥

उष्णवर्ज्यो विधिः कार्यो विषार्तानां विजानता। मुक्त्वा कीटविषं तद्धि शीतेनाभिप्रवर्धते॥

विषपीड़ितों में स्वेदन का निषेध—ज्ञानवान् चिकित्सक को चाहिए कि वह विषार्तों में स्वेदादि उष्णविधियों का प्रयोग न करें। केवल कीटविषार्तों में स्वेदादि उष्ण उपचार किये जा सकते हैं, क्योंकि इनका विष शीतल उपचारों से वृद्धि को प्राप्त होता है॥ २८॥

अन्नपानविधावुक्तमुपधार्य शुभाशुभम्। शुभं देयं विषार्तेभ्यो विरुद्धेभ्यश्च वारयेत्॥ २९॥
फाणितं शिग्रुसौवीरमजीर्णाध्यशनं तथा। वर्जयेच्च समासेन नवधान्यादिकं गणम्॥ ३०॥
दिवास्वप्नं व्यवायं च व्यायामं क्रोधमातपम्। सुरातिलकुलत्थांश्च वर्जयेद्धि विषातुरः॥ ३१॥

विषाक्तावस्था में पथ्यापथ्य—अन्नपानविधि (सू. ४६) में वर्णित विधि के अनुसार हिताहित को ज्ञात कर विषार्त व्यक्तियों को हितकर द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए तथा विरुद्ध आहारादि का परित्याग

करें। फाणित (राब), सहिजन, काँजी, अजीर्ण, अध्यशन और नवधान्यादि वर्ग के द्रव्यों (सू.अ. १९।१६) का पूर्णतः परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार विषार्त व्यक्ति दिन में सोना, व्यायाम, मैथुन, क्रोध, धूप का अधिक सेवन, मदिरा, तिल, कुलत्थ का भी परित्याग करें॥ २९-३१॥

विमर्श—'कुलत्थांश्च इत्यत्र चकारेण पिण्याकमूलकलशुनकलायकुसुम्भातसीशिशुमारकूर्मनिष्पावजम्बु-आम्रातकचूतादिकानि च वर्जयेत्' (ड.)। **फाणित**—'इक्षो रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः। स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया'॥ (भा.प्र.) **अध्यशन**—'भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं स्मृतम्'। (च.चि. १५)

प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकाङ्क्षं सममूत्रजिह्वम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम्॥ ३२॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने दुन्दुभिस्वनीयकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥



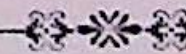
अविष का लक्षण (Signs of cure)—इसका वर्णन इस प्रकार है—१. प्रसन्नदोष, अर्थात् जिस व्यक्ति के रसादि धातुएँ तथा मल एवं वातादि दोष स्वभाव-स्थित हैं। २. प्रकृतिस्थ धातु, ३. अन्नाभिकांक्षा, अर्थात् समाग्नि के कारण जिसकी भोजन में रुचि (अभिलाषा) हो, ४. सममूत्रजिह्व, अर्थात् जिसके मल-मूत्रादि का त्याग स्वाभाविक रूप से होता हो तथा जिसकी जिह्वा रसवेदिनी हो ('समसूत्रजिह्वम्' पाठान्तर में—'समसूत्रा जिह्वा यस्य स तथा तम्'। 'एतदुक्तं भवति—निर्विषस्य हि पुरुषस्य चित्तेन सह समस्तचेष्टायां जिह्वा रसवेदिनी भवति'–ड.) तथा ५. 'प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टम्' अर्थात् जिसके शरीर का वर्ण, जिसकी इन्द्रियाँ, चित्त एवं शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएँ स्वस्थ (प्रसन्न) हों उस व्यक्ति को वैद्य अविष अर्थात् विष के प्रभाव से मुक्त समझे॥ ३२॥

विमर्श—डल्हण ने अपनी टीका में 'सविष' के लक्षण इस प्रकार दिये हैं—'प्रवृद्धदोषं विकृतिस्थ-धातुमनन्नकाङ्क्षं क्षतसूत्रजिह्वम्। विरुद्धवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेत् सविषं मनुष्यम्'॥

अविष पुरुष के लक्षणों को बताने वाले उपरोक्त बत्तीसवें श्लोक में पूर्व वर्णित श्लोक 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते' (सु.सू. १५।४५) के समस्त अर्थ को निबद्ध कर दिया गया है।

सविष का यह उपरोक्त वर्णन तीक्ष्ण स्थावर एवं सर्पविष का ही समझना चाहिए, क्योंकि मन्दविष द्वारा धातुप्रदूषण विलम्ब से होता है।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'दुन्दुभिस्वनीयकल्प' नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ॥ ६॥



अध्याय-सारांश

'दुन्दुभिस्वनीयं कल्प' नामक इस अध्याय में—धवाश्वकर्णादि द्रव्यों से विधिपूर्वक तय्यार किये गये क्षारागद नामक चूर्ण का ढोल, पताका, तोरणादि पर लेप करने से इस दुन्दुभि ध्वनि को सुनने तथा इन पताकादि को देखने मात्र से तक्षक जैसे सर्पों से दष्ट व्यक्ति भी ठीक हो जाते हैं (३-७); इसी प्रकार कल्याणक सर्पि, अमृतसर्पि, महासुगन्धि नामक अगद सभी प्रकार के विषों के प्रभाव को दूर करते हैं (८-२७); विषग्रस्त व्यक्ति के लिए पथ्यापथ्य (२९-३१) तथा विषरहित मनुष्य (Cure) की पहचान (३२)।



सप्तमोऽध्यायः

अथातो मूषिककल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'मूषिक कल्प' (The Doctrine of Poisoning by Rats) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

पूर्वं शुक्रविषा उक्ता मूषिका ये समासतः। नामलक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध मे ॥ ३ ॥
लालनः पुत्रकः कृष्णो हंसिरश्चिक्कि(क्वि)रस्तथा। छुच्छुन्दरोऽलसश्चैव कषायदशनोऽपि च ॥
कुलिङ्गश्चाजितश्चैव चपलः कपिलस्तथा। कोकिलोऽरुणसंज्ञश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः ॥ ५ ॥
श्वेतेन महता सार्धं कपिलेनाखुना तथा। मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः ॥ ६ ॥

मूषकों के भेद, नामादि—'जंगमविषविज्ञानीय' (क. ३) नामक अध्याय में जो शुक्रविष वाले अठारह मूषिकों का उल्लेख है उनके नाम, लक्षण और औषध का वर्णन मुझसे जानो। अठारह प्रकार के मूषकों के नाम—१. लालन, २. पुत्रक, ३. कृष्ण, ४. हंसिर, ५. चिक्किर, ६. छुछुन्दर, ७. अलस, ८. कषायदशन, ९. कुलिङ्ग, १०. अजित, ११. चपल, १२. कपिल, १३. कोकिल, १४. अरुण, १५. महाकृष्ण, १६. महाश्वेत, १७. कपिलमूषक और १८. कपोत। इस प्रकार शुक्र विष वाले अठारह प्रकार के मूषक वर्णित हैं ॥ ३-६ ॥

विमर्श—पाश्चात्य वैद्यक में मूषकदंश से उत्पन्न ज्वर (Rat-bite fever) का उल्लेख है। सुश्रुत में भी प्रधानता मूषकदंश से उत्पन्न विष को दी गयी है और चूहे के कारण पाये जाने वाले विषैले लक्षणों के वर्णन के अन्त में कहा है—'दष्टरूपं समासोक्तमेतद्व्यासमतः शृणु' (क. ७।१०)।

शुक्रं पतति इत्यादिक अगले श्लोक से भी मूषकदंश से विषाक्त लक्षण होने की पुष्टि होती है।

शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति वा। नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥ ७ ॥

विषप्रसार-प्रक्रिया (Mode of poisoning)—इनका शुक्र शरीर के जिस भाग पर गिरता है अथवा इस शुक्र के सम्पर्क में आये हुए इनके नख-दन्त शरीर के जिस भाग के सम्पर्क में आते हैं वहाँ का रक्त दूषित हो जाता है ॥ ७ ॥

जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च। पीडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च ॥ ८ ॥
पर्वभेदो रुजस्तीव्रा मूर्च्छाऽङ्गसदनं ज्वरः। दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वमथुर्लोमहर्षणम् ॥ ९ ॥
दष्टरूपं समासोक्तमेतद्व्यासमतः शृणु।

मूषिकदष्ट के सामान्य लक्षण (Clinical features)—मूषिकदंश से उत्पन्न विषाक्त लक्षण इस प्रकार हैं—शरीर पर ग्रन्थियाँ, शोफ, कर्णिका ('कमलमध्यबीजकोशाकृतिः'), मण्डल (गोल चकत्ते), पिडकाओं को भंयकर उपचय (समूह) का शरीर पर निकल आना, विसर्प एवं किटिभ (सदृश) उभारों का होना; जोड़ों में दर्द (पर्वभेदः सन्धेः स्फोटः), तीव्र वेदनाएँ, मूर्च्छा ('ज्वरो मूर्च्छा च दारुणा' इति पाठान्तरम्), अंगसदन (सदनं ग्लानिः), ज्वर, दुर्बलता, भोजन में अनिच्छा, श्वास, वमन, रोमांच होना—ये मूषिकदंश के संक्षेप में सामान्य लक्षण हैं। अब इनको विस्तार से जानो ॥ ८-९ ॥

विमर्श—ज्वरः—मूषकदंशजन्य ज्वर पाश्चात्य वैद्यक में 'रैट-बाइट फीवर' के नाम से जाना जाता है। एतद्विषयक वर्णन इस प्रकार है—यह ज्वर दो प्रकार का है, एक का कारण 'Spirillum minus' और दूसरे का कारण 'Streptobacillus moniliformis' संक्रमण है।

प्रथम प्रकार के संक्रमण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—(१) दंश से उत्पन्न व्रण सामान्यतः भर जाता है, पर ५-२१ दिन के उपरान्त इसमें पुनः व्रण बन जाना और इसके साथ-साथ लसीकावाहिनी शोथ (Lymphangitis) तथा लसीकापर्वशोथ (Lymphadenitis) होना भी सम्भव है। श्वेतकोशिका बहुलता, प्लीहा-अतिवृद्धि और ज्वर भी होते हैं। (२) ज्वर २४-४८ घण्टों के उपरान्त बिना किसी उपचार के सहसा शान्त हो जाता है। ज्वर के इस तरह के आक्रमण सप्ताहों तक होते रहते हैं और रोगी रक्तन्यूनता से ग्रस्त हो जाता है। (३) मध्यदेह (Trunk) और शाखाओं पर ज्वर होने के समय में लाल रंग के चकत्ते या पिडकाएँ (Macular or maculo-papular) निकल आती हैं ('जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः'—सु.)।

द्वितीय प्रकार के संक्रमण के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—(१) इसका सम्प्राप्तिकाल १-५ दिन का है। व्रण भली प्रकार भर जाता है, पर कभी-कभी विद्रधि बनकर पुनः व्रण बन जाता है। इस प्रकार में स्थानिक लसीकापर्वविकृति (Lymphadenopathy) अधिक नहीं पायी जाती है। (२) इसके लक्षण प्रथम भेद से बहुत मिलते-जुलते होते हैं पर इसमें वेदना युक्त सन्धिशोथ प्रायः पाया जाता है और ४८ से ७२ घण्टों के उपरान्त ज्वर के शान्त हो जाने पर ज्वर का पुनः आक्रमण प्रायः नहीं होता है। मूषकदंशज ज्वर के इन दोनों भेदों की चिकित्सा में एण्टिबायोटिक्स, पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन से पर्याप्त सफलता मिलती है। आयुर्वेदिक चिकित्सा का विस्तृत वर्णन आगे दिया गया है।

मूषिकों के दंश के विशिष्ट लक्षण और चिकित्सा

लालास्रावो लालनेन हिक्का छर्दिश्च जायते॥ १०॥
तण्डुलीयककल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।

(१) मूषिकों के पहले भेद **लालन** के दंश के लालास्राव, हिक्का और छर्दि (विशिष्ट) लक्षण हैं। इसके उपचार में मधु के साथ चौलाई के कल्क को चाटने के लिए देना चाहिए॥ १०॥

विमर्श—'लालन' प्रकार के मूषक के दंश से उत्पन्न उपरोक्त लक्षण वात की प्रधानता के हैं और तण्डुलीयक कल्क को मधु से चाटने का उपाय व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा है। दोषप्रत्यनीक चिकित्सा 'तप्तघृतेन दग्ध्वा विस्रावयेद् दंशम्' है। ऐसा अन्यत्र भी समझना चाहिए।

पुत्रकेणाङ्गसादश्च पाण्डुवर्णश्च जायते॥ ११॥
चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः। शिरीषेङ्गुदकल्कं तु लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्॥ १२॥

(२) मूषिकों के दूसरे भेद **पुत्रक** के दंश से उत्पन्न (विशिष्ट) लक्षणों में अङ्गसाद और रोगी का रंग पाण्डु (Anaemic) होना है तथा शरीर पर चूहे के नवजात शावक (पुत्रक) सदृश पिडकाएँ व्याप्त हो जाती हैं। इस अवस्था के उपचार के लिए शिरीष और इंगुद का कल्क मधु के साथ चाटने को देना चाहिए॥ ११-१२॥

विमर्श—डल्हण के अनुसार आखु-शावक सदृश ग्रन्थियाँ सभी प्रकार के मूषकदंशों में पायी जाती हैं। परन्तु इनके पुत्रक नामक भेद में ये अधिक होती हैं। उन्होंने नागार्जुन का उद्धरण भी दिया है—'तेन दर्शयते दष्टो व्यक्तं मूषिकपुत्रकान्। एतत् पुत्रकदष्टस्य व्यक्तं भवति लक्षणम्'॥ इस श्लोक के पाठान्तर भी हैं—१. 'कल्कं' के स्थान पर 'चूर्णम्'—गयदास। २. 'शिरीषफलकल्कं तु'—जेज्जटः।

कृष्णेन दंशे शोफोऽसृक्छर्दिः प्रायश्च दुर्दिने। शिरीषफलकुष्ठं तु पिबेत् किंशुकभस्मना॥ १३॥

(३) मूषिकों के तीसरे भेद **कृष्ण** के दंश में शोफ तथा प्रायः दुर्दिन ('मेघाच्छन्ने हि दुर्दिनम्'–अ.को.) में खून की उलटी होती है। इस अवस्था के उपचार के लिए ढाक के फूलों की भस्म के साथ सिरस के फल और कूठ के चूर्ण का पान करना चाहिए॥ १३॥

हंसिरेणान्नविद्वेषो जृम्भा रोम्णां च हर्षणम्। पिबेदारग्वधादिं तु सुवान्तस्तत्र मानवः॥ १४॥

(४) मूषिकों के चौथे भेद **हंसिर** के दंश में अन्न में अरुचि, जम्भाइयाँ आना और रोमहर्ष (Horripilation) ये (विशिष्ट) लक्षण हैं। इसके उपचार में दष्ट व्यक्ति को भली प्रकार वमन कराने के उपरान्त आरग्वधादि कषाय का पान कराना चाहिए॥ १४॥

चिक्वि(क्कि)रेण शिरोदुःखं शोफो हिक्का वमिस्तथा।
जालिनीमदनाङ्कोठकषायैर्वामयेत्तु तम्॥ १५॥
यवनालर्षभीक्षारं बृहत्योश्चात्र दापयेत्।

(५) मूषिकों के पाँचवें भेद **चिक्किर** के दंश से शिरोवेदना, शोफ, हिक्का, वमन—ये (विशिष्ट) लक्षण होते हैं। ऐसी अवस्था के उपचार में रोगी को कोशातकी (तुरई), मैनफल और अंकोठ के कषाय से वमन कराकर जौ (नाल), कौंच और छोटी-बड़ी कटेरी के क्षार (क्षारोदकम्-ड.) का प्रयोग करना चाहिए॥ १५॥

छुच्छुन्दरेण तृट् छर्दिर्ज्वरो दौर्बल्यमेव च॥ १६॥
ग्रीवास्तम्भः पृष्ठशोफो गन्धाज्ञानं विसूचिका। चव्यं हरीतकी शुण्ठी विडङ्गं पिप्पली मधु॥ १७॥
अङ्कोठबीजं च तथा पिबेदत्र विषापहम्।

(६) मूषिकों के छठे भेद **छुच्छुन्दर** के दंशविष से प्यास, ज्वर, वमन, दुर्बलता, गर्दन में जकड़ाहट (ग्रीवास्तम्भ), पीठ में सूजन, गन्ध का ज्ञान न होना, विसूचिका—ये (विशिष्ट) लक्षण होते हैं। इसके उपचार में चव्य, हरीतकी, सोंठ, विडंग, पीपल और अंकोठबीजों का विषहर क्वाथ मधु मिलाकर पिलाना चाहिए॥ १६-१७॥

विमर्श—इस सम्बन्ध में गयदास का मतभेद इस प्रकार है—'भ्रमश्छुच्छुन्दरेणोग्रो ग्रीवास्तम्भो विसूचिका। यवनालर्षभक्षारं बृहत्योश्चात्र दापयेत्'॥

ग्रीवास्तम्भोऽलसेनोर्ध्ववायुर्दंशे रुजा ज्वरः॥ १८॥
महागदं ससर्पिष्कं लिह्यात्तत्र समाक्षिकम्।

(७) मूषिकों के सातवें भेद **अलस** के दंश से उत्पन्न (विशिष्ट) लक्षण ग्रीवास्तम्भ, ऊर्ध्ववायु (डकार), शरीर में वेदना और ज्वर हैं। इसके उपचार में महागद को घृत और मधु मिलाकर चाटने को देना चाहिए॥ १८॥

निद्रा कषायदन्तेन हृच्छोषः कार्श्यमेव च॥ १९॥
क्षौद्रोपेताः शिरीषस्य लिह्यात् सारफलत्वचः।

(८) मूषिकों के आठवें भेद **कषायदन्त** के दंश के (विशिष्ट) लक्षण निद्रा, हृदयशोष और शरीर का कृश होना हैं। इस दशा के उपचार में सिरस के सार, फल और त्वचा के चूर्ण को मधु मिलाकर देना चाहिए॥ १९॥

कुलिङ्गेन रुजः शोफो राज्यश्च दंशमण्डले॥ २०॥
सहे ससिन्धुवारे च लिह्यात्तत्र समाक्षिके।

(९) मूषिकों के नवें भेद **कुलिङ्ग** के दंश से उत्पन्न (विशिष्ट) लक्षणों में वेदना, शोफ और दंशस्थल पर रेखाएँ उभर आती हैं। इसके उपचार में मुद्गपर्णी, माषपर्णी को निर्गुण्डी और मधु के साथ प्रयुक्त करना चाहिए॥ २०॥

अजितेनाङ्गकृष्णत्वं छर्दिर्मूर्च्छा च हृद्ग्रहः॥ २१॥
स्नुक्क्षीरपिष्टां पालिन्दीं मञ्जिष्ठां मधुना लिहेत्।

(१०) मूषिकों के दसवें भेद **अजित** के दंश के (विशिष्ट) लक्षण शरीर का वर्ण कृष्ण होना, वमन, बेहोशी और हृत्प्रदेश में जकड़ाहट हैं। इस विष के उपचार में पालिन्दी अर्थात् त्रिवृत् और मंजीठ के चूर्ण को थोहर के दूध में पीसकर चाटने को देना चाहिए॥ २१॥

चपलेन भवेच्छर्दिर्मूर्च्छा च सह तृष्णया॥ २२॥
क्षौद्रेण त्रिफलां लिह्याद्भद्रकाष्ठजटान्विताम्।

(११) मूषिकों के ग्यारहवें भेद **चपल** के दंश से उत्पन्न (विशिष्ट) लक्षण हैं वमन होना, मूर्च्छा और साथ में प्यास लगना। इसकी चिकित्सा में देवदारु, जटामांसी और त्रिफला के चूर्ण को मधु के साथ चाटने को देना चाहिए॥ २२॥

कपिलेन व्रणे कोथो ज्वरो ग्रन्थ्युद्गमः सतृट्॥ २३॥
लिह्यान्मधुयुतां श्वेतां श्वेतां चापि पुनर्नवाम्।

(१२) मूषिकों के **कपिल** नामक बारहवें भेद के दंश के (विशिष्ट) लक्षण व्रणस्थान में कोथ (सड़ जाना), ज्वर, शरीर पर ग्रन्थियों का निकल आना और प्यास लगना है। इसकी चिकित्सा में श्वेतस्यन्दा (अथवा 'श्रेष्ठाम्' इति पाठान्तरम्—गयदासः) और श्वेतपुनर्नवा के चूर्ण को मधु के साथ देना चाहिए॥ २३॥

ग्रन्थयः कोकिलेनोग्रा ज्वरो दाहश्च दारुणः॥ २४॥
वर्षाभूनीलिनीक्वाथकल्कसिद्धं घृतं पिबेत्।

(१३) मूषिकों के **कोकिल** नामक तेरहवें भेद के दंश के (विशिष्ट) लक्षण इस प्रकार हैं—शरीर पर उग्र ग्रन्थियों का निकल आना, ज्वर एवं भयंकर जलन (दाह)। इस अवस्था की चिकित्सा में रोगी को पुनर्नवा और नील (नीलिनी) के क्वाथ और कल्क से सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए॥ २४॥

अरुणेनानिलः क्रुद्धो वातजान् कुरुते गदान्॥ २५॥
महाकृष्णेन पित्तं च श्वेतेन कफ एव च। महता कपिलेनासृक् कपोतेन चतुष्टयम्॥ २६॥

(१४) मूषिकों के चौदहवें भेद **अरुण** के दंश के (विशिष्ट) लक्षणों में प्रकुपित वात से वातव्याधियाँ होती हैं। (१५) मूषिकों के पन्द्रहवें भेद **महाकृष्ण** के दंश से पित्तदोष प्रकुपित होकर पैत्तिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और इनके (१६) सोलहवें भेद **महाश्वेत** नामक मूषक के दंश में कफज विकार पाये जाते हैं तथा (१७) सत्रहवें भेद **कपिल आखु** के दंश से रक्तविकार होते हैं। (१८) इसी प्रकार मूषिकों के अन्तिम अठारहवें भेद **कपोत** के दंश से तीनों दोष और रक्त इन चारों के रोग उत्पन्न होते हैं॥ २५-२६॥

भवन्ति चैषां दंशेषु ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः। पिडकोपचयश्चोग्रः शोफश्च भृशदारुणः॥ २७॥
दधिक्षीरघृतप्रस्थास्त्रयः प्रत्येकशो मताः। करञ्जारग्वधव्योषबृहत्यंशुमतीस्थिराः॥ २८॥
निष्क्वाथ्य चैषां क्वाथस्य चतुर्थोऽशः पुनर्भवेत्। त्रिवृद्वन्ोज्यमृतावक्रसर्पगन्धाः समृत्तिकाः॥
कपित्थदाडिमत्वक् च श्लक्ष्णपिष्टाः प्रदापयेत्। तत् सर्वमेकतः कृत्वा शनैर्मृद्वग्निना पचेत्॥
पञ्चानामरुणादीनां विषमेतद्व्यपोहति। काकादनीकाकमाच्योः स्वरसेष्वथवा कृतम्॥ ३१॥
सिराश्च स्रावयेत् प्राप्ताः कुर्यात् संशोधनानि च।

मूषकदंश के सामान्य लक्षण और चिकित्सा—इन सभी के दंश से ग्रन्थियाँ, मण्डल और कर्णिकाएँ उत्पन्न होती हैं और पिडकाओं का तीव्र समूह एवं अतिदुःखद शोफ पाया जाता है। इनके उपचार के लिए दधि, दुग्ध और घृत प्रत्येक एक-एक प्रस्थ लें तथा करञ्ज, अमलतास, सोंठ, मरिच, पीपल, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी—इनका चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ बना लें। तदनन्तर इसमें निशोथ, गाजवां, गिलोय, तगर (वक्र), सर्पगन्धा, मिट्टी (काली), कैथ, अनार की छाल—इनको बारीक पीसकर सबको एक साथ मिला लें और मृदु अग्नि में शनैः-शनैः पाक करें। यह योग अरुण, महाकृष्ण, महाश्वेत, कपिल और कपोत नामक पाँचों मूषिकों के विष को नष्ट करता है। अथवा काकादनी ('हिंस्रा'—डल्हणः) और मकोय के स्वरस में सिद्ध घृत ('घृतमिति शेषः'-ड.) का प्रयोग करना चाहिए। मर्म-अनाश्रित में सिरावेध करना चाहिए तथा वमनादि के द्वारा संशोधन-चिकित्सा करनी चाहिए॥ २७-३१॥

विमर्श—१. 'करञ्जादिद्रव्याणां द्विपलिकं भागं, सलिलाढकेन निष्क्वाथ्य, क्वथितं प्रस्थशेषं, तैस्त्रिभिः प्रस्थैः सह संयोज्य, त्रिवृन्मूलादिकल्कपादं च विपचेत्, पक्वं च घृतं विरेचनं भवति' (ड.)।

२. मृत्तिका = कृष्णमृत्तिका; अहिमृत्तिका इति केचित्, अहिमृत्तिका वल्मीकमृत्तिका। 'अगमृत्तिका' इति जेज्जटाचार्यः तत्रागमृत्तिका शल्लकी।

३. यद्यपि 'विषातुरा अवम्याः' तथापि 'एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये च विषातुराः'।

सर्वेषां च विधिः कार्यो मूषिकाणां विषेष्वयम्॥ ३२॥

सिराव्यधादिक यह विधि सभी प्रकार के मूषिकदंश की चिकित्सा में प्रयुक्त करनी चाहिए॥ ३२॥

दग्ध्वा विस्रावयेद्दंशं प्रच्छितं च प्रलेपयेत्। शिरीषरजनीकुष्ठकुङ्कुमैरमृतायुतैः॥ ३३॥

दहन एवं प्रच्छान—दंशस्थल का अग्नितप्त घृत से दहन कर पछने लगा दें और रक्तविस्रावण कर विष को बाहर निकाल दें तथा उस स्थान पर सिरस, हलदी, कूठ, केसर और गिलोय के कल्क का लेप कर देना चाहिए॥ ३३॥

छर्दनं जालिनीक्वाथैः शुकाख्याङ्कोठयोरपि।

वमनार्थ द्रव्य—वमन के लिए कड़वी तुरई, शुकनासा और अंकोठ के क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए।

विमर्श—'शुकाख्यः चर्मकारवटः' (ड.)।

शुकाख्याकोषवत्योश्च मूलं मदन एव च॥ ३४॥
देवदालीफलं चैव दध्ना पीत्वा विषं वमेत्। सर्वमूषिकदष्टानामेष योगः सुखावहः॥ ३५॥

अन्य वमनयोग—श्योनाक, कड़वी तुरई (कोषवती घोषकः) इनका मूल, मैनफल और देवदाली के फलचूर्ण को दही के साथ पिलाकर वमन कराना चाहिए। सभी प्रकार के मूषिकदंश की चिकित्सा में यह उपरोक्त योग सुखावह अर्थात् लाभकर है॥ ३४-३५॥

फलं वचा देवदाली कुष्ठं गोमूत्रपेषितम्। पूर्वकल्पेन योज्याः स्युः सर्वोन्दुरुविषच्छिदः॥ ३६॥

मदनफलादि योग—मैनफल, वच, देवदाली, कूठ—इनको गोमूत्र में पीसकर दही के साथ लेने पर सभी प्रकार के मूषकविष नष्ट होते हैं॥ ३६॥

विमर्श—पूर्वकल्पेन—'पूर्वकल्पेन दध्ना लेहमित्यर्थः' (ड.)।

विरेचने त्रिवृद्दन्तीत्रिफलाकल्क इष्यते। शिरोविरेचने सारः शिरीषस्य फलानि च॥ ३७॥
हितस्त्रिकटुकाढ्यश्च गोमयस्वरसोऽञ्जने।

विरेचक, शिरोविरेचक योग—विरेचनार्थ निशोथ, दन्ती और त्रिफला कल्क का प्रयोग करना चाहिए। शिरोविरेचन के लिए सिरस का सार (गयदासस्तु शालतमालमधुकानामाह) तथा फल प्रयोग में लाना चाहिए। अञ्जन के लिए त्रिकटुबहुल (त्रिकटुकोत्कट इत्यर्थः) गोबर के रस को प्रयुक्त करना चाहिए॥ ३७॥

कपित्थगोमयरसौ लिह्यान्माक्षिकसंयुतौ॥ ३८॥
रसाञ्जनहरिद्रेन्द्रयवकट्वीषु वा कृतम्। प्रातः सातिविषं कल्कं लिह्यान्माक्षिकसंयुतम्॥ ३९॥
तण्डुलीयकमूलेषु सर्पिः सिद्धं पिबेन्नरः। आस्फोतमूलसिद्धं वा पञ्चकापित्थमेव वा॥ ४०॥

संशोधन योग—संशोधनार्थ कपित्थ और गोमयरस को मधु के साथ लेह बनाकर लेना चाहिए। इसी प्रकार रसाञ्जन (रसौत), हलदी, इन्द्रजौ, कटुरोहिणी और अतीस के कल्क को प्रातःकाल मधु से चाटना चाहिए तथा चौलाई (जंगली) के मूल से सिद्ध घृत पीने को देना चाहिए। अथवा आस्फोता (सारिवा या आक) के मूल से सिद्ध घृत या पञ्चकापित्थ घृत ('कपित्थफलमूलपुष्पत्वक्पत्रकल्ककषायसिद्धम्') सभी प्रकार के मूषिकविष को दूर करता है॥ ३८-४०॥

मूषिकाणां विषं प्रायः कुप्यत्यभ्रेष्वनिर्हृतम्। तत्राप्येष विधिः कार्यो यश्च दूषीविषापहः ॥ ४१ ॥

विषनिर्हरण की आवश्यकता—मूषिकविष का प्रकोप शान्त हो गया हो तो भी वमनादि के द्वारा संशोधन करना चाहिए, क्योंकि निर्हरण न किया हुआ यह विष आकाश में बादल होने के समय कुपित होता है। ऐसी स्थिति में भी वमन, विरेचन, नयनाञ्जन आदि के द्वारा तथा दूषीविष को नष्ट करने के उपायों से चिकित्सा करनी चाहिए ('एतेन दूषीविषतुल्यता मूषिकविषस्योक्ता'—ड.) ॥ ४१ ॥

स्थिराणां रुजतां वाऽपि व्रणानां कर्णिकां भिषक्। पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत् ॥

कर्णिका-चिकित्सा—स्थिर (कठोर/'स्थैर्येण कफात्मकता') और वेदनायुक्त ('रुजतामित्यनेन वातात्मकता') व्रणों की कर्णिका ('कणीम्') का पाटन कर्म कर दोषानुसार व्रण की तरह शोधन-चिकित्सा करें ॥ ४२ ॥

विमर्श—मूषिकों के उपरोक्त अठारह प्रकारों को पहचानने का कार्य डल्हण के काल में भी सरल नहीं था। अतः इन्हें पहचानने के लिए उनकी सलाह है—'लालनपुत्रकादिमूषिकजातिविशेषज्ञानं नानादेशीय-लोकेभ्योऽवगन्तव्यम्'।

मूषकदंश

सामान्य लक्षण		विशिष्ट लक्षण	
स्थानिक	**शरीरव्यापी**	**स्थानिक**	**शरीरव्यापी**
कर्णिका शोफ मण्डल	पिडकोपचय, विसर्प, किटिभ, पर्वभेद, तीव्रवेदना, मूर्च्छा, अंगसदन, ज्वर, दौर्बल्य, अरुचि, श्वास, वमन, लोमहर्ष।	शोफ राजीजन्म कोथ दारुण दाह	लालास्राव, निद्रा, हिक्का, हृच्छोष, वमन, हृद्ग्रह, अंगसाद, तृष्णा, पाण्डुवर्ण, शरीर पर ग्रन्थियाँ, रक्तवमन, जृम्भा, रोमहर्ष, शिरोवेदना, ज्वर, दौर्बल्य, ग्रीवास्तम्भ, गन्धज्ञान न होना, विसूचिका।

मूषकदंश-चिकित्सा

स्थानिक	शरीरव्यापी
१. प्रच्छान २. दहन ३. शिरीषादि प्रलेप ४. कर्णिका की पाटनक्रिया	१. तण्डुलीयक कल्क मधु से, २. करञ्जादि घृतपान, ३. छर्दन, ४. विरेचन, ५. दधि के साथ मदनादि योग, ६. शिरोविरेचन, ७. अञ्जन, ८. तण्डुलीयक सर्पि (घृत)।

श्वशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः। श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ ४३ ॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्। अत्यर्थबधिरोऽन्धश्च सोऽन्योऽन्यमभिधावति ॥

शृगालादि प्राणियों के विष-लक्षण एवं चिकित्सा—जब गीदड़, कुत्ता, तरक्षु (मृगशत्रु), रीछ, व्याघ्र आदि ('आदिशब्दात् वृषचित्रकादयो हिंस्राः पशवो ग्राह्याः'—ड.) प्राणियों के संज्ञावह स्रोतों में आश्रित श्लेष्मप्रदुष्ट वातदोष इनके सम्यक् ज्ञान को नष्ट कर देता है तो इनकी पूँछ, ठोड़ी (हनु) और कन्धे लटक जाते हैं, लार अधिक मात्रा में टपकने लगती है, ये अत्यधिक अन्धे या बहरे हो जाते हैं तथा एक-दूसरे को काटने के लिए दौड़ते हैं।। ४३-४४।।

तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु। सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक्।। ४५।।
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः।

उन्मत्त शृगालादि के दष्ट के लक्षण—ऐसे सविष एवं उन्मत्त प्राणी (दंष्ट्री) के द्वारा दष्ट व्यक्ति में दंशस्थल पर सुन्नपन और कृष्णवर्ण का अधिक रक्तस्राव होना—ये लक्षण होते हैं। प्रायः ऐसे व्यक्ति में दिग्धविद्ध विषैले बाण से उत्पन्न बिद्ध व्रण के समान लक्षण पाये जाते हैं।। ४५।।

विमर्श—दिग्धविद्ध के लक्षणों के लिए देखें सु.क. ५।५८।

येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः।। ४६।।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति।

असाध्य लक्षण—उन्मत्त (पागल) पशु जिस प्रकार का होता है यदि उसके द्वारा दष्ट व्यक्ति भी उसी की तरह का शब्द एवं क्रियाएँ करता हैं और अपनी स्वाभाविक क्रियाएँ नहीं कर पाता है तो उसकी मृत्यु हो जाती है।। ४६।।

दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति।। ४७।।
अप्सु वा यदि वाऽऽदर्शेऽरिष्टं तस्य विनिर्दिशेत्।

अन्य अरिष्ट-लक्षण—यदि दष्ट व्यक्ति जल या शीशे में उस प्राणी को, जिसने उसे काटा है, देखता है तो यह मरणलक्षण (अरिष्ट) समझना चाहिए।। ४७।।

त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम्।। ४८।।
जलत्रासं तु विद्यात्तं रिष्टं तदपि कीर्तितम्।

जलसंत्रास का लक्षण—पागल पशु द्वारा काटे जाने पर दष्ट मनुष्य यदि जल को छूकर अथवा देखकर अकस्मात् बार-बार डर जाता है तो यह व्याधि जलसंत्रास (त्रास) (Hydrophobia/Rabies) कहलाती है। यह भी मरणलक्षण (रिष्ट) है।। ४८।।

विमर्श—**रिष्ट और अरिष्ट**—इन दोनों शब्दों का समानार्थ तथा परस्पर भिन्नार्थ में प्रयोग मिलता है। वाग्भट कहते हैं कि 'अरिष्ट है तो मरण नहीं और रिष्ट है तो जीवन नहीं'; यथा—'अरिष्टं नास्ति मरणं दृष्टरिष्टं च जीवितम्' (शा. ५।२)। जबकि चरक का कथन है—'पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येदं भविष्यतः। तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः'।। (इ. २।३) इस सम्बन्ध में अमरसिंह कहते हैं—'रिष्टं क्षेमशुभाभावेष्वरिष्टे तु शुभाशुभे' अर्थात् अशुभार्थ में रिष्ट तथा शुभाशुभार्थ में अरिष्ट शब्द का प्रयोग होता है। अकार का विकल्प से लोप होने के कारण 'पीनस' और 'अपीनस' भी पर्याय हैं।

अदष्टो वा जलत्रासी न कथञ्चन सिध्यति।। ४९।।
प्रसुप्तोऽथोत्थितो वाऽपि स्वस्थस्त्रस्तो न सिध्यति।

अदष्ट का जलसंत्रास अरिष्ट है—यदि मनुष्य किसी पागल पशु के द्वारा काटे जाने के बगैर भी (अदष्टस्य) जल से त्रस्त होता है तो यह भी अरिष्टलक्षण है (तन्त्रान्तर में—'अदष्टस्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्यदि। तस्य रिष्टं हि भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः')। यदि स्वस्थ व्यक्ति निद्रा में या जागने पर पानी से डरता है तो यह असाध्य दशा है।। ४९।।

विमर्श—उन्मत्त (पागल) प्राणी के द्वारा काटे जाने के बिना भी जलत्रास श्लेष्मसंचय के कारण होता है ('बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलं प्रतिपद्यते। तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाऽधिष्ठितो नरः॥ जाग्रत् सुप्तोत्थमात्मानं मज्जन्तमिव मन्यते। सलिले त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तद् विदुः॥ श्लेष्मघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च')।

डल्हण आगे कहते हैं—'अयं जलत्रासः कुपितकफस्य भवतीति रिष्टं न भवति, अत एवात्र चिकित्सोपदेशः, दष्टस्य तु अरिष्टमेव'।

जलत्रास (जल = Hydro, त्रास = Phobia = अलर्क)—पाश्चात्य वैद्यक में रेबीज (Rabies) नाम से भी जाना जाने वाला यह रोग किसी भी पागल (Rabid) पशु द्वारा काटे जाने अथवा श्लैष्मिक कला या व्रण को चाटने (Licking) से फैलता है; विशेषकर कुत्ते, भेड़िये, बिल्ली, गीदड़ और चमगादड़ (Vampire bats) से। यह पागल कुत्तों द्वारा सबसे अधिक होता है।

इसका सम्प्राप्ति काल इस पर निर्भर करता है कि शरीर के किस भाग को पागल पशु ने काटा है और कितना काटा है। फिर भी सामान्यतः यह समय ३०-७० दिन, कभी-कभी १० दिन और कई महीनों का भी होता है। यह विषाणु (Virus) संक्रमण है। यह अलर्कपीड़ित प्राणी की लाला (Saliva) में पाया जाता है।

लक्षण—आरम्भ में प्रच्छन्न (Insidious) ज्वर और सुन्नपन (दंशस्थल पर) होना सम्भव है। तदनन्तर शीघ्र ही निगलन पेशियों (Muscles of deglutition) में उद्वेष्ट होने लगता है और पानी की आवाज, दर्शन एवं चर्चा से भी इन पेशियों के उद्वेष्ट और तीव्र हो जाते हैं। ('जलत्रास' नाम का हेतु) बाद में श्वसनतन्त्र एवं मांसपेशियाँ भी प्रभावित हो जाती हैं। विभ्रम (Delusion) और मिथ्या विश्वास (Hallucination) भी बीच-बीच में होते हैं, जिससे रोगी बहुत चिन्तित हो उठता है। लक्षणों के प्रकट होने के एक सप्ताह में रोगी की पक्षाघात से मृत्यु हो जाती है। कुछ रोगियों में आरोही मेरुरज्जुशोथ (Ascending myelitis) होता देखा गया है।

चिकित्सा—सम्प्राप्ति काल में किये गये समुचित उपायों से रोग को होने से रोकना सम्भव है पर लक्षणों के प्रकट होने के उपरान्त नहीं। लक्षणों के प्रकट हो जाने पर केवल शामक (Sedatives) औषधियों के उपयोग के द्वारा प्रशामक (Palliative) चिकित्सा करना ही सम्भव है। अलर्क (Rabic/ 'अलर्कस्तु नियोजितः'—अ.को.) पशु दस दिन में मर जाता है। पागल पशु के ब्रेन में Negribodies पायी जाती हैं। Immunofluorescence test पॉजिटिव हो तो पशु का अलर्क (Rabid) होना निश्चित है।

यदि ऐसे जानवर ने किसी को चेहरे पर बुरी तरह काटा है तो चिकित्सा तुरन्त आरम्भ कर देनी चाहिए और Hyper immune serum की ५,००० यूनिट्स का अन्तःपेशीय सूचीवेध कर इतनी ही मात्रा को व्रण के चारों ओर प्रविष्ट कर देना चाहिए।

Semple-type वेक्सीन को उपत्वचा में गहरे प्रविष्ट करते हैं। इसे सामान्यतः सम्मुखीन उदरभित्ति (Wall) में देते हैं, क्योंकि इस वेक्सीन की २-१० मि.लि. मात्रा को प्रतिदिन ७-१४ दिन तक देना होता है। इसकी मात्रा आयु, कितना काटा है और वैक्सीन को देना कब आरम्भ किया है? पर निर्भर करती है। कभी-कभी, किसी-किसी में इस वैक्सीन से Neuroparalytic disorders हो जाते हैं। इस टीके का आविष्कार 'पाश्चर' नामक वैज्ञानिक ने १८८४ में किया था।

Duck Embryo में तय्यार वैक्सीन का भी अब प्रयोग किया जाने लगा है। इसकी दो मात्रा सिम्पल वेक्सीन के कोर्स के उपरान्त १०वें और २०वें दिन देते हैं। इसका अकेले भी प्रयोग होता है। सम्प्रति इसी

तरह की वैक्सीन 'Rabipur' के नाम से उपलब्ध है। इसकी १ मि.ली. की मात्रा को ०, ३, ७, १४, ३० और ९० दिन में इस प्रकार ६ मात्रा देनी होती हैं।

दंशं विस्राव्य तैर्दष्टे सर्पिषा परिदाहितम्।।५०।।
प्रदिह्यादगदैः सर्पिः पुराणं पाययेत च। अर्कक्षीरयुतं ह्यस्य दद्याच्चापि विशोधनम्।।५१।।
श्वेतां पुनर्नवां चास्य दद्याद्धुत्तूरकायुताम्। पललं तिलतैलं च रूपिकायाः पयो गुडः।।५२।।
निहन्ति विषमालर्कं मेघवृन्दमिवानिलः।

उन्मत्त पशुदष्ट-चिकित्सा—इस प्रकार के उन्मत्त पशु द्वारा दष्ट स्थल से रक्तविस्रावण कर तप्तघृत से दहन कर दें और पूर्व वर्णित अगद का लेप कर दें। रोगी को पानार्थ पुराण घृत देना चाहिए। विशोधनार्थ अर्कक्षीर युक्त द्रव्यों का प्रयोग करें ('तत्र कफाधिक्ये वमनद्रव्यं, पित्ताधिक्ये विरेचनद्रव्ययुतम् अर्कक्षीरं दद्यात्'—ड.)। इसी प्रकार धतूरे के साथ श्वेत पुनर्नवा का प्रयोग करना चाहिए तथा पलल ('पललं तिलकल्कः सस्नेहः'—ड.), तिलतैल, रूपिका (अर्क) दुग्ध और गुड़ मिलाकर देने से अलर्क विष उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार हवा के तेज प्रवाह से मेघों का समूह।। ५०-५२।।

मूलस्य शरपुङ्खायाः कर्षं धत्तूरकार्धिकम्।।५३।।
तण्डुलोदकमादाय पेषयेत्तण्डुलैः सह। उन्मत्तकस्य पत्रैस्तु संवेष्ट्यापूपकं पचेत्।।५४।।
खादेदौषधकाले तमलर्कविषदूषितः। करोति श्वविकारांस्तु तस्मिञ्जीर्यति चौषधे।।५५।।
विकाराः शिशिरे याप्या गृहे वारिविवर्जिते। ततः शान्तविकारस्तु स्नात्वा चैवापरेऽहनि।।५६।।
शालिषष्टिकयोर्भक्तं क्षीरेणोष्णेन भोजयेत्। दिनत्रये पञ्चमे वा विधिरेषोऽर्धमात्रया।।५७।।
कर्तव्यो भिषजाऽवश्यमलर्कविषनाशनः। कुप्येत् स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः।।५८।।
तस्मात् प्रशमयेदाशु स्वयं यावत् प्रकुप्यति।

अलर्कविषहर योग—शरपुंखामूल एक कर्ष तथा धतूरे की जड़ आधा कर्ष की मात्रा में लेकर चावलजल और चावलों के साथ पीसकर इस पीठी को धतूरे के पत्तों में लपेटकर पूए पका लें ('धुस्तूरस्य सप्त पत्राणि ग्राह्याणि, तन्त्रान्तरदर्शनात्'—ड.)। इसको औषधकाल में अलर्कविषपीड़ित व्यक्ति को खिलाना चाहिए। इस औषध के जीर्ण होने पर यदि कोई विकार होते हैं तो उन्हें जलरहित शीतल गृह में शान्त करना चाहिए। इस प्रकार विकारों के शान्त हो जाने पर दूसरे दिन स्नान करने के उपरान्त खाने के लिए शालि और साठी का भात गरम दूध के साथ देना चाहिए। तीन या पाँच दिन के अन्तर से इसी उपरोक्त विधि को आधी मात्रा में प्रयुक्त करना चाहिए। चिकित्सक को इस अलर्कविषनाशक विधि का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। अलर्कविष जब स्वयं (कुछ समय पश्चात् अकारण ही) कुपित हो जाता है (अर्थात् जब इसके लक्षण प्रकट हो जाते हैं) तो रोगी की मृत्यु हो जाती है। अतः लक्षण प्रकट होने से पहले ही अर्थात् सम्प्राप्ति काल में ही शीघ्र प्रशमन-चिकित्सा करनी चाहिए ('प्रकोपयेदाशु' के स्थान पर 'प्रशमयेदाशु' उपयुक्त पाठान्तर है)।।५३-५८।।

विमर्श—सुश्रुत का यह कथन कि 'कुप्येत्स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः' पूर्णतः अनुभवसिद्ध है ('Once the disease is estabilished it is invariably fatal' —Savill)।

बीजरत्नौषधीगर्भैः कुम्भैः शीताम्बुपूरितैः।।५९।।
स्नापयेत्तं नदीतीरे समन्त्रैर्वा चतुष्पथे। बलिं निवेद्य तत्रापि पिण्याकं पललं दधि।।६०।।
माल्यानि च विचित्राणि मांसं पक्वामकं तथा। अलकाधिपते यक्ष सारमेयगणाधिप!।।६१।।
अलर्कजुष्टमेतन्मे निर्विषं कुरु माचिरात्।

अलर्कविष की मन्त्र-चिकित्सा—विषघ्न बीज, रत्न, विषहर औषध तथा शीतल जल से पूर्ण घड़ों से रोगी को नदी के किनारे या चौराहों पर मन्त्रों के साथ स्नान करावें और वहाँ पर तिलखली, सस्नेह तिलकल्क, दधि, विचित्र मालाएँ तथा कच्चे-पके मांस की बलि देनी चाहिए। मन्त्र इस प्रकार है—"हे अलका नामक नगरी के मालिक! सारमेयसमूह के अधिपति! यक्ष! (देवयोनिः) अलर्कविषपीड़ित मुझको शीघ्र विषमुक्त कर दो"॥ ५९-६१॥

विमर्श—'बीजरत्नौषधिगर्भैः' अत्र 'क्षिप्तरत्नौषधिबीजैः' इति पाठान्तरम्।

दद्यात् संशोधनं तीक्ष्णमेवं स्नातस्य देहिनः॥ ६२॥
अशुद्धस्य सुरूढेऽपि व्रणे कुप्यति तद्विषम्।

इस प्रकार स्नान किये हुए रोगी को तीक्ष्ण संशोधन देना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के अलर्कविषज व्रण यदि अशुद्ध हों तो भर जाने पर भी कुपित हो जाते हैं॥ ६२॥

श्वादयोऽभिहिता व्याला येऽत्र दंष्ट्राविषा मया॥ ६३॥
अतः करोति दष्टस्तु तेषां चेष्टां रुतं नरः। बहुशः प्रतिकुर्वाणो न चिरान्म्रियते च सः॥ ६४॥

उन्मत्त पशुदष्ट की असाध्यता—मैंने जो ये श्वादि-व्याल, जिनकी दंष्ट्राओं में विष होता है, का वर्णन किया है ('शठे व्यालः पुंसि श्वापदसर्पयोः'—अ.को.) उनके द्वारा दष्ट व्यक्ति इन्हीं की तरह बार-बार क्रियाएँ और शब्द करता है तथा शीघ्र ही मत्यु को प्राप्त हो जाता है॥ ६३-६४॥

विमर्श—१. वाग्भट ने पागल कुत्ते के लक्षणों के सम्बन्ध में कहा है—'लालावानन्धबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति। स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धशिरोदुःखी नताननः'॥ (उ. ३८) 'स श्वा लालायुतोऽन्धबधिरो ध्वस्तपुच्छो हनुस्कन्धशिरोदुःखी नतमुखः सर्वतो धावति'—अरुणदत्तः। इस सम्बन्ध में चरकोक्त लक्षण संक्षिप्त हैं—'श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्। शिरोऽभितापी लालास्राव्यधो वक्त्रस्तथा भवेत्'॥ (चि. २३।१०५) अत्र चक्रपाणिः—'यत्रैव च शुनस्त्रिदोषकोपो भवति दैवादलर्कग्रहावेशात् तत्रैव सविषशिरोऽभितापित्वादि भवतीति ज्ञेयम्'।

२. 'येऽत्र दंष्ट्राविषा मया' अत्र 'वातपित्तप्रकोपणाः' इति पाठान्तरम्।

नखदन्तक्षतं व्यालैर्यत्कृतं तद्विमर्दयेत्। सिञ्चेत्तैलेन कोष्णेन ते हि वातप्रकोपकाः॥ ६५॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने मूषिककल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥



नखदन्तक्षत चिकित्सा—उन्मत्त श्वादि के नख, दन्त से हुए क्षत का मर्दन कर (रक्त को निकाल देना चाहिए) उस स्थान पर कोष्ण तैल से सिंचन करना चाहिए। इस प्रकार के व्रण वातप्रकोपक होते हैं॥ ६५॥

विमर्श—दंशस्थल से दुष्ट रुधिर को निकाल देने का सुझाव पाश्चात्य चिकित्सकों द्वारा भी दिया जाता है ('If seen within 30 minutes, bleeding should be encouraged'—Price)

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त 'मूषिककल्प' नामक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥ ७॥



अध्याय-सारांश

'मूषिककल्प' नामक इस अध्याय में—जलसंत्रास (Hydrophobia) के वर्णन के अतिरिक्त १८ प्रकार के मूषिकों (Rats) का वर्णन तथा उनके दंश की चिकित्सा का उल्लेख है। १८ प्रकार के मूषिकों का नामोल्लेख तथा शुक्र, मूत्र, नख आदि से विष का प्रभाव (७), मूषिकदष्ट लक्षण (८-९) तथा विशिष्ट चिकित्सा (१०-१५)।

छुछुन्दरदंश के लक्षण एवं चिकित्सा (१६-२०), मूषिकविष की सामान्य चिकित्सा में दहन, प्रच्छान, विस्रावण, छर्दन आदि करने चाहिए (३६)। इनके विष से दूषीविषहर चिकित्सा भी करनी चाहिए (४१); आखुविष की कर्णिका की चिकित्सा (४२), शृगाल, कुत्ता आदि के पागल होने की पहचान तथा चिकित्सा (४३-४७), जलत्रास का लक्षण (४८), चिकित्सा (४९-५७) और असाध्यता (६४)।



अष्टमोऽध्यायः

अथातः कीटकल्पं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके बाद 'कीटकल्प' (The Doctrine of Poisoning by Insects) नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा ॥ १-२ ॥

सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसम्भवाः। वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥ ३ ॥

सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः। कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः, सर्व एव चतुर्विधाः ॥ ४ ॥

कीटों के लक्षणादि का वर्णन— सर्पों के शुक्र, पुरीष, मूत्र और मृत शरीर के सड़ जाने तथा सड़े हुए (Putrified) अण्डों से उत्पन्न वायु, अग्नि और जल की प्रकृति वाले नाना प्रकार के कीट उत्पन्न होते हैं। परिणामतः ('परिणामो नाम भिन्नजातीयैरनेकैरेकीभावेन कार्यस्यारम्भः' – ड.) ये कीट सभी दोषों की प्रकृति से युक्त तथा कीट होते हुए भी सुघोर अर्थात् तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले और संख्या में चार प्रकार के होते हैं ॥ ३-४ ॥

विमर्श— कीटों के त्रिदोषप्रकोपक होने का सम्बन्ध सर्पों के दर्वीकर, मण्डलि और राजिल भेदों से हैं जो क्रमशः वातादि को प्रकुपित करते हैं। चरक भी कीटों की उत्पत्ति सर्पों के शुक्रादि से मानते हैं (चि. २३।१४०)। वाग्भट भी इस विचार से सहमत है ('सर्पाणामेव विण्मूत्रशुक्राण्डशवकोथजाः। दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च युक्ताः कीटाश्चतुर्विधाः' – उ. ३७।१)।

कुम्भीनसस्तुण्डिकेरी शृङ्गी शतकुलीरकः। उच्चिटिङ्गोऽग्निनामा च चिच्चिटिङ्गो मयूरिका ॥

आवर्तकस्तथोरभ्रः सारिकामुखवैदलौ। शरावकुर्दोऽभीराजिः परुषश्चित्रशीर्षकः ॥ ६ ॥

शतबाहुश्च यश्चापि रक्तराजिश्च कीर्तितः। अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपनाः ॥ ७ ॥

तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः।

वातप्रकोपक कीट— इन कीटों में 'वायव्य कीट' जो वायु को प्रकुपित करते हैं तथा जिनके दंश से वातव्याधियाँ होती हैं, संख्या में अठारह हैं; यथा— १. कुम्भीनस, २. तुण्डीकेरी, ३. शृङ्गी, ४. शतकुलीरक, ५. उच्चिटिङ्ग, ६. अग्निनामा, ७. चिच्चिटिङ्ग, ८. मयूरिका, ९. आवर्तक, १०. उरभ्र, ११. सारिका, १२. मुखवैदल, १३. शरावकुर्द, १४. अभीराजि, १५. परुष, १६. चित्रशीर्षक, १७. शतबाहु तथा १८. रक्तराजि ॥ ५-७ ॥

विमर्श— आज आयुर्वेद-जगत् में इन कीटों की पहचान करने वाला कोई नहीं है। डल्हण काल में भी लगभग ऐसी ही स्थिति रही होगी— 'एते कीटभेदा नानादेशीयलोकादवगन्तव्याः, यतः सुरसवीर-नन्दिवराहजेज्जटगयदासादिभिः टीकाकरैर्न व्याख्याताः' (ड.)। फिर भी बहुत कुछ जानकारी थी— 'वात-प्रकोपणानां कुम्भीनसादीनां मध्ये शृङ्गयुचिच्चिटिङ्गशरावकुर्दचित्रशीर्षकान् वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दश मुख-सन्दंशविषाः' (ड.)।

कौण्डिन्यकः कणभको वरटी पत्रवृश्चिकः ॥ ८ ॥

विनासिका ब्राह्मणिका बिन्दुलो भ्रमरस्तथा। बाह्यकी पिच्चिटः कुम्भी वर्चःकीटोऽरिमेदकः ॥

पद्मकीटो दुन्दुभिको मकरः शतपादकः। पञ्चालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुण्डोऽथ गर्दभी ॥ १० ॥

क्लीतः कृमिसरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकस्तथा। एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशतिरेव च ॥ ११ ॥

तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः।

पित्तप्रकोपक कीट— अग्नि स्वभाव वाले चौबीस कीट जिनके दंश से पैत्तिक व्याधियाँ होती हैं, इस प्रकार हैं— १. कौण्डिन्यक, २. कणभक, ३. वरटी, ४. पत्रवृश्चिक, ५. विनासिका, ६. ब्राह्मणिका, ७. बिन्दुल, ८. भ्रमर, ९. बाह्यकी, १०. पिच्चिट, ११. कुम्भी, १२. वर्चःकीट, १३. अरिमेदक, १४. पद्मकीट, १५. दुन्दुभिक, १६. मकर, १७. शतपादक, १८. पञ्चालक, १९. पाकमत्स्य, २०. कृष्णतुण्ड, २१. गर्दभी, २२. क्लीत, २३. कृमिसरारी तथा २४. उत्क्लेशक॥ ८-११॥

विमर्श— 'कृष्णतुण्डोऽथ' अत्र 'सूक्ष्मतुण्डोऽथ' इति पाठान्तरम्।

विश्वम्भरः पञ्चशुक्लः पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः॥ १२॥
सैरेयकः प्रचलको वलभः किटिभस्तथा। सूचीमुखः कृष्णगोधा यश्च काषायवासिकः॥ १३॥
कीटो गर्दभकश्चैव तथा त्रोटक एव च। त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटाः श्लेष्मप्रकोपणाः॥ १४॥
तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः कफनिमित्तजाः।

कफप्रकोपक कीट— सौम्य स्वभाव वाले तथा श्लेष्मप्रकोपक कीट संख्या में तेरह हैं। इनके दंश से कफज व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। ये कीट इस प्रकार है— १. विश्वम्भर, २. पञ्चशुक्ल, ३. पञ्चकृष्ण, ४. कोकिल, ५. सैरेयक, ६. प्रचलक, ७. बलभ, ८. किटिभ, ९. सूचीमुख, १०. कृष्णगोधा, ११. काषायवासिक, १२. गर्दभक तथा १३. त्रोटक॥ १२-१४॥

तुङ्गीनासो विचिलकस्तालको वाहकस्तथा॥ १५॥
कोष्ठागारी क्रिमिकरो यश्च मण्डलपुच्छकः। तुण्ड(ङ्ग)नाभः सर्षपिको वल्गुलिः शम्बुकस्तथा॥
अग्निकीटश्च विज्ञेया द्वादश प्राणनाशनाः। तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत्॥ १७॥
तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकाः। क्षाराग्निदग्धवद्दंशो रक्तपित्तसितारुणः॥ १८॥

सर्वदोषप्रकोपक कीट— सभी दोषों के स्वभाव वाले प्राणनाशक कीटों की संख्या बारह है। इनके द्वारा दष्ट प्राणी में विषवेग सर्प के विषवेग सदृश होते हैं तथा वेदनाएँ भी उसी प्रकार की होती हैं। ये त्रिदोषप्रकोपक कीट हैं। इनके दंश से क्षार एवं अग्नि के जलने सदृश वेदना होती है और इसका वर्ण रक्तपीत (पित्तेन), श्वेत (कफेन) और अरुण (वातेन) होता है। ये कीट इस प्रकार हैं— १. तुङ्गीनास, २. विचिलक, ३. तालक, ४. वाहक, ५. कोष्ठागारी, ६. क्रिमिकर, ७. मण्डलपुच्छक, ८. तुण्डनाभ, ९. सर्षपिक, १०. वल्गुलि, ११. शम्बुक तथा १२. अग्निकीट॥ १५-१८॥

ज्वराङ्गमर्दरोमाञ्चवेदनाभिः समन्वितः। छर्द्यतीसारतृष्णाश्च दाहो मूर्च्छा विजृम्भिका॥ १९॥
वेपथुश्वासहिक्काश्च दाहः शीतं च दारुणम्। पिडकोपचयः शोफो ग्रन्थयो मण्डलानि च॥ २०॥
दद्रवः कर्णिकाश्चैव विसर्पाः किटिभानि च। तैर्भवन्तीह दष्टानां यथास्वं चाप्युपद्रवाः॥ २१॥
येऽन्ये तेषां विशेषास्तु तूर्णं तेषां समादिशेत्। दूषीविषप्रकोपाच्च तथैव विषलेपनात्॥ २२॥
लिङ्गं तीक्ष्णविषेष्वेत—

तीक्ष्ण विष वाले कीटों के दंश लक्षण— तीक्ष्ण विष वाले कीटों के दंश से निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं— ज्वर, अङ्गमर्द, रोमाञ्च, वेदना (शरीर एवं दंशस्थल पर), छर्दि, अतिसार, तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, जम्भाई आना, शरीर में कम्प, श्वास, हिक्का, दाह, दारुण शीत, शरीर पर पिडकाएँ निकल आना, शोफ, ग्रन्थियाँ, मण्डल (चकत्ते), दद्रु, कर्णिका, विसर्प तथा किटिभ। इनके अतिरिक्त इन कीटों के अन्य भी दोषानुसार उपद्रव होते हैं जिनकी विशेषताओं को पूरी तरह जानना आवश्यक है। ये उपद्रव दूषीविष के प्रकोप तथा विषलेपन से भी होते हैं॥ १९-२२॥

—च्छृणु मन्दविषेष्वतः। प्रसेकारोचकच्छर्दिशिरोगौरवशीतकाः॥ २३॥

पिडकाकोठकण्डूनां जन्म दोषविभागतः।

मन्दविष कीटों के दंशलक्षण— अब मन्द विष वाले कीटों के सम्बन्ध में सुनो— इन कीटों के (दंश के) लक्षण लालास्राव, अरोचक, छर्दि, शिरोगौरव, अल्पशीत (शीतकोऽल्पं शीतम्), पिडका, कोठ और कण्डू हैं जो कीटों के दोषविभाग के अनुसार होते हैं॥ २३॥

योगैर्नानाविधैरेषां चूर्णानि गरमादिशेत्। दूषीविषप्रकाराणां तथा चाप्यनुलेपनात्॥ २४॥

विषैले कीटों के चूर्ण—नाना प्रकार के औषधयोगों के साथ इन कीटविषों के शरीर के चूर्ण 'गरविष' के समान होते हैं और अनुलेपन करने पर इनका प्रभाव दूषीविष के सदृश होता है॥ २४॥

विमर्श— वास्तविक विष स्थावरों में वत्सनाभादि और जंगमों में सर्पविष आदि हैं। कृत्रिम विष गरसंज्ञक है ('कृत्रिमं गरसंज्ञकम्' – वा.) और जब विष ही किन्हीं कारणों से हीन वीर्य हो जाता है तो दूषीविष कहलाता है ('विषं हि दूषीविषतामुपैति' – वा.उ. ३५।३३)। गरविष और दूषीविष से मृत्यु सहसा नहीं होती है।

उपरोक्त गरविष की परिभाषा से भी गरविष का कृत्रिम होना ही प्रमाणित होता है।

इस उपरोक्त श्लोक की टीका में डल्हण ने कीटों के बारे में सामान्य जानकारी प्राप्त करने के लिए आलम्बायन नामक आचार्य के उद्धरण दिये हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए यथावत् उद्धृत किया जा रहा है।

कीटानां सामान्यज्ञानोपायो लिख्यते—

'कटुभिर्बिन्दुलेखाभिः पक्षैः पादैर्मुखैर्नखैः। शूकैः कण्टकलाङ्गूलैः संश्लिष्टैः पक्षरोमभिः॥
स्वनैः प्रमाणैः संस्थानैर्लिङ्गैश्चापि शरीरगैः। विषवीर्यैश्च कीटानां रूपज्ञानं विभाव्यते'॥

कतिचित्कीटा विशिष्टाकृतिवर्णादिभिस्तदुक्ता एव लिख्यन्ते—

'अजाप्रतिमरूपो यः शूकहीनस्त्वरोमशः। सितः शरकुलीरस्तु क्ष्वेडचूर्णविषः स्मृतः॥
गिरिकाभो महाकीटः सपक्षो मार्जितोदरः। खेचरो गुदशूकश्च कौण्डिन्य इति स स्मृतः॥
कुरण्टपुष्पवर्णाभः सपक्षो मार्जितोदरः। तुण्डशूकविषः कीटः कोष्ठागारीति संज्ञितः॥
लाक्षारुचिरवर्णाभः श्वेतबिन्दुविचित्रितः। क्षुद्रको ह्यग्निसङ्काशो भ्राजते निशि चाग्निवत्॥
कीटः खद्योत इत्युक्तो दष्टस्तेनापि दह्यते। दंष्ट्राविषः श्वेतबिन्दुः सपक्षो षट्पदः खगः॥
स तु दै शम्बूको नाम कालकः सप्तमण्डलः। चतुष्पादो दीर्घपत्र उल्ललाटो बहुप्रजः॥
वृक्षालयो दन्तविषः कृकलास इति स्मृतः। चन्द्राभः कृकलासोऽन्यस्तद्भेदस्तु त्रिकण्टकः'॥

एकजातीनतस्तूर्ध्वं कीटान् वक्ष्यामि भेदतः। सामान्यतो दष्टलिङ्गैः साध्यासाध्यक्रमेण च॥
त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः। चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः॥
तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति॥ २७॥

कणभ जाति के भेद— अब इसके उपरान्त एकजातीय कीटों के भेदानुसार वर्णन किया जायेगा। इनके द्वारा दंश के सामान्य लक्षण एवं साध्यासाध्यता का वर्णन भी होगा। १. त्रिकण्ट, २. करिणी, ३. हस्तिकक्ष और ४. अपराजित— ये चार भेद कणभ जाति के कीटों के हैं जिनके दंश से तीव्र वेदना होती है। इसके अतिरिक्त शोथ, अङ्गमर्द, भारीपन और दंशस्थल का वर्ण कृष्ण होता है॥ २५-२७॥

विमर्श— 'सर्व एव कणभाश्चतुष्पदकीटाः साध्याः' (ड.)।

प्रतिसूर्यकः, पिङ्गाभासो, बहुवर्णो, निरूपमो गोधेरक इति पञ्च गोधेरकाः; तैर्दष्टस्य शोफो दाहरुजौ च भवतः, गोधेरकेणैतदेव ग्रन्थिप्रादुर्भावो ज्वरश्च॥ २८॥

गोधेरक भेद और दंशलक्षण—इनके दंश से शोफ, दाह और वेदना होते हैं। पंचम भेद गोधेरक के दंश से शरीर में ग्रन्थियाँ निकल आना और ज्वर भी होते हैं॥ २८॥

विमर्श— पाठान्तर भी है— 'प्रतिसूर्यः पिङ्गनाशो बहुलोमा महाशिराः। तथा निरुपमश्चेति पञ्च गोधेरकाः स्मृताः'॥ तन्त्रान्तर में गोधेरक का लक्षण — 'कृष्णसर्पेण गोधायां भवेद्यस्तु चतुष्पदः। सर्पो गोधेरको नाम तेन दष्टो न जीवति'॥

गलगोलिका—श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्वश्वेता, सर्षपिकेत्येवं षट्; ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति, सर्षपिकया हृदयपीडाऽतिसारश्च, तासु मध्ये सर्षपिका प्राणहरी॥ २९॥

गलगोलिका जाति और इनके दंशलक्षण— श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्वश्वेता और सर्षपिका— ये छः भेद गलगोली (पाठान्तर— 'गोगति, गलगोलिका') जाति के कीटों के हैं। सर्षपिका को छोड़कर अन्य कीटों के दंश से दाह, शोफ और क्लेद होते हैं। सर्षपिका के दंश से हृदय में पीड़ा तथा अतिसार लक्षण पाये जाते हैं। इन कीटों में सर्षपिका के दंश से मृत्यु हो जाती है॥ २९॥

शतपद्यस्तु—परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा इत्यष्टौ; ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये, श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव, दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च॥ ३०॥

शतपदी जाति और इनके दंशलक्षण— परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता और अग्निप्रभा—ये आठ भेद शतपदी (कनखजूरा) जाति के कीटों के हैं। इनके दंश से शोफ, वेदना, हृदय में दाह होते हैं। श्वेता और अग्निप्रभा नामक शतपदी कीटों के दंश के भी ये ही लक्षण हैं, पर इनके दंश में दाह, मूर्च्छा और श्वेत वर्ण की पिडकाओं की उत्पत्ति अत्यधिक होती है॥ ३०॥

मण्डूकाः — कृष्णः, सारः, कुहको, हरितो, रक्तो, यववर्णाभो, भृकुटी, कोटिकश्चेत्यष्टौ; तैर्दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति पीतफेनागमश्च वक्त्रात्, भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहश्छर्दिर्मूर्च्छा चातिमात्रम्॥ ३१॥

मण्डूक जाति और इनके दंशलक्षण— कृष्ण, सार, कुहक, हरित, रक्त, यववर्णाभ, भृकुटी और कोटिक— ये आठ मण्डूक जाति के कीटों के हैं। इनके दंश से खुजली होना, पीले रंग की झाग आना (मुख से); ये लक्षण होते हैं। भृकुटी और कोटिक भेदों के दंश के भी ये ही लक्षण हैं पर दाह, छर्दि और मूर्च्छा अधिक मात्रा में पाये जाते हैं॥ ३१॥

विमर्श— मण्डभूमि में अधिक पाये जाने के कारण 'मण्डूक' नाम है। 'मण्डूकोत्पत्तिः भृकुटीलक्षणं च तन्त्रान्तरोक्तं पठ्यते— 'वर्षमाणे सृजेत् शुक्रं प्रावृट्काले महेश्वरः। ततः शरत्प्रतप्तायां भूमौ मण्डे जलस्य हि॥ तस्मिन् मण्डोदके जाता मण्डूकास्तेन संज्ञिताः। मण्डूको गोपतिस्तज्ज्ञैः कोटिकः परिकीर्तितः। तेन दष्टस्य मरणं नास्ति तस्य प्रतिक्रिया'॥ (डल्हणः)

विश्वम्भराभिर्दष्टे दंशः सर्षपाकाराभिः पिडकाभिः सरुजाभिश्चीयते, शीतज्वरार्तश्च पुरुषो भवति॥ ३२॥

विश्वम्भरादंश के लक्षण— विश्वम्भरा जाति के कीट द्वारा काटे जाने पर (दंश से) दंशस्थल पर सर्षपाकार पिडकाएँ निकल आती हैं जिनमें वेदना होती हैं। इसके अतिरिक्त दष्ट व्यक्ति शीतज्वर से भी ग्रस्त होता है॥ ३२॥

विमर्श— डल्हण इस जाति के कीटों की संख्या तीन बताते हैं ('विश्वम्भराश्च त्रयः' – ड.)।

अहिण्डुकाभिर्दष्टे तोददाहकण्डुश्वयथवो भवन्ति मोहश्च; कण्डूमकाभिर्दष्टे पीताङ्गश्छर्द्यती-सारज्वरादिभिरभिहन्यते; शूकवृन्तादिभिर्दष्टे कण्डूकोठाः प्रवर्धन्ते शूकं चात्र लक्ष्यते॥ ३३॥

अहितुण्डिकादि के दंश के लक्षण—इस कीट के (अहितुण्डिका के) दंश से तोद, दाह, कण्डू, मोह और शोथ होते हैं। कण्डूमका कीट के दंश से दष्ट व्यक्ति का शरीर पीला पड़ जाता है और वह वमन, अतिसार, ज्वर आदि से मृत्युग्रस्त हो जाता है। शूकवृन्तादि कीटों के दंश में कण्डू और कोठ निकल आते हैं तथा शूक (डंक) दिखायी देते हैं॥ ३३॥

विमर्श—डल्हण कहते हैं कि कुछ आचार्य इनको विश्वम्भरा का भेद मानते हैं और इसे अलग से वर्णित नहीं करते हैं। अन्य आचार्य इसे अलग से इस हेतु वर्णित करते हैं कि इनकी चिकित्सा का पृथक् से विधान है।

पिपीलिकाः—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अङ्गुलिका, कपिलिका, चित्रवर्णेति षट्; ताभिर्दष्टे दंशे श्वयथुरग्निस्पर्शवद्दाहशोफौ भवतः॥ ३४॥

पिपीलिका भेद और दंश के लक्षण—स्थूलशीर्षा, संवाहिका, ब्राह्मणिका, अंगुलिका, कपिलिका और चित्रवर्णा—ये छः भेद पिपीलिका जाति के कीट के हैं। इनके दंश से शोथ, अग्निस्पर्श की तरह की जलन और शोफ होते हैं॥ ३४॥

मक्षिकाः—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थालिकेत्येवं षट्; ताभिर्दष्टस्य कण्डुशोफदाहरुजो भवन्ति, स्थालिकाकाषायीभ्यामेतदेव श्यावपिड़कोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, काषायी स्थालिका च प्राणहरे॥ ३५॥

मक्षिका भेद और दंश के लक्षण—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी और स्थालिका—ये छः भेद मक्षिका जाति के कीट के हैं। इनके दंश से कण्डू, दाह, शोफ और वेदनाएँ होती हैं। स्थालिका और काषायी के दंश से इन उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त श्याव वर्ण की पिड़काओं की उत्पत्ति और ज्वरादि उपद्रव भी होते हैं तथा ये दोनों प्राणहरी मक्षिकाएँ हैं॥ ३५॥

मशकाः—सामुद्रः, परिमण्डलो, हस्तिमशकः, कृष्णः, पार्वतीय इति पञ्च; तैर्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च, पार्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः॥ ३६॥

मशक भेद और दंश के लक्षण—सामुद्र, परिमण्डल, हस्तिमशक, कृष्ण और पार्वतीय—ये पाँच भेद मशक जाति के कीट के हैं। इनके दंश से तीव्र कण्डू और शोफ होते हैं। पर्वतीय श्रेणी के कीट जो प्राणहर हैं, उनके दंश के भी ये ही लक्षण होते हैं॥ ३६॥

नखावकृष्टेऽत्यर्थं पिडकादाहपाका भवन्ति। जलौकसां दष्टलक्षणमुक्तं चिकित्सितञ्च॥ ३७॥

नखजन्य व्रण—नाखूनों से लगी खरोंच के विष के लक्षणों में अधिक संख्या में पिड़काओं का निकलना, दाह और पाक होते हैं। जौंक (जलौका) के काटने (दष्ट) के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन (सूत्र. १३वें अध्याय में) किया जा चुका है॥ ३७॥

भवन्ति चात्र—

गोधेरकः स्थालिका च ये च श्वेताग्निसप्रभे। भृकुटी कोटिकश्चैव न सिध्यन्त्येकजातिषु॥ ३८॥

कीटदंशों की असाध्यता—गोधेरक, स्थालिका, श्वेता, अग्निप्रभा, भृकुटी और कोटिका—इन एक जाति के कीटों के दंश असाध्य होते हैं॥ ३८॥

विमर्श—डल्हण ने इस श्लोक में पठित चकार से कुछ अन्य कीटों को भी सम्मिलित किया है—'स्थालिकेति चकारेण काषायी समुच्चीयते। ये चेति चकारेण गलगोलिकेषु सर्षपिकाप्यनुक्तानुक्ता समुच्चीयते। भृकुटीकोटिकैश्चैवेति चकारेण उक्ता जलौकास्विन्द्रायुधा समुच्चीयते।'

सुश्रुत ने 'कीटकल्प' नामक इस आठवें अध्याय में नाना प्रकार के विषैले प्राणियों का वर्णन किया है। उनकी उत्पत्ति सर्पों के शुक्र-मलादि से बतायी गयी है। इन कीटों में वायव्य, आग्नेय, कफनिमित्तज

तथा तीक्ष्ण और मन्दविष वाले प्राणियों का उल्लेख है। इनमें से एक जातीय कीटों के वर्णन में गोधेरक, गलगोली, शतपदी, मण्डूक, जलौका, पिपीलिका, मक्षिका, मशक आदि के भेद, दंश से उत्पन्न लक्षण एवं साध्यासाध्यता आदि का उल्लेख है।

वास्तव में मनुष्य बहुत प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों के बीच रहता हुआ जीवन-यापन करता आया है। इस निकट सम्पर्क में मनुष्य सभी प्राणियों में सर्वाधिक बुद्धिमान् होने के कारण अपनी जीवनयात्रा को सुखद बनाने के लिए अन्य कई जीवधारियों का आहार, वाहन, सुरक्षा आदि के रूप में प्रयोग करता आया है। इस निकट सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि इन प्राणियों के निकट सम्पर्क से, आहार के रूप में इनका उपयोग करने से या इनके द्वारा आक्रमण किये जाने से मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट भी सहन करता चला आ रहा है।

कल्पस्थान के इस कीटकल्प नामक अध्याय में सुश्रुत ने गोधेरक, मक्षिक, मशक आदि के दंश के लक्षणों एवं चिकित्सा का विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु ये कीट कई प्रकार से मनुष्यों में रोग उत्पन्न करते हैं। यहाँ संक्षेप में इन कीटों, मक्षिकादि द्वारा रोगों का संक्रमण, काटने से सीधे रोग उत्पन्न करना आदि का वर्णन किया जा रहा है—

सुश्रुत-सूत्रस्थान (अ. १३) में छः प्रकार की जलौकाओं का उल्लेख है, जिनके दंश से शोथ, कण्डू, मूर्च्छा आदि होते हैं और 'इन्द्रायुधादष्टमसाध्यम्' बताया है। इस कीटकल्प नामक अध्याय में जो छः प्रकार की मक्षिकाओं का वर्णन है तथा उनके द्वारा दष्ट व्यक्ति में उत्पन्न लक्षण भी बताये गये हैं। परन्तु मक्खियों का रोगवाहक कार्य सौश्रुत काल से ही ज्ञात है ('मक्षिका व्रणजातस्य निक्षिपन्ति यदा कृमीन्। श्वयथुर्भक्षितैस्तैस्तु जायते भृशदारुणः ॥ तीव्रा रुजो विचित्राश्च रक्तस्रावश्च जायते'–चि. १।११८)। इन मक्षिकाओं द्वारा जिन रोगकर जीवाणुओं का वहन होता है वे नग्न नयनों से देखे नहीं जा सकते हैं— ऐसी जानकारी भी पुराकाल में थी। वाग्भट कहते हैं— 'सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः' (नि. १४।५१); 'सौक्ष्म्यात्सूक्ष्मत्वात्कारणात्केचिददर्शनाः प्रत्यक्षप्रमाणासमधिगम्याः कार्येणैवानुमीयन्ते' (अरुणदत्तः)। घरेलू मक्खियों से विसूचिका (हैजा), आन्त्रिक ज्वर (टायफायड) फैलते हैं। सीसी (Tsetse fly) मक्खी के काटने से स्लीपिंग सिक्नैस रोग होता है। सैण्डफ्लाई से भी (कालाजार) ज्वर होता है आदि अनेक उदाहरण हैं।

मच्छरों की पाँच जातियों का वर्णन है जिनसे दष्ट व्यक्ति में दंशशोफ, तीव्र कण्डू एवं पार्वतीय मशक के दंश को प्राणहरण करने वाला बताया है। मच्छरों द्वारा काटने से मलेरिया होना सर्वविदित है। फाइलेरिया 'क्यूलेक्स फेटिगेन्स' मच्छर से फैलता है। इसी प्रकार डेंगू ज्वर, यलो फीवर को 'एडिस इजेक्टाई' नामक मच्छर फैलाता है। इसी प्रकार अन्य भी कई प्राणियों द्वारा काटे जाने पर रोग फैलते हैं—'शृगालश्वतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदानिलः। ''''तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु' (सु. क. ८।४५)। इसी प्रकार चूहे से प्लेग का फैलना, जूँ से रिलेप्सिंग ज्वर तथा रिकेट्सिया से टाइफस और ट्रेंच ज्वर होता है।

शवमूत्रपुरीषैस्तु सविषैरवमर्शनात्। स्युः कण्डूदाहकोठारुःपिडकातोदवेदनाः ॥ ३९ ॥
प्रक्लेदवांस्तथा स्रावो भृशं सम्पाचयेत्त्वचम्। दिग्धविद्धक्रियास्तत्र यथावदवचारयेत् ॥ ४० ॥

कण्डू-दाहादि की चिकित्सा— विषाक्त मृतशरीर, मूत्र और मल के सम्पर्क में आने पर (मर्दन या घर्षण से) जो कण्डू, दाह, कोठ, अरूंषिका, पिडका, तोदात्मक वेदनाएँ, गीलापन, तीव्र स्राव और त्वचा का अधिक गल जाना लक्षण होते हैं उनके उपचार के लिए दिग्धविद्ध की तरह चिकित्सा करनी चाहिए ॥ ३९-४० ॥

विमर्श — कोठ— 'मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च। उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते' ॥ (मा.) 'क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः' इति; 'सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते। सानुबन्धता च पुनः पुनर्भवनेन' (श्रीकण्ठः)।

अरूंषिका — 'अरूंषिका बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु। कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम्' ॥ (सु. २।१३) 'अरूंषीति व्रणाः' (श्रीकण्ठः)।

दिग्धविद्ध की चिकित्सा — 'तेषां युक्त्या पूतिमांसान्यपोह्य वार्योकोभिः शोणितं चापहृत्य। हृत्वा दोषान् क्षिप्रमूर्ध्वं त्वधश्च सम्यक् सिञ्चेत् क्षीरिणां त्वक्कषायैः॥ अन्तर्वस्त्रं दापयेच्च प्रदेहान् शीतैर्द्रव्यै राज्ययुक्तैर्विषघ्नैः' (सु.क. ५।६०)।

नावसन्नं न चोत्सन्नमतिसंरम्भवेदनम्। दंशादौ विपरीतार्ति कीटदष्टं सुबाधकम्॥ ४१॥

कीटदंश की कृच्छ्रसाध्यता — वह कीटदंश कृच्छ्रसाध्य (सुबाधकम् = कृच्छ्रसाध्यम्) होता है जो न अधिक दबा हुआ हो और न अधिक उठा हुआ हो, जिसमें वेदनाएँ तीव्र हों तथा जिसमें दंश के आदि में पीड़ाएँ विपरीत हों (अर्थात् — 'अनुग्रविषदष्टे तीव्रार्तिर्भवति, उग्रविषदष्टे तु मन्दार्तिरि'ति)॥ ४१॥

विमर्श — व्रण में इस प्रकार की वेदनाएँ हों तो उसे असाध्य लक्षण बताया है ('ये च मर्मस्वसम्भूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः' – सु.)।

दष्टानुग्रविषैः कीटैः सर्पवत् समुपाचरेत्। त्रिविधानां तु पूर्वेषां त्रैविध्येन क्रिया हिता॥ ४२॥

उग्र विष वाले कीट से दष्ट व्यक्ति की चिकित्सा — उग्र विष वाले कीटों से दष्ट व्यक्ति की चिकित्सा सर्पदंश की चिकित्सा की तरह की जाती है। तीन प्रकार के साँपों की चिकित्सा तीन प्रकार की होती है ('त्रैविध्येन वातादिभेदेनेत्यर्थः')॥ ४२॥

विमर्श — त्रैविध्येन — 'कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु। पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं त्वनेकराजिनः'॥ (सु.क. ४।२९)

स्वेदमालेपनं सेकं चोष्णमत्रावचारयेत्। अन्यत्र मूर्च्छितादृंशात् पाककोथप्रपीडितात्॥ ४३॥
विषघ्नं च विधिं सर्वं बहुशः शोधनानि च।

दष्ट पुरुष की सामान्य चिकित्सा — मूर्च्छित दष्ट व्यक्ति तथा दंशस्थल के पाक एवं कोथ से पीड़ित होने की अवस्था को छोड़कर दष्ट पुरुष की सामान्य चिकित्सा में स्वेदन, आलेपन और सेक को उष्ण ही प्रयुक्त करना चाहिए। सभी विषघ्न उपचार एवं संशोधन दोषानुसार करने चाहिए॥ ४३॥

विमर्श — संशमनविधिं पाननस्याभ्यङ्गालेपनपरिषेकाञ्जनादिकं वातादिविषहरद्रव्यकल्पितम्। संशोधनानि चेति वमनविरेचनास्थापनानि यथादोषमित्यध्याहारः' – (ड.)।

शिरीषकटुकाकुष्ठवचारजनिसैन्धवैः॥ ४४॥
क्षीरमज्जवसासर्पिःशुण्ठीपिप्पलिदारुषु। उत्कारिका स्थिरादौ वा सुकृता स्वेदने हिता॥ ४५॥

विषहर स्वेदन — सिरस, कुटकी, कूठ, वच, हल्दी, सेंधानमक, दूध, मज्जा, वसा, घी, सोंठ, पीपल और देवदारु—इनसे तथा शालिपर्णी आदि द्रव्यों से अच्छी प्रकार तय्यार की गयी उत्कारिका (नातिद्रवो नाल्पद्रवः) से स्वेदन करना हितकर है॥ ४४-४५॥

न स्वेदयेत चादंशं धूमं वक्ष्यामि वृश्चिके।

स्वेदन-निषेध — वृश्चिक (बिच्छू) के दंश में दंशस्थल का स्वेदन नहीं करना चाहिए। एतदर्थ आगे वर्णित शिखिकुक्कुटादि धूम का प्रयोग करना चाहिए (इसी अध्याय का ७२वाँ श्लोक देखें)।

अगदानेकजातीषु प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक्॥ ४६॥
कुष्ठं वक्रं वचा पाठा बिल्वमूलं सुवर्चिका। गृहधूमं हरिद्रे द्वे त्रिकण्टकविषे हिताः॥ ४७॥

एकजातीय कीटों की चिकित्सा — एकजातीय कीटों की चिकित्सा में अलग-अलग अगदों का उल्लेख किया जायेगा। कूठ, तगर (वक्र), वच, पाठा, बेल की जड़, सज्जीखार, गृहधूम और दारुहल्दी और हल्दी — ये त्रिकण्टकादि एकजातीय कीटों की विषचिकित्सा में हितकर हैं॥ ४६-४७॥

विमर्श — त्रिकण्टकादि एकजातीय कीटों की संख्या ५४ है। उपरोक्त द्रव्य इनके विष में लाभकर होते हैं।

रजन्यागारधूमश्च वक्रं कुष्ठ पलाशजम्। गलगोलिकदष्टानामगदो विषनाशनः ॥ ४८ ॥

गलगोलिक-दष्ट की चिकित्सा — गलगोली श्रेणी के कीटों के दंशविष को नष्ट करने के लिए हल्दी, गृहधूम, तगर, कूठ और पलाश (ढाक) बीज — इनसे बना अगद श्रेष्ठ है॥ ४८॥

कुङ्कुमं तगरं शिग्रु पद्मकं रजनीद्वयम्। अगदो जलपिष्टोऽयं शतपद्विषनाशनः ॥ ४९ ॥

शतपद् दष्ट की चिकित्सा — कुंकुम, तगर, शोभांजन, पद्माख, दोनों हल्दियाँ (हल्दी और दारुहल्दी)— इस अगद को पानी में पीसकर लगाने से शतपद् श्रेणी के कीटों का विष नष्ट होता है॥ ४९ ॥

मेषशृङ्गी वचा पाठा निचुलो रोहिणी जलम्। सर्वमण्डूकदष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥ ५० ॥

मण्डूकविषहर अगद — मेढासिंगी, वच, पाठा, निचुल (समुद्रफल/ *Barringtonia acutangula*), रोहिणी, बालक (सुगन्धबाला) — इन द्रव्यों से बना अगद सभी प्रकार के मण्डूकविषों को नष्ट करता है॥ ५० ॥

विमर्श — डल्हण के अनुसार निचुल वेतस है।

धवाश्वगन्धातिबलाबलासातिगुहागुहाः। विश्वम्भराभिर्दष्टानामगदोऽयं विषापहः ॥ ५१ ॥

विश्वम्भरादि का विषहर अगद — धव, असगन्ध, अतिबला (कंघी = कंकतिका), बला, शालिपर्णी (अतिगुहा), गुहा (पृश्निपर्णी) — इन द्रव्यों से बना अगद विश्वम्भरादि तीन प्रकार के कीटों के दंशविष को नष्ट करता है॥ ५१ ॥

शिरीषं तगरं कुष्ठं शालिपर्णी सहा निशे। अहिण्डुकाभिर्दष्टानामगदो विषनाशनः ॥ ५२ ॥

अहिण्डुकाओं के दंशविष की चिकित्सा — सिरस, तगर, कूठ, शालिपर्णी, मुद्गपर्णी (सहा), दारुहल्दी और हल्दी — इनसे बना अगद अहिण्डुकाओं के दंशविष को नष्ट करता है॥ ५२ ॥

कण्डूमकाभिर्दष्टानां रात्रौ शीताः क्रिया हिताः। दिवा ते नैव सिध्यन्ति सूर्यरश्मिबलार्दिताः ॥

कण्डूमकाओं के दंशविष की चिकित्सा — कण्डूमकाओं के दंशविष की चिकित्सा में रात्रि में शीतल क्रियाएँ करनी चाहिए, क्योंकि ये सूर्य की रश्मि से बल प्राप्त करने के कारण इनसे पीड़ित व्यक्ति दिन में चिकित्सा करने से ठीक नहीं होते हैं॥ ५३ ॥

वक्रं कुष्ठमपामार्गः शूकवृन्तविषेऽगदः। भृङ्गस्वरसपिष्टा वा कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥ ५४ ॥

शूकवृन्त ('शुक्रवृन्त' इति पाठान्तरम्) के विष के उपचार में तगर, कूठ, अपामार्ग से बना अगद विषघ्न है। अथवा कृष्णवमी की मिट्टी को भाँगरे के स्वरस में पीसकर लगाना चाहिए॥ ५४ ॥

पिपीलिकाभिर्दष्टानां मक्षिकामशकैस्तथा। गोमूत्रेण युतो लेपः कृष्णवल्मीकमृत्तिका ॥ ५५ ॥

चींटियों के दंश की चिकित्सा — पिपीलिका (चींटियों) के दंश की चिकित्सा में तथा मक्खियाँ एवं मच्छर के काटने पर काले वमी की मिट्टी को गोमूत्र में पीसकर लेप करना चाहिए॥ ५५ ॥

नखावघृष्टसञ्जाते शोफे भृङ्गरसो हितः।

नाखून की खरोंच लगने से हुए शोथ में भाँगरे के रस का लेप करना चाहिए।

विमर्श — ''गयदासस्तु — 'भृङ्गस्वरसपिष्टा स्यात्' इत्यधिकं पठित्वा पिपीलिकादित्रये दष्टे भृङ्गराजपिष्टकृष्णवल्मीकमृत्तिकालेपं प्रतिपादयति; गोमूत्रयुक्तकृष्णवल्मीकमृत्तिकालेपनं तु नखावघृष्टे तथा मार्कवस्वरसलेपनं च'' (ड.)।

प्रतिसूर्यकदष्टानां　　सर्पदष्टवदाचरेत्।

प्रतिसूर्यक के दंश की चिकित्सा सर्पदंश की चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

त्रिविधा वृश्चिकाः प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषाः॥५६॥

वृश्चिक (बिच्छू) तीन प्रकार के होते हैं—१. मन्दविष, २. मध्यमविष और ३. महाविष॥५६॥

गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः कोष्ठेष्टिकोद्भवाः। सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसम्भवाः॥

इस त्रैविध्य का हेतु—जो वृश्चिक गोबर के सड़ जाने के स्थान में पैदा होते हैं वे मन्द विष वाले, जो लकड़ी, ईंट आदि के रखने के स्थान में पाये जाते हैं वे मध्यम विष वाले और जो सर्पों के शरीर के गल जाने के स्थानों एवं अन्य विषैली जगहों में पाये जाते हैं वे महाविष वाले होते हैं॥५७॥

विमर्श—'गोशकृदित्यत्र गोशब्दस्यापरपशूपलक्षणत्वात् शकृत्शब्दस्यापरमलोपलक्षणत्वात् गोमहिषादिशकृन्मूत्रकोथजा मन्दाः' (ड.); ऐसा पाठ भी है 'सर्पकोथोद्भवास्तीव्रा दिग्धविद्धविषैर्हति। कोथे मध्या गवादीनां शकृत्कोथेऽवराः स्मृताः'॥

मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः। दश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः॥५८॥

इन वृश्चिकों की अलग-अलग संख्या—मन्द विष वाले वृश्चिक बारह, मध्यम विष वाले तीन और महाविष वालों की संख्या पन्द्रह है। इस प्रकार सभी वृश्चिकों की संख्या तीस है॥५८॥

विमर्श—गयदास के अनुसार यह संख्या सत्ताईस है—'त्रयोदश प्राणहरास्त्रयो मध्यास्तथाऽपरे। मन्दवीर्या दशैकश्च वृश्चिका विषवेदिभिः॥ सप्तविंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः'।

कृष्णः श्यावः कर्बुरः पाण्डुवर्णो गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च।
पीतो धूम्रो रोमशः शाड्वलाभो रक्तः श्वेतेनोदरेणेति मन्दाः॥५९॥
युक्ताश्चैते वृश्चिकाः पुच्छदेशे स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्यः।
एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च॥६०॥
शाखादष्टे वेदना चोर्ध्वमेति दाहस्वेदौ दंशशोफो ज्वरश्च।

मन्दविष वाले वृश्चिकों के लक्षण—ये वृश्चिक कृष्ण, श्याव, कर्बुर ('श्यावः स्यात्कपिशः' और 'चित्रं किर्मीरकल्माषशवलैताश्च कर्बुरे'–अ.को./Variegated colours), पाण्डु, गोमूत्र जैसा, कर्कश ('स्यात्कर्कशः साहसिकः कठोरामसृणावपि'–अ.को.), मेचक (श्यामवर्ण/'श्यामलमेचकाः'–अ.को.), पीत, धूमसदृश वर्ण, रोमयुक्त, शाद्वल (हरापन लिये) और रक्तवर्ण के तथा श्वेतवर्ण के उदर वाले होते हैं। अन्य वृश्चिकों की अपेक्षा इनके पुच्छप्रदेश में पर्व (जोड़) बहुत होते हैं इन मन्दविष वाले वृश्चिकों के दंश से वेदना, कम्प, शरीर का अकड़ जाना, काले रंग के रुधिर का आना (दंशस्थल से)—ये लक्षण होते हैं। शाखा (टाँग-पैर, बाँह-हाथ) में काटने से वेदना ऊपर की ओर को जाती है और दाह, पसीना आना, दंशस्थल पर शोथ तथा ज्वर होते हैं।॥५९-६०॥

विमर्श—बारह प्रकार के जो ये मन्द विष तथा भिन्न-भिन्न रंग वाले वृश्चिक वर्णित किये हैं, डल्हण के अनुसार इन सबके पेट का रंग सफेद होता है—'कृष्णादयो द्वादशापि श्वेतेनोदरेणोपलक्षिताः'।

रक्तः पीतः कपिलेनोदरेण सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः॥६१॥
एते मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम्।
यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपां स कुर्यात्॥६२॥
जिह्वाशोफो भोजनस्यावरोधो मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्टे।

मध्यम विष वाले वृश्चिकों के लक्षण—ये वृश्चिक लाल, पीले और इनके उदर कपिल वर्ण के होते हैं। इन सब धूम्र वर्ण के तथा ये तीन पर्वों वाले होते हैं। ये सर्पों के मूत्र, मल तथा सड़ी हुई जगह एवं अण्डों से उत्पन्न गन्दगी में जन्म लेते हैं। ये वृश्चिक दर्वीकरादि सर्पों के तीन भेदों में से जो जिसके अंस से उत्पन्न होता है वह उसी के अनुसार दोषोत्पत्ति करता है। इस प्रकार मध्यविष वाले वृश्चिक के दंश से जीभ का सूज जाना, भोजन निगलने में अवरोध और भयंकर मूर्च्छा—ये लक्षण होते हैं॥ ६१-६२॥

विमर्श—पहले (अ. ८।५७) तो मध्य विष वाले वृश्चिकों की उत्पत्ति काष्ठ, इष्टिका से बतायी है और यहाँ इन्हें 'मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाताः' बताया है। इस विसंगति का समाधान डल्हणानुसार—'इति उभयहेतूत्पादनात् व्यस्तसमस्तोभयहेतूद्भवत्वं मध्यानां बोद्धव्यम्'। अर्थात् इनकी उत्पत्ति इन दोनों स्थानों में होती है।

श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरौ च॥ ६३॥
पीतोऽरक्तो नीलपीतोऽपरस्तु रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च।
रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च यस्य॥ ६४॥
नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः।
जन्मैतेषां सर्पकोथात् प्रदिष्टं देहेभ्यो वा घातितानां विषेण॥ ६५॥
एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः स्फोटोत्पत्तिर्भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च।
खेभ्यः कृष्णं शोणितं याति तीव्रं तस्मात् प्राणैस्त्यज्यते शीघ्रमेव॥ ६६॥

तीक्ष्णविष वाले वृश्चिकों के लक्षण-कर्मादि—ये वृश्चिक सफेद, चित्र, श्यामल, लोहित जैसे, रक्त-श्वेत और रक्त-नील वर्ण के उदर वाले; पीत-रक्त, नील-पीत, रक्त-नील, नील-शुक्ल, रक्त-बभ्रु (पिंगलवर्ण/'बभ्रुर्ना पिङ्गले त्रिषु'-अ.को.), मध्यविष वाले बिच्छुओं की तरह एक पर्व वाले या पर्वरहित अथवा दो पर्व वाले होते हैं। इस प्रकार ये तीक्ष्ण विष वाले वृश्चिक नाना रूप-रंग वाले, अतिभयानक एवं प्राणों का हरण करने वाले होते हैं। इनका जन्म कोथ युक्त सर्पों के शरीर से अथवा विष से मृत प्राणियों के शरीर से होता है। इनके दंश से सर्पविष के वेग सदृश लक्षण, स्फोटों की उत्पत्ति, मनोविभ्रम, दाह, ज्वर, स्रोतों से कृष्णवर्ण रक्त का तीव्रता से आना और इस प्रकार दष्ट व्यक्ति को प्राण शीघ्र ही त्याग देते हैं॥ ६३-६६॥

उग्रमध्यविषैर्दष्टं चिकित्सेत् सर्पदष्टवत्। आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छितं प्रतिसारयेत्॥ ६७॥

चिकित्सा—उग्र और मध्य विष वाले वृश्चिक के दंश की चिकित्सा सर्पदंश की चिकित्सा की तरह करनी चाहिए। दंशस्थल और उसके चारों ओर के स्थान का स्वेदन कर पछने लगा दें और विषहर द्रव्यों के चूर्ण से उस स्थान का प्रतिसारण (घर्षण) करें ('दुष्टरक्तप्रवर्तनार्थम्'-ड.)॥ ६७॥

रजनीसैन्धवव्योषशिरीषफलपुष्पजैः। मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाग्रजम्॥ ६८॥
लेपे स्वेदे सुखोष्णं च गोमयं हितमिष्यते। पाने क्षौद्रयुतं सर्पिः क्षीरं वा बहुशर्करम्॥ ६९॥

इसी प्रकार प्रच्छान के बाद प्रतिसारण के लिए हल्दी, सेंधानमक, त्रिकटु के द्रव्य, सिरस के फल और पुष्पों के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। तुलसी के फल-पुष्पों को बिजौरानिम्बू के रस और गोमूत्र में पीसकर लेप करें और स्वेदन के लिए कुछ गरम किया हुआ गोबर हितकर है। पानार्थ मधुयुक्त घृत या बहुत शर्करा युक्त दूध देना चाहिए॥ ६८-६९॥

दंशं मन्दविषाणां तु चक्रतैलेन सेचयेत्। विदारीगणसिद्धेन सुखोष्णेनाथवा पुनः॥ ७०॥
कुर्याच्चोत्कारिकास्वेदं विषघ्नैरुपनाहयेत्। गुडोदकं वा सुहिमं चातुर्जातकसंयुतम्॥ ७१॥
पानमस्मै प्रदातव्यं क्षीरं वा सगुडं हिमम्। शिखिकुक्कुटबर्हाणि सैन्धवं तैलसर्पिषी॥ ७२॥

धूमो हन्ति प्रयुक्तस्तु शीघ्रं वृश्चिकजं विषम्। कुसुम्भपुष्पं रजनी निशा वा कोद्रवं तृणम्॥ ७३॥
एभिर्घृताक्तैर्धूपस्तु पायुदेशे प्रयोजितः। नाशयेदाशु कीटोत्थं वृश्चिकस्य च यद्विषम्॥ ७४॥

मन्दविष वाले वृश्चिकदंश की चिकित्सा—मन्दविष वाले वृश्चिकदंश की चिकित्सा में दंशस्थल पर चक्रतैल (घाणी का तेल/'पीडितं तिलतैलम्') से सिंचन करना चाहिए या विदारीगणसिद्ध कोष्ण तैल से सिंचन करें; अथवा विषहर द्रव्यों से उत्कारिका (लप्सिका) तय्यार कर स्वेदन एवं उपनाहन (स्वेद) करें ('उत्कारिका तु शिरीषादिविषहरद्रव्यैः। उपनाहयेत् विषघ्नद्रव्यैरुपनाहस्वेदं कुर्यात्'–ड.) तथा चतुर्जातक ('त्वगेलापत्रकैस्तुल्यैस्त्रिसुगन्धि त्रिजातकम्। नागकेसरसंयुक्तं चतुर्जातकमुच्यते'–भा.प्र.) युक्त शीतल गुडोदक (गुड का शर्बत) पानार्थ देना चाहिए अथवा गुड़युक्त शीतल दुग्ध दें। कीट, वृश्चिक के विष को मोर तथा मुर्गा के पंखों का सेंधानमक, तैल एवं घृत मिलाकर दिया धूम(प) शीघ्र नष्ट करता है। अथवा कुसुम्भ के फूल, हल्दी (दुगुनी लें) तथा कोदो-तृण—इनको घृताक्त कर गुदप्रदेश में दिया गया धूप(म) कीटों तथा वृश्चिक के दंश को शीघ्र विनष्ट करता है॥ ७०-७४॥

विमर्श—वृश्चिक-दंश—वृश्चिक (बिच्छू/Scorpion) के दंश (Stings) के सम्बन्ध में चारकीय वर्णन सुश्रुत के इस वर्णन की अपेक्षा कहीं स्वल्प है। चिकित्सा-व्यवसाय में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब बिच्छू के काटने पर चीखते-चिल्लाते हुए रोगी को तुरन्त लाभ पहुँचाना होता है। पाश्चात्य वैद्यक में बिच्छू के विष के सम्बन्ध में जो वर्णन उपलब्ध होता है वह संक्षेप में इस प्रकार है—

जहरीली गाँठें जोड़ों में (दो-दो) बिच्छू की लचकीली पूँछ के अन्त में स्थित होती हैं, पूँछ पीठ पर मुड़ी होती है। बिच्छू के काटने पर एक विद्ध व्रण (Puncture wound) व्रण बनता है और काटते ही सहसा तीव्र वेदना होने लगती है तथा दंशस्थल पर लाल, शोफयुक्त गोल निशान (Wheal) बन जाता है (कभी-कभी रक्तस्राव भी होता है)। बिच्छू के दंश से बच्चों में विशेषकर शरीरव्यापी लक्षण; जैसे-पसीना आना, लालास्राव, हृल्लास (Nausea), वमन, श्वास का अवसादन (Depression) तथा मृत्यु हो जाती है।

बिच्छू के काटे की **चिकित्सा** में वेदना को हिमशीतल जल के स्थानिक प्रयोग या 'Xylocaine' और 'Adrenaline' के स्थानिक सूचीवेध से दूर किया जा सकता है। बड़ी उमर के बालकों में दंशस्थल को साबुन से साफ कर चीरे लगाने चाहिए (प्रच्छान करें/Incised), तदनन्तर स्थानिक आचूषण (Suction) द्वारा विष को कुछ सीमा तक कम किया जा सकता है। यदि 'Antivenom' उपलब्ध हो तो इसको ५ मि.ली. की मात्रा में दंशस्थल के समीप शीघ्रातिशीघ्र अन्तःपेशीय सूचीवेध कर देना चाहिए। स्तब्धता (Shock) हो तो उसका उपचार भी करना चाहिए। बिच्छू के दंश में कॉर्टिकोस्टराइड्स की उपयोगिता पर विचार चल रहा है। अन्तर्वाहिक रक्तस्कन्दन के प्रसार (Disseminated intravascular coagulation) को 'Neparin' के निरन्तर अन्तःसिरीय प्रयोग द्वारा रोका जा सकता है।

लूताविषं घोरतमं दुर्विज्ञेयतमं च तत्। दुश्चिकित्स्यतमं चापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः॥ ७५॥
सविषं निर्विषं चैतदित्येवं परिशङ्किते। विषघ्नमेव कर्तव्यमविरोधि यदौषधम्॥ ७६॥

लूताविष के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा—अल्पबुद्धि वाले चिकित्सकों के लिए लूता (मकड़ी) विष अतिभयंकर, कष्टसाध्य (कठिनाई से जानने योग्य/'दुःखेन विज्ञातुं शक्यम्') तथा कृच्छ्रसाध्य होता है और उन्हें यह शंका बनी रहती है कि यह सविष है या विषरहित। अतः ऐसी स्थिति में जो शरीर धातुओं के विरुद्ध न हो ऐसे विषघ्न अन्न-पान-औषध का ही प्रयोग करना चाहिए ('अवरोधिधातुभिः सह यन्न विरुध्यते अन्नपानं तत्, न पुनरगदकरणं धातुविरोधात्'–ड.)॥ ७५-७६॥

अगदानां हि संयोगो विषजुष्टस्य युज्यते। निर्विषे मानवे युक्तोऽगदः सम्पद्यतेऽसुखम्॥ ७७॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ज्ञातव्यो विषनिश्चयः। अज्ञात्वा विषसद्भावं भिषग्व्यापादयेन्नरम्॥ ७८॥

अगद-प्रयोग में सावधानी—विषग्रस्त व्यक्ति में अगदों का प्रयोग करना चाहिए। विषरहित व्यक्ति में इनका प्रयोग हानिकर है। अतः सभी तरह से प्रयास कर विष का निश्चय कर लेना चाहिए। विष की उपस्थिति को जाने बिना भिषक् अगदों का प्रयोग कर रोगी को मार डालता है॥ ७७-७८॥

प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजातिः प्रविभाति वृक्षः।
तद्वद्दुरालक्ष्यतमं हि तासां विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम्॥ ७९॥

लूतादि विष की दुर्विज्ञेयता—जिस प्रकार (बीज से) अंकुर फूटने मात्र से वृक्ष की जाति का निर्णय नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार लूताविष के प्रारम्भिक लक्षणों से विष-निर्णय दुरालक्ष्यतम अर्थात् अतिकठिन होता है॥ ७९॥

ईषत्सकण्डु प्रचलं सकोठमव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात्।
अन्तेषु शूनं परिनिम्नमध्यं प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये॥ ८०॥
त्र्यहेण तद्दर्शयतीह रूपं विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति।
अतोऽधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तोर्विषप्रकोपप्रभवान् विकारान्॥ ८१॥
षष्ठे दिने विप्रसृतं तु सर्वान् मर्मप्रदेशान् भृशमावृणोति।
तत् सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम्॥ ८२॥

लूताविष का प्रसार—लूतादष्ट व्यक्ति में पहले दिन प्रचलनशील (फैलने वाली) तथा अल्प कण्डू और अस्पष्ट रंग वाले धाफड (कोठ) होते हैं (गयदासस्तु प्रबलमिति पठित्वा व्याख्यानयति–'प्रबलम् ईषत् प्रथमे दिने, द्वितीयादिषु दिनेषु तु प्रबलतरं क्रमेण प्रबलतमं च')। दूसरे दिन यह कोठ बीच से बैठा हुआ और प्रान्त भागों में सूजा हुआ होता है तथा लक्षण स्पष्ट होते हैं। तीसरे दिन यह दंश अपने रूप को प्रकट करता है ('दर्शयतीह रूपम् इति, रूपं चात्र ज्वररोमहर्षरक्तमण्डादिकम्। तथा च वृद्धवाग्भटः—तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमण्डलः। शरावरूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु सास्रवः' इति) और चौथे दिन यह विष कुपित होता है। उसके बाद के दिन अथवा पाँचवें दिन यह उन्मार्ग प्रवृत्त विष प्रकोप से उत्पन्न विकारों को जन्म देता है। छठे दिन लूताविष फैलकर सभी मर्मप्रदेशों को बुरी तरह (भृशम्) आच्छादित कर लेता है। सातवें दिन सारा शरीर रोगग्रस्त हो जाता है और विकार अत्यधिक बढ़कर मनुष्य को मार डालता है॥ ८०-८२॥

यास्तीक्ष्णचण्डोग्रविषा हि लूतास्ताः सप्तरात्रेण नरं निहन्युः।
अतोऽधिकेनापि निहन्युरन्या यासां विषं मध्यमवीर्यमुक्तम्॥ ८३॥
यासां कनीयो विषवीर्यमुक्तं ताः पक्षमात्रेण विनाशयन्ति।
तस्मात् प्रयत्नं भिषगत्र कुर्यादादंशपाताद्विषघातियोगैः॥ ८४॥

लूताविष की कालावधि—जो लूताएँ तीक्ष्ण (दाहपाकस्रावकर), चण्ड (अतिकोपाटोपकर) और उग्र (तीक्ष्णचण्डत्वेन उग्रमसह्यम्) विष वाली हैं उनके दंश से मनुष्य की सात दिन में मृत्यु हो जाती है। जो मध्य वीर्य वाली लूताएँ हैं उनसे दष्ट मनुष्य की मृत्यु में और अधिक समय ('एकादशाहात्परतः इति सामर्थ्याद् ग्राह्यम्') लग सकता है और जो मन्दविष वाली लूताएँ हैं उनके दंश से दष्ट मनुष्य की एक पक्ष (पन्द्रह दिन) में मृत्यु हो जाती है। अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह लूतादष्ट मनुष्य की चिकित्सा मृत्यु होने से पहले ही विषहर योगों से करे॥ ८३-८४॥

विमर्श—आलम्बायन के अनुसार—'लूतास्तीक्ष्णविषा हन्युः सप्ताष्टनवभिर्दिनैः। एकादशाहात्परतो विषं तासां तु मध्यमम्'॥

विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रारजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण।
सप्तप्रकारं विसृजन्ति लूतास्तदुग्रमध्यावरवीर्ययुक्तम्॥ ८५॥

सकण्डुकोठं स्थिरमल्पमूलं लालाकृतं मन्दरुजं वदन्ति।
शोफश्च कण्डूश्च पुलालिका च धूमायनं चैव नखाग्रदंशे॥ ८६॥
दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम्।
दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं विवर्णं जानीहि दंशं स्थिरमण्डलं च॥ ८७॥
रजःपुरीषेन्द्रियजं हि विद्धि स्फोटं विपक्वामलपीलुपाण्डुम्।

अधिष्ठान-भेद से विषलक्षण—लूताएँ सात अधिष्ठानों से विष का विसर्जन करती हैं—१. लाला, २. नख, ३. मूत्र, ४. दंष्ट्रा, ५. रज (आर्तव), ६. पुरीष और ७. शुक्र (इन्द्रियं शुक्रम्'-ड.)। इन अधिष्ठानों से निकला लूताविष १. उग्र, २. मध्य और ३. अवर भेद से तीन प्रकार का होता है। **लालाओं** से निकले लूताविष से कण्डू, कोठ ('वरटी दंशस्थानरूपः'), जो स्थिर, अल्पमूल वाला तथा मन्द वेदनाएँ; ये लक्षण होते हैं। **नखाग्र** भाग से निकले विष से शोफ, कण्डू, पुलानिका (रोमांच) और धूमायन ('धूमोद्वमन-मिवाङ्गानाम्'/अंगों से धुआँ निकलने जैसा); ये लक्षण पाये जाते हैं। **मूत्रदंश** से दंशस्थल मध्य से कृष्णवर्ण, किनारे रक्त वर्ण और दीर्ण (कटे हुए); ये लक्षण होते हैं। **दंष्ट्राविष** से तीव्र, कठोर, विवर्ण और स्थिर मण्डल वाला दंशस्थल पाया जाता है। यदि लूताविष **रज, पुरीष** और **शुक्र** से शरीर में प्रविष्ट हुआ हो दंशस्थल पर स्फोट हो जाते हैं तथा रोगी का वर्ण पके आँवले और पीलु फल के समान पाण्डु हो जाता है।

एतावदेतत् समुदाहृतं तु वक्ष्यामि लूताप्रभवं पुराणम्॥ ८८॥
सामान्यतो दष्टमसाध्यसाध्यं चिकित्सितं चापि यथाविशेषम्॥ ८९॥

लूतोत्पत्ति—अब तक लूताओं के अधिष्ठान (विष का) आदि का वर्णन किया गया है। अब इसके उपरान्त लूताओं की (पुराकाल में) उत्पत्ति का वर्णन कहूँगा। इसमें लूतादष्ट की साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा की ('चकारात् लक्षणमपि'–ड.) विशेषताओं का वर्णन होगा॥ ८८-८९॥

विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिदृषिसत्तमम्। वशिष्ठं कोपयामास गत्वाऽऽश्रमपदं किल॥ ९०॥
कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात् स्वेदबिन्दवः। अपतन् दर्शनादेव रवेस्तत्समतेजसः॥ ९१॥
तृणे महर्षिणा लूने धेन्वर्थं सम्भृतेऽपि च।
ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषाः। अपकाराय वर्तन्ते नृपसाधनवाहने॥ ९२॥
यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः। तस्माल्लूतेति भाष्यन्ते सङ्ख्यया ताश्च षोडश॥

लूताप्रभाव—एक समय राजाओं में श्रेष्ठ विश्वामित्र ने ऋषियों में श्रेष्ठ वशिष्ठ को उनके आश्रम में जाकर नाराज कर दिया। इस पर कुपित, सूर्य-समान तेज वाले मुनि वशिष्ठ के मस्तक से दर्शनमात्र से पसीने की बूँदें नीचे गिरीं। ये स्वेदबिन्दु गौओं के लिए ऋषि द्वारा काटकर रखे घास पर गिरे। इससे महाविष वाली नाना प्रकार की भयंकर लूताएँ उत्पन्न हुईं जो नृप विश्वामित्र के साधन-वाहन का अपमान करने के लिए निर्मित हुईं। मुनि वशिष्ठ के स्वेदबिन्दुओं का कटे घास पर गिरने के कारण उत्पन्न होने से ये लूता कहलाती हैं। इनकी संख्या सोलह हैं॥ ९०-९३॥

विमर्श—घरेलू मकड़ियों द्वारा काटने एवं उनके विषैले दंश के रोगी प्रायः नहीं पाये जाते हैं। उपरोक्त लूताओं का विस्तृत विवरण वन्य लूताओं से सम्बन्धित प्रतीत होता है।

पाश्चात्य वैद्यक में भी विषैली लूताओं (Spiders) का वर्णन मिलता है और यह माना जाता है कि उनमें से कुछ का विष (Venom) आदमियों के लिए खतरनाक होता है। इन विषैली लूताओं में एक 'Latrodectus mactans' (The black widow) नाम की लूता है। इसके जहर से स्थानिक तीव्र वेदना, रक्तिमा और सूजन होते हैं। शीघ्र ही वेदना फैल जाती है और स्वैच्छिक (Voluntary) मांसपेशियों में भयंकर उद्वेष्ट (Spasm) होने लगते हैं। नेत्रतारिका (Pupils) का संकोच, लालास्राव

और परीना आना सामान्यतः पाये जाते हैं। तीव्रावस्था में हृद्वाहिकापात (Cordiovascular collapse) होना भी सम्भव है। बाद में दंशस्थल पर कोथ हो जाता है।

चिकित्सा में प्रच्छान एवं आचूषण लाभकर हैं। विशिष्ट 'Antivenom' को दंश के चारों ओर मांसपेशियों में इंजेक्ट करना चाहिए। एट्रोपीन, कॉर्टिकोस्टिरायड्स उपयोगी हैं। पेशी-उद्वेष्ट को रोकने के लिए १०% के घोल में १०-२० मि.ली. कैल्शियम ग्लूकोनेट का अन्तःसिरीय प्रयोग करना चाहिए। द्वितीयक पूयजनक संक्रमण को रोकने के लिए एण्टीबायोटिक्स का प्रयोग उपयोगी है। आयुर्वेदिक चिकित्सा का उल्लेख आगे है।

कृच्छ्रसाध्यास्तथाऽसाध्या लूतास्तु द्विविधाः स्मृताः।
तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु॥ ९४॥
त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतिका तथा। आलमूत्रविषा रक्ता कसना चाष्टमी स्मृता॥ ९५॥
ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं कण्डूर्दंशे च वेदना। भवन्ति च विशेषेण गदाः श्लैष्मिकवातिकाः॥ ९६॥
सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येणीपदी तथा। कृष्णाऽग्निवर्णा काकाण्डा मालागुणाऽष्टमी तथा॥
ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः॥ ९८॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च। महान्तो मृदवः शोफा रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतदादंशलक्षणम्।

लूताविष की साध्यासाध्यता—लूताएँ दो प्रकार की होती हैं—१. कृच्छ्रसाध्य और २. असाध्य। इनमें कृच्छ्रसाध्य की संख्या आठ हैं और आठ ही असाध्य भी होती हैं। १. त्रिमण्डला, २. श्वेता, ३. कपिला, ४. पीतिका, ५. आलविषा, ६. मूत्रविषा, ७. रक्ता और ८. कसना—ये आठ कृच्छ्रसाध्य हैं। इनके दंश से शिरोवेदना, दंश में वेदना और कण्डू होते हैं। श्लैष्मिक और वातिक व्याधियाँ भी विशेष रूप से होती हैं। असाध्य भी आठ हैं; यथा—१. सौवर्णिका, २. लाजवर्णा, ३. जालिनी, ४. एणीपदी, ५. कृष्णवर्णा, ६. काकाण्डा, ७. अग्निवर्णा और ८. मालागुणा। इनके दंश से दंशस्थान पर कोथ (Putrifaction), रक्तस्राव की प्रवृत्ति, ज्वर, दाह, अतिसार और त्रिदोषज व्याधियाँ होती हैं। विविध प्रकार की पिडकाएँ, बड़े-बड़े गोल चकत्ते (मण्डल), अत्यधिक शोफ जो आकार में बड़ा, मृदु, रक्तवर्ण, श्याव और चल होता है, हो जाता है। सभी लूताओं के दंश के ये सामान्य लक्षण हैं॥ ९४-९९॥

लूताओं के विष की साध्यासाध्यता एवं सामान्य लक्षण

लूताएँ		
कृच्छ्रसाध्य	**असाध्य**	**सामान्य लक्षण**
१. त्रिमण्डला	१. सौवर्णिका	१. नाना प्रकार की पिडकाएँ
२. श्वेता	२. लाजवर्णा	२. विशालमण्डल
३. कपिला	३. जालिनी	३. महान्, मृदु, रक्त, श्याव और चल शोथ
४. पीतिका	४. एणीपदी	('सामान्यं सर्वलूतानामेतदादंशलक्षणम्')
५. आलविषा	५. कृष्णवर्णा	
६. मूत्रविषा	६. अग्निवर्णा	
७. रक्ता	७. काकाण्डा	
८. कसना	८. मालागुणा	

विशेषलक्षणं तासां वक्ष्यामि सचिकित्सितम्॥ १००॥

लूताओं के विशिष्ट लक्षण एवं चिकित्सा—इन लूताओं के दंश के विशिष्ट लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया जायेगा॥ १००॥

त्रिमण्डलाया दंशेऽसृक् कृष्णं स्रवति दीर्यते। बाधिर्यं कलुषा दृष्टिस्तथा दाहश्च नेत्रयोः॥ १०१॥
तत्रार्कमूलं रजनी नाकुली पृश्निपर्णिका। पानकर्मणि शस्यन्ते नस्यलेपाञ्जनेषु च॥ १०२॥

(१) **त्रिमण्डला** के दंश में दंशस्थल से कृष्णवर्ण का रक्तस्राव होता है, व्रण विदीर्ण हो जाता है, बाधिर्य, दृष्टि धुँधली ('कलुषोऽनच्छ आविलः' –अ.को.) तथा नेत्रों में दाह होता है। इसके उपचार में आक की जड़, हल्दी, नाकुली (गन्धनाकुली), पिठवन—इनका क्वाथ बनाकर पिलाने, चूर्ण बनाकर नस्य तथा कल्क का लेपन के लिए एवं अञ्जन के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए॥ १०१-१०२॥

श्वेतायाः पिडका दंशे श्वेता कण्डूमती भवेत्। दाहमूर्च्छाज्वरवती विसर्पक्लेदरुक्करी॥ १०३॥
तत्र चन्दनरास्नैलाहरेणुनलवञ्जुलाः। कुष्ठं लामज्जकं वक्रं नलदं चागदो हितः॥ १०४॥

(२) **श्वेता** के दंश में दंशस्थान पर सफेद रंग की कण्डूयुक्त पिडका निकल आती है। इसमें दाह, मूर्च्छा, ज्वर, विसर्प तथा क्लेद और वेदना होते हैं। इसकी चिकित्सा में चन्दन, रास्ना, इलायची, हरेणु, नल, वञ्जुल (जलवेतस), कूठ, लामज्जक (उशीरः = खस), तगर, नलद (खस); इस अगद का प्रयोग हितकर है॥ १०३-१०४॥

आदंशे पिडका ताम्रा कपिलायाः स्थिरा भवेत्। शिरसो गौरवं दाहस्तिमिरं भ्रम एव च॥ १०५॥
तत्र पद्मककुष्ठैलाकरञ्जककुभत्वचः। स्थिरार्कपर्ण्यपामार्गदूर्वाब्राह्म्यो विषापहाः॥ १०६॥

(३) **कपिला** लूता के दंश में दंशस्थान पर ताम्र वर्ण की पिड़का जो स्थिर होती है, निकल आती है। इसमें शिर का भारीपन, दंशस्थल पर दाह, तिमिर तथा भ्रम होते हैं। इसके उपचार में पद्माख, कूठ, एला, करञ्ज, अर्जुन की छाल, स्थिरा (शालपर्णी), अर्कपर्णी, अपामार्ग, दूर्वा और ब्राह्मी—इनका उपयोग विषहर है॥ १०५-१०६॥

आदंशे पीतिकायास्तु पिडका पीतिका स्थिरा। भवेच्छर्दिर्ज्वरः शूलं मूर्ध्नि रक्ते तथाऽक्षिणी॥
तत्रेष्टाः कुटजोशीरतुङ्गपद्मकवञ्जुलाः। शिरीषकिणिहीशेलुकदम्बककुभत्वचः॥ १०८॥

(४) **पीतिका** नामक लूता के दंशविष से दंशस्थान पर स्थिर पिडका निकल आती है और वमन, ज्वर, शिर में दर्द और आँखें रक्तवर्ण की होती हैं। इसकी चिकित्सा में कुड़ा, खस, तुंग (पुन्नाग), पद्माख, जलवेतस, सिरस, अपामार्ग (या किणिही = कटभी), शेलू (श्लेष्मातक, लिसोड़ा), कदम्ब और अर्जुन की छाल का प्रयोग करना चाहिए॥ १०७-१०८॥

रक्तमण्डनिभे दंशे पिडकाः सर्षपा इव। जायन्ते तालुशोषश्च दाहश्चालविषार्दिते॥ १०९॥
तत्र प्रियङ्गुह्रीबेरकुष्ठलामज्जवञ्जुलाः। अगदः शतपुष्पा च सपिप्पलवटाङ्कुराः॥ ११०॥

(५) **आलविषा** के दंश में रक्तवर्ण की पिडका दंशस्थान पर निकल आती है जो सरसों के आकार की होती है। इसमें तालु का सूखना और दाह होते हैं। इसके उपचार में प्रियंगु, हाऊबेर, कूठ, लामज्ज (उशीर), जलवेतस, सौंफ, पीपल और बड के अंकुर; इनसे बने अगद का प्रयोग करना चाहिए॥ १०९-११०॥

पूतिर्मूत्रविषादंशो विसर्पी कृष्णशोणितः। कासश्वासवमीमूर्च्छाज्वरदाहसमन्वितः॥ १११॥
मनःशिलालमधुककुष्ठचन्दनपद्मकैः। मधुमिश्रैः सलामज्जैरगदस्तत्र कीर्तितः॥ ११२॥

(६) मूत्रविषा के दंश से पूति (सड़ान्ध = Putrifaction) विसर्प, कृष्णवर्ण के रक्त का आना, कास, श्वास, वमन, बेहोशी, ज्वर और दाह होते हैं। इसकी चिकित्सा में मैनसिल, हरताल, मधुक (मुलेठी), कूठ, चन्दन तथा पद्माख को मधु एवं उशीर (खस) मिलाकर बना अगद प्रशस्त है॥ १११-११२॥

आपाण्डुपिडको दंशो दाहक्लेदसमन्वितः। रक्ताया रक्तपर्यन्तो विज्ञेयो रक्तसंयुतः॥ ११३॥
कार्यस्तत्रागदस्तोयचन्दनोशीरपद्मकैः। तथैवार्जुनशेलुभ्यां त्वग्भिराम्रातकस्य च॥ ११४॥

(७) रक्ता नामक कृच्छ्रसाध्य लूतादंश से दंशस्थान के चारों ओर पाण्डुवर्ण की पिडकाएँ निकल आती हैं, दाह और क्लेद होते हैं तथा इसके किनारे रक्तवर्ण और रक्तयुक्त होते हैं। इसके उपचार में बालक (तोय, सुगन्धबाला), चन्दन, खस और पद्माख से बने अगद का प्रयोग करना चाहिए तथा अर्जुन, श्लेष्मातक (लिसोड़ा) और आम्रातक (अमड़ा, कपितन) की छाल का प्रयोग करना चाहिए॥ ११३-११४॥

पिच्छिलं कसनादंशाद्रुधिरं शीतलं स्रवेत्। कासश्वासौ च तत्रोक्तं रक्तलूताचिकित्सितम्॥ ११५॥

(८) कसना के दंश से चिपचिपा (पिच्छिल) और शीतल रुधिर निकलता है और कास एवं श्वास भी होते हैं। इसकी चिकित्सा रक्ता लूता के दंश के समान है॥ ११५॥

पुरीषगन्धिरल्पासृक् कृष्णाया दंश एव तु। ज्वरमूर्च्छावमीदाहकासश्वाससमन्वितः॥ ११६॥
तत्रैलावक्रसर्पाक्षीगन्धनाकुलिचन्दनैः। महासुगन्धिसहितैः प्रत्याख्यायागदः स्मृतः॥ ११७॥

लूताओं के असाध्य दंश के लक्षणादि—१. कृष्णा नामक लूता के असाध्य लक्षणों में दंशस्थान से पुरीष (मल) की-सी दुर्गन्ध (Faecal smell) आती है और अल्पमात्रा में रक्त आता है तथा ज्वर, मूर्च्छा, वमन, दाह, कास एवं श्वास होते हैं। इसके उपचार में एला, तगर, सर्पाक्षी (लोहितपुष्पा), गन्धनाकुली, चन्दन और (दुन्दुभिस्वनीय में पठित) महासुगन्धि नामक अगद का प्रत्याख्याय कर प्रयोग करना चाहिए॥ ११६-११७॥

दंशे दाहोऽग्निवक्त्रायाः स्रावोऽत्यर्थं ज्वरस्तथा। चोषकण्डूरोमहर्षा दाहविस्फोटसंयुतः॥
कृष्णाप्रशमनं चात्र प्रत्याख्याय प्रयोजयेत्। सारिवोशीरयष्ट्याह्वचन्दनोत्पलपद्मकम्॥ ११९॥

२. लाज (अग्नि) वर्णा के दंश से दाह, अत्यधिक स्राव, ज्वर, चोष (तृष्णा इति पाठान्तरम्), कण्डू, रोमहर्ष, दाह और स्फोट उत्पन्न होते हैं। इसकी चिकित्सा भी प्रत्याख्येय कर कृष्णालूता की चिकित्सा सदृश की जाती है और सारिवा, खस, मधुयष्टी, चन्दन, कमल तथा पद्माख का प्रयोग करना चाहिए॥ ११८-११९॥

सर्वासामेव युञ्जीत विषे श्लेष्मातकत्वचम्। भिषक् सर्वप्रकारेण तथा चाक्षीवपिप्पलम्॥ १२०॥

उपरोक्त सभी कृच्छ्र तथा असाध्य लूताओं की सामान्य चिकित्सा—सभी प्रकार की लूताओं की सामान्य चिकित्सा में लिसोड़े की छाल और क्षीरपिप्पल का पानाभ्यञ्जनादि में प्रयोग करना चाहिए॥ १२०॥

विमर्श—'क्षीरपिप्पलम्' के स्थान पर 'अक्षीवपिप्पलम्' भी पाठान्तर है। ''क्षीरपिप्पलमिति = क्षीरात् जातः पिप्पल इति मन्यन्ते। आलम्बायनोऽपि— 'लूताविषेषु सर्वेषु पाननस्याञ्जनादिना। प्रयोज्यः पिप्पलः क्षीरात् जातः शेलुत्वचोऽथवा'॥ अथवा क्षीराद् दुग्धात् पिप्पलः अश्वत्थः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः। केचिदाहुः—'पिप्पल अश्वत्थः क्षीराज्जातः जलमणिः शेलुत्वक्। अथवा शेलुत्वचो जातः शेलुनिर्यासः' इत्याहुः''। हमें 'पीपल की छाल से क्षीरपाक कर प्रयुक्त करना' यह अर्थ उपयुक्त लगता है।

कृच्छ्रसाध्यविषा ह्यष्टौ प्रोक्ता द्वे च यदृच्छया। अवार्यविषवीर्याणां लक्षणानि निबोध मे॥ १२१॥
ध्यामः सौवर्णिकादंशः सफेनो मत्स्यगन्धकः। श्वासः कासो ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा चात्र सुदारुणा॥
आदंशे लाजवर्णाया ध्यामं पूति स्रवेदसृक्। दाहो मूर्च्छाऽतिसारश्च शिरोदुःखं च जायते॥ १२३॥

घोरो दंशस्तु जालिन्या राजिमानवदीर्यते। स्तम्भः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषश्च जायते॥ १२४॥
एणीपद्यास्तथा दंशो भवेत् कृष्णतिलाकृतिः। तृष्णामूर्च्छाज्वरच्छर्दिकासश्वाससमन्वितः॥
दंशः काकाण्डिकादष्टे पाण्डुरक्तोऽतिवेदनः। तृण्मूर्च्छाश्वासहृद्रोगहिक्काकासाः स्युरुच्छ्रिताः॥
रक्तो मालागुणादंशो धूमगन्धोऽतिवेदनः। बहुधा च विशीर्येत दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः॥ १२७॥

असाध्य लूताओं के दंशलक्षण—अब तक आठ कृच्छ्रसाध्य और आठ असाध्य लूताओं में से दो यदृच्छासिद्धि वाली लूताओं का वर्णन किया गया है। शेष छः असाध्य (अवार्य विषवीर्य) का वर्णन मुझसे सुनो—(१) **सौवर्णिका** लूता के दंश का रंग ध्याम ('ध्मात' इति पाठान्तरम्) अर्थात् पकी ईंट के रंग जैसे ('ध्यामं दग्धेष्टिकादिवत् सवर्णम्'), फेनयुक्त और मत्स्यगन्धी होता है तथा श्वास, कास, ज्वर, तृष्णा एवं दारुण मूर्च्छा भी पाये जाते हैं। (२) **लाजवर्णा** लूता का दंश पकी ईंट के रंग वाला, दुर्गन्ध युक्त रक्तस्राव वाला तथा दाह, मूर्च्छा, अतिसार और शिरोवेदना युक्त होता है। (३) **जालिनी** नामक लूता के दंश के लक्षणों में भयानक, धारियों से युक्त, विदीर्ण हुआ, जकड़ाहट लिये तथा श्वास, अन्धकार का बार-बार दीखना और तालुशोष पाये जाते हैं। (४) **एणीपदी** लूता के दंश में दंश की आकृति काले तिल जैसी और साथ में तृष्णा, मूर्च्छा, ज्वर, वमन, कास और श्वास होते हैं। (५) **काकाण्डा** का दंश रंग में पाण्डुरक्त (पीत-रक्त), अतिवेदना युक्त तथा प्यास, बेहोशी, साँस, दिल की बीमारी, हुजकी आना, कास अधिक; इन लक्षणों से युक्त होता है। (६) **मालागुणा** लूता का दंश लाल वर्ण का, धूमगन्धी और तीव्र वेदना युक्त होता है, कई जगह से विदीर्ण हुआ होता है तथा साथ में दाह, मूर्च्छा एवं ज्वर होते हैं॥ १२१-१२७॥

विमर्श—'तमोवृद्धिः = पुनः पुनस्तमोदर्शनम्' (ड.)।

असाध्यास्वप्यभिहितं प्रत्याख्यायाशु योजयेत्। दोषोच्छ्रायविशेषेण दाहच्छेदविवर्जितम्॥

असाध्य लूतादंश की चिकित्सा—असाध्य लूताओं की दोषों की अधिकता के अनुसार प्रत्याख्येय (असाध्य कह) कर शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए। परन्तु असाध्यों में दहन एवं छेदन कर्म नहीं करने चाहिए॥ १२८॥

साध्याभिराभिर्लूताभिर्दष्टमात्रस्य देहिनः। वृद्धिपत्रेण मतिमान् सम्यगादंशमुद्धरेत्॥ १२९॥

साध्य लूतादंश में छेदन और दहन—साध्य सम्पूर्ण लूतादंश का बुद्धिमान् चिकित्सक वृद्धिपत्र नामक शस्त्र से तत्काल छेदनकर्म (काटकर अलग करना) कर दे॥ १२९॥

अमर्मणि विधानज्ञो वर्जितस्य ज्वरादिभिः। दंशस्योत्कर्तनं कुर्यादल्पश्वयथुकस्य च॥ १३०॥
मधुसैन्धवसंयुक्तैरगदैर्लेपयेत्ततः। प्रियङ्गुरजनीकुष्ठसमङ्गामधुकैस्तथा॥ १३१॥
सारिवां मधुकं द्राक्षां पयस्यां क्षीरमोरटम्। विदारीगोक्षुरक्षौद्रमधुकं पाययेत वा॥ १३२॥
क्षीरिणां त्वक्कषायेण सुशीतेन च सेचयेत्। उपद्रवान् यथादोषं विषघ्नैरेव साधयेत्॥ १३३॥

उत्कर्तन एवं पश्चात्कर्म—शल्यकर्म के ज्ञाता चिकित्सक मर्मस्थान का परित्याग कर तथा जिस रोगी में लूताओं के ज्वरादि असाध्य लक्षण नहीं हैं और जिसके शोथ भी अल्प है उसके दंशस्थल का उत्कर्तन (छेदन = काटकर अलग) कर देना चाहिए। तदनन्तर कर्तित स्थान पर मधु एवं सैन्धव युक्त अगदों का लेप कर देना चाहिए और प्रियंगु, हलदी, कूठ, समंगा (वराहकान्ता या छुई-मुई) एवं मुलेठी इन्हें मिलाकर सूक्ष्म चूर्ण कर लेप करें। **पानार्थ** सारिवा, मुलेठी, द्राक्षा, पयस्या (अर्कपुष्पी), मोरट, विदारीकन्द, गोखरू, मधु और मुलेठी का प्रयोग करें। अथवा क्षीरिवृक्षों की छाल के क्वाथ को शीतल कर उससे दंशस्थल का सिंचन करें। उपद्रव उपस्थित हों तो दोषानुसार उन्हें अगदों के प्रयोग द्वारा दूर करें॥ १३०-१३३॥

विमर्श—इस (१३२वें) श्लोक में मधुक शब्द दो बार आया है। इस सम्बन्ध में डल्हण—'एकत्र योगे मधुकद्वयं स्थलजलजभेदेन' अर्थात् यहाँ स्थल और जल दोनों में पायी जाने वाली मुलेठी का ग्रहण होता है। अथवा ऐसे द्रव्यों को दुगुना लेना चाहिए।

नस्याञ्जनाभ्यञ्जनपानधूमं तथाऽवपीडं कवलग्रहं च।
संशोधनं चोभयतः प्रगाढं कुर्यात्सिरामोक्षणमेव चात्र॥ १३४॥

लूतादंश-चिकित्सा में दशविध उपक्रम—लूतादंश की चिकित्सा में निम्नलिखित दश उपक्रम प्रयुक्त होते हैं—१. नस्य, २. अञ्जन, ३. अभ्यंग, ४. पान, ५. धूम, ६. अवपीड (नस्यभेद), ७. कवलग्रह, ८. तीव्र वमन एवं ९. विरेचन तथा १०. सिरावेध द्वारा रक्त निकालना॥ १३४॥

विमर्श—'प्रगाढं कुर्यात् सिरामोक्षणमेव चात्र' के स्थान पर 'प्रयुञ्ज्यात् रक्तं हरेच्चापि जलायुकाभिः' पाठ भी मिलता है।

कीटदष्टव्रणान् सर्वानहिदष्टव्रणानपि । आदाहपाकात्तान्सर्वांश्चिकित्सेद्दुष्टवद्भिषग्॥

दुष्टव्रणवत् चिकित्सा—कीटदंश के उपरान्त यदि दंशज व्रण दुष्ट हो जाय तथा सर्पदष्ट व्रण भी दुष्ट हो जाय तो चिकित्सक को जब तक दाह एवं पाक व्रण में उपस्थित हैं तब तक उन सबकी चिकित्सा दुष्ट व्रण की तरह करनी चाहिए॥ १३५॥

विमर्श—दुष्ट व्रण-लक्षण—'पूतिःपूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः। दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः'॥ (मा.नि.)

अष्टांगहृदय में लूताओं के विषय में उल्लेखनीय वर्णन—वाग्भट (अष्टाङ्गहृदयकार) लूताओं को कीटों में दारुणतर मानते हैं। मतान्तरों का हवाला देते हुए उनका कहना है कि इनकी संख्या हजारों में (जातिभेद से) है। इनके दंश से नाना प्रकार के उपद्रव (बहूपद्रवाः) होते हैं।

लूताओं की अत्यधिक संकर जातियाँ होने के कारण (अतिसङ्करात्) इनको नाम से जानना सम्भव नहीं है। इनकी कोई निश्चित स्थान-व्यवस्था भी नहीं है। अतः ग्रन्थकार का कथन है कि इनका दोषतः वर्णन करना ही ठीक है ('दोषतोऽतः प्रचक्षते'–उ. ३७।४७)। एकदोषोत्थ विष वाली लूताओं का दंश साध्य तथा त्रिदोषज असाध्य है। उन्होंने पृथक्-पृथक् दोषों के लक्षण भी दिये हैं, पर यह भी कहा है—'सर्वाऽपि सर्वजा प्रायो व्यपदेशस्तु भूयसा' (उ. ३७।५४)। विषों की तीक्ष्णता आदि के आधार पर लूताओं को 'त्रिधा' (तीक्ष्ण, मध्य, अवर) भी माना है।

वाग्भट के अनुसार लूताएँ आठ प्रकार से विष छोड़ती हैं—१. श्वास, २. दंष्ट्रा, ३. शकृत्, ४. मूत्र, ५. शुक्र, ६. लाला, ७. नख और ८. आर्तव। पर उनका यह भी मानना है कि मुख्यरूप से विष मुख से ही वमित होता है ('वक्त्रैर्विशेषतः'–उ. ३७।५९)। उनके अनुसार लूताएँ नाभि से ऊपर के भाग में शेष कीट 'ऊर्ध्वमधः' काटती हैं। लूतादूषित वस्त्र के स्पर्श से भी विषाक्त प्रभाव होता है (उ. ३७।६०)। लूताविष इक्कीस दिनों में पूर्णतः शान्त हो जाता है।

चिकित्सा में अष्टांगसंग्रहकार का सुझाव है कि जहाँ स्नेह की आवश्यकता है वहाँ घृत ही लेना चाहिए, क्योंकि तैल लूताविषवर्धक होता है (उ. ३७।८१)।

अन्त में सभी प्रकार की लूताओं के विष को नष्ट करने वाला योग भी वर्णित है—'लोध्रं सेव्यं पद्मकं पद्मरेणुः कालीयाख्यं चन्दनं यच्च रक्तम्। कान्तापुष्पं दुग्धिनीका मृणालं लूताः सर्वा घ्नन्ति सर्वक्रियाभिः'॥ (उ. ३७।८६) इस योग का पानादि अनेकों रूपों में प्रयोग होता है।

विनिवृत्ते ततः शोफे कर्णिकापातनं हितम्। निम्बपत्रं त्रिवृद्दन्ती कुसुम्भं कुसुमं मधु॥ १३६॥
गुग्गुलुः सैन्धवं किण्वं वर्चः पारावतस्य च। विषवृद्धिकरं चान्नं हित्वा सम्भोजनं हितम्॥ १३७॥

विषोत्पन्न कर्णिका की चिकित्सा—दंशव्रण का शोफ जब शान्त हो गया हो तो कर्णिका को पृथक् कर देना हितकर होता है। एतदर्थ पातन द्रव्य इस प्रकार हैं—नीम के पत्ते, निशोथ, दन्ती, कुसुम्भ (लट्वा) के पुष्प, मधु, गूगल, सेंधानमक, किण्व (सुराबीज) और कबूतर की बीट—इनका कर्णिका पर लेप करना चाहिए। रोगी को भोजन के लिए ऐसा अन्न देना चाहिए जिससे विष में वृद्धि न हो और हितकर अन्न देना चाहिए॥ १३६-१३७॥

विमर्श—विषवृद्धिकरम्—'तिलकुलत्थाद्यन्नं वर्जयित्वा यदन्यत् सम्भोजनं तत्कर्णिकायाः पातने हितम्'। गयदासस्तु—'निम्बपत्रमित्यस्य स्थाने 'शिखीवंश' इति पठित्वा व्याख्यानयति—शिखी लाङ्गलकी, वंशो वंशत्वक्। किण्वस्थाने दन्तं पठति, दन्तो गोदन्तो गवां दन्तः'। चक्रदत्त ने गोदन्त के सम्बन्ध में कहा है—'गवां दन्तं जले घृष्टं बिन्दुमात्रं प्रलेपनात्। अत्यर्थं कठिने वाऽपि शोथे पाचनभेदनम्'॥

कर्णिका—'मांसकन्दी पद्मकर्णिकाकारत्वात् कर्णिका भण्यते। तस्याश्च शोणितपित्तोत्थाया मृदुरुजायाः प्रच्छन्नमन्तरेणैव पातनं सुकरम्' (ड.)।

विषेभ्यः खलु सर्वेभ्यःकर्णिकामरुजां स्थिराम्। प्रच्छयित्वा मधून्मिश्रैः शोधनीयैरुपाचरेत्॥

कफ-वातोत्थ कर्णिका की चिकित्सा—सभी प्रकार के विषों की कर्णिका यदि वेदनारहित और कठोर हो तो पछने लगाकर मधुमिश्रित निम्बपत्र, त्रिवृत् आदि या दन्तीमूल, मदनफल कल्क आदि शोधनीय द्रव्यों के प्रयोग द्वारा उपचार करना चाहिए॥ १३८॥

सप्तषष्ठस्य कीटानां शतस्यैतद्विभागशः। दष्टलक्षणमाख्यातं चिकित्सा चाप्यनन्तरम्॥ १३९॥

उपसंहार—एक सौ सड़सठ (१६७) कीटों के भेद, उनके दंश के लक्षण, तदनन्तर उनकी चिकित्सा का पृथक्-पृथक् वर्णन कर दिया गया है॥ १३९॥

विमर्श—एक सौ सड़सठ कीटों का विवरण इस प्रकार है—१८ प्रकार के वायव्य कीट, २४ प्रकार के आग्नेय कीट, १३ प्रकार के सौम्य कीट, १२ प्रकार के सान्निपातिक, ४ प्रकार के कणभा, ५ प्रकार के गौधेर, ६ प्रकार के गलगोली, ८ प्रकार के शतपदी, ८ प्रकार के मण्डूक, ४ प्रकार के विश्वम्भरा आदि, ८ प्रकार की पिपीलिकाएँ, ६ प्रकार की मक्षिकाएँ, ५ प्रकार के मशक, ३० प्रकार के वृश्चिक और १६ प्रकार की लूताएँ। इस प्रकार कीट १६७ प्रकार के हैं।

सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः।

ग्रन्थ में वर्णित अध्यायों की संख्या—सूत्रस्थान ४६, निदानस्थान १६, शारीरस्थान १०, चिकित्सास्थान ४० और कल्पस्थान ८; इस प्रकार अब तक १२० अध्यायों का विभाग कर वर्णन किया गया है।

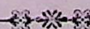
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे॥ १४०॥

इन उपरोक्त अध्यायों में शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा और भूतविद्या का नाम मात्र से ही वर्णन किया गया है। उनका विस्तार से वर्णन उत्तरतन्त्र में किया जायेगा॥ १४०॥

सनातनत्वाद्वेदानामक्षरत्वात्तथैव च। तथा दृष्टफलत्वाच्च हितत्वादपि देहिनाम्॥ १४१॥
वाक्समूहार्थविस्तारात् पूजितत्वाच्च देहिभिः। चिकित्सितात् पुण्यतमं न किञ्चिचिदपि शुश्रुमः॥
ऋषेरिन्द्रप्रभावस्यामृतयोनेर्भिषग्गुरोः।
धारयित्वा तु विमलं मतं परमसम्मतम्। उक्ताहारसमाचार इह प्रेत्य च मोदते॥ १४३॥

इति सुश्रुतसंहितायां कल्पस्थाने कीटकल्पो नामाऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसंहितायां पञ्चमं कल्पस्थानं समाप्तम्॥ ५॥



चिकित्सित की उपादेयता—भगवान् सुश्रुत का कथन है कि रोगी को रोगमुक्त करने से (चिकित्सितात्) बढ़कर और कोई पुण्यतम कार्य हमने नहीं सुना है, क्योंकि वेद अर्थात् आयुर्वेद सनातन ('नित्यभावत्वात् अकृतत्वादित्यर्थ:') है, अक्षर ('आयुर्वेदाङ्गानां शल्यादीनां न क्षरतीत्यक्षरम् अविचलनात्मकमुच्यते') है, यह दृष्टफल अर्थात् प्रत्यक्ष फल देने वाला है, प्राणिमात्र का हितकर है। इसमें वाक्यसमूह और अर्थविस्तार है और इसी हेतु यह प्राणियों द्वारा पूजित है ('देहिनः व्याधिपरिमोक्षं स्वास्थ्यरक्षणमिच्छन्, आयुर्वेदं विशिष्टपदपदार्थरूपं स्वसुखकामाः पूजयन्ति')।

अमृतयोनि, इन्द्र के समान प्रभाव वाले, चिकित्सकों के गुरु, ऐसे ऋषि भगवान् धन्वन्तरि के विमल (अमल) मत ('परमाणां महतां सम्यक् ज्ञानम्') अर्थात् संहिताग्रन्थों को हृदय में धारण करने से तथा उसके अनुसार आहार एवं समाचार ('उक्तव्याधिपरिमोक्षणस्वस्थरक्षणाहाराचार:') को करने से इस लोक और परलोक में आनन्द प्राप्त होता है।। १४१-१४३ ।।

विमर्श—''गयदासस्तु—'सनातनत्वाद् वेदानाम् अक्षरत्वात्तथैव च' इतीदृशं व्याख्यानयति —सनातनत्वात् नित्यभावत्वात् आयुषः सन्तानस्योपकार्यनित्यसद्भावात् तदुपहितकारकोऽथायुर्वेदो नित्यः। तत्र आयुषः सन्तानस्येव सन्ततिनित्यताम् उपदिशन्नाह—अक्षरत्वादिति। न क्षरन्तीति अक्षराणि अकारादयः स्वराः कादीनि च व्यञ्जनानि तद्घटितत्वात् आयुर्वेदस्यापि नित्यत्वं कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा''।

इस प्रकार सुश्रुतसंहिता-कल्पस्थान में 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या युक्त
'कीटकल्प' नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।। ८ ।।

इस प्रकार 'कल्प' नामक पाँचवाँ स्थान समाप्त हुआ।। ५ ।।



अध्याय-सारांश

'कीटकल्प' नामक इस अध्याय में—कीट (Insects), लूता (Spiders) और वृश्चिक (Scorpions) के भेद एवं दंश से उत्पन्न विष के लक्षणों का उल्लेख है। कीटों की उत्पत्ति, सभी के चार प्रकार (३-४), १८ प्रकार के वायव्य, २४ प्रकार के पित्तनिमित्तज, १३ प्रकार के कफनिमित्तज और १२ प्रकार के सान्निपातिक कीटों का वर्णन (६-१८)—ये सभी कीट तीक्ष्ण-मन्द भेद से दो प्रकार के होते हैं (१९-२३)।

गरलक्षण (२४), चार प्रकार के कणभ, इनके दंशलक्षण (२४-२७), इसी प्रकार गोधेरक, गलगोली, शतपदी, मण्डूक, विश्वम्भरा, पिपीलिका, मक्षिका, मशक; इनके भेद-लक्षणादि (२४-३७) तथा इनकी चिकित्सा (६७-७४); वृश्चिकों के तीन प्रकार, उत्पत्ति, संख्या, इनके नाम-लक्षणादि (५५-६६), वृश्चिकदंश-चिकित्सा (६७-७४); लूताविष, लक्षण, तीक्ष्णादि के विष की कालावधि, लूतोत्पत्ति, इनके साध्यासाध्य भेद, दंशलक्षण, चिकित्सा (७५-१२०), लूतादंश के असाध्य लक्षण, कृच्छ्रसाध्य की चिकित्सा (१२१-१२९); छेदनकर्म योग्य दंश (१३०-१३३) और चिकित्सा (१३४), कर्णिका-चिकित्सा (१३८), अन्त में चिकित्साकर्म की श्रेष्ठता (१४१-१४३)।

●

अकारादिक्रमेण विषयानुक्रमणिका

अ

अंगराग ३७७
अंगुलि भग्न चिकित्सा १९३
अंजन का विषाक्त में प्रयोग ५५५
अंजन के गुण ३६२
अंजनादि की मात्रा ५५४
अकालपीत स्नेह से हानि ४११
अक्षक भग्न का उपचार १९६
अगदपान ५५२
अगम्यागमन पाप है ३७०
अग्नि आदि की प्राण संज्ञा ४६
अग्निकर्म उपक्रम १६७
अग्नि-गौ आदि के सम्बन्ध में उपदेश ३६६
अग्निरोहिणी-चिकित्सा ३३४
अचेतन ५
अजगल्लिका-चिकित्सा ३२९
अजित-दंश ५६८
अजित नामक महागद ५५८
अजेय घृत ५२५
अठमासे शिशु का जीवन ३८
अणु तैल २०९
अण्डयोग ३८२
अतिदग्ध के लक्षण २२७
अतियोग व्यापत् ४३७
अतिरक्तस्राव से मृत्यु एवं उपचार ९९
अतिरूक्ष की चिकित्सा ४१४
अतिसेवन का निषेध ३६७
अतिस्त्रीगमन का निषेध ३६९
अतिस्निग्ध की चिकित्सा ४१४
अतिस्नेहन के लक्षण ४१४
अथ ५०५
अदष्ट का जलसन्त्रास अरिष्ट है ५७२
अदुष्ट व्रणों में समंगादि तैल १८६
अदृष्टार्तवा ३१
अदृष्टार्तवा : पाश्चात्य मत ३०
अधिदन्त-चिकित्सा ३४२
अधिमांस-चिकित्सा ३४२
अध्रुष-चिकित्सा ३४५
अनग्नि स्वेद २०६
अनभिष्यन्दि ४२१
अनस्थि भ्रूण २५
अनागतबाधाप्रतिषेध ३५४
अनार्तव १७, ३३
अनिवृत्ति व्यापत् ४६६
अनि:सृत बस्ति (उपद्रव रहित) ४६६
अनुलेपन के गुण ३६१
अनुवासन काल ४५७
अनुवासन के लिए विविध तैल ४५७
अनुवासन बस्ति ४४५
अनुवासन बस्तियों के दोष ४६३
अनुवासन बस्तियों का निषेध ४४५
अनुवासन : यूषादि के उपरान्त ४६२
अनुवासन विधि ४६२
अनुवासनोत्तरबस्तिचिकित्सित ४५७
अनुवासित (सम्यक्) के लक्षण ४६३
अन्तर्गर्भाशय मृत्यु : पाश्चात्य मत २९४
अन्त:स्थित शल्य से हानि १८२
अन्त्रवृद्धि ३२३
अन्त्रव्रण की चिकित्सा १८३
अन्त्रादि की उत्पत्ति ५४
अन्धालजी-चिकित्सा ३२९
अन्न ५०५
अन्नप्राशन की आयु १४३
अन्नरक्षाकल्प ५०५
अन्योऽन्यानुप्रविष्ट पाञ्चभौतिक गुण १२
अपची की चिकित्सा ३१३
अपतन्त्रक की चिकित्सा २१९
अपतर्पण उपक्रम १५६
अपतानकचिकित्सा २१७
अपथ्य सेवन से हानियाँ ४८४
अपरा और स्तन्य का निर्माण ५२
अपरा के कार्य ४०
अपरा के बाहर न आने की चिकित्सा २९५
अपरापतन न होने का उपचार १३५
अभयारिष्ट २३१
अभ्यंग उपक्रम १५७
अभ्यंग के गुण ३५७
अमृत (विषघ्न) घृत ५६३
अमृतादि तैल ३१७
अयस्कृति २६३
अयोग व्यापत् ४३६
अरत्नि ४०३
अरिष्ट ३६८
अरिष्टाबन्ध ५५०
अरुण-दंश ५९६
अरूंषिका-चिकित्सा ३३१
अर्दित की चिकित्सा २१९
अर्धलांगलक भेदन २४३
अर्बुद की दोषानुसार चिकित्सा ३१५
अर्श की चिकित्सा २२६
अर्श (अदृश्य) की चिकित्सा २३०
अर्श की दोषानुसार चिकित्सा २३१
अर्श में—
-क्षार-प्रयोग २२६
-क्षार-प्रयोग का निषेध २२६
-क्षार-दग्ध की पहचान २२७
-क्षार-प्रयोग एवं भोजन २२७
-शस्त्रादि प्रयोग २२८
-पश्चात् कर्म २२८
-क्षाराग्नि का प्रयोग २३३
अर्शसां चिकित्सितम् २२५
अर्शोऽकुर-परीक्षा २२६
अर्शोघ्न आलेप २२९
अर्शोयन्त्र २२९
अर्शोरोग में वर्ज्य २३३
अर्शोरोगहर चतुर्विध उपाय २२५
अलजी-चिकित्सा ३३७
अलर्कविष की मन्त्र-चिकित्सा ५७५
अलर्कविषहर योग ५७४
अलसक ४२९
अलस-चिकित्सा ३३१
अलस-दंश ५६८
अल्पदोषहृत व्यापत् ४३५
अल्पविष सर्प ५४१
अल्पविष सर्पदंश ५४०
अल्पार्तव १७
अवनख रक्तसंचयार्बुद १९३
अवपाटिका-चिकित्सा ३३३
अवपीड नस्य ४९९
अवमन्थ-चिकित्सा ३३८
अवयवछित्र की चिकित्सा १७९
अवयवों की गणना ७०
अवसादन उपक्रम १६७

अवाक्‌शिर:शयनादि का निषेध ३६७
अवाम्य ४२५
अविष का लक्षण ५६५
अव्यक्त २
अव्यध्य सिरा १०५
अश्मरी की साध्यता २३४
अश्मरीचिकित्सित २३४
अश्मरी-भेदन योग २३५
अश्मरी-चूर्ण निकालने की विधि २३९
अश्मरी में—
-शल्यकर्म को जघन्य कर्म कहने में हेतु २३६
-शल्यकर्म २३६
-पूर्वकर्म २३७
-प्रधानकर्म २३८
-पश्चात्कर्म २३८
-स्त्रियों में शस्त्र प्रयोग २३८
-आहारादि की व्यवस्था २३९
अश्मरीहर क्षार २३६
अश्मरीहर क्षीरपाक २३६
अश्मरीहर विविध प्रयोग २३५
अश्मस्वेद ४१८
अश्वकर्णादि तैल (व्रणरोपण हेतु) १८३
अश्वत्थादि योग ३८१
अष्टरूप २
अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला २२१
अष्ठीलिका-चिकित्सा ३३७
असृक्‌पान (भिन्नकोष्ठ में) १८२
असृग्दर १६
अस्थिकृत व्रणचिकित्सा ५५८
अस्थि-संख्या ७४
अस्थिसंघात ७३
अस्थियाँ
-शाखाओं की ७५
-मध्य शरीर की ७६
-शिर की ७६
अस्थियों की उपयोगिता ७८
अस्थियों की बनावट ७७
अस्थियों के प्रकार एवं उनके स्थान ७७
अस्वेद्य रोगी ४२१
अहंकार ३
अहिण्डुका के दंशविष ५८४
अहितुण्डिका के दंश-लक्षण ५८१
अहिपूतना-चिकित्सा ३३५

आ

आँतों की लम्बाई ७१
आकाशादि महाभूतों की सत्त्वादि गुणमयता ११
आग तापना ३६४
आगन्तुज व्रण की आशु चिकित्सा १५२
आगन्तुज व्रण के भेद १७६
आटोप २८७
आढ्यवात २२२
आतुरोपद्रवचिकित्सित ४८४
आत्मा : पचीसवाँ तत्त्व ५
आध्मान २८७
आध्मान-चिकित्सा २२१
आध्मान व्यापत् ४३८
आनाह २८७,४२९
आनाहवर्ति २८७
आपोथन (कुसंयोजन में) २०१
आभ्यन्तर रक्तस्राव की असाध्यावस्था १८२
आभ्यन्तर रक्तस्राव की चिकित्सा १८२
आभ्यन्तर विद्रधि की चिकित्सा ३०१
आमलकी चूर्ण योग ३८१
आमाशयगत प्रकुपित वात २०४
आयुर्वर्धक विषय ३९३
आयुर्वेद में पुरुष ९
आराम १०२
आर्तवकाल और आयु ३२
आर्तव की परिभाषा : पाश्चात्य मत १६
आर्तव के गुण १६
आर्तव के पदार्थ १६
आर्तव के दो प्रकार १६
आर्तव चक्र ३१
आर्तव दोष १४
आर्तवदोष-चिकित्सा १५
आलविषा लूता ५९१
आलस्य ६०
आलेपन उपक्रम १५६
आशयों की संख्या ७१
आसन्नप्रसवा के लक्षण १२९
आसुरसत्त्व ६६
आसेक्य नपुंसक २३
आस्थापन का निषेध ४७४
आस्थापन का (निराहार में) प्रयोग ४७४
आस्थापन बस्ति-प्रयोग ४७६-७८
आस्या ३६३
आहरण उपक्रम १६१
आहार उपक्रम १७२
आहारपथ : विशिष्ट कार्य ५१

इ

इन्द्रलुप्त ३३१
इन्द्रलुप्त-चिकित्सा ३३१
इन्द्रवृद्धा-चिकित्सा ३२९
इन्द्रियादि की पाञ्चभौतिकता ८
इन्द्रियों के विषय ४
इरिवेल्ली-चिकित्सा ३२९
इष्टिकोद्‌घर्षण के लाभ ३६०

ई

ईर्ष्यक नपुंसक २४
ईश्वर ७

उ

उत्कारिका उपक्रम १६२
उत्क्लेश ६०
उत्तरबस्तिकर्म उपक्रम १७०
उत्पात : लक्षण-चिकित्सा ३७३-७४
उन्मार्गी भगन्दर २४६
उग्रवीर्य ५२१
उच्चटा एवं शतावरी चूर्ण योग ३८२
उण्डुक ५०
उत्तमा-चिकित्सा ३३८
उत्तरबस्ति के विषय ४७०
उत्तरबस्ति-नेत्रप्रमाण ४६७
उत्तरबस्ति प्रणिधान
-पुरुषों में ४६८
-स्त्रियों में ४६८
उत्तरबस्ति-स्नेहमान (स्त्रियों में) ४६७
उत्पिष्टादि भग्नों में शीतल परिषेक १९३
उत्सादन उपक्रम १६६
उत्सादन के लाभ ३६०
उदर रोग
-दोषानुसार चिकित्सा २८४
-साध्यासाध्यता २८४
-प्रत्याख्येयता २८४
-में विष-प्रयोग २८५
-में वातानुलोमन २८६
-में पथ्य २९०
उदररोगहर सामान्य योग २८६
उदराणां चिकित्सितम् २८४
उद्‌घर्षण के लाभ ३६०

उद्वर्तन के लाभ	३६०
उन्मत्त पशुदष्ट-चिकित्सा	५७४
उन्मन्थ : लक्षण-चिकित्सा	३७३-७४
उपकुश में कवल-नस्य	३४१
उपजिह्वा में क्षार प्रयोग	३४४
उपदंश	३२३
उपदंश की दोषानुसार चिकित्सा	३२४
उपद्रुत अर्श की चिकित्सा	२२७
उपनाह उपक्रम	१५८
उपनाह स्वेद	२०६,४१८
उपस्थ	४
उपस्नेह	४०
उष्ट्रग्रीव भगन्दर	२४४-४५
उत्सर्गादि में दत्तचित्तता	३६९
उष्ण जल के लाभ	४१२
ऊ	
ऊरुस्तम्भ	२२२
ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा	२२२
ऊरुस्तम्भ में गुग्गुलुकल्प	२२३
ऊर्ध्ववात	१५६
ऊर्ध्वशाखा के मर्म	९४
ऊष्मस्वेद	४१७
ऋ	
ऋतु में पुत्रीय आचार	१८
ऋतुस्नाता	१९
ऋषभ नामक अगद	५५९
ऋषिकाय	६५
ए	
एकजातीय कीटों की चिकित्सा	५८३
एकरससंज्ञक अगद	५६१
एकवृन्द चिकित्सा	३४६
एकादश इन्द्रियाँ	३
एणीपदी लूता	५९३
एषण उपक्रम	१६१
ओष्ठ रोगों की दोषानुसार चिकित्सा	३४०
ओष्ठ रोगों में अग्निकर्म	३४०
औ	
औषध उखाड़ने का मन्त्र	४०३
औषध-सेवन की उपयोगिता	४००
औषधायस्कृति	२६४
क	
कंघी करने के गुण	३५७
कक्षा-चिकित्सा	३२९
कच्छपी-चिकित्सा	३२९
कच्छू-चिकित्सा	३३०
कटिभग्न-चिकित्सा	१९५
कणभ जाति के कीटों के भेद	५७९
कण्ठशालूक-चिकित्सा	३४६
कण्डराएँ	७२
कण्डू-दाहादि की चिकित्सा	५८२
कण्डूमकाओं के दंशविष	५८४
कदर-चिकित्सा	३३१
कन्दविषों की उग्रता	५२१
कन्दविषों के अवान्तर भेद	५१८
कन्दविषों के लक्षण	५२०
कपाटशयन : जंघोरु भग्न में	१९९
कपालिका-चिकित्सा	३४३
कपिल आखु दंश	५६९
कपिलदंश	५६९
कपिला लूता	५९१
कपोत-दंश	५६९
कफविषातुर चिकित्सा	५५५
कफार्बुदहर लेप	३१६
करञ्जादि घृत	२९९
कर्णपालि के रोग	३७३
कर्णपालि-चिकित्सा	१७९
कर्णपूरण	३५७
कर्णभग्न की चिकित्सा	१९९
कर्णशूल-चिकित्सा	२२०
कर्णिका की चिकित्सा	५९५
कर्णिका दोष	४५०
कलल	२६
कला (सप्तविध)	४८
कल्प	५०५
कल्याणक लवण	२१०
कल्याणक (विषघ्न) घृत	५६३
कवल और गण्डूष में भेद	५०२
कवल के द्रव्य	५०२
कवलग्रह उपक्रम	१७१
कवलग्रहण-विधि	५०१
कवलधारण काल	५०२
कषायदन्त-दंश	५६८
कषायपाक-विधि	४०७
कषाय में जल की मात्रा	४०८
कषाय-व्रणशोधन उपक्रम	१६३
कसना लूता	५९२
काकाण्डा लूता	५९३
कारणानुरूप कार्य	६
काल	७
काश्मर्य रसायन	३८६
कासीसादि लेप	३३५
किलासहर लेप	२५५
कीट	
-वातप्रकोपक	५७७
-पित्तप्रकोपक	५७८
-कफप्रकोपक	५७८
-सर्वदोष प्रकोपक	५७८
कीटकल्प	५७७
कीटदंश की कृच्छ्रसाध्यता	५८३
कीटदंशों की असाध्यता	५८१
कीटों की पहचान	५७७
कुशाओं का वर्णन	१८९
कुटीस्वेद	४१८
कुणपरेता	१४
कुणावी	२६२
कुम्भीक या षण्ड नपुंसक	२४
कुम्भीका-चिकित्सा	३३७
कुम्भीकादि तैल	३०६
कुलिंग-दंश	५६८
कुल्माष	२६२
कुष्ठ की दोषानुसार चिकित्सा	२५१
कुष्ठ को नष्ट करने के उपाय	२६०
कुष्ठ : चतुर्थकर्मगुण प्राप्त	२५१
कुष्ठचिकित्सित	२५०
कुष्ठ में सिरावेधादि का उपयोग	२५२
कुष्ठहर अन्य योग	२५७
कुष्ठहर तैल	२५८
कुष्ठहर लाक्षादि तैल	२५९
कुष्ठहर विविध लेप	२५२
कुष्ठी में दोषनिर्हरण की आवश्यकता	२५६
कुष्ठी में हरिद्रादि का प्रयोग	२५७
कुसंयोजन की चिकित्सा	२०१
कूर्च	७२
कूर्म-चिकित्सा	३४५
कृकाटिका (छिन्न) की चिकित्सा	१७९
कृमिघ्न उपक्रम	१७१
कृमिजन्य मांस-दधि लेप	३१६
कृमिदन्त-चिकित्सा	३४३
कृमिभक्षित अंग पर लेप	२५८
कृशरा	१७८
कृष्णकर्म	१६८
कृष्णतिलपाक	२६५
कृष्णदंश	५६७
कृष्णसर्प भस्मसिद्ध तैल	२५४
कृष्णसर्प भस्म लेप	२५४

कृष्णा लूता ५९२
कृष्णावल्गुजादि रसायन ३८८
केदार १०२
केशकृष्णीकरण तैल ३७६
कैटर्यादि तैल ३१४
कैवल्य ५
कोकिल-दंश ५६९
कोठ और उत्कोठ ३६०
कोबरा ५४४
कोलस्ट्रम १३३
कोष्ठ का लक्षण ५०, १७६
कोष्ठ-भेद ४२७
कोष्ठ-भेदन के लक्षण १७६
कोष्ठ में रुधिर एकत्रित होना १७७
कौबेरकाय ६५
क्रेट ५४४
क्रौंच बीज योग ३८२
क्लम ६०
क्लीब २५
क्लैब्य ३७९
क्लोम ५५
क्वाथ-विधि ४०८
क्षत के लक्षण १७७
क्षत-पिच्चित का चिकित्सासूत्र १८५
क्षार २५४
क्षारकर्म उपक्रम १६७
क्षारागद का प्रयोग ५६३
क्षीणबलीयवाजीकरणचिकित्सित ३७८
क्षीराद शिशु में औषध-प्रयोग १४१
क्षीरादि हेतु ५
क्षुद्ररोगचिकित्सित ३२९
क्षेत्रज्ञ २९
क्षेत्रज्ञ आदि पर्याय ३०
क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानम् २

ख

खर्जूरपत्रकादि भेदन २४५
खदिर क्वाथ २५९
खदिर-विधान २६५
खालित्य ३३१

ग

गण्डूष (दाहहर) ५०३
गण्डूषधारण ३५५
गन्ध तैल २०२
गन्धनाम्नी-चिकित्सा ३२९
गरविष ५७९
गर्दभी-चिकित्सा ३२९
गर्भ ३१
-परिभाषा ६९
-वृद्धि ६९
गर्भ (कुरूप) २६
गर्भ (विकृत) २६
गर्भ का रक्तसंचार ४१
गर्भ की वृद्धि (पञ्चम मास में) ३८
गर्भ की सहज विकृतियाँ २६
गर्भ (जीवित) के दारण का निषेध २९३
गर्भ के पितृजादि शरीर-लक्षण ४३
गर्भ के पुरुष-स्त्री-नपुंसक होने में हेतु ३०
गर्भ के पूर्वजन्मों का परिणाम ४४
गर्भ के प्रतिलोम होने पर उपाय १३१
गर्भ के विभिन्न वर्णों के हेतु २१
गर्भद्वयोत्पत्ति के सिद्धान्त २२
गर्भधारण काल ३०
गर्भधारण के लक्षण ३३
गर्भधारण के लिए आवश्यक २१
गर्भनाभिनाडी ४०
गर्भ-निर्णय ३३
गर्भपात १४८
गर्भपात-चिकित्सा १४६
गर्भपोषण विधि ४०
गर्भ में मलादि त्याग न करने में हेतु २६
गर्भवृद्धि ३५
गर्भवृद्धि के हेतु ६१
गर्भव्याकरणशारीर ४६
गर्भशय्या ८३
गर्भसंग का उपचार १३१
गर्भस्थ भ्रूण के न होने में हेतु २६
गर्भस्थ शिशु द्वारा श्वासादि प्रक्रिया २६
गर्भस्थ शिशु में हस्ततलादि में बाल न आना २६
गर्भस्फुरण १४६
गर्भस्राव १४६
गर्भस्राव की चिकित्सा १४८
गर्भाक्षेपक १४७
गर्भाधान का सम्भावना रहित काल ३१
गर्भाधान की उपयुक्त आयु १४४
गर्भाधान की सर्वाधिक सम्भावना २०
गर्भाधान (विधिपूर्वक) का फल २१
गर्भाधान के अयोग्य स्त्रियाँ १४४
गर्भाभास ३४
गर्भावक्रान्तिशारीर २९
गर्भावतरण-प्रक्रिया २९
गर्भावस्था-अवधि निर्णय ३८
गर्भावस्था और मेडिको-लीगल ३८
गर्भावस्था और मैथुन ३४
गर्भावस्था और स्तन्य-विकास ५३
गर्भावस्था में निषेध ३४
गर्भावस्था में होने वाले परिवर्तन ३३
गर्भाशय ८३
गर्भाशय में गर्भ की मृत्यु १४८
गर्भाशय में भ्रूण की स्थिति ८४
गर्भिणी का आहार १२७
गर्भिणी का 'जन्मपूर्व रक्षण' ३४
गर्भिणी के प्रारम्भिक लक्षण ३३
गर्भिणी के लिए नियम (जन्मपूर्व देखभाल) १२६
गर्भिणी के विविध विकार १४६
गर्भिणी-चिकित्सा १४९
गर्भिणी में वृद्धिपत्र-प्रयोग-निषेध २९४
गर्भिणी में शल्योद्धरण २९२
गर्भिणीव्याकरणशारीर १२६
गलक्षत-चिकित्सा १७९
गलगण्ड की दोषानुसार चिकित्सा ३१७
गलगोलिका जाति के दंश-लक्षण ५८०
गलगोलिका-दष्ट चिकित्सा ५८४
गलशुण्डिका में छेदनकर्म ३४५
गान्धर्वकाय ६५
गिलायु-चिकित्सा ३४६
गुणवती सन्तान का हेतु ४४
गुणसूत्री-सिद्धान्त १९
गुदभ्रंश-चिकित्सा ३३५
गुन्द्रादि लेप ३२५
गुप्ताफलादि योग ३८२
गृध्रसी का लक्षण २२०
गृष्टिक्षीरादि योग ३८२
गोक्षुर योग २३६
गोचन्दनादि योग ३९२
गोतीर्थक भेदन २४३
गोदुग्ध रसायन ३९१
गोधादि के मांस का संस्कार ५१४
गोधेरक के दंश-लक्षण ५८०
गौरव ६०
गौर्यादि घृत ३०४
ग्रथित-चिकित्सा ३३७
ग्रन्थ में वर्णित अध्यायों की संख्या ५९५
ग्रन्थि की दोषानुसार चिकित्सा ३११

ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डचिकित्सित ३११
ग्राही बस्तियाँ ४८०
ग्रीवा के भग्न : सन्धिमुक्त चिकित्सा १९७
ग्लानि ६०

घ

घृतपान के योग्य ४०९
घृत-प्रयोग ४१०
घोण्टाफलादि वर्ति ३०८

च

चंक्रमण ३६४
चक्रतैल १८५
चक्रतैल का परिषेक १९०
चक्रयोग (श्रोणिसन्धिच्युति में) १९४
चञ्चुमालक ५४०
चतुर्विंशति तत्त्व ३
चतु:स्नेह का प्रयोग ३११
चन्दनादि तैल १८०
चपल-दंश ५६८
चर्म चक्षुओं से आत्मा को देखना असम्भव ८५
चलदन्त-चिकित्सा ३४४
चिकित्सित की उपादेयता ५९६
चिक्किर दंश ५६८
चित्रकमूलरजन्यादि रसायन ३८८
चित्रकादि तैल ४५८
चिप्प-चिकित्सा ३२९
चिरविमुक्त सन्धि-चिकित्सा २०१
चींटियों के दंश की चिकित्सा ५८४

छ

छत्र-धारण ३६३
छाया ४७
छिन्न व्रण १७६
छेदन : अग्नितप्त शस्त्र से १८१
छेदन उपक्रम १५९
छुच्छुन्दर-दंश ५६८

ज

जंगमविषविज्ञानीय ५२९
जंगमविषों के अधिष्ठान ५२९
जंघा-ऊरु भग्न चिकित्सा १९३
जंघोरु भग्न में कीलक प्रयोग २००
जतुमणि-चिकित्सा ३३२
जल-पान की मात्रा ३६८
जल में परछाईं आदि देखना निषिद्ध ३६८
जलसन्त्रास ५७२-७३
जलोदर में रोगी को बिठाना २९०
जलौकापातन एवं पाटन कर्म २९९
जाम्बवौष्ठ ३२६
जातिस्मर का लक्षण २८
जाल ७२
जालगर्दभ-चिकित्सा ३२९
जालिनी लूता ५९३
जिह्वानिर्लेखन ३५५
जिह्वारोग-चिकित्सा ३४४
जीर्णौषध व्यापत् ४३४
जीवदान व्यापत् ४३७
जीवन के पाँच लक्षण ४६
जीवन्त्यादि तैल ४५८
जीवशोणित की पहचान ४३८
जीवशोणितादान ४३३
जृम्भा ५९

ड

डिम्बक्षरण २२
डिम्बक्षरण काल ३०

त

तक्र के भेद ५१०
तत्त्व और उनके देवता ४
तदञ्जन ७
तन्द्रा ५९
तन्मयत्व ७
तलभग्न-चिकित्सा १९६
तापस्वेद ४१७
ताम्बूल-भक्षण ३५६
तार्क्ष्य नामक अगद ५५८
तालीशादि तैल १८५
तालुनमन १४१
तालुपाक-चिकित्सा ३४५
तालुपुप्पुट-चिकित्सा ३४५
तालुशोथ-चिकित्सा ३४५
तामस काय ६७
तिक्तक घृत २५२
तिल्वक घृत २०८
तीक्ष्णविष कीटों के दंश-लक्षण ५७८
तुण्डिकेरी-चिकित्सा ३४५
तुण्डिनाभि १४१
तुत्थादि और तिल्वकादि लेप २५५
तुम्बरु २१९
तुवरक तैल २८१
तुवरक तैल और अनुपान २८२
तुवरक तैल का नेत्ररोगों में प्रयोग २८३
तुवरक रसायन कल्प २८१
तुवरक वृक्ष २८१
तूनी-प्रतितूनी चिकित्सा २२०
तैल-घृतपाक की पहचान ४०९
तैलद्रोणी (विश्लिष्ट देह में) १८५
तैलपान के योग्य ४०९
त्याज्य स्त्रियाँ ३७०
त्रपुसादि तैल २०२
त्रिपदा गायत्रीमन्त्र ३९२
त्रिफलादि तैल ४५९
त्रिमण्डला लूता ५९१
त्रिरेखा दहन ३१४
त्रिविध बस्ति ४८१
त्रिवृदादि तैल २४८
त्रिवृदादि महागद ५५८
त्रिवृदादि लेप २४७
त्वक् दोषों के हेतु २५०
त्वग्दोषी का आहार-विहार २५०
त्वचा आदि की गणना ७१
त्वचा के भेद ४७

द

दंश में दाह का निषेध ५५१
दंशस्थल का उत्कर्तन एवं पश्चात्कर्म ५९३
दंशस्थल का दहन ५५०
दंशस्थल का दहनादि ५७०
दण्डधारण ३६३
दद्रुहर लेप २५३
दन्त ७८
दन्तधावन ३५४
दन्तनाडी-चिकित्सा ३४२
दन्तपुप्पुट-चिकित्सा ३४१
दन्तभग्न और उत्पलनाल १९८
दन्तवेष्ट में रक्तविस्रावण ३४१
दन्तवैदर्भ-चिकित्सा ३४२
दन्तशर्करा-चिकित्सा ३४३
दन्तहर्ष में कवलधारण ३४३
दन्तादि के असाध्य रोग ३४७
दन्ताभिघात की चिकित्सा १९८
दन्त्यरिष्ट २३०
दर्वीकर विष ५३६
दर्वीकर विष की घातकता ५३६
दर्वीकरादि सर्पों की चिकित्सा ५५३
दष्ट व्यक्ति की सामान्य चिकित्सा ५८३
दातुन करने की विधि ३५५
दातुन का चयन ३५४
दातुन का निषेध ३५५

दारण उपक्रम १५९
दारुणक-चिकित्सा ३३२
दारुणकर्म उपक्रम १६७
दिग्धबिद्ध के लक्षण ५५७
दिग्धबिद्ध व्रणों की चिकित्सा ५५८
दिवास्वप्न से हानियाँ ५८
दिवास्वाप ५९
दीर्घकालीन गर्भावस्था ३८
दु:खवर्धन के लक्षण ३७३
दुग्धहरिणी ३१०
दुन्दुभिस्वनीय कल्प ५६२
दुर्विरेच्य के लक्षण ४२७
दुष्टजलशोधक औषध ५३१
दुष्टव्यध सिराएँ ११४
दुष्टव्रण-चिकित्साविधि १८७
दूषित जल के लक्षण ५३१
दूषित व्रणोपचार १६४
दूषीविष ५७९
दूषीविष का प्रकोप ५२३
दूषीविष का लक्षण ५२३
दूषीविष का शरीर पर प्रभाव ५२३
दूषीविष की चिकित्सा ५२६
दूषीविष की परिभाषा ५२४
दूषीविष के लक्षण ५२४
दूषीविषारि अगद ५२६
दूष्योदर-चिकित्सा २८५
दृष्टि आदि विषाधिष्ठान ५२९
देवादि में श्रद्धा ३६२
दोषज व्रण
-भेद १५२
-लक्षण १५२
दोषनिर्हरण ४३०
दोषनिर्हरण के प्रमाण ४८४
दोषनिर्हरण क्रम और आहार ४८५
दोषनिर्हरण मात्रा के अनुसार आहार ४८५
दोषनिर्हरण में आसानी ४३२
दोषप्रकोपशान्त्यर्थ नियम ४२३
दौहृद के विभिन्न प्रकार ३७
दौहृदविमानन २६, ३५
दौहृदविमानन से हानि ३७
दौहृदिनी ३५
द्यूतादि का निषेध ३६८
द्रवन्त्यादि क्षार ३२८
द्रवस्वेद ४१८
द्राक्षादि अगद ५६०
द्रुमपत्र १०२
द्विपञ्चमूली योग २३०
द्विव्रणीय १५१
द्विव्रणीयचिकित्सित १५१
द्वैपत्वगादि सिद्ध तैल २५४

ध

धमनियों का शरीर और आत्मा से सम्बन्ध १२१
धमनियों की सुषिरता का हेतु १२१
धमनियों के कर्म ११९-२०
धमनी आदि में परस्पर अन्तर ११८
धमनी और स्रोत सिराओं से भिन्न ११८
धमनीव्याकरणशारीर ११८
धातूपधातुगत प्रकुपित वात २०५
धात्री के गुण १३७
धात्री के स्तनदोष १३८
धान्वन्तर घृत २७४
धुत्तूरादि चूर्ण ३०८
धूप ३६४
धूपन उपक्रम १६६
धूम उपक्रम १७१
धूम के भेद ४९१
धूमनस्यकवलग्रहचिकित्सित ४९१
धूमनेत्र का माप ४९२
धूमनेत्र की लम्बाई ४९२
धूमनेत्र द्रव्य ४९२
धूमपान का प्रभाव ४९४
धूमपान का योग-अयोगादि ४९४
धूमपान की विशेष विधि ४९३
धूमपान के अयोग्य ४९३
धूमपान के काल ४९३
धूमपान के लाभ ४९४
धूमपान-मर्यादा ४९४
धूमपान का विधान ४९२
धूमवर्ति का निर्माण ४९१

न

नख की खरोंच की चिकित्सा ५८४
नखजन्य व्रण ५८१
नख़दन्तक्षत-चिकित्सा ५७५
नपुंसक गर्भ २३-२४
नपुंसकता के हेतु एवं वर्गीकरण ३७९
नरचेष्टिता कन्या २४
नवायस योग २७५
नष्टसंज्ञ की चिकित्सा ५५६
नस्य उपक्रम १७१
नस्य का प्रयोग ४९५
नस्य का योग-अतियोगादि ४९७
नस्य के अयोग्य ४९९
नस्य निगलने का निषेध ४९७
नस्य में स्नेह की मात्रा ४९७
नस्य-विधि ४९५
नस्य व्यापत् ५००
नस्योत्तर कर्म ४९७
नस्यों में समय का अन्तर ४९९
नस्योपरान्त कर्म ४९७
नागोदर गर्भ १४७
नाडी की लम्बाई आदि ४१७
नाडीछेदन (क्षारसूत्र द्वारा) ३०७
नाडीव्रण ३०५
नाडीव्रण की दोषानुसार चिकित्सा ३०५
नाडीव्रणहर तैल ३०६, ३०८
नाडीस्वेद ४१७
नाभिनाडी छेदन विधि १३२
नाभिनाड़ी-बन्धन १३२
नाभि : प्राणायतन १०२
नाभिमूल १०१
नासाभग्न की चिकित्सा १९८
निद्रा ५६, ३६४
निद्रानाश के उपाय ५९
निद्रानाश के हेतु ५८
नियति ७
नियम १७२
निरग्नि स्वेद ४१६
निरुद्धप्रकश चिकित्सा ३३४
निरुद्धमणि चिकित्सा ३३३
निरूहोपरान्त बस्ति की उपयोगिता ४७४
निरूह के न लौटने पर ४७४
निरूह-प्रणयन ४७१
निरूह में क्वाथ की मात्रा ४७५
निरूह बस्ति का प्रयोग ४६६
निरूह बस्तियों की कल्पना ४७५
निरूह व्यापत् (अशुद्ध में) ४६५
निरूहण के लक्षण ४७३
निरूहण (भुक्तवान् व्यक्ति में) ४७४
निरूहक्रमचिकित्सित ४७१
निरूहण में मांसरस प्रयोग ४७३
निरूहण बस्ति का निषेध ४६२
निरूहण : स्नेहसात्म्य होने पर ४३१
निरूहणोत्तर बस्ति-प्रमाण ४६९
निर्वापण उपक्रम १६२

निर्विकार आत्मा सुप्त जैसा क्यों ? ५८
निर्विष दंश का लक्षण ५४०
निवृत्तसन्तापनीयरसायन ४००
निःशोणितौष्ठव्रणोपचार १५२
नीलकमल कषाय ३९१
नीलघृत २५५
नीलिका ३७७
नीलीदलादि पलितहर तैल ३७५
नेत्रबस्तिप्रमाणप्रविभागचिकित्सित ४४२
नेत्रबस्तिव्यापच्चिकित्सित ४५०
नेत्राञ्जन ३५६
नेत्राभिघात में आजघृत प्रयोग १८१
नैगमेषापहृत १४६
न्यच्छ-चिकित्सा ३३२

प

पक्वाशयगत प्रकुपित वात की चिकित्सा २०४
पक्षाघात की चिकित्सा २१९
पगड़ी ३६३
पञ्चतन्मात्रा ३
पञ्चमहाभूतों के गुण ११
पञ्चविंशति पुरुष ५
पञ्चांगी वर्ति ३४५
पटोलादि कषाय २१६
पतनादि में शीतल लेपादि १९९
पत्रदान उपक्रम १७०
पत्रलवण २१०
पत्रशिरीष नामक अगद ५६०
पद्मनी घृत ३९२
पद्मिनीकण्टक-चिकित्सा ३३३
पनसी-चिकित्सा ३२९
परिकर्तिका व्यापत् ४३९
परिकर्मियों के गुण ५०७
परिणाम ७
परिदर-चिकित्सा ३४१
परिपोट : लक्षण-चिकित्सा ३७३-७४
परिलेही : लक्षण-चिकित्सा ३७४-७५
परिवर्तिका-चिकित्सा ३३३
परिषेक उपक्रम १५७
परिषेक के लाभ ३५७
परिस्राव व्यापत् ४३९
परिस्रावी उदर में कृष्णमृदालेप २८९
परिस्रावी भगन्दर के शल्यकर्म २४५
पर्शुकाभग्न-चिकित्सा १९५
पलित-खलितनाशन तैल ३७६
पाचन उपक्रम १५८
पाठादि तैल ४६०
पाण्डुकर्म उपक्रम १६८
पादत्र धारण ३६२
पाददारी-चिकित्सा ३३०
पाद-प्रक्षालन ३६२
पादाभ्यंग ३६२
पादास्थि-भग्न चिकित्सा १९३
पानीय क्षार ३२७
पामा-चिकित्सा ३३०
पाशव गुण ६७
पाषाणगर्दभ-चिकित्सा ३२९
पाषाणधारण : तलभग्न में १९६
पिच्चित और विघृष्ट की चिकित्सा १७८
पिच्चित व्रण १७७
पिच्छिल बस्तियाँ ४८०
पिडकोपचार २७५
पिण्डीतकादि तैल ३०८
पित्तकर्म ५०
पित्तधराकला ५०
पित्तविषातुर में विरेचन ५५५
पित्तविषातुर में शीतसंवाहनादि ५५५
पित्तोदर चिकित्सा २८५
पिपीलिकादि के दंश-लक्षण ५८१
पिप्पलीवर्धमान योग २१६
पिप्पल्यादि योग २३१
पीडन १६०
पीडन उपक्रम १६२
पीतिका लूता ५९१
पीनोन्नतपयोधरा ५३
पुत्र २१
पुत्रक-दंश ५६७
पुत्र-पुत्री सन्तान की कामना १९
पुत्र या पुत्री होने में हेतु : पाश्चात्य मत ३२
पुत्र-सन्तान प्राप्ति के उपाय २०
पुनर्गर्भाधान काल १४९
पुनर्जन्म कृत कर्मों का फल २८
पुनर्नवामूलसिद्ध दुग्ध २३६
पुरीषधरा कला ४९
पुरुष ६
पुरुष की अनेक स्थितियाँ ९
पुरुषायित २४
पुष्करिका-चिकित्सा ३३८
पूतिकीटादि लेप २५४
पूयवक्ष ९६
पूर्णकोश २६२
पेशियों के विविध रूप ८३
पेशी ८२
पैत्तिक प्रकृति के लक्षण ६२
पैशाचकाय ६६
प्रकृति २,४
प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य ६
प्रकृति का निर्माण ६२
प्रकृति दोष से हानि क्यों नहीं ? ६४
प्रकृतियाँ ६२,६७
प्रचलाकादि भस्म ३१५
प्रजायिनी के लक्षण १२९
प्रणिहित स्नेह का पश्चात्कर्म ४६२
प्रतिच्छाया ४७
प्रतिमर्श नस्य की चिकित्सा ५००
प्रतिमर्श नस्य के लाभ ५००
प्रतिवातातपादि का निषेध ३६६
प्रतिसारण उपक्रम १६९
प्रतिसारण-विधान ५०३
प्रतिसूर्यक के दंश की चिकित्सा ५८५
प्रत्यंग भग्न-चिकित्सा १९३
प्रत्यंगों की गणना ७०
प्रत्यावर्तन और आच्छन १९४
प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर ८७
प्रधमन द्रव्यों का विषार्त में प्रयोग ५५५
प्रधमन नस्य ४९९
प्रपौण्डरीकादि लेप ३०४
प्रमेह और आनुवंशिकता २६८
प्रमेह और स्त्रियाँ २६८
प्रमेह के भेद २६७
प्रमेहचिकित्सित २६७
प्रमेहपिडकाएँ २७३
प्रमेहपिडकाचिकित्सित २७३
प्रमेहमुक्ति के लक्षण २७६
प्रमेह में अपथ्य २६८
प्रमेह में वमनादि प्रयोग २६८
प्रमेहहर योग २६९
प्रमेही के लिए व्यायाम २७१
प्रवात का प्रभाव ३६४
प्रवाहिका व्यापत् ४३९
प्रसव
-प्रथमावस्था १३०
-द्वितीयावस्था १३१
-तृतीयावस्था १३१
प्रसवकाल में प्रवाहण १३०

प्रसव का सम्भावित दिन ३९
प्रसव की सम्भावित तिथि ३४
प्रसव में तीन संग २९२
प्रसवारम्भ के लक्षण १२९
प्रसूतकाल की अवधि १३४
प्रसूता की चिकित्सा में सावधानी १३४
प्रसूता के लिए त्याज्य १३४
प्रस्तरस्वेद ४१८
प्रस्रंसमान गर्भ १४६
प्राण : अग्निसोमादि का सम्मिलित रूप ४६
प्रियंग्वादि तैल ३०२
प्रेतसत्त्व ६६
प्लीहा ५३
प्लीहोदर में अग्निकर्म २८८
प्लीहोदर-चिकित्सा २८८

फ

फणावान् (कोबरा) ५४१
फुप्फुस ५४
फेनकोद्वर्तन के लाभ ३६०

ब

बद्धोदर में पिपीलिका दंश २८९
बन्ध उपक्रम १७०
बन्ध्यत्वहर बस्ति ४८०
बलातैल २९६
बलामूल-रसायन ३८६
बलार्ध का लक्षण ३५९
बस्ताण्डक्षीर योग ३८०
बस्ताण्डवाजीकर योग ३८१
बस्ताण्ड योग ३८०
बस्ति
-उत्तम वातहर २०७
-के गुण ४४२
-का महत्त्व ४४३
-कार्य की दृष्टि से भेद ४४५
-निर्माणार्थ द्रव्य ४४५,४६८
-द्वारा दोष निर्हरण ४४७
-का शरीर पर प्रभाव ४४७
-के लाभ ४४७
-गुणों का शरीर में फैलना ४४७
-का बार-बार पीडन हानिकर ४५१
-के दोष ४५१
-को युक्तिपूर्वक दबाना ४५१
-का पुन: प्रयोग ४५२
-में प्रयुक्त द्रव्यदोष एवं चिकित्सा ४५२
-प्रयोग का समुचित काल ४५७
-आत्ययिकावस्था में ४६०
-आपत्काल में ४६१
-प्रदोषकाल में ४६१
-का लाभ दिन में ४६१
-का रात्रि में निषेध ४६१
-परिस्थितिवश रात्रि में ४६१
-का खाली पेट में निषेध ४६१
-के उपरान्त कर्त्तव्य ४६२
-द्वारा प्रदत्त स्नेह के न लौटने पर ४६९
-से उत्पन्न दाह की शान्ति ४६९
-का अतियोग हानिकर ४७२
-प्रयोग-विधि ४७२
-के टिके रहने से हानियाँ ४७४
-द्रव्य ४७५
-द्रव्यों का योजन क्रम ४७५
-बारह प्रसृत प्रमाण वाली ४७६
-प्रयोग में काल-निर्णय ४८०
-प्रयोग में सावधानी ४८०
-के लिए विशिष्ट नियम ४८८
बस्ति और शुद्ध शरीर ४५७
बस्तिकर्म उपक्रम १६९
बस्तिकल्पना के सामान्य नियम ४८२
बस्तिगत प्रकुपित वात २०४
बस्तिचिकित्सा का निषेध ४४५
बस्तिचिकित्सा का महत्त्व ४४२
बस्तिचिकित्सा के व्यापत् ४४८
बस्तिनेत्र और आस्थापन द्रव्य ४४३
बस्तिनेत्र का परिणाहादि ४४४
बस्तिनेत्र की लम्बाई आदि ४६६
बस्तिनेत्र के कारण होने वाले उपद्रव ४५०
बस्तिनेत्र के द्रव्य और आकार ४४४
बस्तिनेत्र को सीधा प्रविष्ट करना ४५०
बस्तिनेत्रदोषाभिधान ४५०
बस्तियन्त्र की निर्माण-विधि ४४५
बस्तिव्यापत् की चिकित्सा ४५३
बस्तिसाध्य रोग ४४२
बस्ति ही वातवेगों को रोकती है ४४७
बस्तियों की कार्य विधि ४४५
बस्तियों (प्रथम-द्वितीयादि) के कार्य ४६३
बस्तियों से रसायन लाभ ४६४
बस्तियों से हानियाँ ४५२-५३
बस्तियाँ एक ही तरह की न दें ४६४
बस्तियाँ बारी-बारी से दें ४६४
बाजीकर उत्कारिका ३८०
बाजीकरण के योग्य व्यक्ति ३७८
बाणवार ३६३
बाल-कानादि कुरेदने का निषेध ३६६
बालव्यजन ३६४
बिद्ध व्रण के लक्षण १७७
बिभीतकादि वर्ति ३०८
बिम्ब ७२
बिल्वचूर्ण रसायन ३९१
बिल्वादि अनुवासन बस्ति ४६०
बिस रसायन ३९१
बीज १३
बीजकसारादि रसायन ३८७
बुद्धि आदि के देवता ४
बुद्धिप्रसाद ४२८
बुद्धि-मेधावर्धक रसायन ३९२
बृंहण उपक्रम १७१
बृंहण बस्तियाँ ४७९
ब्राह्मकाय ६५
ब्राह्मीस्वरस रसायन ३८९

भ

भगन्दर
-भेद २४२
-चिकित्सा २४२
-बालकों के भगन्दर का क्रियासूत्र २४५
-साध्यासाध्यता २४६
-में उपनाह स्वेदन २४६
-में वाष्पस्वेदन एवं अवगाहन २४६
-की वेदना-शान्ति के उपाय २४६
-में सावधानियाँ २४८
भगन्दर यन्त्र और अर्शोयन्त्र में भेद २४८
भगन्दरक्षत के लिए शोधन वर्ग २४७
भगन्दरचिकित्सित २४२
भगन्दरनाशन तैल २४७
भग्न का आदर्श रोहण २०३
भग्न का विलम्बित रोहण १८९
भग्न-बन्धन की अवधि १९०
भग्नबन्धन के गुण-दोष १९०
भग्न में तैलादि प्रयोग २०१
भग्न में पथ्यापथ्य १८९
भग्न में संक्रमण से खतरा २०२
भग्नरोहण १९१
भग्नरोहण की अवधि १९१
भग्नरोहण तैल योग २०१
भग्नरोहण में अस्थि और आयु १९२
भग्नस्थानों को यथास्थान लाना १९२

भग्नस्थानोपाय (संक्षेप में) १९३
भग्नस्थापनोपरान्त उपचार १९३
भग्नस्थिरीकरण और कील २००
भग्नानां चिकित्सितम् १८९
भद्रासंज्ञादि सिद्ध जल २५३
भल्लातक तैल २३२
भल्लातक-विधान २३१
भल्लातकादि तैल ३०८
भा ४७
भिन्नकोष्ठ की साध्यता १८२
भिन्ननेत्र-चिकित्सा १८०
भिन्न व्रण १७६
भूतिकादि तैल ४५८
भूमिविलेखनादि का निषेध ३६६
भूस्वेद ४१८
भृत्यादि द्वारा विष प्रयोग ५०५
भेदन उपक्रम १५९
भोजन का क्रम ४८६
भोजन के नियम ३६७
भौम सर्पो के भेद ५३८
भ्रम ६१
भ्रूण और गर्भ ७०
भ्रूण का मासानुमासिक विकास ३५
भ्रूण के कष्ट ३४
भ्रूण के लिङ्ग की पूर्व जानकारी ४४
भ्रूण के सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले अवयव के सम्बन्ध में मत-भिन्नता ४३

म

मक्कल्लशूल : लक्षण एवं चिकित्सा १३६
मक्षिकाजाति के दंश-लक्षण ५८१
मज्जपान के योग्य ४१०
मज्जविद्रधि-चिकित्सा ३०१
मज्जा और वसा ४९
मञ्जिष्ठादि आलेपन १८९
मञ्जिष्ठादि तैल १८५
मण्डली-सर्पो की चिकित्सा ५५३
मण्डूक जाति के दंश-लक्षण ५८०
मण्डूकपर्ण्यादि रसायन ३८९
मण्डूकविषहर अगद ५८४
मत्स्याण्डजाल को निकालना ३१४
मदनफलादि योग ५७०
मदनादि फलवर्ति २८८
मद्यप व्यक्तियों में तर्पण ४८६
मधुकादि तैल ४५९
मधुत्रय रसायन ३९२
मधुमेहचिकित्सित २७८
मधुमेही अस्वेद्य है २७४
मधुमेही दुर्विरेच्य है २७४
मधुसर्पि: उपक्रम १७२
मन के संयोग से उत्पन्न गुण १०
मन के सत्त्वादि गुण १०
मन्त्र असफल नहीं होते ५५१
मन्त्र और अदिष्टाबन्धन ५५१
मन्त्रग्रहण-विधान ५५२
मन्थ ४३७
मन्दविष कीटों के दंश-लक्षण ५७९
मन्दाग्नि का हेतु ४८४
मन्यास्तम्भ की चिकित्सा २१९
मर्म ८७
मर्म के सुरक्षित रहने पर जीवन को संकट नहीं ९९
मर्म ज्ञान का महत्त्व ९९
मर्म ज्ञान की उपयोगिता ९८
मर्मवेधन के विभिन्न परिणाम ९३
मर्म : स्वरूप और अभिघात ९०
मर्माभिघात प्राणहर क्यों ? ९९
मर्माभिघात में तीव्रवेदना का हेतु ९३
मर्माभिघात से मृत्यु की अवधि ९३
मर्माभिघात से मृत्यु निश्चित १००
मर्माभिघातों के परिणाम ९९
मर्माष्टक की सुरक्षा २४०
मर्मों का प्रकारान्तर से वर्गीकरण
-सद्य: प्राणहर ८९
-कालान्तर प्राणहर ८९
-विशल्यघ्न ८९
-वैकल्यकर ८९
-रुजाकर ९०
मर्मों का माप ९८
मर्मों की संख्या और नाम ८७-८८
-मांसादि मर्म ८७
-अंग-प्रत्यंग के मर्म ८८
मर्मो (बिद्ध) के स्थान एवं लक्षण ९४
मशकजाति के दंश-लक्षण ५८१
मसी २५४
मसूरिका-चिकित्सा ३३२
मस्तिष्क्यम् २०१
मस्तुलुङ्गक्षय १४१
मत्स्यसत्त्व ६७
महाकुष्ठचिकित्सित २६१
महाकुष्ठहर विविध प्रयोग २६१-६३
महाकृष्ण-दंश ५६९
महातिक्तक घृत २५२
महानस ५०६
महानस के गुण ५०७
महानस में वैद्य की प्रधानता ५०८
महानील घृत २५६
महान् ३
महावज्रक तैल २५९
महावातव्याधिचिकित्सित २१२
महाश्वेत-दंश ५६९
महासत्त्व २१
महासुगन्धि नामक अगद ५६४
महौषधायस्कृति २६४
महौषधि-परिचय ४०२
मांसक्षरण पर मुद्ग-निम्ब योग २५८
मांससंघात-चिकित्सा ३४५
मांसधराकला ४८
मांसपेशियाँ ८२
-शाखागत ८२
-मध्यकायगत ८२
-ऊर्ध्वजत्रुग ८२
माता और भ्रूण २७
मातृस्तन्य के अभाव में १४२
माधुतैलिक संज्ञा ४८१
माधुतैलिक की श्रेष्ठता ४८३
माधुतैलिक बस्ति ४८१
मान (परिमाण) वर्णन ४०७
मार्कवादि योग ३२५
मार्गगमन ३६३
मालागुणा लूता ५९३
माष योग ३८२
माषादि योग ३८२
मासिक-आर्तव ३१
मासिकधर्म की प्रक्रिया ३१
मासादुपेयात् २०
मासिकधर्म में मैथुन हानिकर २०
माहेन्द्रकाय ६५
मिश्रकचिकित्सित ३७३
मुखमण्डल का प्रक्षालन ३५५
मुखरोगचिकित्सित ३४०
मुखरोग में कवलधारण ३४७
मुखालेपन के लाभ ३६१
मुष्क १८४
मुष्ककच्छू-चिकित्सा ३३५
मुष्कभेद-चिकित्सा १८४

मुसल-प्रयोग : स्कन्धसन्धिमुक्त में १९५
मुस्तादि बस्ति ४८२
मूढगर्भ-चिकित्सा २९३
मूढगर्भचिकित्सित २९२
मूढगर्भ में शल्यकर्म २९४
मूत्रविषा लूता ५९२
मूत्रवृद्धि का शल्यकर्म ३२१
मूत्रवृद्धि नामकरण ३२२
मूत्राशयाश्मरी का भेदन २३८
मूत्राशयाश्मरीहरण के शल्यकर्म में सावधानियाँ २४०
मूर्च्छा ६१
मूर्धावरणम् ३७०
मूषकदंश ज्वर ५६६
मूषकविषप्रसार-प्रक्रिया ५६६
मूषकादि तैल ३३५
मूषकों के भेद-नामादि ५६६
मूषिक कल्प ५६६
मूषिकदष्ट के विशिष्ट लक्षण और चिकित्सा ५६७
मूषिकदष्ट के सामान्य लक्षण ५६६
मृणालादि तैल ४५९
मृतगर्भ की उपेक्षा हानिकर २९४
मृदित-चिकित्सा ३३८
मृदुकर्म उपक्रम १६७
मृदु, मध्य और खरपाक ४०८
मृदुविरेचन (अविज्ञात कोष्ठ के लिए) ४३१
मेगोट थेरॉपी ३१६
मेदोधरा कला ४९
मेदोवर्ति की चिकित्सा १८१
मेदोवर्ति को काटना १८१
मेधायुष्कामीयचिकित्सित ३८८
मैथुन का निषेध ३७१
मैथुन की दृष्टि से त्याज्य स्त्रियाँ ३७१
मैथुन के योग्य नारी ३७१
मैथुन के लिए त्याज्य विषय ३७०
मैथुन में सावधानी ३७०
मैथुनसम्बन्धी नियमों का पालन ३७१

य

यकृत् ५३
यकृद्दाली-चिकित्सा २८८
यदृच्छा ७
यन्त्र उपक्रम १७२
यम १७२
यमल २२
यमौ २२
यवप्रख्या-चिकित्सा ३२९
यवादि रसायन ३९१
याम्य काय ६५
युक्तरथ रसायन ३९१
युक्तरथ बस्ति ४८३
युवानपिडका-चिकित्सा ३३३

र

रक्तज शुक्रदोष १४
रक्तधरा कला ४९
रक्तवक्ष ९५
रक्तस्राव
-प्रसवपूर्व १४७
-प्रसवोत्तर १४७
रक्तस्राव अधिक न होने दें ११२
रक्ता लूता ५९२
रक्षाविधान उपक्रम १७२
रजतमाक्षिक २८०
रजोनिवृत्ति ३२
रज्जु ७३
रदितदंश का लक्षण ५४०
रसक्रिया उपक्रम १६३
रसाञ्जन निर्माण-विधि १४१
रसायन औषधियों की पहचान ४०२
रसायन औषधियों के सेवन के लाभ ४०१
रसायन-महौषधियाँ ४००
रसायन शब्द की व्याख्या ३८४
रसायन सेवन की आयु ३८४
रसायन-सेवन के अयोग्य व्यक्ति ४००
रसों का ऋतु के अनुसार सेवन ३६८
रसों का सेवन क्रम ४८७
राक्षस काय ६६
राजद्वेष से बचना ३६५
राजस काय ६६
राजा किसी का विश्वास न करे ५०६
राजा की सुरक्षा हेतु सावधानी ५३१
राजिमान्-सर्पों की चिकित्सा ५५३
रिष्ट और अरिष्ट ५७२
रुग्ण व्यक्ति के लिए नियम ३६९
रुज्या ३३१
रुधिर का महत्त्व ९९
रुधिर तथा प्राण ११२
रूढव्रण का वर्ण उपक्रम १६८
रेचक औषध के गुण ४३१
रेचक (श्रेष्ठ) का लक्षण ४३०
रोपण उपक्रम १६४
रोमसंजनन उपक्रम १६९
रोमापमार्जन ३६२
रोमापहरण उपक्रम १६९
रोहिणी-चिकित्सा ३४६

ल

लांगलक भेदन २४३
लाक्षादि घृत ३७७
लाक्षादि तैल २५९
लाजवर्णा लूता ५९२-९३
लालन-दंश ५६७
लिंग (Sex) की पूर्व जानकारी ४४
लिंग-निर्धारण काल १९
लीनगर्भ-चिकित्सा १४६
लूताओं के दंश लक्षण ५९३
लूतादंश की चिकित्सा में दशविध उपक्रम ५९४
लूता-प्रभाव ५८९
लूताविष ५८७-८८
लूताविष की साध्यासाध्यता ५९०
लूतोत्पत्ति ५८९
लेखन उपक्रम १६०
लेखन बस्तियाँ ४७९
लोपाकादि तैल ३७५
लोहारिष्ट २७६

व

वचादि योग ३९१
वचादि तैल ४५८
वचाशतपाकघृत रसायन ३९०
वज्रक तैल २५८
वमन
-के पूर्व स्नेहन-स्वेदन ४२३
-के पूर्व उत्क्लेशक आहार ४२३
-कराने की विधि ४२४
-का असम्यक् प्रयोग ४२४
-के लाभ ४२५
-का निषेध ४२५
-के योग्य ४२६
-द्रव्यों का निर्हरण ऊर्ध्वमार्ग से क्यों ? ४२९
-का अधोग व्यापत् ४३३
वमन उपक्रम १५९
वमन-विरेचन का प्राधान्य ४२३
वमन-विरेचन द्रव्यों की क्रिया ४३०
वमन-विरेचनव्यापच्चिकित्सित ४३३

वमन-विरेचनव्यापत्संख्या ४३३
वमनविरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सित ४२३
वमन-विरेचनादि की अन्तरवधि ४५५
वय:स्थायक रसायन ३८५
वरुणादि गण की श्रेष्ठता ३०५
वर्ति उपक्रम १६३
वर्तिका-प्रयोग ४६९
वल्मीक-चिकित्सा ३३४
वल्मीकिमृत्तिका पान ५५२
वसापान के योग्य ४१०
वाइपर ५४४
वाजीकर गण ३८३
वाजीकरण ३७८
वाजीकरण करने वाले कारक ३७९
वाजीकरण : त्रिविध द्रव्य ३७९
वाजीकरण का उद्देश्य ३८३
वाजीकर बस्तियाँ ४८०
वातज रोगों में सिराव्यध २२०
वातप्रकोपहर सामान्य उपाय २०६
वातरक्त
-सम्प्राप्तिपूर्वक निरुक्ति २१२
-पूर्वरूप २१२
-चिकित्सासूत्र २१३
वातरक्त का एक ही प्रकार २१२
वातरक्त की चिकित्सा
-वात की प्रधानता में २१३
-पित्त की प्रधानता में २१५
-श्लेष्मा की प्रधानता में २१५
-रक्त की प्रधानता में २१५
वातरक्त में निषिद्ध आहाराचार २१७
वातरक्त में विहार २१७
वातवक्ष ९६
वातविकारों में पथ्य २०६
वातविषातुर में रक्तमोक्षण ५५४
वातव्याधिचिकित्सित २०४
वातव्याधि में परिषेकार्थ स्नेह २१८
वातव्याधि में बस्ति-प्रयोग २१८
वातव्याधि में स्वेदन २०६
वातशूल व्यापत् ४३५
वातादि दोषनाशक गण १६६
वार्ताकु २१०
वातिक प्रकृति के लक्षण ६२
वातिक षण्डक २५
वातोदर-चिकित्सा २८४
वानस्पत्य सत्त्व ६७
वाम्य ४२६
वाराहीकन्द रसायन ३८६
वारुण काय ६५
वासातैल रसायन ३९१
विचर्चिका-चिकित्सा ३३०
विडंग-तण्डुलादि पाँच रसायन योग ३८५
विडंगादि तैल ४६०
विघृष्ट व्रण १७७
विदारिका-चिकित्सा ३३०
विदारीकन्द योग ३८१
विदारीमूलकल्क योग ३८१
विद्याग्रहण की आयु १४४
विद्रधि का भेदन एवं शोधन २९८
विद्रधि की असाध्यता २९८
विद्रधि की दोषानुसार चिकित्सा २९८-९९
विद्रधि में सिरावेध ३०१
विद्रधीनां चिकित्सितम् २९८
विबन्ध व्यापत् ४४०
विम्लापन उपक्रम १५८
विरेचन
-द्रव्यों की मात्रा ४२७
-द्रव्यों की कार्य-प्रणाली ४२७
-का पूर्वकर्म ४२७
-का पश्चात्कर्म ४२८
-का अयोग-अतियोग के लक्षण ४२८
-सम्यक् विरिक्त के लक्षण ४२८
-का लाभ ४२८
-के गुण ४२८
-के योग्य ४२९
-के अयोग्य ४२९
-का ऊर्ध्वगति व्यापत् ४३४
-के अतियोग के लक्षण एवं चिकित्सा ४३८
-द्रव्यों का विषार्त में प्रयोग ५५५
विरेचन उपक्रम १५९
विवृता-चिकित्सा ३२९
विसर्प की दोषानुसार चिकित्सा ३०३-४
विसर्प की साध्यासाध्यता ३०३
विसर्पनाडीस्तनरोगचिकित्सित ३०३
विस्फोटक-चिकित्सा ३२९
विशोध्य व्यक्ति ४३१
विश्वम्भराजाति के दंश-लक्षण ५८०
विश्वम्भरादि का विषहर अगद ५८४
विष
-देने वाले की पहचान ५०८
-युक्त अन्नादि की पहचान ५०९
-पक्वाशयगत विष के लक्षण ५१०
-आमाशयगत विष के लक्षण ५१०
-तरल पदार्थों में विष की पहचान ५१०
-युक्त शाकादि के लक्षण ५११
-भक्षण में उपचार ५१५
-की परिभाषा ५१७
-के भेद ५१७
-वेगों के मध्य की अवस्था ५२५
-दूषित भूमि ५३२
-युक्त धूम और वायु ५३३
-का सर्वदोष प्रकोपक गुण ५३४
-का प्रसार ५३५
-चिकित्सा ५३५
-पीत व्यक्ति के लक्षण ५३५
-के असाध्य लक्षण ५३७
-के वेग ५४५
-का आचूषण ५५१
-निर्हरण हेतु वमन-प्रयोग ५५२
-पीड़ित पशु आदि में मात्राविचार ५५३
-ग्रस्त पक्षियों की चिकित्सा ५५३
-चिकित्सा में देशादि विचार ५५४
-निर्हरणोपाय चिकित्सा ५५६
-पीड़ितों में स्वेदन का निषेध ५६४
-निर्हरण की आवश्यकता ५७१
-अधिष्ठान भेद से लक्षण ५८९
विषकन्या ५०५
विष-पेटी ५१६
विषघ्न उपक्रम १७१
विषस्थ नाना वीर्यों का हेतु ५३३
विषहर स्वेदन ५८३
विषाक्त
-अन्न का प्रभाव ५०९-१०
-अभ्यंग के लक्षण ५११
-कंघी के लक्षण ५११
-दातुन के लक्षण ५११
-अंजन के लक्षण ५१३
-पादुका के लक्षण ५१३
-पुष्प सूँघने के लक्षण ५१३
-भूषणों के लक्षण ५१३
-कर्णगत विषाक्त तैल के लक्षण ५१३
-हृदवस्था का उपचार ५१४
-व्यक्ति की चिकित्सा ५२८

विषाक्तता की अवस्थानुसार चिकि. ५१४
विषाक्तावस्था में पथ्यापथ्य ५६४
विषाधिष्ठान ५०८
विषैले कीटों के चूर्ण ५७९
विषैले सर्पो के दंश ५४४
विषों का वर्गीकरण ५२७
विषों का हाथों पर प्रभाव ५०९
विषों के अधिष्ठान ५१८
विषों के गुण और कार्य ५२१
विषोत्पत्ति का पौराणिक विवरण ५३३
विषोत्पन्न कर्णिका की चिकित्सा ५९५
विस्रावण उपक्रम १५८
विस्राव्य व्याधियाँ ३७३
वीरतरादिगण की औषधियों का योग २३६
वृक्क ५५
वृक्कों की उत्पत्ति ५४
वृक्षारोहणादि का निषेध ३६५
वृद्धिरोग ३२०
वृद्धिरोग की दोषानुसार चिकित्सा ३२०
वृद्ध्युपदंशश्लीपदचिकित्सित ३२०
वृश्चिक दंश : लक्षण-चिकित्सा ५८७-८७
वृश्चिक : त्रिविध प्रकार ५८५
वृष्यपूपलिका ३८१
वेगधारण आदि का निषेध ३६६
वेगाघातशील ४३६
वेगान्तर ५४८
वेधन के अयोग्य सिराएँ १०५-६
वेशवार १७८
वेद्य के गुण ५०६
वैद्यविहित बस्ति-व्यापत् ४४९
व्यंग ३७७
व्यधन उपक्रम १६१
व्याम ७१
व्यायाम (ऋतु के अनुसार) ३५९
व्यायाम की उपयोगिता ३६९
व्यायाम के गुण ३५८
व्यायाम में सावधानी ३५९
व्रण और व्रणित के उपद्रव १७३
व्रण का सामान्य उपचार १८४
व्रण की आकृतियाँ १७५
व्रण के दोषानुसार लक्षण १५३
व्रण के ६० उपक्रम १५४
व्रण को बड़ा करना १८३
व्रण-चिकित्सा १७८
व्रणधूपन-विधि ४९५
व्रणनेत्र की लम्बाई और स्रोत ४४४
व्रण-प्रक्षालन २९९
व्रणभेद १५१
व्रणरोपण घृत २९९
व्रणरोपण तालीसादि तैल १८५
व्रणरोपण तैल १८४
व्रणरोपण मञ्जिष्ठादि तैल १८५
व्रणरोहण तैल १८०

श

शट्यादि तैल ४५८
शणफल रसायन ३८७
शतपदी जाति के दंश-लक्षण ५८०
शतपाक बलातैल २९६
शतपोनक (शूकरोग) चिकित्सा ३३८
शतपोनक भगन्दर २४४
शतपोनक भगन्दर की चिकित्सा २४३
शतावरी घृत और स्वर्णभस्म ३९२
शतावरी शतपाक तैल २९७
शय्यासन ३६४
शरीर में शिरा-धमनी का प्रसार ४८
'शरीर' शब्द से ग्राह्य अंग ६९
शरीरसंख्याव्याकरणशारीर ६९
शर्करार्बुद-चिकित्सा ३३०
शर्कराहर योग २३५
शवच्छेदन का लाभ ८६
शवच्छेदन-विधि ८५
शस्त्रप्रणिधान-प्रमाण १११
शाकुन काय ६६
शाखोटक तैल ३१४
शालसारादि अवलेह २७५
शाल्वण स्वेद २०६
शिरःप्रस्तुति ८४
शिरोगत प्रकुपित वात २०७
शिरोगत वातव्याधि और बस्ति २०७
शिरोभग्न की चिकित्सा १९९
शिरोऽभिघात में बालवर्ति १८४
शिरोऽभ्यंग ३५७
शिरोविरेचन उपक्रम १७१
शिरोविरेचन का विचार ४९६
शिरोविरेचन का विधान ४९६
शिरोविरेचन का विषाक्त में प्रयोग ५५५
शिरोविरेचन की मात्रा ४९७
शिलाजतु : अभिनव परिप्रेक्ष्य में २८०
शिलाजतु-विवेचन २७८
शिशु-औषध मात्रा १४०
शिशुओं में मेधादिवर्धक योग १५०
शिशु का नामकरण संस्कार १३७
शिशु की सुरक्षा १३७, १४२
शिशु में ग्रहों का प्रभाव १४३
शिशु में घृत-प्रयोग १४२
शिशु-व्याधि उपचार १४०
शीताद में रक्तविस्रावण और गण्डूष ३४१
शुक्र-आर्तव दोषों की चिकित्सा १४
शुक्रक्षरण ५२
शुक्रदोष १३
शुक्रधरा कला ५१
शुक्रधातु के गुण १५
शुक्रधातु द्विविध प्रकार १९
शुक्रधातु (दूषित) में वातादि वेदनाएँ १३
शुक्रधातु सर्वशरीरव्यापी ५१
शुक्र-निषेचन निरर्थक (मासिकधर्म के समय) २०
शुक्रपान ३८१
शुक्रशोणितशुद्धिशारीर १३
शुक्रशोणितसंयोग २९
शुक्राणु-गुणसूत्र १९
शुण्ठ्यादि चूर्ण २४७
शुष्कगर्भ का उपचार १४६
शुष्कास्थि का कल्पन २०१
शूकदोषचिकित्सित ३३७
शूकवृन्त के दंशविष की चिकित्सा ५८४
शृगालादि के विष, लक्षण एवं चिकित्सा ५७२
शृतशीत जल का विधान ३६८
शोणितस्थापन उपक्रम १६२
शोणितार्बुद-चिकित्सा ३३९
शोथनाशक उपक्रम १५६
शोधन कल्क उपक्रम १६३
शोधन-घृत उपक्रम १६३
शोधन-तैल उपक्रम १६३
शोधन बस्तियाँ ४७९
शोधनांगभूत स्वेदन ४२०
शोफ की दोषानुसार चिकित्सा ३५०
शोफ की साध्यासाध्यता ३५१
शोफ की सामान्य चिकित्सा ३५१
शोफ के हेतु ३४९
शोफानां चिकित्सितम् ३४९
शोफी के लिए त्याज्य ३५२
शोभाञ्जनादि योग २३६

शौषिर-चिकित्सा ३४१
श्यामादि घृत ३०६
श्रोणिभग्नादि का उपचार २००
श्रोत्रादिगत प्रकुपित वात २०४
श्लीपद ३२६
श्लीपद की दोषानुसार चिकित्सा ३२६
श्लीपदहर योग ३२७
श्लेष्मधरा कला ४९
श्लेष्मातकादि चूर्ण ५६०
श्लेष्मोदर चिकित्सा २८५
श्लैष्मिक प्रकृति के लक्षण ६४
श्वित्रहर कुक्कुटपुरीष लेप २५४
श्वित्रहर गुटिका २५४
श्वित्रहर गोमूत्रादि लेप २५६
श्वित्रहर पूतीकादि लेप २५६
श्वित्रहर लेप २५५
श्वेतवचा रसायन ३९०
श्वेता लूता ५९१
श्वेतावल्गुजादि रसायन ३८८

ष

षट्पलक घृत २८८
षड्धरण योग २०४
षण्ड (देखें–नपुंसक)
षण्डक नपुंसक २४

स

संजीवन नामक अगद ५५९
संवाहन ३६४
संसर्गज प्रकृतियों के लक्षण ६४
सतताध्ययनादि रसायन ३९२
सत्त्वरजस्तमोलक्षण २
सदातुर व्यक्ति ४३६
सद्य: प्राणहर विष ५२२
सद्य: स्नेहन योग ४१३
सद्य: प्रसूता की परिचर्या १३३
सद्योजात की परिचर्या १३२
सद्योव्रण के लक्षण १७८
सद्योव्रण-चिकित्सा विधि १८६
सद्योव्रणचिकित्सित १७५
सद्वृत्त ३६५
सन्निरुद्धगुद-चिकित्सा ३३४
सन्धान उपक्रम १६१
सन्धि : संख्या और स्थान ७९
सन्धियों के भेद ७८
सन्धियों के भेद एवं स्थान
(प्रकारान्तर से) ७९
सम्भावित गर्भपात की चिकित्सा १४५
सम्भोग काल में आर्तव विसर्जन २२
सम्मूढपिडका-चिकित्सा ३३८
सम्यक् दग्ध के लक्षण २२७
सम्यक् वान्त के पश्चात्कर्म ४२५
सम्यक् विरेचन की पहचान ४८६
सर्जिकादि चूर्ण ३२५
सर्पदंश के भेद ५३९
सर्पदंश के विशिष्ट लक्षण ५४३
सर्पदंश के समान्य लक्षण ५४३, ५४५
सर्पदंश के हेतु ५३९
सर्पदंश में रक्तापकर्षण ५५२
सर्पदंश में विषमोचन ५३४
सर्पदष्ट का प्राथमिक उपचार ५५०
सर्पदष्टचिकित्सित ५५०
सर्पदष्टविषविज्ञानीय ५३८
सर्पविष का उपचार (पाश्चात्य मत) ५६१
सर्पविष का दोषों पर प्रभाव ५४१
सर्पविष की असाध्यता ५३६
सर्पविषघ्न क्षारागद ५६२
सर्पसत्त्व ६६
सर्पाङ्गाभिहत के लक्षण ५४०
सर्पित दंश का लक्षण ५३९
सर्पों का वर्गीकरण ५३८
सर्पों की पहचान ५४०
सर्पों की ब्राह्मणादि जातियाँ ५४१
सर्पों के पुरुषादि लक्षण ५४३
सर्पों के भेद ५४२
सर्पों के विचरण का समय ५४१
सर्पों में अवस्थानुसार उग्रता ५४१
सर्पकार्मिक अगद ५६०
सर्वतोभद्रचक्र भेदन २४३
सर्वभूतचिन्ताशारीर १
सर्वसर-चिकित्सा ३४६
सर्वसर शोफ ३४९
सर्वांगगत प्रकुपित वात २०५
सर्वोपघातशमनीयरसायन ३८४
सर्षपिका-चिकित्सा ३३७
सविष नस्यादि ५१२
सव्रण भग्न का उपचार १९१
सहस्रपाक तैल २०९
सहसा ग्रहण और त्याग हानिकारक ३४७
सांख्यादि से अन्य आयुर्वेदीय मतभेद ९
साग्नि स्वेद ४१६
सात्म्य ४१०
सात्त्विक काय ६५
साधर्म्य-वैधर्म्य ५
सावशेष औषध व्यापत् ४३४
सिद्ध बस्ति ४८३
सिन्धूद्भूतादि लेप २५३
सिराएँ : वातादि का वहन
करने वाली १०३
सिराएँ सर्ववहा हैं १०४
सिराएँ सर्वशरीरव्यापी हैं १०६
सिराओं (उत्तमांग की) का उत्थान ११०
सिराओं का नाभि से सम्बन्ध १०२
सिराओं का शरीर में स्थान
एवं उनके प्राकृत कर्म १०३-१०४
सिराओं की संख्या एवं कार्य १०१
सिराओं द्वारा शरीर का पोषण ९३
सिरा-धमनी निर्णय १०४
सिरा में यन्त्रवेष्टन १११
सिरा (अव्यध्य) में वेधन का विधान १०९
सिरावर्णविभक्तिशारीर १०१
सिरावेध का अज्ञ द्वारा निषेध ११५
सिरावेध काल १११
सिरावेध काल (क्षीणादि रोगियों में) ११२
सिरावेध का महत्त्व ११५
सिरावेध के स्थान (रोगानुसार) ११३
सिरावेधन पर रक्त न आने का हेतु ११२
सिरावेध में सावधानी १०८
सिरावेध (पादादि) विधि ११०
सिराव्यध : एक कठिन कार्य ११५
सिराव्यध : एक सम्पूर्ण चिकित्सा ११५
सिराव्यध का निषेध १०८
सिराव्यध के लिए अनुपयुक्त काल ११०
सिराव्यध : परिहार काल ४८७
सिराव्यध में पूर्वकर्म-प्रधानकर्म १०९
सिराव्यधविधिशारीर १०८
सीधु ३६८
सीमन्त ७४
सीवन उपक्रम १६१
सीवनकर्म १७९
सुखप्रसव के लिए मन्त्र २९२
सुप्तवात की चिकित्सा २०६
सुरत-प्रक्रिया २५
सुवान्त के लक्षण ४२४
सुवान्त : त्रिविध शुद्धि ४२५
सुविद्धा सिरा १११
सुस्निग्ध के लक्षण ४१४

सूतिकागार १२८
सृष्टि की उत्पत्ति १
सृष्टि के कारण (वैद्यकशास्त्र में) ७
सेवनी ७३
सैन्धव-शताह्व बस्ति ४६३
सैरीयादि तैल ३७६
सोम का उत्पत्ति स्थान ३९८
सोम की उत्पत्ति ३९४
सोम की सेवन विधि ३९५
सोम के भेद ३९४
सोम के वेदोक्त नाम ३९४
सोम को देखना कठिन ३९९
सोमपान के बाद दैनिक चर्या ३९६
सोमपान के बाद सोने का निषेध ३९५
सोमपान के लाभ ३९७
सोमलता की पहचान ३९८
सोमसमवीर्य महौषध सूची ४००
सौगन्धिक नपुंसक २४
सौराष्ट्र्यादि लेप ३२५
सौवर्णिका लूता ५९३
सौश्रुत मान ४०७
स्कन्धसन्धिमुक्त का उपचार १९५
स्तनपान १३३
स्तनपान में सावधानी १३९
स्तनपान (नाना) से हानियाँ १३८
स्तनविद्रधि की चिकित्सा ३०९
स्तनविद्रधि में उपनाहन का निषेध ३०९
स्तनविद्रधि में शस्त्रकर्म ३०९
स्तन्य (दूषित) १४०
स्तन्य (निषिद्ध) १३९
स्तन्यनाश के मानसिक हेतु १३९
स्तन्य-परीक्षण १३९
स्तन्यप्रवर्तन १३३
स्तन्यविकार में वमन ३०८
स्तन्यवृद्धि के उपाय १३९
स्तन्यशोधन कषाय ३०९
स्तन्यस्रवण ५३, १३९
स्त्रियों द्वारा विष-प्रयोग ५०५
स्त्री ३०
स्त्रीगमन के नियम ३६९
स्त्री-प्रजननाङ्गों का स्वरूप ८४
स्त्रीप्रसंग में संयम ३६९
स्थावर-जंगम विष की चिकित्सा ५५४
स्थावर स्नेह ४०६
स्थावरविषविज्ञानीय ५१७
स्थावर विषों का विशिष्ट विवरण ५२६
स्थावरविषों के अधिष्ठान ५१८
स्थावर विषों के लक्षण ५१९
स्थावर विषों के वेगों के लक्षण एवं चिकित्सा ५२४
स्थिर एवं चल दोष ४३१
स्नान के गुण ३६१
स्नान का निषेध ३६१
स्नायु ८०
स्नायु आदिक प्रकुपित वात २०५
स्नेह की उपयोगिता ४०५
स्नेह के जीर्ण न होने का उपचार ४१२
स्नेह के न लौटने पर ४६६
स्नेहन का लाभ ३५८
स्नेहन क्रिया का लाभ ३५८
स्नेहन-वमन में आहार ४८७
स्नेहन-स्वेदन की उपयोगिता ४३१
स्नेहन-स्वेदन के बिना रेचन नहीं ४३१
स्नेहपाक-कल्पविधि ४०८
स्नेहपाक-विधि ४०७-८
स्नेहपान (प्रसवोपरान्त) ४१४
स्नेहपान उपक्रम १५९
स्नेहपान काल ४१०
स्नेहपान की अवधि ४१२
स्नेहपान की प्रशस्त मात्रा ४११
स्नेहपान के अयोग्य व्यक्ति ४१३
स्नेहपान के योग्य व्यक्ति ४१४
स्नेहपान के लाभ
-स्वस्थावस्था में ४१४
-रुग्णावस्था में ४१५
स्नेहपान-क्रम ४०९
स्नेहपान में सावधानी ४१२
स्नेहपान से हानि ४१३
स्नेहपीत में स्निग्ध विरेचन नहीं ४३१
स्नेहपीतादि में अपथ्य सेवन से हानियाँ ४८८
स्नेहबस्ति का निषेध ४६२
स्नेहबस्ति का दोषानुसार प्रयोग ४६४
स्नेहबस्ति का भोजन के बाद उपयोग ४६१
स्नेहबस्ति में अत्यशन व्यापत् ४६५
स्नेहबस्ति में अननुकूल दशाएँ ४६३
स्नेहबस्ति-व्यापत् और चिकित्सा ४६५
स्नेह-बहुल निरूहण बस्ति ४६०
स्नेहमात्रा ४११
स्नेहमान ४६७
स्नेहयोनियाँ ४०५
स्नेह व्यापत् (अल्पगुण) ४६६
स्नेह व्यापत् (अस्विन्न में) ४६६
स्नेह व्यापत् (शुद्ध में) ४६५
स्नेहावगाहन ३५८
स्नेहोपयौगिकचिकित्सित ४०५
स्नेहोपरान्त निरूहण ४६०
स्पर्शहानि-चिकित्सा ३३८
स्यन्दन तैल २४८
स्वच्छ स्नेहपान ४१०
स्वप्न कैसे आते हैं ? ५७
स्वभाव ७
स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीयरसायन ३९४
स्वर्णभस्मादि योग ३९१
स्वर्णमाक्षिक धातु २८०
स्वेद के भेद ४१६
स्वेदन (स्थानिक या सार्वदैहिक) ४१९
स्वेदन उपक्रम १५७
स्वेदन का दोषों पर प्रभाव ४१९
स्वेदन के गुण ४२०
स्वेदन के लिए स्थान ४२१
स्वेदन के सामान्य नियम ४२१
स्वेदावचारणीयचिकित्सित ४१६
स्रावण उपक्रम १६१
स्रावित रुधिर की मात्रा ११२
स्रोतस् ७१
स्रोतोबिद्ध के लक्षण १२२
स्रोत के लक्षण १२४

ह

हंसिर-दंश ५६८
हनुमोक्ष-चिकित्सा ३४४
हनुसन्धिच्युति-चिकित्सा १९८
हिंग्वादि गुटिका २२१
हीनदग्ध के लक्षण २२७
हृत्स्वेदन के नियम ४२१
हृदय ५५
हृदय और कार्य ५५
हृदयोपसरण व्यापत् ४४०
हेमक्षीर्यादि लेप २५३
ह्रीबेरादि लेप ३०४

तालिका-विवरण

१ प्रकृति और पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य ५
२. आकाशादि में सत्त्वादि गुणमयता ११
३. गर्भवर्ण २१
४. नेत्रवर्ण २२
५. प्रसव का सम्भावित दिन ३९
६. सप्त त्वचो भवन्ति ४७
७. तन्द्रा आदि का संक्षिप्त विवरण ६०
८. प्रकृतियाँ ६७
९. अस्थिसंघात ७३
१०. भिन्न-भिन्न मतों से अस्थि-संख्या ७७
११. सन्धियाँ और उनके स्थान ८०
१२. पीठ के मर्म ९०
१३. छाती के मर्म ९१
१४. अध: शाखाओं के मर्म ९१
१५. ऊर्ध्व शाखाओं के मर्म ९१
१६. ऊर्ध्वजत्रुग मर्म ९२
१७. स्रोतोविद्ध के लक्षण १२४
१८. शिशु के लिए दुग्ध मात्रा १४३
१९. लेखन १६०
२०. व्रण विवरण १७३
२१. सद्योव्रण विवरण १७८
२२. भग्नरोहण में अस्थि और आयु १९२
२३. प्रकुपित वात और चिकित्सा २०८
२४. वातप्रधान वातरक्त चिकित्सा २१४
२५. मूत्राशयाश्मरी का सौश्रुत शल्यकर्म २४१
२६. शतपोनक शल्यकर्म विवरण २४४
२७. प्रमेह २६७
२८. प्रमेहपिडका का उपचार २७५
२९. शिलाजतु भेद २८०
३०. सौश्रुतमान ४०७
३१. स्वेद ४१६
३२. स्वेद्य ४२०
३३. नेत्र और आस्थापन द्रव्य ४४३
३४. नेत्र और द्रव प्रमाण ४४४
३५. कवलधारण ५०२
३६. विष ५१७
३७. स्थावर विष ५१९
३८. स्थावर विषों के सामान्य लक्षण ५२०
३९. कन्द विषों के लक्षण ५२१
४०. विष-गुणकर्म ५२२
४१. कुछ अन्य विषों के लक्षण ५२७
४२. जंगम विषों के अधिष्ठान ५३०
४३. असाध्य सर्पविष ५३६
४४. सर्प-संख्या और भेद ५३९
४५. दर्वीकर श्रेणी के सर्पविष ५४७
४६. मण्डली श्रेणी के सर्पविष ५४७
४७. राजिमान् श्रेणी के सर्पविष ५४७
४८. मानवेतर प्राणियों में सर्पविष के वेग और लक्षण ५४८
४९. मूषक दंश ५७१
५०. मूषक दंश चिकित्सा ५७१
५१. लूता विष की साध्यासाध्यता एवं सामान्य लक्षण ५९०

●

चित्र-विवरण

१. द्विडिम्बी यमल २३
२. बुध्न की ऊँचाई ३६
३. गर्भाशय में ९ सप्ताह का भ्रूण ३६
४. भ्रूण का क्रमिक विकास ३६
५. भ्रूण का रक्त-परिसंचरण ४१
६. पचनतन्त्र के प्रमुख अवयव ५१
७. मूत्राशय, पौरुष ग्रन्थि, शुक्रवाहिनियाँ और शुक्राशय ५२
८. हृदय का सम्मुखीन दृश्य ५५
९. सामान्य प्रसव और गर्भाशय का एक समान आकार ८४
१०. अस्तनी और लम्बस्तनी १३८
११. टामस की कुशा १८९
१२. प्लास्टर कुशा १९०
१३. अस्थिधातु १९१
१४. अवनामित भग्न को ठीक करना १९२
१५. अस्थि द्वारा आञ्छन १९२
१६. नितम्ब सन्धिच्युति १९४
१७. कर्षण विधि १९४
१८. स्कन्ध-सन्धिच्युति को ठीक करना १९५
१९. अक्षक भग्न में बन्धन-विधि १९६
२०. प्रगण्डास्थि के भग्न १९७
२१. ग्रीवा-सन्धिमुक्त की सौश्रुत विधि द्वारा चिकित्सा १९७
२२. अधोहन्वस्थि का भग्न १९८
२३. च्युत हुई हनुसन्धि को ठीक करना १९८
२४. नासास्थियों को शलाका की सहायता से यथास्थान लाना १९९
२५. अस्थियों को जोड़ने के लिए कीलों का प्रयोग २००
२६. ऊर्वस्थि के शिखरान्तरिक २००
२७. मूत्राशयाश्मरी चूर्ण को निकालने की विधि २३९
२८. मूत्राशयाश्मरी के शल्यकर्म में आठ अवयवों की सुरक्षा २४०
२९. स्तन-विद्रधि ३०९
३०. स्तन-विद्रधि का छेदन ३१०
३१. मूत्रवृद्धि तरल-निर्हरण विधि ३२२
३२. परिवर्तिका चिकित्सा ३३३

